ब्र० पं० चन्दाबाई-अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादिका

श्रीमती सुशीला सुलतानसिंह जैन, दिल्ली
श्रीमती जयमाला जैनेन्द्रकिशोर जैन, दिल्ली

प्रकाशिका

अ० भा० दि० जैन-महिला-परिषद्

प्राप्ति स्थान
अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद्
श्री जैन-बाला-विश्राम धर्मकुंज, धनुपुरा, आरा
श्रीमती जयमाला देवी जैन,
C/o. श्री जैनेन्द्र किशोरजी जैन, जोहरी
५४५ एस्पेलेनेड रोड, दिल्ली

मूल्य
दस रुपये

फाल्गुन २४८० वि० नि०
मार्च १९५४

मुद्रक
श्री उपेन्द्र आचार्य
इण्डियन नेशन प्रेस,
पटना।



समर्पण

जिन्होंने
अपनी सतत साहित्य साधना,
सार्वजनीन सेवा, परदुःख निवृत्ति, अगाध पाण्डित्य
एवं
ज्ञान वितरण द्वारा
अखिल भारतीय जैन महिला-समाज का अज्ञानतम दूर करके
उसे
ज्ञानी, जागरूक और नैष्ठिक बना
समाज के लोकोत्तर उपकार किये हैं
तथा
जो अहर्निश जीवन शोधन एवं तपश्चरण में संलग्न रहती हैं
उन

पूज्या माँ श्री ब्रह्मचारिणी पंडिता चन्दाबाई जी के

कर कमलों में
सादर

विषय-सूची

२. सन्तों के शुभाशीर्वाद और श्रद्धाञ्जलियाँ—

३. दर्शन-धर्म—

४: इतिहास और साहित्य—

चित्र-सूची—

१ अर्थसमिति की सदस्याएँ—

प्रकाशकीय

मुख पर साधना की घनी रेखा और गंभीर आंखो में सबको भूलकर सेवा करने की निरभि-मान-भरी साध; जीवन का कर्ममय फैलाव और वस्त्र में सादगी; माथे में आगम-पुराण, ज्ञान-विज्ञान और हृदय में वात्सल्य का 'तुनुक-तार', प्रेरणाओं का एक बण्डल, एकान्त की गायिका और बिहार की सबसे बड़ी नारी।

धर्मसेवा और शिक्षा इस अद्भुत नारी के विकास-स्तम्भ हैं। धर्म उसका साधना-संधान है, सेवा उसकी वृत्ति और शिक्षा उसके सरस जीवन के नि:शेष आग्रह की तप:सिद्ध व्याख्या। और इसका 'अभिनन्दन'? यह सबसे अलग है। यहाँ 'माँ' की आरती उतारी गई है जिसकी स्फटिक-ज्योति में 'देवि सर्वभूतेषु' का स्वरूप बिम्बित हो उठा है।

और इस मां के आत्मिक दान की कृतज्ञता की अपेक्षा समझी गयी जब हतप्रभ जैन-नारी-समाज इनकी सेवाओं से आप्यायित हो उठा, उसकी श्रद्धा परवान चढ़ गयी।

हमें इसका दु:ख है यह ग्रन्थ पहले ही माँश्री ब्र० पं० चन्दाबाई की नारी-समाज की अथक सेवाओं के मूल्याकन के रूप में निकल जाना चाहिये था। पर इसे दु:ख भी कैसे कहें--समाज का हृदय तो सर्वव मा की सेवाओं की रंग-विरंगी प्यालियों में अपना चिरसंचित श्रद्धाभिनन्दन डुबो-डुबो अपनी विद्युत्-द्युति तूलिका से युग पर हौले-हौले 'माँ' का चित्र आंकता रहा है।

अप्रैल सन् १९४८ की बात है। अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद् के ३१ वें अधिवेशन में २० अप्रैल को इस संकल्प को प्रस्तावित रूप मिला। श्रीमती सुशीला देवी (ध० प० सुल्तान सिंह) का प्रस्ताव निम्न रूप में पारित हुआ:—

"अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद् प्रस्ताव करती है कि माननीया श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई जी ने जैन महिला-समाज की जो अकथनीय सेवा की है, उसके अभिनन्दन के लिये उन्हें एक ऐसा ग्रन्थ भेंट किया जावे, जिसमें उनके जीवन एवं कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली बातों के अतिरिक्त वर्तमान महिला-समाज के लिये उपयोगी लेखों का संग्रह हो।"

इस प्रस्ताव को सभी व्यस्तताओं के रहते हुए भी अविलम्ब सक्रीय रूप में ढाला गया। इस कार्य में एक कर्ममय उल्लास की झलक थी, थी प्रेम और श्रद्धा की गहराइयां।

सर्वप्रथम आठ गणमान्य व्यक्तियों का सम्पादन परामर्श मण्डल बना जिसके प्रधान संयोजक श्रीबाबू कामता प्रसाद नियुक्त हुए। ये आठ सज्जन थे:—

(१) श्री पं० रामप्रीत शर्मा, आरा
(२) श्री प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला, काशी
(३) श्री पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा
(४) श्री बाबू कामता प्रसाद जैन, अलीगंज
(५) श्री प्रो० टुच्ची, लन्दन
(६) श्री सुमतिबाई साह, सोलापुर
(७) श्री सूरजमुखी देवी, मुजफ्फरनगर
(८) श्री राव नेमचन्द्र साह, सोलापुर

इस सम्पादक मण्डल ने अपना कार्य लगन और तत्परता के साथ किया। फलस्वरूप उचित परिमाण में हिन्दी और अंगरेजी-लेखों का संग्रह, भारत के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों के सहयोग से हुआ। ग्रन्थ को, माँजी के व्यक्तित्व की समुज्ज्वल ज्योत्स्ना को सर्वत्र विकीर्ण करने और अन्य विषयों पर उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण लेखों से परिपूर्ण करने की दृष्टि से, प्रौढ़ता और मान्यता देने की बलवती आकांक्षा लेकर इस सम्पादन-मण्डल ने अपने कार्यों का प्रसार किया। आकांक्षा की और तीव्र दीपिका जली जिसके मधुर आलोक में एक सुनिश्चित और सुचिन्तित कार्यक्रम की अवतारणा हुई। महिलोपयोगी निबन्धों की एक सूची बनाकर ग्रन्थ को अनेकरूपता को एक गतिदिशा प्रदान की गई। इस कार्य में समय का लगना स्वाभाविक था क्योंकि बौद्धिक सामग्रियों को एकत्रित करना किसी भी कष्टसाध्य कार्य से कम नहीं।

अपने तीन वर्ष के कठिन परिश्रम की शालीनता को लेकर यह मंडल १९५१ में मथुरा में मिला। कामता प्रसादजी अनुपस्थित रहे जिससे आगे के कार्यों पर प्रकाश नहीं पड़ सका। खैर, अपनी पूर्णताओं और अपूर्णताओं से लिपटा-चिपटा यह ग्रन्थ अगस्त '५१ में दिल्ली में छपने गया।

अपने मुद्रण के शैशव-काल में दिल्ली के कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ की पाण्डुलिपियां देखीं। कहना होगा, इन लेखों और संस्मरणों के संकलन की सफलताओं पर उनको अनास्था ही हुई और इसी असंतोष को एक सांस के धक्के से ग्रन्थ का प्रकाशन अनिश्चित काल के लिए ठप्प पड़ गया। ग्रन्थ अपने अविकसित सौन्दर्य को प्रकाशित न कर सका यह ग्रन्थ के उज्ज्वल भविष्य का ही परिचायक रहा।

तब कार्य की नितान्तता का ध्यान आया और नवीन माप लेकर नव प्रमुख स्वनामधन्य विद्वानों को इस गुरुभार को निभाने की स्वीकृति मिली। इन सज्जनों में प्रमुख डा० श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री नेमिचन्द्र शास्त्री और डा० श्री शूब्रिग थे। इन सज्जनों की व्यापक बौद्धिक चेतना और परिपक्व दृष्टिकोण से आशातीत सफलता की लहरों का उद्रेक हमारे मानस में स्निग्ध ओज और उत्साह का सृजन करता रहा और हम अपने इस सत्कार्य की स्वर्णिम प्रतिष्ठा के अनुमान में विभोर रहे।

ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन ने श्री जैनेन्द्र कुमार के मतदान से ग्रन्थ के विषयों की निम्न रूपरेखा निरूपित की, जिससे ग्रन्थ का सहज महत्व प्रकट होता है :—

(१) अभिनन्दन
(२) जैन दर्शन
(३) साहित्य और कला
(४) इतिहास और पुरातत्त्व
(५) विहार
(६) समाज-सेवा
(७) नवनिर्माण
(८) विश्व संस्कृति और नारी

यह रूपरेखा मुद्रितकर, इसके अन्तर्गत विषयों को निर्धारित कर विद्वानों को भेजी गयी। कुछ लेख आये। इसी सिलसिले में बहुत से लेख खो दिये गये। इस कार्य से सम्पादकों की निजी व्यस्तताओं ने उन्हें खींचा तो भी जो कुछ उन्होंने किया, वह स्तुत्य है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में देरी हुई। अनेक स्थलों से इसका कारण पूछा गया। हमने अपनी विवशता प्रकट की। फिर हमको इससे धैर्य और चेतना मिली और हम 'करेंगे या छोड़ देंगे' का अदम्य संकल्प कर इस कार्य में जुट पड़े।

विद्वानों की राय से सम्पादक-मण्डल में केवल महिलाएँ ही रखी गयी जो मान्य रूप में ग्रन्थ की अन्तिम सम्पादिकाएँ रहीं। इस मंडल ने सारे प्राप्त और अनूदित लेखों की रूपरेखा सजायी जिससे किसी प्रकार की त्रुटि न रहने पावे। पीछे से कुछ लेख भी आये। सभी गणमान्य सज्जनों ने अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ भेजी। ग्रन्थ के सभी विभाग इन उपयोगी सामग्रियों से पूर्णता का दावा करने लगे।

और अपने परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप में ग्रन्थ सितम्बर १९५३ में पटने में छपने गया। तत्परता में जो कुछ सुन्दर असुन्दर बन पड़ा वह आपके सामने है।

सभी सहायता प्रदान करनेवाले साधुवादार्ह हैं। एक लम्बी अवधि तक प्रकाशन रुका रहा इसका हमें हार्दिक दुःख है।

आशा है यह ग्रन्थ माँश्री ब्र० पं० चन्दाबाई जी का उचित अभिनन्दन करने में समर्थ हो सकेगा।

सम्पादकीय

पुञ्जीभूत प्रभा में हाहाकार करती नारी की घनीभूत वेदना; जो नारीत्व की अन्तिम विजय-श्री है—बेतहाश किसी अदृश्य ज्योति के पीछे भटकी है.......।

चेतना आती है ।

नारी को प्यार, सुख और ममता तीनो मिलती हैं ।

उसका नारीत्व जागता है । ज्योति की चरण-धूलि उसे नारीत्व परखने को विवश करती है । वह ज्योति माँश्री चन्दाबाई का ही प्रतिरूप है—जाज्वल्यमान, दीप्तिपूर्ण, आभापूर्ण.......उर्जस्वल ।

× × ×

निखिल जैन नारी-समाज को गतिदिशा में नये परिवर्तन की सूत्रधारिणी माँश्री हैं । इन्होंने नारीत्व गौरव और धर्म के मौलिक तत्त्वों के आत्मिक समीकरण से एक 'मॉडल' तैयार किया है । भावों में ही आकृति ग्रहण करनेवाले इस 'मॉडल' को ये सर्वत्र नारी के व्यावहारिक जगत् में मूर्त्त देखना चाहती हैं । इनके हृदय में अहंकार का स्पर्श भी नहीं होता......कोई वैचित्र्य भी इनमें नहीं है, ये सब नारियों के समान नारी ही दिखाई देती हैं । पर माँश्री में जो कुछ भी है सब स्वाभाविक, सरल, विनम्र एवं विशुद्ध है । जो अपनी चेतना में अचल बनी हो—यदि ऐसी प्रतिभाशालिनी कर्मवीर नारी जैन-समाज ने कभी पैदा की तो वह माँश्री ही हो सकती हैं; जिनका व्यक्तित्व जैन संस्कृति की आत्मा का प्रतिरूप बनकर अपने समय के सारे नारी के नैतिक अभावों की पूर्ति करता है । यह कुछ इनके व्यक्तिगत जीवन की वेदना के आधिक्य की प्रतिक्रिया नहीं; बल्कि जीवन के विनिमय में इन्होंने जो 'गोली-ममता', घोर कर्मठता, जीवन्त सादगी, सहज सेवा आदि पायी है, यह उसीका स्वाभाविक परिणाम है । इन्होंने जीवन में काफी गहराई के साथ आत्मबल की महत्ता अनुभव की है, जो इन्हें धर्म की एकाग्र साधना में मिली और इसीको यह अभिशप्त, निर्दलित नारी की काया में ढालने की बलवती आकांक्षा लेकर चल पड़ी हैं । सत्य और अहिंसा के सक्रिय रूप में इन्होंने अपने स्वप्नों को चरितार्थ होते देखा है । इनके जीवन में जो कुछ नारीत्व की मर्यादा है वह अपने सम्पूर्ण रूप में 'नारी-भाग्य-विधाता' बनकर उतर आयी है । कहना होगा, इनके जीवन के समस्त तंतुओं में नारी की मूक पीड़ा अनुस्यूत है । नारी धर्म और सेवाव्रत के प्रति विशिष्ट आग्रह रखकर यह साध्य तारा की भांति अपने डगर पर अकेली हैं ।

अत: इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसी बात पर निर्भर है कि इसमें अर्चना अर्हं माँश्री के प्रति हृदय के स्वाभाविक उद्‌गारों का अकृत्रिम उद्रेक है । जैन और जैनेतर समाज को इनकी आत्मा के अनन्त प्रदेशों की झाँकी पाने के उपरान्त जो ज्योति-कण मिले हैं उन्हींका यहाँ सात्त्विक रूप रखकर माँश्री की अर्चना उतारी गयी है । साथ-साथ जैन-दर्शन, इतिहास और साहित्य, नारी-विकास आदि की गहराइयों के मापक लेखों का भी उपयुक्त संकलन है । अपने इस रूप में आने के पहले इस ग्रन्थ का एक अपना इतिहास है जो परिस्थितियों में उलझा-उलझा-सा बढ़ता आया है ।

जब से यह ग्रन्थ समर्पित करने का मानस में चित्र आया तब से अब तक की गतिविधि का निरूपण अपना एक अस्तित्व रखता है। १९४८ में महिला-परिषद् में प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सर्वप्रथम संपादकों का एक मंडल बना, जिसने स्तुत्य कार्य संपादित किये पर ग्रन्थ की सामग्रियाँ उच्च बौद्धिकता के स्तर का दावा न कर सकी। फलतः दूसरा मंडल बना जो जाते-जाते ३–४ वर्षों में थोड़ा-सा कार्य कर सका। परिषद् की सजगता बढ़ी तो वह तीसरा मंडल बना जिसने अपने कार्यों की सुदृढ़ नींव डाली और यह ग्रन्थ १९५३ के सितम्बर मास से प्रकाशित होना शुरु हुआ।

इसकी तीन-चार रूप-रेखाएँ बनीं और बिगड़ीं। बाद में जाकर हमलोगों ने श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा के सहयोग से निम्न प्रकार की सामग्री से ग्रन्थ की प्राण-प्रतिष्ठा को सँवारा :—

(१) जीवन, संस्मरण, अभिनन्दन एवं श्रद्धांजलियाँ—इस विभाग में माँश्री के जीवन की समस्त संवेदनाओं से स्पंदित सामग्रियों को रखा गया है जो माँश्री के जीवन के समस्त विकास और प्रसार को समझने और समझाने में सतत प्रयत्नशील है। निष्कपट श्रद्धा से घुला हुआ यह विभाग, अपनी सत्ता और छाया दोनों समेटे बैठा है।

(२) दर्शन और धर्म—इस खंड में जैन-दर्शन से सम्बद्ध पर्याप्त उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक सामग्री का संकलन किया गया है। इससे जैन-दर्शन और धर्म की परम्परा का गंभीर अध्ययन होगा।

(३) इतिहास और साहित्य—इसको स्वस्थ बनाने में हमें विशेष कठिनाई हुई तो भी उचित मात्रा में जैन इतिहास और साहित्य इसकी चिन्ताधारा में अवगाहन कर ही रहा है।

(४) नारी—अतीत, प्रगति और परम्परा—यह अपने में नवीन सुझाव है और है बेजोड़। उपेक्षित नारीवर्ग कभी भी, कही भी अपने इतने उज्ज्वल रूप में उपस्थित नही हुआ था जितना कि इसमें सजग रूप से समादृत है। इससे जैन-नारी के समस्त अंगो पर उत्तम प्रकाश पड़ा है, ऐसा हमारा आज का दावा है।

(५) बिहार—इस खंड के लिये सामग्री हमें अत्यधिक प्राप्त हुई। बिहार के साहित्य मनीषियों से हमें पूर्ण योगदान मिला किन्तु अधिकाश सामग्री जैन संस्कृति के अन्वेषण से रिक्त थी, अतः इस खंड के प्रायः सभी निबन्ध श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के तत्वावधान में निर्मित हुए हैं। यों तो प्रायः समग्र सामग्री का संकलन ही 'भवन' द्वारा ही किया गया है।

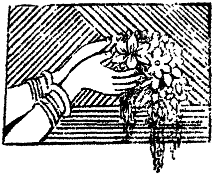
इस प्रकार ग्रन्थ संपादित किया गया। हमने इसमें अपनी सारी लगन और श्रद्धा को संवर्द्धित किया है, इसका भावी महत्त्व-प्रकाशन तो समाज के हाथों में है। संपादन में श्री प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावाला एम० ए०, साहित्याचार्य, काशी; श्री पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, आचार्य स्याद्वाद विद्यालय काशी और जैन सिद्धान्त भवन, आरा के हम आभारी हैं जिनकी प्रेरणा की स्निग्ध छाया में ग्रन्थ के विकास और निर्माण की पथ-रेखाएँ बनती रहीं।

इसी प्रकार ग्रन्थ की पांडुलिपि प्रस्तुत करने में जैन कालेज, आरा के प्रतिभासम्पन्न तृतीयवर्ष (हिन्दी आनर्स) के छात्र चिरंजीवी श्रीराम तिवारी को भी नहीं भुलाया जा सकता। प्रूफ संशोधन में श्री सरस्वती प्रेस के सुयोग्य व्यवस्थापक श्री जुगलकिशोर जैन बी० एस० सी०, से पर्याप्त सहायता मिली है।

इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य इंडियन नेशन प्रेस, पटना में सम्पन्न किया गया है। फलतः दूर रहने के कारण हम अपना पूरा समय और शक्ति इसमें नहीं लगा सकी हैं। शीघ्र प्रकाशित होने का श्रेय इंडियन नेशन प्रेस, पटना, प्रकाशन-विभाग के मैनेजर श्री कालीकान्त झा को है, हम आपके आभारी हैं।

हमें इसकी बेहद खुशी है, यहाँ नारी के द्वारा नारी की अर्चना हो रही है। और सब तो माँश्री की आत्मिक प्रेरणा की भक्ति के प्रसाद से हम इस गुरुतर कार्य को पूरा कर सकी हैं।

अन्त में एक आस्थावान, व्यापक सत्य, शिव और सुन्दर का दर्शन कर यह ग्रन्थ माँश्री के वरद् कर कमलों में अर्पित है।



जीवन, संस्मरण

और

अभिनन्दन

जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !
मूर्त्तिमती श्रद्धेव पवित्रा,
या लोकाचरणीय चरित्रा,

या सरस्वती सुर-सरस्वतीं--
सिन्धु-मेधया विन्दति नन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

कोटि-जन-बाला-विश्रामः,
यस्याः स्नेहो नित्यमकामः,

या स्वकीय-निःसीम-करुणया---
सिञ्चति निखिल-जनान् स्वच्छन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

सत्यमेव या चिर-तपस्विनी,
सत्यमेव या ध्रुव-मनस्विनी,

या स्वर्गं कल्पयति भूतले--
कल्प-लता-फल-कुसुम-मरन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

सेवा-व्रत-धारिणी वदान्या,
शिक्षा-सत्र-शालिनी, मान्या,

या सदृशी सुखदुःखयोः सदा--
तिष्ठति शान्तिमयी निःस्पन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

लोक-शास्त्रयोर्वधती न्यायम्-
या क्षणमपि सहते नाऽन्यायम्,
सकल कलास्वमलासु यदीया—
भवति विद्युदिव प्रगतिरमन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

तृणमिव या मनुते जगदेतत्,
तस्यै यदलम्यं किं रे तत्,
ज्ञानमयी सर्वैर्नमस्यताम्—
साञ्जलिभिः सा परमानन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

—रामनाथ पाठक 'प्रणयी'
साहित्य-व्याकरणाचार्य

माँश्री चन्दाबाईजी : जीवन झाँकी

उस दिन यमुना बोली थी और करील हँसा था——

आषाढ़ का महीना है, द्वितीया का चाँद बादलों के अवगुंठन में अपना मुंह छुपाये लज्जा से नत है। धरती पर श्यामवर्ण की घटाएँ मँडरा-मँडरा कर गुरु गर्जन के साथ बरस रही हैं। नभोमण्डल तमसाच्छन्न है, यमुना उमगती हुई बढ़ रही है। वृन्दावन की इस समय अपूर्व छटा है। गगनस्पर्शी सौध-मालाओं के प्रतिबिम्ब कालिन्दी में झिलमिल कर रहे हैं। सन-सन करता हुआ पवन का झोंका तट से खिलवाड़ करता हुआ आँखमिचौनी कर रहा है। यमुना हुड़-हुड़ कुल-कुल कल-कल करती हुई तेजी से आगे बढ़ रही है। लहरों के आँचल हिलते हैं, बुलबुले उठते हैं और लीन हो जाते हैं। यमुना व्याकुल-सी हो अग्रसर होती है और तटवर्ती करील के झाड़ से लिपट जाती है, उसे अपने बाहुओं में कस लेती है। झाड़ की कठोर छाल से अपने कमनीय कपोलों को हौले-हौले स्पर्श करती है। डालों पर झूम जाती है और झूलते हुए कण्टकों को दुलराती है, सहलाती है, चूमती है, पुचकारती है, वक्ष में भर कर उन्हें अपने परिरंभण में लीन कर लेना चाहती है। सहसा भँवरों के अधर से उसकी वाणी फूट निकलती है।

"वत्स ! ये झझाएँ, ये वृष्टि-धाराएँ, यह मेघों का विप्लवी घोष, ये कड़कती बिजलियाँ अब मुझसे सही नहीं जातीं। जहाँ वृन्दावन-विहारी वनमाली ने नारियों की लोक-मर्यादा स्थापित की थी, जहाँ की स्त्रियाँ प्रगतिशील और जागरूक मानी जाती थीं, मातृत्व और पत्नीत्व जहाँ पनपे, फूले और फले थे, नारी-समाज ने मेरे ही कूल पर स्थित जहाँ मधुपुरी में जैन-संस्कृति, वैदिक-संस्कृति और बौद्ध-संस्कृति का संरक्षण किया था; आज वहीं मेरे कूल पर ललनाओं के सुहाग-सिन्दूर धोये जा रहे हैं। विवाह की हल्दी जिनके हाथों से छूटी नहीं, जिनकी लाह की चूड़ी का रंग अब भी जगमग कर रहा है, वे ही तरुणी बालाएँ मेरे घाट पर आकर चिल्लाती, सिर पीटती, पछाड़ खाती अपना सिन्दूर, अपनी चूड़ियाँ मुझे सौंप जाती हैं। मेरे लाल, अब तुम अनुमान कर सकते हो कि नारी-समाज की यह दयनीय स्थिति मेरे अन्तस् को कितना आलोड़ित कर रही है !

अज्ञान और अशिक्षा से झुलसी नारी का कंकाल मेरे रोंगटे खड़े कर देता है। वे मानव हैं, समाज का एक अविच्छेद्य अंग हैं, उन्हें भी मनुष्य की तरह जीवित रहने का अधिकार है, इस बात को शायद आज की दुनिया का आदमी नहीं जानता।"

मुस्कुराते हुए करील ने कहा—"महाभागे ! संसार अपनी गति से निरन्तर चलता रहता है । नारियों की दीन-दशा आपका सिरदर्द क्यों बनी हुई है ? देख नही रही हो कि समस्त विश्व आनन्द पाने के लिए ही ऊँच-नीच, घटिया-बढ़िया सभी तरह के काम करता है। किसीके कार्य में किसी को भी दखल देने का अधिकार नही । हमें अपनी दुनिया को देखना है, उसीकी उन्नति करना है । इस मानव जगत् से हमें कुछ लेना-देना नही है । नारियाँ चाहें और अन्धकूप में चली जायें पर हमें अपनी मौज अपनी मौज-बहार को नही छोड़ना चाहिए । चलो, उदासी को छोडो, वायु के साथ केलि करें ।

रोते हुए यमुना—"लाल ! मैं समझ गयी, तुम स्वार्थरत हो । अहंकारी पुरुष दिग्विजय की अभिमानिनी भुजाओं के भरोसे नारी की कोमल भावनाओं का अनुभव नही कर सकता है । मेरे ही जल से पुष्ट और वर्द्धित जब तुम्हारी यह हालत है तो साधारण नरो की बात ही क्या ? सच यह है कि नारी की मसृण भावनाओं एवं मर्मव्यथा का पुरुष-हृदय अनुभव नही कर सकता है । मैं नारी होने के कारण आर्यावर्त की नारियों की दुर्दशा से परिचित हूँ, उनके दुःख में दुःखी हूँ । वत्स ! विधवाओं पर सासुओं, ननदों और परिवार के अन्य व्यक्तियों द्वारा कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे हैं, शायद तुम नही जानते । उनका दर्शन अशुभ समझा जाता है, वे राक्षसी और डायन शब्दों द्वारा सम्बोधित की जाती हैं । बाल-विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्याविक्रय, दहेज, पर्दाप्रथा, अशिक्षा, अन्धविश्वास आदि ने नारियों की रीढ़ को तोड़ दिया है । उन्हें पशुवत् जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया है । नर और नारी दोनों ही समाज के अंग हैं, जब तक एक अंग सरोग रहेगा, तब तक समाजरूपी शरीर स्वस्थ नहीं माना जायगा । अतः मानव-जगत् के कल्याण के लिए नारियों की अवस्था में शीघ्र सुधार होने की आवश्यकता है । हमारा जीवन भी मानव-जगत् से सम्बद्ध है । हमारी मौज-बहार भी मानव-जगत् की उन्नति के बिना संभव नही है ।"

गम्भीर मुद्रा में चिन्तन करते हुए करील—"महाभागे ! घबड़ाने की आवश्यकता नहीं । इसी वृन्दावन में बाबू नारायणदास रईस के घर कल एक कन्या जन्म लेनेवाली है । मेरा विश्वास है कि यही कन्या आगे चलकर नारी जाति की सबसे बड़ी संरक्षिका होगी ।"

अचानक हवा का झोंका, फिर लहर पर लहर, बुलबुले पर बुलबुले ! यमुना सिसकियाँ भर कहने लगी—"मेरे लाल ! तेरे मुख में घी-शक्कर । सुना करती थी कि वृन्दावन देवभूमि है, पुण्यभूमि है । क्या सचमुच में इसी वृन्दावन को वह गौरव प्राप्त होगा ?"

करील का आह्लाद फूट पड़ा और आनन्दविभोर हो अंगड़ाई लेता हुआ हँसा—"मैया की गोद कभी सूनी नही हो सकती । जहाँ सतयुग में केदारराज ने ऐसी अति तपस्विनी और योगपारंगत वृन्दा नामक कन्या प्राप्त की थी, जिस ब्रह्मचारिणी बाला के नाम पर इसका नाम वृन्दावन पड़ा है, वहाँ क्या नारी जाति की उद्धारक, हितैषी बाला का जन्म लेना सभव नही ? आज मैंने वीणाधारी नारद के मुख से यह सन्देश सुना है कि अलिकुल-गुंजित, कोकिल-कूजित और मुक्ष से वेष्टित इसी वृन्दावन में बाबू नारायणदास अग्रवाल के घर एक शक्ति जन्म ले रही है, जिसमें वृन्दा की तपस्या.... ।"

बुदबुदों और फेनों के बहाने हास्यफेन उगलती हुई यमुना हड़-हड़-हड़-हड़ करती हुई आगे बढ़ी । उसके मुख पर आनन्दाश्रु अभी भी विद्यमान थे । कुलकुल कलकल..........

वह शैशव भी कैसा था—

विक्रमाब्द १९४६ की आषाढ़ शुक्ला तृतीया की शुभवेला भारत के नारी इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगी। इस दिन बाबू नारायणदासजी अग्रवाल के यहाँ श्रीमती राधिकादेवी की गोद में एक अद्भुत कलिका विकसित हुई थी। यह कलिका कितनी सुन्दर, कितनी सुघड़, मानों विधाता ने अपने हाथों से इसे गढ कर भेजा है। राधिका देवी अपनी इस पुत्री के सौम्य मुख और गम्भीर आकृति को देखकर फूली न समाती। इसी कारण इसका नामकरण-संस्कार भविष्यवेत्ताओं ने खूब सोच-समझ कर किया और गुणानुसार नाम रखा चन्दाबाई।

दिन बीतते हैं, महीने आते और जाते हैं। राधिकादेवी की गोद की यह कलिका दिन-दिन खिलती और निखरती जा रही है। सुन्दर और गौरवर्ण के चेहरे पर घुंघराले बाल, उभरे और चौड़े ललाट पर भव्यता की प्रतीक रेखाएँ एवं अधरो पर गम्भीर हास्य समूचे वातावरण में मिश्री घोलते हैं। माता अपनी पुत्री की बाल-क्रीड़ाओ को देखकर सुख-सागर में निमग्न हो जाती है, पिता पुत्री के सुलक्षणों को देखकर अपने कुल को धन्य समझते हैं।

महीनें बीतते है, वर्ष आते-जाते हैं। यह सुकुमारी कन्या गोद से पालने पर, पालने से आंगन में। प्रथम घुटनो के बल, फिर अस्फुट ध्वनि में ताथेई के सुर पर लड़खडाती हुई चलती है। गम्भीर आकृति को देखकर माँ को कभी-कभी आश्चर्य होता है। अन्य बालिकाओं के समान मचलना, हठ करना, रोना और जमीन मे लोट जाना यह नहीं जानती। चलती है तो पैरो को तोल-तोल कर, बोलने के लिए जिह्वा सुगबुगाती है, पर दाँतो का आधार न मिलने से वाणी अधरों में ही अवरुद्ध रह जाती है। माँ ने कभी स्वप्न में भी यह नही सोचा था कि इस नेत्रपुत्तलिका की वाणी में ऐसा जादू होगा, जिसे सुनकर लाखों नही, करोडो मन्त्रमुग्ध हो जायेंगे।

बाबू नारायणदास सम्पन्न जमीन्दार, प्रतिभाशाली एवं ग्रेजुएट विद्वान् थे। आपने अपनी कर्मठता और सेवावृत्ति से वृन्दावन की जनता को अपने वश मे कर लिया था। सन् १९२१ में जनप्रिय होने के कारण आप यू. पी धारासभा के सदस्य निर्वाचित हुए; परन्तु कुछ समय के पश्चात् ब्रिटिश शासन-प्रणाली से असन्तुष्ट होकर आपने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया तथा जीवन के अन्तिम क्षण तक देश-सेवा में संलग्न रहे। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री जमनाप्रसाद बी. एस.-सी., एल. एल. बी. तथा लघुपुत्र श्री जगेन्द्रप्रसाद हैं। चरित-नायिका चन्दाबाईजी के अतिरिक्त श्री केशरदेवी और श्री ब्रजबाला देवी ये दो गुणवती पुत्रियाँ भी हैं।

पाँच वर्ष की अवस्था मे बालिका चन्दाबाई का विद्या-संस्कार सम्पन्न किया गया। वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण रामायण और गीता धर्मग्रन्थ इनके लिए श्रद्धा और भक्ति की वस्तु बने। माता-पिता ने गणेश के पूजन सहित अ-आ, इ-ई, क-ख-ग-घ का उच्चारण कराया। कुशाग्रबुद्धि होने के कारण अल्प समय में ही हिन्दी, हिसाब और आवश्यक धर्मशास्त्र का परिज्ञान प्राप्त कर लिया। एक बार शिक्षक ने जो कह दिया, वह जिह्वा पर सदा के लिए अंकित हो गया, एक बार पट्टी पर खींची लकीरें सदा के लिए मस्तिष्क पर खिच गईं। पढ़ानेवाले छात्रा को सरस्वती का अवतार मानते

थे, वे यह जानने के लिए परेशान थे कि एक बार की बतलाई गई बातों को यह किस प्रकार याद कर लेती है ? इतनी प्रतिभा इसे कहाँ से प्राप्त हुई ?

गुड्डे-गुड़ियों के खेल से विरक्त, अध्ययन में तत्पर और एकान्त में चिन्तनशील इस आठ वर्ष की बालिका को देखकर हर व्यक्ति को आश्चर्य होता था । बाबू नारायणदासजी के मित्र कहा करते थे कि यह कन्या निश्चय दूसरी वृन्दा बनेगी । अभी से यह 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' का उदाहरण है । हितैषियों और कुटुम्बियो ने खेलने और मन बहलाने के लिए सहस्रो उपदेश दिये, पर इस बालिका का झुकाव इस ओर नही हो सका । ग्यारह वर्ष की अवस्था में पदार्पण करते ही इसने घर-गृहस्थी का समस्त कार्य सीख लिया । सीना-पिरोना, कसीदा काढ़ना, रसोई बनाना आदि सभी गृह-कार्यों में प्रवीण हो गई ।

इन दिनों कन्याओ को अधिक शिक्षा देना बुरा समझा जाता था, अतएव आरम्भिक शिक्षा पाने पर ही पढ़ना-लिखना समाप्त कर दिया गया । माता की सेवावृत्ति और परोपकारिता की छाप कन्या पर पड चुकी थी । अत अल्पवय में ही अध्ययन, मनन और चिन्तन के साथ दूसरो के कार्यों में सहायता पहुँचाना, दु खियों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करना और घर के दास-दासियो के साथ घुलमिल कर रहना बालिका चन्दाबाई का स्वभाव बन गया । सबसे मधुर बोलना, पास-पड़ोसियो के साथ मिल कर रहना, अन्य बालिकाओं से कलह न करना और किसीको भी माँगने पर अपनी चीज दे देना, अन्य किसी से कुछ न माँगना इन्हें अत्यन्त प्रिय था । जो भी घर में आता, बालिका के भोले और प्रेमिल स्वभाव से प्रसन्न होकर जाता ।

धार्मिक आचरण पर अटूट विश्वास, राधाकृष्ण की भक्ति और गीता का पाठ बालिका का नित्यक्रम था । कभी-कभी मोहल्ले-टोले की बालिकाओं को एकत्रित कर रामायण का प्रवचन सुनाती हुई दिखलायी पड़ती बूढियो के कार्य में निरन्तर सहयोग दे देती, जिससे उनके आशीर्वाद का भाण्डार सदा इसके लिए खुला रहता था । छोटी-सी बालिका के आश्चर्योत्पादक कार्य बड़े-बूढों की चर्चा के विषय थे । सभी राधिकादेवी की सराहना करते और इस बालिका को होनहार बतलाते थे । पाठक देखेंगे कि जिस बालिका में हम राधाकृष्ण की इतनी भक्ति देखते है, वही वयस्क होकर किस प्रकार जिनेन्द्र-भक्त बन जाती है । राधाकृष्ण के नाम के स्थान पर अर्हन्त-सिद्ध का नाम अपना अधिकार कर लेता है ।

जब बाबू नारायणदासजी ने अपनी पुत्री को चतुराई के अनेक कार्य करते हुए देखा, तो उनकी इच्छा शीघ्र ही उसका विवाह सम्बन्ध कर देने की हुई । यद्यपि उनके विचार बालविवाह के विरुद्ध थे, पर प्रचलित रूढियो के समक्ष सिर उठाने की हिम्मत उनमें नही थी । न मालूम समाज में आज तक कितने नौनिहालो का बलिदान इस कुप्रथा के कारण हुआ होगा ? अनेक अविकसित कलियाँ खिलने के पहले ही तोडकर कुचल दी गई है । फलत: विवश पिता ने आरा नगर के सम्भ्रान्त प्रसिद्ध जमीन्दार जैनधर्मानुयायी पं० प्रभुदासजी के पौत्र, श्री बा० चन्द्रकुमारजी के पुत्र श्री बा० धर्मकुमारजी के साथ अपनी इस लाड़ली का वैवाहिक सम्बन्ध कर देने का निश्चय किया ।

श्री बा० धर्मकुमार संस्कृत और अंग्रेजी के प्रौढ़ विद्वान् थे। गौरवर्ण, लम्बा कद, ऊँचा ललाट, और विशाल वक्षस्थल था। किशोर अवस्था पारकर यौवन में पदार्पण कर रहे थे। ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न वर को पाकर माता-पिता निहाल थे। सर्वत्र बालिका के भाग्य की प्रशंसा सुनाई पड़ रही थी।

लिख दिया विधि ने विधान---

आज है परिणय की शुभ-लग्न-तिथि। अनेक मंगल-वाद्यों की उत्साहभरी रागिणियों से वृंदा-वन का कोना-कोना मुखरित हो रहा है। विवाह-मण्डप में वैदिक और जैनमन्त्रों का उच्चारण एक साथ सुनाई पड़ रहा है। सुकपुकाई सिकुड़ी हुई चन्दाबाई अपने भावी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर रही है; अल्पवय होने पर भी ज्ञान में आगे बढ़ी हुई है। उसकी विचारधारा दुन्दुभियों के तुमुल घोष के साथ यमुना के कछार से टकराई। उसने अपने भावी जीवन के अनेक मानचित्र अंकित किये। वर सचमुच में धर्मकुमार थे, ऐसा पति पूर्व पुण्योदय के बिना मिलना असंभव है। विधि कन्या के भाग्य पर ईर्ष्या कर रहा था।

नये घर में पधारते ही आनन्दरव गूंजने लगा। उत्सव-कोलाहल सन्ध्यानिल के मादक झोंकों के साथ बढ़ रहा है। रमणी-कंठो के मृदुमदगान मन्थर गति से बह रहे हैं। श्री बाबू देवकुमारजी अपने अनुज को सुखी-सम्पन्न देखकर हर्षविभोर हैं। अनुजवधू भी सर्वगुण सम्पन्न और वंशमर्यादा को वृद्धिगत करनेवाली है। दोनो परिवारों में इस सम्बन्ध से हर्ष-उल्लास छाया हुआ है। याचकों को मुँहमाँगा दान दिया जा रहा है। श्री बाबू देवकुमारजी की चिर अभिलषित आकांक्षा आज तृप्त हुई है। वृन्दावन और आरा के नर-नारियो के हृदय से इस दम्पत्ति के लिए आशीर्वाद की ध्वनि निकल रही है।

विधि का विधान विचित्र होता है। विराट् साधना सम्पन्न, अगणित बालाओं की माँ बनने-वाली चन्दाबाई को प्रकृति सीमित सन्तान की दुनिया में रखना नहीं चाहती। शैशवकाल में संकलित मधु में एक परिवार का हिस्सा नहीं हो सकता; यह तो मानव समुदाय के लिए है। सेवा का क्षेत्र सकीर्ण रखना विधि को स्वीकार नहीं; वह तो सेवा के उस चौरस मैदान में चन्दाबाई को पहुँचाना चाहता है, जहाँ वह चारों ओर स्वेच्छापूर्वक दौड़ सके।

अभी विवाह संस्कार सम्पन्न हुए एक वर्ष हुआ ही है कि बाबू धर्मकुमार श्रीपरमपूज्य तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा के अनन्तर गिरीडीह में प्लेग से आक्रान्त हुए। धर्मराज श्री देवकुमारजी ने अपनी भाई की यथेष्ट चिकित्सा की। दूर-दूर के चिकित्सक बुलाये गये; दोनों हाथ से सम्पत्ति उलीच कर सतर्कतापूर्वक चिकित्सा कराई गई, पर मृत्यु के समक्ष किसी का वश नहीं चला। दिन चढते-चढ़ते उनकी मृत्यु का विषादपूर्ण सवाद बिजली की तरह सर्वत्र फैल गया। समस्त हर्ष का वातावरण विषाद में परिवर्तित हो गया। बाबू देवकुमार मात्र १८ वर्ष की अवस्था में अपने प्रतिभासम्पन्न बन्धु के स्वर्गवास से किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये, असमय में ही अपने आशा-कुसुमों को धूलिसात् होते देखकर उनके हृदय के सैकड़ों टुकड़े हो गये। उन्हें धरती और आकाश एक दिख-लायी पड़ने लगा। दुःखातिरेक से बार-बार मूर्छित होते और चेतना पाते............।

जब वृन्दावन में यह समाचार पहुँचा तो चरित-नायिका के पिता ने सिर पीट लिया, माता, पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़ी। हा भगवान्, बारह वर्ष की इस अविकसित कली का क्या होगा ? अभी दूध के दाँत भी नही गिरे हैं। हाथों की हल्दी, पाँवों का महावर अभी ज्यों-का-त्यो आर्द्र है। प्रभो ! क्या विपत्ति का यह पहाड इसी बाला पर ढहने को था। हाय निर्दयी विधाता, तुझे इस कलिका को कुचलते हुए दया न आई !

चन्दाबाई भी एक गहरी निश्वास छोडकर कटे हुए वृक्ष के समान गिर पडीं। बहुत देर तक दु:ख का स्पर्श न हो, इसलिए प्रकृति ने उन्हें चेतनाशून्य रखा। सच है विपत्ति का पहाड़ उन्हीं पर गिरता है, जो उसे उठाकर भी सीना तानकर खड़े रहने की क्षमता रखते हैं। कायरो पर विपत्ति का साया भी नही पडता। दु:ख तो वह खराद है जिस पर चढ़कर ही व्यक्ति अनमोल बनता है। जब द्वादशवर्षीय अबोध बालिका को होश आया, चेतना लौटी तो उसकी माँग का सिन्दूर पोंछ दिया गया और हाथ की चूडियाँ तोड दी गईं।

चिन्तन और ज्ञान की आगार वह बाला विचारने लगी कि—'निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा' जीवन का सत्य पहलू है। ममत्व के इस नीड में अब मुझे प्रश्रय नहीं मिलेगा, इस नीड़ के सुनहले तिनको को अग्नि के एक ही स्फुलिंग ने भस्म कर दिया। मोह की निशा अब विघटित हो गई। अतएव नवीन प्रकाश के इस अनन्तनभ मे अब स्वतन्त्र विचरण कर सकूगी। अब मेरा परिवार समस्त विश्व होगा। मै अपनी जैसी अनन्त बालाओ को अपनी सहेली और पुत्री बनाऊँगी; उनके शोकातुर हृदय को शान्त करूँगी, आश्वासन दूँगी और निर्मित करूँगी दु:ख में ही सुख का गगन-चुम्बी प्रासाद।

मोह-शृखला की कडियाँ तडातड टूटने लगीं। इन्द्रियों के बन्धन खुलने लगे, स्पर्श-रस-गन्ध-स्वर के द्वार उद्घाटित होने लगे और ज्ञान-ज्योति भीतर ही भीतर प्रज्ज्वलित होने लगी। ज्ञानी राजर्षि स्वनामधन्य बाबू देवकुमारजी ने अपनी अनुज-वधू को आरा बुलाया और लगे ज्ञान की वर्षा करने। जैसे उत्तम बीज योग्य भूमि और जल पाते ही अंकुरित हो जाता है, कुशूला अवस्था की मिट्टी कुम्हार और चाक का सयोग पाते ही घडे के रूप में परिणत हो जाती है; उसी प्रकार चरित-नायिका चन्दाबाई जी भी उक्त बाबू साहब का सहयोग एवं पूज्य वर्णी नेमिसागरजी महाराज के धर्मोपदेश को पाकर अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने की ओर अग्रसर हुई। संस्कृत भाषा, जो विश्व की समस्त भाषाओं में धनी और समृद्ध है, के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति की। अनुभव किया कि नारी जाति के उत्थान का कार्य प्राचीन संस्कृति और साहित्य के गहन अध्ययन, अनुशीलन और पाण्डित्य बिना सभव नही। अतएव ज्ञानार्जन करना और जीवन को साधनाशील बनाना आवश्यक है। श्री बाबू देवकुमारजी ने अपनी अनुजवधू की इस ज्ञान-तल्लीनता को देखकर कहा—'उपेक्षित और तिरस्कृत नारी जाति को उन्नत बनाने के 'लिए यही लिख दिया है विधि ने विधान।'

दीप जल गया जीवन में—

अठारह वर्ष की अवस्था मे श्री बा० देवकुमारजी के सम्पर्क से चन्दाबाईजी ने अनुभव किया कि अहर्निश के मानवीय सम्बन्धों में राग-द्वेष की रगड ही दु:ख का कारण है। क्रोध, मान, माया,

लोभ का सूक्ष्म संघर्ष सर्वव्यापी है ; आज की सारी समस्याएँ इन्ही को लेकर के हैं। सबसे अधिक प्रबलता मान की है, वर्तमान में इसीके कारण नर और नारी दोनों ही संतप्त हैं। बाबू साहब जो जैन-धर्म का उपदेशामृत देते है, यह सत्य और कल्याणकारी है। अब विधिवत् जैनधर्म में दीक्षित हो जाना ही मेरे लिये मगलप्रद होगा। वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ देव ही शरण हो सकते हैं, उनकी वाणी ही ससाररूपी मरुभूमि में विविध तापो से सतप्त जीवों को शान्ति दे सकती है। अनादिकाल से यह जन्म-मरण की परम्परा चली आ रही है, इसे दूर करने का साधन इस धर्म को धारण करना ही है। अतएव वर्णी श्री नेमिसागरजी और उक्त बाबू साहब के समक्ष जिनमन्दिर में जाकर दीक्षान्वय क्रिया पूर्वक पैतृक धरोहर में प्राप्त वैष्णव धर्म को छोड़ जैनधर्मानुयायी बन गई।

बचपन की ज्ञानपिपासा पुन. जाग्रत हो गई। ज्ञान-वृद्ध ही ससार में आगे बढ सकता है, ऐसा निश्चय कर चरितनायिका ने संस्कृत-साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र का अध्ययन विधिपूर्वक करना आरम्भ किया। उस समय आज के समान नारी-शिक्षा का प्रचार नही था, अत· अच्छे शिक्षक एव अन्य साधनो का मिलना अत्यन्त दुर्लभ था। पर्दा-प्रथा इतनी अधिक थी, जिससे किसी शिक्षक से सम्भ्रान्त कुल की ललना का अध्ययन निन्दा और भर्त्सना का विषय बने बिना नही रह सकता। आरा नगर जमीन्दारो की प्रमुख बस्ती है, यहाँ मुगलकालीन प्रथाएँ ध्वस रूप मे आज भी किंचित् शेष है। आज से ५० वर्ष पहले तो विधवाओ को शिक्षा देना सभी जगह अशुभ समझा जाता था, फिर आरा की बात ही क्या। श्री चन्दाबाईजी को अध्ययन मे ऐसी अगणित कठिनाइयो का सामना करना पड़ा, जिनमे जूझने की शक्ति विरलो मे ही होती है।

आरम्भ में धर्मशास्त्र और जैनसंस्कृतसाहित्य का अध्ययन तो श्री वर्णी नेमिसागरजी द्वारा आरम्भ किया गया। आपने थोडे ही समय में रत्नकाण्ड श्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्य सग्रह, परीक्षा-मुख, न्यायदीपिका, चन्द्रप्रभचरित आदि ग्रन्थों का अभ्यास कर लिया। शिक्षको का समुचित साहाय्य नही मिलने पर भी आप सतत अध्यवसाय मे सलग्न रहती। हिन्दी भाषा में अनूदित व्याकरणों और कोषो की सहायता द्वारा आपने लघुसिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन आरम्भ किया। व्याकरण शास्त्र के नियम जब गुरु के साहाय्य बिना हृदयगम करने में कठिन मालूम पडे तो आपने परीक्षा के दिनों में वृन्दावन रहने का निश्चय किया। पितृगृह मे पर्दाप्रथा कम भी थी, तथा वहाँ शिक्षक भी उपलब्ध थे।

काशी के समान वृन्दावन भी संस्कृत शिक्षा का केन्द्र रहा है। अतएव आप दो-चार महीने वर्ष में वृन्दावन रहकर ही लघुसिद्धान्त कौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन करती रही। कुछ ही समय में आपने राजकीय सस्कृत कालेज काशी की पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली, जो आज शास्त्रीय परीक्षा के समकक्ष कही जा सकती है। जैनदर्शन और धर्मशास्त्र का अध्ययन भी उत्तरोत्तर बढता जा रहा था। क्रमश· सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाण्ड, पञ्चाध्यायी, समयसार, लब्धिसार आदि ग्रन्थो का स्वाध्याय भी आरम्भ कर दिया गया। ज्ञानावरणीय गल-गल कर गिरने लगा, आत्मा विशुद्ध प्रतीत होने लगी। जैनन्याय के अध्ययन ने आत्मज्योति को प्रज्वलित कर दिया, जीवन मे ज्ञानदीप जल उठा और उसके आलोक से हृदय का कोना-कोना आलोकित होने लगा। भीतर-बाहर कहीं अन्धकार का नाम भी नही था। ज्ञानदीप की लौ को बुझाने में प्रयत्नशील सभी शक्तियाँ बुझ चुकी थी,

अतः मार्ग के काँटे पुण्य बन गये थे । वर्षा ऋतु में जैसे जल किसी गड्ढे में एकत्रित होता रहता है, उसी प्रकार इनमें सिमिट-सिमिट कर ज्ञानराशि एकत्रित हो रही थी । स्याद्वाद न्याय के अध्ययन ने विविध दर्शनों से भी अभिज्ञ बना दिया था । द्रव्य, गुण, पर्याय और स्वभाव का यथार्थ अनुभव कर लिया था । आपकी अद्भुत प्रतिभा और प्रखर पाण्डित्य के समक्ष बड़े-बड़े विद्वान् भी मूक हो जाते हैं ।

श्री बाबू देवकुमारजी अपनी अनुजवधू की इस विद्वत्ता से अत्यन्त प्रसन्न थे । उनकी महत्वाकांक्षा अपनी इस वधू को सर्वश्रेष्ठ विदुषी, समाजसेविका और साहित्यकार बनाने की थी । अपनी उक्त आकांक्षा को मूर्तिमान होते देखकर उन्हें जो हर्षानुभव हुआ, उसका आस्वादन कोई भुक्त-भोगी ही कर सकेगा । ज्ञानदीप के जलने से जीवन का अन्धकार विलीन हो गया, जिससे चन्दाबाईजी अब माँश्री बनने लगी । सम्यग्दर्शन या आत्मख्याति के उत्पन्न होते ही व्रत, उपवास, पूजा-पाठ, दान आदि सत्कार्यों की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ने लगी । इन्द्रियों की शक्ति को जर्जरित करने के लिए तीस वर्ष की अवस्था से ही एक बार भोजन करना आरम्भ कर दिया । प्रज्वलित ज्ञानदीप की ज्योति जीवन में दिव्य आलोक विकीर्ण कर मार्ग को प्रशस्त बनाने लगी ।

निरखा इस धरतीतल को—

ज्ञानदीप के प्रज्वलित होते ही इस वसुन्धरा की ओर माँश्री चन्दाबाईजी की दृष्टि गई । सर्वत्र दुःख और दैन्य देखकर उनकी अन्तरात्मा तिलमिला उठी । उन्होंने देखा कि नारी सघन दुःखों को अपने में समेटे सिसकियाँ भर रही है । उसे कोई पूछनेवाला नहीं, वह पैर की जूती समझी जाती है, वासना-पूर्ति का साधन मानकर उसके साथ नाना तरह के पाशविक अत्याचार किये जा रहे हैं । क्या नारी इसी प्रकार नारकीय यातनाएँ भोगती रहेगी ? विचारों की अनन्त गहराई में प्रवेश कर उन्होंने निश्चय किया कि सेवा के क्षेत्र में पदार्पण कर मैं अवश्य ही नारी-जाति को सान्त्वना प्रदान करूँगी । इसी उद्देश्य को लेकर आपने प्रेरणा करके सन् १६०७ में आरा में ही श्री बाबू देवकुमारजी से एक कन्यापाठशाला की स्थापना करायी और स्वयं उसकी देख-रेख करने लगी । बहुत दिनोंतक दोपहर में स्वयं एकाध घण्टे अध्यापन-कार्य भी करती रहीं । आप मुहल्ले की प्रौढ़ अवस्थावाली बहनों को श्री शान्तिनाथ मन्दिर पर बुलाकर स्वाध्याय करातीं, नियम देतीं तथा श्राविका के कर्त्तव्य-मार्ग का परिज्ञान करातीं । आपका यह सेवाव्रत तब तक चलता रहा, जब तक आरा नगर की समस्त बहनें साक्षरा और धर्मशास्त्राभिज्ञा न बन गई ।

लोक-सेवा का अभ्यास पहले अपने नगर से ही किया । आपने वेदना-संतप्त नारी-जगत् के अज्ञान को दूर करने का निश्चय किया और ज्ञान का अलख जगाने के लिए सेवा के विभिन्न मार्गों को अपनाया । अनेक पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाओं में शामिल होकर महिलाओं को संगठित किया । अब आपका कार्यक्षेत्र आरा नगर और बिहार प्रान्त ही नहीं था, किन्तु समस्त आर्यावर्त था । आपने केवल जैनधर्मानुयायी शोकार्त महिलाओं के ही आँसू नहीं पोंछे, किन्तु बिना किसी भेद-भाव के समस्त नारियों के आँसू पोंछे, उन्हें सान्त्वना दी ।

अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद् की स्थापना कर उसके संगठन को सुदृढ़ बनाया । अनेक विधवा बहनों को जिनका आश्रय-नीड़ नष्ट हो चुका था, आजीविका में लगाया । अपाग, दुखी, रोगी

मानवों की तन-मन-धन से सेवा की । आपका द्वार सबके लिए सर्वदा खुला था, कोई भी दुखी अपनी आवश्यकतानुसार आपसे हर वस्तु पा सकता था ।

इस बीसवीं शताब्दी का वह दशक, जिसमें देश ने एक जोर की अंगड़ाई ली और विदेशीय शासन-सत्ता की कड़ियाँ तड़ातड़ टूट रही थीं, माँश्री की लोकसेवा में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यों तो इस दशक में सभी बुद्धिजीवी भारत माँ को बन्धन-मुक्त करने की चेष्टा कर रहे थे सभी का त्याग और बलिदान भारत के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के इतिहास में अपना निजी स्थान रखता है । पर माँश्री की मूक-सेवा देश के किसी भी नेता से कम नही । यद्यपि आप जेल नही गईं, पर आपने कितने भाई-बहनों को स्वातन्त्र्य-आन्दोलन में भाग लेने की प्रेरणा की है । सन् १९२० से आपने चर्खा चलाना आरम्भ किया तथा देश के स्वतन्त्र होने तक अपने इस अनुष्ठान को करती चली आईं । खद्दर पहनने का नियम आज तक ज्यों का त्यों चला आ रहा है । खद्दर का प्रचार करना, कांग्रेस तथा देश के अन्य आवश्यक कार्यों के लिए चन्दा एकत्रित करना, अहिंसा-सत्य आदि सिद्धान्तों के प्रचार के लिए स्वयं निबन्ध लिखना और उनका वितरण करना, देशभक्ति और देशसेवा की भावना को प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में जाग्रत करना प्रभृति अनेक कार्य माँश्री करती रही है । उनका प्रत्येक कार्य सर्व-जनहिताय और सर्वजन-सुखाय होता है । वे अपने किसी भी कार्य द्वारा किसीको भी कष्ट नही देना चाहती हैं ।

भारतीय नारी अपनी संस्कृति के आदर्शानुसार पातिव्रत की रक्षा करती हुई अपने जीवन को सुखी और सम्पन्न बना सके, इसके लिए माँश्री सतत चेष्टा करती रहती है । आपने अपनी वाणी द्वारा अनेक अवसरों पर शिक्षा से दूर रहनेवाली नारी को सावधान किया है । सन् १९२१ में कानपुर में सम्पन्न हुए भा० दि० जैन महिला-परिषद् के १० वें अधिवेशन के अध्यक्षपद से भाषण देते हुए आपने कहा—"अविद्या राक्षसी ने हमारी बहनों को मनुष्यत्व से वंचित कर रखा है । जो हमारी वृद्धा माताएँ नारी-शिक्षा की अवहेलना करती हैं तथा पढ़ने-लिखने का कार्य केवल पुरुषों का समझती हैं, वे सच-मुच में अन्धेरे में हैं । दिशा भूली हुई हैं, हमारा विश्वास है कि शिक्षा जितनी पुरुषों को आवश्यक है, नारियों को उससे कहीं अधिक । भावी सन्तान को सुयोग्य और शिक्षित बनाने का भार माताओं के ऊपर ही है । जब तक माताएँ ज्ञानी और आचरणनिष्ठ नही, सन्तान कभी भी ज्ञानवान् और सदाचारी नही बन सकती है । शिक्षित नारियाँ घर की देखभाल और प्रबन्ध जितने सुन्दर ढंग से कर सकती हैं, अशिक्षिता नहीं । शिक्षा वह जादू है, जो थोड़े ही समय में मनुष्य को बदल देती है, पशु भी शिक्षा पाकर नम्र और सभ्य बन जाते है । अतएव घर की बहू-बेटियों को शिक्षित बनाना पुण्यकृत्य है । समाज का अतीत गौरव शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । नारियों में स्वार्थ और कलह की भावना निसर्गत. पायी जाती है । एक घर में अनेक पुरुष साथ-साथ रह सकते हैं, पर स्त्रियाँ जहाँ एक से अधिक हुईं वहाँ कलह आरम्भ हो जाता है । विषय और कषाय की प्रवृत्ति, जिसके कारण समस्त मानव-समाज त्रस्त है, शिक्षा द्वारा ही नियन्त्रित की जा सकती है । सत्शिक्षा द्वारा ही मानव शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक उत्थान कर सकता है । विधवा बहनों की समस्या का एकमात्र समाधान शिक्षा ही है । शिक्षिता बनकर ये बहनें आजीविका सम्पन्न करती हुई आत्मो-द्धार कर सकती हैं ।"

पूज्या माँश्री नारी-समाज की सेवा केवल बातों से हीं नही करती, जैसे कि आज कल के नेता केवल भाषण देकर ही अपनी सेवा की इतिश्री समझ बैठते है, वैसे वह मात्र भाषण नही देती; किन्तु सक्रिय सेवा के क्षेत्र मे भाग लेती हैं। समाज को जब जिस प्रकार की आवश्यकता होती है, उस समय उसी प्रकार की सेवा करती है। शिक्षा, साहित्य, समाज और व्यक्ति की विभिन्न दृष्टिकोणो से नाना प्रवृत्तियो द्वारा सेवा करती आ रही है।

चल पड़ी आत्मगुण पाने को—

जीवन की दिव्य तपस्या ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है। लोक-सेवा का कार्य भी सम्यक् रूप से तभी सम्पन्न हो सकता है, जब आत्मा की अनुपम शक्तियाँ आविर्भूत हो जायें। धर्मप्राण भारतवर्ष में भावना-सम्पन्न व्यक्ति के प्रति ही जनसाधारण की श्रद्धा हो सकती है। यों तो इस देश में सन्यासी और साधुओ की कमी नही है, पर ऐसे सन्यासी बहुत ही कम है जो जनसाधारण को अपना सकें, उनके सुख-दुख को हलका कर सकें। अत माँश्री भी आत्मगुणो को आविर्भूत करने के लिए सचेष्ट हो गयी। आगम का निरन्तर छ सात घटे तक स्वाध्याय करते रहने पर भी आत्मजिज्ञासा शान्त नही हो रही थी। कहावत प्रसिद्ध है कि 'गुरु बिन ज्ञान न होय' अर्थात् आत्मसाधक गुरु की सत्संगति बिना भेदानुभूति का होना कठिन-सा है। अतएव आप पूज्य श्री१०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज के पादमूल में जाकर आत्मशोधन करने लगी।

आत्मशोधन के लिए गुरु की संगति के अतिरिक्त तीर्थाटन भी एक प्रबल साधन है। तीर्थों के पवित्र-रज-कणो के स्पर्शमात्र से आत्मा के बन्धन टूट जाते है, ज्ञान का भाण्डार खुल जाता है और आत्मा विभाव-परिणति का त्याग कर स्वभाव-परिणति को ग्रहण करता है।

माँश्री को भी तीर्थयात्रा से विशेष रुचि है। आपने निर्वाण-भूमियों, तीर्थंकरो के जन्म, निष्क्रमण, तप और केवलज्ञान से पवित्र स्थानो की क्षेत्रमंगल मानकर अनेक बार वन्दना की है। इन यात्राओं में आप त्यागी, व्रती, मुनिराज, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका आदि की सत्संगति से भी लाभ उठाती है। स्वाध्याय की अनेक शंकाओ का समाधान भी ज्ञानियो के सहयोग से इन यात्राओ में ही कर लेती हैं। सर्वप्रथम आपने सन् १६०८ में श्री बा० देवकुमारजी तथा अन्य परिवार के सदस्यों के साथ दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा की। इस यात्रा में श्री बा० देवकुमारजी पुरुषो में और माँश्री स्त्रियों में भाषण देती थी; आप लोगों के भाषणों का कन्नड में अनुवाद श्री नेमिसागरजी वर्णी (भट्टारक चारुकीर्त्ति) करते थे। आप लोगो की प्रेरणा से दक्षिण भारत में अनेक उल्लेख योग्य सास्कृतिक कार्य सम्पन्न हुए। इनमें से अधिकाश कार्य आज भी दूनी प्रगति के साथ सम्पन्न हो रहे हैं। श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा के स्थापन की प्रेरणा बाबू देवकुमारजी को दक्षिण भारत से ही प्राप्त हुई थी।

श्री बा० देवकुमारजी माँश्री के भाषण को छिपकर सुनते थे, क्योंकि अपनी अनुजवधू के भाषण को पर्दा-प्रथा की कट्टरता के कारण सामने बैठकर नही सुन सकते थे। इस यात्रा में श्रवण-बेलगोला, मूडबिद्री, मैसूर, बैंगलूर, कार्कल आदि विभिन्न स्थानो के मन्दिरो और मूर्त्तियो के दर्शन कर कर्मों की निर्जरा के साथ अपने अनुभव को बढाया।

इस यात्रा से वापस लौटकर गिरनार, सम्मेदशिखर, सोनागिर, पावापुर, राजगृह, पपौरा, चन्देरी, देवगढ़, चम्पापुर, महावीरजी आदि भारत के समग्र जैनतीर्थों की कई बार वंदना की है। इन यात्राओं द्वारा अर्जित लोकानुभव से लोकसेवा के कार्यों में माँश्री को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

विकार सम्यग्दृष्टि को भी चलायमान कर देते हैं; अतएव माँश्री ने विकारों को दूर करने के लिए आचार्य शान्तिसागर महाराज के कटनी, ललितपुर, मथुरा, दिल्ली, उदयपुर, फलटन और प्रतापगढ़ में सम्पन्न हुए चातुर्मासों के अवसर पर महीनो रहकर आगम के अभ्यास के साथ आत्म-साधना भी की है। इन स्थानो में कायोत्सर्ग की साधना हिमाचल सी अचल, देह से विदेह और प्रोज्ज्वल, निराकुल, अविकल आनन्दानुभूति में संलग्न हो सामायिक करती रही है। गुरु के समक्ष ध्यान का अभ्यास करने के कारण दुर्निवार बादलवेला, दुर्धर्ष शीतकाल, कँपानेवाली वायुएँ, प्रचण्ड ग्रीष्म एव वर्षाबून्दी आपके आत्मध्यान में बाधक नही बनती; प्रत्युत साधक बनती है। जब आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो गया तब सन् १९३४ मे आचार्यश्री से उदयपुर (आडग्राम) में कार्त्तिक सुदी पूर्णिमा को प्रातःकाल ९ बजे सातवी प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर लिए। यो तो माँश्री श्रावक के दैनिक षट्कर्मों का पालन सन् १९०६ से ही करती आ रही थी तथा अन्य आवश्यक व्रत-नियमो का भी पालन करती थी, परन्तु अब व्रतो को दृढ करने के लिए आचार्यश्री के समक्ष नियम ग्रहण कर लिया।

माँश्री की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विशुद्ध होती जा रही है। वे ढूँढ-ढूँढ कर क्रोध, मानादि शत्रुओ का परित्याग कर समतापूर्वक विनश्वर संसार की वास्तविकता को हृदयङ्गम कर रही है। आपकी प्रत्येक क्रिया एक सच्चे आत्मशोधक के रूप में होती है। सातवी प्रतिमा के व्रत होते हुए भी आपकी साधना आर्यिका से किसी भी तरह कम नही है। आरम्भ, परिग्रह का त्याग करके भी सेवा के क्षेत्र में आगे दिखलायी पडती है। आज हमारे देश को ऐसे ही सन्तों की आवश्यकता है जो ससार—शरीर-भोग से निर्विण्ण होकर जनता के दुख-दर्द को कम कर सकें। जो अहंकार और ममकार से अलग हटकर विश्व के समस्त प्राणियों की बिना किसी प्रलोभन के सेवा कर सके, ऐसे ही महात्मा देश को हर क्षेत्र में उन्नतिशील बना सकते हैं। महात्मा गान्धी ऐसे ही सन्त पुरुष थे, जो स्वय शुद्ध होकर विश्व को शुद्ध करना चाहते थे। हमारी माँश्री भी इसी प्रकार की साध्वी है जो समस्त विश्व को सुखी बनाने में सलग्न है। कन्या, तरुणी और वृद्धाओ को अपनी पुत्री समझती है, उनके अपार वात्सल्य का आश्रय भाण्डार सबके लिए समान रूप से खुला है। आज ६४ वर्ष की अवस्था में भी माँश्री के मुख-मण्डल पर ब्रह्मचर्य का वह दिव्यतेज विद्यमान है, जो मानवमात्र को पूत और प्रभावित किये बिना नही रह सकता। अनेक दर्शक उनकी पावन चरण रज को अपने मस्तक पर आरोहण किये बिना नही रह सकते।

निर्माण किये जिनमन्दिर—

लोकसेवा में प्रवृत्त हो जाने पर भी माँश्री ने अनुभव किया कि इस पचमकाल में समीचीन निष्काम जिनभक्ति से बढ़कर अन्य पुण्यबन्ध का कारण नही है। धर्म की स्थिति जिनमन्दिरो पर ही अवलम्बित है। अर्हन्तों की प्रतिकृति वीतराग प्रशान्तमुद्रा ही आत्मविशुद्धि का एकमात्र साधन है। अतएव जिस स्थान पर आवश्यकता हो जिनालय का निर्माण करना चाहिए। यद्यपि श्री जैन-बाला-

विश्राम के विद्यालय-भवन के ऊपर एक भव्य जिनालय आपकी प्रेरणा से आपकी ननद श्रीमती नेमिसुन्दरजी ने स्थापित किया था, तो भी आपके हृदय में जिनमन्दिर-निर्माण की पावन-भावना अहर्निश प्रादुर्भूत होती रही। एक दिन आपने निश्चय किया कि राजगृह के द्वितीय पहाड़ रत्नगिरि पर कोई भी दि० जिनालय नहीं है। यात्री पहाड पर ऊपर पहुँच कर उस स्थान पर दिगम्बर जैन-मन्दिर न होने से एक बड़ी कमी का अनुभव करते हैं। अतएव इस स्थान पर जिनालय निर्माण करना आवश्यक है। आपके उक्त निश्चय के अनुसार नवाब साहब को एक हजार रुपये नजराना देकर ऊँची जमीन खरीद ली गई और कुछ दिनो के पश्चात् मन्दिर बनने का कार्य आरम्भ हो गया। यद्यपि पीछे लोगों के भड़काने से मन्दिर बनवाने के लिए स्वीकृति देने में नवाब साहब ने आनाकानी भी की, जिससे मुकदमा भी लडना पड़ा। मुकदमा में हार जाने पर नवाब साहब को जमीन देनी पड़ी और जिनालय का कार्य आरम्भ कर दिया गया। लगभग दो-तीन वर्षों में भव्य मन्दिर तैयार हुआ और सन् १६३६ में पचकल्याणक प्रतिष्ठा भी धूमधाम से सम्पन्न कर दी गयी। माँश्री ने इस मन्दिर के पूजन-पाठ के स्थायी प्रबन्ध के लिए कुछ रुपये अलग निकाल दिये हैं, जिनके ब्याज से मन्दिर के पूजन का प्रबन्ध किया जा रहा है।

आरा मे ४० शिखरबद्ध जिनालयों के होने हुए भी मानस्तम्भ की कमी खटकती थी। आपने विचार किया कि आरा तीर्थभूमि है। नन्दीश्वर द्वीप जिनालय, सम्मेदशिखर जिनालय, सहस्रकूट जिनालय एवं बाहुबली जिनालय ने तो आरा के गौरव में चार-चाँद लगा दिये हे। यदि यहाँ एक भव्य कलापूर्ण मानस्तम्भ का निर्माण और कर दिया जाय तो आरा निश्चय तीर्थ बन जायगा। श्री सम्मेदाचल की यात्रा के लिए आनेवाले यात्री भाई आरा के दर्शन कर अपना अहोभाग्य मानते हैं। अतएव माँश्री ने सन् १६३६ में मानस्तम्भ की नीव डाली और एक ही वर्ष में रमणीय संगमरमर का भव्य मानस्तम्भ तैयार हो गया। इस मानस्तम्भ में बारह सौम्य मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनके दर्शन मात्र से आत्मा आनन्दविभोर हो जाती है। मैंने अब तक कई मानस्तम्भो के दर्शन किये हे, जो इस मानस्तम्भ की अपेक्षा विशाल और विराट् हे, पर इतने सौम्य नहीं। इसकी रमणीयता चित्त को आह्लादित किये बिना नहीं रह सकती।

श्री जैन-बालाविश्राम स्थित बाहुबली स्वामी का मन्दिर भी आपकी प्रेरणा का ही फल है। उत्तर भारत में एकमात्र बाहुबली स्वामी की यह १३ फुट ऊँची प्रतिमा श्रवण-बेलगोला स्थित गोम्मट स्वामी की स्मृति जाग्रत किये बिना नहीं रह सकती।

बालाविश्राम के सम्मुख बाहरी बगीचे में स्थित श्री शान्तिनाथ जिन-मन्दिर, जो कि सन् १६३४ के भूकप से जर्जरित हो गया था, का जीर्णोद्धार आपने श्रीमती चम्पामणिदेवी ध० प० स्व० बा० धरणेन्द्रचन्द्रजी को प्रेरणा देकर कराया। उक्त देवीजी एक नवीन जिनमन्दिर बनवाना चाहती थी, पर आपने उन्हें समझाया कि जीर्णोद्धार में भी उतना ही पुण्य है, जितना नवीन मन्दिर बनवाने में। अतएव आपकी सत्प्रेरणा पाकर बीस हजार रुपये लगाकर उक्त चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया गया। साथ ही सहस्रकूट चैत्यालय का भी निर्माण किया। माँश्री ने प्रेरणा करके कितने ही जिनालयों का जीर्णोद्धार कराया है।

आपने पावापुर, गुणावा, कुंडलपुर आदि तीर्थस्थानों में जिनबिम्ब भी विराजमान किये हैं। माँश्री उन्हीं स्थानों पर जिनमन्दिर और जिनमूर्त्तियों की आवश्यकता बतलाती है, जहाँ जैनधर्मावलम्बियों का निवास हो। उनका विचार मूर्त्तियों की अपेक्षा मूर्त्तिपूजकों को उत्पन्न करना है। आज पुजारियों का अभाव है, पूजा करने की प्रवृत्ति समाज में नहीं के बराबर है, अतएव पुजारी उत्पन्न होने की आवश्यकता है।

गीत सुनाया इस धरती का--

साहित्य जीवन की व्याख्या है। साहित्यकार अपनी रचना में विश्व के सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय-निर्भयता एवं अश्रु-हास का स्पष्ट स्पन्दन अंकित करता है। वह इस धरती का सन्देश सुनाता है, बिखरी और प्रताड़ित मानवता को बटोरता है और करता है स्वयंभू बनकर इसी धरती पर स्वर्ग की स्थापना। माँश्री ने भी महिलोपयोगी साहित्य का सृजन कर चिर सत्य और चिरसुन्दर की आधारभूमि पर स्थित हो नारी को शिव-हित का सन्देश सुनाया है। आपने नारी के अन्तस्तल की उस वीणा का वादन किया है, जिसका मधुर रव आज भी समस्त दिशाओं में कर्णगोचर हो रहा है। सदियों से पददलित नारी आपके द्वारा रचित साहित्य में जीवनोत्थान और कर्त्तव्य की प्रेरणा पाती है। वह अपने जीवन की यथार्थता से अभिन्न बनकर दायित्व और अधिकार की भावना से परिचित होती है।

माँश्री कथा-कहानी, निबन्ध और कविताएँ लिखती हैं। जैन कन्याशालाओं में श्राविका के आचार-व्यवहार का परिज्ञान करानेवाले साहित्य का प्राय अभाव था। अतएव आपने इस कमी को दूर करने के लिए कई सुन्दर शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखी हैं। उपदेश-रत्नमाला, सौभाग्य-रत्नमाला, निबन्ध-रत्नमाला, आदर्श कहानियाँ, आदर्श-निबन्ध और निबन्धदर्पण प्रभृति आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनका उद्देश्य जीवनोपयोगी लौकिक और धार्मिक विषयों पर प्रकाश डालना है। आपकी निबन्ध-विषयक रचनाओं के अध्ययन से महिलाओं के शरीर में अटूट स्वास्थ्य, भुजाओं में विजयिनी शक्ति, हृदय में साहस, और जीवन में तपोमयी साधना के भाव उत्पन्न होते हैं। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की गन्ध सर्वत्र मिलेगी।

बहुमुखी प्रतिभा होने के कारण आप लेखिका, संपादिका, कहानीकार और कवयित्री होने के साथ सफल पत्रकार भी हैं। सन् १६२१ से आज तक भा० दि० जैन महिला-परिषद् द्वारा संचालित 'जैन-महिलादर्श' नामक पत्र का सम्पादन बड़ी योग्यता के साथ करती आ रही है। इस पत्र की विशेषता यह है कि इसमें स्त्रियों द्वारा लिखित रचनाएँ ही स्थान पाती है, जिसके फलस्वरूप समाज में आज अनेक अच्छी लेखिकाएँ और साहित्यकार उत्पन्न हो गयी हैं। आपके द्वारा लिखी गयी सम्पादकीय टिप्पणियाँ, सम्पादिका की डाक, प्रश्नोत्तर, शंकासमाधान और सम्पादकीय निबन्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। सामयिक राजनीति, धर्म, समाज से सम्बद्ध विषयों पर लिखी गयी टिप्पणियाँ भारतीय नारी-समाज के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। अभी हाल में प्रकाशित वर्ष ३१ अंक १ में आपका "भारतीय संस्कृति की यह अवहेलना कैसी" ? टिप्पणी नारी के कर्त्तव्य और दायित्व का परिज्ञान तो कराती ही है, साथ ही भारत-सरकार को, जो कि विदेशी सरकार के अनुकरण पर चल रही है,

कर्तव्य का बोध कराती है। कोई भी राष्ट्र अपनी प्राचीन संस्कृति की अवहेलना कर आगे नहीं बढ़ सकता है। संस्कृति ही जीवन है, यही राष्ट्र की रीढ़ है। अतएव सरकार को नारी के सतीत्व के साथ रूप-सौन्दर्य की प्रतियोगिता कर आर्य-संस्कृति को धक्का लगाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार हिन्दू-कोड-बिल, हरिजन मन्दिर-प्रवेश और धार्मिक ट्रस्ट बिल पर ऊहा-पोहात्मक विचार व्यक्त कर जैन-नारी-समाज के समक्ष कर्तव्य मार्ग को निर्धारित किया है। मैटर को सजाना, हेडिंग देना, विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से रखना आदि बातें 'महिलादर्श' से अवगत की जा सकती हैं। माँश्री इस धरती की बातों को ही जनता के समक्ष रखती हैं, वे आकाश-पाताल के कुलाबे नहीं बाँधती।

पुस्तकें लिखने और पत्र-सम्पादन करने के अलावा जैन एवं जैनेतरपत्रों, अभिनन्दन-ग्रन्थों में आपके साहित्यिक, आचारात्मक, दार्शनिक और उपदेशात्मक निबन्ध निरन्तर प्रकाशित होते रहते हैं। प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में "धर्मसेविका प्राचीन जैन देवियाँ" शीर्षक खोजपूर्ण निबन्ध में शिलालेखों, ताम्रपत्रों एवं प्राचीन साहित्य के आधार पर धर्म-प्रचार में सहयोग देनेवाली प्राचीन जैन-नारियों का इतिहास आपने बहुत ही सुन्दर ढंग से अंकित किया है। इस निबन्ध के अध्ययन से नारी-समाज की प्राचीन कीर्ति-पताका का पता सहज में लग जाता है। इसी प्रकार वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित 'जैन पुराणों के स्त्रीपात्र' निबन्ध जैन साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें नारी-पात्रों के व्यक्तित्व की सुन्दर अभिव्यंजना की गयी है। अंजना और राजुल की मूक वेदना को इतने मर्मस्पर्शी ढंग से अंकित किया है, जिससे पाषाण हृदय भी करुणा से आर्द्र हुए बिना नहीं रह सकता। ये नारी-पात्र केवल विरह से ही सन्तप्त नहीं हैं, किन्तु आत्म-साधना की आँच में अपने समस्त विकारों को भस्म करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार माँश्री लगभग तीन युगों से इस धरती का मधुर गीत सुना रही हैं। आपकी स्वरध्वनि में मिठास के साथ ओज भी है।

तिमिर मिटाकर ज्योति जलाई—

दासत्व की शृंखला में जकड़ी, घूँघट में छुपी, अज्ञान और कुरीतियों से प्रताड़ित नारी की दशा पर आप निरन्तर विचार करती रहती हैं। आपका विश्वास है कि समस्त सामाजिक रोगों की रामबाण औषधि शिक्षा है। यदि नारी का अज्ञान दूर हो जाय तो निश्चय उसका दुःख दूर हो सकता है, वह स्वतन्त्र आजीविका प्राप्त कर धर्मसाधन करती हुई प्रतिष्ठा लाभ कर सकती है। खोये हुए आत्मगौरव को शिक्षा द्वारा ही पा सकती है।

जिन विधवा बहनों की आज समाज में नगण्य स्थिति है, जिनके साथ पशु जैसा व्यवहार किया जाता है, उनकी स्थिति भी शिक्षा के द्वारा ही सुधर सकती है। शिक्षित होकर ही नारियाँ जीवित मानवों की पंक्ति में स्थान पा सकती हैं। अतएव ऐसे विद्यामन्दिर स्थान-स्थान पर स्थापित होने चाहिए, जिनमें विधवा बहनों के साथ कुमारी कन्याएँ भी शिक्षा पा सकें।

अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए माँश्री ने प्रेरणा करके अनेक कन्यापाठशालाएँ स्थापित करायी हैं। आपके करकमलों द्वारा इन्दौर की कञ्चनबाई श्राविकाश्रम... पाठशाला, अजमेर की कन्यापाठशाला

तथा रोहतक के श्राविकाश्रम का उद्‌घाटन हुआ है। माँश्री नारियों को उच्चकोटि की सांस्कृतिक शिक्षा देने के लिए एक सर्वांगपूर्ण शिक्षामन्दिर सन् १६१० से ही खोलना चाहती थीं। आपकी इस विचार-धारा के स्निग्ध-सीकर आपके कुटुम्बियो और हितैषियों पर भी पड़े, पर कुछ निर्णय न हो सका।

सन् १६२१ में आप अपने परिवार के साथ श्री सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए गईं। समग्र पहाड़ की वदना करने के उपरान्त श्रीपार्श्वप्रभु की टोंक पर आकर माँश्री ने सब लोगों से नियम लेने को कहा। आदेशानुसार श्री बा० निर्मलकुमारजी, श्री बा० चक्रेश्वरकुमारजी ने भगवान् के समक्ष नियम लिये तथा श्री बाबू निर्मलकुमारजी ने कहा—"बहूजी (चाचीजी), आप भी यह नियम ले लीजिए कि एक वर्ष में महिलाश्रम की स्थापना कर दी जायगी"। नियम ग्रहण कर आप लौट आईं और इसी वर्ष नगर से दो मील की दूरी पर धनुपुरा गाँव के अपने ही बगीचे में अपने परिवार के सहयोग से श्री जैन-बाला-विश्राम (जैन-महिला-विद्यापीठ) की स्थापना की। आपकी प्रेरणा से आपकी ननद श्रीमती नेमिसुन्दर बीबी ने लगभग बीस हजार रुपये लगाकर विद्यालय-भवन और उसीके ऊपर लगभग दस हजार रुपये लगाकर चैत्यालय का निर्माण कराया।

इस सस्था में उच्चकोटि के लौकिक शिक्षण के साथ धार्मिक शिक्षण भी दिया जाता है। माँश्री का विश्वास है कि जो शिक्षा आत्मज्ञान से रहित है, वह जीवन के लिए मगलमय नही हो सकती, क्योंकि धन के बिना मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, विद्या के बिना बडा बन सकता है, पर आत्म-बल के बिना सर्वथा हीन और पगु है। आत्मबोध-रहित शिक्षा पाखण्ड है। अतएव धार्मिक शिक्षा प्रत्येक छात्रा को लेना अनिवार्य है। यह सस्था असत् से सत् की ओर, तिमिर से ज्योति की ओर, और मृत्यु से अमरत्व की ओर महिला समाज को ले जा रही है। इसमें पजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिल-नाड, कर्णाटक, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, काठियावाड़ आदि स्थानों की विधवाएँ, कुमारी कन्याएँ एव उपेक्षित या परित्यक्त अथवा विद्याव्यसनी सधवाएँ शिक्षालाभ ले रही हैं। यह संस्था ३१ वर्षों से नारी-जगत् की सेवा कर रही है।

आरा-पटना रोड पर नहर के पुल से कुछ ही कदम आगे बढ़ने पर धर्मकुज नामक स्थान में यह विद्यामन्दिर स्थित है। यहाँ पहुँचते ही धवलवसना, हंसवाहिनी और वीणावादिनी सरस्वती आगन्तुकों का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत रहती है। छात्रावास और विद्यालय-भवन की विशेषता ईंट-चूने से बनी भव्य इमारत में नही है, किन्तु रक्त-मास से निर्मित साध्वी माँश्री के व्यक्तित्व के आलोक से आलोकित होनेवाली अगणित बालाओ के उत्थान में है। माँश्री ने इस सस्था में अपना तन, मन, धन, सब-कुछ लगा दिया है। चाँदी के टुकड़ो में आपके त्याग का मूल्यांकन नही किया जा सकता है। संक्षेप में यह संस्था जैन-समाज की महिला-शिक्षा-संस्थाओं में अद्वितीय है। इसमें न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न और शास्त्री तक की शिक्षा दी जाती है। छात्राएँ प्राइवेट मैट्रिक की परीक्षा भी देती हैं। मिडिल तक नियमतः शिक्षा दी जाती है। संस्था का अन्तरंग और बहिरंग सारा प्रबन्ध माँश्री के ऊपर ही है। यों आपकी अनुजा श्रीमती पं० ब्रजबालादेवीजी भी संस्था के कार्यों में सहायता पहुँचाती हैं, पर समस्त दायित्व आपके ऊपर ही है।

मांश्री ने अपने दृढ़ अध्यवसाय द्वारा जैन महिला-समाज के तिमिर को दूर कर ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित की है। आज भी अनेक बालाएँ अपनी जिज्ञासा को शान्त कर विवेकिनी, सदाचारिणी और सम्यक्त्ववती बन रही है।

अक्षुण्ण रहे संस्कृति हमारी—

जैन-संस्कृति अक्षुण्ण रहे—इस बीसवी सदी का भौतिक वातावरण उस पर अपना प्रभाव न डाल सके, इसके लिए मांश्री सतत चेष्टा करती रहती है। समाज में जब विधवा-विवाह के प्रश्न को लेकर एक हल-चल मची थी, स्थितिपालक और सुधारक पार्टियां जोर पकड़ रही थी; उस समय मांश्री ने पुरातन संस्कृति की महत्ता बतलाते हुए वक्तव्य प्रकाशित किया था। आपने बतलाया था कि पातिव्रत ही नारी के लिए अमूल्य निधि है, इसे खोकर भारतीय नारी जीवित नहीं रह सकती। इन्द्रियजन्य सुख कभी भी तृप्ति का साधक नही बन सकता है। जो समाज में विधवा-विवाह का प्रचार करना चाहते हैं, वे धर्म और समाज के शत्रु है, जैन-संस्कृति से अपरिचित हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य की महत्ता मालूम नही। सुधारको को समाज-सुधार करना है तो उन्हें ऐसी क्रान्ति करनी चाहिए, जिससे विधवाएँ उत्पन्न ही न हों। बालविवाह, वृद्धविवाह, जो कि विधवाओ की सख्या बढ़ा रहे है, तुरत बन्द होने चाहिए। शिक्षा, जो कि नर और नारी दोनो के लिए ही विकास का साधन है, मिलनी चाहिए। सुधारक रोग का इलाज नही करना जानते हैं, वे रोगी को विष देकर मार डालना चाहते है। अतएव समाज को सावधान हो जाना चाहिए। बहनो से हमारा यह अनुरोध है कि वे इस अवसर पर दृढ़ रहे, ससारिक प्रलोभनो में पडकर अपने धर्म को न भूलें। यह शरीर तो अनेक बार प्राप्त हुआ है, पर धर्म का मिलना कठिन है। अतएव धर्म और संस्कृति के महत्त्व को समझकर सुधारकों के चक्कर में न पड़ें।

मांश्री के उक्त वक्तव्य ने जैन समाज को एक बल प्रदान किया। सुधारकों को अपनी गलती समझ में आ गई और उक्त आन्दोलन रुक गया। समाज की एक बड़े सकट से रक्षा हो गई।

अभी हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल को लेकर समाज में एक हल-चल मची। श्री १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने बम्बई धारा-सभा में उपस्थित उक्त बिल के रद्द हो जाने तक अन्नाहार का त्याग कर दिया। पूज्य आचार्य महाराजकी विदुषी शिष्या उक्त मांश्री ने जैन संस्कृति पर अचानक आये हुए इस धर्मसकट को दूर करने के लिए खूब दौड़-धूप की। आपने अपने कई सम्पादकीय वक्तव्यो द्वारा जैन महिलादर्श में उक्त बिल को रद्द करने की आवश्यकता पर जोर दिया तथा संगठित होकर जैन-समाज को सामूहिक प्रयत्न करने के लिए ललकारा। आप इसी उद्देश्य को लेकर कई बार स्वय दिल्ली गईं और वहाँ राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू से भेंट की और उक्त बिल के सम्बन्ध में यथार्थ निर्णय करने के अधिकार की मांग की। आपने दृढ़तापूर्वक निर्भय हो कहा कि जैनधर्म स्वतन्त्र धर्म है, यह वस्तु-स्वभाव का विवेचन करता है। इसके प्रवर्तक कोई देव नही है, यह अनादिकालीन है। सर्वदा समय-समय पर तीर्थंकरों का जन्म होता रहता है। ये तीर्थंकर अपनी साधना द्वारा स्वयं शुद्ध, बुद्ध और हितोपदेशी बनकर पथभ्रष्ट

जनता को स्वभाव का उपदेश देते हैं । हिन्दूधर्म के अन्तर्गत जैनधर्म को कभी नहीं मानाजा सकता है । यह सर्वथा स्वतन्त्र है, अतएव हिन्दुओं के लिए बने कानून जैनों पर लागू नही होने चाहिए ।

हरिजन जैनमन्दिरों को पूज्य नही मानते, आज तक कभी भी उन्होंने जैन-मन्दिरों में जाकर दर्शन, पूजन नहीं किये हैं और न उनके आराध्यों की मूर्तियां जैनमन्दिरों में है । अतएव हरिजन मन्दिर-प्रवेश बिल जैनों पर लागू नहीं होना चाहिए ।

मांश्री की उक्त बातों का राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री पर गहरा प्रभाव पड़ा; फलस्वरूप हरिजन मन्दिर-प्रवेश बिल से जैनमन्दिर पृथक् कर दिये गये । इस प्रकार जैन-संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आप सर्वदा प्रयत्नशील रहती हैं । मुनिधर्म की इतनी श्रद्धालु हैं कि प्रतिवर्ष महीना-दो महीना मुनियों को अवश्य आहार दान देती हैं । चातुर्मास प्राय. मुनियों के निकट व्यतीत करती हैं । दि० जैन-संस्कृति के विरुद्ध कही से भी जब आवाज सुनाई पडती है, उस समय आप उसका प्रबल विरोध करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं । स्थानकवासी और तारणपन्थियों ने मूर्तिपूजा के विरोध में जब ट्रैक्ट छपवाये थे, तब आपने सयुक्तिक उनका मुँहतोड़ उत्तर दिया था । आगम विरुद्ध जो भी लिखता है, आप उसका उत्तर देती हैं । आगमानुकूल जैन-संस्कृति के संरक्षण में आप सदा तत्पर रहती हैं । कल्याणकारी दि० जैनधर्म का प्रचार अधिक हो सके, इसके लिए आप सदा चेष्टा करती रहती हैं ।

१९४८ में सर्चलाइट मे एक समाचार छपा था कि जार्ज बर्नार्ड शॉ 'जैन मत का उत्थान' नामक पुस्तक लिख रहे है, इस कार्य मे योगदान देने के लिए उन्होंने महात्मा गान्धी के पुत्र देवदास गान्धी को बुलाया है तो आपने विचार किया कि इस कार्य में सहयोग देने के लिए किसी अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता जैन विद्वान् को अवश्य भेजना चाहिए । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आपने तत्काल जैन समाज के श्रीमानों और धीमानों के पास पत्र लिखे । आपने निकटवर्ती व्यक्तियो से कहा कि जैन समाज से सहयोग न भी मिले तो भी मै अपने पास से खर्च देकर किसी अच्छे धर्मशास्त्रज्ञ विद्वान को भेजूँगी, जो जैनधर्म की अच्छी जानकारी डा० शॉ को करा सके ।

मांश्री जैनधर्म और जैन-संस्कृति की अक्षुण्णता के साथ उसके प्रचार और प्रसार की भी सतत चेष्टा करती रहती हैं । आपके द्वारा प्रोत्साहन और प्रेरणा पाने के कारण ही आपकी दोनो बहनें श्रीमती केशरदेवीजी और श्रीमती ब्रजबालादेवीजी ने विधिवत् जैनधर्म धारण कर लिया है । आप दोनों भी जैनधर्म की सच्ची अनुयायिनी, धर्मात्मा और आत्मजिज्ञासु है । गृहस्थ के दैनिक षट्-कर्मों को सम्पन्न किए बिना आप दोनों जल भी ग्रहण नहीं करती हैं । दोनों ही नियमो का पालन कर रही हैं । परिवार के अतिरिक्त अन्य अनेक व्यक्तियों को भी जैनधर्म पालने की प्रेरणा आपसे प्राप्त हुई है । अनेक वैष्णव परिवार जैनधर्मानुयायी बन गये हैं तथा जैनमन्दिर और जिनबिम्बोंका निर्माण भी किया है ।

नीलकंठ हो मेरा—

पूज्या मांश्री की भावना सदा यह रहती है कि विश्व का सब दुःख चाहे मुझे प्राप्त हो जाय, पर विश्व सुखी रहे । जगत् के सभी जीव-जन्तु आनन्दित रहें, कोई किसी को कष्ट न दे; बैर,

पाप, अभिमान संसार से दूर हट जायें। आपकी भावना महाभारत में प्रतिपादित राजा रन्तिदेव की भावना से बहुत कुछ अशो मे मिलती-जुलती है। कहा जाता है कि राजा रन्तिदेव बड़ा ही दानी, परोपकारी और समाजसेवी था। राजा ने अपनी सारी सम्पत्ति दान में लगा दी थी, जिससे वह स्वय दरिद्र बन गया था। शारीरिक श्रम करके राजा अपनी आजीविका करता था। एक समय राजा के देश में दुष्काल पडा, परन्तु राजा ने अपनी सेवा, त्याग और बलिदान के द्वारा प्रजा की इतनी सेवा की, जिससे प्रजा को दुष्काल का तनिक भी कष्ट नही हुआ।

राजा रन्तिदेव के त्याग और बलिदान की चर्चा सर्वत्र फैल गई। विष्णुभगवान के दरबार में भी यह चर्चा पहुँची। विष्णुभगवान् भक्त की परीक्षा लेने के लिए आये। राजा कई दिनो का भूखा था और आज किसी प्रकार आधा सेर सत्तू पा सका था, राजा ने इस सत्तू को तीन भागोमें बाँट दिया, एक भाग स्वयं अपने लिए, दूसरा रानी के लिए और तीसरा पुत्र के लिए रखा। इतने में भिक्षुक का रूप धारण कर भगवान्, रन्तिदेव के द्वार पर आये और आर्त्तस्वर में कहने लगे—बच्चा! आठ दिनो से कुछ भी खाने को नही मिला है, भोजन दो। राजा ने अपना हिस्सा भिक्षुक को दे दिया। अतृप्त भिक्षुक बोला—"राजन्! जिस प्रकार ग्रीष्मर्तु में तपी हुई भूमि मे थोडा-सा पानी पड जाने से और अधिक गर्मी उठती है अथवा तीव्र प्यास लगने पर थोडा जल पी लेने से, प्यास और बढ जाती है, उसी प्रकार इस अन्न के खाने से मेरी क्षुधा और बढ गई है, मेरी वेदना अधिक बढती जा रही है, जिससे मेरे प्राण निकलनेवाले है।"

भिक्षुक के इन वचनो को सुनकर राजा ने रानीवाला हिस्सा भी दे दिया। इतने पर भी भिक्षुक तृप्त नही हुआ; अतः पुत्रवाला हिस्सा भी दे देना पडा। इस आहार को पाकर विष्णुभगवान् बहुत प्रसन्न हुए और राजा रन्तिदेव को दर्शन देकर कहने लगे—वत्स! मै बहुत प्रसन्न हूँ, तुम बडे भारी परोपकारी हो, वरदान माग लो।

राजा नम्रीभूत होकर बोला—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम् अष्टर्धियुक्ताम् अपुनर्भवा वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम् आर्तिस्थिता येन भवन्त्वदु:खा.॥

अर्थात्—मै वैकुण्ठवास नही चाहता, स्वर्ग-मोक्ष नही चाहता; किन्तु विश्व के समस्त दु:खी प्राणियों का दु:ख मुझे प्राप्त हो जाय, जिससे सभी दु:खी जीव सुखी हो जायें।

इस उदाहरण में चाहे सार हो या नही, पर इतना सत्य है कि माँश्री की भावना उपर्युक्त राजा रन्तिदेव की ही है। वे दु:खी अबलाओ के दुख का स्वय पान कर उन्हें सुखी बनाना चाहती है। वे स्वय विश्व के दु:ख का विषपान कर ससार को अमर बना देना चाहती हैं। उनकी भावना निम्न है—

नील कण्ठ हो मेरा!
तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा!
किरणों के उज्ज्वल प्रकाश से—

घर-घर नव-जीवन बरसे,
युग-युगान्त तक धरती पर हो—
सद्भावों का सुखद बसेरा !
तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा !
भगे कलुष अज्ञान-गहन चिर,
नारी की चेतना जगे फिर,
जन-जन का मन-हृदय बने रे,
त्याग-तपस्या-व्रत का डेरा !
तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा !
सुखी रहें सब तृण-तृण, कण-कण,
सुखी रहें, चेतन निश्चेतन,
जग के दुख का 'गरल' पान कर
अविकल 'नीलकण्ठ' हो मेरा !
तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा !

—नेमिचन्द्र शास्त्री

चन्दाट्ठगं

(चन्द्राष्टकम्)

तवोपूग्रं, वग्रे निट्ठं, साहुं सद्धा दयावई ।
खमासारं परात्थज्जं वन्दे 'चन्दं' सिमावरं ।।
(तप पूतां, व्रते निष्ठां, साध्वी श्रद्धा-दयावतीम् ।
क्षमासारा, परार्थज्ञां, वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—तपस्या से पवित्र, व्रत-साधना में संलग्न, साध्वी, श्रद्धामयी, दयावती, क्षमासार और परहिते रत 'चन्दाबाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

वीर धम्मसमासत्तं धम्मायरणतप्परं ।
धम्मप्पिग्रं धम्ममई, वन्दे 'चन्दं' सिमावरं ।।
(वीरधर्मसमासक्ता, धर्म्माचरणतत्पराम् ।
धर्मप्रिया, धर्ममयी, वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—'वीर' धर्म की उपासना में संलग्न, धर्माचरण मे तत्पर, धर्मप्रिया और धर्ममयी 'चन्दाबाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

पजावईसु दिव्वासु रयणभूग्रं सईगंति ।
भान्ताणं ग्रालोगमइं वन्दे 'चन्दं' सिमावरम् ।।
(प्रजावतीमु दिव्यामु रत्नभूतां सतीगतिम् ।
भ्रान्तानामालोकमयी वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—दिव्य महिलाओं मे रत्नस्वरूपा, सतीशिरोमणि, भूली-भटकी नारियों के लिए ज्योति-स्वरूपा 'चन्दाबाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

बालवेहव्व दड्ढान्तम्माणसे 'वीर' साहणं ।
साहेज्जइं चिरं णिसं वन्दे 'चन्दं' सिमावरं ।।
(बालवैधव्यदग्धान्तर्मानिसे वीरसाधनां—
साधयन्तीं चिराश्रित्यं वन्दे 'चन्द्रां' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—आलवैधव्य-संदग्ध मन को 'वीर' की साधना में प्रवृत्त कर निरन्तर आध्यात्मिक और आत्यन्तिक उत्थान की ओर जानेवाली 'चन्दाबाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

समणोपासिगं भत्तं दिक्खिअं बह्मचारिणिं ।
जेणागमेहिं णिस्नावं वन्दे जेणं सिमावरम् ।।
(श्रमणोपासिकां भक्तां, दीक्षितां ब्रह्मचारिणीम् ।
जैनागमेषु निष्णाता वन्दे जैनां श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—श्रमणोपासिका, भक्ता, दीक्षिता, ब्रह्मचारिणी एव जैन आगमो में निष्णात जैन माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

पचारिणीय सिक्खाए, साहित्तस्य विहाइणी ।
पबोहिणीय नाईणं माआ जिदु णो चिरं ।।
(प्रचारिणी च शिक्षायाः, साहित्यस्य विधायिनी ।
प्रबोधिनी च नारीणां माता जीवतु नश्चिरम् ।।)

अर्थात्—शिक्षा को प्रचारित करनेवाली, साहित्य की रचयित्री तथा नारी-जगत् को प्रबुद्ध करनेवाली हमलोगों की माँश्री दीर्घायु हों ।

❀ ❀ ❀

वेसधम्मसमाजाणं सेइआ उपगारिणी ।
सम्पादिआ लेखिआय माआ जिवदु णो चिरं ।।
(देश-धर्म-समाजानां सेविका उपकारिणी ।
सम्पादिका लेखिका च माता जीवतु नश्चिरम् ।।)

अर्थात्—देश, धर्म और समाज की सेविका, परोपकारिणी, सम्पादिका तथा लेखिका हमलोगो की माँश्री दीर्घायु हों ।

❀ ❀ ❀

धम्मउज्जे धनुउरे आराक्खे नयरोहमे ।
मणे निहाइ जेणेसं, विहाइ जिणवन्दणं ।।
हिआत्थं जेणबालाणं विज्जापीठस्य जम्मआ ।
आइओ कलुणादीणा माआ जिअदु णो चिरं ।।
(धर्मकुञ्जे धनुपुरे आराख्ये नगरोत्तमे ।
निधाय हृदि जैनेश विधाय जिनवन्दनम् ।।
हितार्थं जैनबालानां विद्यापीठस्य जन्मदा ।
जातीयकरुणादीना माता जीवतु नश्चिरम् ।।)

अर्थात्—आरा शहर के धनुपुरा महल्ले के धर्मकुंज में—भगवान् "जिन" को हृदय में संस्थापित कर, जैनबालाओं के हित के लिए, जैनबाला-विद्यापीठ की स्थापना कर जातीय करुणा की साक्षात् कान्तिमती मूर्त्ति बनी हुई हमलोगो की माँश्री दीर्घायु हों ।

❀ ❀ ❀

अइंचणापज्जाणस्स सद्धालुस्स पुडस्सणो ।
सद्धाइ हि गेण्ह एसो सद्धे ! सद्धाभिणन्दणं ।"
(अकिंचनापज्ञानस्य श्रद्धालोः सन्ततेर्मम ।
श्रद्धया हि गृहाणंतत् श्रद्धे ! श्रद्धाभिनन्दनम् ।।)

अर्थात्—हे श्रद्धे ! अकिंचन और अबोध परन्तु श्रद्धालु मुझ संतान के इस श्रद्धाभिनन्दन को श्रद्धा से स्वीकार करो ।

—श्री रञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न





श्री स्व० बा० नारायणदासजी, वृन्दावन
(पूज्य पिता श्री ब्र० प० चन्दाबाई)



श्रीमती स्व० राधिकादेवी, वृन्दावन
(मातेश्वरी श्री ब्र० प० चन्दाबाई)

माँ चन्दाबाई

नारी की गरिमा का पूर्ण विकास माता के रूप में होता है। मातृत्व में सभी कोमल और सुकुमार भावों का समावेश है। कोमल और मधुर भावों से समाविष्ट मातृत्व का यह गौरवमय रूप-सार्वयुगीन और सार्वदेशिक है। यह चिरन्तन है, अविनाशी है। सभी सभ्य जातियों और सभी धर्मावलवियो ने मातृत्व के इस कोमल और मधुर रूप का दर्शन किया है, उस पर अपने को न्योछावर किया है।

हमारी संस्कृति मातृत्व में मानव हृदय की सर्वोच्च गरिमा का दर्शन करती है। माँ अनेक रूपों में अपनी सतान के प्रति ममता प्रदर्शित करती है, उसका कल्याण-साधन करती है। वह जगज्जननी के रूप में सृष्टि करती है, लक्ष्मी के रूप में वैभव देती है, सरस्वती के रुप में विद्या देती है, शक्ति के रूप में बल और ओज का संचार करती है और असुर-नाशिनी के रूप में रक्षा करती है। आज भी हम माँ के इन रूपो को भूल नही सके हे।

संतान को जन्म देनेवाली नारी 'माँ' कहलाती हैं, सतान का पालन करनेवाली नारी 'माँ' कहलाती है, संतान को विद्या-दान कर सर्वगुण-सम्पन्न करनेवाली नारी 'माँ' कहलाती है और सतान का मंगल-साधन करनेवाली नारी 'माँ' कहलाती है। आज घोर अविद्या और अज्ञान के युग में सनान को जन्ममात्र देनेवाली माताओं की कमी नहीं है; उनका पालन-पोषण करनेवाली माताओं की भी कमी नही हं। अपनी संतान का मंगल-साधन करनेवाली माताओं की संख्या भी कम न होगी। किन्तु, दूसरों की कोख से उत्पन्न हुई संतान को विद्या-दान करनेवाली माताएँ कितनी हैं? सबो की संतान को अपना समझकर उनका कल्याण करनेवाली माताएँ कहाँ मिलेंगी?

इन प्रश्नों के उठते ही हमें माँ चन्दाबाई का ध्यान हो आता है। माँ चन्दाबाई का ध्यान आते समय हम यह भूल जाते हैं कि वे स्वर्गीय बाबू देवकुमार जैन की अनुजवधू, बाबू निर्मलकुमार जैन की चाची, अथवा बिहार प्रान्त की आरा नगरी की निवासिनी, या जैन-बाला-विश्राम की संचालिका हैं। हमारे आगे जो बात ज्वलन्त रूप में रहती है, वह यह है कि वे 'माँ' हैं :– वह माँ, जिसमें माँ का स्वार्थ नहीं है, किन्तु ममता है; वह माँ, जिसमें माँ की संकीर्णता नहीं है, किन्तु विशालता है; वह माँ, जिसमें आधुनिक युग की माता की अविद्या नहीं है, किन्तु विद्या का पावन प्रकाश है, आचरण की परम पवित्रता है, धर्म के प्रति परम निष्ठा है, कर्तव्य के प्रति सतत जागरूकता है।

माँ चन्दाबाई उन नारियों की परम्परा में हैं, जिन्होंने धर्म और कर्त्तव्य-भावना की अभ्युन्नति के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया है, अपने आप को समर्पित कर दिया है। वे भारत की धर्मप्राण, त्यागमूर्त्ति, मातृत्वस्वरूपिणी नारियों की परम्परा में हैं। मातृत्वमूर्त्ति चन्दाबाई त्याग की प्रतिमा हैं। उच्च और सम्पन्न कुल में जन्म लेकर भी उन्होंने जिस पावन-पथ को अपनाया है, वह सर्वथा हमारी उच्च सस्कृति के अनुकूल है। महाकवि कालिदास के शब्दों में :—

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वम "ङ्गं ग्लपयन्त्य" हर्निशम् ।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जित तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥

माँ चन्दाबाई तपस्विनी हैं : विद्यादात्री तपस्विनी, सेवापरायणा तपस्विनी और कल्याणमूर्त्ति तपस्विनी ! वे व्रताचारिणी हैं : उन्होंने नारी-समाज-सेवा का व्रत उठाया है, मानव-संतान-सेवा का पावन अनुष्ठान ग्रहण किया है !

आज, जब हमारी नारियो के आगे मातृत्व का प्राचीन आदर्श धूमिल होता जा रहा है, माँ चन्दाबाई नूतन आदर्श उपस्थित कर रही है। विलासितापूर्ण समाज को, प्रतिहिंसापूर्ण समाज को, आचरण-हीन समाज को वे एक नया सदेशा दे रही है : कथन से नही, अपने आचरण से, अपने कर्म से !

सम्पन्नता के गृह में तपस्या का दीपक एक अलौकिक ज्योति प्रसारित कर रहा है। इस ज्योति ने ऐश्वर्य का दर्प चूर कर दिया है, लक्ष्मी को नतमस्तक बना दिया है। यह तपस्या साधारण तपस्या नही, एक नारी की तपस्या है, एक माँ की तपस्या है। यह एक माँ की साधना है। प्रत्येक नारी को इस तपस्या, इस साधना के दर्शन करने चाहिए; प्रत्येक माता को इस आलोक से अपना अन्तरतम आलोकित करना चाहिए।

माँ चन्दाबाई माँ मात्र हैं : वे जैनियों की माँ हैं, हिन्दुओं की माँ हैं, सबों की माँ है। वह उसी माँ का लघुरूप हैं, जिनके संबध में कहा गया है :

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।

—त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०

उन्नत व्यक्तित्व

हिमालय की हिमधवल गगन स्पर्शी चोटियों का जब-जब स्मरण आता है, हृदय श्रद्धा से नगराज के प्रति नत हो उठता है। हिमालय की करुणा जब अगणित निर्झरों और सरिताओं के रूप में विगलित होती है, हमारे देश की अन्यथा बंजर भूमि हरित शस्यों की उर्वर जननी बन बैठती है। हिमालय उत्तर दिशा में जाने कितनी दूर अपनी विराटता को लेकर खड़ा है।

.... और जब मैं माँश्री से भेंट करता हूँ, मुझे लगता है मैं हिमालय से उदात्त व्यक्तित्व के पास ही खड़ा हूँ। माँ ने भी ज्ञान की जो जल-राशि बहाई है, उसके स्पर्शमात्र से विभिन्न जनपदों की बालिकाएँ प्रान्तीय संकीर्णता तथा अज्ञान की बंजर भूमि से उठकर अपने हृदय में सरस ज्ञान की निर्झरिणी बहाती हैं। किन्तु माँ ने हिमालय के व्यक्तित्व की ऊँचाई को चुरा लिया है, वह स्वयं हिमालय हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिमालय को देखकर संभ्रम होता है, हममें भय का संचार होता है, हम लघुता का अनुभव करते हैं, किन्तु माँ का दर्शन! हमारे हृदय में तरल श्रद्धा भर जाता है, हमें अभय वरदान देता है, हमें लघुता से महत्ता की ओर, क्षुद्रता से उदात्तता की ओर ले जाता है।

माँ के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने निष्कंप दीपशिखा की भाँति अपने जीवन को तिल-तिल कर जलाया है—मात्र इसलिए कि संसार को—भारतीय नारी-समाज को—अखंड प्रकाश मिल सके। विजन वन-प्रान्तर के अन्धकार को चीरते हुए किसी शहीद के स्मारक पर जब एकाकी दीप मुसकराता है तब उससे प्रकाश की जो शुभ्र रश्मियाँ विकीर्ण होती हैं, वैसे ही दीप महोत्सव का दृश्य माँ का चरित्र हमारे सामने रखता है। ....अन्तर इतना ही है कि माँ स्वयं वहाँ जीवित शहीद हैं और अपनी ही कामनाओं की समाधि पर वह पवित्रता की दिव्य रश्मियाँ बिखेर रही हैं।

माँ—एक भारतीय नारी जिसे पुरुष समाज अबला की संज्ञा से विभूषित कर अपने को गौरवान्वित समझता है। लेकिन माँ ने अपनी सुप्त शक्तियों को उद्बुद्ध किया। किस कठिन साधना से उन्होंने सामाजिक कुरीतियों का विरोध करते हुए शिक्षा प्राप्त की, इसकी जब-जब कल्पना करता

हूँ—तब-तब यह सोचने लगता हूँ, ज्ञानार्जन के लिये समय और उम्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं—आवश्यकता है मात्र लगन की, सच्चे अध्यवसाय की, अज्ञान-निद्रा से जाग्रत होने की। .... 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत' . ... और जिस साधक की आँखों के सम्मुख यह उद्बोधन—वाक्य झूलने लगेगा वह निश्चय ही साधना के उच्चतम स्तरों तक पहुँचने में समर्थ हो सकेगा, इसमें तनिक सन्देह नहीं। ... . . .माँ के सामने ऐसी कोई उदात्त प्रेरणा अवश्य रही होगी।

........लेकिन देश में तो ऐसी बहुत-सी महिलाएँ हैं, जिन्होंने कॉलेज की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त कर ली है, फिर भी उनके स्मरण से हमारे हृदय में कोई स्पन्दन क्यों नहीं होता? हम उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव क्यों नहीं करते? इसके पीछे एक कारण है। .....माँ ने शिक्षा प्राप्त की, वे स्वयं जगी, केवल इसलिए नहीं, कि जगकर वे अन्यान्य शिक्षित महिलाओं की तरह अपने अशिक्षित बहनों के ऊपर हँसें, बल्कि इसलिए कि अज्ञान के अन्धकक्ष में सोयी हुई इन बहनों को भी जगा सकें। ....और माँ के चरित्र का यह सामाजिक पक्ष ही उन्हें अन्यान्य शिक्षित भारतीय महिलाओं से एक पृथक् भूमि पर बिठा देता है। ....लेकिन नहीं, एक और विशिष्ट अन्तर है—देश की अन्य शिक्षित बहनों का दृष्टिकोण बहुत दूर तक भारतीय परम्परा से विच्छिन्न हो जाता है। दूसरी ओर माँ ने शिक्षा में, साधना में, अपनी भारतीय संस्कृति की मर्यादा और परम्परा को सर्वथा अक्षुण्ण रखा है। यही नहीं, उन्होंने भारत की म्रियमाण नारी संस्कृति को एक नव दीप्ति प्रदान की है। 'जैनबाला विश्राम', उनका जीवन्त कीर्त्तिस्तम्भ है और अशेष शताब्दियों तक उनका जयगान इस विश्राम को केन्द्र मान कर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक गुंजरित होता रहेगा।

माँ के त्याग के कारण आरा जैसे नगर में ऐसी विशाल और विशिष्ट संस्था का निर्माण सम्भव हो सका है। अनेक दीन-दुखियों को और निराश्रित बहनों को उन्होंने आर्थिक साहाय्य देकर इस जीवन में अर्थ के सच्चे सदुपयोग का मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान महावीर ने अपरिग्रह का जो ज्वलंत लोक-संग्रही लक्ष्य भारतीय समाज के सम्मुख रखा था, माँ उसी लक्ष्य की प्राप्ति में सदा संलग्न रहती हैं।

सत्य और अहिंसा के द्वारा वह जीवन की कठिन से कठिन समस्याओं से मुक्ति पा लेती हैं। सत्यवादी अहिंसक के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है—बहुमुखी मितव्ययिता—आचरण की, व्यवहार की, भाषण की। गाँधी जी कितना कम बोलते थे। माँ के भाषणों की संक्षिप्तता उनकी अपनी विशेषता है। वे जो कुछ बोलती हैं, उसमें सत्य की तीखी धार रहती है और वह उनके हृदय की गहराइयों से निकलता है। अपने प्रवचनों में वे अपनी पांडित्य का प्रदर्शन भी नहीं करतीं। हृदय की अभिव्यक्ति चुने हुए साधारण शब्दों के माध्यम से वे कर देती हैं—न किसी प्रकार के अलंकरण का मोह उनमें है और न किसी प्रकार से बातों को लपेटने का बाह्याडंबर।

माँ की अहिंसा कायरजनों की अहिंसा नहीं है उनमें भोजपुर का वीरत्व भी प्रचुर मात्रा में है। पिछले बयालीस के आन्दोलन में जब गोरों का दमन-चक्र गाँव को, अपनी शक्ति से अपरि-

चित निरीह जनता को रौंदता हुआ मारा नगर की ओर चला आ रहा था तब माँ ने जिस धैर्य के साथ आश्रम की बालिकाओं को नगर-स्थित एक सुरक्षित भवन में पहुँचा दिया; वह उनके मानसिक शौर्य का परिचायक है।

आज के शिक्षित संसार में ज्ञान तथा आचरण के बीच गहरी खाई खुदी हुई है, 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' के दर्शन तो सड़कों पर, गलियों और बाजारों में श्वेत हंसों के रूप में हर समय हो सकते हैं लेकिन ऐसे व्यक्ति जिन्होंने ज्ञान को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है, जिन्होंने शिक्षा को आचरण में ढाल दिया है, बड़ी कठिनाई से मिल पाते हैं। माँ उन विरल रत्नों में से हैं जो यह मानते हैं कि आचरणहीन ज्ञान पाखंड का ही दूसरा नाम है। फिर उनके अनुसार वह ज्ञान भी निरर्थक है, जिसके द्वारा मनुष्य में चरित्र-बल नहीं आ पाता। अंग्रेजी शिक्षा पर प्रकारान्तर से उनका यही आरोप है कि उसके द्वारा हमारी नैतिकता का विकास अवरुद्ध ही रह जाता है।

सेवा और सादगी माँ के जीवन का मूलमंत्र है। उनका समस्त जीवन सेवा की उज्ज्वल कहानी रहा है। उनके वस्त्रों की शुभ्रता दूर ही से उनकी सादगी की घोषणा करती है। उनकी आवश्यकताएँ कम हैं और कम-से-कम में वे अपना खर्च चला लेना चाहती हैं।

.......गाँव के मेरे आँगन में तुलसी की एक वेदिका है। संध्या समय घी का एक लघु दीप वहाँ जल उठता है। तुलसी का वह पौधा अपनी दिव्य सरल सुरभि वातावरण में बाँटने लगता है। वह कितना सुपरिचित है, पर कितना महान्। ....माँ को देखते ही घर की तुलसी की वह स्निग्ध छाया स्मरण हो आती है। ....स्वर्ग या निर्वाण क्या किसी परलोक की वस्तु हैं; नहीं उन्हें तो मनुष्य अपने सदाचार के द्वारा इसी जीवन में पा सकता है। ऐसे ही साधकों में माँ की गणना की जायगी। ....वे तो सहज विश्वास के साथ कवयित्री के साथ कह सकती हैं—

पथ मेरा निर्वाण बन गया।
प्रति पग शत वरदान बन गया॥

माँ के चरणों में मेरी विनम्र श्रद्धांजलि।

—प्रो० शिवबालक राय, एम० ए०

शाप को वरदान तुमने कर लिया !

शाप को वरदान तुमने कर लिया !
रो रही थी जिन्दगी जो आँसुओ में,
आँसुओं को गान तुमने कर लिया !!

१.

सोचती होगी नियति, 'आहत हुई तुम,
मूर्त्त, मानो, वेदना का व्रत हुई तुम;
अत्र शिथिलता-व्याप्ति, सूनापन निरंतर,'
मौन को आह्वान तुमने कर लिया !
शाप को वरदान तुमने कर लिया !!

२.

स्नेह कुंठित रह गया था, राह दे दी,
कर्म को निज भावना की थाह दे दी;
कह चुके थे सब कठिन पत्थर कि जिसको,
मूर्त्ति को भगवान तुमने कर लिया !
शाप को वरदान तुमने कर लिया !!

३.

रह गया हारा-थका-सा चाँद ऊपर,
कौन 'चन्दा' दूसरा यह आज भू पर ?
ज्योत्स्ना-सी शुभ्र 'निजता' प्रस्फुटित कर,
नर्क को निर्वाण तुमने कर लिया !
शाप को वरदान तुमने कर लिया !!
रो रही थी जिन्दगी जो आँसुओं में
आँसुओं को गान तुमने कर लिया !!!

—तन्मय बुखारिया, एम० ए०

लोकोत्तर मातृत्व

स्याद्वाद विद्यालय काशी का भव्य भवन अनायास ही अपने दाता स्व० बाबू देवकुमारजी रईस आरा तथा उनके घर के प्रति दर्शक को श्रद्धावनत कर देता है। सन् '२८ में जब मैं विद्यालय का लघुतम विद्यार्थी होकर काशी आया तो गंगातीर पर स्थित इस विशाल भवन की महत्तम छत पर खेलते-पढ़ते हुए मेरे में, एक जिज्ञासा तब तब सिर उठाती थी जब-जब उसके मध्य में स्थित बाबू प्रभुदास के जिनमन्दिर पर पड़ती मेरी दृष्टि उसके शिखर तक चली जाती थी। सन् '२९ के प्रारम्भ में जब साथियों के साथ मैं भी कलकत्ता परीक्षा देने जा रहा था तो एक भाई ने कहा कि 'आरा उतरोगे ?' इसे सुनते ही मेरी सुषुप्त जिज्ञासा जाग पड़ी। मैंने साथियों से आग्रह किया कि एक दिन पहिले चला जाय और जाते समय ही आरा उतरा जाय। फलतः परीक्षार्थियों के दो दल बने और मैं 'जाते समय आरा उतरनेवाले' दल के साथ आरा पहुँचा।

प्रातःकाल दर्शनादि से निवृत्त होकर जब हम वन्दना के लिए निकले तो पीछे के द्वार से देवाश्रम (कोठी) पहुँचे। चैत्यालय के दर्शन करने के बाद कौतूहलवश कोठी के विविध सुसज्जित कमरों को देखा, और देखा वहाँ पर भी लगे स्व० बाबू देवकुमारजी के तैलचित्र को। उस घर की राजसी व्यवस्था और सात्विक वातावरण को देखकर मन में आया "आप काशी-नरेश से किस बात में कम हैं ? यदि उन्होंने काशी विश्वविद्यालय को भूमि दी थी तो आपने भी तो एक विद्यालय को भूमि तथा भवन दिया था ? " इन विचारों में विभोर जब मैं बाहर जाने को ही था तो एक साथी ने कहा 'बड़े बाबू' बुला रहे हैं। मैं बिना विचारे ही उधर चला गया जिधर साथी जा रहे थे और हमलोग उस पुरुष-चन्द्र के सामने पहुँच गये जिसकी विद्यालय-विषयक अभिरुचि तथा चिन्ता उन प्रश्नों से फूट पड़ी थी जो उन्होंने हमारे साथी छात्र-स्थविर पं० परमानन्दजी से किये थे। अतः मैं इनसे अधिक प्रभावित हुआ था और बाहर आते ही मैंने साथियों से जाना कि यही बाबू निर्मलकुमार रईस थे तथा साथियों से कहा कि बाकी दर्शन फिर करेंगे, पहिले 'विश्राम' चलें। वह अवश्य दर्शनीय होगा, अन्यथा 'बड़े बाबू' वहाँ जाने की क्यों पूछते।

हमारे सस्ते-ऊँचे-तेज इक्के धनुपुरा की तरफ जिस वेग में जा रहे थे उसी वेग से मेरी कल्पना तब तक देखे विद्यालयों और कन्याशालाओं को मानस चित्रपट पर लाकर पूछती थी—"विश्राम ऐसा होगा ?" इस चलचित्र का अन्त न था। 'विश्राम' के ऊपर इसी वंश द्वारा निर्मित 'दि० जैन सिद्धान्त भवन' ऐसी सरस्वती की मूर्ति अवश्य होगी, यह कल्पना आते-आते ही इक्का एक बन्द लोहे के फाटक के सामने रुक गया। 'आप कहाँ से आये हैं, दर्शन करेंगे?' पहरेदार के इस प्रश्न ने स्वप्न तोड़ दिया और मैं साथियों के पीछे-पीछे फाटक में घुस गया। मेरी सब कल्पनाएँ काफूर हो गयीं।

यह विश्राम तो सबसे विलक्षण था। इसका विद्यालय, उसके ऊपर स्थित जिनालय, छात्रालय, उद्यान, क्रीड़ास्थल, अधिष्ठात्री कुटीर–सब ही अपने ढंग के थे। दर्शन करके जब कक्षागृहों का चक्कर लगा रहे थे तब सुन पड़ा–'शास्त्रीजी, ये लोग बनारस विद्यालय से आये हैं इनसे कहिये, ये छात्राओं से पूछें।' पल-भर में परीक्षार्थियों को परीक्षक बनानेवाले को जानने के लिए ग्रीवा घुमाते ही देखा 'कुन्देन्दु तुषार हार धवला श्वेत वस्त्रावृता' माता चली आ रही हैं। वे निकट आयीं, प्रणाम किया और सबके पीछे दुबक कर बैठ गया। मेरे साथी छात्र-स्थविर परीक्षा लेने में व्यस्त थे और विश्राम के मुख्याध्यापक पं० के० भुजबली शास्त्री विविध छात्राओं का परिचय देने में। मेरा मन 'भवन से विश्राम पहुँचते पहुँचते शरीर तथा चैतन्यापन्न इस सरस्वतीमाता के विषय में सैकड़ों प्रश्न पूछना चाहता था पर संकोच क्या; लज्जावश न मैं एक भी बात पूछ सका और न सुन सका। इस प्रथम दर्शन के समय की एक ही बात याद है और वह है "ये मेरी पत्नी है" शास्त्रीजी ने एक छात्रा का परिचय कराते कहा था। इस वाक्य ने भी विश्राम, माताजी और अन्य बातों के कारण उत्पन्न आश्चर्य को बढ़ाया ही था। हमलोगों ने छात्राओं को फल बँटवाने के लिए कुछ रुपये दिये और चल दिये। मार्ग में पता लगा कि माताजी ही बाबू निर्मलकुमारजी की चाची तथा इस विश्राम की संस्थापिका विदुषी-रत्न पण्डिता चन्दाबाई जी है। इस अति संक्षिप्त परिचय ने जिज्ञासा को प्रज्वलित ही किया पर भविष्य का भरोसा करने के सिवा चारा ही क्या था।

तेरह वर्ष बाद सन् '४२ की गर्मी में एक मित्र की बरात में आरा पहुँचा। मध्याह्न से मध्यरात्रि तक का समय प्रमुख वैवाहिक विधियों के साक्षी रूप से बीता। सोते समय पू० भाई० प० कैलाशचन्द्रजी ने कहा–'ब्रह्मचारिणी पं० चन्दाबाईजी कल आश्रम आने के लिए कह गयी है।' यद्यपि छात्रावस्था समाप्त हुए तीन वर्ष हो चुके थे। '४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस के मंत्री का कार्य तथा जेल-जीवन के कारण संकोच भी उचित मात्रा को प्राप्त हो चुका था तथापि महिला संस्था में जाते थोड़ी हिचक तो थी ही। फलतः विश्राम और उससे भी बढ़कर उसकी संस्थापिका संचालिका विषयक जिज्ञासा का संवरण करना ही पड़ रहा था। भाई की उक्त सूचना ने अपनी वर्षों पुरानी जिज्ञासा का समाधान करने का अवसर दिया और हम कल प्रातः विश्राम चलकर ही नवनिर्मित गोम्मटेश की पूजा करेंगे यह निश्चय करके हम सो गये।

अगले दिन प्रातः हम विश्राम पहुँचे। वहाँ के प्रशस्त एवं प्रशान्त वातावरण को देखकर मन में आया कि यह शिक्षा संस्था ही नहीं अपितु 'मालिनी तीराश्रम' है। अन्तर इतना ही है कि कुलपति कण्वऋषि के स्थान पर यहाँ कुलमाता गौतमी (ब्र. पं. चन्दाबाई) हैं। फलतः इस नारी तप-स्थली पर दुष्यन्तों के संचार की संभावना ही नहीं है। यही कारण है कि यहाँ की स्नातिकाएँ 'ब्रह्म-विवाह' करके अपने शिक्षाकुल की गुणगरिमा को बढ़ा रही हैं। वे आदर्श-पुत्री, धर्मपत्नी तथा सफल माता होकर समाज तथा देश के उज्ज्वल भविष्य की पुष्ट नींव को डाल रहीं हैं। दूसरी ओर वे विधवा बहनें हैं जिनकी दृष्टि से उनकी अधिष्ठात्री के रूप में चलता-फिरता आदर्श क्षणभर के लिए भी ओझल नहीं होता है। वे सुनती हैं कि—उनकी 'बड़ी मांजी' (ब्र. पं. चन्दाबाईजी) बाल-विधवा हैं। वे जन्मना वैष्णव हैं। जैनाचार तथा ज्ञान उनका सासरे में ही प्रारम्भ हुआ था। यह कहना कि वे सासरे के जैन वातावरण से ही प्रभावित होकर जैनी बन गयीं पूर्ण सत्य न होगा। सच तो यह है कि ज्यों-

ज्यों ज्यों इनका अध्ययन बढ़ता गया त्यों-त्यों परीक्षा-प्रधान माताजी की श्रद्धा वैदिक मान्यताओं से हट कर जैन दृष्टि पर बढ़ती गयी । स्वयं शिक्षिता होकर उन्होंने अनुभव किया कि वैधव्य महाव्रत ज्ञान तथा साधना के बिना नहीं निभ सकता । यही भावना थी जिसने इस पवित्र आश्रम की नींव माता चन्दाबाई जी से रखवायी ।

सबसे बड़ी आश्चर्यकर बात तो यह है कि ज्यों ज्यों आश्रम का कार्य बढ़ता गया, त्यों त्यों माताजी की ज्ञान-संयम साधना भी बढ़ती गयी है । इस प्रकार आश्रम तथा माताजी का निकट परिचय पाने के बाद मनमें आया "धन्य हैं ये बहनें और कन्याएँ, जिन्हें ऐसी सेवापरायण-विदुषी-व्रती माता की छाया सर्वदा प्राप्त है ।"

तीन वर्ष बाद सन् '४५ की होली पर पुन: एक अन्तर्जातीय बरात में आरा आने का मौका आया । लोक मूढ़ता के किले पर स्थितिपालक प्रहरियों का जमघट था । फलतः जाति के नाम पर बलि होने वाले धर्म तथा यौवन को बचाना संभव न हुआ । और यह बरात होली का स्वांग ही रही । माताजी से मिलने की इच्छा ने संकल्प का रूप इसलिए धारण किया कि अबकी बार मैं स्व० बाबू देवकुमारजी के कनिष्ठ पुत्र बाबू चक्रेश्वर कुमार, बी. एस.-सी., बी.एल. के निकट परिचय में आया । मैंने देखा कि सगे भतीजे होने पर भी इनको अपनी 'छोटी बहू' के प्रति अगाध आदर तथा श्रद्धा है । "घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध" लोकोक्ति यहाँ बिलकुल भ्रान्त कैसे हुई ? इस शंका का निराकरण तब हुआ जब अगले दिन मैं पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न, आदि के साथ विश्राम वन्दनार्थ तथा माताजी से मिलने गया । उस विवाह की चर्चा आ ही गयी जिसकी स्वांग-बरात में मैं गया था । अपने बड़ों के सामने विवाद या अधिक बोलना बुन्देला शालीनता के विरुद्ध है फलतः मैं मौन ही रहना चाहता था, किन्तु पूछे जाने पर भी उत्तर न देना अशिष्टता होती, अतः मैंने साक्षा-द्रष्टा की हैसियत से वस्तुस्थिति का वर्णन कर दिया । माताजी पूरी कथा सावधानी से सुनती रहीं । उनकी प्रशान्त मुख मुद्रा पर उस समवेदना की छाया स्पष्ट थी, जिसके अधिकारी वह वर-वधू थे जिनकी सुकुमार भावनाओं और सम्मान की रूढ़ि-अन्ध समाज ने होली की थी । बोलीं "ठीक है, प्रोफेसर साहेब ? आपके जीवन में नया कार्य प्रारम्भ हुआ, आप युवक हैं, इसलिए आप इसे होली का 'कोष्टली स्वांग' कह कर टाल सकते हैं । मेरी दृष्टि दूसरी है । हमारा अहिंसा-दया का दावा कब चरितार्थ होगा । कितनी निर्दयता हुई । बिचारी लडकी-लड़के का क्या हाल होगा ? मेरी 'प्रतिमा' मुझे इस विषय में चुप किये है । पर अन्धपरम्परा ही धर्म नहीं है यह तो कह ही सकती हूँ ।" कितनी वेदना और विवेक इन शब्दों में था ? आखिरकार अध्ययन और अनुभव में इतना ही तो अन्तर है । मेरे मन ने गोम्मटेश का ध्यान करते हुए कहा—"माताजी ! आप शतायु हों । आपका साधारण प्रयत्न समाज को जितना जगा सकता है उतना तथोक्त सुधारकों के महा आन्दोलन सैकड़ों वर्ष में नहीं कर सकते हैं ।"

'४५ की जुलाई के द्वितीय सप्ताह में आरा कॉलेज के आचार्य का तार मिला—"यदि इति-हास की प्राध्यापकी अभीष्ट हो तो प्रार्थनापत्र भेजें ।" बेकारी के जमाने में 'विद्रोही' का यह आह्वान कैसा ? कुछ समझ में न आया । पू० भाई के सिवा अपने राजनैतिक अभिभावक मान्यवर

बाबू सम्पूर्णानन्द जी तथा श्रीप्रकाशजी से मत-विनिमय किया । इन दोनों ने भी पू० भाई के मत का समर्थन किया । और मैं जुलाई के तीसरे सप्ताह में आरा जा पहुँचा । वहाँ पहुँचने पर पता लगा कि मुझे काशी से खींचने की योजना के सूत्रधार श्री बाबू चक्रेश्वरकुमारजी तथा पं० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य को माताजी का भी समर्थन प्राप्त था । 'विधिरेव तान् कुरुते यान्नरः नैव चिन्तयति ।' इस घटना से समझ में आया । मेरे जीवन का यह १५ मास का प्रक्षेपक जहाँ अब अनेक दृष्टियों से बड़ा ही महत्वपूर्ण और मधुर है वहीं इसका इसलिए भी विशेष महत्त्व है कि इस अन्तराल में मुझे माताजी को बड़े निकट से जानने का मौका मिला ।

बिहार का आर्द्र-वात-बहुल जलवायु मेरे पित्तप्रवण सस्थान के अनुकूल नहीं पड़ा, पेट खराब हो गया, शरीर दुर्बल हो गया । इस प्रसंग से मुझे जो स्नेहसिक्त उपदेश और आग्रह माताजी से मिले, उन्होंने बताया कि यह हृदय कितना विशाल है । यही कारण है जो ये एक, दो नहीं सैंकड़ों की सफल माता बन सकी हैं ।

मैंने देखा कि माताजी को संस्था-निर्माण में ही दक्षता प्राप्त नहीं है अपितु आप व्यक्ति-निर्माण में भी पारंगत हैं । श्रीमती ब्रजबाला देवी को समाजसेवा के क्षेत्र में लाना माताजी का ही काम है । इसमें सन्देह नही कि ब्रजबाला देवी की सफलता अपनी योग्यताओं के बल पर ही हुई है किन्तु 'गोविन्द को बताने वाले गुरु' की बराबरी कौन कर सकता है । माताजी आश्रम की सब-कुछ होते हुए भी 'जल में भिन्न कमल हैं, क्योंकि ब्रजबालादेवी ऐसी उनकी सहायिका हैं । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि माताजी की आत्मकथा यह बतलाती है कि किस प्रकार एक बाल विधवा विषय-वासना के झकोरों को टालती हुई आदर्श विदुषी तथा समाजनेत्री हो सकती है । समाज की विविध प्रवृत्तियों की प्रेरक तथा प्रतिष्ठापक होकर भी अनासक्त और व्रती रह सकती है । और वैधव्य ऐसे अभिशाप को भी लोक-कल्याण के वरदान में परिवर्तित करने वाली कवियों की अबला कितनी सबला है ।

निरवद्य मातृत्व की प्रतिष्ठापक माताजी चिरायु हों और उनकी सेवा-साधना वर्द्धमान हो ।

काशी विद्यापीठ
बनारस

— प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, एम० ए०



धर्मशीला श्राविका-रत्न

इस बुद्धिवाद के अतिरेकपूर्ण युग में शिक्षित व्यक्तियों में पवित्र श्रद्धा तथा संयम के प्रति आकर्षण शून्य सरीखा होता जा रहा है । वाणी से चरित्र (Character) रक्षण के बारे में अगणित बार उच्चारण होता है, किन्तु उसका जीवन से तनिक भी संपर्क नहीं रहता है । महापुराण में भगवज्जिनसेन स्वामी ने लिखा है कि सम्राट् भरतेश्वर ने अपने स्वप्नों में एक यह भी स्वप्न देखा था, कि एक वृक्ष है, जो बिल्कुल शुष्क हो गया है । उसका फल भगवान ऋषभदेव ने बताया था, कि आगे पुरुष तथा स्त्री-समाज में सदाचार में शिथिलता उत्पन्न होगी । उनके महत्वास्पद शब्द ये हैं:—

पुंसां स्त्रीणां च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात् ।।७६,४१ ।।

आज यही बात दृष्टिगोचर हो रही है । आध्यात्मिक अंधियारी के इस समय में ऐसे सौभाग्यशाली नर या नारी बिरले हैं, जिनका लक्ष्य समीचीन श्रद्धामूलक ज्ञान और सदाचार का पालन हो । संपन्न परिवार से सम्बन्धित व्यक्तियों की प्रवृत्ति तो धर्म से और विमुख होती जाती है; ऐसे विशिष्ट जड़वाद से जर्जरित जमाने में उनका दर्शन दुर्लभ है, जो अपने अध्यात्मवाद के प्रदीप को प्रदीप्त रखते हुए मार्ग-भ्रष्ट लोगों का पथ-प्रदर्शन करते हैं ।

ऐसी विशिष्ट आत्माओं में पण्डिता चन्दाबाईजी का नाम आदरपूर्वक लिया जा सकता है । अपने पतिदेव बाबू धर्मकुमारजी का छोटी अवस्था में ही निधन होने के उपरान्त इनने 'धर्म' को ही अपना जीवनाधार मानकर उसके लिए अपने आपको उत्सर्ग कर दिया । इसीसे आर्तध्यान को बढ़ाने वाली सामग्री को उन्होंने कुशलतापूर्वक आत्मकल्याणकारी और धर्मध्यान का केन्द्र बना लिया । वैष्णव परिवार में जन्म धारण करने वाली इन महिला के हृदय में जिन वाणी माता की उज्वल और आदर्श भक्ति का अद्भुत विकास हुआ । इनने स्वाध्याय के द्वारा ग्रंथों का मार्मिक बोध प्राप्त किया और सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण कर इस दुर्लभ मनुष्यजन्म की विशिष्ट निधि से अपनी आत्मा को समलंकृत किया । देव, गुरु, शास्त्र में इनकी प्रगाढ़ भक्ति है । १०८ चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर महाराज के समीप इनने अनेक व्रत धारण किए, और उनको अनेक बार आहार दान देने का अपूर्व लाभ लिया ।

सन् १९४८ के अगस्त में आचार्य शान्तिसागर महाराज ने बम्बई सरकार द्वारा हरिजन-मंदिर प्रवेश कानून को जैनियों पर लागू करने के प्रतीकार निमित्त लगभग ८० वर्ष की अवस्था में

अन्न त्याग कर दिया। आचार्यश्री का अभिप्राय यह है कि हरिजन वर्ग हिन्दू समाज का अंग है। जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म है, अतः जैन-मंदिर के सम्बन्ध में अन्य लोगों को अधिकार देने से भविष्य में अनिष्ट की आशंका है। आगम भी इसका विरोधी है। इस सम्बन्ध में स्वच्छंदता के भक्तों द्वारा विविध बाधाओं के उपस्थित किये जाने पर भी पंडिताजी ने गुरु और धर्म की भक्तिवश अधिक श्रम और उद्योग किया, ताकि आचार्य महाराज की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाय। धर्म और उसके आयतनों पर आपत्ति आने पर चन्दाबाईजी और इनके धार्मिक परिवार ने सदा समाज का सहयोग दिया है। मार्ग दर्शन भी किया है।

अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि पहले रत्नत्रय की ज्योति द्वारा अपने जीवन को प्रकाशित करो, पश्चात् अन्य कुमार्ग रतों को सत्पथ में लाने का प्रयत्न करो। पडिताजी ने ऐसा ही कार्य किया है। उनके पवित्र व्यक्तित्व के कारण आरा का जैनबाला विश्राम आज समस्त भारत की उच्च कोटि की महिला सस्थाओं में गिना जाता है। एक दिन राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने हम से चर्चा करते हुए आरा के बालाविश्राम और वहा पर विराजमान भगवान् बाहुबलि की मनोज्ञ मूर्ति का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया था।

दैव दुर्विपाक से प्राप्त वैधव्य को सयम से संयुक्त कर पडिताजी ने इस युग के कुशील समर्थक व्यक्तियों के समक्ष अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है, उनके समीप रह कर कितनी बहिनो ने उनसे ज्ञान और सदाचरण का प्रकाश पा अपनी आत्माको उज्वल न किया है? आज समस्त भारत में पण्डिताजी के सद्गुणों और समाज सेवा का सन्मान के साथ स्मरण किया जाता है। आर्य परंपरा में इनकी प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति है। आज विधवा बहिनो को जहां असंयम की ओर गिराने का रास्ता हमारे भ्रष्ट-चरित्र भाई दिखाने में अपने को कृतकृत्य मानते है वहा इनने सदा शील और सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है। विधवा विवाह सम्बन्धी कानून जब ग्वालियर राज्य में लगभग १५ वर्ष पूर्व बनने लगा, तब पंडिताजी और स्वर्गीय विदुषीरत्न भूरीबाईजी इदौर ने सुन्दर लेखों द्वारा महिला-समाज को जगाया था। आज जो हमारी बहिनो में जागृति और साहित्यिक सुरुचि का विकास हुआ है, उसमें पंडिताजी के द्वारा सम्पादित जैन महिलादर्श द्वारा उल्लेखनीय प्रेरणा प्राप्त होती रही है। विरोध और कलह के पंक से पत्र को बचाते हुए सर्वप्रिय बनाना आपकी कार्य-कुशलता तथा स्याद्वाद-गर्भिणी नीति का परिणाम है। अनेक बड़े २ धनिकों के परिवारों में वीतराग जिनेन्द्र के शासन की महत्ता अंकित करना, जिससे धर्मचक्र अबाधित गति से प्रवर्धमान होता रहे, इनकी अपूर्व तथा महत्वास्पद सेवा है।

ऐसी ज्ञान, शील, संयम एवं विवेक समन्वित आदर्श महिला का सम्मान करना जिन शासन के मर्मज्ञो का कर्तव्य है। पचाध्यायी में लिखा है कि गुण एवं व्रतालंकृत महिलाओं का यथोचित सम्मान करना चाहिए। हमारी हार्दिक मन.कामना है कि जिन धर्म के प्रसाद से आदरणीय पंडिता ब्रह्मचारिणी चन्दाबाईजी दीर्घजीवी हो; अधिक से अधिक स्व तथा पर कल्याण में तत्पर रहें।

सिवनी, मध्य प्रदेश। —सुमेरुचन्द्र दिवाकर, बी० ए०, एल० एल० बी०

जैन महिला-रत्न पं० ब्र० चन्दाबाई

जिन शब्द 'जि जये' से बना है ; इसमें नक् प्रत्यय है। जो प्राणी दोषों को जीत लेता है, वह जैन है। यदि कोई नारी सम्यक् रूप से जैनधर्म का पालन करती है तो वह निश्चय से पूजनीय है। स्त्रियाँ स्वभावतः ऋषिका हैं, सरस्वती हैं, जितेन्द्रिय हैं और हैं संयम तथा शील का पाठ पढ़ाने वाली उपदेशिका। स्त्रियों के मूर्ख रहने, दुराचार की ओर जाने एवं व्रतोपवास से च्युत होने में समस्त दोष माता-पिता या अन्य अभिभावकों का है। सरस्वती रूप नारी को यदि थोड़ा भी सहयोग प्राप्त होता है, तो वह निश्चय से सरस्वती बन जाती है। नारी का कोमल हृदय शिक्षा और ज्ञानार्जन करने के लिए योग्य क्षेत्र है। पुरुष उतनी जल्दी ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, जितनी जल्दी नारी। नारी की उदात्त प्रवृत्तियां संयम, ज्ञान और शील को पाने के लिए सदा प्रस्तुत रहती हैं। हाँ, सहयोगी कारणों के अभाव में सुष्ठु प्रवृत्तियों का आविर्भाव होने से रह जाता है। भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण आये हैं, जिनमें नारी की गरिमा और महत्ता बतलायी गयी है। एक सदाचारिणी नारी अनेक गुरुओं की अपेक्षा कम समय में ज्यादा अध्यात्म सिखला सकती है।

आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, इसका कोई लिङ्ग नहीं। यह स्वभावतः सिद्ध, बुद्ध, शुद्ध और निष्कलंक है। व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा की वर्तमान पर्याय अशुद्ध हो गयी है। अतः कोई भी नारी सम्यक् प्रकार से जैनधर्म को धारण कर स्त्रीलिङ्ग का छेद कर स्वर्गादि सुखों को प्राप्त कर मनुष्य भव धारण कर निर्वाण पा सकती है। जैनागम में नारी को पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। वह न्याय, धर्म, व्याकरण आदि का अध्ययन, मनन, चिन्तन कर अपने ज्ञान को बढ़ा सकती है। चारों अनुयोगों का स्वाध्याय कर सकतीं हैं। कोई भी नारी जैनधर्म का पालन करने से पवित्र हो जाती है, उसकी आत्मा निखर आती है, संक्लेशता दूर हो जाती है और वह लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयों को प्राप्त कर लेती है। इस युग के धर्म-प्रवर्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने नर और नारी दोनों के धर्म-धारण करने का समान अधिकार प्रदान किया है। नारी श्राविका के उत्तम व्रतों का पालन कर तपस्विनी बन जाती है।

श्रीमती चन्दाबाई ऐसी ही धर्मात्मा जैन-महिलारत्न हैं, जिन्होंने जैनधर्म को अपने जीवन में उतार लिया है। वैधव्य अवस्था का सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये, इसे आप भली भाँति जानती हैं। भारतीय नारी विधवा हो जाने के बाद असहाय हो जाती है, उसका दोनों परिवारों में से किसी भी परिवार में सम्मानजनक स्थान नहीं होता। पर इतना सुनिश्चित है कि जब विधवा नारी धर्मात्मा

बन गयी हो और सांसारिक विलासिताओं का त्याग कर दिया हो, तब निश्चय ही वह देवी बन जाती है। श्रीचन्दाबाई ऐसी ही देवी हैं, इनके जीवन से कोई भी व्यक्ति शिक्षा ले सकता है। ब्रह्मचर्य और त्याग में कितनी शक्ति, कितना ओज और कितनी महत्ता होती है, यह आपके जीवन से प्रकट है। अपरिचित से अपरिचित व्यक्ति भी आपके दर्शन कर प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। आपके दिव्य तेज के समक्ष विश्व के पाप, वासना, विकार और दोष जल कर राख हो जाते हैं।

श्रीचन्दाबाईजी ने आरा में जैन-बालाविश्राम की स्थापना कर भारत के कोने-कोने से आने वाली सहस्रों बालाओं को सुशिक्षित बनाया है। आपके द्वारा संचालित आश्रम निश्चय ही नारी-समाज का अभ्युत्थान करनेवाला है। यहाँ संस्कृत, हिन्दी और दर्शन आदि का उच्चकोटि का शिक्षण दिया जाता है।

श्रीचन्दाबाईजी ने धर्म को अपने जीवन में उतार लिया है। वे आहारदान, औषधदान, विद्यादान और अभयदान सदा देती रहती हैं। आरा में जैन कॉलेज, जैनस्कूल, आयुर्वेद चिकित्सालय, पुस्तकालय, धर्मशाला, मन्दिर जीर्णोद्धार तथा दीनजन पालन आदि के लिए श्री बाबू हरप्रसाद दासजी ने एक धार्मिक ट्रस्ट आपकी ही प्रेरणा से स्थापित किया है। यद्यपि इस बात को आरा के कतिपय व्यक्ति ही जानते हैं, परन्तु उक्त बाईजी यदि प्रेरणा न देतीं तो संभवतः इतना परोपकारी ट्रस्ट स्थापित नहीं हो सकता था। आपकी ही प्रेरणा से मैनासुन्दर धर्मशाला बनायी गयी है। सच बात यह है कि आरा की जैन-जागृति का सारा श्रेय श्री चन्दाबाईजी को है।

जैन महिलारत्न चन्दाबाईजी जगत् के जीवमात्र की भलाई चाहती हैं, संसार के जितने प्राणी हैं, सब आनन्द और सुख से रहें; किसी को कभी भी कष्ट न हो यही उनकी कामना है। जैनधर्म का अहिंसा सिद्धान्त उनके जीवन में व्याप्त है, वे साध्वी हैं, दिन में एक बार भोजन करती हैं, परिग्रह सीमित है। संसार के बन्धन भूत आरम्भ का त्याग है। उनका जीवन त्याग, तपस्या और व्रत का आगार है। वे सभी तरह से नारी जाति का उत्थान, मंगल और उन्नति चाहती हैं। पातिव्रत धर्म का प्रचार घर-घर में हो, सभी भाई-बहन ब्रह्मचर्य का पालन करें और विषय-कषाय घटें, यही उनकी भावना रहती है। आत्मचिन्तन, स्वाध्याय और प्रभुभक्ति उनके अहर्निश के कार्य हैं।

विधवा बहनों की दयनीय स्थिति आज भारतवर्ष की अवनति का प्रधान कारण है। जैन जनता भारत का एक अभिन्न अंग है, परन्तु इसमें विधवाओं को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। इस समाज में विधवाओं का सम्मान है, उनके लिए शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध है। इसका मूल कारण जैन-जगत् में श्रीचन्दाबाई जैसी कर्तव्यपरायण, त्यागशीला देवियों का अस्तित्व ही है। हम इस प्रकार की परोपकारिणी देवी की दीर्घायु की कामना करते हैं।

आरा। —महामहोपाध्याय पं० सकल नारायण शर्मा

श्री जैनबाला विश्राम और पूज्य श्री माताजी

आरा का जैन बालाविश्राम भारतवर्ष में नारी जागरण का एक अद्वितीय प्रतीक है । शिक्षा, संस्कृति, सदाचार और विमल विचार का आधार लेकर शुद्ध आदर्शवाद को व्यवहारोपयोगी बनाने का उद्देश्य ही इस संस्था की नींव है और आज यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अपने महान मङ्गलमय उद्देश्य में इस संस्था ने अवश्य ही आशातीत सफलता प्राप्त की है । देश के भिन्न-भिन्न राज्यों की कन्याएँ यहाँ शिक्षा पा रही हैं । शहर के कोलाहल से दूर सर्वथा शान्त तपोवन में शिक्षा का वातावरण सहज ही मन को आकृष्ट करता है । प्राकृतिक सुषमा का इतना प्रसन्न वातावरण शायद ही अन्यत्र कहीं मिले । और कन्याओं को समस्त आधुनिक शिक्षा का मार्ग प्रशस्त कर के भी उन्हें प्राचीन संस्कृति की उपासना और तदनुकूल जीवन-यापन की शैली का सुमधुर समन्वय यहाँ सहज रूप से उपलब्ध है । यहाँ की वाटिका के वृक्षों में, लता-पत्र और पुष्पों में, भोजनालय, शिक्षण मन्दिर में, देवमन्दिर आदि में सर्वत्र एक दिव्य सौन्दर्य का साम्राज्य है जो हमें जीवन के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ओर अपने सहज रूप में आकृष्ट करते है ।

सौन्दर्य के साथ ही पवित्रता की इस आनन्दमयी साधना के मूल में है पूज्या श्रीमाताजी श्री विदुषीरत्न ब्र० पं० चन्दाबाई जैन । जिसे एक बार भी माताजी के पावन दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह स्वयं अनुभव करता है कि माताजी का व्यक्तित्व दिव्य धातुओं से निर्मित है । उनकी सरलता, शुभ्रता, दिव्यता 'विश्राम' के कण-कण में व्याप्त है और उससे प्रभावित हुए बिना कोई रह नहीं सकता । उनके कार्य की अनेकानेक दिशाएँ हैं पर मुख्यतः साहित्य निर्माण, स्त्री शिक्षा-प्रसार, नारी जागरण एवं संस्कृति-संरक्षण विशिष्ट हैं । समाज, धर्म और साहित्य की सेवा में आपने अपने को खपा दिया है और निरन्तर अनवरत अथक भाव से अपने उद्देश्य की सिद्धि में संलग्न हैं । एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि माताजी एक आदर्श भारतीय साध्वी माता की दिव्य प्रतीक हैं । आपकी वाणी और आपका आचरण एक है और परमहंस स्वामी रामकृष्ण देव ने 'साधु' की यही परिभाषा की है । माताजी सही और पूरे अर्थ में 'साध्वी' हैं ।

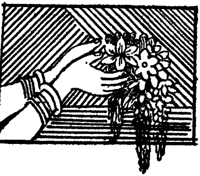
जिस प्रकार पूज्य मालवीयजी महाराज का हिन्दू विश्वविद्यालय, गुरुदेव का शान्तिनिकेतन, शिवप्रसाद गुप्त का काशी विद्यापीठ, गांधीजी का सेवाश्रम, मीरा बहन का 'गोलोक' रमण, महर्षि का तिरुवन मलय आश्रम, और योगी अरविन्द का पाण्डिचेरी आश्रम है उसी प्रकार पूज्य माताजी श्री चन्दाबाई का जैन का बालाविश्राम है । आरा की भारत भर में दो ही वस्तुओं से ख्याति है—वे हैं—

जैन सिद्धान्त भवन तथा जैन बालाविश्राम और अत्युक्ति नहीं है कि दोनों की प्रेरणा पूज्य श्रीमाताजी से प्राप्त हुई है। पूज्य माँजी के कारण ही आरा तीर्थ बन गया है—"तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि"। माँजी की साधुता, आध्यात्मिकता, उदारता, सरलता, सौजन्य, उच्च संस्कृति, त्याग, वैराग्य, शुभ्रचरित्र आदि का प्रभाव सहज ही सब पर पड़ता है। 'विश्राम' में कला का जो मंगलमय विन्यास हुआ है, वहाँ के प्रत्येक पदार्थ में, समस्त वातावरण में माँजी के दिव्य 'स्पर्श' की अनुभूति होती है।

ऐसी पूज्य माँजी के पावन चरणों में हम अतिशय श्रद्धा और भक्ति के साथ सहस्र-सहस्र प्रणामाञ्जलि निवेदन करते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि माँजी भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिये युग-युग जीती रहें।

॥ वन्दे मातरम् ॥

औरंगाबाद, गया। —भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एम० ए०





श्री माननीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा भू० पू० बिहार राज्यपाल श्री अणे साहब के साथ
श्री जैन-बाला-विश्राम आरा में साध्वी



विश्रानद भवन

(श्री जैन-बाला-विश्राम, आरा)

माँश्री की तपोभूमि-श्री जैनबाला-विश्राम : झाँकी

अपने विशाल वरदहस्तों से अभयदान प्रदान कर कल्याण और उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने वाले तपोनिधियों के समान तपस्या में निरत, नैसर्गिक शान्तिमय वातावरण की मुग्धकारी निस्तब्धता को भंग करने में सतर्क, मन्द पवन के झोंकों से पुलकित पत्रावलियों के द्वारा नव प्रस्फुटित हरितांकुर मञ्जरियों के मधुर मकरन्द का वितरण करने वाले रसालवृक्षों से परिवेष्टित, उस रम्य निकुञ्ज में पदार्पण कर कौन सहृदय एक बार आन्तरिक उल्लास की लहरियों में मग्न न हो जायगा ! शील और सौन्दर्य का प्रतीक वह शान्तिकुटीर, उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण वह छात्रालय, ज्ञान और कला का भाण्डागार वह विद्यालय, सुषमा और शान्ति का आगार वह देवालय, गौरव और गरिमा का उन्नायक वह मानस्तम्भ, त्याग और तपस्या की वह विशालमूर्ति; एक साथ देखकर स्वयं मानवता भी गर्व से सिर ऊँचा करने का साहस करती है ।

जिस पुण्यस्थल का एक-एक रजकण किसीके पदतल का स्पर्श कर पुलकित हो रहा हो, जिस तपोभूमि का प्रत्येक पादप चुपके-से प्रवेश करते हुए समीर के कानों में किसी का पवित्र सन्देश भरकर उसे विश्व में बिखेर देने के लिए प्रेरित कर रहा हो, जहाँ के सुमन किसीके आचरण को स्वस्थ कर धीरे-धीरे विहँस रहे हो, जहाँ भ्रमर-पुञ्ज अपने मधुर राग में किसीकी तपश्चर्या की कहानी गा-गा कर दूरस्थ कलिका को आँखें खोलने के लिए उकसा रहे हों , वहां की कमनीय कान्ति किसी मनुष्य को अनायास ही भावाकृष्ट कर ले तो क्या आश्चर्य ?

श्री जैन-बाला-विश्राम (जैन-महिला-विद्यापीठ) आरा, केवल हमारी जाति या हमारे देश के गौरव की ही वस्तु नहीं, सारी मानवता के गौरव का प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है । जब तक विश्व के किसी भी कोने में ऐसी संस्था अपने दिव्य प्रकाश से आलोक वितरण करती रहेगी, मानवता का विनाश असंभव है । इसकी समुचित व्यवस्था और शिक्षा-पद्धति का जितना गौरव करें, थोडा है । इसके अंक में गतिशील अंशुमाली अपना सारा संचित स्वर्गिम वैभव लुटाकर भी तृप्त नहीं हो पाते और अधिक उपार्जन के लिए अस्ताचल के उस पार की यात्रा करते हैं । शशांक अपना सारा रजतकोष प्रदान कर भी नित्यप्रति अपनी असमर्थता के शोक में घुल-घुलकर विलीन हो जाता है, परन्तु इन्हें यह क्या मालूम कि वे उस अक्षय निधि को प्राप्त कर चुके हैं , जिसकी तुलना में विश्व की समग्र सम्पत्ति नगण्य है; जिसकी विभूति को किसी मानव विभूति ने अपने रक्त से सींचा हो, जिसके विकास और संवर्धन में मानवता की जननी ने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया हो, जिसकी एक-एक ईंट तपस्या की अग्नि में लाल

की गयी हो, जिसकी दीवालें अविरल परिश्रम और अध्यवसाय के मसाले से चिनी गयी हों, महाप्रलय की भयंकर विनाशलीला भी उसका अन्त करने में समर्थ हो सकती है, इसमें सन्देह है। माँश्री जैसी कर्मठ, उद्योगिनी और विचारनिष्ठ सस्थापिका के द्वारा स्थापित और सचालित सस्था मानव जाति का कितना कल्याण कर सकती है, इसका प्रमाण विश्राम की आजतक की सफलताएँ ही हैं। नारी जाति के उत्थान और विकास में इस तपोभूर्त्ति कर्मठ विश्राम का कितना हाथ है, यह प्राय: अवगत है।

किसी व्यक्ति का दुर्भाग्य आचार-निष्ठा के बल पर किसी देश और जाति के सौभाग्य में परिणत हो सकता है, इसका उज्ज्वल निदर्शन त्यागशीला माँश्री के जीवन में मिलता है। कठोर नियति के प्रसारखण्डों को विदीर्ण कर अजस्र मन्दाकिनी की जो निर्मल धारा फूट निकली, वह उत्साह और उमंग के साथ दुर्गम मार्गों का अतिक्रमण कर आज एक विस्तृत और गम्भीर स्रोतस्विनी के रूप में प्रवाहित हो रही है, जिसके स्वस्थ वक्षस्थल का सहारा लेकर न जाने कितनी प्रताड़ित आत्माओं ने अपनी जीवन-तरी को सफलता-पूर्वक उस पार लगाने का साहस किया। इस ज्योतिपुञ्ज के सतोगुणी ससर्गमात्र से उन शिखाओं का निर्माण हो रहा है, जो ससार के कोने-कोने को दीप-मालिका की जगमग आभा से प्रकाशित कर देने की योग्यता रखती हैं। इस शुभ्रवसना सरस्वती की वीणा से वह मन-मोहक सगीत नि:सृत हो रहा है, जिसके प्रत्येक लय की झंकार के साथ मानवता अपने को अनन्त जीवन पथ पर एक पग आगे पाती है। इस तपोनिधि की दिन-चर्या से आदर्श और यथार्थ से संयुक्त उस समन्वय पूर्ण मार्ग का सकेत मिलता है, जिसका अनुसरण कर नारी-जगत् मानव विकास का विधायक बन अपने उत्तरदायित्व का सफलता के साथ निर्वाह कर सकता है।

हाँ, तो अब तक मैंने पाठकों के समक्ष बालाविश्राम के सचालन-प्राण के सम्बन्ध में कुछ लिखा, अब मैं उसका दर्शन करा देना भी आवश्यक समझता हूँ। आप पक्की सड़क से मेरे साथ चले आइये। आरा-पटना रोड पर नहर के पुल से कुछ ही कदम आगे बढ़ने पर बाहुबली स्वामी के मंदिर का शिखर दिखलाई पड़ता है। एक बड़ा फाटक अपनी मूक आवाज में बुलाता है। जैसे हम उसके पास पहुँचते हैं वह बद्धकपाट हमें इशारे से बतलाता है कि अभी कुछ दूर आगे और जाओ। उसके सकेत के अनुसार हम कुछ ही आगे पहुँचते हैं कि हमें एक दूसरा बड़ा फाटक अपनी ओर आमन्त्रित करता है। हम जैसे ही भीतर प्रवेश करते हैं कि दाहिने हाथ की ओर एक सुरम्य विश्रान्ति भवन हमारी थकावट दूर करने के लिए स्वागतार्थ प्रस्तुत है; उसमें पहुँचते ही हमारी सारी थकावट दूर हो जाती है। इस भवन के बीच भाग में बिजली का पंखा लगा है, नीचे एक टेबुल रखी है और उसके चारों ओर चार-पाँच कुर्सियाँ पड़ी हुई अतिथियों की बाट जोहती रहती हैं। इधर-उधर काँच की अलमारियों में सुसज्जित धार्मिक पुस्तकें दर्शकों के मन को हरा-भरा कर देती हैं। इसमें विश्रान्त होने के अनन्तर जैसे ही आगे बढ़ते हैं कि दरवानों का निवासस्थान एवं अध्यापक-कुटीर पाते हैं। सुरम्यारम्य आराम में गुजरते हुए कुछ ही क्षणों में श्रीमती पूज्या माँश्री द्वारा निर्मित मानियों के मद को चूर करनेवाले मानस्तम्भ के दर्शन होते हैं। इस सुन्दर मानस्तम्भ के चारों ओर जैनधर्म के महत्वसूचक अनेक चित्र एव मूर्त्तियाँ हैं। इनके दर्शनमात्र से दर्शकों के हृदय-पटल पर अमिट छाप

लग जाती है। स्तम्भ के चारो ओर प्राय: प्रचलित सभी आधुनिक एवं प्राचीन भाषाओं में इस मान-स्तम्भ का इतिहास अंकित है। इसके आर्च प्राचीन द्राविडकला की समता रखते हैं, जैन संस्कृति के महत्ता-सूचक घंटा, शृंखला, तोरण आदि भी इसमें खचित किये गये हैं। इसका सुन्दर फर्श नेत्रों को अत्यन्त तृप्ति प्रदान करता है। बरबस मन को रोक कर जैसे ही पीछे की ओर मुड़ते हैं कि भव्य विशाल और चित्ताकर्षक बाहुबली स्वामी की विशालकाय खड्गासन मूर्ति, जो १४ फुट ऊँचे कृत्रिम पर्वत पर विराजमान की गयी है, के दर्शन होते हैं।

मूर्ति के सामने कुछ ही कदम के फासिले पर एक रम्य चबूतरा है, इस पर से दर्शन करने पर चित्त को अपूर्व आह्लाद मिलता है। क्षणभर के लिए सांसारिक बातों को भूलकर दर्शक आनन्द समुद्र में मग्न हो जाते हैं। चिन्ताओ से मुक्त होकर दीर्घकाल तक एक-टक दृष्टि से देखते रहने की लालसा बनी रहती है। सामने थोड़ी ही दूर पर स्थित जीते-जागते त्याग और तपस्या का पाठ पढ़ाती हुई उन्नत गोम्मट स्वामी की मूर्त्ति हमें सावधान करती हुई प्रतीत होती है। मूर्ति के पीछे सीढियां है, जिन पर चढ़कर प्रतिदिन भगवान् का प्रक्षालन किया जाता है। बाटिका में होते हुए जैसे ही कुछ दूर बढ़ते है कि मुनीम कुटीर मिलता है। इससे कुछ ही दूर पर विशाल विद्यालय-भवन है। सावधान, यहाँ पर अमरूद, नीबू और शरीफा के पादप, जो प्राय: फलों से नम्रीभूत रहते हैं, आपको अपनी ओर अवश्य आकृष्ट करेंगे। यदि दोपहर का समय हुआ तो इन वृक्षों की शीतल छाया आपको आगे नही बढ़ने देगी। देखिये, सामने ही संस्कृत कक्षा स्वागत के लिए प्रस्तुत है।

इसके भीतर प्रवेश करते ही दीवालो के ऊपर अनेक भव्यचित्र देखने को मिलेंगे। इन चित्रों में पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी महाराज, पूज्या माँश्री, श्रीमती पं. ब्रजबाला देवी, विद्यालय-भवन के निर्माता बा० धनेन्द्रदासजी, इनकी धर्मपत्नी श्रीमती नेमसुन्दरदेवी, राष्ट्रपिता महात्मा गाधी, भारत के कर्णधार पं० जवाहरलाल नेहरू एव अन्य कई गण्यमान्य व्यक्तियो के चित्र हँसते हुए नजर आते हैं। सामने की दीवाल के पास धर्माध्यापक की गद्दी है, पास ही एक लकडी का सन्दूक है, जिसमें अष्टसहस्री, प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड, सिद्धान्त-कौमुदी एवं गोम्मटसार आदि पाठ्य-ग्रन्थ रखे रहते हैं। इनकी बगल में एक काला तख्ता भी रखा रहता है, पूछने पर वह कहते हैं कि इस पर व्याकरण और गणित सम्बन्धी सन्दृष्टियाँ समझायी जाती हैं। इसी कमरे में आमने-सामने काँच की अलमारियाँ हैं। जिनमें छात्राओं द्वारा निर्मित कलाभवन की चीजें रखी रहती हैं। इन चीजों में घड़ी, हारमोनियम, साँप, बत्तक, ऊँट, खरगोश, गुड़िया, राष्ट्रपिता बापू की मूर्ति, डोली एवं विभिन्न प्रकार के अन्य खिलौने दर्शकों को इतने लुभाते हैं कि दो-चार खरीदे बिना घर नहीं जाने देते।

संस्कृत कक्षा से दाहिनी और बाईं ओर छठीं और पाँचवीं कक्षा हैं। पाँचवी कक्षा से कुछ हटने पर सामने के एक लम्बे हाल में पुस्तकालय है। इसमें लगभग १०–१२ अलमारियों में विभिन्न विषयों की पुस्तकें हैं। इन पुस्तकों की संख्या लगभग चार हजार और पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों की

की संख्या लगभग ५०० है। हिन्दी साहित्य की उत्तमोत्तम चुनी हुई लगभग पन्द्रह-सौ पुस्तकें हैं। अन्वेषण कार्य के लिए धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण आदि की पुस्तकें विशेष रूप से एकत्रित की जा रही हैं। इस लाइब्रेरी के अतिरिक्त एक धार्मिक स्वाध्यायशाला भी है, जिसमें पाँच सौ शास्त्र हैं, जिनका छात्राएँ स्वाध्याय करती हैं। इस पुस्तकालय के मध्यभाग में एक बड़ी टेबुल रखी है, जिसमें ६–१० दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र रखे हुए हैं। टेबुल के चारों ओर दस-बारह कुर्सियाँ रखी हुई हैं, जिन पर बैठ कर छात्राएँ समाचारपत्र एवं पुस्तकें पढ़ती हैं। भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षा की प्राय सभी पुस्तकें इस पुस्तकालय में संग्रहीत हैं। छात्राओं के लिए महिलोपयोगी साहित्य का संकलन भी प्रचुर मात्रा में किया जा रहा है।

इधर से हटकर जब सातवीं कक्षा में पहुँचते हैं तो उसके पास 'शिल्प विभाग' लिखा हुआ मिलता है पर वर्तमान में शिल्पविभाग का कार्य अन्यत्र होता है। ऊपर की सीढ़ियों से चढ़कर जैसे ही छत पर पहुँचते हैं कि दाहिनी ओर स्वाध्यायशाला अपनी ओर आमन्त्रित करती है, इसके बीच में एक लम्बी चटाई बिछी मिलेगी, चटाई के एक किनारे संगमरमर की लम्बी बेंच रखी रहती है। इसके पास ही अलमारी में शास्त्रजी विराजमान हैं। इसका अवलोकन कर जैसे ही पीछे की ओर मुड़कर कुछ बढ़ते हैं कि भगवत् चैत्यालय का शिविर दृष्टिगोचर होता है। कुछ और आगे बढ़कर तथा तीन-चार सीढ़ी ऊपर चढ़ने पर चैत्यालय के समक्ष पहुँच जाते हैं। इसमें मूलनायक प्रतिमा भगवान् महावीर स्वामी की है। इसकी परिक्रमा तो बगीचा काटकर संगमरमर की इतनी सुन्दर बनायी गयी है कि प्रदक्षिणा करते हुए नन्दनकानन की स्मृति आये बिना नहीं रहती।

यहाँ से उतर कर जब नीचे आ जाते हैं तो बाईं ओर की सड़क पर थोड़ा-सा पूर्व की ओर हटने पर अध्यापन-कला-विभाग दिखलायी पड़ता है। इस विभाग का कार्य वर्तमान में बन्द है, पर इस विभाग के कमरों में चर्खा चलाना, सिलाई करना और ड्राइंग आदि के कार्यों के साथ दो कमरों में लोअर कक्षाओं का शिक्षणकार्य सम्पन्न किया जा रहा है। लाइब्रेरी के बड़े कमरे में ही उत्तमा, मध्यमा और प्रथमा का अध्यापन कार्य सम्पन्न होता है। इस विभाग से पुनः पानी की टंकी—कुएँ से बोरिंग कर टंकी में पानी चढ़ाया जाता है और वहाँ से आश्रम के नलों में वितरित होता है, से आगे बढ़ने पर छात्रालय नम्बर दो आता है। इसकी इमारत अपने ढंग की निराली है, इसके नीचे के भाग में भाण्डारगृह और भोजनशाला है, ऊपर छात्राओं के रहने के लिए दो विशाल हाल हैं, जिनमें लगभग ५०–६० छात्राएँ सुखपूर्वक रह सकती हैं। आप मेरे साथ सीढ़ियों के द्वारा ऊपर रेवती हाल में चले आइये, इसमें दोनों ओर चौकियाँ पड़ी हैं। छात्राएँ इन चौकियों पर विश्राम करती हैं। प्रत्येक छात्रा की सीट के पास एक अलमारी है, जिसमें वे पुस्तकें, कापियाँ एवं अन्य पढ़ने-लिखने के सामान रखती हैं। रेवती हाल से निकल कर ऊपर छत पर से ही थोड़ी दूर पर दूसरा लम्बा विशाल हाल है, जिसमें रेवती हाल के समान ही छात्राएँ निवास करती हैं।

सीढ़ी के सहारे नीचे उतर कर बीस कदम ही आगे बढ़ते हैं कि अध्यापिकाओं के क्वार्टर मिलते हैं, इन क्वार्टरों से सटा हुआ छात्रालय नं० १ है। इसके भीतर कई प्रकार के वृक्ष एवं लताएँ हैं।

इसमें तीन कमरे ऊपर और तीन कमरे नीचे हैं। इन कमरों में ३०-४० छात्राएँ आनन्द-पूर्वक रह सकती है। इस छात्रालय में एक चालीस फुट लम्बा एव पन्द्रह फुट चौड़ा बरामदा है; अरे! रात में यही तो छात्राओं की शास्त्रचर्चा होती है। कभी-कभी यह चर्चा इतनी अधिक बढ़ जाती है, जिससे माँश्री को शंका-समाधान के लिए आना पड़ता है। इससे कुछ ही आगे बढ़ने पर कार्यसम्पादन भवन मिलेगा, इसीमें आश्रम की तपस्विनी माँश्री निवास करती हैं। वे पहले से ही अतिथि-सत्कार के लिए प्रस्तुत हैं। इस भवन के एक किनारे पर एक दरी बिछी रहती है, जिसके एक ओर एक डेक्स रखा रहता है, उसीके चारों ओर चार-पाँच रजिस्टर, दो-चार बहियाँ एवं अन्य आवश्यक कागज-पत्र रखे रहते हैं। एक मुनीम जी आपको हिसाब करते हुए दिखलाई पड़ेंगे। आश्रम की उपसंचालिका श्रीमती पं० ब्रजवाला देवीजी भी अतिथि का आगमन सुनकर अतिथि सेवा के लिए शीघ्र ही आ जाती है। आपसे मिलने पर अपूर्व आनन्द आता है। अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक बातें आपसे सहज में ही मालूम हो जानी हैं।

अब आइये, मैं आपको आश्रम की आभ्यन्तरिक बातों का निरीक्षण करा दूँ। आश्रम में दो शिक्षाविभाग हैं—हिन्दी और संस्कृत। हिन्दी में बिहार विश्वविद्यालय के सिलेबस के अनुसार मिडिल तक शिक्षा दी जाती है, पश्चात् अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाएँ दिलायी जाती है। अनेक छात्राएँ साहित्यरत्न परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी है। इस परीक्षा के बाद हिन्दी जैन-कवियों के अन्वेषण और अनुशीलन का भी प्रबन्ध किया गया है। संस्कृत विभाग में बिहार संस्कृत एसोसियेशन और बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद् की परीक्षाएँ प्रतिवर्ष दिलायी जाती हैं। अनेक छात्राएँ तीर्थ, मध्यमा और प्रथमा परीक्षा में सम्मिलित होती हैं और सफलता प्राप्त करती हैं। माणिकचन्द दिगम्बर जैन परीक्षालय बम्बई की धार्मिक परीक्षाओं में सभी छात्राएँ सम्मिलित होती हैं और उत्तम श्रेणी में उत्तीर्णता प्राप्त कर पारितोषिक प्राप्त करती हैं। ज्ञानचन्द्रिका परीक्षा में प्रतिवर्ष यहाँ की छात्राओं को पुरस्कार मिलता है।

साधारण ज्ञान के लिए अंग्रेजी भाषा का शिक्षण भी दिया जाता है। 'रत्न' परीक्षा देकर ही प्रतिभाशालिनी छात्राएँ मैट्रिक, इन्टर और बी. ए. की परीक्षाएँ देती हैं। घरेलू उद्योग-धन्धों की शिक्षा पूर्णतया दी जाती है, इसके अलावा संगीतकला की शिक्षा के ऊपर भी ध्यान दिया गया है। सारांश यह है कि कन्याओं को योग्य गृहिणी बनाया जाता है, उन्हें जीवन-संग्राम में कार्य करने के लिए पूर्णतया योग्य बनाया जाता है। विधवा बहनों को लौकिक और धार्मिक शिक्षण इस प्रकार दिया जाता है, जिससे वे अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाती हुई जीवन-यात्रा में सफल हों। छात्राओं की वक्तृत्व शक्ति बढ़ाने के लिए प्रतिपक्ष एक सभा होती है, इसमें छात्राएँ तो भाषण देती ही हैं, पर आश्रम की संचालिका, वयोवृद्धा, अनुभवशीला माँश्री एवं लघु मातेश्वरी पं० ब्रजबाला देवीजी के तत्त्वोपदेशों द्वारा छात्राओं का विशेष कल्याण होता है। साहित्यिक प्रगति उत्पन्न करने के लिए हस्तलिखित 'बाला-दर्श' नामक त्रैमासिक पत्र भी निकलता है, जिसमें छात्राएँ नाना विषयों पर निबन्ध लिखती हैं, कहानियों और कविताओं के द्वारा मानसिक विकास करती हैं। यहाँ शिक्षा के साथ स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। आपको सभी छात्राएँ स्वस्थ और प्रसन्न दृष्टिगोचर होंगी।

समाचारपत्रों द्वारा एवं आश्रम की द्विवार्षिक रिपोर्ट द्वारा यह मालूम होता है कि इस संस्था का समाज-सेवा में कितना बड़ा हाथ है। आश्रम से निकल कर अनेक स्नातिकाएँ समाज, साहित्य और धर्म की सेवा कर रही है। इसका मूल कारण यह है कि यह माँश्री की तपस्याभूमि है। तपः पूत माँश्री इसके सर्वाङ्गीण विकास के लिए अहर्निश चेष्टा करती रहती हैं।

हाँ तो पर्याप्त विलम्ब हो चुका, चलिये अब आप मेरे साथ बाहर आइये। पर प्रवेश द्वार से थोड़ी-सी धूल लेकर अवश्य अपने रूमाल में बाँध लीजिये। यह पवित्र रज, माँश्री के चरणों का स्पर्श पाकर इतनी शक्तिशालिनी और कल्याणप्रद हो गयी है, जिससे इसके अंजन से अज्ञानतिमिर दूर हो जाता है, कुरीतियों के संस्कार छिन्न-भिन्न हो जाते है और भारतीय रमणी अपने खोये हुए प्राचीन गौरव को पुनः पा लेती है। सावधान, इन रजकणो में मल्लिका, वेला, और चमेली का पराग भी मिश्रित है, अतः सँभालकर रखिये, अन्यथा भ्रमर आपको तंग करेंगे, जिससे यह गांठ खुल जायगी। चलिये, एक बार यहाँ की तपस्विनी माँकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण कर लें, शायद जीवन में फिर ऐसा अवसर मिले या नहीं। ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

—चक्रनेमि



माँश्री की साहित्य-साधना

जैसे भारतेन्दु का साहित्य हिन्दी-साहित्य के नवोत्थान का ज्वलन्त इतिहास है, वैसे ही माँश्री की अजस्र साहित्यिक-धारा में महिला साहित्य के सुनहले प्रभात का उद्भव और परिपुष्ट होना भी। भारतेन्दु के सतत साहित्यिक उद्योगों की हलचल की चेतनता की साकार परिणत हुई माँश्री के धरती के गीतों में, जो एक ज्वलन्त दीपशिखा है। अतः साहित्यिक पुरुषत्ववाद की अन्तिम विजयश्री पर माँश्री ने महिला-साहित्य को अपने व्यक्तित्व का आत्म-निर्माण कर जगाया और सँजोया है, अपने व्यक्तित्व के अभयदान से महिला-साहित्य को अभिसिंचित तथा अनुप्राणित किया है। यह समय के साथ पनपी हैं तथा महिला साहित्य को पनपाया है—यह साहित्य-महारथियों का आज का दावा है, कल का नहीं। इनके द्वारा नारी को स्नेह मिला, प्यार मिला, चेतना मिली, उद्धार मिला और साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्बल भी। एक साथ इतनी चीजें और सब हृदय के धरातल पर। अतएव यह सुनिश्चित है कि नारी के दग्ध हृदय को इनकी साहित्य-सेवा सतत छाया प्रदान करती रहेगी।

साहित्य जीवन की सतत गतिशील प्रेरणाओं में से एक है। काल खण्डों में बँटी उसकी प्रगति-परम्परा और विकास के इतिहास की भूमि पर रास्ते के दूरी-सूचक मील-पत्थरों को खड़ा कर देना सरल और सुसाध्य है; तथापि एक दूसरे को साफ-साफ पृथक् करनेवाली सीमा-रेखा निर्दिष्ट करना असम्भव ही है। कारण, साहित्य की चेतना भूमि खण्डों पर फैली उन फुनगियों की तरह होती है, जो अपने विकास और उत्पत्ति की परिधि के बाहर अन्य समग्र-बल्लरियों से इस तरह गुँथी रहती है, जिससे वह स्पष्ट होकर भी अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। यही कारण है कि जहाँ रीति-युग के आविर्भाव काल और वर्तमान जीवन में एक लम्बे अन्तराय की खाई है, वहाँ आज के नब्बे प्रतिशत वासनात्मक विक्षोभ को लेकर लिखी जानेवाली छायावादी और प्रगतिवादी रचनाओं में रीति-युग की अतृप्ति एवं बेचैनी साफ बौखलाती हुई दीखती है। युग की प्रमुख साहित्यिक मान्यताओं के रहते भी काल के एक छोर से दूसरे छोर को छूनेवाली अन्तर्धाराओं का हमेशा अस्तित्व रहा है। किन्तु जहाँ तुलनात्मक श्रेष्ठता के निर्णय का प्रश्न हमारे सामने आयेगा, वहाँ साहित्य की श्रेष्ठता इसी आधार पर निश्चित की जायगी कि कौन युग सामाजिक जीवन को कितनी प्रेरणा दे सका और कितनी दूर तक उसे उन्नत और क्रियाशील बना सका। कहना नहीं होगा कि युग के साहित्य-महारथियों में नारी-साहित्यकारों का बराबर स्थान है; क्योंकि महिला-साहित्य से सामाजिक जीवन करवटें बदलता है और सुधारात्मक प्रवृत्ति की अंगड़ाई में डूबकर साँस लेता है।

साहित्य के सुदीर्घ इतिहास में इस बीसवीं शताब्दी के इतिहास का काल अपनी अनन्यतम विशेषताओं को लेकर शायद सबसे चमकीला और सबसे सुनहला काल है । युग की आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याएँ जितनी ही तीखी होंगी, साहित्यकार उतना ही महान् होगा और उसकी कलम से उद्भूत कलाकृति भी उतनी ही समर्थ और प्राणवन्त होगी । युग की गति-विधि की धूप-छाँह में ही सत्साहित्य का रूप गढ़ा जाता है और इसका निर्माण तब तक स्वप्न और भ्रम ही बना रहेगा, जब तक साहित्यकार अपने को तत्कालीन जीवन के मूल्यों की साँस और उसकी धड़कन को पहचान नहीं पाता । इन बीसों तत्त्वों को देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि विक्रम की बीसवी शताब्दी का प्रारम्भिक भारतेन्दु युग हमारे साहित्य में अपना सबसे मौलिक और उच्च स्थान रखता है । लेकिन इसमें भी एक अभाव खटकता है, वह है महिला-साहित्य तथा महिलोपयोगी कृतियों की तरफ किसी के ध्यान का न केन्द्रित होना । परिणाम यह रहा कि महिला-साहित्य इस उत्थान काल में पनप नहीं सका और यह अंग कुछ दिनों तक अछूता ही बना रहा ।

युग की उष्ण वास्तविकताओं और अस्तव्यस्तताओं ने कतिपय महिला कलाकारों को साहित्यिक चेतना के धरातल पर जन्म दिया । इन महिला-कलाकारों में माँश्री भी एक है, जिन्होंने समाज की ठंडी धमनियों में जागरण और जागर्ति की तीव्र प्रेरणा उडेली । इनकी विधायक प्रतिभा ने न केवल रूढ़िग्रस्त और अन्धकार में जडीभूत नारी को एक नयी दिशा देकर उसे प्रवहमान किया बल्कि ह्रासोन्मुख समाज को ललकार कर नीति और आदर्श के मार्ग पर लगाया । माँश्री का साहित्य अन्य महिला लेखिकाओं जैसा नहीं है, उनका आदर्श नारी समाज को आगे बढाना और पातिव्रत की भावना को पुष्ट करना है । जहाँ अन्य लेखिकाएँ नारी को उच्छृंखल बनाना चाहती है, वहाँ माँश्री नारी को संयत और कर्तव्य-परायण । यहाँ यह सदा स्मरण रखना होगा कि माँश्री का साहित्य नारी को दब्बू या कायर नहीं बनाता, बल्कि सशक्त सामाजिक चेतना की जागृति कर जागरूकता की भावना उत्पन्न करता है ।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि युग की इस वेला में जब महिला साहित्य की स्वीकृत दीवारे गिर रही थी, विश्वास के आधार काँप रहे थे और नई शक्तियाँ चुनौती देकर अपना सिर उठा रही थी, उस समय भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत साहित्यिक धारा ही नारी-समाज को जीवन दान दे सकती थी । माँश्री ने युग की पुकार को सुना और महिला-साहित्य की दिशा को दूसरी ओर मोड दिया । अतः आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति महिला-हिन्दी-साहित्य का वह प्रथम युग है, जहाँ साहित्य और जीवन विभ्रान्त हो अनिश्चित दिशा में चक्कर मारनेवाली रेखाओं के समान समानान्तर रूप में दौड़ लगा रहे थे । नारी-जीवन और साहित्य के दो अलग पृथक् यंत्रों को फिर से जुटाकर एक विराट कनवास का निर्माण किया और उस पर यथार्थवादी सामाजिक जीवन की ऐसी रेखाएँ अंकित की जो अपने स्वभाव में अकथनीय तो हैं ही, अपनी शक्ति में भी अनन्यतम हैं ।

अब हमें माँश्री और उनके साहित्य के कुछ एक महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार कर लेना असंगत न होगा । माँश्री के साहित्य में नारी-समाज के नवोत्थान की भावना पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है ।

जहाँ उन्होंने गम्भीर विचारों का प्रतिपादन कर अपनी अनुभूति-शीलता का परिचय दिया है, वहाँ अपनी शैली को उपदेशात्मक बनाकर आबालवृद्ध के लिए आस्वाद्य बना दिया है । यही कारण है कि हम माँश्री को हिन्दी जैन महिला-साहित्य के नवोत्थान का इतिहास कह सकते हैं । साथ ही उन्हें एक सीमा-रेखा पर जन्म लेनेवाले साहित्यकारों में परिगणित किया जा सकता है ।

कहना नहीं होगा कि माँश्री के व्यक्तित्व की छाप इनके साहित्य पर अमिट रूप से पड़ी है । व्यक्ति की दृष्टि से आप अत्यन्त सरल, उदार और मधुरभाषिणी हैं । जीवन में कृत्रिमता और आडम्बर का नाम नहीं । हृदय बाल-हृदय की भाँति सरल और निश्छल है, पर इसके साथ ही वह एक विचारक की भाँति सरल और गम्भीर भी हैं । कभी वह बालकों की-सी बातें करती हैं और कभी एक चिन्तनशील व्यक्ति की भाँति ; यह इनके स्वभाव की विलक्षणता है । इनके व्यक्तित्व के इस पहलू ने इनको मधुर शैली और सरल अभिव्यञ्जना प्रदान की है । यह जो कुछ लिखती हैं, हृदय की स्वानुभूति चयन कर; और इसीलिये इनके गम्भीर निबन्धों, कहानियों में उपदेश, मिठास और गम्भीर विचारों की त्रिवेणी प्रवाहित होती है । इनके साहित्य में सहृदयता, सहानुभूति और करुणा की त्रिवेणी के साथ आदर्श के कगारों का समन्वय भी यथास्थान मिलेगा । नारीसुलभ कोमल भावनाओं में चचलता नहीं, सौम्यता और गम्भीरता है; फलतः इनके साहित्य का धरातल पर्याप्त उन्नत है ।

सबसे बड़ी बात है कि माँश्री का जीवन साधना का जीवन है । इन्होंने अपने आत्मिक आदर्शों के अनुकूल ही अपना जीवन बना लिया है । सामाजिक रूप से संचालन का अनवरत परिश्रम तथा आत्मिक रूप से साधना का पथ अनुसरण करना ही उनके जीवन का ध्येय है । उनकी अपनी एक विचारधारा है, जो उनके जीवन पर शासन करती है और इनके साहित्य पर भी । इसलिये वह अपने जीवन में, अपने साहित्य में पर्वत की भाँति अचल हैं । वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शान्त हैं । उनकी दार्शनिक विचारधारा उनके चिन्तन का परिणाम है । वह जीवन के प्रत्येक क्षण में कुछ न कुछ सोचती रहती हैं । उनके चिन्तन की स्पष्ट छाप उनके साहित्य पर देखी जाती है । इन सब कारणों से महिला साहित्यकारों में इनका साहित्यिक-व्यक्तित्व अपना एक पृथक् महत्व रखता है ।

इन्होंने जो कुछ लिखा नारी उत्थान की प्रेरणा से; इसी कारण उपदेशात्मक शैली का मन्थन इनकी रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होता है । यह जो कुछ कहना चाहती हैं, नपे-तुले शब्दों में कह देती हैं । इनका अपना एक अलग शब्दकोश है, जिसमें ऐसे शब्दों का अतलस्पर्शी सागर लहराता है, जो प्रत्येक भावव्यञ्जना के साथ मर्मस्थल को छूने की क्षमता रखते हैं । आचारात्मक और दार्शनिक निबंधों में गहन विचारों को जिस सरलता के साथ रखा गया है, वह प्रत्येक सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ।

अब तक आपके आठ-दस निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु मेरे समक्ष पाँच ही निबन्ध-संग्रह हैं, अतः मैं उपलब्ध निबन्ध-संग्रहों पर ही चर्चा करूँगा ।

माँश्री का सबसे पहला निबन्ध-संग्रह उपदेशरत्नमाला है । इसमें लगभग ३० निबन्ध हैं । यह दो भागों में विभक्त है:—प्रथम में शारीरिक, नैतिक और मानसिक विकास का आदर्श प्रस्तुत करनेवाले उपदेशात्मक निबन्ध और द्वितीय में दार्शनिक निबन्ध हैं । शारीरिक निबन्धों में दिनचर्या, भोजनशुद्धि, प्रातःकालीन क्रियाएँ, व्यायाम, वस्त्राभूषणों की सादगी, भक्ष्याभक्ष्य विचार आदि विषयों पर लिखे गये निबन्ध ज्ञानवर्द्धक होने के साथ सुन्दर और पुष्ट स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए अतीव उपयोगी हैं । कन्याओं को शिक्षा प्राप्त करने के ढंग को बतलाते हुए आपने लिपि-सुधार पर विशेष जोर दिया है, लिखा है—

"जो बालिका पुष्ट और स्पष्ट अक्षर लिखने का अभ्यास रखती है, वह निस्सन्देह सब किसी को सहज ही प्रसन्न कर सकती है । लोग कहा करते हैं कि जिसका दिल साफ है, जिसके मन में प्रेम और शान्ति है, जिसके हृदय में छल या दुष्टता नहीं है, वही सुन्दर-साफ अक्षर लिख सकता है ।" [१]

प्रथम विभाग कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा के लिए लिखा गया है, इस कारण इसमें पत्र लिखने की विधियाँ भी उदाहरण सहित लिखी गयी हैं ।

व्यायाम विषय पर लिखते हुए बतलाया है—"कसरत दो तरह से हो सकती है—पहली घर का काम-काज करने से और दूसरी गेंद, मुद्गर आदि के खेल-कूद करने से । हमारी भारतीय पुत्रियों के लिए पहली ही कसरत अधिक गुणकारी है । यह अपने कुल में बहुत दिनों से होती आयी है । अतः इसी पर अधिक ध्यान देना उचित है । इसमें एक पन्थ दो काज हैं । घर में माता-पिता का काम भी चलता रहेगा और परिश्रम करने से शरीर भी ठीक रहेगा ।......अमीर घरों की औरतें अधिक बीमार इसलिए पड़ती हैं कि वे दिन-रात बैठे-बैठे अपने शरीर के खून को ठंडा बनाती रहती हैं ।" [२]

द्वितीय विभाग में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के साथ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों पर भी सरल और आशुबोध ढंग से लिखा है । बन्ध तत्त्व को समझाती हुई आप लिखती हैं—

"जैसे किसी चीज के बने लड्डू में वातरोग नाश करने का स्वभाव है, तो किसी में पित्त को शमन करने का । इसी तरह कोई कर्मफल आत्मा की ज्ञानशक्ति को आच्छादित करता है, कोई उसमें मोहभाव उत्पन्न करता है, यह प्रकृति बन्ध का उदाहरण है ।

कोई लड्डू एक दिन, कोई दो, कोई चार और कोई सप्ताह में बिगड़ जाता है । इसी तरह आत्मा के साथ लगे हुए कर्म कोई कुछ दिनों में, कोई वर्षों में और कोई कुछ युगों में जीव को अपने स्वभावानुसार फल पहुँचा कर नष्ट हो जाते हैं । यह स्थिति बन्ध का उदाहरण है ।

१—उपदेश रत्नमाला पृ० ३३,

२—उपदेशरत्नमाला पृ० ३५–३६

स्वाद में जैसे कोई लड्डू फीका, कोई मीठा, कोई कड़वा होता है तथा कोई मालस्य, कोई नशा, कोई ज्यादा और कोई कम असर करनेवाला होता है, उसी प्रकार कर्मपिण्ड भी कोई मन्द, कोई तीव्र और कोई तीव्रतर शुभाशुभ फल देनेवाला होता है। यह अनुभाग बन्ध हुआ।

प्रदेश बन्ध को यों समझना कि कोई लड्डू एक तोले का, कोई एक छटाँक का और कोई पाव-भर का होता है, तद्वत् कोई कर्मपुञ्ज अल्प, कोई अधिक और कोई अत्यधिक परमाणुओं का बना होता है।" [1]

इससे स्पष्ट है कि आपके दार्शनिक निबन्धों की रचना-शैली बड़ी ही सरल और संयत है। पाठक मस्तिष्क पर बिना बोझ डाले ही भावों को सरलतापूर्वक हृदयंगम कर लेता है।

दूसरा निबन्धसंग्रह 'सौभाग्यरत्नमाला' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रौढ़ मस्तिष्क वाली बहनों के लिए लिखा गया है। इसमें कुल नौ निबन्ध हैं। सभी निबन्ध विचारात्मक हैं तथा महिला कर्तव्य की शिक्षा देते हैं। सबसे पहला निबन्ध 'सत्य' विषय पर लिखा गया है। शैली रोचक, स्पष्ट और गम्भीर है। सत्य जैसे दुरूह विषय को कितने सरल ढंग से समझाया है, यह निम्न उदारहरण से स्पष्ट है :—

"जिस प्रकार किसी एक अनेक पुष्पित वृक्षों से भरे वन में कोई बटोही जा पहुँचे तो गन्ध-रहित पुष्पवाले वृक्षों का परिचय करना उसके लिए कठिन होता है। प्रत्येक वृक्ष के समीप जाकर तथा एक-एक का निरीक्षण किये बिना पता नहीं लगा सकता, परन्तु उस बटोही को चमेली गुलाबादि, जो सुगन्धित पुष्प हैं, उनका परिचय बहुत दूर से ही हो जाता है, उनकी मधुर गन्ध उसको चिर-परिचित के समान अपना लेती है। उसी प्रकार सच्चे मनुष्य का विश्वास पृथ्वी पर इतना प्रभाव डाल देता है, कि गाँववाले, गली-मोहल्लेवाले, शहरवाले तथा देशी विदेशी सभी जन उस मनुष्य को आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं"। [2]

दूसरे 'आहार-विहार' शीर्षक निबन्ध में भोजन और रहन-सहन के विविध नियमों पर प्रकाश डाला है। विविध भोज्य वस्तुओं की मर्यादा, उनके उपयोग की विधि तथा ऋतु, प्रकृति और धर्म की अनुकूलता के अनुसार भोजन तैयार करने का सविस्तर विवेचन किया है। तीसरे 'जीवनोद्देश्य' निबन्ध में जीवन के अन्तरंग और बहिरंग उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। प्रायः मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित नहीं करते, जिससे निरुद्देश्य होने के कारण जीवन यों ही नष्ट हो जाता है। लक्ष्य-विहीन मनुष्य किसी भी स्थान पर नहीं पहुँच सकता है। जीवन का प्रधान उद्देश्य स्वस्वभाव रूप रत्नत्रय की प्राप्ति है और गौणरूप से अपने स्वार्थ का त्याग कर परसेवा करना है। जो व्यक्ति परो-

१—उपदेशरत्नमाला पृ० १११

२—सौभाग्यरत्नमाला पृ० ६—१०

पकार में अपने जीवन को लगा देता है, वह धन्य है। निष्काम कर्म करते हुए तन-मन-धन से समाज, परिवार, देश और राष्ट्र की सेवा करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।

चौथा निबन्ध 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक है। इसमें महिला-समाज की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की व्यवस्था, सदुपयोग, स्वरूप विश्लेषण आदि निरूपित है। नारियों के लिए शीलव्रत का आदर्श प्रतिपादित करते हुए सुयोग्य गुणवान् सन्तान उत्पन्न करने के निमित्त एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। पाँचवें 'सत्संगति' नामक निबन्ध में सत्संगति के लाभ और कुसंगति की बुराइयों पर प्रकाश डाला गया है। कुसंगति नाना बुराइयों का घर है। यदि मनुष्य को अच्छा बनना हो तो उत्तम व्यक्तियों का साथ करना चाहिए। जीवन में अधिकांश कुसंस्कार कुसंगति से ही उत्पन्न होते हैं।

छठा 'पातिव्रत' नामक निबन्ध है। इसमें पातिव्रत के स्वरूप, उपयोग, विशेषता आदि के प्रतिपादन के साथ अनेक पतिव्रताओं के उदाहरण देकर भारतीय नारी के लिए सुन्दर आदर्श बतलाया गया है। पातिव्रत पालने के लिए निम्न नियमों का व्यवहार करना आवश्यक है—

१—जिस दिन विवाह हो उसी दिन प्रतिज्ञा करना कि 'मैं आजन्म इस पतिदेव की ही दासी रहूँगी। कोई कैसा ही श्रेष्ठ मनुष्य क्यों न मिले इसमें विशेष किसीको न समझूँगी; कभी अपने पति को घृणा की दृष्टि से नहीं देखूँगी।'

२—विवाहित पति को अपना सर्वस्व समर्पण करना और अन्य पुरुष की स्वप्न में भी कामना न करना।

३—पति की आज्ञा का उल्लंघन न करना। सर्वदा स्नेहपूर्वक पति का स्वागत सत्कार करना और उसे पूज्य समझना।

४—पति के साथ कलह-विसंवाद न करना और सर्वदा उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करना। जैसे वृक्ष की छाया वृक्ष से पृथक् नहीं रहती, वैसे ही पति के जीवन से अपने जीवन को पृथक् न समझना।

५—केवल शारीरिक मिलन ही नहीं समझना, प्रत्युत आध्यात्मिक सम्मिलन भी। दो शरीर और एक प्राण के रूप में अनुभव करना।

सातवाँ निबन्ध 'एकता', आठवाँ 'शान्ति' और नौवाँ 'सच्चा सुख' शीर्षक हैं। इन निबन्धों में जीवन को सुख-शान्ति और आनन्दमय बनाने के नियमों का निरूपण किया गया है।

तीसरा निबन्ध संकलन "निबन्ध-रत्नमाला" नाम से मुद्रित हुआ है। इस संकलन में १८ निबन्ध हैं। सभी महिलापयोगी हैं; मानव-हृदय, पवित्रता, सद्ज्ञान, सद्व्यवहार, स्वावलम्बन निबन्ध

तो स्त्री, पुरुष दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं । इस संकलन में प्राचीन आदर्श महिलाएँ, कन्या महाविद्यालय, विधवाओं का कर्त्तव्य आदि निबन्ध नारी जीवन की दिशा बदलने में परम सहायक हैं । 'मानव-हृदय' शीर्षक निबन्ध में मानव-हृदय का विश्लेषण बडी कुशलता से किया है । मानस-शास्त्र के अनुसार हृदय की उन कमजोरियों का भी विवेचन किया गया है, जिनके कारण मानव व्यसनो का शिकार होता है; विषय-कषाय रूपी जाल में फँसकर सदा के लिए भक्त बन जाता है । यह निबन्ध संग्रह बड़ा उपयोगी है; उपदेशात्मक शैली में सभी निबन्ध लिखे गये हैं ।

'आदर्श निबन्ध' नामक चौथा निबन्ध संग्रह है । इसमें महिला प्रतिष्ठा, महिला सुधार, सन्तान-सुख, साहस और पर्दा, विधवाओं की रक्षा, उनका आदर, आत्मोन्नति, संयम, सादगी आदि विभिन्न विषयों पर लिखे गये ३० निबन्ध हैं । ये सभी निबन्ध शिक्षाप्रद और ज्ञानवर्द्धक हैं । शैली रोचक और संक्षिप्त है ।

'निबन्ध दर्पण' में लगभग ३०–३५ निबन्ध है । मितव्ययिता, नारी-जीवन, सन्तान-पालन, नारी-शिल्प, समय का सदुपयोग आदि निबन्ध बड़े उपयोगी हैं । ये जीवन को उन्नति की ओर ले जाते हैं । पराधीनता के बन्धन मे जकडी भारतीय ललना को किस प्रकार अपने अज्ञान को दूर कर अपना अभ्युत्थान करना चाहिए, नारी का अपने परिवार के प्रति क्या दायित्व है, सास, ससुर, देवर, जेठ, देवरानी, जिठानी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, आदि समस्याओं पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है । आये दिन जो बडे परिवारो में गृह-कलह देखा जाता है, वही तो पारिवारिक सुख को भस्म करने वाला है । अतः नारी को सहिष्णु बनना तथा त्यागी और सेवा भावी होना अत्यावश्यक है । अतः नारी-जीवन की सफलता अपना छोटा-सा परिवार बसाकर पति के साथ रहने में नहीं है, बल्कि घर के बुजुर्गों के साथ आनन्द और प्रेमपूर्वक रहने में है । 'नारी-जीवन' शीर्षक निबन्ध में जीवन की अनेक समस्याओं को सुलझाने का लेखिका ने प्रयास किया है । आजके युग में ये समस्याएँ सुशिक्षिता नारी के समक्ष भी ज्यों की त्यो वर्तमान हैं । अत· 'निबन्ध दर्पण' भाषा और शैली की दृष्टि से भले ही एम० ए०, बी० ए० की छात्राओं के लिए उपयोगी न हो, पर विचार और आदर्श भावनाओ की दृष्टि से यह निबन्ध संग्रह सभी प्रकार की महिलाओ के लिए उपयोगी है ।

"आदर्श कहानियाँ" यह मांश्री का कहानी-संग्रह है । इस संग्रह में हम उनके कलाविद्, कहानीकार के रूप के दर्शन करते हैं । इस संग्रह की कहानियों की कलामर्मज्ञता का आस्वादन करते ही बनता है । हिन्दी में उत्तम चरित्रमंडित एवं शिक्षाप्रद कथाओं का सर्वथा अभाव है । इस संग्रह की सभी कथाएँ अपने में किसी शिक्षाप्रद व्यक्तित्व और चरित्र को लपेटे हुए हैं । इसमें समाज का सफेद चित्रण हुआ है । समाज की गन्दी परम्पराओं में सड़नेवाली नारी की बहुमुखी उत्प्रेक्षा की एक लहर दौड़ती नजर आती है । जैसा कि भूमिका के पन्नों में स्वयं लेखिका डंके की चोट से कहती है—"जैन और जैनेतर समाज में गद्य-पद्यमय कुछ रचनाएँ देवियों द्वारा प्रकाशित हुई हैं; तथापि कथानकों की बड़ी कमी है । वर्तमान युग चरितात्मक युग है । इस समय चरित्र-चित्रण का प्रभाव मनुष्य पर

बड़ी गहराई से पड़ता है। प्रत्येक युवक और युवती का चित्र नाटकमय चरित्र के देखने, गायन सुनने और कथा-चरित्रों के पढ़ने में लगता है। परन्तु गन्दे और भद्दे उपन्यासो को पढ़कर लोग पथभ्रष्ट भी हो जाते हैं तथा लाभ के बदले हानि उठाते हैं। इसलिए समाज मे उत्तम चरित्रों और शिक्षा-प्रद कथाओं का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए। इसी दृष्टि से ये 'आदर्श कहानियाँ' प्रकाशित की जाती हैं। इसका प्रत्येक गल्प स्त्रियों की बुद्धिमत्ता, उनकी कार्यक्षमता, और उनके धैर्य को प्रकट करता है तथा सतीत्व और सेवा के भावो को जाग्रत करता है।" इस प्रकार इस संग्रह की कहानियों का उद्देश्य स्पष्ट है।

कहानियों के परिशीलन का विचार मन-मयूर को नचा डालता है। हाथमें पुस्तक आने पर समग्र पुस्तक पढ़े बिना मन नहीं मानता। प्रत्येक कहानी एक नये दृष्टिकोण से लिखी गयी है और प्रत्येक में एक नयी समस्या का समाधान है। नारी हृदय की करुणा, ममता, दृढ़ता, त्याग, सेवा, इन कहानियों में फूट पड़ी है। 'रोहिणी', त्रियोगिनी', 'पुर्नमिलन' आदि कहानियाँ समाज से एक नया समझौता करने को प्रस्तुत हैं। युग के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं उन पर माँश्री ने रंग फेरने की चेष्टा नहीं की है, बल्कि कवि चारणों के समान कडखों से उत्तेजित कर आदर्श द्वारा समाधान प्रस्तुत किया है। जीवन और चेतना को विषम खण्डो के बीच बिखेरा नहीं गया है, किन्तु सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए नयी प्रेरणा प्रदान की गयी है।

इस प्रकार माँश्री की साहित्यिक प्रतिभा को हम सर्वतोमुखी पाते हैं। आपने निबन्ध लिखे, कथाएँ लिखी, कविताएँ रचीं और नवीन पीढ़ी को अपने उपदेश द्वारा पाथेय प्रदान किया। अपने भावित और अनुभूत सत्य की परिधि न लाँघी और न अर्ध-परीक्षित या अपरीक्षित सिद्धान्त ही बटोर कर एकत्रित किये; किन्तु अनेक मनीषियो, तपस्वियों और आचार्यों द्वारा निगदित तथ्यों को "नवा नव घटे नीलम्" के समान रखा।

माखनराम जैन, न्यायतीर्थ



माँश्री-चन्दाबाईजी : एक सफल सम्पादिका

सब देश और सब काल में कुछ ऐसी नैसर्गिक विभूतियाँ विद्यमान रहती हैं, जो अपनी प्रखर दीप्ति से अशुभ का निवारण कर शुभ को प्रतिष्ठित करती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि प्राणीमात्र अपने जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग को सुगम बना लेता है; जो अन्यथा संभव नहीं था। विदुषीरत्न ब्रह्मचारिणी माँश्री पं० चन्दाबाईजी एक ऐसी ही विभूति हैं, जिनके व्यक्तित्व के प्रकाश से आज कितने नर-नारी आलोकित दिखलाई पड़ते हैं। माँश्री अपनी तपस्या और परोपकारिता के कारण व्यक्ति नहीं, बल्कि एक महती संस्था के रूप में आज शोभायमान है। जिस प्रकार के धनिक परिवार में आपका शुभ जन्म तथा परिणय हुआ उस प्रकार के सम्भ्रान्त कुल की ललनाओं की जीवन-धारा भोग और ऐश्वर्य, राग और विलास के उभय पुलिनों से प्रकाशित होती हुई काल के तप्त मरु में अपने को सदा के लिए विलीन कर देती हैं। किन्तु, अपवादस्वरूप माँश्री की जीवन-धारा एक विशिष्ट दिशा में प्रवाहित होने को थी, अतः नियति ने शैशव और तरुणाई को मोड़ पर वैधव्य का एक ऐसा क्रूर एवं भयावना बाँध बांधा कि संसार में रहते हुए भी सासारिकता आपको स्पर्श न कर सकी। जीवन के प्रभात में ही आपका परिचय स्वाध्याय, सेवा, त्याग, और तपस्या से हुआ। इन्हीं चिरपरिचितों के सहयोग से आपने इस अवनीतल पर अपनी एक अमरावती ही बसा ली है। ज्ञानार्जन और ज्ञानवितरण के क्षेत्र में आप द्वारा जितने प्रयास हुए हैं, उनका वर्णन करना शक्ति के बाहर की बात है। परन्तु फिर भी आपके जीवन के एक लघुतम अंश को लेकर कुछ प्रकाश डालने का आयास किया जायगा।

नारी के अभ्युत्थान के लिए आप आश्रम-संस्थापिका, संचालिका, उपदेशिका, अध्यापिका, व्याख्याता, सेविका तथा सफल सम्पादिका के रूप में उपस्थित होती हैं। आपके अनेक रूप हैं, जिसकी जैसी भावना होती है, वह आपको ठीक उसी रूप में देखता है। इस निबन्ध में आपके सम्पादिका जीवन पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा। संपादिका की जागरूकता, प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं पाण्डित्य आपमें कितने अंश में वर्तमान है, मैं यह दिखलाने की चेष्टा करूँगा।

माँश्री अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महिला परिषद् के तत्वावधान में, उस संस्था के मुखपत्र "जैन महिलादर्श" नामक महिलोपयोगी एक हिन्दी मासिक पत्रिका का सम्पादन सन् १९२२ से लेकर आज तक निरन्तर करती आ रही हैं। माँश्री के वरद स्कन्धों पर इस पत्रिका का संपादन भार कैसे चला आया इसकी भी एक कहानी है। सन् १९२२ ई० में अ० भा० जैन महिला-परिषद्

का ११ वाँ अधिवेशन लखनऊ में हुआ था। उस अधिवेशन में अन्य प्रस्तावों के अतिरिक्त एक प्रस्ताव था मासिक पत्र निकालने का, जिसका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है:—

"धार्मिक शिक्षा एवं वास्तविक विवेक के अभाव में वर्तमान जैन महिला समाज भौतिक पदार्थों के चकाचौंध में आकर अस्त-व्यस्त हो रहा है...........अतएव यह परिषद् प्रस्ताव करती है कि एक मासिक पत्रिका निकाल कर जैन नारियों में जैन-संस्कृति की भावनाएँ प्रस्फुटित की जायँ, जिससे जैन समाज अपने खोये हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर सके...........अतएव कुरीति उच्छेदन और धार्मिक एवं लौकिक ज्ञान की योजना के लिए 'जैन महिलादर्श' नामक मासिक पत्र निकाला जाय।"

प्रस्ताव का यह रूप जैसा कि आगे की पंक्तियों से विदित होता होगा, 'जैन महिलादर्श' के जीवन का दृढ़ संकल्प बन गया, जिससे पत्रिका सर्वदा नियत समय पर प्रकाशित होती रही। प्रस्ताव, अपने उद्देश्य की पवित्रता के कारण, सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, पर प्रश्न था कि इसका सम्पादन भार किसके बलशाली कन्धों पर डाला जाय! यदि कोई महिला-रत्न विदुषी थी तो उनमें हिन्दी की पर्याप्त योग्यता नहीं थी; और यदि किसी भी भाषा की योग्यता थी, तो उसमें वह विद्वता नहीं थी जो एक पत्र के सम्पादन और सचालन के लिए अपेक्षित थी। यह मणि-काचन योग यदि किसी में था तो वह माँश्री—ब्र० पं० चन्दाबाईजी में। अतएव इनके लाख ननु नच करने पर भी सम्पादन भार इन्हींको दे दिया गया। श्री ललिता बहन, मगन बहन और कंकू बहन ने जोरदार शब्दों में आपके सम्पादिका बनने के प्रस्ताव का समर्थन, अनमोदन किया। अतएव माँश्री को महिला समाज की आज्ञा स्वीकार करनी पड़ी।

सन् १९२१–२२ का समय एक तूफान का समय था। महात्मा गांधी असहयोग आन्दोलन की रणभेरी बजा चुके थे। समाज में अजब तहलका मचा था, देश में चारों ओर क्रान्ति की लहर उमड़ती दिखलाई पड रही थी। विदेशी सरकार के पाँव उखड़ने लगे थे, देश का प्रत्येक समझदार व्यक्ति असहयोग के लिए तैयार था। बडे-बडे समाज-सुधारक अपना सिंह गर्जन कर रहे थे। जान पड़ता था कि राजनैतिक और सामाजिक—परवशता की सभी शृंखलाएँ अभी तुरत टूटना चाहती हैं। एक ऐसे ही झंझापूर्ण मुहूर्त में 'जैन महिलादर्श' का जन्म हुआ। भारतीय नवजागरण के उषाकाल से ही 'जैन महिलादर्श' अन्य लोकोपकारी आन्दोलनों मे कधे-से-कंधा मिलाकर नारियों के नवोन्मेष के लिए सतत प्रयत्न करता आ रहा है, क्यों न हो, नारी-जागरण के बिना कोई आन्दोलन सफल होता भी कैसे? पर हाँ, उन दिनों कोई महिला पत्र निकालना हँसी-खेल नहीं था; 'कुँआ खोदना और तब प्यास बुझाने' जैसा काम था। 'जैन महिलादर्श' में केवल स्त्रियों के ही लेख प्रकाशित हो सकते थे; ऐसा नियम था। उन दिनों हिन्दी के स्वल्प प्रचार के कारण लेखक तो मिलते ही नहीं थे, लेखिकाओं का मिलना तो और भी दुर्लभ था। इन विषम परिस्थितियों में सम्पादन की कठिनाइयों का सहज ही अनुमान किया जा सकता हैं। स्व० प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी 'सरस्वती' का सम्पादन लगभग इसी समय और इन्हीं परिस्थितियों में आरम्भ किया था। उनके संबंध में कहा जाता है कि उनके संशोधन के पश्चात् लेख का कलेवर इतना परिवर्तित हो जाता था कि अपना कहने योग्य लेखक के नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं शेष रह जाता था। ठीक यही दशा पं० चंदाबाईजी की भी थी। उनकी कठिनाइयों की कहानी उन्हींके शब्दों में सुनिए—

"उस समय समाज में शिक्षित देवियाँ इनी-गिनी ही दिखलाई पड़ती थीं। जो शिक्षिता भी थीं, वे या तो लिखने का साहस ही नहीं करतीं अथवा अशुद्ध और अस्पष्ट लिखकर भेज देती थीं, जिससे सारा का सारा निबन्ध बदलना पड़ता था.........यद्यपि यह समय सम्पादिका की परीक्षा का था, लेकिन तो भी जैनधर्म के प्रसाद से आरम्भिक कठिनाइयाँ फूल बन गईं और 'आदर्श' दिनोदिन वृद्धिगत होने लगा।" ('आदर्श' के रजत-जयन्ती अंक के सम्पादकीय से)

आपकी एक दूसरी व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि पत्रिका का मुद्रण और प्रकाशन श्री मूलचन्द किसनदास कापड़िया द्वारा सूरत में होता आ रहा है। इससे आपको एक ही बार सामग्री को भलीभाँति सम्पादित कर भेज देना पड़ता है, जिसमें प्रकाशक को मुद्रण काल में फिर कुछ पूछताछ नहीं करनी पड़े। इससे आपकी सम्पादन-कुशलता का परिचय मिलता है।

युग-युग की पराधीनता के कारण भारतीय संस्कृति का लोप हो रहा था। स्त्रियों को मानवोचित स्थान प्राप्त नहीं था। समाज की दृष्टि में वे आदर का पात्र नहीं समझी जाती थीं। देखिए, 'राम चरित मानस' में गोस्वामी तुलसीदास क्या लिखते हैं:—

"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, मायारूपी नारि"
और भी
"सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता
मोह विपिन कहँ नारि बसंता"

इसलिए आपने अपने संपादकीय लेखों द्वारा नारियों में नव-चेतना फूंकने के लिए शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया। "महिला सुधार के तीन मंत्र" शीर्षक एक सम्पादकीय में आप लिखती हैं—"महिला-समाज के सुधार के तीन मूलमंत्र हैं:—शिक्षा, सदाचार और आत्मविश्वास।" शिक्षा की वर्तमान पद्धति से आप जरा भी संतुष्ट नहीं हैं। क्योंकि इसके द्वारा नारियों के सहज गुणों का विकास नहीं हो पाता। वर्तमान शिक्षा-पद्धति महिलोपयोगी तो होने से रही, उनका सामान्य स्तर जरा भी ऊपर नहीं उठा सकती। आप पूर्वोक्त सम्पादकीय में आगे लिखती हैं—"आज की शिक्षिता युवतियों की अवस्था देखकर तरस आता है, वे पच्चीस वर्ष की उम्र में ही बड़ी बूढ़ी जैसी मालूम पड़ने लगती हैं।......आज की शिक्षा में संयम का नामोनिशान भी नहीं है।.........असंयम और कुवासनाओं के झंझावात ने देश के युवक-युवतियों को खोखला बना दिया है।" वर्तमान पद्धति की कटु निन्दा करते हुए आप उसी सम्पादकीय में पुनः लिखती हैं—"आज की शिक्षा में पूत भावनाओं को उत्पन्न करने की उतनी शक्ति भी नहीं। फिर यह शिक्षा किस प्रकार उपयोगी कही जा सकती है।" अपना सुझाव पेश करती हुई आप लिखती हैं—"समाज में जितनी नई पाठशालाएँ खुल रही हैं उनमें नारी-शिक्षा का ऐसा प्रचार किया जाय जिससे नारी की सर्वाङ्गीण उन्नति हो सके.......घरेलू उद्योग धंधे, गृह-व्यवस्था, सन्तान-पालन, गृहशिल्प आदि की शिक्षा के साथ-साथ शारीरिक विकास के लिए समुचित शिक्षा का मिलना नितान्त आवश्यक है।" आपका यह सुझाव सर्वथा श्लाघनीय है; क्योंकि अन्ततोगत्वा

उसे स्त्रीत्व और मातृत्व का भार संभालना ही होगा। जो शिक्षा इस गुरुतर भार के संभालने में सहायक न हो वह शिक्षा किस काम की होगी?

शिक्षा के अतिरिक्त आपने भारतीय संस्कृति के आधार पर नारी-चरित्र के विकास पर अत्यधिक जोर दिया है; बल्कि यों कहा जाय कि आपने स्त्री-समाज में अपने सम्पादकीय लेखों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक नया आन्दोलन ही खड़ा कर दिया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन तीन वर्षों के अन्दर आपके द्वारा लिखे गए सम्पादकीय लेखों का एक पृथक् संग्रह कर दिया जाय तो वह अलग से दया, क्षमा, निरभिमानता, सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शील, पातिव्रत, ज्ञान-प्राप्ति, भ्रम-त्याग, सामाजिक कुरीतियाँ आदि विषयों पर गवेषणापूर्ण निबन्धों की एक सुन्दर निबन्धावली हो सकती है। पाठकों की कुतूहल-शान्ति के लिए उनकी अमृतमय वाणी के दो-एक उदाहरण उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर की पुण्य जयन्ती के अवसर पर विश्वबन्धुत्व और प्रेम पर लिखते हुए आप कहती हैं—

"सब जीवों की आत्मा में समान शक्ति है यह जीव ही अपने कर्मों के बल ऊँचा नीचा बनता रहता है। कर्म विनाश करने पर प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है अतः मिथ्या अहंकार के वश में आकर किसी भी प्राणी को कष्ट देने, अपमान एव तिरस्कार करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। यदि तुम सुख शांतिपूर्वक रहकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हो तो पवित्र प्रेम के बंधन में बंध जाओ।"

आज भारतीय-संयुक्त-परिवार-पद्धति नरक की भयानक झांकी बन रही है। आर्थिक कारणों के अतिरिक्त इसका एक प्रधान कारण है क्षमा का लोप और क्रोध और द्वेष का प्रसार; आप लिखती हैं—

"आज हमारे घरों में जो विरोध की भट्ठी सुलग रही है, इसका कारण भी तनिक सी बात पर उत्तेजित हो उठना ही है। क्योंकि आज हमारी बहनें अहंभाव के कारण किसी के कटु वचन नहीं सह सकतीं। वे एक कहने वाली सास, ननद को दस सुनाने को तैयार रहती हैं। भला सोचिए, यह विद्वेष सिर्फ क्रोध के ही कारण तो है, यदि क्षमा-भाव परिणामों में रहे तो फिर कुटुम्ब के कल्याण में जरा भी कमी नहीं रहे।"

यद्यपि जैन-सम्प्रदाय ने अहिंसा को अपने धर्म का प्राण माना है तथापि अहिंसा एक ऐसा सत्य है जिसको कोई देश और काल क्षण भर के लिए भी ठुकरा नहीं सकता। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के बीच कोई भेदक रेखा खींची ही नहीं। अहिंसा के सम्बन्ध में अपनी विराट् भावनाओं को व्यंजित करती हुई आप लिखती हैं:—

"केवल किसी को मारना ही हिंसा नहीं है, अपितु कुविचार भी हिंसा है; झूठ बोलना, उतावली करना, किसी से द्वेष करना, किसी का बुरा चाहना और संसार की आवश्यक वस्तुओं के ऊपर

अपना कब्जा करना हिंसा है। ....हम देखते हैं कि हमारी बहनें दूसरों की निन्दा अधिक किया करती हैं, क्या यह निन्दा हिंसा नहीं है ? अवश्य हिंसा है।.........जिन कार्यों से परिणाम विशुद्ध रहते हैं वे सब कार्य अहिंसामय हैं और जिन कार्यों से परिणाम अशुद्ध रहते हैं वे सब कार्य हिंसामय होते हैं।"

व्रत, देव-दर्शन आदि जैसे धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के बदले हमने इन्हें अपने सामाजिक पद-मर्यादा के प्रदर्शन का साधन बना लिया है। इस ओर बहनों का ध्यान आकृष्ट करते हुए आप लिखती हैं :—

"प्राय: देखा जाता है कि बहिनें सुन्दर से सुन्दर रेशमी साड़ियां पहनकर मन्दिरों में जाती हैं और वहाँ नाना प्रकार की घरेलू चर्चाएँ किया करती हैं। शास्त्र सुनने के बहाने वे भोजन और घरेलू व्यवस्था सम्बन्धी बातें ही किया करती हैं। तथा दिखावे के लिए रागवर्धक वस्त्राभूषणों को धारण कर अपना महत्व प्रकट करती हैं।........... आजकल दिखावे की प्रवृत्ति अधिक चल गई है, महिलाएँ दिखावे के लिए व्रत उपवास अधिक करती हैं, वे अपनी भावनाओं के ऊपर विचार नहीं करती हैं। व्रतों के दिनों में ब्रह्मचर्य का पालन करना तो अत्यावश्यक है। जब तक वासनाओं को नहीं जीता जायगा, आत्मा का विकास नहीं हो सकता।"

स्त्रियाँ अबला के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा माना जाता आ रहा है कि वे अपनी रक्षा करने के निमित्त सर्वथा अनुपयुक्त हैं तथा उनकी रक्षा का भार पुरुष-वर्ग के स्कन्धों पर रहता आ रहा है। यह विचार-परम्परा स्त्री-समाज की अधोगति के लिए कम जिम्मेवार नहीं है। देश-विभाजन का प्रश्न लेकर पाकिस्तान में स्त्रियों पर जो अमानुषिक अत्याचार हुए उससे इस विचार-परम्परा की जड़ हिल गई। इस दुर्घटना का उल्लेख करते हुए आपने निम्नलिखित शब्दों में स्त्रियों की आत्म-रक्षा पर जोर दिया है :—

"पाकिस्तान में होनेवाले अत्याचारों को सुनकर आँखों में खून उतर आता है; प्रतिशोध की भावना जागृत हो जाती है, किन्तु विवेक और संयम आकर शांत रहने की प्रेरणा करते हैं।...... हमें इस सम्बन्ध में विशेष नहीं कहना है, हम सिर्फ महिलाओं को जागृत करना चाहती हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि पाकिस्तान में नारी जाति के ऊपर जो अमानुषिक अत्याचार हुए हैं, उनसे भारत की नारियाँ कुछ सीखें। अबतक हम नारी को अपनी रक्षा के लिए पति, कुटुम्ब, पुत्र, सरकार आदि का भरोसा था, पर आज इस युग में नारी की रक्षा कोई नहीं कर सकता है, नारी को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। इसके लिए महिलाओं में निर्भयता की भावना आनी आवश्यक है। शीलव्रत पर दृढ़ आस्था भी होनी चाहिए। भीरुता और कायरता को छोड़ना होगा।"

पुरुषार्थ चतुष्टय (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) की सिद्धि के लिए वैवाहिक जीवन एक आवश्यक वस्तु है। पर आज वैवाहिक प्रश्न जटिल से जटिलतर हुए जाते हैं। भिन्न आदर्श, भिन्न दृष्टि-कोण और भिन्न स्वार्थ वैवाहिक जीवन को निरानन्द बनाते चले आ रहे हैं। विवाह जिस पुनीत आदर्श

पर आधारित होकर सुख का देनेवाला था वह आज दुरादर्श पर आधारित हो दुःख का कारण बन रहा है। इन प्रश्नों पर आपके निम्नलिखित विचार कितने विशद और सुलझे हुए हैं :—

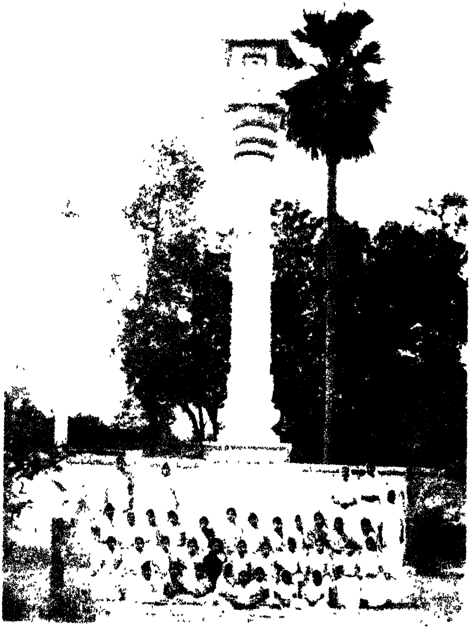
"यद्यपि हमारी भारतीय संस्कृति में विवाह प्रथा को अत्यन्त आवश्यक माना गया है, इसे केवल दो शरीरों का बन्धन नही माना है, किन्तु जीवन भर के लिए दो आत्माओं का सम्मिलन माना है।" वर्तमान व्यवस्था की आलोचना करते हुए आप लिखती है, "पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से अब नारियाँ भी अपना जीवन-साथी स्वयं ढूँढ़ती हैं तथा कालेज में अध्ययन के साथ ही उनका प्रणय-बन्धन आरम्भ हो जाता है। कहीं तो इन प्रणय-बन्धनों के बड़े भयंकर परिणाम देखे गए हैं।" अपने कथन की पुष्टि में आपने सन् १९४७ की रिपोर्ट का हवाला दिया है जिसके अनुसार उस वर्ष विलायत में ४ लाख विवाह तथा पचास हजार तलाक हुए अर्थात् विवाह करनेवालों से आठवाँ भाग उन लोगों का था जिनके विवाह के मधुर स्वप्न टूट चुके थे।

हिन्दू कोडबिल के सिलसिले में आज तलाक के औचित्य किम्वा अनौचित्य की अधिक चर्चा हो रही है। आप लिखती है.—"विदेशी महिलाओं में तलाक के जितने केश है उनमें प्रायः सभी में या तो नारी को दुराचारिणी होने से पुरुष तलाक देता है या पुरुष के दुराचारी होने से नारी तलाक देती है। जहाँ सदाचार, नैतिकता है वहाँ तलाक का सवाल ही नहीं उठता। भले ही कुछ नारियाँ बहकावे में आकर तलाक का समर्थन करे, किन्तु उन्हें इसके द्वारा सुख नहीं हो सकता।"

स्त्री-जगत् में समानाधिकार की माँग का आन्दोलन दिनोदिन जोर पकड़ रहा है। कतिपय स्वयंभू महिला नेताओं ने यह आवाज बुलन्द की है कि पुरुषों की भाँति महिलाओं को भी समान रूप से सामाजिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। प्राचीन लोकोपयोगी आदर्शों की अनुयायिनी होने के नाते आपको समानाधिकार की माँग समीचीन नही जान पड़ती। इस सम्बन्ध में आपकी निम्निलिखित उक्तियाँ हैं:—

"समाज-निर्माण में स्त्री और पुरुष इन दोनो की पृथक् २ सत्ता नहीं है, दोनों की शक्तियाँ संगठित और समन्वित होकर प्रगतिशील समाज का निर्माण करती हैं। महिला वर्ग की ओर से समानाधिकार की माँग न होकर यह होनी चाहिए कि उनके समान पुरुष भी जीवनव्यापी बन्धन के प्रति वफादार बनें, संयुक्त जीवन-यापन करे, विवाहित जीवन के दायित्व को कुशलतापूर्वक अपनाएँ। एक स्त्री की मृत्यु के बाद दूसरी शादी न करें और आजन्म उसीके प्रेम में तल्लीन रहें, अन्य को प्रेमार्पण न करें।

बहनें समानाधिकार प्राप्त भी कर लें तोभी वे अपने जीवन को सत्य और अहिंसामय नहीं बना सकतीं, क्योंकि अधिकार और शक्ति शरीर से सम्बद्ध है, आत्मा या हृदय से नहीं। हृदय पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेममय, निष्कपट, सदाचारयुक्त जीवन की आवश्यकता है। इसीसे जीवन का नैतिक विकास होता है और समाज शक्तिशाली बनता है। अतएव बहनों को सर्वप्रथम अपने जीवन को सत्य और अहिंसा की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उनके समस्त अधिकार उन्हें प्राप्त हो जायँगे।"



साध्वी द्वारा निर्मित मानस्तम्भ, आरा



चैत्रवदी ५ सं० २००६ में श्री ब्र० प० चन्दाबाईजी द्वारा प्रतिष्ठित मानस्तम्भ का प्रतिष्ठाकालीन चित्र

भ्रम, अन्धविश्वास और कुरीतियों को तो आप फूटी आँखों भी नहीं देखना चाहतीं । आपने अपने अनेक सम्पादकीय लेखों में इनके मूलोच्छेद के लिए अपनी उक्ति रूपी तीक्ष्ण बाणों का अचूक प्रहार किया है । एक उदाहरण देखिए—

"हम प्रायः देखती है कि बहनें बच्चो के पालन एवं अन्य दुःख विपत्ति के समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की मनौतियाँ मनाती हैं; वे कहा करती हैं कि अब की बार बबुआ अच्छा हो गया तो भगवान् महावीर को छत्र चढ़ायेंगे । क्या यह सम्यक्त्व है ?

कुछ बहनें बच्चों को इस मिथ्या कल्पना के वश बाहर नहीं निकालती हैं कि उसे नजर लग जायगी या भूत प्रेत की बाधा सतायेगी । यह कल्पना भी सम्यक्त्व का बाधक है । क्योंकि जो कर्मों का फल मिलनेवाला है, उसे कोई नही रोक सकता । इसके लिए मिथ्या कल्पना को मान बैठना सिवाय मूर्खता के और क्या हो सकता है ?"

पूर्वोक्त कुरीतियों के अतिरिक्त स्त्रियों में फैशन का मोह भी एक भयानक कुरीति है । आज के औद्योगिक युग में फैशन का रोग और अधिक बढ़ता जाता है क्योंकि बड़े-बड़े लक्षाधीश व्यवसायी विलास की सामग्री प्रस्तुत करने में अहर्निश जुटे रहते हैं । सहज शृंगारप्रिय भोली नारियों को फैशन के मोह-पाश में आबद्ध करने के लिए वर्तमान युग की विज्ञापन-कला जादू का काम करती है । इस मोह-पाश से मुक्त होने के लिए ब्रह्मचारिणी सम्पादिका की उपदेशमयी अमृतवाणी का रसपान कीजिए :—

"आज नारी की अनेक समस्याओं में फैशन की भी एक समस्या है । आज नई-नई डिजाइन के फैशनेबुल गहने, वस्त्र एवं अन्य भोगोपभोग की सामग्री की मांग नारी समाज की रहती है । .... यदि पति महाशय की आमदनी कम हो या और किसी कारण से वह उनकी फरमायशों को पूरा न कर सके तो गृहस्थी का सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है ।

सौन्दर्य को हम बुरा नहीं मानतीं । किन्तु सौन्दर्य की प्राप्ति फैशन से नहीं हो सकती । अधिकांश रोग भी इसी फैशन से जन्म ग्रहण करते हैं । अतएव नारियों को फैशन का व्यामोह अवश्य छोड़ देना चाहिए, इससे धन और स्वास्थ्य दोनों की रक्षा होगी ।"

फैशन से आपका विरोध है, पर सौन्दर्य से नहीं । आप चाहती हैं कि ललनाएँ बहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकार की अकृत्रिम सुन्दरता से अपनी शोभा बढ़ायें जिससे उनके देश और समाज की शोभा बढ़े । उन्हींके शब्दों में—

"सुन्दरता बाह्य साधनों से प्राप्त नहीं की जा सकती है, इसके लिए तो पहले हृदय को स्वच्छ करना होता है । यद्यपि सुन्दर आकृति, गौर वर्ण, स्वस्थ शरीर, प्रभावशाली मुखकमल और सुडौल अंग-प्रत्यंग बाह्य सुन्दरता के सूचक माने गए हैं, किन्तु यह बाह्य सुन्दरता अन्तरंग सुन्दरता के बिना कभी भी शोभा नहीं प्राप्त कर सकती है । नारी का बहिरंग जितना सुन्दर हो अन्तरंग भी उतना ही सुन्दर

होना चाहिए। ....प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग करने से सौन्दर्य की वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा सौन्दर्य की बड़ी भारी वृद्धि की जा सकती है।

ऊपर के बहुसंख्यक उद्धरणों से यह विदित हो चुका है नारी-जगत् की समस्याओं तथा उनके समाधान के लिए वे कितना सचेष्ट हैं। स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला शायद ही कोई प्रश्न होगा जिस पर आपकी लेखनी मौन हो। आपके सम्पादकीय के अतिरिक्त इस आदर्श पत्रिका में ज्ञान-संवर्धक तथा रुचिकारक पाठ्य सामग्री की बहुलता रहती है। सद्भावनाओं के उद्रेक के लिए इसमें सुंदर कहानी और कविताएँ प्रकाशित होती हैं। समूची पत्रिका में कहीं भी वासना का पुट नहीं मिलेगा। सम्पादिका ने स्वयं स्त्रीरत्न राजुल की कहानी लिखकर एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। इस पत्रिका की एक यह भी विशेषता है कि किसी विवादग्रस्त स्त्री-संबंधी विषय पर लेखों को आमंत्रित करती है और सर्वश्रेष्ठ रचना पर पुरस्कार देती है। फलतः लेखिकाओं में परिश्रम करके लिखने की भावना जाग्रत होती है और पाठिकाओं को भी ठोस सामग्री मिल जाती हैं। सम्पादिका इन विवादग्रस्त विषयों पर उभय पक्ष के गुण दोषों पर प्रकाश डालती हैं एवं दोनों पक्षों के सारभूत गुणों को सामने रखकर कल्याण का मार्ग दिखाती हैं। 'नारी तितली बने या मधुमक्खी' इन्हीं विषयों में से एक है। कुछ लेखिकाएँ तितली के और कुछ मधुमक्खी के पक्ष में थीं। उभय पक्ष के विवादों को पढ़ चुकने पर आप अपना निम्नलिखित निर्णय देती हैं—

"केवल भौतिक उन्नति का नाम उन्नति नहीं है, किन्तु आत्मिक गुणों की उन्नति का नाम उन्नति है। अतः जिन बहनों ने भौतिकवाद को मद्दे नजर रखकर नारी को तितली बनने के लिए जोर दिया है, ठीक नहीं है क्योंकि तितली नारी से समाज का विकास नहीं हो सकता है तथा जो बहनें मधुमक्खी रूपी नारी को समाज की सहायिका समझती हैं, वह सोलह आना सत्य नही हैं, क्योंकि मधु-मक्खी के समान गन्दी नारी समाजोत्थान कदापि नहीं कर सकती, तथा उसका जहरीली होना भी समाज को हितकर नहीं होता। अतएव नारी को दोनों से कुछ गुण संचित कर एक तृतीय रूप बनाने की आवश्यकता है।"

इन पठनीय सामग्रियों के अतिरिक्त पत्रिका में समय समय पर घरेलू चिकित्सा के नुस्खे तथा स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थ बनाने की विधियाँ प्रकाशित होती रहती हैं जो स्त्री-समाज में इसकी उपयोगिता को और भी बढ़ा देती हैं।

आज कितने महिला-पत्र प्रकाशित हो रहे हैं और वे अपने-अपने दृष्टिकोण से समाज-सेवा में संलग्न हैं। पर उन सभी पत्रों में 'जैन महिलादर्श' का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके तीस वर्षों का दीर्घ और यशस्वी जीवन ही यह स्पष्ट बतला रहा है कि न केवल जैन-समाज, बल्कि समूचा हिन्दी संसार इसकी सेवाओं का कायल है; नहीं तो यह कब का बंद हो चुका होता। सौभाग्यवश पत्रिका के जन्मकाल से आज तक आप ही इसका संपादन कर रही हैं। इस पत्रिका के साथ आपका कोई व्यावसायिक संबंध नहीं, विशुद्ध नैतिक संबंध है और सेवा के भाव से प्रेरित होकर ही आप इस भार का वहन करती हैं। सम्पादकीय लेखों में कुछ आदर्श की बातें कर आप अपनी इतिकर्तव्यता मान

लेनेवाली विदुषी नहीं हैं, वरन् आप अपने अन्तर्जगत की भावनाओं को बहिर्जगत में फलीभूत देखने के लिए निरन्तर यत्न करती हैं। इसीलिए आप अपने आदर्शों के अनुकूल एक शिक्षण संस्था भी संचालित करती हैं जहाँ कुमारी, विधवा हर प्रकार की नारियाँ अपने जीवन को सुखमय बनाने की चेष्टा करती हैं। सम्पादन के अतिरिक्त आपने कुछ उत्तमोत्तम ग्रन्थों का प्रणयन भी किया है जिनमें से 'ऐतिहासिक स्त्रियाँ', 'महिलाओं का चक्रवर्तित्व', 'उपदेश रत्नमाला', 'सौभाग्य रत्नमाला', 'आदर्श निबन्ध', 'आदर्श कहानियाँ', 'निबन्ध रत्नमाला' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस महिलारत्न की प्रशंसा में माननीया राजकुमारी अमृत कौर ने एक बार लिखा था—"मैं पण्डिता जी के निःस्वार्थ एवं उत्कृष्ट कार्य में महती सफलता की कामना करती हूँ। काश, पण्डिता जी सरीखी भारतीय महिला के कुछ काल के खोये प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने के लिए और महिलाएँ होतीं!"

इन शब्दों के साथ यह अकिञ्चन विदुषीरत्न, महिला शिरोमणि, ब्रह्मचारिणी, पण्डिता माँश्री-चन्दाबाईजी का सादर अभिनन्दन करता है। हार्दिक शुभकामना यह है कि आपकी कल्याणकारिणी लेखनी सुदीर्घ काल तक ज्ञान-गंगा प्रवाहित करती रहे, जिसमें निमज्जन कर मानव जाति अपने क्लेश-कर्म का क्षय और गुणों का विकास कर सके। देश में आपकी ज्ञानधारा सर्वत्र व्याप्त हो और आप दीर्घायु होकर साहित्य के लिए अमूल्य रत्न प्रदान करती रहें।

—रामबालक प्रसाद, साहित्यरत्न, बी० ए०

सचिवालय, पटना।



माँश्री की कला-प्रियता

आत्मा की सुकोमल, मंजु, मृदुल, और मनोज्ञ नैतिक साधन-श्रृंखला कला कहलाती है। मानव-शिशु जिस क्षण आँखें खोलता है, उसी क्षण से बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप अलक्ष्य रूप से उसके कल्पनाशील मन पर पड़ने लगती है। विश्व का ऐसा एक भी परमाणु नहीं है, जो उस पर अपना प्रभाव बिना डाले रहता हो; किन्तु विशेषता संस्कार ग्रहण करनेवाले की होती है। इस ग्रहीत संस्कार को मानव अपने तक ही सीमित नही रखना चाहता, बल्कि अन्य पर भी अभिव्यक्त करने के लिए अनिवार्य-सा हो जाता है। अथवा यों समझिये कि मानव के हृदय और मस्तिष्क की रचना ही कुछ ऐसी है, जिससे संस्कार का वातावरण उसे प्रभावित करता है। जिस प्रकार चंचल पवन जलराशि पर अपना प्रभाव अंकित करता है या मयूख-राशियाँ जैसे शिलाखण्डों पर अपना शीतोष्ण गुण अंकित करती हैं, इसी प्रकार मानव मस्तिष्क में जड़-चेतन पदार्थों के चित्र अंकित होते रहते हैं। परन्तु मनुष्य की आत्मा में नैसर्गिक प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रों को अभिव्यक्त करे। अभिव्यञ्जना की यही प्रणाली कला है।

कला आनन्दस्वरूप है, सत्यं-शिवं-सुन्दरं है और है आत्मा का भोजन। कला जन्य आनन्द का पान किये बिना असत् से सत् की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर और विनश्वर से अविनश्वर की ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि प्रत्येक संस्कृति का जन्म, संवर्द्धन और पोषण कला के द्वारा ही होता है। कोई भी कलाकृति आत्मा के आवरण को भंग कर स्वस्वरूप का रसास्वादन कराने की क्षमता रखती है। इसी बात को काव्य प्रकाशकार ने बतलाया है—"सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्" अतएव यह निर्विवाद है कि कला का चरम उद्देश्य उपयोगिता के साथ आत्मानुभूति को प्राप्त करना है।

कला एक ऐसा रमणीय पदार्थ है, जिसके प्रति धनी-निर्धन, मूर्ख-विद्वान् एवं शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी का आकृष्ट होना सभव है; परन्तु जिन व्यक्तियों में भावना और विचार की प्रधानता होती है, जो आत्मानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, भेदानुभूति द्वारा पर पदार्थों से अपने भिन्नत्व का अनुभव करना चाहते हैं ऐसे व्यक्ति निश्चयतः कलाकार अथवा कलाप्रिय होते हैं। माँश्री तपस्विनी, साधक और आत्मानन्द का पान करनेवाली हैं, अतएव वह स्वयं कलाकार होने के साथ कलाप्रिय हैं। उनका सिद्धांत है कि अपने हाथों द्वारा निर्मित वस्तु में जो आनन्द, जो रस और जो तृप्ति होती है, वह दूसरों द्वारा निर्मित वस्तु में कभी नहीं आ सकती। मनुष्य की यही प्रवृत्ति उसे कलाकार बनाती है। जीवित रहना

भी एक कला है, जो स्वयं अपने हाथों द्वारा परिश्रम नहीं करते हैं, जिनके जीवन में नियम और क्रमबद्धता नहीं हैं; वे किसी प्रकार जीवन के बोझ को ढोते हैं पर जीवित रहने की कला नहीं जानते। अतएव मानव ने श्रम के मार्ग द्वारा ही कला को पाया है।

आत्मा का मूलस्वभाव आनन्दमय है; इस सच्चिदानन्द, अखण्ड, अकम्प, स्थिर आत्म-तत्त्व की अनुभूति कलाकृतियों द्वारा ही हो सकती है। जो व्यक्ति अज्ञान रोग का निवारण करना चाहता है, निर्दोष आनन्द प्राप्त करना चाहता है, उसे कला का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। सच्ची कला आत्म-सौन्दर्य की अनुभूति करानेवाली होती है तथा यह आत्मानुभूति भी लोकातीत, अभिनव, अतीन्द्रिय और सूक्ष्म होती है।

माँश्री उक्त सिद्धान्त के अनुसार आत्म-रसज्ञ होने के कारण ललित कलाओं की स्वयं प्रणेता हैं तथा इन कलाओं से अतिशय प्रेम भी रखती हैं। सांस्कृतिक महत्ता और गौरव-गरिमा की रक्षा के लिए आपके तत्त्वावधान में निर्मित अनेक कलाकृतियाँ आपकी कलाप्रियता का ज्वलन्त निदर्शन हैं।

अभिव्यञ्जना की दृष्टि से माँश्री की कलाप्रियता को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—स्थितकला (The Static mood of art) और गतिशील कला (The dynamic mood of art)। प्रथम में क्रम और औचित्य की प्रधानता तथा द्वितीय में गति, आरोहावरोह एवं भावव्यंजना की प्रधानता रहती है। स्थित कला के वास्तु, मूर्त्ति और चित्र ये तीन भेद एवं गतिशील कला के संगीत और काव्य ये दो भेद हैं।

वास्तुकला—लोहा, पत्थर, लकड़ी और ईंट आदि स्थूल पदार्थों के सहारे अमूर्त्तिक भावों के सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना इस कला में की जाती है। माँश्री ने सुन्दर जिनमन्दिर बनवाकर अपनी इस कलाप्रियता का परिचय दिया है। आपने राजगृह के द्वितीय पर्वत रत्नगिरि पर एक विशाल और रम्य जिनालय का निर्माण कराया है। यह जिनालय कला की दृष्टि से अद्वितीय है। प्रतिष्ठासारसंग्रह में जिनालय-निर्माण के स्थानों का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है—

> जन्म-निष्क्रमण-स्थान-ज्ञान-निर्वाण-भूमिषु ।
> अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च ॥
> ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्र-पुलिनेषु च ।
> अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमन्दिरम् ॥

इस श्लोक में निर्दिष्ट जिनालय निर्माण के स्थानों में ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक स्थानों में मन्दिर बनवाने का महत्त्व मेरी समझ से और भी अधिक है। रत्नगिरि पर्वत को निर्वाणभूमि माना गया है तथा विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर स्वामी का प्रथम समवशरण आने के कारण राजगृह के पाँचों ही पहाड़ों की महत्ता और पवित्रता जैनागम में वर्णित है। इसी कारण माँश्री ने मुनि सुव्रतनाथ की जन्मभूमि में जिनालय-निर्माण के लिए राजगृह स्थान को ही चुना और

अपनी भव्य भावनाओं का प्रतिफलन उक्त जिनालय में कराया। जिस उन्नत पहाड़ी भूमि पर यह जिनालय स्थित है, वह स्थान इतना पवित्र और रम्य है कि यहाँ पहुँचते ही मन पूत भावों से भर जाता है। पाप रज उड़ जाती है, इतनी प्रसन्नता और आनन्द आता है जिससे साधक एक क्षण के लिए सब कुछ भूल कर आत्मानन्द सरोवर में डुबकियाँ लगाने लगता है। सचमुच में जिनालय निर्माण के लिए इतनी सुन्दर रमणीक भूमि का निर्वाचन करना माँश्री की कलामर्मज्ञता का जाज्वल्यमान निदर्शन है।

माँश्री ने इस मन्दिर में जैनागमानुसार कलश, मिहराब, जालियाँ, झरोखे आदि बनवाये हैं, जिससे उनकी स्थापत्यकलाभिज्ञता का पता सहज में ही लग जाता है। आपको ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, सुपक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजय इन सोलह प्रकार के प्रासादों की पूर्ण जानकारी है। समय-समय पर इन प्रासादो की निर्माणशैली का व्याख्यान आपके द्वारा सुना गया है। आपके राजगृह में निर्मित मुनि सुव्रतनाथ जिनालय में प्रतिष्ठा-पाठोक्त निर्माण-विधि का पालन मिलता है। चैत्यालय निर्माण के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने बतलाया है—

सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो तन्मुखे ।
कुर्यात्कीर्तिमुखं त्रिशूलसहितं घण्टादिभिर्भूषितम् ।।
तत्पार्श्वे भवनस्य हस्तयमलं पंचाङ्गुलीसंयुतम् ।
केतुस्वर्णघटोज्ज्वलञ्च शिखरं केत्वाय निर्मापितम् ।।

माँश्री द्वारा निर्मित मानस्तम्भ तो भास्कर्य कला के चरम गौरव और परम सौन्दर्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कला की दृष्टि से ऐसा सुन्दर मानस्तम्भ अब तक इन पंक्तियों के लेखक के देखने में नहीं आया है। इस स्तम्भ के निकट पहुँचते ही वस्तुत: मान गल जाता है, आत्मा निर्मल निकलने लगती है। अशान्त से अशान्त व्यक्ति भी इस दुग्ध से अभिषिक्त धवल, संगमरमर के मानस्तम्भ के दर्शन मात्र से शान्ति प्राप्त कर सकता है। यह श्री जैन-बालाविश्राम आरा के बाहुबली स्वामी के मन्दिर के सामने अपनी दिव्यता और भव्यता से जनमन को अनुरंजित करता है। इस स्तम्भ पर चित्रित अनेक चित्र एवं नक्कासी, जो घंटा , शृंखला आदि के रूप में की गयी है, प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति प्रदान करती है।

बालाविश्राम का विशाल भवन भी माँश्री की भास्कर्यकलाभिज्ञता का परिचायक है। यहाँ विद्यालय-भवन, छात्रावास, विश्रान्ति-भवन, कार्यालय-भवन आदि प्रासाद इतने कलापूर्ण ढंग से निर्मित किये गये हैं, जिससे दर्शक की आँखों को परम तृप्ति होती है। प्रवेश द्वार पर झूमती माधवी लताएँ बरबस ही दर्शक के मन को उलझा लेती हैं। विद्यालय-भवन के ऊपर निर्मित जिनालय की संगमरमर की सुन्दर परिक्रमा, जो बगीचा काट कर बनायी गयी है, अपनी रमणीयता से दर्शकों को लुभाये बिना नहीं रह सकती। इस परिक्रमा स्थान पर पड़नेवाली प्रात:कालीन ऊषा की लालिमा अपनी आभा द्वारा अद्भुत छटा विकीर्ण करती है। उद्यान से छनकर आनेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु दर्शक के मन को पवित्र कर देती है। निश्चयत: इस परिक्रमा-स्थान के बनवाने में स्थापत्यकला का प्रयोग किया गया है। यहाँ प्रकृति का समस्त सौन्दर्य एक ही स्थान पर पुञ्जीभूत किया गया है। इस प्रकार

मांश्री वास्तुकला की मर्मज्ञा हैं तथा अपनी इसी कलाप्रियता के कारण मन्दिर, मानस्तम्भ और अन्य भवनों को जैन संस्कृति के अनुकूल ही बनवाया है ।

मूर्तिकला—वास्तुकला जिस अभ्यन्तरिक आत्मा की ओर संकेत करती है, मूर्तिकला उसीको प्रकाशित करती है । मूर्तिकला में आभ्यान्तरिक आत्मा और बाहरी साधनों में समन्वय रहता है । अतएव सफल मूर्तिकला में आध्यात्मिक और शारीरिक सौन्दर्य की समन्वित अभिव्यञ्जना की जाती है । मानव स्वभावतः अमूर्तिक गुणों के स्तवन से सन्तोष नहीं करता, उसका भावुक हृदय एक साकार आधार चाहता है, जिसके समक्ष वह अपने भीतर की बात को कह सके और जिसके गुणों को अपने जीवन में उतार कर सन्तोष प्राप्त कर सके । मांश्री ने आत्मिक गुणों के चिन्तन के लिए तीर्थंकरों की सुन्दर, सुभग और दिव्य मूर्तियाँ स्थापित की हैं । उनके द्वारा स्थापित सभी मूर्तियाँ आगम के अनुसार हैं । आगम में बतलाया गया है—

शान्त-प्रसन्न-मध्यस्थ-नासाग्रस्थाविकारदृक् ।
सम्पूर्णभावरूपानुविद्धांगं लक्षणान्वितम् ।।
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुक् ।
निर्माप्य विधिना पीठे जिनबिम्बं निवेशयत् ।।

अर्थात्—शान्त, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्र अविकारी दृष्टिवाली, अनुपमवर्ण, वीतरागी, शुभलक्षण सहित रौद्र आदि बारह दोषों से रहित, अशोक वृक्ष आदि अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त और दोनों तरफ यक्ष-यक्षिणियों से सहित जिन प्रतिमा को विधिपूर्वक सिंहासन पर विराजमान करना चाहिये । मूर्ति में वीतराग दृष्टि, सौम्य आकृति और निश्चलता अवश्य रहनी चाहिये ।

मांश्री की प्रेरणा से श्रीमती नेमसुन्दर देवीजी ने श्रीजैन-बालाविश्राम आरा में दक्षिणभारत के श्रवणबेलगोलस्थ बाहुबली स्वामी की मूर्ति की प्रतिलिपि कराके १४ फुट ऊँची कृत्रिम पर्वत पर एक विशाल और दिव्य गोम्मट स्वामी की मूर्ति स्थापित करायी है । यह मूर्ति संगमरमर की है तथा आकार-प्रकार में श्रवणबेलगोल के गोम्मट स्वामी जैसी ही है । इस खड्गासन प्रतिमा में आजानु बाहुओं का लटकना कृतकृत्य, संसार के गोरख-धन्धे से रहित, मानसिक और शारीरिक संघर्ष को छिन्न करने में संलग्न, प्रकाण्ड तथा विराट् विश्व में अकेला ही अपने सुख-दुःख का भोक्ता यह जीव है की भावना के सन्देश का सूचक, प्रशान्त मुख मुद्रा सर्वत्र शान्ति और प्रेम के साम्राज्य की व्यंजक एवं आभरण और वस्त्रहीनता अपनी कमजोरियों तथा यथार्थता को प्रकट करने की भावना की सूचक हैं । यह अपने दिव्य एवं विराट् स्वरूप द्वारा संसार मरुभूमि में मृगतृष्णा से संतप्त मानव को परम शान्ति और कर्त्तव्यपरायणता का संकेत करती है । इस विशाल, रम्य मूर्ति का यह संकेत निर्जीव नहीं, वरन् सजीव है ।

इसकी देह का आकार, गठन, माप-जोख आदि बातें आकृति, मुखमुद्रा एवं विविध गति-भंगियों के निरीक्षण से ज्ञात की जा सकती हैं । इसकी प्राणछन्द की रूपरेखा पर से ही शरीर की

भाव समता, आकार-प्रकार एवं सूक्ष्मत्व आदि बातें अवगत की जा सकती हैं। उत्तर भारत में गोम्मट स्वामी की यही एकमात्र मूर्ति है, निस्सन्देह माँश्री ने इस मूर्ति द्वारा श्री जैन-बाला-विश्राम के सौन्दर्य में तो चार चाँद लगाये ही हैं, पर जैन-संस्कृति के संवर्द्धन और प्रसारण में सदा अमर रहनेवाला कार्य किया है।

बाहुबली स्वामी की मूर्ति में एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह हँसती हुई मौनभाषा में सावधान करती हुई दिखलायी पड़ती है। तपस्या की अधिकता के कारण लता, बेलों का पैरों में लिपट जाना, सर्प-बिलों पर स्थिर होकर तपस्या करने के कारण सर्पों का क्रीड़ा करना एवं सभी प्रकार के प्रलोभनों से दूर रहकर आत्म-साधना में लीन रहना आदि बातों के रहते हुए भी यह अद्भुत मनोरंजक और चित्ताकर्षक है। इस मूर्ति के दर्शक आत्मविभोर हो मूर्तिमान की प्रशंसा के साथ माँश्री की भी प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने इतनी सुन्दर कलापूर्ण मूर्ति स्थापित की है। ध्यानमुद्रा में स्थित इस मूर्ति की आँखों से आँखें मिलाकर देखिये, देखते ही रह जाइयेगा।

राजगृह के रत्नगिरि पर निर्मित मन्दिर में माँश्री ने श्यामवर्ण मुनि सुव्रतनाथ की क्या ही मनोज्ञ पद्मासन मूर्ति स्थापित की है। यह मूर्ति अष्टप्रातिहार्य युक्त, नाना गुण समन्वित और सर्वांग शुद्ध एवं सुन्दर है। यह योग मुद्रा में स्थित है, जिसका अर्थ आत्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है। नासाग्रदृष्टि निर्भयता और संसार के प्रलोभनों के संवरण की सूचक; सिर, शरीर और गर्दन का एक सीध में रहना अतुलबल, आत्मप्रतिष्ठान और जगत् की मोह-माया से पृथक्त्व का सूचक तथा पद्मासन रहने के कारण इस प्रतिमा में बाईं हथेली के ऊपर दाईं हथेली का खुला रहना स्वार्थ त्याग, परम सन्तोष, आदान-प्रदान की भावना से रहित एवं वीतरागता का सूचक है। यह मूर्ति शास्त्र कथित प्रमाण तो है ही साथ ही कला की दृष्टि से अद्भुत है। श्यामवर्ण की होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो विश्व के समस्त जंजालों से दूर करने के लिए शान्तिमय उपदेश देने के निमित्त अपने जन्म-स्थान में स्वयं मुनि सुव्रतनाथ भगवान् विराजमान हैं। यहाँ इन भगवान के तीन कल्याणक हुए हैं। इसकी आकृति भगवान् के शरीर की आकृति से बिल्कुल मिलती-जुलती है। मूर्ति के निकटस्थ नेमिनाथ भगवान् और पार्श्वनाथ भगवान् के श्यामवर्ण के चरणचिह्न अनुपम सौन्दर्य विकीर्ण करते हैं। माँश्री द्वारा प्रतिष्ठित ये चरण तथा श्यामवर्ण की प्राचीन महावीर स्वामी की मूर्ति किसी भी भक्त को सहज में ही आह्लादित करने में सक्षम है।

मानस्तम्भ में उत्कीर्ण आठ मूर्तियाँ तथा ऊपर की गुमटी में स्थित चार मूर्तियाँ भी बड़ी ही मनोज्ञ और चित्ताकर्षक हैं। माँश्री की कलामर्मज्ञता का प्रमाण इन मूर्तियों की सुन्दरता ही है।

चित्रकला—विश्व की ललितकलाओं में चित्रकला का अद्वितीय स्थान है। इस कला द्वारा मानव जाति के व्यापक और गम्भीर भावों को जनता के समक्ष रखा जा सकता है। माँश्री यद्यपि तूलिका लेकर चित्रों में रंग नहीं भरती हैं, परन्तु वे भूमिचित्र बनाने में अत्यन्त निपुण हैं। विशेष

पूजा-पाठों के अवसर पर सुन्दर माड़ना पूरना तथा इस माड़ने को चित्र-विचित्र रंग के चूर्णों द्वारा भरना आदि आपको अच्छी तरह ज्ञात है । मुझे श्री शान्तिनाथ जिनालय के समक्ष मण्डप बनाकर सम्पन्न हुए इन्द्रध्वज-विधान एवं दशलक्षण प्रतोद्यापन के अवसर पर निर्मित माड़ने को देखने का अवसर प्राप्त हुआ है । इन्द्रध्वज-विधान का पचरंगा माड़ना तथा पालि-स्थापित चबूतरे का माड़ना आज भी मेरे नेत्रों के समक्ष विद्यमान है । इन माड़नों के सौन्दर्य ने विधान की गरिमा को कई गुना बढ़ा दिया था । बाहर के सम्मिलित व्यक्तियों ने मुक्तकण्ठ से आपकी प्रशंसा की थी ।

धार्मिक कार्यों के अवसर पर जो-जो माड़ने आरा में पूरे जाते हैं, वे प्रायः सब माँश्री के तत्त्वावधान में ही निर्मित होते हैं । आप समवशरण, त्रिलोकमण्डल, तेरहद्वीप, अढ़ाईद्वीप, चौबीसी एवं नन्दीश्वरद्वीप आदि के माड़ने बड़े ही मनोज्ञ और शुद्ध पूरती हैं । प्रतिष्ठा के अवसर पर सम्पन्न होनेवाले यागमण्डल विधान का माड़ना तो आप इतने व्यवस्थित और कुशलता के साथ पूरती हैं, जिससे देखनेवाले आपकी चित्रकला की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते । कपड़े का बनाया माड़ना रखकर पूजा या विधान करना आपको अभीष्ट नहीं । यदि आपके समक्ष कोई टेढ़ा-मेढ़ा माड़ना पूरता है तो आप उससे एक शब्द बिना कहे ही स्वयं पूरने में लग जाती हैं और थोड़े ही समय में सुन्दर कलापूर्ण माड़ना तैयार कर लेती हैं ।

यद्यपि इस समय माँश्री छात्राओं को ड्राइंग नहीं सिखलाती हैं, पर आज से २०–२२ वर्ष पूर्व, जब कि श्री जैन-बाला-विश्राम आरा स्थापित किया गया था, उस समय आप स्वयं ही चित्र बनाना छात्राओं को बतलाती थीं । आपको चित्रकला से अभिरुचि है । आजकल भी आप अपने पौत्र श्री प्रबोधकुमार से धार्मिक चित्र जब-तब बनवाती रहती हैं । जैनकथाओं के कथानक के आधार पर आज से दो वर्ष पूर्व सन् १९५० में जिस समय धर्मामृत के चित्र बनाने के लिए प्रसिद्ध चित्रकार श्री दिनेशबख्शी पटना से आरा पधारे थे, उस समय आपने उनको इस कला के सम्बन्ध में जो परामर्श दिये थे, वे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण थे । रत्नाकर शतक का डस्टकवर चित्र एवं धर्मामृत के आठ-नौ चित्र आपके ही तत्त्वावधान में निर्मित किये गये थे ।

आपकी चित्रकला-प्रियता का एक उदाहरण मानस्तम्भ में खचित चतुर्गति, षट्लेश्या और अहिंसा चित्र हैं । चतुर्गतिभ्रमण चित्र में विषयी जीव की दुर्गति एवं संसार के प्रलोभनों की मोहकता का विश्लेषण किया गया है । षट्लेश्या चित्र में छः लेश्याओं के स्वरूप एवं व्यक्ति की आंहिसक भाव-नाओं का उत्थान-पतन बड़े ही सुन्दर ढंग से दिखलाया गया है । इसी प्रकार अहिंसा चित्र में अहिंसा धर्म की महत्ता दिखलाने के लिए सिंहनी और गाय को एक साथ एक ही नाद में पानी पीते तथा सिंहनी का बच्चा गाय का दुग्ध और गाय का बच्चा सिंहनी का दुग्ध पान करते हुए दिखलाया गया है । माँश्री सांस्कृतिक भावनाओं की अभिव्यंजना के लिए धार्मिक चित्रों को अधिक महत्त्व देती हैं ।

संगीतकला—इस कला का आधार इन्द्रियगम्य है, पर इसका अधिक सम्बन्ध नाद से है । संगीत में आत्मा की भीतरी ध्वनि को प्रकट किया जाता है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि नाद की सहायता से हमें अपने आन्तरिक आह्लाद को प्रकट करने में बड़ी सुविधा होती है । संगीत का

प्रभाव भी व्यापक, रोचक और विस्तृत होता है। माँश्री इस कला को क्रियाविशाल नाम के पूर्व के अन्तर्गत मानती हैं। यद्यपि आप स्वयं संगीतज्ञ नहीं हैं, पर संगीतकला से आपको पर्याप्त अभिरुचि है।

भक्ति-विभोर होकर माँश्री को पूजा पढ़ते जिन लोगों ने सुना है, वे उनकी स्वर-लहरी से पूर्ण परिचित होंगे। इन पंक्तियों के लेखक को दो-चार बार माँश्री के मुखारविन्द से निकली स्तुति एवं पूजन के पद्य सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनकी स्वर-लहरी इतनी मधुर और स्पष्ट है कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। भक्ति की तन्मयता के कारण प्रत्येक शब्द में अपूर्व माधुर्य और स्पष्टता रहती है। संस्कृत श्लोकों में भी अद्भुत मिठास रहती है, अतः रोता व्यक्ति भी माँश्री के कण्ठ से श्लोक श्रवण कर हर्ष-विभोर हुए बिना नहीं रह सकता है। मीराबाई जैसे भक्ति के अतिरेक के कारण पद गाती थी, वैसे माँश्री का प्रत्येक शब्द भक्ति की अतल गहराई के कारण हृदयवीन के तारों को झंकृत कर देता है।

विद्यालय में छात्राओं को संगीतशिक्षा दिलाने के लिए माँश्री सतत सचेष्ट रहती हैं। आप स्वयं अपने समक्ष छात्राओं को नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिभेद, रागों के रागांग, उपांग भाषांग आदि का अभ्यास कराती है। तोडी, वसन्त, भैरवी, मालवश्री, बराही, धनाश्री, आदि रागों का अभ्यास छात्राएँ अध्यापिकाओं द्वारा आपके ही तत्त्वावधान में करती हैं। जिस छात्रा का संगीत की ओर विशेष झुकाव रहता है, उसके लिए आप विशेष रूप से इस कला के शिक्षण का प्रबन्ध कर देती हैं। आप सदा कहा करती हैं कि साहित्य और संगीत ये दोनो कलाएँ जीवन से दुःख, शोक, सन्ताप भगानेवाली हैं। सांसारिक राग-द्वेष की मात्रा संगीत-कला के प्रचार से ही दूर की जा सकती है। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग से उत्पन्न होनेवाला सक्लेश संगीत के द्वारा दूर किया जा सकता है। ताल और लय के समन्वय द्वारा उत्पन्न ध्वनि अवश्य ही मानव के अन्तस् में आनन्द उत्पन्न करती है। इसी कारण माँश्री के मुख से निरन्तर यह श्लोक सुनने को मिलता है—

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तालहीनानि गेयानि मन्त्रहीना यथाहुति॥

नृत्यकला—नृत्य-कला संगीत-कला का एक उपभेद है; संगीत और नृत्य दोनों आपस में अविनाभावी-सा सम्बन्ध रखते हैं। माँश्री छात्राओं को धार्मिक उत्सवों के अवसर पर गरबानृत्य, संथाली-नृत्य, शंकर नृत्य आदि विभिन्न प्रकार के नृत्य करने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा देती हैं। यही कारण है कि कई छात्राएँ कला-पूर्ण नृत्य करती हैं। पर्यूषण पर्व के अवसर पर सन्ध्या समय छात्राएँ आरती करती हुई भगवान के समक्ष सस्वर ताल के साथ नृत्य करती हुई अत्यन्त शोभित होती हैं। अमूर्त भावनाओं की अभिव्यञ्जनाएँ नाना मुद्राओं द्वारा छात्राएँ भले प्रकार से कर सकती हैं। यह सब माँश्री की कला-प्रियता का सबल प्रमाण है। कई छात्राएँ वीणा, मृदंग, हारमोनियम आदि वाद्यों के वादन से पूर्णतया परिचित हैं। लोक-नृत्य को माँश्री अधिक प्रोत्साहन देती हैं तथा आध्यात्मिक विकास में इस नृत्य को उत्थान-कारक मानती हैं।

काव्य-कला—विशेषज्ञों ने ललितकलाओं में काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालने में इसे अन्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। अतएव काव्य-कला जीवन के रागात्मक सम्बन्धों को दृढ़ बनाने में बड़ी भारी सहायक है। मांश्री को संस्कृत और हिन्दी कविता करने का अभ्यास सोलह वर्ष की अवस्था से ही है। आजकल आप कविता नहीं लिखती है, पर आज से १५–२० वर्ष पूर्व प्रकाशित आपका कविता-संकलन भावनाओं की दृष्टि से सुन्दर है। 'बालिका-विनय' कविता की छोटी-सी पुस्तक किसी भी व्यक्ति को तन्मय कर भाव-विभोर बना सकती हैं। यों तो मांश्री ने सभी क्षेत्रों में खूब लिखा है, पर काव्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत न्यून है। आपकी दो-चार कविताएँ तो भौतिकलोक से ऊपर उठा कर आध्यात्मिक लोक में जीवन को स्थित कर देती हैं।

विधवाओं की हीनदशा, नारी की अशिक्षा और नारी की कुरीतियों के बन्धन पर आपकी कई विश्लेषणात्मक कविताएँ सुन्दर हैं। यद्यपि इन कविताओं में काव्यत्व की अपेक्षा उपदेश अधिक है, फिर भी इनका उपयोग है। स्वयं कवयित्री होने के कारण आप सहृदय और मृदु है। कलाकार में जिस प्रकार की सहानुभूति अपेक्षित है, आपमें विद्यमान है।

ललित-कलाओं के साथ उपयोगी सिलाई, ड्राइंग आदि कलाओं में भी आपको पूर्ण अभिरुचि है। आप हस्त-शिल्प को जीवन के लिए परमोपयोगी मानती हैं।

—रथनेमि



अभिशाप या वरदान ?

वैधव्य !
'जीवन का अभिशाप'—
वरदान बन गया ।

बहुत सुना था,
सुकुमारी कन्याओं का—
जिनके हाथों की मेंहदी—अभी,
धुली नहीं,
जिनके नयनों की कजली अभी,
पुछी नहीं,
जिनके 'स्वप्नों की दुनिया'—
जगने के पहले टूट गई;
सुना था ऐसी बालाओं के—
जलने, मरने,
समाज की पशुता का शिकार बन—
मिट जाने का इतिहास ।

पर कहाँ सुना था—
ऐसी सुकुमारी बाला का,
इन्हीं परिस्थितियों में—
आगे बढ़ना, औ'
कर्णधार बन जाना—
अपने जैसी बेबस बालाओं का ।

कहाँ सुना था ?
ऐसी बदनसीब विधवा का—
जिसे—अपशकुन डायन भी—
कह देते हैं,
अपने हाथों गढ़ना—अपने को,

यों पूर्ण ब्रह्मचारिणी बन,
संयम, त्याग, तपस्या की–
उपमा रखना ।

कहाँ सुना था ?
ऐसी अबोध अबला का—
जिसका कोई अधिकार नहीं,
कर्त्तव्य बहुत !
अपना अधिकार जमाना—
कर्त्तव्य दूसरों को बतलाना ।

वैधव्य !
जीवन का अभिशाप—
सचमुच वरदान बन गया ।

वैधव्य !
नारी का दुर्भाग्य —
कहाँ ? सौभाग्य बन गया ।

वैधव्य !
नारी की चिर-सीमा—
या–चरम विकास बन गया ?

—चक्रनेमि

श्रीमातृचरणेषु

मैत्रेयी, गार्गी की गरिमा, पावन उपासना चिर-निर्मल;
माता का मानस स्नेह-सना, एकत्र प्राप्त है हमें विरल।

वसुधा की 'चंदा' निष्कलंक,
कल्याणमयी, साधना-निरत।
कामना-तमस् है छिन्न-भिन्न,
व्यामोह-विजयिनी, विनयानत॥
हे महीयसी, वन्दे, जननी—
की सखी-सहेली, अमृत-व्रते!
दाक्षिण्य-दया-लोकोपकार—
—देवता-चरण-युग-नित्यरते!!

स्वर्णिम अतीत के तपोवनों की छाया नाच उठी शीतल;
आश्रम में पाते शान्ति, तुष्टि भव-तापित शत-शत अन्तस्तल।

नारी के गुण सम्यक् विकसित
हों, चलें ज्ञान-रश्मियाँ फूट।
निष्प्राण पुरातन-दुर्ग ध्वस्त
हों, जायें प्रबल कड़ियाँ टूट॥
यह लक्ष्य,—जागे महिला-समाज,
अबला को शक्ति मिले सत्वर।
निश्चित हो जन-मंगल-[illegible],
मिट जायें द्वन्द्व, संघर्ष प्रखर॥

संकेत दिव्य, आदेश स्पष्ट, दीखे प्रफुल्ल आदर्श-कमल;
जीवन-निकुञ्ज में भावचरित्र! आपूरित लोकोत्तर परिमल।

परमार्थ-चिन्तना, ध्येय-ध्यान
निशि-दिन, सत्कर्मण्या अकाम!

श्रीमच्चरणेषु

साहित्यसेविके, आचार्ये,
मातः, पद-पद्मों में प्रणाम !!
पद-पद्मों में अगणित प्रणाम,
संकल्पवती ध्रुव, ज्योति-धार !
संयम, श्रद्धा की रत्न-दीप,
माँ, पद-वन्दन है बार-बार ॥
हो शतं जीविनी प्रेरित कर, मानव का हो न जन्म निष्फल;
अयि देवि, हमें आशीष मिले, जीवन को मिल जावे सम्बल ।

—प्रो० सीताराम 'प्रभास' एम० ए०



चालीस वर्ष पीछे की बात

बिजली का बल्ब चमकता है, चमकते हुए भी बल्ब के भीतर का तार जलता रहता है। बिना किसी के जले चमक हो ही नहीं सकती। बल्ब जलता है, पर उस जलन को उस तारीफ़ की मदद से बर्दाश्त कर लेता है जो उसके चारों तरफ बैठे हुए उसके प्रकाश के गीत गा रहे होते हैं। पर उस बैट्री की व्यथा को कौन बताये जो कहीं एक कोनेमें बैठी हुई तिल-तिल घुलती रहती है और बल्ब को चमकाती रहती है। उसके और लोग तो क्या गीत गायेंगे, अजब नहीं कि बल्ब के भीतर का जलने वाला तार उसे दिनरात कोसता रहता हो कि यही तो कमबख्त बैट्री है जो जला-जलाकर मुझे मिट्टी में मिला देगी। उस बेचारे तार को यह क्या पता कि इस संसार की भलाई दिल जले और तन-फूँकों से ही होती है। उस बल्ब के तार को यह भी क्या पता कि उस जलाने वाली बैट्री की मौत उसकी मौत से एक क्षण पहले ही हो जाती है, और फिर उसे यह भी क्या पता कि उसके चारों तरफ जिस तरह बैठकर लोग उसके गीत गाते हैं वैसे उस बैट्री की चारों तरफ न बैठने वाले हैं और न एक भी ऐसा है जो उसके साथ हमदर्दी दिखाकर उसका दुख बँटायेगा। बैट्री ने तो तपस्या से मिलने वाली प्रसद्धि की इच्छा को ही मार लिया होता, और मन मसोसकर बैठने से बढ़कर और कौन तपस्या हो सकती है! किसी कवि ने न जाने किस तजुर्बे के बल पर और किस भावना में मस्त होकर और किस उमंग से यह गीत गूँथा होगा कि—

"मैं तो उन सन्तों का हूँ दास, जिन्होंने मन मार लिया।"

किसी को क्या पता कि चमक कर जलनेवाले बल्ब की बैट्री बनने में किन-किन मन मसोस कर बैठनेवाले और बैठनेवालियों ने बैट्री बनने के लिए सैल बनने का काम अपने जिम्मे अपने आप लिया होगा।

चन्दाबाई उस घराने के एक सज्जन की बेटी है जो बरसों देश के खातिर हथेली पर सिर लिए फिरने वाले वृन्दावन के राजा महेन्द्रप्रताप का कोन्क्षस कीपर रहा है। चन्दाबाई की रग-रग में उदारता, सुधार, स्वतंत्रता, स्वाधीनता की धार बहती रही है, बहती है, और मरते दम तक बहती रहेगी। यह उन्हें विरासत में मिली है, पर चन्दाबाई ने इस लहर को दबाया भर ही नहीं है, लोगों की नजरों में यह साबित कर दिया है मानो उन्होंने उन सबको जला डाला हो, और सदा के लिए नष्ट कर दिया हो, और शायद इसी नाते हो सकता है कि वह हमारी इस बात से इनकार कर दें कि हम जो कुछ उनके बारे में कह रहे हैं, उसमें रत्ती भर भी सच्चाई है। उन्हें इन्कार करने का हक है, क्योंकि वह एक ऐसे घर में ब्याही गई हैं जहाँ इन गुणों की, न इतनी कदर थी और न इतनी परख जितनी उस घराने में जहाँ उनको विधाता, प्रकृति, या कर्म ने जन्म दिया था। जिसके साथ उनका

गठबन्धन हुआ उसके गाँठ खोलकर इस दुनिया से चले जाने के बाद भी उन्होंने उस घर को ही अपनाये रखा जहाँ वह गाँठ बँधी हुई आई थीं । अगर वह चाहती तो उनके लिए उस घर के दरवाजे भी पूरे खुले हुए थे जिस घर में दाई ने उनका नाल काटा था, और जिस घर में वह गोदी में खेलीं, घुटनों चलीं और ठुमक-ठुमक कर चलना सीखा था और जहाँ जाकर उन्हें इसी तरह से उड़ना नसीब हो सकता था जिस तरह जंगल के पक्षी उड़ते हैं, पर उन्होंने अपनी बहनों को ऐसे दुःख में दुखी देखकर जिस दुःख को दूर करने की ताकत उन बहनों में मौजूद थी पर दूर न कर पाती थी, अपने आपको उन्हीं के दुख की वेदी पर बलि हो जाना ही ठीक समझा । उन्होंने यह अच्छी तरह समझ लिया कि कली फूल बनकर भी मुरझाती, गिरती और पाँव तले आती है, फिर क्यों फूल बना जाय, क्यों न कली बनी रहकर ही जीवन बिताया जाय ? बस इसी एक विचार ने उनमें वह जबरदस्त ताकत पैदा कर दी कि उनको अपने मन मसोस कर रखने में मामूली से ज्यादा प्रयास की जरूरत नहीं हुई ।

काया को दुःख देना तपस्या है, यह किसी नये तपस्वी के मुह से निकली हुई तपस्या की परिभाषा हो सकती है—किसी अनुभवी तपस्वी के मुख से निकली हुई नहीं । काया, पर है । ज्ञानी आत्मा पर को दुःख कैसे दे सकता है । सन्त नरसिंह महता ने, जो गांधी जी को बहुत प्यारे थे, तो यह कहा है कि पर के साथ तो उपकार करना चाहिये, और उस उपकार का अभिमान भी नहीं मानना चाहिये, फिर पर को सताने या दुःख देने की बात किसी ज्ञानी आत्मा को सूझ ही कैसे सकती है ? काया, आत्मा का घोड़ा है, उसकी लगाम तो लगाई जा सकती है, जरूरत पर ऐड़ भी दी जा सकती है; पर कोड़े का उपयोग नही किया जा सकता ! कोड़े का उपयोग उन्हीं घोड़ों पर होता है जिन्हें पेट भर खाना नही मिलता, या जिनसे वह काम लिया जाता है जो उनके योग्य नहीं होता । जिस आदमी ने काया को घोड़ा नहीं समझा वह बाल तपस्वी, या नव तपस्वी हो सकता है, अनुभवी तपस्वी नहीं । और फिर घोड़े को मारकर या घोड़े को दुःख देकर दुखी भी कौन होता है ? हमने तो घोड़े पर कोड़ा उठानेवालों को मुस्कराते, हँसते और ठिठियाते पाया है और मुस्कराना, हँसना और ठिठियाना तपस्या कैसे हो सकती है ? इसलिए जिसने देह को आत्मा का घोड़ा समझ लिया है और जो बिलकुल सच्ची बात है तो वह उसको क्यों दुःख देगा और अगर कभी देगा ही तो दुःख क्यों मानेगा और जब दुःख नहीं मानेगा तो तपस्या ही क्या होगी ? दुख होना और दुःख सहना ही तो तपस्या है । जो देह के दुःख में अपने को दुखी मानता है वह आत्मविश्वासी नहीं है, और जो आत्मविश्वासी नहीं है वह धर्म की रू से ज्ञानी नहीं है, और जो ज्ञानी नहीं उसकी तपस्या निष्फल है । यों काया को दुःख देना सदा निष्फल ही होता है । फिर यह निष्फल दुःख तपस्या कैसे हो सकता है ? अनुभवी सन्तों ने तभी तो इच्छाओं को मारना ही तप माना है और इसीलिए काया को दुःख देने से कहीं ज्यादा मन मसोस कर रखना और अपनी सब कामनाओं की गठरी बांधकर पाँव तले दबाना ही ज्यादा मुश्किल है । और यही महा मुश्किल काम तो चन्दाबाई ने अपने जिम्मे लिया है !

अनुभवी सन्तों की नजर में चन्दाबाई रेशमी कपड़े पहनकर भी, यह ठीक है कि वह न ऐसे कपड़े पहनती हैं और न कभी पहनने की हिम्मत कर सकती हैं, आर्जिका बनी रहेंगी । क्योंकि उन्होंने दूसरों की खातिर अपने मन को इतना मसोस लिया है जिसको मामूली आर्जिका तो क्या, अनुभवी आर्जिका

भी आसानी से नहीं मसोस सकती ! इच्छाओं की पूर्ति के सब साधन होते हुए, इच्छाओं को पूरा न करना बहुत बड़ी तपस्या है और इसी तपस्या में तो चन्दाबाई लगी हुई हैं ! खुशी से उपवास करने में भावना की इतनी तीव्रता नहीं होती जितनी उस उपवास में तीव्रता होती है जो खुशी से दूसरों को भूखे मरते देखकर उस दुःख के साथ की गई हो । अपने बच्चों को भूखों मरते देखकर जो मां उपवास करके बैठ जाती है उसकी तपस्या बड़ी जल्दी फल देती है, ठीक इसी तरह से चन्दाबाईजी अपनी बहनों की हर तरह की पराधीनता से दुखी होकर उन सबकी पराधीनता अपने सिर ओढ़ बैठी हैं और अपना जीवनव्रत बना बैठी हैं, और उसे जीवनभर निभा ले जायेंगी । आज जो कुछ बहनों की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के लिए हो रहा है, और जो तरह-तरह के सुधार उनमें हो रहे हैं और जो अनेकों बहनें तरह-तरह के दुःख झेलकर समाज में प्रसिद्धि हासिल किए हुई हैं और चमक रही हैं, उनकी चमक जिस बैट्री से आ रही है, चन्दाबाई उसी बैट्री का तो एक सैल हैं !

अब से चालीस वर्ष पहले हमने उनका फूल-सा चेहरा देखा था और तब यह भी देखा था कि उनमें कितना तेज था और उसी तेज से हमने अन्दाजा लगाया था कि इस तेजोमय चेहरे के नीचे जो दिल है उसमें उन दुःखित बहनों के लिए कितनी तड़प है, जो तरह-तरह की दासताओं और बेबसी की रस्सियों से बंधी पड़ी है । चन्दाबाई ने और बाइयों की तरह से समाज में नाम हासिल करने के लिए दासता की जंजीरों को तोड़ने और बेबसी की रस्सी काटने की बात कभी नहीं सोची, उन्होंने बहुत जोर से दासता की जंजीर और बेबसी की रस्सी को अपने चारों तरफ लपेट लिया और तपस्या करने का एक नया ही ढंग सोच निकाला और यह ढंग सचमुच वैसा ही था जिस तरह बैट्री अन्धेरी कोठरी में अपने आपको बन्द कर किसी भी एक कोने में बैठ जाती है, तिल-तिल कर अपने को गला कर बल्ब को चमकाती रहती है ।

हम उनकी जीवनगाथा लिखकर समाज का वक्त लेना बेकार समझते हैं क्योंकि यह एक ऐसा काम है जिसके लिए अनेकों आदमी मिल सकते हैं पर हम तो चन्दाबाई के मुंह से निकली एक सीधी-सादी बात दोहरा कर ही अपनी लेखनी को एक ओर रख देंगे । इसी बात को एक बार हमने देहात के महान् लेखक राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी से भी कहा था और जिसको सुनकर उनके मुंह से एक हल्की आह निकली ।

वह बात यह है कि चालीस वर्ष हुए, अम्बाला नगर में कहीं कोई जलसा था । उस जल्से के मौके पर श्रीमती चन्दाबाई, मगन बहन और ललिताबाई भी मौजूद थीं । सेठी अर्जुनलालजी और भाई अजित प्रसादजी की हाजिरी में हमने उस समय इन तीनों बहनों से और खासकर चन्दाबाई से यह सवाल पूछा था कि विधवा-विवाह के बारे में आप सबकी क्या राय है ? इसके जवाब में मगन बहन और ललिताबाई तो चुप रहीं पर चन्दाबाई ने यह शब्द कहे, जो आज तक हमारे हृदय पर ज्यों के त्यों अंकित हैं और जो यह बताते रहते हैं कि चन्दाबाई को उस अपने दिल पर कितना काबू है, जिस काबू को पाने के लिए बड़े-बड़े ऋषि और मुनि तरसते हैं ।

वह जवाब था—

"क्या आपने हमें इस योग्य रखा है कि हम इस विषय पर अपना मुंह खोल सकें ?"

इलाहाबाद

—महात्मा भगवान दीन

माता चन्दाबाई

लगभग बाईस वर्ष पुरानी घटना है। मेरी पत्नी पुतीबाई ने आकर आशाभरी दृष्टि से देखते हुए मुझ से कहा—"आप मुझे महिलादर्श क्यों नहीं मँगवा देते। मँगवा दोगे न ?"

उन्हीं दिनों बीनामें एक बहन को विधवा होने के कारण बड़ी यातनाओं का सामना करना पड़ा था। वह दृश्य उसकी आँखों में नाच रहा था। इसलिए वह चाहती थी कि किसी तरह में अन्य बहनों के साथ सम्पर्क स्थापित करूँ और बहनों की कठिनाइयों को दूर करने में कुछ योगदान दूँ। इसी विचार के फलस्वरूप उसने महिलादर्श मँगवाने की इच्छा व्यक्त की थी। पहिले तो मैंने उसकी बात हँसी में टाल दी, क्योंकि प्रारम्भ से ही मेरा यह विचार रहा है कि जैन पत्रों में कोई ठोस सामग्री पढ़ने को नहीं मिलती। किन्तु वह कब माननेवाली थी। मेरे पीछे उसका चर्चा चलता ही रहा और अन्त में मुझे उसकी इच्छा की पूर्ति करनी पड़ी।

मेरे यहाँ महिलादर्श आने लगा। कुछ दिन तो इस विचार से कि उसमें क्या धरा है, मैं उसे देखता ही न था, किन्तु जान में या अनजान में जब वह बार-बार मेरी आँखों के सामने से गुजरने लगा तब मेरी इच्छा भी उसे उलटने-पलटने की होने लगी। धीरे-धीरे यह इच्छा यहाँ तक बढ़ी कि जब तक मेरे यहाँ महिलादर्श आता रहा, मैंने उसका एक भी अंक पढ़े बिना नहीं छोड़ा। पत्र की रीति-नीति का ज्ञान सम्पादकीय लेखों से होता है इसलिए इन्हें मैं अवश्य पढ़ता था।

साधारणतः जैनपत्रों की जो स्थिति है, महिलादर्श उसके बाहर नहीं है। प्रत्येक पत्र की एक नीति होती है जिसके लिए उसका जन्म आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि जैन पत्रों में इसकी बहुत अधिक कमी देखी जाती है। यदि कुछ पत्र विशिष्ट नीति को लेकर जन्मे भी तो वे बहुत दिन टिक भी न सके।

स्त्रियों की कुछ खास समस्याएँ हैं। उदाहरणार्थ—स्त्रियों का सामाजिक अधिकार क्या हो, विवाह यह सामाजिक प्रथा है या धार्मिक, परदा प्रथा का इतिहास क्या है और उसे समाज में कहाँ तक स्थान दिया जा सकता है, विधवा होने के बाद स्त्री का पति की जायदाद में क्या अधिकार है आदि। मैंने इन प्रश्नों को ध्यान में रखकर महिलादर्श का बारीकी से आलोड़न किया है। हम यह तो मानते हैं कि स्त्रियों के साथ सामाजिक न्याय होना चाहिये। किन्तु हम उन प्रश्नों को स्पर्श नहीं करना चाहते जिनको स्पर्श करने पर उनका सामाजिक दर्जा बढ़ने की सम्भावना है।

फिर भी यह बात निःसंकोच माननी पड़ती है कि वर्तमान में स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति जो थोड़ी बहुत जागरूकता दिखाई देती है उसका बहुत कुछ श्रेय महिलादर्श को है ।

महिलादर्श को जन्म देनेवाली और उसका योग्य रीति से संचालन करनेवाली माता चन्दाबाई हैं, इसलिये यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान मे स्त्रियों में जो भी जागृति दिखाई देती है उसके लिए माता चन्दाबाई को अहर्निश कठोर श्रम करना पड़ता है ।

सबसे पहले हम माता चन्दाबाई को महिलादर्श के द्वारा ही जान पाए । किन्तु उस समय हमारा मन उनको माता कहने के लिए तैयार नहीं था ।

उस समय हमने यह भी सुन रखा था कि माता चन्दाबाई ने आरा में बहनों के लिये एक आश्रम खोल रखा है । इस समय तक मैने महिलाओं की किसी प्रतिष्ठित संस्था का अवलोकन नहीं किया था । नजदीक की एक महिला सस्था के देखने से मेरी धारणा यह बन गई थी कि बड़े आदमी इस नाम से अनेक बहनों को इकट्ठा कर लेते हैं और उनसे घर गृहस्थी का काम लिया जाता है । एकाध अध्यापिका रखकर थोड़ा बहुत पढ़ा दिया तो गनीमत समझिये ।

मुझे प्रसन्नता है कि मेरा यह विचार अन्त में बदल गया । मैंने देखा कि एक-दो को छोड़कर समाज में कई ऐसी प्रतिष्ठित सस्थाएँ हैं जिन्होंने महिलाओं की अच्छी सेवा की है और कर रही हैं । उनमें आरा का बालाविश्राम आदर्श संस्था है । इसकी तुलना पूना के नजदीक स्थापित कर्वे के महिला विद्यालय से की जा सकती है ।

हम यह मानते है कि प्रायः ये संस्थाएँ समाज के द्वारा प्रदत्त सहायता से चलती हैं, इसलिये इनमें वे साधन नही जुटाए जा सकते जो सरकारी या अर्धसरकारी संस्थाओं के लिए सुलभ होते हैं । फिर भी आर्थिक कठिनाई के रहते हुए भी ये संस्थाएँ जो भी सेवा कर रही हैं उसका मूल्य बहुत अधिक है और यदि हम राजनीतिक या सामाजिक समस्याओं के साथ धर्मतत्त्व को नहीं उलझाना चाहते हैं तो हमें इनका अस्तित्व बनाये रखने में लाभ है । इतना अवश्य है कि इनमें मात्र धार्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिये ।

बाला विश्राम को देखने का अवसर मुझे सन् ४४ में मिला था । उसी समय मैंने माता चन्दाबाई के दर्शन किये थे । वर्तमान में जैनसिद्धान्त भवन आरा के कार्याध्यक्ष पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य मुझे उनके पास ले गये थे । उस समय वे वहीं बालाविश्राम में अध्यापन कार्य करते थे ।

उनसे मिलने के पहले मेरे मन में अनेक विचार आते रहे । आँखें स्वभाव से भौतिक पदार्थों को देखने की अभ्यस्त हैं । वे बाहर से मोटे-ताजे और चिकने-चुपड़े आकर्षक व्यक्ति को देख कर

प्रभावित हो जाती हैं । मुझे भय था कि कहीं मेरा मन आँखों के कहने में आकर बाहर की तस्वीर देखने में ही न उलझ जाय ।

माता चन्दाबाई का संस्कार-सम्पन्न घर में जन्म हुआ है और ऐसे ही सम्भ्रान्त कुटुम्ब में वे विवाहित होकर आई हैं । उनका शरीर गौर, सुडौल, आकर्षक और कान्तिपुञ्ज से व्याप्त है । यह सब देखने मैं नहीं गया था । मुझे तो उनकी आत्मा की परख करनी थी—एक पारखी बनकर ।

एक भेंट में यह सब कैसे होगा, मेरे सामने यह प्रश्न था । फिर भी अपने विचारों की गहराई को मैंने अनुभव किया और मैं इस काम में जुट गया । एक बात उठी, आगे बढ़ी और रुक गई । दूसरी बात का यही हाल हुआ । इस तरह एक के बाद एक—नहीं मालूम कितनी बातें आईं और गईं पर कहीं थाह का पता न लगा ।

माता चन्दाबाई क्या हैं ? मैं यह जानने के लिये आतुर था । कुछ दिन पहले एक दानी महाशय से मेरी बातचीत हुई थी । मैं उन्हें धर्म-कार्य में उत्साहित करना चाहता था और वे अपने रोजगार का रोना लेकर बैठे थे । बहुत छेड़ने पर अन्त में वे बोले—"देखो पण्डितजी ! हमें तो अपने काम से फुरसत है नहीं । ये साधन हैं । आप लोग कहते हैं कि समय निकाल कर थोड़ा धर्म-कार्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिये, इसलिए मौका देखकर कुछ कर देते हैं । क्या होता है यह आप लोग जानें ।"

माताजी ने अपने जीवन का बहुभाग बालाविश्राम को अर्पित कर रखा है, यह सभी कोई जानता है । वह उनके जीवन की तपश्चर्या है । प्रसंग देख मैंने इसीका प्रश्न छेड़ा । मैंने कहा—"माताजी ! यह सब आपने क्या बला पाल रखी है । एक परिग्रह कम किया और दूसरा बढ़ा लिया । छोड़िये इस प्रपञ्च को । सब इन पण्डितों को संभालने दीजिये । आप तो अपने स्वाध्याय और सामायिक में चित्त लगाइये । आज इस बालिका का रोना सुनो, कल उसका । आज इसकी पढ़ाई का प्रबन्ध करो, कल उसका । यह सब क्या है ।"

मैं यह सब कहने के लिये तो एक साँस में कह गया, किन्तु मुझे भय था कि मेरे इस कथन से माताजी की आत्मा न उबल पड़े । फिर भी वे शान्त रहीं और किञ्चित् स्मितवदना हो बोलीं—"शास्त्रीजी ! कहने को तो आप बहुत बड़ी बात कह गये हैं । मैं उसकी गहराई को जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आपने यह बात किस अभिप्राय से कही है । पर मुझे उससे क्या करना है । मुझे तो अपना देखना है । कुछ दिन पहले मेरे मन में भी ये विचार उठे थे । उस समय मैं अशान्त थी, भाराक्रान्त थी । मैं इस प्रपञ्च से दूर भागना चाहती थी—बहुत दूर ।"

मेरे मतलब की पुष्टि होती देख बीच में टोकते हुए मैंने कहा—"यही तो मेरा मतलब है ।"

यह सुनकर वे कुछ सकुचाईं पर तत्काल सम्हल कर बोलीं—"नहीं, वास्तव में वह मेरा मैदान छोड़कर भागना था । भला, ऐसे क्षुल्लक विचार को मैं अपने मन में स्थायी आश्रय दे सकती

भी ? आप मुझ से ऐसी आशा न करें। इस घर को मैंने बनाया है। वह इसलिए नहीं कि इसके पीछे मेरी कोई ऐहिक कामना है। बल्कि इसलिये कि इसके द्वारा मुझे अपनी सार सम्हाल करनी है। ये बहनें और ये बालिकाएँ मुझ से जुदा नहीं हैं। इनकी उन्नति ही मेरी उन्नति है और इनका पतन ही मेरा पतन है। मैंने यह व्रत बहुत कुछ सोच समझ कर लिया है। मैं सब कुछ भूल सकती हूँ पर इसे नहीं भूल सकती।"

"सामायिक और स्वाध्याय को भी।" मैंने कहा।

"हाँ हाँ; सामायिक और स्वाध्याय को भी।" कहने को तो वे यह कह गईं पर पीछे से संभल कर बोलीं—'शायद मेरा मतलब आप नही समझे। मेरा मतलब यह है कि जब सामायिक और स्वाध्याय में चित्त न लगे तब इन्द्रियों के विषयों से चित्त को हटाकर वीतराग भाव की पुष्टि के लिए मेरी परिस्थिति के अनुरूप इससे पुनीत दूसरा कार्य और क्या हो सकता है, आप ही बतलावें।"

मैं निरुत्तर था। कहता ही क्या ? किन्तु यह उत्तर सुन मन प्रसन्न था। उसने धीरे से कहा—तभी तो आप 'माता' कहलाने की पात्र हो।

—फूलचन्द्र, सिद्धान्तशास्त्री

बनारस



माँश्री

आरा के पराक्रम ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मातृभूमि से विदेशियों के उन्मूलन के लिए विद्रोह का शंख फूंका था। आरा-हाउस उसी अनुपम शौर्य-प्रदर्शन का एक लघु प्रतीक है। लेकिन इस नगर की भूमि जहाँ युद्ध-काल में रण-भेरी का प्रचण्ड निनाद सामने रखती है, वहाँ शान्ति-काल में साहित्य और शिक्षा की कोमल किन्तु महाप्राण ध्वनि भी। आरा में पर्यटन की कामना से आनेवाले जो अतिथि केवल आरा-हाउस को देखकर चले जाते हैं, वे नगर के केवल उस भयंकर रूप के दर्शन कर जाते हैं जो अधर्म और उत्पीडन, दमन और कुचक्र तथा अन्याय और शोषण को सतत चुनौती प्रदान करता है। किन्तु वैसे लोग आरा का सम्पूर्ण दर्शन कर पाते हैं; उसकी चारित्रिक गरिमा के सभी पार्श्वों से परिचय पा लेते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह तो आरा का मात्र बाह्य-दर्शन है। चित्र का एक दूसरा पहलू भी है, जो इससे कम भव्य और मोहक नहीं है। 'जैन-सिद्धान्त-भवन' और 'जैन-बाला-विश्राम' आरा के चरित्र के उस दूसरे शाश्वत रूप को हमारे सामने रखते हैं, जिसकी भव्य छाया में देश की संस्कृति असत् से सत् की ओर, तिमिर से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर बढ़ती है। आरा रक्त-रंजित तलवार की भी भूमि है, उस तलवार की जो शोषण और अत्याचार के विरुद्ध म्यान से बाहर निकल कर अपना जौहर दिखाती है और आरा धवल-वसना, हंसवाहिनी, वीणावादिनी सरस्वती की भी भूमि है, जो ज्ञान का दीपक लेकर संस्कृति की आलोक-रश्मियों को जीवन प्रदान करती है।

पिछले वर्ष हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प्रो० शिवबालकरायजी ने एक दिन यह बताया कि पं० नेमिचन्द्र जी शास्त्री का निमंत्रण आया है और 'जैन-बाला-विश्राम' चलना है। उसी दिन दोपहर को वे मेरे यहाँ पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार ठीक समय पर आ गये और सामने बढ़ाये गये शर्बत के ग्लास को आँखों से अनिच्छा और हाथ की उँगलियों के द्वारा उल्लास प्रकट करते हुए जिस द्वैतवादी भाषा में उन्होंने खाली किया वह उन्हें पूर्णतया परितुष्ट कर देखने योग्य दृश्य है।...

नगर का आखिरी सिरा आ गया। रिक्शा चला जा रहा था और तब 'जैन-बाला-विश्राम' के हाते की ऊँची दीवार दिखाई पड़ी। नगर के कोलाहल से दूर, शान्ति के प्रहरी के समान इसके प्राचीर खड़े हैं।........फाटक से प्रवेश करते ही माँश्री के दर्शन हुए। अमल धवल-वसना, पवित्र तेज की दिव्यता से दमकता हुआ ललाट, विगलित मातृ-स्नेह और करुणा की अजस्र धार से परिपूर्ण आँखें— जैसे हमारे समक्ष मातृत्व साकार रूप धारण कर खड़ा हो गया हो।...........इस आश्रम से विकीर्ण

होनेवाली पवित्र दिव्य रश्मियों का आलोक-केन्द्र माँश्री का यह शुभ्र व्यक्तित्व ही है। उन्हीं की प्रबुद्ध चेतना और भारतीय बालिकाओं को सच्ची नारी बनाने की आकांक्षा ने इस आश्रम का रूप-निर्माण किया है। देश में ऐसे बालिका-विद्यालयों की कमी नहीं है जिनका भवन और बाह्य-प्रदर्शन इस आश्रम से बाजी मार ले जाय; किन्तु 'जैन-बाला-विश्राम' की विशेषता ईंट और चूने से निर्मित अट्टालिका में नहीं निहित है, उसकी महत्ता तो इसमें है कि रक्त-मांस से बने हुए मानव-पिंडों को अविद्या के अंध-कूप से ज्ञान के ज्योति-लोक की ओर ले जाने के लिए यहाँ माँश्री का निर्मल व्यक्तित्व भी है। वे तो आलोक-स्तम्भ हैं। उनकी सादगी में भारतीय नारी-संस्कृति की पुरातन गरिमा मुखरित हो उठती है। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण मोहक लय में बंधे हुए एक प्रगीत के समान है।

माँश्री को मैं देख रहा था और सोच रहा था कि जीवन में असमय आये हुए झंझावात और अंधकार का सामना करके उन्होंने किस प्रकार विद्या-अमृत की प्राप्ति के लिए अपने जीवन में कठोर श्रम किया है। और वैसे तो न जाने कितने पुरुष और नारी प्रतिवर्ष ऊँची शिक्षा प्राप्त करके विद्यालयों से निकलते हैं लेकिन उनमें से ऐसे कितने हैं जो अपनी अर्जित विद्या के द्वारा अशिक्षा के गर्त्त में पड़े हुए समाज को भी ज्ञान-दान देना चाहते हैं ? माँ ने भारतीय नारी की अन्तर्निहित शक्तियों को पहचाना था और अपने व्यक्तित्व में उन सभी सभावनाओं का पूर्ण विकास भी किया है।......... यह आश्रम तो उनकी महत् कल्पना का साकार रूप है।

.....दोपहर का कार्यक्रम शुरू हुआ। आश्रम की बालिकाओं की वाक्-प्रतियोगिता थी। हमलोगों ने छात्राओं की वाग्मिता और सर्वोपरि भाषा की विशुद्धता पर बड़ा आश्चर्य माना। स्थानीय गर्ल्स हाई स्कूल की लेडी प्रिन्सिपल ने भी छात्राओं की भाषण-प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मैं देखता हूँ कि इस आश्रम में संख्या से अधिक गुण पर जोर दिया गया है और यही कारण है कि आसपास के गाँवों की बालिकाओं के अतिरिक्त सुदूर महाराष्ट्र, तामिलनाद तथा आंध्र से भी यहाँ आकर छात्राएँ विद्याध्ययन कर रही हैं। माँश्री ने इस आश्रम को कैसा विश्व-जनीन बना रखा है!......

संस्था की शिक्षा-पद्धति की, जब राय जी अपने भाषण के क्रम में, प्रशंसा कर रहे थे तब मैं माँ के मुख के उतार-चढ़ाव की ओर ध्यान से देख रहा था। उनकी जगह दूसरा कोई होता तो इस प्रशंसा से फूलकर कुप्पा हो गया रहता, पर माँ थीं जो स्थितप्रज्ञ की भाँति बैठी रहीं और फिर कार्यक्रम के अंत में चुपके हमलोगों से कहा—'आपलोग भी क्या झूठमूठ प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं।' माँ की इस झिड़की में कैसा माधुर्य है!

फिर वे बड़ी रुचि के साथ आश्रम की छात्राओं के द्वारा प्रस्तुत की गयी कसीदाकारी, चित्रकारी और खिलौनाकारी आदि के नमूने दिखाने लगीं। यह हाथी है, जो अपनी सूँड़ घुमाए अपूर्व शान से खड़ा है, यह खरगोश का बच्चा है जिसकी दो छोटी-छोटी आँखें, लगता है अब हिलेंगी, अब हिलेंगी और यह बछड़ा सामने खड़ी अपनी माँ के पास पहुँचना चाहता है। ....माँश्री ने छः लेश्याओं के चित्र की जो सरल व्याख्या की, वह उनके दार्शनिक ज्ञान का परिचायक थी।

आश्रम के उद्यान में एक कोने पर मान-स्तम्भ है जिसके समीप जाते ही मन उदात्त कल्पनाओं से भर उठता है। सामने ही कृत्रिम पर्वत के ऊपर १४ फुट ऊँची बाहुबली स्वामी की मनोज्ञ मूर्ति है। शास्त्रीजी ने बताया कि मानस्तंभ के निर्माण और बाहुबली स्वामी की मूर्ति-स्थापना के पीछे एकमात्र माँ की ही कल्पना कार्य कर रही थी।

सोचने लगता हूँ दर्शन और धर्म के प्रति इतनी अटूट श्रद्धा लेकर महामति गार्गी इस बीसवीं शताब्दी में कहाँ से अवतीर्ण हो गयी हैं ! फिर माँ के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कोरी दार्शनिक नहीं हैं। दर्शन और धर्म के जिन सिद्धान्तों का उन्होंने अध्ययन किया है, उन्हीं को जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान करने की भी उन्होंने सफल चेष्टा की है। माँ भक्त हैं और उनमें मीरा की तल्लीनता भी है किन्तु मीरा की तरह उनकी भक्ति ऐकान्तिक और लोक-पक्ष से शून्य नहीं है। माँ ने तो अपने आराध्य प्रभु के दर्शन उन सैंकड़ों अशिक्षित बालिकाओं के हृदय में किये हैं जो अवसर पाकर समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन सकती हैं। भारतीय समाज में नारी अपने अधिकारों से किस निष्ठुरता के साथ वंचित कर दी गयी है, इसकी कचोट का अनुभव माँ ने सहज भाव से किया है। शिक्षा के द्वारा ही स्त्रियाँ अपनी नगण्य स्थिति से ऊपर उठकर समाज के महत्त्वपूर्ण कार्यों में अपनी उचित भूमिका खेल सकती हे और अपने खोये हुए गौरव को पा सकती हैं, माँश्री को इसका पूर्ण विश्वास है।

देश के महामान्य दार्शनिक आचार्यों की तरह माँ ने भी तीर्थ-स्थानों का खूब पर्यटन किया है। किन्तु इस यात्रा में उनका उद्देश्य पुरातन आचार्यों के समान शास्त्रार्थ न होकर विशुद्ध ज्ञानार्जन ही रहा है। उन्होंने भारत के प्रायः प्रत्येक जनपद को समीप से देखा है और सम्पर्क में आये हुए वहाँ के निवासियों को अपनी करुणा का दान भी दिया है।

माँ सेवा की जीती-जागती मूर्त्ति हैं। शास्त्रीजी ने बताया कि सन् १९४३ में दक्षिण-भारत की एक छात्रा बीमार पड़ी। देखते-देखते उसकी बीमारी बढ़ गयी और उसकी जान खतरे में पड़ गयी। माँ ने स्वयं खाना-पीना छोड़कर उसकी परिचर्या करना आरम्भ किया। डाक्टर के परामर्शानुसार बर्फ की थैली सिर पर रखना, सिर में तेल की मालिस करना, हाथ-पैर दबाना आदि कार्यों को वह इस उम्र में अपने हाथों ही करती थीं। तीन दिन और रात वे रोगिणी के सिरहाने लगी रहीं। अनवरत अनिद्रा के कारण उनका स्वास्थ्य टूट चला था, आँखें सूज आयी थीं। लोगों ने उन्हें विश्राम करने की राय दी, पर उन्होंने ओजस्वी स्वर में कहा—'मुझे विश्वास है कि मैं अपनी सेवा द्वारा इसे बचा लूँगी' और एक सप्ताह की कठोर साधना के बाद माँ ने सचमुच उस लड़की के प्राण बचा लिये। आश्रम-परिवार के किसी भी व्यक्ति का कष्ट शीघ्र आपकी चिन्ता का विषय बन जाता है। ....सोचता हूँ कि ऐसी माँ पास रहें तो कौन बीमार पड़ना नहीं चाहेगा और उनका यह वात्सल्य ही तो है जो 'पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल और बंग' को एक सूत्र में आबद्ध कर रहा है !

हमलोग आश्रम की एक-एक कला-कृतियों को देखकर मुग्ध हो रहे थे, पर माँ का ध्यान अब दूसरी ओर था और उन्होंने पुकारा—'माणिकचंद, आपलोगों को कुछ जलपान तो कराओ।' और यही हैं माँ। आज आश्रम का वार्षिकोत्सव था। शिक्षा-मंत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा सभापतित्व करने के लिए कुछ घंटों के बाद आनेवाले थे। जाने कितनी तैयारियाँ करनी थी और प्रत्येक बात में उन्हें अपनी राय देनी थी चाहे वह छोटी हो या बड़ी।......पर इतनी व्यस्तताओं के बीच भी वह अतिथि-सत्कार नहीं भूलतीं।

माँश्री की बहुमुखी प्रतिभा अपनी सकल अभिव्यक्ति के जीवन के विविध क्षेत्रों में भी है। वे सुयोग्य लेखिका और सफल पत्रकार भी है। वे सन् १९२१ से 'जैन महिलादर्श' नामक पत्र का संपादन करती आ रही हैं। इसके अतिरिक्त उनकी लिखी कई महिलोपयोगी पुस्तकें हैं जिनसे नारी-समाज में अपूर्व जागरण हुआ है। 'उपदेश रत्नमाला', 'सौभाग्यरत्नमाला', 'निबन्धरत्नमाला', 'आदर्श कहानियाँ', 'आदर्श निबन्ध' और 'निबन्ध दर्पण'—उनकी कुछ पुस्तकों के नाम है। हिन्दी में सुलेखिकाओं का प्राय: अभाव-सा ही है। माँ के स्थान पर यदि प्रचार के प्रति सजग रहनेवाली कोई अन्य लेखिका रहती तो संभवतः परिमाण और गुण की दृष्टि से हीन रचनाएँ भी प्रस्तुत कर अधिक यश अर्जित कर चुकी होती। पर माँ तो कार्यों को मूल्य देती हैं, सस्ते प्रचार को नहीं। मूक सेवा ही उनके जीवन का एकांत उद्देश्य है और इसी लक्ष्य की प्राप्ति में वे सतत संलग्न रहती हैं। ....आज आवश्यकता इस बात की है कि उनकी रचनाओं की एक ग्रंथावली शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित की जाय।

जिन्होंने अपने जीवन को देश और समाज की सेवा में अर्पित कर दिया है, जिन्होंने अपनी प्राणों के स्नेह को तिल-तिल जलाकर भारतीय सांस्कृतिक ज्योतियों को अम्लान रखा है, और जिनके चरण प्रान्त में पहुँचते ही जीवन की लघु-कामनाएँ क्षार-क्षार हो जाती हैं, उन माँश्री को मेरी विनययुत श्रद्धांजलि!

—प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी, एम० ए०

आदर्श महिला की आदर्श बातें

शायद सन् १९३९–४० का जमाना था। देशरत्न डा० राजेन्द्र बाबू का देशव्यापक परिभ्रमण शुरू था। सन् '४२ की क्रान्ति की पूर्ण तैयारी थी, वे आरा आये हुए थे। जिले की कांग्रेस कमिटी के बनाये हुए दौरा के कार्यक्रमानुसार प्रचार-कार्य करते हुए अधिष्ठात्री श्री जैन-बाला-विश्राम के अनुरोध से श्री राजेन्द्र बाबू ने उक्त संस्था में जाना स्वीकार कर लिया। फलतः आरा नगर से हमलोग दस मिनट में ही राजेन्द्र बाबू के साथ पटना रोड पर स्थित धनुपुरा गाँव के निकट श्री जैन-बाला-विश्राम में पहुँच गये। आरा नगर के प्रमुख जैन, रईस एवं सम्भ्रान्त व्यक्ति भी उपस्थित थे। मैं भी कांग्रेसी साहित्यकार के नाते पार्टी के साथ था।

आरा नगर के बाहर एक अति सुन्दर एकान्त में रमणीक स्थान पर आरा नगर के सुप्रसिद्ध जैन रईस श्री बाबू निर्मलकुमार की चाची श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाईजी द्वारा आज से ३० वर्ष पूर्व स्थापित यह एक महिला-विद्यालय है। इसके निर्माण की कहानी भी अनेक मर्मव्यथाओं और रहस्यों को अपने में समेटे है। श्रीमान बाबू निर्मलकुमार के पिता श्रीमान् बाबू देवकुमारजी के छोटे भाई श्री बा० धर्मकुमारजी का विवाह वृन्दावन के प्रसिद्ध रईस बाबू नारायणदासजी की कन्या के साथ हुआ था। कन्या की आयु मात्र ११ वर्ष की और वर की आयु १८ वर्ष की थी। विधि का व्यापार विचित्र होता है, भाग्य की अमिट रेखाओं को कोई नही मिटा सकता। मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह नहीं होता। अभिलाषाएँ और मनःकामनाएँ कभी किसी की पूर्ण नहीं होती। बाबू देवकुमार अपने अनुज को सुखी-सम्पन्न देखना चाहते थे, पर उनके वे अरमान असमय में ही नष्ट कर दिये गये। धर्मकुमार अचानक बीमार पड़े और विवाह के एक वर्ष ही बाद इस असार संसार को छोड़ चल बसे। अब चन्दाबाईजी की माँग का सिन्दूर और हाथ की चूड़ियाँ सदा के लिए पृथक् कर दी गयीं। इस बारह वर्ष की बाला को पितृतुल्य श्री बा० देवकुमारजी ने संस्कृत का अध्ययन कराया, धर्मशास्त्र और दर्शन-शास्त्र का परिशीलन कराया जिससे थोड़े ही समय में यह धर्मशास्त्री बन गयीं। इस महिला ने अपनी-सी भुक्तभोगिनी महिलाओं, जिनका सुहाग लुट गया, जो अभागिनी और अशुभ करार कर दी गई हैं; को सन्मार्ग बतलाने के लिए इस ज्ञानमन्दिर की स्थापना की है। आपका जीवन वैराग्य और सेवा प्रधान है, आप रात-दिन दुःखिनी बालाओं को सान्त्वना, शान्ति और ज्ञानोपदेश देती रहती हैं। आपका जीवनोद्देश्य सेवा करना है, फल पाना नहीं। इसीका परिणाम यह है कि आज श्री जैन-बाला-विश्राम बिहार में नारियों के लिए अद्भुत शान्ति और ज्ञान का केन्द्र है। यहाँ भारत के कोने-कोने से कन्याएँ, देवियाँ और वृद्धा माताएँ आकर आत्म-साधना करती हैं। अनेक महिलाएँ तो यहाँ इसीलिए आती हैं

कि समाधि-मरण शान्तिपूर्वक हो जाय। वे इस आदर्श महिला के सम्पर्क में रहकर अपने राग-द्वेष को क्षीण कर सच्चा धर्म पाना चाहती हैं। घर से ठुकराई हुई अनेक बालाएँ जिनका कोई आश्रय नहीं, यहाँ आकर आश्रय ग्रहण करती हैं। श्री चन्दाबाईजी आश्रय देनेवाली संस्थाधिकारिणी नहीं हैं, बल्कि वह वात्सल्यमयी माँ हैं। इनकी गोद सदा सबके लिए खाली है। अस्तु।

श्री राजेन्द्र बाबू के वहाँ पहुँचते ही माताजी ने उनका स्वागत किया और विद्यालय-भवन के विशाल प्राङ्गण में आश्रमवासिनी बालाओं की सभा की गयी, जिसमें उन्हें मानपत्र समर्पित किया गया। श्री राजेन्द्र बाबू ने छात्राओं द्वारा निर्मित वस्तुओं का निरीक्षण बड़ी रुचि और तत्परता के साथ किया। वृद्धा तपस्विनी आदर्श माता चन्दाबाईजी ने आश्रम की सारी बातें समझाई। अपनी बात-चीत के दौरान में राजेन्द्र बाबू से जो उन्होंने एक बात कही थी, वह मुझे आज तक स्मरण है और उसको मैंने जब कभी स्त्रियों के बीच बोलने का अवसर पाया है, दुहराया है। उनके वाक्य थे—"हम स्त्रियों को जो बाल, युवा या अन्य किसी भी अवस्था में वैधव्य प्राप्त हो जाता है, उसे हमें समाज-सेवा तथा अन्य सुधार के लिए प्रकृति-प्रदत्त एक सुन्दर अवसर ही मानना चाहिये। मोह-माया के सांसारिक बन्धनों से स्वतः मुक्ति मिल जाती है, आत्म-सुधार और समाज-सेवा का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यदि सच्चे मानी में इसको लें तो यह अभिशाप न होकर आशीर्वाद के रूप में परिणत किया जा सकता है। ससार में ऐसा एक भी प्राणी नहीं मिलेगा, जो सर्व-सुखी हो। हर व्यक्ति किसी न किसी बात के लिए परेशान है, चिन्तित है। अतएव इस झूठे सांसारिक सुख का मोह छोड़ने के लिए विधवा-अवस्था एक प्रबल निमित्त है। जो नारी इस निमित्त का सच्चा उपयोग करती है, वह अपना सर्वांगीण विकास और कल्याण कर लेती है। सेवा के लिए प्राप्त इस अवसर का सदुपयोग करना ही जीवनोत्थान के लिए एक मार्ग है। अतएव मैंने इस अवसर से केवल लाभ उठाया है, अपनी-सी बहनों को सान्त्वना दी है और अपनी शक्ति के अनुसार समाज-सेवा के अन्य कार्यों में अग्रसर हुई हूँ।" जिस समय सादे श्वेत वस्त्र विभूषित साक्षात् देवी की तरह शान्तभाव से आदर्श माताजी के मुख से ये वाक्य सुनने को मिले उस समय मै आश्चर्य-चकित हो गया और सोचने लगा कि आज भी हमारे प्राचीनतम त्याग के आदर्शों को माननेवाली भारतीय स्त्री समुदाय में ऐसी देवियाँ वर्तमान हैं, जो अपना सर्वस्व स्वाहा कर भारतीय संस्कृति के उस महान आदर्श को जीवित रखे हुई हैं, जिसका अनुसरण सीता, अंजना ब्राह्मी सुन्दरी ने किया था।

मैं सभा की अन्य कार्यवाहियों के समाप्त होने पर जब राजेन्द्र बाबू ने वार्ता के रूप में ही बैठे-बैठे अपनी बातों को समझाना शुरू किया तो एक बड़ी मजाक की घटना घटी। मथुरा बाबू ने जो राजेन्द्र बाबू के सेक्रेटरी थे, वार्ता के बीच में ही राजेन्द्र बाबू से टोक कर कहा—"हाँ न अब आशीर्वाद के रूप में कुछ कहे का कष्ट कइल जाय।" इस पर राजेन्द्र बाबू ने मुस्कान की मुद्रा में उत्तर दिया—"आ ई हो का रहल बा?" इस पर सभी हँस उठे। मथुरा बाबू कुछ अप्रतिभ-से हो गये।

सभा समाप्ति के बाद मैं यात्रा में आगे बढ़ा और बालाविश्राम को एक लम्बी अवधि तक भूले रहा। देश में अनेक उथल-पुथल हुए। क्रान्ति की लपटें आईं और दमन का चक्र

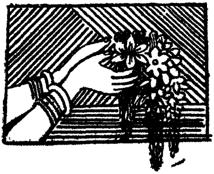
घूमा। हममें से कितने उसमें पिस गये, दब गये, कुचले गये और आहत करके सदा को सिसकने के लिए छोड़ दिये गये। परन्तु बालाविश्राम का गति-प्रवाह आश्विन की गंगा की शान्त धारा की तरह अबाध रूप से अपने ध्येय की ओर निरन्तर आगे बढ़ता ही रहा। सन् १९४७ में जब स्वतन्त्रता-दिवस का विशाल महोत्सव आरा नगर में मनाया जा रहा था तब मैं सरकारी जन-सम्पर्क विभाग का काम जिले के प्रधान की हैसियत से यहाँ कर रहा था। मित्र श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने मुझ से भेंट की और जैन-बाला-विश्राम में इस अवसर पर आयोजित उत्सव में शामिल होने का अनुरोध किया। देवी-तुल्य माताजी की ओर से भेजे गये इस आदेश को स्वीकार करने के लिए मुझे बाध्य होना पड़ा। उस दिन के जो कार्यक्रम वहाँ की छात्राओं ने उपस्थित किये उनको देखकर मेरा मन गद्‌गद हो गया, संस्था के कार्यों के प्रति आस्था अत्यधिक बढ़ गयी और माँश्री की कार्य-कुशलता का और प्रबन्ध की निपुणता का मैं कायल हो गया। खेलकूद के कार्यक्रम की समाप्ति के पश्चात् आशीर्वाद रूप में उनका ओजस्वी भाषण हुआ। मैंने भी अध्यक्षपद से देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जो-जो संघर्ष करने पड़े, जो-जो बलिदान हुए उनका जिक्र किया तथा प्राप्त हुई स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए नारियों के दायित्व को बतलाया।

माताजी की आध्यात्मिक उन्नति मैंने इस बार पहले की अपेक्षा अधिक पायी। उनका प्रसन्न मुख, शान्त और गम्भीर मुद्रा, ओजस्विनी वाणी सभी को आश्चर्य-चकित करती हैं। आध्यात्मिक शांति इतनी अधिक दिखलायी पड़ी जिससे माँश्री के सम्पर्क में आनेवाला हर एक व्यक्ति अद्‌भुत शान्ति प्राप्त कर सकता है। आप बाह्य और आभ्यन्तर उभय रूप में त्याग और संयम का पालन करती हैं। निस्वार्थ सेवा और प्रेम ही व्यक्ति को ऊँचा उठा सकता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मुझे आप में देखने को मिला।

आज शाहाबाद, बिहार या भारत का महिलामण्डल ही आदर्श माताजी को आदर या पूज्य दृष्टि से नहीं देखता; किन्तु बड़े-बड़े विद्वान्, त्यागी, साधु, नेता एवं समाज-सुधारक भी आदर्श माँ को सम्मान और पूज्य दृष्टि से देखते हैं। उनके त्याग, सेवा, परोपकार, प्रेम एवं क्रियात्मक कार्य प्रत्येक नेता या सेवक को प्रेरणा देते हैं। आदर्श माँश्री की सभी बातें आदर्श हैं, वे दीर्घायु हों।

जन-सम्पर्क विभाग,
गया।

—दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह



जगन्माता—श्री चन्दाबाई

पुराणों में जगन्माता का रूप पढ़ा, पर जगन्माता का दर्शन नहीं किया। मन में एक लम्बे अर्से से उत्सुकता थी कि जगन्मता का रूप कैसा होता है, देखा जाय। देवी भागवत पुराण में जगन्माता को सर्व दुःख हर्त्री, सर्व सुख कर्त्री, सेवकों को आनन्ददात्री बताया गया है। मेरे मन में अनेक बार यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सचमुच में क्या ऐसी कोई माता हो सकती है, जो जगत् को सुख पहुँचा सके। क्योंकि विश्व का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि जहाँ एक व्यक्ति को सुख पहुँचाया जाता है, वहाँ दूसरे को दुःख भी। सभी को सुखी बनाना किसी के वश की बात नहीं है। शायद ऐसी कोई दैवी-शक्ति ही हो सकती है, जो प्राणीमात्र को सुखी बना सके।

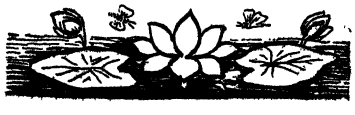
यों तो श्री जैन-बाला-विश्राम और उसकी संस्थापिका तथा संचालिका श्री ब्र० पं० चन्दाबाई जी का नाम मैं बहुत पहले से सुनता चला आ रहा था। श्री चन्दाबाईजी जैन के कार्यों के प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा भी थी; पर एक दिन मेरे मित्र श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने मुझ से कहा कि आप आजकल यहीं रहते हैं तो हमारी संस्था श्री जैन-बाला-विश्राम को अवश्य देखें। मेरा ख्याल है कि आप आदर्श संस्था की जो रूपरेखा बनाना चाहते हैं, आपको उस संस्था से इसमें सहायता मिलेगी। उन दिनों मैं एक उलझन में लगा था, मेरा मस्तिष्क दिन-रात एक सर्वांगपूर्ण भारतीय संस्कृति को लेकर चलनेवाली संस्था की कल्पना में व्यस्त था। अत. शास्त्री जी के आग्रहानुसार एक दिन प्रातःकाल मैं धर्मकुंज में स्थित श्री जैन-बाला-विश्राम में पहुँचा। मैंने छात्रावास, विद्यालय, छात्राओं का रसोई-घर देखा। शिक्षण-पद्धति देखने का अवसर भी मिला। कक्षा में बैठा-बैठा लगभग एक सवा घण्टे तक अध्यापन-कार्य देखता रहा। छात्राओं के प्रश्नोत्तर सुनकर चित्त गद्‌गद हो गया। उनकी योग्यता, वचन-पटुता और भारतीय संस्कृति के प्रति उत्पन्न हुए ममत्व को देखकर मैं फूला न समाया। सोचने लगा—'अरविन्द आश्रम का नाम सुना था, देखा समझा भी; पर यह संस्था आत्मोन्नति में उक्त आश्रम से भी बढ़कर है। इसमें लौकिक ज्ञान के साथ आत्मोत्थानकारक शिक्षा दी जा रही है, यह हमारे देश के लिए अत्यन्त शुभलक्षण है। आज देश को इस प्रकार की दर्जनों संस्थाओं की आवश्यकता है।

जब मैं सब कुछ देख चुका तो मैंने प्रश्न किया कि इस संस्था का जीवन-केन्द्र कहाँ है? प्राण-संचार किस स्थान से होता है? कौन तपस्वी, मनीषी इसमें अपना जीवन लगा रहा है? मेरे इन प्रश्नों को सुनकर शास्त्रीजी ने माँश्री चन्दाबाईजी का नाम लिया। मैंने सहज भाव से कार्यालय में पहुँच कर जगन्माता के दर्शन किये। मेरे समक्ष देवीभागवतोक्त जगन्माता का रूप उपस्थित था। वह माता

कल्पित नहीं, किन्तु अस्थि-चर्म से निर्मित, अद्भुत तेज और प्रकाश से युक्त थी । मेरे सामने पाण्डु-चेरी के अरविन्द आश्रम की माँ का चित्र भी आ गया । दोनों माताओं की तुलना की, मन ने कहा जगन्माता का रूप जगत् का कल्याण करनेवाला है । यह सौम्य मूर्ति, दिव्य तपस्विनी, संसार के जंजाल से पृथक्, मुखमण्डल पर योगियों जैसा तेज और शुभ्र-सादे वस्त्र धारिणी जगन्माता है । इसकी आँखों में जगत्कल्याण की ज्योति है । यह अपना वरद हस्त ऊपर किये हुए आशीर्वाद दे रही है "सुखी होवें सब जीव जगत् के" । मैंने दोनो हाथ जोड़कर प्रणाम किया, उनकी चरणरज अपने सिर पर धारण कर अपने को धन्य समझा । आज पहली बार जगन्माता का अलौकिक तेज देखने को मिला । योगी अपने शरीर पर नियन्त्रण कर आत्मिक शक्तियों को बढ़ा लेता है, विश्व में अपनी साधना द्वारा एक नवीन उत्साह और कल्याण का मार्ग स्थापित करता है, यही बात इस जगन्माता में है । सचमुच में इतना दिव्य तेज मैंने इसके पहले कभी नही देखा । इसी कारण मेरे मुँह से निकल पड़ा—यह जगन्माता भगवती है, इसने अपने राग-द्वेष रूपी असुरों का संहार कर दिया है; इसका पदार्पण इस भूमण्डल पर मानव-कल्याण के लिए हुआ है ।

मीरा और तुलसीदास की कुण्डली में योगी होने का योग पड़ा था । मीरा भक्तिन थी और तुलसीदास भक्त । परन्तु इस जगन्माता की कुण्डली में तपस्विनी का उच्च योग होते हुए भी जगन्माता का योग है । यह विश्व की परोपकारिणी माँ है, संसार का कल्याण और उत्थान चाहनेवाली ममतामयी माँ है । सहस्रों बालाएँ इन्हें माँ कहती हैं, अगणित पुरुष इन्हें माँ कहते हैं, अतिथि और आगन्तुक इन्हें माँ कहते हैं । अतएव ऐसी माँ जगन्माता है, इसकी सन्तान सारा संसार है । यह प्राणीमात्र के साथ वात्सल्य भाव रखती हैं, जड़, चेतन जितना जगत् का व्यापार है, सबके साथ सन्तानवत् वात्सल्य भाव रखती हैं । यह वह माँ नहीं है, जो अपराध होने पर सन्तान को डाँटती-डपटती हैं, किन्तु सदा अमृतमय स्नेह की वर्षा करनेवाली यह माँ है । धरती के बड़े सौभाग्य और पुण्य के उदय से ऐसी माँ का जन्म होता है । इस माता की स्नेहच्छाया सर्वत्र पड़ रही है, इसकी विलक्षणताएँ 'चिन्मयी माता' से भी बढ़ कर है । मुझे जो आनन्द, जो हर्ष चिन्मयी माता के दर्शन से मिला, वही आनन्द और वही उल्लास इस जगन्माता के दर्शन से भी प्राप्त हुआ । यह जगन्माता शतं जीवेत्—दीर्घायु हो । इनका स्नेहाञ्चल हम सब पर बराबर पड़ता रहे, यही मेरी कामना है । मैं अपने श्रद्धा-सुमनों की अञ्जलि भर कर जगन्माता के चरणारविन्दों की अर्चना करता हूँ ।

चौकी, इलाहाबाद । —रामनरेश प्रसाद



आँखों देखी, कानों सुनी—माँश्री

दूध से मानो धोयी, धवल वस्त्र से विभूषित, नयनों में अपूर्व ज्योति समेटे, उन्नत ललाट पर त्याग और तपस्या की रेखाएँ लिए, मुख में मधु-मिश्रित सुखमय जगजीवन की वाणी अपनाये, हृदय में अपार स्नेह, प्यार एवं ज्ञान का भाण्डार समेटे—ऐसी माँश्री का कोई भी दर्शन सहज कर सकता है। माँश्री पं० चन्दाबाईजी को देखने पर ही एकबारगी सादगी, तेजस्विता, त्याग, तपस्या, साधना, स्नेह, भक्ति, ज्ञान, विराग आदि गुण स्वय ही हृदय में उतर जाते हैं। जीवन में जिस नारी के हृदय में प्रदीप जला उसने उसके अंग, प्रत्यंग को प्रकाशित एवं आलोकित कर दिया।

वह थी तो उस प्रदेश की निवासिनी जहाँ पर मधु है, जीवन है, यमुना है, उसका कूल-किनारा है, कृष्ण की बाँसुरी है और है राधा का त्याग। इसी प्रदेश में उसने हृदय में अपूर्व प्यार, प्रेम एवं वात्सल्य संचित किया—उसे बटोरा, उसे समेटा। पर उस समय यह प्यार बटोरा जाता था अनजाने में—शायद कोई प्रत्यक्ष आधार नही था। उसे तो उस भूमि के प्यार की, जिसमें सच्चाई है, जिसमें त्याग करने की सामर्थ्य है, जिसमें दूसरों को देने की भावना है; सत्यता को सिद्ध करना था। पति को वह सब कुछ देती, किन्तु जिसका इतना विराट् स्वरूप था, उसे यह मानव सम्हाल नहीं सकता था; वह तो मानव समुदाय के लिए था और इसीलिए सुहाग-सिन्दूर १२ वर्ष की उम्र में धुल गया। पर यह उनकी माँग का सिन्दूर एव उनकी धानी चुनरिया उनसे माँगी गई थी विश्व को आनन्द एवं ज्ञान देने के लिए।

पति की मृत्यु ने उनकी सारी कोमल भावनाओं पर आघात किया—पर उन कोमल भावनाओं का कोई विकास, स्वरूप तो होना ही चाहिए था। बारह वर्ष की अबोध बालिका धीरे-धीरे समझने लगी कि सिन्दूर एवं शृंगार के साधन उसके लिए नहीं, सुन्दर वस्त्राभूषण उससे छीन लिये गये—चूड़ियों की झनझनाहट उसके हाथों से लुप्त हो गई और धीरे-धीरे उसके हृदय की कोमल भावनाएँ एक दिव्य स्वरूप लेकर सर्वजनहिताय की ओर बढ़ चलीं। वैष्णव परिवार का जन्म तो था, पर उसकी दिशा बदल दी गयी और वह जैन परिवार में आ गयी थी। भक्तिभावना थी ही, लगन थी ही, प्रेम था ही, सिर्फ स्वरूप बदलना था और इसीलिए कोई पूर्व निश्चित आधार नहीं होने के कारण हृदय की समस्त भावनाएँ एकबारगी ज्ञान आने पर प्रभु के चरणों में न्योछावर हो गयीं। वीतराग जिनेन्द्र की भक्ति ने एक ऐसा प्रदीप जलाया, जिससे आज उनकी नगरी आरा ही नहीं, उनका प्रान्त बिहार ही नहीं—परन्तु आज समस्त भारत उनके गुणों की प्रशंसा-मुक्त-कंठ से कर रहा है और उनका अभिनन्दन करता है।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ तो हुआ—राष्ट्रीय भावनाएँ तो भारत में प्रबल होने ही लगीं; पर इसके साथ भारतीय अपनी दीन एवं पतित अवस्था को भी अवलोकने लगे। विद्या की अवनति से भारतीय अपनी स्थिति का उचित अनुमान भी तो नहीं कर पा सकते थे और यही कारण था कि जाति, देश एवं राष्ट्र का उद्धार होना उस समय संभव नहीं था। विशेष कर नारी जाति, उसमें भी जैन-समाज की नारियाँ विद्या से काफी दूर चली जा रही थीं। धर्म एवं ज्ञान दूर होता जा रहा था और पूर्ण भौतिक जीवन की ओर सभी का झुकाव हो रहा था। बहुत दिन से चली आती हुई वह ज्ञान की दीपशिखा, उस धर्म की लौ कुछ धीमी पड़ रही थी और वह एक ऐसी आत्मा को खोज रही थी जो उसमें फिर से प्राणों का संचार कर सके, जो उस दीप में पूर्ण ज्योति प्रदान कर सके।

भारत के जैन-सम्प्रदाय में सांसारिक विषय-वासनाओं को त्याग कर एक तपस्वी का जीवन व्यतीत करनेवालों की संख्या यद्यपि बहुत अधिक नहीं, फिर भी यह संख्या धर्म, ज्ञान एवं विद्या की उन्नति के लिए पर्याप्त बन सकती है। परन्तु विशेषकर उत्तरी भारत में इन तपस्वियों की संख्या नहीं के बराबर है और उन दक्षिण के तापस मनीषियों से उत्तर भारत के जनसमुदाय को समय-समय पर लाभ तो अवश्य होता रहता है, पर वह स्थायी वस्तु नहीं बन पाता। एक बार एक ज्ञान एवं धर्म की लहर आती है और वह लहर दूसरी बार लुप्त हो जाती है। विहार प्रान्त की आरा नगरी भी जैनधर्म की धार्मिक भावनाओं से बहुत पहले से ओत-प्रोत थी; पर यहाँ भी वही बात थी—सभी एक नया सम्बल खोज रहे थे, सभी एक ऐसी ज्योति खोज रहे थे जो उनके रोम-रोम को धर्म एवं ज्ञान से झंकृत कर दे। माँश्री का ऐसे समय में इस नगरी में आना अत्यन्त शुभ एवं लाभप्रद हुआ। अज्ञानान्धकार में मनुष्य अपने को भूल जाता है—अपनी परिस्थिति, अपने समाज, अपने धर्म एवं अपने राष्ट्र तक को भुला देता है, इन्हीं विचारों को ध्यान में रखकर माँश्री ने अपने में ज्ञान एवं धर्म का प्रदीप जलाकर नागरिकों की सेवा का बीड़ा अपने हाथों उठाया। उनके रचनात्मक कार्यों का उल्लेख करना हमारा यहाँ ध्येय नहीं है। पर हाँ, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि माँश्री के अथक प्रयास से आरा नगरी में तीन संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ—कन्या-पाठशाला, बच्चों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए रात्रि-पाठशाला, और आरा से दो मील-स्थित जैन-बाला-विश्राम—ये तीन संस्थाएँ इस देवी की अपूर्व देन हैं। इनमें से तीसरी जैन-बाला-विश्राम तो इस विहार की प्रमुख संस्था बन गयी है। आश्रम का वातावरण बालिकाओं को स्वावलम्बन का अपूर्व पाठ पढ़ाता है। जितनी बालिकाएँ एवं प्रौढ़ बालाएँ इस संस्था में रहती हैं, उनका जीवन साधनामय है—ज्ञान की जिज्ञासा एवं धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत आश्रम सचमुच में ऐसी किरणें बिखेर रहा है, जिससे जो प्राणी इसके संसर्ग में आते हैं, वे अवश्यमेव आलोकित होते हैं।

माँश्री सचमुच में जैनधर्म की एक ऐसी प्रतीक बन गयी हैं, जिसका प्रभाव जो इनके सम्पर्क में आता है, उस पर बहुत ही जल्द पड़ता है। कारण यह है कि और जो तपस्वी हैं वे हमारे बीच से हट कर दूर साधना करते हैं और उस साधना से जो ज्ञान उन्हें होता है उस ज्ञान को वे विकीर्ण करते हैं। विस्तृत रूप से देखने पर सभी धर्मों में ऐसे साधु-सन्तों की कमी नहीं है, परन्तु ऐसा

प्रतीत होता है कि वे आज जीवन को समझ नहीं पाते, उनकी बातों का, उनके विचारों का, उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता और वे उस गहराई तक पहुँच नहीं सके। दूसरी ओर वे साधक हैं, जो समाज के बीच रहकर अपनी साधना करते हैं—वे समाज के सुख-दुःख को देखते हैं, उसकी कमजोरियों को समझते हैं और उन कमजोरियों को, सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं और बहुत अंश तक सफल भी होते हैं। क्या कारण है कि महात्मा गान्धी से समाज का बृहद् अंश प्रभावित हुआ और आज भी उनके विचारों से समाज प्रभावित हो रहा है ? एकमात्र उत्तर यही है कि उनकी साधना इन्हीं सांसारिक कमजोरियों के बीच हुई। उनकी साधना में स्वयं को सुखी बनाने की भावना नहीं है, प्रत्युत समाज को सुखी बनाने की प्रबल आकांक्षा है। माँश्री का जीवन भी इसी ओर संकेत करता है, उनका जीवन साधनामय है, परन्तु वह साधना समाज को छोड़कर नहीं—समाज में फैले अवगुण का वे अवलोकन करती हैं और तत्पश्चात् अपनी साधना से उन अवगुणों को दूर हटाने का प्रयत्न भी करती हैं। और इसी तरह समाज स्वस्थ, सुन्दर एवं स्वच्छ बन सकता है।

माँश्री के वैयक्तिक जीवन को यदि हम देखें, तो हमें अवगत होगा कि वह इतना नियमित एवं इतना आयोजित है कि उनका एक पल भी व्यर्थ नष्ट नही होता। उनके लिए प्रत्येक पल उनकी साधना का अंश है और इसीलिए प्रत्येक क्षण में उन्हें ज्ञानार्जन एव ज्ञान विकीर्ण करने की पिपासा है। उनका दैनिक जीवन भी और तपस्वियों से कम नहीं है। साधना, तपस्या, स्वाध्याय, पूजा-पाठ तो उनके जीवन-अंग हैं। सम्पूर्ण समय का बहुत अंश तो इन्हीं कार्यों में व्यतीत होता है। परन्तु यह भी बात है कि समय आने पर उन्हें कोई समाज से दूर नही देख सकता। मृत्युशय्या पर पड़े अपने ही परिवार के एक सदस्य के पास अभी हाल ही में जब मैंने उनको देखा तो मुझे ज्ञात हुआ कि सचमुच में इनका हृदय इन सांसारिक मनुष्यों की वेदना का अनुभव पूर्णरूपेण करता है। मृत्युशय्या के निकट रहकर उस आत्मा को शान्ति प्रदान करना जैसे उन दिनों इनके जीवन का एक प्रमुख अंग बन गया था। कितनी शान्ति, सौम्यता एवं धैर्य तब भी उस चेहरे पर था ! क्योंकि उन्हें इस संसार के आवागमन का स्वरूप पूर्णतया ज्ञात है।

माँश्री के जीवन में धार्मिक भावना तो इतनी घर कर गयी है कि वे अहर्निश जैनधर्म की धवल पताका को गगनाङ्गण में लहराते देखना चाहती है। जैनधर्म की 'अहिंसा परमोधर्मः' की भावना उनके जीवन का एक विशिष्ट अंग है, उसके बिना वे खड़ी ही नहीं हो सकतीं। "जैन जागरण के अग्रदूत' के रूप में आकर माँश्री ने जैनधर्म की भावना को जाग्रत रखने के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं और उनमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। अभी कुछ दिनों की बात है जब कि 'हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल' की बात बहुत जोरों से भारत में चल रही थी, उन्होंने इसे धार्मिक भावना के विरुद्ध समझा और उसकी अस्वीकृति के लिए वे भारत की राजधानी दिल्ली तक गयीं और वहाँ न जाने कितने लोगों से मिल-कर जगह-जगह से तार, पत्र दिलवा कर बम्बई सरकार के मुख्यमन्त्री श्री बालगंगाधर खेर से अनुरोध कर अन्त में उस बिल से जैनमन्दिरों को पृथक् करा दिया। इन धार्मिक भावनाओं में उनकी एक विशेष निष्ठा प्रतीत होती है। उनके आत्म-विश्वास की बात तो बिलकुल निराली है; क्योंकि यह विश्वास उनके साधनात्मक जीवन का एक अंग है। जैनधर्म की थोड़ी-सी उन्नति एवं जागृति

देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है, कारण यह है कि इस धर्म ने उन्हें इतना ऊपर उठाया है जिससे उनका विश्वास है कि जो दूसरे इसके संसर्ग में थोड़ी-सी भी भावना के साथ आते हैं, उनकी आध्यात्मिक भावना में सहसा इतना परिवर्तन हो जाता है कि वे सांसारिकता से अवश्य ऊपर उठ जाते हैं। इसकी प्रगति में ही जैसे उनके जीवन की प्रगति छिपी है। पर यह नहीं कि और धर्मों के प्रति उनमें घृणा या द्वेष की भावना है। वे औरों को दबाकर ऊपर उठना नहीं चाहतीं, पर हाँ वे स्वयं ऊपर अवश्य उठना चाहती हैं। इस विचार से ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भावना को वे जन-जन के जीवन में भर देना चाहती हैं। उन्होंने जितना कुछ अपनी तपस्या से अपनी साधना से पाया है, वे सब कुछ दूसरों को, इस जगती के प्राणियों को देना चाहती हैं। उन्होंने जिन जलकणों को अपने शरीर को सुखा-सुखाकर पाया है, उन्हें इस अतृप्त वसुन्धरा को, प्यासी वसुधा को देकर सिंचित करना चाहती हैं। विश्व का सम्पूर्ण गरल उनके लिए हो और विश्व के प्राणियों को अमृत का पान, यही उनकी चाह है।

दूसरी ओर वे सामाजिक जीवन एवं समाज से दूर तापसी-जीवन के बीच की एक अनुपम कड़ी हैं। बात यह है कि उनके विशाल हृदयाश्रम में दोनों ने स्थान पाया है; दोनों यहाँ आकर आनन्द का अनुभव करते हैं। दोनों ही उनकी साधना का लाभ उठाते हैं और दोनों को एक शृंखला में बाँधने का वृहत् काम उनके द्वारा बड़ी ही सरलता से संभव हो जाता है। मुनियों की, जो जग-जीवन से काफी दूर हैं, सत्संगति द्वारा मांश्री अपना आत्म-प्रक्षालन निरन्तर करती रहती हैं।

मांश्री की विद्या-भावना तो बिलकुल अपूर्व है। उनकी इस भावना में परीक्षा में, उत्तीर्ण होकर उपाधि प्राप्त करना ही एकमात्र ध्येय नहीं है, वे तो उस विद्या को प्रोत्साहन देती हैं जो निर्वाण-प्राप्ति में सहायक हो। वे चरित्र में हिमालयत्व की भावना चाहती हैं, जिसमें अडिगता हो, दृढ़ता हो और हो अपने सिद्धान्त में सब कुछ अर्पण कर देने की भावना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने आश्रम की स्थापना की। और इस विद्यामन्दिर में जो विद्यादान होता है, उसके प्रत्येक अंश में साधना की भावना अन्तर्निहित रहती है। उसकी प्रत्येक स्वरलहरी में जीवन-गीत छुपा होता है और उसका प्रत्येक कार्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होता है। नैतिकता, चरित्रबल, एवं विशुद्धता उन बालाओं का मुख्य अंग बन जाती है। सचमुच जिस विद्या में हृदय की शुद्धि नहीं, हृदय का परिमार्जन नहीं, वह विद्या पूर्ण नहीं। आजकल इस भौतिक युग में विद्या का माप-दण्ड ही बदलता जा रहा है; अतः इस प्रकार की ज्योति-किरण विकीर्ण करना एक बहुत बड़ी आवश्यकता है और इस दिशा में मांश्री की अपूर्व देन है।

ज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अपने में इतनी दक्षता प्राप्त कर ली है कि वे बड़े-बड़े पण्डितों या शास्त्रज्ञों के समक्ष शास्त्रों की गूढ़ और सूक्ष्म बातों को प्रकट कर समयानुसार यश प्राप्त करती रहती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सतत साधना से विद्या को अपने हाथों की कठपुतली बना लिया है। आज माँ सरस्वती मांश्री को अपना सर्वस्व देने के लिए प्रस्तुत हैं; क्योंकि वह जानती है कि उसकी उपयोगिता अपने को उन हाथों में दे देने में है, जिनसे जग को लाभ हो और मांश्री भी जो

कुछ पाती हैं, उसे बिखेर देने में ही आनन्दानुभव करती हैं। सभाओं में, विशेषकर जहाँ पर नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक बातों की चर्चा रहती है, उन स्थानों पर आप विशेष अभिरुचि लेकर जाती हैं। सभाओं में अपनी मधुर भाषा में भाषण देना आपको विशेष प्रिय है; क्योंकि उससे अपनी भावनाओं को वे बड़े ही अच्छे ढंग से दूसरों तक पहुँचा सकती हैं। उनके कहने की शैली—उनके अभिभाषण का ढंग कुछ ऐसा है कि आपकी भावनाओं से बरबस व्यक्ति को प्रभावित होना पड़ता है। वे धार्मिक भावनाओं को भी लोक-प्रचलित भावनाओं से इतना मिला देती हैं कि उनका पालन करना जीवन के लिए मंगलप्रद होता है।

उनकी राष्ट्रीय भावना तो सचमुच में इन धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक भावनाओं से विशेष रूप में चमक पा गयी है। उन दिनों जब स्वतन्त्रता के पहले राष्ट्रीय भावनाओं की लहर इस देश में प्रारम्भ हुई थी, माँश्री का योग भी उसमें कम नहीं। बापू भी राष्ट्रीय भावना का प्रदीप जलाते हुए आरा नगर में पधारे थे। उसी समय उन्होंने माँश्री द्वारा संस्थापित 'वनिताश्रम' एवं उसमें प्रतिष्ठित शान्ति को देखकर आनन्द प्रकट किया था और उस समय जो काम माँश्री ने किया था वह प्रशंसनीय कहा जा सकता है। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत यह नारी कार्यक्षेत्र में आने के साथ ही इस दिशा में अत्यधिक प्रयत्नशील रही हैं। समय-समय पर सामाजिक भाषणों द्वारा इस दिशा में एक लहर उत्पन्न करती रही हैं। देश की स्वतन्त्रता के अवसर पर माँश्री के जीवन की एक बहुत बड़ी चाह पूरी हुई थी। उस समय जो हर्ष, जो प्रसन्नता, जो सन्तोष, जो तृप्ति आपको प्राप्त हुई थी, वैसा आनन्द, वैसा हर्ष, वैसा उल्लास शायद ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हुआ हो।

इस तरह हम देखते हैं कि माँश्री ब्र० पं० चन्दाबाईजी ने जीवन के एक अंग को नहीं, बल्कि उसके प्रत्येक अंग, प्रत्येक दिशा को छूकर सुघड़ एवं सुन्दर बनाया है। आज उनके चरणों में रहकर जिनको उनके ज्ञान, उनकी भावना एवं उनके विचारों को सुनने, समझने का लाभ प्राप्त है; मेरा तो विश्वास है कि उनका जीवन उस अपूर्व ज्योति के संसर्ग से अवश्यमेव ज्योतिर्मान होगा और उस ज्योति की एक भी किरण जिसने अपना ली उसका जीवन, जगती का जीवन हो जायगा और उसमें सहज ही सेवा, धर्म, ज्ञान का प्रदीप जल उठेगा। मैं सौम्य मूर्ति माँश्री के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ, उनकी दीर्घायु की कामना करता हूँ। उनकी आयु द्रौपदी का चीर बने, जिससे जगतीतल का अज्ञान-तिमिर दूर हो सके। ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

—विजयेन्द्रचन्द्र जैन, एम० ए०





बायें ऊपर से नीचे की ओर——

१.	सन्तोष कुमार	*[illegible] कुमारी
२.	प्रबोध कुमार	*[illegible]
३	प्रमोद कुमार	*ब्र० प० बा० निर्मल कुमार *[illegible] प्रभा
४	योगेन्द्र कुमार	*बाबू निर्मल कुमार *ब्र० प० चन्दाबाई
५	प्रेम कुमार	*[illegible] (अनुजा) *[illegible] प्रभा
६	विमल कुमार	*बाबू चक्रेश्वर कुमार *ब्र० प० बा० देव कुमार
७	अतुल कुमार	*धर्मपत्नी बाबू चक्रेश्वर कुमार *[illegible] प्रभा
८	सुबोध कुमार	*[illegible] देवी
९	सरोज कुमार	*कमला देवी





[illegible]

आदर्श देवी

त्याग तो सर्वदा वंदनीय है ही, परन्तु वह त्याग, जहाँ भोग और ऐश्वर्य के साधन की सारी सम्पन्नता—वर्तमान है। जहाँ त्याग करने के निमित्त—

"नारि मुई गृह सम्पति नासी—

का मजमून तथा अन्य प्रकार से किन्हीं कारणों की विवशता नहीं, प्रत्युत स्वेच्छया त्याग है,—परम वंदनीय तथा अति महान माना गया है। एक धन-वैभव-सम्पन्न भूमिपति का, अपना सारा सुख, ऐश्वर्य परित्याग कर, त्यागी, तपस्वी तथा विरागी होना जितना महान, श्रेष्ठ तथा श्लाघनीय है, उतना एक साधारण जन का नहीं। तात्पर्य जिसका जितना बड़ा त्याग होगा, वह उतना ही बड़ा पूज्य स्तुत्य एवम् आदरणीय माना जायगा। महान आत्मा भरत ने भ्रातृ-स्नेह-वश, अपनी माता कैकेयी द्वारा उपार्जित चक्रवर्ती राज्य, लाख अनुनय-विनय करने पर भी परित्याग कर ही दिया, इसी कारण उनका त्याग सर्वोपरि तथा परम वंदनीय माना गया है, और स्वयं भगवान राम ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

ऐसा ही परम स्तुत्य, वंदनीय त्याग, मेरे जिले—आरा—के ही नहीं, अपितु समस्त भारतवर्ष के हेतु गौरवास्पद, आरा के परम प्रसिद्ध तथा सुप्रतिष्ठित जमीन्दार, धनाधिप जैन-परिवार की महिला-शिरोमणि, आदर्श देवी आजन्म ब्रह्मचारिणी, परम विदुषी-रत्न पण्डिता चन्दाबाईजी जैन महोदया का है।

इस कहावत के अनुसार कि—"संसार अपनी महान विभूतियों को नहीं जानता"—यह सच है कि महान महिलारत्न को जैनेतर-समाज प्रायः नहीं ही जानता है। परन्तु यह भी उतना ही सच है, कि आज के इस भौतिक युग में, जहाँ भोग और आनन्द, "जिओ और खुश रहो—!" के नारे से आसमान फटा जा रहा है, मानो जीवन का मात्र ध्येय भोग और केलि ही हो—भोग और विलास, सुख और आनन्द की महाराशि की अधिकारिणी होकर भी, अपनी सारी लालसाओं को भस्मसात् कर, अपने परम-रम्य प्रासाद का परित्याग कर, शहर के उष्ण, उद्विग्न एवम् कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर, एक साधारण-से आम्र-निकुंज में जननी-जाति की निस्सहाय, निरुपाय तथा निर्बल कन्याओं, युवतियों, प्रौढ़ाओं और वृद्धाओं की केवल सेवा-सहायता ही नहीं, प्रत्युत उनके सद्विवेक, धर्म-भावना तथा सदाचार को अनुप्राणित करने के हेतु सतत प्रयत्नशील, उनके जीवन को सच्चा सुख, सच्ची आत्मशांति प्रदान के निमित्त एक संतानवत्सला माता की भाँति सदा व्यग्र तत्पर—ऐसी देव-दुर्लभ देवियाँ, आज कहाँ मिलती हैं!

श्री चंदाबाईजी भी अपनी कटि में अपने अपार कोषागार की कुंजियाँ शान से लटकाकर बड़ी आन-बान से अपने परिवार तथा भृत्यवर्ग पर शासन कर 'धनपुरावाली बहूजी' के बावजूद "मालकिन-रानी", "बहूरानी" कहला सकती थीं। सैंकड़ों दास-दासियाँ सेवा में सदा संलग्न रह सकती थीं। इन्हें प्रभु ने क्या नहीं दे रखा है ! विशाल जमीन्दारी, आलीशान इमारत, इफरात पैसे, भरा-पूरा सभ्य, सुशिक्षित सहृदय तथा सज्जन परिवार और परिवार में बहुत बड़ा सम्मान-आदर—! सब है।

किन्तु नहीं, शानो-शौकत, रोब व ठाट की ये समस्त सामग्रियाँ इस देवी को अपनी ओर उसी प्रकार तनिक भी आकर्षित नहीं कर सकी, जिस प्रकार—

"कामी वचन सती मन जैसे !"

सेवा, साधना, तप तथा त्याग की ज्वलंत मूर्ति इस आदर्श देवी ने संसार के इन सारे मूढ़ मोहों पर निर्मम पाद-प्रहार किया और धर्म, देश, समाज तथा जाति-गंगा की सेवा के महा प्रेमयोग में महादेवी "मीरा" की भांति पक्के रंग में अपनी चुनरी रंगाई। संसार की सारी लुभावनी रंगीनियाँ इस देवी को टुक अपनी ओर मुखातिब न कर सकीं। क्योंकि यह विदुषी महिला संसार की इन कच्ची रंगीनियों की झूठी चमक से भलीभांति परिचित थी। इसे मालूम था, यह चकमक केवल एक भयानक छल और प्रवचना के अतिरिक्त कुछ नहीं। आँखों में चकाचौंध पैदा करनेवाली इस नकली 'छींट' की चमक जहाँ एक बार भी 'भट्ठी' पर चढ़ी कि सत्यानाश !

नारी-जाति की पवित्र धरोहर इस देवी ने मानव-जाति की सेवा का मर्म समझा और सेवा के इस घोर कठिन पर परम सुमिष्ट मेवे की प्राप्ति के लिये अपना सारा सुख, आराम ही नहीं, अपना जीवन तक सहर्ष उत्सर्ग कर दिया और इस स्वर्गीय मेवे को प्राप्त कर लिया—अपने जीवन को अक्षय-अमर बना दिया।

जब तक "धनुपुरा" का "धर्मकुंज" "जैन-बाला-विश्राम" और इन संस्थाओं से दीक्षित, विदुषी धर्मरता, सेवा-परायणा देवियाँ रहेंगी, तब तक इस आदर्श देवी, आदर्श ब्रह्मचारिणी, आदर्श विदुषी तथा आदर्श सेवा, तप और त्याग की प्रोज्ज्वल-प्रतिभा सु-श्री पंडिता चन्दाबाईजी जैन का पावन नाम दिनकर की भांति दैदीप्यमान, कांतिमान् कंचन की नाईं सदा चमत्कृत रहेगा।

भगवान से प्रार्थना है—भारतीय संस्कृति, आदर्श, मर्यादा, परम्परा तथा मान्यताओं की सजीव, सक्रिय प्रतीक, मातृवत् इस आदर्श देवी को दीर्घायु करें, जिससे देश, धर्म, समाज और जाति-सेवा का यह धूप-दीप सदा प्रज्वलित रहे।

इति शम् !

जगदीशपुर

—सरयू पण्डा गौड़



चन्दाबाई—एक तपस्विनी

एक दिन मैं श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा, में बैठा हुआ था। बात के सिलसिले में पं० के० भुजबली शास्त्री ने श्री जैन-बाला-विश्राम, धनुपुरा, का जिक्र किया, और बताया कि उक्त संस्था का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा है। उन्होंने मुझसे भी उक्त सम्मेलन में शामिल होने के लिए कहा। शास्त्रीजी के प्रति मेरी पूर्ण श्रद्धा है। उनकी योग्यता और भलमंसी में मैं विश्वास रखता हूँ। उनके अनुरोध को टालना मुश्किल हो गया।

वार्षिकोत्सव में मैं सम्मिलित हुआ। कार्यारंभ के शीघ्र ही बाद एक अधेड़ महिला का दर्शन हुआ। सफेद साड़ी में एक अजीब प्रतिभापूर्ण मूर्ति दिखाई पड़ी। मुखमंडल पर शांति का साम्राज्य छाया हुआ था। मालूम हुआ, किसी सद्विचार की चिन्ता में निमग्न हैं उनकी आँखें।

उत्सव की समाप्ति के पूर्व उन्होंने विनम्र शब्दों के बीच अपने उद्‌गार प्रकट किये—"त्याग और तपस्या की प्राप्ति के बिना जीवन सुखकर नहीं बन सकता।" उनके ये वाक्य आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। उन्होंने अपने भाषण के सिलसिले में कुछ और ऐसी बातें कहीं, जिन्हें भूल जाना कठिन है। उन्होंने कहा—"चरित्र-बल से बढ़कर कोई भी बल नहीं है। उसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम सत्य में निष्ठा रखेंगे, त्याग का अस्त्र बनावेंगे और जीवन को सादा रंग से रंगते रहेंगे। सेवा-धर्म मानव का भूषण है। इसी से सहनशीलता आयगी; और आत्मोन्नति के लिए सहनशीलता आवश्यक है।"

उपर्युक्त वाक्य वास्तव में मानव-जीवन को कांचन बनाने में प्रबल सहायक हो सकेंगे। जिस मनुष्य में चरित्र-बल नहीं है, वास्तव में वह मनुष्य है ही नहीं। चरित्र-बल की प्राप्ति जीवन को सादगी की ओर बढ़ाने से ही हो सकती है। सादगी का अर्थ सिर्फ वस्त्र की सादगी तक ही सीमित नहीं है। उसे तो हमें खान-पान, बोल-चाल और आचार-विचार में भी ढूँढ़ना चाहिए। जितना ही अधिक हम अपने जीवन को सादगी की ओर झुका सकने में सफल हो सकेंगे, उतना ही हमारा चरित्र-बल मजबूत होता जायगा। लेकिन, यह तो एक साधना की चीज है; और साधना के लिए तपस्या आवश्यक है।

बाईजी को हम साधना में निरत देखते हैं। साधना के लिए अहंभाव का त्याग आवश्यक है। इसके लिए मन, वचन और कर्म पर एकांत रूप से नियंत्रण रखना होता है। बाईजी के वचन में

शांत-भावना है, मन में एकांत साधना है और है कर्म में दृढ़ रहने की प्रवृत्ति । ये सभी लक्षण एक तपस्वी के हैं; और इसीलिए मै इन्हें एक तपस्विनी कहता हूँ ।

जिस चीज के त्याग से मन में आनन्द उत्पन्न होता है, वास्तव में वही त्याग है । उसके रहने से हृदय में जो बेकली बनी रहती है, उससे छुटकारा मिलता है; और इसीलिए आनन्द की प्राप्ति होती है । ज्ञानियों ने इसीको इच्छा का त्याग कहा है । इस त्याग को अपनाने के बाद अपार संपत्ति और भव्य-भवन का मोह छूट जाता है; और उनसे किनाराकशी करने में ही आनन्द मालूम होता है । इसीको त्याग कहते हैं । बाईजी एक धनाढ्य घर की लड़की हैं; और धनाढ्य घर में विवाह भी हुआ है; लेकिन इनके लिए सारी सपत्ति और ऐशोआराम के सभी साधन धूल के समान हैं । एक छोटी-सी कोठरी में रहना, चिन्तन करना और आत्मोन्नति की ओर सचेष्ट रहना ही इनकी एकमात्र दिनचर्या है । फिर मैं इन्हें तपस्विनी क्यों न कहूँ !

परोपकार तपस्या का साधन है । परोपकार के लिए त्याग को अपनाना होता है । उस वक्त व्यक्तिगत स्वार्थ की बातें याद भी नही आती । अपनापन अचानक न मालूम कहाँ खो जाता है । शायद वह समूह में प्रवेश कर जाता है । व्यष्टि समष्टि के रूप में परिणत हो जाती है । एक ओर स्वार्थ का नाश होता है, तो दूसरी ओर त्याग का सृजन होने लगता है । इसीको तपस्या का क्षेत्र कहते हैं । बाईजी रात-दिन आश्रम की छात्राओं के उज्ज्वल भविष्य के लिए चिन्तित रहती हैं । अपने हर प्रकार के सुख-सौख्य को उनके कल्याण की वेदी पर न्योछावर करती रहती हैं । इनका अपना कोई दूसरा सुख नहीं है । उनके सुख से ही इन्हें सुख प्राप्त होता है तथा उनके दुख से ही इन्हें दुख का अनुभव होता है । इस प्रकार स्पष्टतया देखने में यही आता है कि इनका अपना कोई अलग सुख-दुख नहीं है; बल्कि समष्टि के कल्याण के साथ ही इनका जीवन है । विद्वानों ने तपस्वी का लक्षण कल्याण की ओर प्रवृत्त रहना बतलाया है । बाईजी में यही लक्षण दिखाई पड़ता है । इसीलिए मै इन्हें तपस्विनी कहता हूँ ।

आत्मबल प्राप्त होने के बाद मनुष्य में एक अजीब दृढ़ता का अनुभव होता है । उस वक्त ऐसा मालूम होता है कि संसार की कोई भी बाधा उसे विचलित नही कर सकती । उस वक्त अजीब साहस का हृदय में संचार होने लगता है ; और मनुष्य कठिन से कठिन कार्य करने पर उतारू हो जाता है । पीछे हटना वह भूल जाता है । इसीलिए जीवन में उसे सफलता प्राप्त होती रहती है । वह फल की इच्छा से कोई कार्य नहीं करता । वह एक साधक के रूप में अपने को पाता है । उस वक्त वह किसी की निन्दा और प्रशंसा की परवाह नहीं करता । उसकी दृष्टि में ये दोनों बराबर है । उस वक्त उसके हृदय में भय के लिए कोई स्थान नही रहता । भय पर विजय प्राप्त करना ही तपस्वी का काम है । बाईजी में पूर्णरूप से निर्भीकता देखी जाती है और साथ ही कार्य-क्षमता । निन्दा और प्रशंसा की ओर ये भूल कर भी ध्यान नही देतीं, इसीलिए मैं इन्हें तपस्विनी कहता हूँ ।

एक छोटी-सी कहानी है । बाईजी के घर में विवाह था । उत्सव में एक स्त्री की लड़की का गहना किसी ने चुरा लिया । इससे वह स्त्री बहुत दुखी हुई । बाईजी को जब यह समाचार प्राप्त

हुआ, तब इन्होंने अपने पास से उस लड़की को गहना बनवा देने का वचन दिया। विवाह के बाद गहने बनवा दिये गये। इस प्रकार किसी भी दुखी को देखकर बाईजी का हृदय भर आता है, और उसके कष्ट को दूर करने के लिए पूर्ण तत्पर हो जाती हैं। इसीसे बाईजी की सहृदयता का पता चलता है। उस व्यक्ति में सहृदयता नहीं आ सकती, जो रात-दिन अपने स्वार्थ में चूर रहता है। लेकिन स्वार्थ तब तक नहीं छूट सकता, जब तक मनुष्य अपने को पहचानने की चेष्टा नहीं करता। अपने को पहचानने के लिए तपस्या की आवश्यकता है। तपस्या साधना के बल पर ही पूर्ण हो सकती है। बाईजी ने साधना को अपनाया है। इसीलिए उनकी तपस्या सफल हो रही है। बाईजी में ये सारी बातें स्पष्ट रूप से वर्तमान हैं; इसीलिए मै इन्हें एक तपस्विनी के रूप में देखता हूँ।

साधक विशेषतः मौन रहता है। मौन रहने का प्रयोजन आत्म-चिन्तन है। बाह्य झंझटों से अलग होकर आत्म-रमण करना ही योग का लक्षण है। 'मैं' को ढूंढ़ना, उसके शुद्ध रूप को पहचानना और उसमें किसी भी प्रकार की कालिमा न आने देना ही आत्म-रमण का प्रयोजन है। मनुष्य इस प्रकार की अवस्था में जब अपने को रखने लगता है, तब फिर उसे किसी बात को कहने की आवश्यकता कम पड़ती है, वह सिर्फ अपने आचरण से अपने विचारों की पुष्टि करने लगता है। क्योंकि व्यवहार की उत्पत्ति मन, वचन, काय और कषाय से होती है; और धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण आत्म-परिणति है। मनुष्य को शांति की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक वह उसे व्यवहार में परिणत करने के लिए तैयार न होगा। बाईजी स्वयं शांति की मूर्त्ति हैं। शांति ही योग की परिपक्वता है। वास्तव में ये मुझे योग में परिपक्व दिखाई पड़ती हैं।

स्व० गांधीजी ने मृत्यु को संगिनी की उपाधि दी है। उनका कहना है कि 'इस प्यारी संगिनी के बिना जीवन निरर्थक है। क्योंकि यदि मृत्यु नहीं रहती, तो जीवन को हम कांचन बनाने की चेष्टा ही कहाँ करते? यह जीवन को स्वच्छ और सुन्दर बनाने में हमारा साथ देती है। हम इसके आगमन के पूर्व अपने को स्वच्छ और निर्भय बनाने की चेष्टा में लीन रहते हैं। जब हम अपने प्रयत्नों में सफल हो जाते हैं, तब हमें उसकी अगवानी करते बड़ा आनन्द मिलता है। उस वक्त उसके साथ हमारा मिलन बड़ा ही सुखकर होता है।'—महात्मा गांधी के उपर्युक्त वाक्यों का आशय मुझे तो यही मालूम होता है कि मृत्यु के पहले हमें निर्भीक होना आवश्यक है। लेकिन हम निर्भीक तब तक नहीं बन सकते, जब तक हमें कायिक-शुद्धि की प्राप्ति नहीं हो जाती। यदि काया निर्मल है, तो भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि उस वक्त हम अपने को पहचानने लगते हैं। शरीर से हमारा क्या सम्बन्ध है, यह हमें मालूम होने लगता है। उस वक्त हमें अपने अमरत्व का पता चलने लगता है। जब हमें इस बात की सच्चाई में पूर्ण विश्वास हो जाता है कि हम अमर हैं, शरीर के विनाश का हमारी आत्मा के ऊपर कोई भी प्रभाव नहीं है, तो हम निर्भीक हो उठते हैं और मृत्यु के भय से हम जरा भी भयभीत नहीं होते। लेकिन, ये सभी चीजें साधना की हैं; और साधना योगी के अस्त्र हैं। बाईजी साधना में निरत रहती हैं, इसीलिए मैं इन्हें तपस्विनी कहता हूँ।

ज्ञान वैराग्य की प्रभुता है। जब मनुष्य को इस बात का बोध हो जाता है कि वह आम जनता से ऊपर उठा हुआ है, तो उसे कुछ 'अहं' का बोध होता है। इसीलिए तो वह 'सोहं' की रट

कचोटने लगता है । लेकिन, भक्ति में ये सब बातें नहीं रहतीं । वह अपने को भूल जाता है, और इष्टदेव में प्रवेश कर जाता है । उस वक्त उसके पास 'अहं' या 'सोहं' की बू तक नही रह जाती । कितना स्वच्छ कल्याण का मार्ग है यह ! लेकिन, इसके लिए महान बलिदान की आवश्यकता है । अपना कुछ नही रह पाता । यह साधारण बात नहीं । इसे तो एक योगी ही कर सकेगा । बाईजी निरन्तर द्रुतगति से इस पथ की ओर अग्रसर हो रही हैं । इसीलिए मैं इन्हें एक तपस्विनी के रूप में देख पाता हूँ ।

जिस वस्तु की धारणा से हम अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकें और साथ ही हमें मोक्ष की प्राप्ति भी हो सके उसे ही हम धर्म कहते है । ऐसा धर्म वर्गीकरण पसंद नहीं करता । उसके यहाँ जाति या उसके नियम-उपनियम की गुंजाइश नही रहती । वह इन सभी चीजों से ऊपर उठा रहता है । उसकी दृष्टि में सारा मानव-समाज एक सतह में है । वह एक ही दृष्टि से सर्वत्र देखता है, और सबों की कल्याण-कामना करता है । बाईजी दिगंबर जैन है । जैन-धर्म के जो नियम और उपदेश हैं, उनके अनुसार वे अवश्य चलती हैं; लेकिन यह विचार कभी नहीं रखती कि दूसरे धर्म या वर्ग का व्यक्ति इसलिए इनकी दृष्टि में तुच्छ हैं, चूंकि वह जैन नही है । यदि ऐसी बात रहती, तो ये कभी भी अपने आश्रम में जैनेतर छात्राओं को स्थान नहीं देतीं । इनके आश्रम में सभी वर्ग या धर्म की छात्राएँ निःसंकोचभाव से आश्रय पाती हैं, और उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाता है, जैसा जैनी छात्राओं के साथ । इस प्रकार जैनी होने पर भी ये धर्म के व्यापक क्षेत्र में प्रविष्ट करती रहती हैं । वास्तव में धर्म के व्यापक स्वरूप को पहचानने के बाद ही समदृष्टि और समविचार प्राप्त हो सकते हैं । और जब तक हम समता को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हममें पूर्णता नही आ सकती । बाईजी को हम इसी समता की प्राप्ति के लिए निरन्तर सचेष्ट देखते हैं । लेकिन समता की प्राप्ति मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार पर विजय पाने के बाद ही तो हो सकती है ! बाईजी को जब हम गौर से देखते हैं, तो हमें मालूम होता है कि इनका मन निर्मल है, चित्त शुद्ध है, बुद्धि विकसित है और अहंकार का लोप होता गया है । ऐसी ही आत्मा महान होती है; और महान आत्मा को ही समता प्राप्त होती है । बाईजी महान आत्मा हैं; इसीलिए तपस्विनी हैं ।

आज बाईजी की अवस्था ढल चुकी है । सारा जीवन तप से भरा हुआ है । यदि आश्रम की दूसरी बहनें तथा छात्राएँ इनके जीवन को अपना आदर्श बना सकेंगी, तो निःसन्देह उनका वास्तविक कल्याण हो सकेगा ।

—बनारसी प्रसाद 'भोजपुरी', साहित्यरत्न

माँश्री के सम्पर्क में पूरा एक युग

दिन आते और जाते हैं; पर वे अपनी मधुर स्मृतियाँ मानस-पटल पर सदा के लिए अंकित कर जाते हैं। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जो घटना उसके मर्म को छू जाती है, वह सर्वदा के लिए टंकोत्कीर्ण हो जाती है। मुझे आज भी वह दिन स्मृत है, जिस दिन मैंने सकुचाते हुए, भय खाते हुए अमल-धवल खद्दर की साड़ी पहने, दिव्य तेजस्विनी, तपस्विनी, सादगी से ओत-प्रोत, मधुर-भाषिणी माँश्री के दर्शन किये थे। उस समय मैंने श्रद्धा और भक्ति से उन्हें प्रणाम किया तथा जो चर्चा हुई थी, वह आज भी मेरे मन को कुरेदती रहती है। तब से माँश्री के सम्पर्क में पूरा एक युग बीत गया, न मालूम कितनी प्रिय, अप्रिय घटनाएँ गुजरती रही हैं। इस प्रस्तुत संस्मरण में अपनी स्मृति के आधार पर कतिपय घटनाओं का उल्लेख किया जायगा।

माँश्री का व्यक्तित्व वस्त्र, वपु, वाक्, विद्या और विभूति रूप पंच वकार से नहीं आँका जा सकता है, बल्कि उनके अहर्निश की प्रत्येक कार्यवाही उनके व्यक्तित्व की महत्ता-सूचक है। जीवन के प्रति-पल की प्रत्येक घटना दीपावली की विद्युत्-वल्लरी के समान अपने आलोक की स्निग्धकिरणों को विकीर्ण करती है। यदि चाहे तो सुज्ञ नेत्रयुक्त व्यक्ति उन देदीप्यमान भासुर-रश्मियों से जीवन में स्निग्ध आलोक पा सकता है।

संयोग ! था सन् १९४० का जुलाई मास। मेरी नियुक्ति जैन-बाला-विश्राम में धर्माध्यापक के स्थान पर हो चुकी थी। मैं घर से अपनी पत्नी को लेकर, यदि मेरी स्मृति धोखा नहीं देती है तो, १०–११ जुलाई को विश्राम के अन्तर्गत अध्यापक के क्वार्टर में आ गया था। अगले दिन से मुझे अध्यापन करना था, कार्यक्रम पहले ही निर्धारित हो चुका था, जिसके अनुसार प्रातः दो घण्टे और मध्याह्न में चार घण्टे मुझे अध्यापन करना था। अतएव प्रातःकाल ६ बजे ही स्नान आदि नित्यक्रियाओं से निश्चिन्त होकर बाहुबली स्वामी के दर्शन कर मैं विद्यालय गया और अपना कार्य आरम्भ किया। ८ बजे कक्षा समाप्त कर आया तो माँश्री ने कहा—"इतनी जल्दी क्या है, आप नाश्ता आदि करके ७ बजे से पढ़ाया करें। हाँ, एक बात का ख़याल रखें—दासत्व की शृंखला में जकड़ी, घूँघट में छुपी, अज्ञान और कुरीतियों से प्रताड़ित नारी को आत्मबोध कराने की चेष्टा अवश्य करें। इस वर्ष गोम्मटसार जीव-काण्ड तक ही धर्मशास्त्र रखें; पर सप्ताह में एक दिन छात्राओं को उनके अधिकार और कर्तव्यों पर अवश्य बतलाया करें। हमारी कामना है कि प्रत्येक छात्रा अग्नि की चिनगारी निकले, जिससे पर्दाप्रथा, अन्धविश्वास और कुरीतियों को भस्म कर सकें। समाज का ढाँचा बदल रहा है, बड़ी तेजी से परि-

वर्तन हो रहे हैं; अतएव प्राचीन संस्कृति के साथ छात्राएँ अपने दायित्व को समझ सकें, इसकी चेष्टा सदा करें। यहाँ प्रत्येक महीने की प्रतिपदा को बालाहितकारिणी सभा का अधिवेशन होता है, इसमें बड़ी कक्षा की छात्राएँ भाषण देती हैं, आप इस सभा की उन्नति का भी ध्यान रखें। शास्त्रसभा के लिए आध्यात्मिक और आचारात्मक दो शास्त्र निश्चित कर दें, जिससे छात्राएँ आत्मोन्नति के साथ अपने ज्ञान का भी विकास कर सकें।"

दो-तीन महीने के पश्चात् एक विचित्र घटना घटी। एक प्रचारक महोदय एक गुरुकुल का चन्दा एकत्रित करते हुए आरा आये। माँश्री उनसे पहले से परिचित थीं, काफी बातें हुई। बातचीत के सिलसिले में वह बोले—'इस नए रंगरूट पंडित को आपने क्यों रख लिया है, इसे वेतन क्या देती हैं?' माँश्री मुस्कुराते हुए बोलीं—'वेतन तो ५०) रुपये मासिक है।' प्रचारक महोदय को मेरा यह वेतन अपने वेतन से अधिक ऊँचा और हड़बड़ा कर बोले—'हमारे यहाँ तो इतना वेतन अनुभवी शिक्षकों को भी नहीं दिया जाता है, इन्हें आप आजकल के हिसाब से ज्यादा दे रही हैं। संस्था के रुपये का उचित वितरण होना चाहिये।'

माँश्री—"पण्डितजी! कम वेतन देने से अच्छा कार्य नहीं हो सकता है। गर्जवश कोई कम वेतन स्वीकार भले ही कर ले, पर सच्चाई के साथ काम नहीं कर सकता है। आदमी नया हो या पुराना उपयुक्त वेतन पाने पर ही लगन के साथ काम कर सकता है। जब हम छः घण्टे काम लेती हैं, तब ५०) रुपये देना अधिक नहीं है। संस्था का व्यर्थ एक भी पैसा व्यय करना अनुचित है। समाज में आजकल शिक्षकों को तो कम से कम दिया जाता है, पर बिल्डिंग तथा अन्य कार्यों में मनमाना खर्च कर देते हैं। जो संस्थाधिकारी बन जाता है, वह अपने को संस्था का सेवक नहीं समझता, बल्कि मालिक समझता है, यह गलत मार्ग है। अतएव हमारा विचार शिक्षकों के वेतन में कमी करने का नहीं है। कमी करना हो तो और भी अनेक मद हैं, जिनमें कमी की जा सकती है।"

माँश्री के इस उत्तर ने उन्हें मूक बना दिया और वे निरुत्तर हो वहाँ से चले आये। मुझे इस घटना का पता कुछ दिनों के पश्चात् ही लगा। यद्यपि माँश्री का स्वभाव उदार है, पर स्त्रीसमुचित मित-व्ययिता भी यथोचित मात्रा में विद्यमान है। एक पैसे का भी अनावश्यक व्यय नहीं करती हैं। संस्था के खर्च में पूरी सतर्कता रखती हैं।

उनकी अनेक विशेषताओं में सबसे बड़ी विशेषता छोटी-छोटी बातों को महत्त्व देने की है। जिन कार्यों और बातों को हमलोग साधारण समझ कर छोड़ देते हैं, वे उन्हीं बातों और कार्यों को बड़ी सावधानी से करती हैं। प्रमाद का उनके जीवन में प्रायः अभाव है। रुग्णावस्था में भी निरन्तर कार्य करती रहती हैं। अपना एक मिनट भी व्यर्थ नहीं जाने देतीं। समय का सदुपयोग माँश्री अपने जीवन में जितना अधिक करती हैं, उतना महात्मा गांधी को छोड़ कर इस युग में शायद ही कोई अन्य व्यक्ति करे। ऐसा एक भी क्षण न होगा, जिसमें वे खाली बैठे या सोती मिलें। उनकी दिन-चर्या इतनी परिमार्जित है, जिससे वे पूजन सामायिक, स्वाध्याय, पत्राचार, प्रबन्ध व्यवस्था आदि के लिए समय

निकाल लेती हैं और मिलने-जुलने वाले अतिथियों से बात-चीत भी कर लेती हैं। ६३ वर्ष की अवस्था में भी दिन में १५--१६ घण्टे काम करना, अपनी भोजन-सामग्री को स्वयं सोधना तथा प्रत्येक कार्य को लगन और परिश्रम से करना माँश्री की दिनचर्या के अन्तर्गत हैं। यद्यपि माँश्री की प्रवृत्तियाँ विविधमुखी हैं विश्राम की व्यवस्था, महिला-परिषद् का संचालन, महिलादर्श का संपादन, विभिन्न पत्रों के लिए निबन्ध लिखना, पुस्तकें लिखना, समाज की दुःखी बहनों को सान्त्वना देना, धर्म-प्रचार, आत्मोत्थान, घरेलू उद्योग-धन्धों का विकास एवं प्रचार करना, शिक्षा-प्रचार आदि कार्य माँश्री के जिम्मे हैं, पर सभी कार्यों में उन्हें सफलता के साथ यश प्राप्त हुआ है। इसका एक कारण यह है कि वे स्वयं कार्य तो करती हैं, पर व्यवस्था, शिक्षाप्रचार, शिक्षा-वितरण, धर्म-प्रचार एवं महिला-परिषद् के कार्यों में योग्य व्यक्तियों से सहायता भी लेती हैं। उनकी दृष्टि सूक्ष्म है, उन्हें आदमी की परख है। वे देखते ही पहचान जाती हैं कि अमुक व्यक्ति कैसा कार्य-कुशल है, उसमें कार्य करने की क्षमता कहाँ तक है। अतएव उनके सम्पर्क में रहनेवाले सहयोगी व्यक्ति प्रामाणिक, परिश्रमी, बुद्धिमान् और लगनशील हैं। माँश्री निरन्तर कहा करती हैं कि सहयोगी व्यक्ति चाहे वैतनिक कार्य करते हों अथवा अवैतनिक---तभी ठीक कार्य कर सकते हैं, जब उनके साथ पूर्ण सहानुभूति, सहृदयता रखी जाय। केवल आर्थिक लोभ की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति आत्मीय नहीं हो सकता है। इसके लिए हृदय की आवश्यकता है, अतः आवश्यक सुविधाओं के साथ सुख-दुःख में यथोचित खबर लेना, उनके साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करना, समय पड़ने पर उनकी सब प्रकार से सहायता करना, गलती को प्रेमपूर्वक समझा देना, कार्यकर्ता को अपना बना लेने के लिए अनिवार्य साधन हैं। जो व्यक्ति अकेला ही सब कार्यों को कर लेना चाहता है, उसके सभी कार्य बिगड़ जाते हैं। माँश्री प्रायः कहा करती हैं---"कार्यकर्ता तैयार करने पड़ते हैं। आरम्भ में कोई भी आदमी किसी विशेष कार्य का ज्ञाता नहीं रहता, परिश्रम और लगन से कार्य करते रहने पर वह अवश्य निष्णात बन जाता है।"

कार्यकर्ताओं से काम लेने की आप में कितनी बड़ी शक्ति है, यह निम्न घटना से सिद्ध है। बात सन् १९४० की है। विश्राम की एक शिक्षिका को वर्ष के प्रारम्भ में ही समस्त रजिस्टर रखने और उनकी यथाविधि खाना पूरी करने का कार्य सौंपा गया था। अध्यापिका की हस्तलिपि बहुत ही सुन्दर और स्पष्ट थी। अक्षर मोती के समान जड़े हुए होते थे। ट्रेनिंग परीक्षा उत्तीर्ण करने के कारण वह उपस्थिति रजिस्टर, प्रवेश रजिस्टर, विद्यालय परिवर्तन रजिस्टर, परीक्षाफल रजिस्टर तथा अन्य आवश्यक रजिस्टरों को रखने का ढंग जानती थी। माँश्री रजिस्टरों की जाँच महीने में एक दिन करती थीं। संयोग ऐसा हुआ करता था कि जब-जब रजिस्टर जाँच किये गये, तब-तब उनमें कोई न कोई त्रुटि अवश्य पायी गयी। अतएव बार-बार माँश्री उसे चेतावनी देती गयीं। एक बार तो रेखाएँ ठीक नहीं खींचने के कारण उसे बात सुनने को मिली। अब वह अपना धैर्य खो चुकी थी, अतः उसने इच्छा प्रकट की कि इस कार्य के लिए मुझे कोई पृथक् एलाउन्स नहीं मिलता है, इसीलिए अगले महीने से मैं इसे नहीं करूँगी। यश के बदले हर माह अपयश ही पल्ले पड़ता है। माँश्री किसी की प्रशंसा करना नहीं जानती हैं, केवल दोष देखती हैं। अतएव मैं इस कार्य को छोड़ दूँगी। जब माँश्री को यह बात मालूम हुई तो सभा में संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार भास का उदाहरण देते हुए कहा---

कवि भास प्रति दिन सुन्दर कविता लिखकर अपने पिता को दिखलाता था, परन्तु पिता कभी शैली, कभी भाषा, कभी भाव एवं कभी कल्पना की त्रुटि बतलाकर पुत्र को और उन्नति करने के लिए बाध्य करता। जब इस प्रकार कविता दिखलाते और पिता द्वारा दोषोद्भावन करते करते बहुत समय बीत गया तो कवि अपना धैर्य खो बैठा। उसने एकान्त में विचार किया कि मेरे पिता को मेरा यश सहन नहीं होता है, यही कारण है कि वह मेरी सर्वदा निन्दा करते हैं। जब तक यह जीवित रहेंगे मेरी प्रशंसा न स्वयं करेंगे और न अन्य लोगों को करने देंगे। अतएव आज रात को इनको मार डालना ही अच्छा है। इस प्रकार निश्चय कर कवि भास रात को तलवार लेकर पिता की हत्या करने की भावना से वहां पहुंचा। उसने अपने कानों सुना कि उसकी माता कह रही है कि 'आज शरद-पूर्णिमा का चन्द्रमा कितना रमणीय है!'

पिता—"निश्चय ही इस चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना को देखकर मुझे भास की कविताओं की निर्दोषता प्रतीत हो रही है। भावना की गहराई और कल्पना की उड़ान मेरे पुत्र की कविता में इतनी अधिक है, जिससे मेरा हृदय कहता है कि भास की कीर्त्ति ससार में सर्वदा व्याप्त रहेगी।

माँ—"आज आप कैसी बातें कर रहे हैं! आप तो प्रतिदिन ही भास की कविताओं में दोष निकाला करते हैं। आपके मुख से यह प्रशंसा कैसे निकल पड़ी? आप ही के कारण आजकल भास निरुत्साहित हो रहा है।"

पिता—"तुम ठीक कह रही हो, परन्तु मेरे उद्देश्य से अपरिचित हो। मैं उसकी उन्नति चाहता हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ कलाकार देखना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि उसकी कीर्त्ति-पताका यावच्चन्द्रदिवाकर फहराती रहे।"

माता-पिता के इस वार्तालाप को सुनकर भास रो पड़ा और उलटे पैर लौट आया। प्रातः-काल पिता के पास जाकर अपराध की क्षमा-याचना करायी और अपने हृदय की सारी बातें कह दीं। माँश्री पुनः बोलीं—"भास के पिता के समान मेरी आकांक्षा भी आपकी उन्नति की है। मैं आपको सर्व-श्रेष्ठ शिक्षिका और प्रधानाध्यापिका के रूप में देखना चाहती हूँ। यद्यपि आपके कार्य काम चलाने की दृष्टि से बहुत उत्तम है, पर कला का चरम विकास नहीं है। यदि थोड़े दिन तक आप और अधिक रुचिपूर्वक कार्य करेंगी तो निश्चय ही आप सर्वश्रेष्ठ बन जायेंगी।"

माँश्री के इन वचनों से उस अध्यापिका को बड़ी सान्त्वना और शक्ति मिली। वह अपने कार्य में बड़ी तेजी और सतर्कता से लगी, जिससे इन्स्पेक्ट्रेस् जब निरीक्षण करने आयी तो उसने बहुत ही सुन्दर रिमार्क लिखा और आश्रम की व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

X X X

संयम, त्याग, सहायता, सहानुभूति, सौजन्य और सेवापरायणता ही मानवता की कसौटी हैं। त्यागी, संयमी और धर्मात्मा बनकर जो जीवन व्यतीत करता है, वह समाज से पृथक् भी रह सकता है; परन्तु सेवक को समाज के बीच में रहना पड़ता है, अतएव उसमें मधुरता और स्नेह का रहना

अत्यावश्यक है। बालाविश्राम में जितने आगन्तुक आते हैं, माँश्री सबका यथोचित अतिथि-सत्कार करती हैं। यह एक ऐसा सेवाव्रत है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने सम्बन्धों को पुष्ट और मधुर बना सकता है। इसी कारण भोजन, जलपान आदि के द्वारा माँश्री सर्वदा अतिथि-सत्कार करती रहती हैं। अपरिचित से अपरिचित व्यक्ति भी भोजन के समय आश्रम में पधारने पर भोजन किये बिना नहीं रह सकता है। बड़े प्रेम और आदर के साथ उसे भोजन कराया जाता है।

यह सत्य है कि किसी व्यक्ति का कोई काम कर देने, उसकी सहायता कर देने या रुपये-पैसे दे देने से जो प्रभाव नहीं पड़ता, वह किसी को भोजन करा देने से पड़ता है। शास्त्रकारों ने इसी कारण अतिथि-सेवा और आहार-दान के महत्त्व बतलाये हैं। यही कारण है कि माँश्री कहा करती हैं कि किसी असहाय, निराधार और संकटग्रस्त व्यक्ति को जिस दिन भोजन कराया जाता है, वह पुण्य-दिवस होता है। खिलाने-पिलाने से कभी भी किसी की सम्पत्ति नहीं घटती है, किन्तु स्नेह और शक्ति की वृद्धि होने से आत्मबल बढ़ता है।

माँश्री केवल प्रतिष्ठित, सम्मान्य व्यक्तियों के आतिथ्य का ही ध्यान नहीं रखतीं, बल्कि छोटे-बड़े, धनी-गरीब, विद्वान्-मूर्ख सभी के लिए प्रबन्ध करती हैं। अतः अतिथि के भोजन करते समय वह स्वयं उपस्थित रहती हैं अथवा अपने अन्य किसी विश्वस्त व्यक्ति को भेज देती हैं। कोई भी अतिथि माँश्री के सम्पर्क से त्याग, चरित्र और नीति की बातों को सीख सकता है। भोजन इतना शुद्ध और सात्त्विक होता है, जिससे भोजन करनेवाले के शरीर, मन और आत्मा पवित्र हो जाते हैं। अतिथि-सेवा के उदाहरण प्रतिदिन के विद्यमान हैं। जब से मैं आपके सम्पर्क में हूँ, तब से आज तक सहस्रों व्यक्तियों ने बाला-विश्राम में आतिथ्य ग्रहण किया होगा। अतः इस सम्बन्धी किसी प्रमुख घटना का उल्लेख करना निरर्थक है।

जीवन-निर्माण और जीवन-विकास के लिए निर्भयता और स्पष्टवादिता बड़े महत्त्व के गुण हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक सदाचारी और सरल प्रकृति के होते हैं, वे ही सच्चे वीर कहलाते हैं। जो बात-बात में अधीर, क्रुद्ध और उत्तेजित हो जाते हैं वे वीर नहीं हो सकते। माँश्री की एक विशेषता यह है कि वह मुलाहिजे और संकोच में आकर स्पष्ट बात कहने में आनाकानी नहीं करतीं। घुमा-फिरा कर गोल-मोल बात करना उन्हें नहीं आता। आत्मविश्वास और आत्म-जागृति इतनी अधिक है कि स्पष्ट बात कहने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं करतीं। स्वार्थ, लोभ, मोह, प्रतिष्ठा आदि के कारण ही मनुष्य स्पष्ट बात कहने में संकोच करता है, जिसमें उपर्युक्त दुर्गुण नहीं रहते, उसे सही और सच्ची बात को छुपाने का कभी भी साहस नहीं हो सकता। माँश्री की स्पष्टवादिता का परिणाम यह है कि उनके भीतर विरोध और प्रतीकार की भावना बिल्कुल नहीं है और यही कारण है कि आज समाज में उनके प्रशंसक ही हैं, आलोचक नहीं। घरेलू व्यवहार में भी वह निर्भयता-पूर्वक अनुचित बात का विरोध करती हैं। उनमें किसी भी बात में डटे रहने की क्षमता है, अन्याय और अत्याचार के समक्ष झुकना वह नहीं जानतीं।

शासन के क्षेत्र में माँश्री बड़ी कड़ी हैं, बिना राग-द्वेष के सबकी समान रूप से निगरानी रखती हैं। आश्रम की छात्राओं से जितना प्रेम है, उतनी ही सख्त उनकी देख-रेख भी। यही कारण है कि उनके शासन में आज तक किसी भी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हो सकी है। कर्मचारी भी उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और छात्राएँ भी। उनका सबके साथ परिवार जैसा व्यवहार है, कोई भी आदेश वह प्रेमपूर्वक देती हैं, पर उसके पालन करने की पूरी आशा रखती हैं। एक बार दिये गये आदेश को इधर-उधर करने की क्षमता किसी में नहीं है और मेरा ऐसा भी ख्याल है कि उस आदेश पर दुबारा विचार करना भी नहीं जानती हैं; क्योंकि उनका निर्णय बहुत विचार करने के पश्चात् ही होता है। सभी प्रकार की परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेने की कला में आप अत्यन्त पटु हैं। पता नहीं कौन-सा जादू आप जानती हैं, जिससे सारे कार्य आपकी इच्छा के अनुकूल ही सम्पन्न होते हैं। न चाहते हुए भी आपका आदेश मान लेने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है। इसका मूल कारण यह है कि प्रेम-मिश्रित व्यवहार होने पर भी आप निस्वार्थ भाव से किसी भी कार्य का आदेश देती हैं।

निस्वार्थ सेवा एक ऐसी वस्तु है, जिसके कारण हाड़-मांस का व्यक्ति बहुत ऊँचा उठ जाता है। परसेवा और परहित में जीवन का व्यय करनेवाले इस दुनिया में कम आदमी हैं। माँश्री निरन्तर कहा करती हैं—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

इस प्रकार की सेवा की भावना निरन्तर माँश्री की रहती है। उनकी इस भावना का ही यह परिणाम है कि आज महिला समाज में कितना सुधार, कितनी शिक्षा और कितना बल दिखलायी पड़ता है। जैन समाज में आज से २५–३० वर्ष पूर्व जहाँ ५% भी शिक्षित नारियाँ नहीं थीं, वहाँ आज ८०% शिक्षित नारियाँ हैं। आप भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही नारियों को शिक्षा देना पसन्द करती हैं, यह बात निम्न घटना से स्पष्ट है—

सन् १६४१ की बात है। आरा में नया जिलाधीश आया था। बाला-विश्राम आरा-पटना रोड पर स्थित है, अतः पटने से आनेवाले प्रायः इस संस्था को देखकर प्रभावित होते हैं। जिलाधीश अंग्रेज था; एक दिन उसकी पत्नी इस संस्था को देखने के लिए गयी और यहाँ के कार्यों से प्रभावित होकर लौटी। उसने अपने पति से इस संस्था की प्रशंसा की। पति ने कहा—आते समय रास्ते में जो गर्ल्स स्कूल मिला था, उसी के बारे में कह रही हो। सचमुच में वह स्कूल बहुत अच्छा है। कल बिहार सरकार का आदेश आया है कि इस नगर में छात्राओं के लिए एक हाई इंगलिश गर्ल्स स्कूल खोला जाय। मैं आज उस स्कूल में जाता हूँ और वहाँ की संचालिका से अनुरोध करूँगा कि वह अपने स्कूल को हाई स्कूल बना दें। सरकार उसका पूरा खर्च देगी। कलक्टर साहब ने आकर कहा—देवीजी ! बिहार सरकार की ओर से सूचना आई है कि शाहाबाद में एक हाई इंगलिश गर्ल्स स्कूल खोला जाय। मेरी इच्छा है कि आपकी संस्था को ही हाई स्कूल बना दिया जाय। सारा खर्च सरकार देगी, आपको कुछ नहीं करना होगा। आप केवल स्वीकृति दे दें।

माँश्री—महानुभव ! हमारा उद्देश्य अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुसार नारियों को ज्ञानी बनाने का है। यदि वे धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों को जानेंगी तो अवसर पड़ने पर अपनी आत्मा का कल्याण भी कर सकेंगी। हाई स्कूल बना देने से हमारी आर्थिक चिन्ताएँ समाप्त हो जायेंगी, विद्यालय में छात्राओं और अध्यापिकाओं की संख्या अधिक हो जायगी, पर इससे हमारी संस्था की वास्तविक उन्नति नहीं होगी और न हमारे जीवन का स्वप्न पूरा होगा। हम महिला-समाज का कायाकल्प करना चाहती हैं, उसमें सत्य ज्ञान का प्रचार करना चाहती हैं और उसे कर्मठ, त्यागी, संयमी और भारतीय बनाना चाहती हैं। आजकल की स्कूली शिक्षा पुरुषों के लिए भले ही उपयोगी हो, पर नारियों के लिए बिलकुल ही उपयोगी नहीं है। अतएव हम इस संस्था को हाई स्कूल में परिवर्तित नहीं करना चाहती हैं।

जिलाधीश—देवीजी ! आपके विचार का मै स्वागत करता हूँ, । काश, आपके देश में आप जैसी विचारक अन्य दस-पाँच व्यक्ति होते। कोई भी देश अपनी संस्कृति और साहित्य के जीवित रहने पर ही समृद्धिशाली हो सकता है। आप सचमुच में धन्य है, आपके सद्‌विचारो को सुनकर मुझे बड़ी शान्ति मिली। यदि अपराध क्षमा करें तो मै कुछ आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में आपसे जानना चाहता हूँ। न मालूम क्यों मेरा मन आपको सन्त समझ गया है, आपमें देवी का अंश अवश्य विद्यमान है।

माँश्री—प्रत्येक प्राणी की आत्मा स्वतन्त्र है। संसार में अनन्त आत्माएँ हैं, अनादिकाल से प्राणियों की आत्मा कर्मसंयुक्त होने के कारण राग, द्वेष, मोह से आविष्ट हैं। जब कोई भी प्राणी पुरुषार्थ कर राग-द्वेष को नष्ट कर देता है तो उसकी आत्मा परमात्मा बन जाती है। प्रत्येक जीवधारी में परमात्मा बनने की योग्यता विद्यमान है, पुरुषार्थ द्वारा इस योग्यता को व्यक्त करना है। आत्मा अजर, अमर और ज्ञान-दर्शनमय है। विकारों के कारण ही इसे जन्म-मरण करना पड़ता है। विकार दूर होने पर आत्मा जन्म-मरण के दुःख से छूट जाती है और परमात्मा या भगवान् बन जाती है। आत्मा के सिवा अन्य कोई परमात्मा नहीं है।

जिलाधीश—जब आत्मा ही परमात्मा है तो हमें सुख-दुःख कौन देता है ? हमारा बनानेवाला कौन है ? हम किसकी आज्ञानुसार अपने कार्यों को करते हैं ?

माँश्री—प्रत्येक आत्मा अपने राग-द्वेष-मोह रूप विकारों के कारण शुभ-अशुभ भावों की कर्ता है, इन भावों के कारण ही कर्म—एक जड़-पदार्थ, जिसमें फल देने की अद्भुतशक्ति है, का संचय करता है। इन संचित कर्मों का उदय होने पर ही सुख-दुःख होता है, अतः प्रत्येक आत्मा ही कर्ता और और भोक्ता है। हमारा यह शरीर भी नामकर्म—एक कर्म-विशेष के कारण ही बनता है। प्रत्येक व्यक्ति का शरीर भिन्न-भिन्न आकार का होता है, इसका मूल कारण नामकर्म की विशेषता ही है। कर्म करने में प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, उसे किसी भी ईश्वर की आज्ञा में नहीं रहना पड़ता है। हाँ, यह सच है कि हमारे कार्यों का जैसा उदय होता है, वैसा ही इष्टानिष्ट फल भोगना पड़ता है।

जिलाधीश—आपकी बातें सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई । मैं आरा जब तक रहूँगा, आपके दर्शन महीने में कम से कम एक रविवार को अवश्य कर आया करूँगा । आपके सात्विक विचारों से प्रभावित होकर मैं महीने में चार दिन मांस का त्याग करता हूँ तथा इन दिनों शराब भी नहीं पीऊँगा ।

इतना कहकर वे दोनों अंग्रेज दम्पत्ति माँश्री की चरणरज अपने मस्तक पर चढ़ा कर चले गये और वह कलक्टर जब तक आरा रहा, माँश्री के दर्शन कर अपने को पवित्र करता रहा ।

X X X

माँश्री युग-संस्थापिका हैं । आपका हृदय-मुकुर इतना विशाल, स्थिर और निर्मल है कि समाज और व्यक्ति के मानस का सही प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रह सकता । आप में माता का स्नेह, वीराङ्गनाओं का गौरव, कुल ललनाओं की सहिष्णुता, आर्यिकाओं का तप-त्याग एवं गृह-लक्ष्मी की उदारता वर्तमान हैं । आप अपने व्रत और नियमों के पालन करने में कितनी सजग और सावधान हैं, यह निम्न घटना से स्पष्ट है ।

८ फरवरी १६४२ को आप अचानक बीमार पड़ गईं । आपका स्वास्थ्य पाँच-छः दिनों में ही इतना खराब हो गया कि उठने-बैठने की शक्ति भी न रही । इस असमर्थ अवस्था में भी त्रिकाल सामायिक, पूजन, भक्ति आदि दैनिक धार्मिक कृत्यों को आप बराबर करती रहीं । जब आप बिल्कुल अशक्त हो गईं तो बालाविश्राम-परिवार के साथ अन्य कुटुम्बियों को भी चिन्ता हुई । सभीने आपसे इन्जेक्शन लेने की प्रार्थना की । धर्माध्यापक होने के नाते मुझ से कहा गया कि आप कहिये कि धर्मशास्त्र की दृष्टि से इन्जेक्शन लेने में कोई हर्ज नहीं है—आपका कहना मान्य होगा । माँश्री को आपकी बात का विश्वास है । मैंने हितैषियों की प्रेरणा से सहमते हुए माँश्री से कहा—"आप इन्जेक्शन ले लीजिये, यह तो खाने की दवा नहीं है । आजकल कई त्यागी महानुभाव इन्जेक्शन लेते भी हैं ।" माँश्री ने क्षीण स्वर में कहा—"पण्डितजी ! अन्य लोग मोहवश इन्जेक्शन लेने की बात कहें तो कोई आश्चर्य नहीं, पर आपके इन शब्दों को सुनकर हमें महान् आश्चर्य हो रहा है । आपसे तो हमें यह आशा है कि समय पड़ने पर हमारे धार्मिक कृत्यों में सहायक होंगे । इस अनित्य शरीर के साथ इतना मोह क्यों ? यह तो अनादिकाल से प्राप्त हो रहा है ।" मैं आपकी दृढ़ता और सहनशक्ति को देखकर चकित रह गया । आप लगभग २०–२५ दिन तक अस्वस्थ रहीं, फिर भी दैनिक कार्यों में शिथिलता नहीं आने दी यद्यपि आपने १५–२० दिन तक लंघन किये थे, फिर भी सामायिकादि क्रियाएँ यथासमय सम्पन्न होती रहीं ।

X X X

सन् १६४२ की क्रान्ति के दिन थे । देश में एक आजादी की लहर आयी हुई थी । नवयुवक, विशेषतः विद्यार्थीवर्ग संलग्न था । गोरी सेना ने सर्वत्र अपना आतंक फैला रखा था । जैन-बाला-विश्राम धर्मकुञ्ज से उठकर शहर में 'नाजघर' नामक भवन में चला आया था । छात्रावास और शिक्षण-कार्य उक्त भवन में ही सम्पन्न होने लगा था । उस समय लगभग ७० छात्राएँ छात्रावास में निवास करती थीं । कुछ दिनों के उपरान्त लाइन की मरम्मत हो जाने पर जब ट्रेनें चलने लगीं तो

माँश्री ने मुझे बुलाकर कहा—"अभी गोरी-सेना का आतंक ज्यों का त्यों है। धर्मकुञ्ज में संस्था को ले जाने लायक समय नहीं है। इतनी छात्राओं को अधिक दिन तक बाहर में रखना हमारे लिए कठिन है। अतः अब हमारा विचार सभी छात्राओं को सुरक्षित रूप से घर भेजकर कुछ समय के लिए संस्था बन्द कर देने का है।" मैंने कहा—"माँजी ! आप जैसा उचित समझें करें।" आपने कहा—"इस जन-जागृति के युग में संस्थाधिकारियों को सबकी सलाह से ही चलना उचित है। आप लोग सब आश्रम-परिवार के हैं, अतः हमारा विचार है कि कल सभी शिक्षक-शिक्षिकाओं को बुलाकर इस विषय पर विचार-विमर्श कर लिया जाय। जो निर्णय हो उसे समस्त आश्रम-परिवार—छात्राओं और शिक्षक-मण्डल के समक्ष पुनः विचार के लिए प्रस्तुत किया जाय। इसके पश्चात् ही कोई कदम बढ़ाना उचित होगा। आपको हमने इस विषय में सलाह लेने के लिए बुलाया है।"

मै विचारने लगा कि माँश्री कितनी दूरदर्शिता से कार्य करती हैं। शिक्षकों का इनकी दृष्टि में कितना ऊँचा स्थान है? आश्रम-परिवार की प्रधान होकर भी सबकी बातों पर ध्यान देती हैं।

अगले दिन अन्तरंग समिति की बैठक की गयी। सभी शिक्षक शिक्षिकाओं ने अपने-अपने विचार पक्ष-विपक्ष में प्रकट किये तथा बहुमत से हुए निर्णय को पुनः समस्त आश्रम-परिवार के समक्ष विचार के लिए रखा गया। माँश्री ने देश की परिस्थिति का सुन्दर खाका खींचते हुए संस्था-संचालन की कठिनाइयों पर प्रकाश डाला। सभी ने आपकी दलीलों से प्रभावित होकर कुछ समय के लिए सस्था बन्द कर देने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अगले दिन छात्राओं को विश्वस्त योग्य व्यक्तियों के साथ भेजना आरम्भ किया। ट्रेन में स्थान न मिलने के कारण आपने आसनसोल और कलकत्ते से स्थान सुरक्षित कराये। उस संकटापन्न स्थिति में छात्राओं को भेजना एक दक्ष व्यक्ति का ही कार्य था। इस समय आपकी प्रबन्ध-पटुता, कर्त्तव्यशीलता और कार्यक्षमता देखने योग्य थी।

X X X

सन् १९४३ में दक्षिण भारत निवासिनी लक्ष्मती छात्रा बीमार पड़ी। टाइफाइड ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। सन्निपात के कारण छात्रा अर्धविक्षिप्त-सी हो रही थी। यों तो बीमारी के आरम्भ से ही माँश्री ने उसकी परिचर्या का प्रबन्ध कर दिया था तथा स्वय भी डाक्टर के साथ दिन में तीन-चार बार देख आया करती थीं; पर जब उसकी बीमारी अधिक बढ़ गयी और जीवन खतरे में पड़ गया, तब तो आपने स्वयं खाना-पीना छोड़कर परिचर्या करना आरम्भ किया। डाक्टर के परामर्शानुसार बर्फ की थैली सिर पर रखना, सिर में तैल की मालिश करना, हाथ-पैर दबाना आदि कार्यों को स्वयं करती थी। यद्यपि अन्य लोग आपको ऐसा करने देना नहीं चाहते थे, पर आपने स्वयं परिचर्या करना नहीं छोड़ा। आपने तेजस्वी वाणी में कहा—"मुझे विश्वास है कि मैं अपनी सेवा द्वारा इसे बचा लूँगी।"

तीन दिनों तक लगातार आप सब कुछ छोड़कर दिन-रात उस रोगिणी की सेवा में संलग्न रहीं। रात को न सोने के कारण आपका स्वास्थ्य भी खराब होने लगा, आँखें सूज गयी थीं, फिर

की आपने सेवा करना नहीं छोड़ा । आपकी लगभग एक सप्ताह की कठोर साधना ने उस लड़की के प्राण बचा लिये और वह न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण कर अपने देश गयी । इस प्रकार आप आश्रम-वासिनी छात्राओं की सेवा उनकी माँ से भी बढ़कर करती हैं । आश्रम-परिवार के किसी भी व्यक्ति का कष्ट आपकी चिन्ता का विषय बन जाता है और उसके कष्ट को दूर किये बिना आपको शान्ति नहीं मिलती ।

x x x

बालाविश्रामान्तर्गत बालाहितकारिणी सभा के अधिवेशनों में मुझे आपके भाषण सुनने का अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है । मुझे जहाँ तक स्मरण है कि सन् १९४३ की २२ जनवरी को आपने भाषण में कहा कि—"भगवान् महावीर ने नारी-जाति के उद्धार का भार पुरुषों पर ही नहीं छोड़ा है, किन्तु गृहस्थ तथा त्यागी स्त्री समाज के लिए श्राविका तथा आर्यिका ऐसे दो संघ स्थापित किये हैं । स्त्रियाँ जब तक अपने पैरों पर खड़ी न होंगी, उनका उद्धार होना कठिन ही नहीं, असंभव है । आज के नारी-वर्ग ने अपनी सारी समस्याएँ पुरुषों पर छोड़ दी हैं, इसी कारण नारी-समाज का अधःपतन होता जा रहा है । नारियाँ आज स्वयं ही पुरुषों की दासी और भोगलिप्सा पूर्ति का साधन बन गयी हैं । पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से कुछ नारियाँ स्वतन्त्र होने का दावा करने लगी हैं, पर उनका यह दावा बिलकुल झूठा है । जब नारी पुरुष की अर्धाङ्गिनी है, तब वह पुरुष के समान अपने अधिकारों की स्वयं भोक्ता है । क्या अधिकार कभी किसीको माँगने पर मिला है ।

भारतीय नारी को वीरता और त्याग फिर से अपनाना होगा । किसीके अत्याचारों को सहना भी उतना ही गुनाह है, जितना अत्याचार करना । अहिंसा बहुत बड़ा अस्त्र है, पर इसका उपयोग समझ-बूझकर करना होगा । जो नारियाँ बिना किसी प्रकार की चूँ-चपड़ किये किसी आततायी को आत्म-समर्पण कर देती हैं, वे वस्तुतः कायर हैं । जब तक शरीर में प्राण हैं, विरोधी का मुकाबला डटकर करना चाहिए । यदि आत्मिक शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाय, जीवन में अहिंसा उतर जाय, तो हमारा विश्वास है कि कोई भी आततायी कुदृष्टि डाल ही नहीं सकता है । अतएव प्रत्येक बहन को वीर बनना चाहिए । विपत्ति के आने पर कभी भी धैर्य का त्याग नहीं करना और प्रबल शक्ति के साथ संकट का सामना करना जीवन विकास के लिए आवश्यक है । सच बात यह है कि मैं नारियों में वीरता की उपासक हूँ, जिसको अपनाकर वे किसी भी प्रकार स्वयं ही आततायी को दण्ड दे सकती हैं । अथवा अपने आत्मबल द्वारा उसकी कलुषित भावनाओं को बदल सकती हैं । प्रलोभन और स्वार्थों को पराजित कर त्याग, तपश्चर्या, बलिदान और संयम को अपनाये बिना नारी का उद्धार होने का नहीं है । अपने अधिकार और परिवार द्वारा हड़पी हुई सम्पत्ति को भी नारी वीर बनकर ही पा सकती है । जब तक हम नारियाँ दूसरे से अपने अधिकारों की रक्षा चाहती रहेंगी, तब तक हमारा विकास संभव नहीं है ।"

आप सदा कहा करती हैं कि लक्ष्य सुखकर ही नहीं, श्रेयस्कर भी है । वह सुख की ओर ही नहीं जाता, कल्याण की ओर भी जाता है । वह कल्याण किसी एक व्यक्ति या वर्ग का नहीं, समस्त मानव-समाज का है ।

माँश्री की सात्त्विकता को भोलेपन का एक संस्करण मानना, तो बड़ी भूल होगी। उनकी बुद्धि बड़ी ही तेज है, उनकी तेजस्विता को देखकर बड़े-बड़े वाक्‌चतुरों का भी गर्वज्वर उतर जाता है। अपने बुद्धिप्रभाव को चारित्र्यप्रभाव से ढक देने की शक्ति में शायद आप आर्यिका अनन्तमती की अनुयायिनी हैं। जितनी कठिन परिस्थिति हो, उतना ही ऊँचा उठने की शक्ति आप में है। आप प्रत्युत्पन्न मति कितनी हैं, यह निम्न घटना से सिद्ध है।

सन् १९४४ की बात है। आरा नगर के आर्य-समाज का वार्षिकोत्सव था, आर्य-जगत् के अनेक धुरन्धर विद्वान् आये हुए थे। आर्यसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक पं० अयोध्या प्रसाद भी कलकत्ते से इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए आये हुए थे। उत्सव समाप्त होने के अनन्तर मैं उन्हें जैन-बालाविश्राम दिखलाने के लिए ले गया। संस्था को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और माँश्री के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। जैसे ही हमलोग कार्यालय में पहुँचे, माँश्री के दर्शन हुए। पंडितजी ने अनेक प्रकार की चर्चाओं के पश्चात् माँश्री से पूछा कि जैनधर्म में स्त्री को निर्वाण क्यों नहीं माना? जब स्त्री-पुरुष में समान शक्ति है, तब पुरुष को ही निर्वाण क्यों होता है, स्त्री को क्यों नहीं? माँश्री ने चट उत्तर दिया कि क्षमा करिये, आपके इस प्रश्न के उत्तर के पहले मैं आपसे पूछती हूँ कि वेद पढ़ने का आपके यहाँ स्त्रियों को क्यों अधिकार नहीं है? जैसे पुरुष को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त है, वैसे स्त्री को क्यों नहीं? माँश्री के इस प्रश्न को सुनकर पंडितजी बोले—"आपने तो मेरे प्रश्न को मेरे ही ऊपर लाद दिया। यह आर्य-समाज का ढंग आपने कहाँ से सीख लिया है। जैनियों में तो शास्त्रार्थ करनेवाले कम ही लोग हैं, क्या आप भी शास्त्रार्थ करती हैं! आपकी तर्कणा, पाण्डित्य और विचारशक्ति ही शास्त्रार्थ की क्षमता सूचक है!"

मुस्कुराते हुए माँश्री ने कहा—"आपको बुरा लग गया। असल बात यह है कि जैन आगम में मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ को प्रधानता दी है। स्त्री पुरुषार्थ की चरम सीमा पर नहीं पहुँच सकती। उत्तम संहनन स्त्री को प्राप्त नहीं होता है, अतएव पूर्ण संयमी नहीं बन पाती है और यही कारण है कि संयम के अभाव में वह निर्वाण भी नहीं पा सकती।"

इसके पश्चात् जैन-गणित पर अनेक चर्चाएँ हुईं। त्रिलोकसार की १४ धाराओं पर लगभग आध घंटे तक चर्चा होती रही। यह चर्चा इतनी आनन्दवर्धक थी, जिससे सर्वसाधारण भी सुनने में रस ले रहे थे। जब पंडितजी आश्रम से बाहर हुए तब कहने लगे कि जैन-समाज बड़ा ही सौभाग्यशाली है, जिसमें इस प्रकार की देवियाँ विद्यमान हैं। इस तपस्विनी माँ को देखकर मुझे मैत्रेयी, गार्गी और माण्डवी की कीर्ति-गाथाओं पर विश्वास कर लेना पड़ता है। इनका हृदय तो बड़ा मधुर है, इतना मधुर कि उसके सामने पीयूष भी नगण्य है। इस देवी के दिव्य तेज को देखकर मैं इतना अधिक प्रभावित हूँ कि अपने मन की वास्तविक स्थिति को नहीं कह सकता।

X X X

सन् १९४७ की १८ जून को मैं श्री बाबू निर्मलकुमार जी द्वारा निर्मित उनके चन्द्रलोक-भवन, कालिम्पोंग में गृह-चैत्यालय की शुद्धि और वेदी-प्रतिष्ठा के लिए गया। माँश्री भी वहाँ पहले से ही पहुँची

हुई थीं। प्रतिष्ठा-कार्य ६—७ दिनों में विधिवत् सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मुझे माँश्री के अति निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मिला। यागमण्डल-विधान में माँश्री साथ में अत्यन्त मधुर ध्वनि से श्लोक पढ़ती थीं एवं उपस्थित व्यक्तियों को उनका अर्थ तथा विधान के रहस्य को भी समझाती जाती थीं। पहाड़ का पानी मेरी प्रकृति के प्रतिकूल पड़ने के कारण वहाँ मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड़ गया। इस अवसर पर माँश्री के स्नेह का साक्षात्कार हुआ। आप मेरी उतनी ही चिन्ता रखती थीं, जितनी एक परिवार के व्यक्ति की। साधारण व्यक्तियों की चिन्ता और पीड़ा को भी अपनी चिन्ता और पीड़ा बना लेना और उनके लिए परेशानी उठाना माँश्री की नैसर्गिक विशेषता है। मैंने देखा कि आप अकेली ही दस आदमियों का काम कर लेती हैं। दिन में सोनेवालों और फालतू गप्प हाँकने-वालों से आपको चिढ़ है। कर्तव्य-पालन करने की दृढ़ता और अथक परिश्रम आपके जीवन के प्रधान गुण हैं। बुद्धि की प्रखरता निकट सम्बन्धवालों को चकित ही नही करती, किन्तु श्रद्धा उत्पन्न कर देती है। आपके व्यवहार से लोग मुग्ध हो जाते हैं।

२८ या २६ जून को हमलोग—मैं, माँश्री चन्दाबाईजी, मातेश्वरी डा० निर्मलकुमारजी और कई एक नौकर-चाकरों के साथ कालिम्पोंग से आरा को रवाना हुए। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो घर में अपने व्यक्तित्व को छुपा सकता है, पर बाहर यात्रा में किसीका व्यक्तित्व छिप नही सकता। कुलियों को पैसे देना, भिखारियों को दान देना तथा अपने परिचारकों के साथ व्यवहार आदि से उसका यथार्थ व्यक्तित्व पकड़ा जा सकता है। मोटर द्वारा जब हम सिलीगुड़ी पहुँचे उस समय लगभग सन्ध्या के ५ बजे थे। धीमी-धीमी वर्षा हो रही थी, यद्यपि भोजन कलिम्पोंग से करके चले थे, पर यहाँ आते ही भूख बड़े जोर से लगी। सभ्यता के आवरण के कारण मै तो कुछ कह नहीं सकता था। साथ के व्यक्तियो में भी एक-दो जैन थे पर वे भी मौन। गाड़ी छूटने में अभी दो घंटे की देरी थी। माँश्री को मैंने चार टिकट सेकिण्ड क्लास के और शेष व्यक्तियों के लिए सरवेण्ट टिकट लाकर दिये। माँश्री ने टिकट लेकर कहा—"आप तो दो बार भोजन करते हैं, व्यालू कर लीजिए।" इतना कहकर भजनलाल रसोइये से कहा—"स्टेशन के उस पार से जाकर दो रुपये के आम ले आओ। अन्य अच्छे फल मिलें तो और भी खरीद लाना।" साथ में नास्ते का कुछ सामान भी था। आपने आम स्वय बनाये और हमलोगों को खिलाये तथा अपने हाथ से भोजन कराया। जितने भी नौकर साथ में थे, सबको एक-एक रुपया भोजन के लिए दे दिया गया। हमलोग अगले दिन ८ बजे पारबतीपुर आये। यहाँ से गाड़ी ११ बजे मिलती थी, अतः माँश्री स्टेशन पर ही जल्दी-जल्दी स्नान कर वहाँ के किसी सेठ के चैत्यालय में दर्शन-पूजन करने चली गईं। हमलोग स्नानादि से निवृत्त होकर गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगे। ठीक १०॥ बजे आप लौटीं, गाड़ी भी ठीक समय पर आई और सारा सामान गाड़ी में लाया जाने लगा। इस समय मैंने एक अजीब दृश्य देखा, चैत्यालय के स्वामी—सेठजी ने अपनी मोटर स्टेशन तक भेज दी थी। जब ड्राइवर जाने लगा, माँश्री उसको ५) रुपये इनाम देने लगीं। सेठजी ने उसे इनाम लेने के लिए मना कर दिया था; अतः वह रुपये लेने से इन्कार करता था और माँश्री जबरदस्ती देना चाहती थीं। लगभग १० मिनट तक वह मना करता रहा, पर अन्त में माँश्री ने समझा-बुझाकर उसे रुपये दे ही दिये। कुलियों को पैसे देने के लिए भजनलाल झिक-झिक कर रहा

था, तो आपने कहा—"अरे इतना अधिक सामान है, इन लोगों को दो-दो, चार-चार आने और ज्यादा दे दो।" इसी प्रकार जितने भी भिखमंगे आये, सब एक शब्द सुने बिना चार-आठ आना पाते ही गये।

X X X

जैनधर्म के उज्वल प्रकाश को निखिल विश्व में फैलाने के लिए आप सदा आतुर हैं। सन् १६४८ में 'सर्चलाइट' में एक समाचार छपा था कि जार्ज बर्नार्ड शा 'जैन-मत का उत्थान' नामक पुस्तक लिख रहे हैं। इसमें जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का, महात्मा गांधी की अहिंसा के साथ तुलनात्मक विवेचन करेंगे। इस कार्य के लिए डाक्टर शा ने महात्मा गाँधी के पुत्र देवदास गान्धी को बुलाया है। इस समाचार ने आपके हृदय में अपूर्व उत्साह उत्पन्न कर दिया। उसी दिन आपने जैन समाज के प्रमुख धार्मिक और सरस्वती-पुत्र सर सेठ हुकुमचन्दजी, साहू शान्तिप्रसादजी, सेठ भागचन्दजी, बाबू छोटेलालजी, प्रो० गो० खुशालजी जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरालालजी आदि के पास पत्र लिखे। आपने मुख से कहा—"यदि यह समाचार सत्य है तो जैन-समाज से आर्थिक सहायता न मिलने पर भी हम अपनी ओर से किसी उद्भट धर्मशास्त्रज्ञ अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता जैन-विद्वान् को डा० शा के पास भेजेंगी। डा० शा की ख्याति साहित्यिक जगत् में अद्वितीय है। उनकी लेखनी का सम्मान विश्व के कोने-कोने में है। जैनधर्म के सम्बन्ध में उनकी लेखनी से प्रसूत रचना अमर होगी, विश्व में वह आदर और सम्मान की दृष्टि से देखी जायगी। बड़े-बड़े अन्वेषक विद्वान् उसे प्रामाणिक समझेंगे। अतः जैन-विद्वान् के साथ उनका सम्पर्क रहना अत्यावश्यक है। इस विद्वान् के सहवास से जैन अहिंसा और जैनदर्शन के तत्त्वों के सम्बन्ध में उन्हें जानकारी हो जायगी; इससे वह जैनधर्म के सम्बन्ध में यथार्थ लिख सकेंगे।"

X X X

माँश्री दयालु इतनी अधिक हैं कि मनुष्यों की बात ही क्या, पशु-पक्षियों पर भी दया का वर्ताव करती हैं। १-२ जून १६५२ को जब आप लखनऊ से आरा आ रही थीं, तो मार्ग में एक स्टेशन पर सैकड़ों बन्दरों को कटघरों में बन्द देखा। बन्दर कई दिनों के भूखे थे, अतः वे करुण-क्रन्दन कर रहे थे। दयालु माँ का हृदय पिघल गया और साथ के व्यक्ति को आदेश दिया कि इन बन्दरों को २०-२५) रुपये की पूड़ियाँ लेकर खिला दी जायें। आपके आदेशानुसार चने और पूड़ियाँ सभी बन्दरों को खिलाई गयीं। पूड़ियाँ खाते ही बन्दरों का क्रन्दन बन्द हो गया, वे शान्त होकर अपने स्थान पर स्थित हो गये। प्लेटफार्म पर इस दृश्य के देखनेवालों की खासी भीड़ थी, गाड़ी को भी आध घण्टे रुक जाना पड़ा।

इसी प्रकार आप अपने कुटुम्बियों की भी निरन्तर सेवा करती रहती हैं। आपकी इस सेवा वृत्ति को देखकर अनजान व्यक्ति यही समझेगा कि माँश्री को गृहस्थी का मोह अधिक है। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की खोज-खबर करना आपका स्वभाव है। परन्तु सत्य यह है कि आप 'जल से भिन्न कमल हैं', के समान संसार से अलिप्त हैं। अनासक्त कर्मयोगी की तरह सेवा-शुश्रूषा में रत रहने पर भी आप सदा प्रतिबुद्ध हैं।

माँजी आत्मशोधक हैं, यही कारण है कि आपमें यत्किञ्चित् रूक्षता भी है। दूसरों से अधिक मिलना-जुलना और अनावश्यक बातें करना आपको पसन्द नहीं। अखण्ड आत्मविश्वास होने के कारण अपने सत्यपक्ष की पुष्टि के लिए डट जाना, जिसे दूसरे लोग भले ही हठ कहें, आपका एक विशेष गुण है। आत्मविज्ञापन से दूर रहकर कर्त्तव्य करना, निन्दास्तुति का ख्याल न करना, सेवा और परोपकार में निरन्तर रत रहना, सहानुभूति और सहृदयता के साथ किसी भी बात का विचार करना आपके गुण हैं। ब्रह्मचर्य के अलौकिक तेज से आपका मुख-मण्डल सर्वदा देदीप्यमान रहता है, जो एक बार आपका दर्शन कर लेता है, वह जीवनभर आपको स्मरण रखता है।

—नेमिचन्द्र शास्त्री





रायबहादुर श्री बा० जमुनाप्रसादजी एडवोकेट, मथुरा
(भाई श्री ब्र० पं० चन्दाबाई)



श्री पं० व्रजबाला देवीजी. लघु भगिनी
(श्री ब्र०पं० चन्दाबाई)



श्री स्व० बा० देवकुमारजी, आरा
(पिता तुल्य ज्येष्ठ ब्र० पं० चन्दाबाईजी)



माँश्री ब्र० पं० चन्दाबाईजी के पितृ-परिवार का ग्रुप-चित्र

श्री पण्डिताजी

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन (The Central Jain Oriental Library) के पुस्तकालयाध्यक्ष एवं भवन से निकलनेवाले "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" (The Jain Antiquary) के अन्यतम सम्पादक, साहित्यरत्न, ज्योतिषाचार्य, न्यायतीर्थ सुहृद्वर पं० नेमिचन्द्रजी जैन से मुझे ज्ञात हुआ कि इस वर्ष जैन-समाज श्रीमती ब्रह्मचारिणी 'साहित्य-सूरि' पण्डिता श्री चन्दाबाईजी को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करनेवाला है। बल्कि ज्योतिषी जी ने मुझे कुछ संकेत भी किया कि आप भी कोई लेख अथवा कुछ संस्मरण ही लिख कर दें। किन्तु इसे मैंने असाध्य-सा समझा। क्योंकि यू० पी० के एक नीरस एवं असाहित्यिक ग्राम में वर्षों से अपना वार्धक्य-जीवन बिता रहा हूँ, अतः साहस करने पर भी अपने को असमर्थ-सा पाया। किन्तु वर्षों "जैन-बाला-विश्राम", बा० निर्मलकुमार जी की कोठी (देवाश्रम) एवं "जैनसिद्धान्त-भवन" में संस्कृताध्यापक तथा पुस्तकालयाध्यक्ष रहने के कारण पण्डिताजी की सेवा में लघुकाय 'संस्मरण' समर्पित करना समुचित समझा।

आपके संस्मरण लिखते समय देव-प्रतिम स्वर्गीय बा० देवकुमार जी का स्मरण एवं उनकी असामयिक मृत्युजन्य प्रधूमित शोक एक बार प्रदीप्त हो उठता है, अतः उनकी भी चर्चा कर देना मैं अप्रासंगिक नहीं समझता। अपने छोटे भाई बाबू धर्मकुमारजी की—जो सत्रह वर्ष की अवस्था में अकाल-काल-कवलित हो गये थे, और जो बी० ए० की अन्तिम कक्षा के प्रखर प्रतिभाशाली छात्र थे; मृत्यु से युवावस्था में ही जर्जर एवं श्वास-कास की व्याधि से पराभूत हो संन्यासमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन दिनों बा० निर्मलकुमार जी की उम्र आठ वर्ष की थी। आपने इन्हें हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने को मुझे शिक्षक नियुक्त किया। तभी से तीस वर्षों तक देवाश्रम से अविच्छिन्न रूप से मेरा सम्बन्ध रहा है, अतः मुझे पण्डिताजी का शिक्षण, साहित्यिक-सृजन, संस्था-व्यवस्थापन, अध्यापन एवं व्यापक प्रख्यापन बहुत निकट से देखने का अवसर मिला है।

अस्तु, दैववशात् पण्डिताजी की बाल्यावस्था से ही वैधव्य की वैधवी कला एकान्त चिरसंगिनी हो गई। ऐसी अवस्था में मैं आपका परम सौभाग्य समझता हूँ कि आपको स्वर्गीय बाबू नारायण दास जी बी० ए० जैसे परमोदार पिता एवं स्व० बाबू देवकुमारजी जैसे देवस्वरूप जेठ मिल गये थे। मथुरा-निवासी अग्रवाला वंशावतंस बा० नारायण दासजी लेजिस्लेटिव कौंसिल के मनोनीत सदस्य एवं वर्तमान चिर-प्रवास-प्रत्यागत राजा महेन्द्र प्रताप सिंहजी के अभिन्न हृदय मित्र थे। जिन दिनों साम्यवाद का नाम तक कोई भारत में नहीं जानता था, उन दिनों बा० नारायण दासजी ने अपने घर में

ही साम्यवाद का विशुद्ध एवं ज्वलंत निदर्शन उपस्थित कर दिया था। पण्डिताजी की छोटी बहन श्रीमती व्रजबाला देवीजी को मैं देवाश्रम में संस्कृत पढ़ाया करता था। आपके मायके मथुरा से गोविन्द और राखाल नामके दो लड़के जब-तब आरा आया करते थे। रूप-रंग, चाल-ढाल, बोल-चाल एवं वेश-भूषा से वे आप ही के परिवार के व्यक्ति से जान पड़ते थे। एक दिन देवीजी से मैं पूछ बैठा कि ये दोनों आपके भाई हैं। इन्होंने हँसकर कहा कि नहीं पण्डितजी,गोविन्द मेरी कोठी के कायस्थ मुंशी का लड़का है और राखाल बंगालिन सेविका का। मेरे पूज्य पिताजी का यह सिद्धान्त है कि मेरे आश्रय में रहनेवाला कोई बालक धनाभाव के कारण अशिक्षित न रहे। पिताजी अपने बच्चों की-सी सभी बातों की सुविधा देकर इन्हें पढ़ा रहे हैं। हालाँकि ये परीक्षा में जब-तब अनुत्तीर्ण होकर पढ़ने से भाग खड़े होते हैं; पर पिताजी इनकी एक भी नहीं सुनते और कह दिया है कि ग्रेजुएट होना ही पड़ेगा। मैं यह सुनकर साश्चर्य और अवाक् हो गया। प्रत्युत मुझे वह घटना याद आ गयी; जब श्री शंकराचार्य जी ने शास्त्रार्थ करने के लिए कुएँ पर पानी भरती हुई एक दासी से पूछा कि मण्डन मिश्र का घर कौन है और उसने संस्कृत पद्य में उत्तर दिया,—"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं शुकाङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति। द्वारस्थ नीडान्तरसन्नि-बद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥" इसी प्रकार मथुरा में बा० नारायणदासजी के घर का पता पूछने पर यही उत्तर समुचित होता—"उदात्तचारित्र्य-विभूति-भव्यं निदर्शनं भारतभूमि-भक्तेः। दासाश्च स्यु-र्यत्र कलाकुमारा (B. A.) जानीहि नारायणधाम सौम्यम् ॥"

अतः ऐसी दशा में आप अपनी विधवा बालिका को बिना पढ़ाये कैसे रह जाते। पण्डिता जी मथुरा में ही क्वींस कालिज काशी की व्याकरण प्रथमा परीक्षा की सभी पाठ्य-पुस्तकें एक अनुभवी सुयोग्य विद्वान् से व्युत्पत्ति-पूर्वक पढ़ तथा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर आरा में स्थायी रूप से रहने लगीं।

अपने प्राणोपम अनुज विद्वान् बा० धर्मकुमार जी की असामयिक मृत्यु से बा० देवकुमार जी को असह्य शोकजन्य असाध्य व्याधि ने अन्ततोगत्वा अपना अन्तिम लक्ष्य बना ही कर छोड़ा। किन्तु वह अपनी मृत्यु के पहले पुत्रीरूपा अनुज-वधू पण्डिताजी को लिये सपरिवार समस्त दक्षिण जैनतीर्थ और जैन-शास्त्र-भाण्डारों का दर्शन कर आये। बल्कि उसी यात्रा में तपःपूत श्री स्वामी नेमिसागर वर्णीजी के आपको दर्शन हुए। वर्णीजी के सहयोग से पण्डिताजी को जैनधर्मदीक्षा एवं प्रारंभिक धर्म-शिक्षा का माणिकाञ्चन-संयोग उपलब्ध हुआ। अतः देव-गुरु-शास्त्र इन तीनों की त्रिभंगी-त्रिपथगा की परमपुनीत पीयूष-धारा से आपका अन्तस्तमप्रदेश परिप्लावित हो गया।

विधवा को किस सम्मान के साथ रखकर उसका धर्ममय, औदार्यमय, शिक्षामय तथा सुखमय जीवन बनाया जाता है,—इसकी सुशिक्षा 'देवाश्रम' परिवार से ही मिल सकती है। छोटे से लेकर बड़े तक पण्डिताजी के संकेत की उपेक्षा का दुःसाहस नहीं कर प्रत्युत उसकी अधिकाधिक पूर्त्ति के लिए सदा सहर्ष सन्नद्ध रहते हैं।

अब पण्डिताजी को अपनी परिमित शिक्षा की सीमा में सीमित रहना असह्य हो उठा। बा० देवकुमार जी के चारित्रिक प्रोज्ज्वल प्रताप, अनुपम औदार्य और दूरदर्शिता के प्रभाव से प्रभावित

केवल अपना समाज ही नहीं था, प्रत्युत आरा के सर्वसाधारण धनी-मानी रईस आपके प्रस्ताव और मन्तव्य के प्रतिकूल चूँ तक करने का साहस नहीं कर सकते थे; अतः आपकी मृत्यु से पण्डिताजी को उच्चशिक्षा प्राप्त करने में पद-पद प्रतिकूल वातावरण का सामना करना पड़ा। उन दिनों स्त्री-शिक्षा के नाम से नाक-भौं सिकोड़ने वाले बिहार जैसा प्रान्त में सामाजिक दूषित मनोवृत्ति एवं अवरोध-प्रथा के सबल समर्थक दुर्दान्त, दुरुह तथा दुर्गम-दुर्ग के रहते हुए स्त्री-जाति को उच्चशिक्षा प्राप्त करना बड़ा ही विकट काम था। किन्तु आपने अपने अमोघ तथा प्रखर ब्रह्मचर्य बल से विषाक्त वायुमण्डल को ध्वस्त विध्वस्त कर अनुभवी और प्रगाढ़ वृद्ध विद्वान् से व्याकरण तथा न्याय का गंभीर और परिपुष्ट अध्ययन करके ही साँस ली। हाँ, —यदि आपका अध्ययन-क्षेत्र मथुरा होता तो बहुत कम समय में अपना अभीष्ट अध्ययन बड़ी सुगमता से कर लेतीं; किन्तु बा० निर्मलकुमारजी और चि० चक्रेश्वर निरे अबोध बच्चे थे। स्टेट के व्यवस्थापकों पर इनकी प्रारंभिक शिक्षा के लिये निर्भर नहीं रहकर अपनी देख-रेख में ही इन्हें रखना आपने उचित समझा।

व्याकरण और न्याय के पर्याप्त अन्तःपात होने तथा निज के अविरत अध्ययन-बल से अन्यान्य विषय भी आपने देख डाले और उनके रहस्य जानने में आपको किञ्चिन्मात्र भी काठिन्य का अनुभव नहीं हुआ।

शिक्षा-साधन-सम्पन्न होकर आपका निष्क्रिय बैठना असम्भव-सा था। अतः दो-तीन वर्षों में अविश्रान्त परिश्रम और अध्ययन करके सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक विषयों से ओत-प्रोत अनेकों स्त्री-शिक्षा-विषयक पुस्तकें लिखकर आपने प्रकाशित कर दीं; जिन्हें पढ़कर स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने की अन्तःस्थल में उत्कट उत्कण्ठा उदित हुई। यों तो जैन-समाज अल्पसंख्य होते हुए भी परिष्कृत समाज है। कई जगह श्राविकाश्रम एवं विधवाश्रम खुले हुए हैं। किन्तु इनमें उच्च तथा सर्वाङ्गीण शिक्षण का सौलभ्य नहीं होने के कारण पण्डिताजी के मन में यह बात बहुधा खटका करती थी। अतः बा० निर्मलकुमारजी की सत्प्रेरणा तथा जैनधर्म के अग्रदूत वर्णी जी के पुनीत परामर्श से आरा नगर से दो माइल दूर स्व० बा० धर्मकुमारजी के स्मृति-स्वरूप 'धर्मकुंज' के भव्य भवन में शुभ-मुहूर्त में श्रीमती पण्डिताजी के परम पवित्र पाणिपल्लव से "जैनबाला-विश्राम" की स्थापना हो गयी। भारतीय संस्कृति-संबद्ध शिक्षाभिलाषिणी महिलाओं को अब अपनी ज्ञानपिपासा परितृप्त करने का सुवर्णावसर प्राप्त हुआ। उन दिनों पुरुष जाति के प्रमाद, अनेकता, अनुत्तरदायित्व तथा अदूरदर्शिता से मातृजाति दयनीयता के दल-दल में दुर्दलित हो रही थीं।

यों तो अब बिहार सरकार की भी स्वराज्य-सुख-सुधा-सरिता में मग्नोन्मग्न होने से स्त्री-शिक्षा के लिये आँखें खुल रही हैं। जहाँ तहाँ नगरों में गर्ल्स हाई स्कूल खुल रहे हैं। किन्तु इन सरकारी स्त्री-शिक्षा संस्थाओं में भारतीय संस्कृति के विलीनीकरण के लिये पाश्चात्य संस्कृति का ऐसा भीषण आक्रमण हो रहा है कि जिसका भावी फल बड़ा ही कटु और विषाक्त प्रतीत हो रहा है। इसकी रोक-थाम की परमावश्यकता है। मैं इस घटना का प्रत्यक्ष-दर्शी हूँ। क्योंकि एक हाई स्कूल के

अवसर प्राप्त कर गर्ल्स हाई स्कूल में दो-तीन वर्षों तक अध्यापन का कार्य कर चुका हूँ। क्रिश्चियन शिक्षिकाओं की ही बालिका विद्यालयों में भरमार है, अतः सबकी सब लड़कियाँ इन्हीं के खान-पान, वेश-भूषा आदि संस्कारों से संस्कृत होने में अपना गौरव और अहोभाग्य समझ रही हैं।

हमारी पण्डिताजी के अधिनायिकात्व में फलने-फूलने वाले इस 'विश्राम' की विशेषता ही कुछ और है। यहाँ ऊँची ऐंड़ीवाली जूतियों की मच-मचाहट की मधुर-ध्वनि श्रवणगोचर होने को नहीं। पौडर-पराग से परिलिप्त मुख-मण्डल का यहाँ दर्शन कहाँ? बल्कि यहाँ तो श्री जिनेन्द्रदेव एवं श्री-गोम्मटेश्वरनाथ आदि देवों की दिव्य देह में प्रचुर मात्रा में परिलिप्त तथा अर्जित विशुद्ध केशरगर्भित चारुचन्दन और धर्मकुंज की पुष्प-वाटिका में विकसित विविधामोदप्रद पुष्पों की सुगन्ध की भरमार से सेन्ट-सेना यहाँ प्रवेश करने का दुस्साहस कर ही नहीं सकती। यहाँ तो भारतीय संस्कृति की प्रकृत प्रतिमा ब्रह्मचारिणी जी के ब्रह्मवर्चस एवं स्वच्छन्द सादगी की परमपूत-प्रशस्त प्रभा से प्रभासित छात्राओं ने भौतिक चाकचिक्य को सदा के लिये तिलाञ्जलि दे रक्खी है।

विश्राम की शिक्षा के विषय में भी पण्डिता जी का उद्देश्य बड़ा ही औदार्य और वैदुष्य-पूर्ण है। आप यह नहीं चाहती कि विश्वविद्यालयों से बड़ी-बड़ी पदवियाँ प्राप्त की हुई महिलाएँ प्रतियोगिता में पुरुषों को पराजित कर उच्च पदारूढ़ हों। अतः धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, औद्योगिक, कलात्मिक तथा आध्यात्मिक विषय ही शिक्षा को अनिवार्य कर स्त्रियों को सच्ची गृहिणी बनाने का आपका सर्वतोमुख ध्येय है। और आप यह भी भलीभाँति जानती हैं कि जब तक बच्चे और बच्चियों के अन्तः प्रदेश में सौशील्य-शिक्षा का शिलारोपण बाल्यावस्था ही से समुचित रूप से नहीं किया जाता तब तक शिक्षा सफल होनेवाली नहीं। इसीलिये सधवा, विधवा कुमारी स्त्री-जातिमात्र के लिए विश्राम-का विशाल-द्वार आपने उन्मुक्त कर दिया है।

पण्डिताजी के पाण्डित्य, उदारता, शिक्षा-प्रसार-प्रियता तथा 'विश्राम' की ख्याति अधिकाधिक होने के कारण यहाँ पढ़ने के लिए महाराष्ट्र, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, पंजाब और कन्नड़ प्रान्त से छात्राएँ आने लगीं और आप इन्हें स्वयं धर्म और संस्कृत की शिक्षा देने लगीं। पहले तो उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाली छात्राएँ बहुसंख्यक आयीं; पीछे तो आपकी संस्था की आकर्षकता से स्त्री-शिक्षा-प्रेमी अभि-भावक छोटी-छोटी बच्चियों तक को आदर्श शिक्षा-प्राप्त कराने के लोभ से भेजने लगे। अध्यापन में अब आपको अधिक समय देने का अवकाश कहाँ? अतः बाहर से शिक्षण-कला-कुशल (Trained) अनुभव प्राप्त योग्यतम शिक्षिकाएँ बुलाकर रखनी पड़ीं।

उन दिनों अंग्रेजी का बोलबाला था। विश्राम की प्रख्याति सुनकर बहुतेरे गण्य-मान्य अंग्रेजी दां भारतीय और अंग्रेज विद्वान् आ-आकर अपना मत-प्रकाश निरीक्षण पुस्तिका अंग्रेजी में ही करने लगे। बाहर से तार तथा चिट्ठी-पत्री भी अंग्रेजी में ही आने लगीं। यों तो पण्डिता जी भी थोड़ी-बहुत अंग्रेजी जान लेती हैं; किन्तु अंग्रेजी के परिमित ज्ञान से विश्राम का काम सुन्दर सुचारु रूप से

चलता नहीं देखकर अपनी छोटी बहन श्रीमती व्रजबाला देवी जी को आप अंग्रेजी पढ़ाने लगीं । इन्हें धर्म और संस्कृत तो आप पढ़ाती थीं ही । एक लोकोक्ति है कि "लंका में सब कोई बावन के हाथ के ।" यही बात व्रजबाला देवी जी की कही जा सकती है । ए.बी.सी.डी. से प्रारम्भ कर अट्ठारह महीनों में ही आपने प्रथम श्रेणी में प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली । दो वर्ष में आइ. ए. और बी. ए. की पाठ्य-पुस्तकें आपने देख डालीं; किन्तु स्वास्थ्य में कुछ शिथिलता आ जाने के कारण पण्डिताजी ने आपको परीक्षा देने से रोक रक्खा और कहा कि विश्राम के कार्य-निर्वाहार्थ तुम्हारी अंग्रेजी शिक्षा पर्याप्त है । ग्रैजुएट बनने से कोई विशेष लाभ नहीं । अंग्रेजी संस्कृत पाठ्य-पुस्तकें मैंने आपको पढ़ायी हैं, अतः मै कह सकता हूँ कि विद्या ग्रहण करने में आपकी बुद्धि बहुत ही सुलझी हुई है । व्याकरण के मेरे जटिल से जटिल नियम को आप ऐसे सुन्दर ढंग से सरल रूप देकर मेरे समक्ष उपस्थित करतीं कि मैं मुग्ध हो जाता था । क्यों न हो, "आकरे पद्मरागाणां जन्म काच-मणेः कुतः " । आपकी तर्क एवं वक्तृत्व शक्ति बड़ी अपूर्व है । आप पण्डिताजी का दक्षिण हस्त एवं विश्राम की उपाधिष्ठात्री हैं ।

पण्डिता जी की अध्यापन-शैली बड़ी ही हृदयहारिणी एवं अनुकरणीय है । कठिन-से कठिन विषय भी मन्द से मन्द छात्रा को आप ऐसे उत्तम ढंग से समझा देंगी कि वह भूलेगी ही नहीं । क्योंकि विश्राम का अप्रत्याशित विस्तार होने के कारण और देवाश्रम में चिरन्तन संस्कृताध्यापक रहने के कारण पण्डिताजी ने मुझे भी विश्राम में वर्षों संस्कृताध्यापक रखा था । या सीधे में यह कहूँ कि मुझे "मार-मार कर हकीम बनाया" तो कोई अत्युक्ति नही होगी । सात आठ वर्षों तक मुझ से कातन्त्र व्याकरण, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, क्षत्रचूड़ामणि, जीवन्धरचम्पू, चन्द्रप्रभकाव्य एवं धर्म-शर्माभ्युदय पढ़वाया तथा छात्राएँ भी सफलतापूर्वक परीक्षोत्तीर्ण हुईं । उन दिनो विशेषकर टीका के अभाव के कारण चन्द्रप्रभकाव्य में जहाँ-तहाँ दार्शनिक बातें सुलझाने में मैं अपने को असमर्थ पाता तो छात्राओं से कह दिया करता कि इसे पण्डिता जी से समझ लेना । दूसरे दिन छात्राएँ मुझ से कह देतीं कि माँजी ने इसे यों समझाया है; तभी आपकी न्यायशास्त्र की विद्वत्ता एवं सुगमतर शिक्षण-शैली का मुझे पता लगता था ।

पण्डित-मण्डली में एक प्रवाद प्रचलित है,—"कौमुदी न आयी तो गँवायी पण्डितायी सब" । और इस सिद्धान्त कौमुदी पर पण्डिता जी का कैसा आधिपत्य है; इस बात का मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिल चुका है । एक बार की घटना है कि बा० निर्मलकुमार जी मैट्रिक में पढ़ रहे थे । मैं इन्हें संस्कृत पढ़ा रहा था । बिहार की मैट्रिक की संस्कृत में उन दिनों व्याकरण का पूर्ण ज्ञान हो जाता था । अर्थात् कौमुदी का सारा प्रकरण संक्षिप्त रूप से पढ़ाकर छात्रों को उद्बुद्ध कर देना पड़ता था । मैंने आपको 'यङन्त' प्रकरण पढ़ाकर बहुतेरे धातु 'यङ' जोड़कर क्रिया बनाने को दे दिये । आपने मेरे प्रदर्शित नियमानुसार सभी धातुओं को क्रिया का रूप दे डाला । उनमें 'नी' की 'नेनीयते' की तरह 'शी' की भी 'शोशीयते' क्रिया बनाकर मुझे दिखा डाली । पण्डिता जी कभी आप दोनों भाइयों के संस्कृताध्ययन की जाँच कर लेती थीं । आपकी कापी में "शोशीयते" देख, इसके स्थान में "शाशय्यते"

लिख और बगल में पाणिनीय सूत्र "क्ङिति च" अंकित कर दिया और कहा कि इसे पण्डित जी को दिखा देना। मैंने इस विशेष सूत्र की ओर ध्यान दिया ही न था, अतः बड़ा ही संकुचित हुआ। मैंने मन में कहा कि कौमुदी पढ़े आपको वर्षों हो गये होंगे, तो भी यह सदा आपके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती है! इसका एकमात्र कारण बुद्धि की विशदता, व्युत्पत्ति की व्यापकता एवं स्मरण शक्ति की जागरूकता है।

यदि विषयान्तर नहीं समझा जाय तो, आपके आराध्य पतिदेव स्व० बा० धर्मकुमार जी का भी,—जो सत्रह वर्ष की अवस्था में ही अकरुण करालकाल के कवलित हो गये और जिनका स्मारक स्वरूप यह "धर्मकुंज" आज विश्राम शिक्षालय का विशाल दुर्ग और दर्शनीय जैनतीर्थ में परिणत हो गया है—थोड़ा संस्कृत-पाण्डित्य प्रदर्शन कर दूँ। घटना यह है कि मुझे काव्यतीर्थ परीक्षा देनी थी। परीक्षा में माघ काव्य भी था। बा० धर्मकुमार जी ने बी० ए० में संस्कृत भी ली थी। माघ के चार सर्ग उन्हें भी पढ़ने पड़े थे। उनका पढ़ा हुआ माघ मुझे कोठी में ही मिल गया। उनके हस्ताक्षरित जहाँ-तहाँ व्याकरण की अनेक उच्चकोटि की टिप्पणियाँ थीं; जिन्हें हृदयङ्गम कर मैंने बहुत लाभ उठाया और कहा कि इतनी अल्पावस्था में व्याकरण की चोटी की बात जानना, वह भी अंग्रेजी के साथ, कम गौरव तथा आश्चर्य की बात नहीं है। अतः आप सरस्वती के वर-पुत्र थे। मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि स्व० बाबू धर्मकुमार जी स्याद्वाद की सप्तभंगी-सुमधुर धारा से परिषिक्त, अपने धर्मकुंज में द्वादशाङ्ग-रूपी कल्प-वृक्ष की अनुयोग-चतुष्टय रूपिणी सुस्निग्ध शाखाओं पर सुखासीन जिनवाणी रूपिणी कमनीय कोकिल की रत्नत्रयरंजित काकलीय का कलरव सुन एवं कुंज की सर्वतोभावेन संरक्षिका अपनी अर्द्धाङ्गिनी ब्रह्मचारिणी "साहित्यसूरि" श्रीमती पण्डिता जी को श्री जिनवाणी की अग्रदूती रूप में देखकर आध्यात्मिकानन्द से विभोर हो जाते होंगे।

अब तक मैं पण्डिताजी के पाण्डित्य तथा अध्यापन का ही दिग्दर्शन करा सका हूँ; किन्तु विश्राम में वर्षों रहने के कारण आपकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रत्यक्षीकरण का मुझे बहुबार सुअवसर प्राप्त हुआ है। आपका सदा यही अभीष्ट रहा है कि मातृ-जाति पुरुष-जाति को पारिवारिक योगक्षेम की व्यवस्था का भार न दे। अतः प्रत्येक छात्रा को बारी-बारी से विश्राम का अन्न-भाण्डार और पाक-क्रिया का भार देकर सौ-पचास व्यक्ति को निराकुलता-पूर्वक यथासमय उत्तमोत्तम या सादा भोजन बनाकर खिलाने में सुदक्ष कर देने की भी आपकी परिचालित पद्धति कम प्रशंसनीय नहीं है। करघा-चरखा-द्वारा बुनाई कताई, बनिआइन, सूटर, मोजा बुनना, मशीन से सिलाई, सलमा-सितारे का काम, और बेल-बूटा काढ़ना भी सभी छात्राओं के लिए अनिवार्य है। प्रत्येक प्रतिपद और अष्टमी को सभा आयोजित कर विविध विषयों पर व्याख्यान देने तथा निबन्ध लिखना भी छात्राओं के परमावश्यक कार्यों में है। इसका यह अर्थ नहीं है कि छात्राएँ अपनी शिक्षिकाओं की देख-रेख में यह सब काम ज्यों-त्यों करती रहें और आप चुप बैठी रहें। सभी कामों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से आप परीक्षण करती हैं। जहाँ पर भी त्रुटि पायेंगी, आप झट तत्तद्विषय की शिक्षिकाओं का ध्यान उस ओर आकृष्ट करेंगी तथा उन्हें सावधान हो जाने की सूचना देंगी कि ऐसी त्रुटियों की पुनरावृत्ति भविष्य में नहीं होनी चाहिए। आपसे ऐसी सावधानता की सूचना मुझे भी एकाधबार मिल चुकी है।

मैंने आपको संस्था-सुव्यवस्थापिका, लेखिका, पत्र-सम्पादिका तथा व्याख्यान-दात्री इस चतुर्मुख रूप में देखा है। संस्था-सुव्यवस्था के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अन्यान्य मध्य-मान्य लोगों की तो बात अलग रहे भारत के प्रकृत एवं प्रोज्ज्वल रत्न स्व० महात्मा गान्धीजी, स्व० महामना मालवीयजी एवं भारत-राष्ट्र के वर्तमान अधिनायक पं० नेहरूजी विश्राम में पधार कर इसकी सुव्यवस्था, पाठन-प्रणाली, सादगी, भारतीयता तथा अनुशासन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर चुके हैं। पण्डिता के लेखिकात्व की प्रसिद्धि इनकी साहित्यिक कृतियाँ डंके की चोट से करती रहती हैं। पत्रकार-कला के प्रदर्शन के लिये "जैनमहिलादर्श" मासिक पत्र ही पर्याप्त है। जैन-महिला-समाज की कई बड़ी-बड़ी सभाओं में सभानेत्रीत्व रूप में अनेकों भाषण आपके हुए हैं, जिनकी प्रशंसा बहुसंख्यक समाचारपत्रों में मैंने पढ़ी है; किन्तु सुनने का सुअवसर मुझे एक ही बार उपलब्ध हुआ है, सो भी अप्रत्यक्ष रूप से। क्योंकि बिहार की अवरोध प्रथा का लक्ष्य बनकर पण्डिताजी के साक्षात्संभाषण से अब तक मैं अवरुद्ध ही रहा। हालाँकि यह अवरोध प्रारम्भ में ही प्रकृतिगत हो जाने से उससे अब तक पिण्ड छुड़ाने में मैं अक्षम-सा रहा।

एक बार आरा में बिहार प्रान्तीय अग्रवाल सभा का वार्षिकोत्सव हुआ था। इसके मनोनीत सभापति पटने के प्राचीन रईस विद्वान् राय ब्रजराज कृष्णजी बी० ए० थे। आप बड़े अच्छे व्याख्याता, निर्भीक एवं दबंग व्यक्ति हैं। अपने व्याख्यान में आपने दबी जबान से विधवा-विवाह की उपयोगिता की भी चर्चा कर दी। यों तो मैं आपका धारा-प्रवाह सुललित व्याख्यान सुनकर मुग्ध हो गया। सौभाग्य से पण्डिताजी भी महिला-मण्डली को लिये पर्दे में बैठी सुन रही थीं। भला पण्डिताजी विधवा-विवाह की उपयोगिता सुनकर कब चुप बैठने वाली थीं। दूसरे दिन आपने वहीं सभास्थल श्रीशान्तिनाथ जी के विशाल मन्दिर में अपनी शिष्याओं एवं गण्य-मान्य महिलाओं को इकट्ठी कर सिंहनी-सी गरजती हुई बड़ी सौम्य भाषा में पाण्डित्यपूर्ण अखण्डनीय तर्कों से रायसाहब के विधवा-विवाह के औचित्य को अनौचित्य सिद्ध करके ही छोड़ा। मैं बाहर बैठकर सुनता रहा। आपकी व्याख्यान-विदग्धता देखकर मैं दंग रह गया। केवल व्याख्यान ही देकर आप नहीं रह गयीं। प्रत्युत प्रतिवाद स्वरूप विधवा-विवाह का अनौचित्य प्रदर्शक अपना अभिप्राय पन्द्रह-बीस पंक्तियों में लिखकर सभापतिजी के पास भिजवाया भी। किन्तु सभापतिजी उसे पढ़कर चुप रहे। अपने सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध करने को सहमत नहीं हुए। आपकी लिखी वे पंक्तियाँ बड़ी चुटीली थीं। मुझे अक्षर-प्रत्यक्षर तो याद नहीं; किन्तु भाव यह था कि, पुरुषजाति प्रमाद एवं आलस्य का आश्रय ले और मातृजाति को समुचित शील संयम आदि की शिक्षा न देकर अनन्यगतिक होती हुई झट विधवा-विवाह की उपयोगिता दिखाने लगती है। यदि धार्मिक और चारित्रिक शिक्षा की समुचित सुविधा इन्हें दी जाय तो ये तपस्विनी विधवाएँ भारत में एक बार क्रान्ति उत्पन्न कर दें।

अब मैं पण्डिताजी के सूत्र रूप में उपर्युक्त विधवा-विवाह-निरोधक मन्तव्य की यहाँ कुछ व्याख्या कर देना भी उचित समझता हूँ।

कृत युग के आरम्भ में मनुष्यों के विवाह का कोई नियम था ही नहीं। सर्वत्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पशुधर्म ही प्रचलित था। ज्यों-त्यों सन्तानोत्पादन की व्यवस्था ही सर्व-मान्य थी। किन्तु कलि

का प्रारम्भ होते ही त्रिकालज्ञ महर्षियों ने इस पशुता-पूर्ण समाजव्यवस्था-धारा को एकदम अवरुद्ध कर दिया। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि महर्षियों की यह स्वच्छन्द-चारितार्थता थी ? निष्प्रयोजन प्रभुत्व-स्थापन-वृत्ति थी ? हठकारिता थी ? या लोकहित-चिकीर्षुता ? बात यह थी; जिन दिनों अविद्या का ही बोल-बाला था; लोगों ने प्रजावृद्धि के लिए यही नियम उपयुक्त समझा; किन्तु जब विद्या का प्रसार हुआ तो महर्षियो की इच्छानुयायिनी प्रजोत्पत्ति होने लगी। तभी विवाह-विधि और उसकी पद्धति भी प्रचलित हुई। प्रजावृद्धि अनर्गल रूप से इतनी अधिक हो गयी थी कि उसका निरोध करना महर्षियों को परमावश्यक प्रतीत हुआ। क्योंकि कलिकाल के आदि में भगवान् श्रीकृष्ण से प्रेरित कौरव-समराग्नि में असंख्य अक्षौहिणी जनसंख्या के भस्मीभूत होने पर भी अव्याहत दृष्टि महर्षियों के मन में भावी प्रजावृद्धि का संकोच अनिवार्य प्रतीत हुआ और उन्होंने एक बड़ी भारी परिषद् इकट्ठी कर भारत के भावी हिता-हित की आलोचना प्रत्यालोचनापूर्वक औरस, क्षेत्रज, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव और दत्तक इन दस प्रकार के पुत्रों में से औरस और दत्तक को ही अधिकारी निर्धारित किया। अतः विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ऋषियो ने बतलाया ही नहीं। कुछ परदुःखकातर समाज-सुधारक सहृदय व्यक्ति कह सकते हैं कि भीषण एवं कठोर-तर ब्रह्मचर्यरूपी धधकती दावाग्नि में घृत संपृक्त आहुति की तरह विधवाओं को डालकर जलाना निर्दयता नहीं तो क्या है; किन्तु यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो मैं खुलेआम कहूँगा कि विधवा ही क्या नारी जातिमात्र यदि पुरुष जाति से मातृदृष्टि से देखी जाय तो ब्रह्मचर्य को कौन कहे, कठोर से कठोर चर्या को भी श्री जिनेन्द्रदेव के पवित्र प्रक्षालन की तरह सदा शिरोधार्य करने को तैयार है। स्त्रियाँ कहें तो किससे कहें ! पुरुषो ने इन्हें कुछ कहने का अधिकार दिया ही नहीं। प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक पुरुष-गण सारा दोष स्त्री जाति के ही मत्थे मढ़कर अपने दोषाच्छादन का सफल या विफल प्रयास करते आ रहे हैं।

पुरुषों का पहला दोषोद्घाटन,—जो उनकी विषय-वासना-वासित दूषित तथा कलुषित मनोवृत्ति का पूर्ण परिचायक यह है कि कामाधिक्य के कारण स्त्रियाँ पुरुषों को पथ-भ्रष्ट करती हैं। मैं तो समझता हूँ कि इस कथन से पुरुषों की शुद्ध, बुद्ध तथा विमुक्त आत्मा एक बार काप उठती होगी। यह बात सर्वविदित है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुनादिक में पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी दशा में पशुता के पिच्छिल पंक से अलग रहने तथा मनुष्यता की उत्तरदायित्वपूर्ण पंक्ति में खड़े होने का एकमात्र साधन प्रशंसापत्र मानवमात्र के लिए चरित्र (शील) अर्थात् धर्म ही है। अब पाठक जरा ध्यान देकर देखें कि नरजाति इस चरित्र से कैसा खेलवाड़ करती आ रही है तथा कामाधिक्य किस में है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि काम-तरंग से आहत तुरंग और गर्दभ अनवरत दुलत्तियों का असह्य प्रहार सहकर भी अनिच्छुकी तुरंगी और गर्दभी का पीछा नहीं छोड़ते। इसी प्रकार मार्जार मार्जारी के पीछे , साँड़ गाय के पीछे, कुक्कुट कुक्कुटी के पीछे; अर्थात् सभी पुंस्त्वप्रधान पशु-पक्षी स्त्रीत्वप्रधान अनिच्छुकी पशु-पक्षी के पीछे पड़े रहते हैं।

दूसरा दोषारोपण पुरुषों का है कि वेश्याएँ कटाक्ष-पात से पुरुषों को वश में करके धना-पहरण करती हैं। अब मैं मनोविज्ञान की विज्ञता का अखर्व-गर्व करनेवाले उन पुरुष-पुंगवों से पूछता

हूँ कि, धनाहरण करनेवाली वेश्याओं का कामाविक्रय है, या धन, धर्म, पूर्व पुरुषों की सर्वस्वरूप-मर्यादा, कुलीनता, जातीयता, स्वोपार्जित प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति; यहाँ तक नहीं अपने प्राण तक उसके चरणों में समर्पित कर देनेवाले पुरुषों का ? मैं तो समझता हूँ कि ऐसे शील-भ्रष्ट कामुक पुरुषों के लिये धर्मशास्त्र में ऐसा अनिवार्य दण्ड विधान बना दिया गया होता कि जो मानवता के प्रतिपादक चरित्र-मात्र प्रमाणपत्र के प्रतिकूल आचरण करें; उसका प्रमाण-पत्र छीन मनुष्यता के उच्चासन से धकेल कर पशुता की पाँत में खड़ा कर दिया जाता तो चरित्रहीनों का कहीं पता ही नहीं लगता ।

अब आप जगज्जननयित्री कोमलाङ्गी माताओं की ओर ध्यान दें कि इन्हें अपने पति और अपत्य के लिये कैसी असह्य पीड़ा सहन करनी पड़ती है । अनुक्षण वर्द्धनशील गर्भ-भार से आक्रान्त, गर्भ-जन्य अनेक रोगों से आकुल-व्याकुल एवं गर्भस्थ सन्तान के लिये कठोर नियमों से नियन्त्रित वनिताओं को स्वशरीर रक्षा के लिये भी भोजन की रुचि नहीं होती । यदि हठात् कुछ खा भी लेती हैं तो, सन्तान ही उसकी अधिकारिणी हो जाती है । प्रबल प्रसव-वेदना सहन कर सन्तान मुख देखने का कहीं सौभाग्य प्राप्त हुआ तो, उस जीर्ण-शीर्ण प्रसूतावस्था में भी अपनी सारी व्यथा भूलकर बिचारी प्रसन्नता प्रकट करने की चेष्टा करती है । सबसे बढ़कर इनकी दयनीयता यह है कि माता दुग्धपरिणत अपनी शोणित-धारा ही पिलाकर सन्तान की रक्षा करती है । बच्चे और बच्ची सुख से हैं तो माँ भी सुखी । इन पुत्र-पुत्रियो के सम्बन्ध से परिवार वृद्धि होने पर बिचारी माता एक बार गार्ह-सुख-सरोवर में मग्न हो जाती है । कहीं पति-पुत्र शीलभ्रष्ट हुए तो पत्नी और जननी के दुःख का पारावार नहीं । उनके हृदय पर कैसा असह्य आघात होता होगा, यह वे ही जानें । ऐसे चरित्रहीन पति-पुत्र के लिए भी पति-प्राणा सती-साध्वी आर्यललनाएँ एवं सन्तान-वात्सल्य-निर्भरामाता चिरारोग्य एवं हृष्टि-पुष्टि-तुष्टि के लिये अपने अभीष्ट देवता से सदा प्रार्थना किया करती हैं । धन्य हो माताओ ! तुम जगद्वन्दनीया हो ! ।

यदि दैववशात् स्त्रियाँ विधवा हो गयीं तो हमारे करुणामूर्त्ति समाजसुधारक नेतृ-वृन्द पुनर्विवाह की घोषणा कर इन विधवाओं का उन्हीं प्रसव-क्लेश-परम्परा से नियन्त्रण करना चाहते हैं, न कि ब्रह्म-चर्य से । निग्रह तो होना चाहिए उन पशुप्राय शीलभ्रष्ट परदाराभिमर्शी पुरुषों का । क्योंकि आग शुष्क, कठिन एवं निकम्मे काठ को ही जलाती है; न कि कोमल, तरल, सुखस्पर्श तृषापहारी सुशीतल जल को । बल्कि अग्नि के संसर्ग से वह जल विकृतिमुक्त, प्रपूत तथा पथ्य बन कर जनता के लिये स्वास्थ्य-प्रद बन जाता है । उसी प्रकार ललितललामभूत ललनाएँ ब्रह्मचर्य द्वारा परमपुनीत होकर जनमात्र के अन्तस्तम प्रदेश से कुवासना, अकर्मण्यता, भीरुता, निरुत्साहता एवं कुप्रवृत्तियाँ समूल निष्कासित कर सुशीलता, सक्रियता, उत्साहाधिकता, निर्भीकता और शुभवृत्तियों का विद्युत्प्रवाह प्रवाहित करती हुई एक बार नवयुग उपस्थित कर देंगी । और तभी भारत अपने नवोपलब्ध स्वराज्य का सच्चा सुख अनुभव करेगा ।

शास्त्रकारों ने कहा है कि ब्रह्मचर्य पालन करती हुई विधवाएँ परब्रह्म परमात्मा ही को अपना पति समझें तथा उन्हीं की सतत पूजा, अर्चा, और ध्यान-धारणा करें । प्रफुल्ल ब्रह्म ज्ञान सभी को अपनी

सन्तान समझें। ऐसी विधवाओं की कारुण्य-पूर्ण वात्सल्य-धारा प्रोन्मुक्त होकर सदा संसार को परिप्लावित करती रहेगी। एक ही हार्दिक प्रेम पूज्यों में भक्ति, पति, पुत्र, वनिताओं में तथा विपद्ग्रस्तों में करुणा कहा जाता है। सधवा स्त्रियों का प्रेम पति, पुत्र आदि स्वजन-परिजनों तक ही सीमित रहता है, किन्तु भर्तृहीन स्त्रियों का प्रेम कहीं एकत्र निबद्ध नहीं रहता। इनकी करुणा-धारा तो सहस्र कर से उन्मुक्त होकर दीनों, विपन्नों, निरन्नों, निराश्रितों, पीडितों, निरक्षरो एवं दलितों पर उच्छलित रूप से अजस्र उच्छलित होती रहेगी। मैं तो कहता हूँ कि ये विद्युद्दीपशिखा की तरह अपनी समुज्ज्वल ब्रह्मवर्चस ज्योति से अपने गृह को आलोकित करती हुई जगन्मात्र को प्रभासित कर देंगी। मैं समाजसुधारक सहृदयों से विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि, आप सज्जन, महालक्ष्मी, महासरस्वती स्वरूपिणी इन विधवा देवियों की कारुण्य-वृष्टि के प्रत्यूह-व्यूह न बनें। ये सब्रह्मचारिणी सच्चरित्रा पूजनीयचरणा विधवा अपनी ब्रह्मचर्यरूपिणी विद्युत् से गृहाङ्गन-गगन में चमकें एवं कादम्बिनी रूप से भूतल पर करुणा-सुधाधारा की वृष्टि करें, जिससे सारा संसार सराबोर हो जाय।

अब मैं यहाँ कुछ प्राचीन और अर्वाचीन जैनेतर विदुषियों का नामोल्लेख कर देना चाहता हूँ। अत्रिगोत्रोत्पन्ना "विश्ववारा" नामकी विदुषी ऋग्वेद के ५ वें मण्डल के १८ वें सूक्त की 'ऋषि' पदवी तक प्राप्त कर चुकी हैं। लौकिक संस्कृत को कौन कहे वैदिक संस्कृत की भी आप पारंगता थीं। 'शंकर दिग्विजय' काव्य में अंकित मिलता है कि, "ततः समादिश्य सदस्यतायां सधर्मिणीं पण्डितमण्डनोऽपि। स शारदां नाम समस्तविद्या–विशारदा वाद-समुत्सुकोऽभूत्" ॥ अर्थात् शंकराचार्य और मण्डनमिश्र के शास्त्रार्थ में मण्डनपत्नी शारदा ने मध्यस्थ बनकर अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया था। यह प्रत्यक्ष है कि मैथिलाधिपति श्री चन्द्रसिंह की महिषी श्रीलक्ष्मी ने,—जिनका स्मरण मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपने प्रत्येक पद्य के अन्त में किया है, मिताक्षरा धर्मशास्त्र की विवृति की रचना की है। "बृहदारण्यक" में गार्गी को "सर्वशास्त्र-विशारदा" की उपाधि मिली उपलब्ध होती है। अर्वाचीन में कुंभकोणम् की रहनेवाली 'कविरत्न' ज्ञानसुन्दरी है। संस्कृत में आपने चालीस ग्रन्थ बनाये हे। 'कविरत्नम्' की उपाधि आपको मैसोर राज्य से मिली है। आपकी कविता कालिदास और माघ की टक्कर की होती है। दूसरी अर्वाचीन हैं कामाक्षी अम्मादेवी। यह भी संस्कृत की पूर्ण पण्डिता हैं। इन्होंने "अद्वैतदीपिका" नाम का एक वेदान्तग्रन्थ बनाया है। इसमें वेदान्त की बातें बड़ी खूबी से आपने समझायी है। आप सम्पन्न घर की विधवा हैं। वह सारा समय पुस्तकावलोकन और वेदान्त-विचार में ही व्यय करती हैं। आप मद्रास प्रान्तीय माया-पुर वास्तव्या हे। इन दोनों विदुषियों की कुछ कृतियाँ आज से ३० वर्ष पहले मैंने पढ़ी हे। अब का पता नही कि ये हैं कि नहीं।

इन उल्लिखित प्राचीन अथवा अर्वाचीन अजैन महिला-विदुषियों के नामोल्लेख से मेरा तात्पर्य यह है कि ये भले ही वेद, वेदान्त, धर्मशास्त्र और काव्य की कमनीय कीर्तियाँ छोड़ जायें; किन्तु निरक्षरता के निरयनीरनिधि में निमग्न अपनी नारी-जाति का इन सबों ने कौन-सा उद्धार किया? यदि हमारी पण्डिताजी इन्हीं विदुषियों का आदर्श अपने सामने रखतीं तो न मालूम कितनी ही

संस्कृत की उच्चकोटि की पुस्तकें लिखकर अनेक उपाधियों से विभूषित तथा साहित्यिक पुरस्कारों से पुरस्कृत होती हुई स्वान्तः सुख-सुधा का पान करती रहतीं ।

हमारी पण्डिताजी संस्कृत की बड़ी उच्चकोटि की विदुषी हैं । डायरी (दिनचर्या) लिखना आपका एक अनिवार्य कार्यों में है । पहले आप संस्कृत में ही डायरी लिखा करती थीं । एकाध डायरी मुझे भी देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । ऐसी वाग्धारा (मुहावरा) संयत संस्कृत अच्छे-अच्छे कृत-विद्यों की ही मैंने देखी है । आपकी संस्कृत डायरी में कहीं एक जगह भी कट-कूट नहीं । ज्ञात होता है कि संस्कृत के आपके अभीष्ट उपयुक्त शब्द आपके समक्ष सतत करबद्ध उपस्थित रहते हैं । फिर पीछे तो आपने हिन्दी को ही अपनाया । क्योंकि हिन्दी को व्यापक बनाने तथा उसका साहित्य भाण्डार भरने का सर्वत्र घोर आन्दोलन होने के कारण आपने इसकी उपेक्षा न कर इसे सहर्ष स्वीकार किया । और हिन्दी तो आपके घर की दासी है । अपने आदर्श से बहुतेरी छात्राओं को आपने लेखिका बना दिया ।

जब मैं चि० बाबू निर्मलकुमार जी को संस्कृत पढ़ा रहा था, मेरी पाठन-प्रणाली से प्रसन्न होकर आपने कहा कि पण्डितजी, हिन्दी में संस्कृत व्याकरण की एक पुस्तक लिखें, मैं उसे छपवा दूँगा । इससे स्कूली छात्रों का विशेष लाभ होगा । मैंने आवेग में आकर दस-बीस पन्ने लिख भी डाले और सोचा कि पुस्तक तैयार हो जाने पर श्रीमती पण्डिताजी को ही इसके संशोधन करने और भूमिका लिख देने का भार दूँगा । किन्तु यह बात मन की मन ही में रही । न मुझे ट्यूशन से अवकाश मिला और न पण्डिताजी को कष्ट दिया ।

अब मैं पण्डिताजी की उदारता तथा दयापरवशता का दिग्दर्शन मात्र करा देना चाहता हूँ । अधिकतर आप दान देकर उसका प्रकाश करना कभी नहीं चाहतीं । आपके गुप्तदान से आज अनेकों जैन या अजैन छात्र ऊँची से ऊँची शिक्षा पाकर हिन्दी एवं अध्यापन-संसार में ख्यातिपूर्वक सुखमय जीवन बिता रहे हैं । एक प्रतिभाशाली ब्राह्मण विद्यार्थी नेत्ररोग से पीड़ित हो अर्थाभाव से समुचित चिकित्सा नहीं करा सकने के कारण आगे की स्कूली शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता था । मैंने इस रुग्ण-छात्र को पण्डिताजी की शरण में पहुँचाया । और आप पूर्ण साहाय्य-द्वारा उसे स्वस्थ तथा सुशिक्षित बनाकर ही शान्त हुईं । वह बिचारा ब्राह्मण बालक भी आपका कृतज्ञताभार सिर पर लिये हुए अब तक प्रत्यु-पकृति की पुष्पाञ्जलि विश्राम की सेवा में समर्पित कर रहा है । नौकर-चाकर, दाई, छात्राओं एवं अध्यापिकाओं में किसीके रुग्ण होने पर आप व्याकुल हो उठती हैं तथा बड़े से बड़े वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों को जब तक आप दिखा नहीं लेंगी, आपको सन्तोष नहीं होगा । मैं आप बीती एक घटना की चर्चा किये देता हूँ । मुझे एक बार जोरों का चेचक निकला । एक सप्ताह तक बेहोश था । विश्राम से दो माइल दूर शहर में मेरा डेरा था । मेरी माताजी और पत्नी भी थीं । जब मुझे होश हुआ तो देखता हूँ कि शहर के सब बड़े प्रख्यात होमियोपैथिक डाक्टर कुर्सी पर बैठे हुए हैं । सिरहाने श्रीमती व्रजबाला देवीजी गर्म पानी से रूई भिगो-भिगोकर पीब से सटी हुई मेरी आँखें धीरे-धीरे धो रही हैं । आँख खुलने पर देवीजी ने कहा, पं० जी, मुझे पहचानते हैं, मेरा क्या नाम है । मैंने मन्द

प्रश्न के समुचित उत्तर दिया। फिर कहा कि आपने कहा है कि तुम्हें बी. ए. का संस्कृत कोर्स पढ़ाऊँगा; पढ़ाइयेगा न ? मैंने कुछ मुस्कुराकर कहा, हाँ। मैं उस समय मूर्तिमान बीभत्सरस हो रहा था। सारी देह पीब से लथ-पथ। अनिच्छा होने पर भी मुझे शीशे के छोटे ग्लास से दो ग्लास बिहदाना अनार का रस बलात् पिलाया। आप और श्रीमती सितारा सुन्दरी काव्यतीर्थ कई दिनों तक बराबर आती रहीं। अनार और सन्तरा का ढेर लगा रहता था। मेरी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। पण्डिता जी ने कह दिया था कि देखो बाला, अर्थाभाव से पण्डित जी की चिकित्सा में कोई त्रुटि न हो। यहीं तक नहीं; नया तोसक, तकिया और मल-मल की कई चादरें बनवा कर भेज दीं। मैं साधारण स्थिति का बहुपरिवारी दीन ब्राह्मण था; किन्तु पण्डिताजी ने धन-सम्पन्न व्यक्ति की तरह मेरी सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था कर दी थी। यों तो आयुकर्म के उदय से ही इस जीव के जीवन-मरण का अविच्छेद सम्बन्ध बना रहता है; किन्तु मेरी माताजी बराबर कहा करती थीं कि छोटी बहुजी ने ही मेरे बच्चे को जीवनदान दिया है; नही तो हमलोग कही की नही होतीं। यह कहा जा सकता है कि मैं आपके आश्रित था, अत. मुझे यह सुविधा पहुँचायी गयी। परन्तु वास्तव में बात यह नहीं है। कहीं के और किसी जाति के दयनीय एवं विपन्न व्यक्ति की करुणा की ध्वनि पण्डिताजी के श्रुतिगोचर हो जाने भर की देर रहती है। बाद तो उसकी असुविधा तथा वेदना दूर करने की यावच्छक्य व्यवस्था करने से आप बाज नही आयेंगी। बाढ़ और दुर्भिक्ष के दिनों में आप सदा यही जानने को उत्सुक रहेंगी कि कौन-सा व्यक्ति अन्न-वस्त्र एव आश्रयहीन हो अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो रहा है। आप तात्कालिक उसे समुचित सहायता देकर उसकी आवश्यकता की पूर्ति का प्रबन्ध कर देंगी। मुझे दृढ़ विश्वास है कि, यदि अन्यान्य विधवाएँ श्री पण्डिताजी का आदर्श अपनाएँ तो आज भारत को सुवर्णमय बनते देर नहीं लगेगी।

क्या मै आशा करूँ कि पण्डिताजी का विस्तृत सत्कार्य देखकर हमारी हिन्दूजाति की विदुषियों की भी आँखें खुलेंगी! मेरी तो यह दृढ़ धारणा है कि पुरुषजाति हो या स्त्रीजाति; सबो के लिए शील की शिक्षा मुख्य एवं अनिवार्य कर देनी चाहिये। इस शील का वर्णन सभी साम्प्रदायिक शास्त्रों में बृहद्रूप से वर्णित है। ऐसा प्रबन्ध होने पर यह भारत उन्नत मस्तक हो अपनी पूर्व घोषणा की पुनरावृत्ति का साहस करेगा कि :—"......................स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या (भारतात्) सर्वमानवा:"। अस्तु, मेरा साहस समझा जाय या दुस्साहस; मैं स्त्रीजातिमात्र के लिये कहूँगा,—

जैन्याः सत्ब्रह्मचारिण्याः श्रीचन्दायाः सकाशतः। स्वं स्वं सुशील शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वयोषितः॥

मिश्र की मठिया,
बलिया

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराणतीर्थ

श्रीमतीं ब्रह्मचारिणीं पण्डितामभिलक्ष्य
मम मानसोद्गार-दशकम्

भूतिः सम्यक् चरित्राणां विभूतिर्भाविनां नृणाम् ।
विधुतिस्तमसाञ्छन्नवृषां कुपथगामिनाम् ॥१॥
गीतिर्जिनेन्द्रयशसो गायतां सुदृशां सताम् ।
नीतिस्सद्धर्मनेतृणां रीतिस्तत्कर्म कुर्वताम् ॥२॥
अधीतिः सर्वशास्त्राणां प्रतीतिस्सर्वदार्हताम् ।
प्रचण्डभास्करी दीप्तिरुलूककुदृगात्मनाम् ॥३॥
लूतिरज्ञानशस्यानां पूतिरुज्ज्वलचेतसाम् ।
गतिर्दुर्दृष्टि-पङ्केषु मग्नानां खलु योषिताम् ॥४॥
धृतिर्धैर्यवतां धर्मसुसमाहितचेतसाम् ।
स्मृतिः संस्मरतां वाचं जैनीं जिनमुखोद्गताम् ॥५॥
भित्तिस्सुशीलसौधानां सम्पत्तिस्सर्वयोषिताम् ।
विपत्तिः स्त्रीजनोद्धार-विमुखायितचेतसाम् ॥६॥
नुत्तिरुद्योगकर्तृणां छित्तिस्संशयभूरुहाम् ।
खित्तिस्सवार्यनारीणां पुनरुद्वाहघोषिणाम् ॥७॥
कान्तिस्सदार्यनारीणां शान्तिरुद्विग्नसन्नृणाम् ।
दान्तिर्दुर्धर्षपापाढ्य-पामराणां सुदुर्हृदाम् ॥८॥
जिनवागप्रसूती या सुतिरज्ञानस्रोतसाम् ।
वातिस्तमोरजोधूलिपूरितान्तर्दृगात्मनाम् ॥९॥
सद्ब्रह्मचारिणी सेयं 'चन्दा' चन्द्रकरोज्ज्वला ।
सूरिर्विज्ञा शतं जीयाद्विद्वद्भिरभिनन्दिता ॥१०॥

—हरनाथ द्विवेदी

"घर का योगी सिद्ध"

हमारे यहाँ तो घर के ही योगी सिद्ध होते आये हैं, इसलिए "घर का योगी योगिड़ा औ बाहर का सिद्ध" यह कहावत हमारे यहाँ सिद्ध नही होती ।

हमारे प्रपितामह प्रभुदास जी इतने विद्वान् और भक्त गिने जाते थे कि—जमीन्दार वणिक् घर के होते हुए भी उन्हें लोग पण्डित प्रभुदास कहते ।

जहाँ कही जाते भगवान् की एक छोटी सुवर्ण मूर्त्ति डब्बे में विराजमान करके गले में लटकाये फिरते । पहिले पूजा-धारा होती फिर कहीं जलपान । अन्य नियमो के अतिरिक्त वस्त्रों में परिग्रह का इतना कम प्रमाण कर रखा था कि—उनके कपडे बहुधा तेल लगे गन्दे रहते । मित्र उनसे हँसी करते और उन्हें तेलिया प्रभुदास कह चिढ़ाने की चेष्टा करते ।

एक मित्र की किसी के यहाँ एक बडी लम्बी रकम बकाया पडी थी । मित्र ने यह समझ कर वह रकम तमादी होने को छोड रखी थी, कि—वसूल होना मुश्किल है । इन्होंने कहा—मुझे दे दो, मैं खर्च कर लड़ूगा । मित्र ने कहा—'मैं तो अपना रुपया इस डूबी हुई रकम के पीछे बर्बाद करूँगा नही । अगर तुम खर्च कर वसूल कर सको, तो सब तुम्हारा ।'

आखिर मुकदमा जीतकर रकम इन्होने वसूल की । इस पर कमाल यह कि अपना खर्च काट कर बाकी सारी रकम जाकर उस मित्र के हवाले कर दी ।

इन्ही जैसे श्रेष्ठजनो के उच्चतम आदर्श से व्यापार के कर्णधार श्रेष्ठी, श्रेष्ठ या सेठ कहे जाने लगे होंगे, इसमे कोई सशय नही ।

हमारे पितामह बा० देवकुमारजी ने तो धर्म और समाज के लिए इतना किया कि हमारे परिवार के लिए उनका सारा का सारा जीवन एक आदर्श बना हुआ है । वे महात्मा थे, दानवीर थे, कर्मवीर थे । उनका यश सुविख्यात और उनकी कीर्त्ति अमर है । ये हमारे बड़े दादाजी (पितामह) थे ।

इन्हीं के लघुभ्राता हमारे छोटे दादाजी बा० धर्मकुमार जी का देहान्त बडी अल्पावस्था में हुआ । उनके अपूर्व मातृप्रेम और विद्या-बुद्धि के जो उदाहरण हमें सुनने को मिलते हैं उससे विश्वास होता है कि वे जीवन पाते तो अद्भुत व्यक्ति होते ।

इस समय हम अपनी श्रद्धाञ्जलि छोटी दादीजी ब्र० चन्दाबाई जी के प्रति अर्पण कर रहे हैं । हमारा सौभाग्य है कि हमने इनके महान् व्यक्तित्व की छाया में जन्म लिया है । हमें गौरव है कि वे हमारी है—सुख में हमारी हैं, दुःख में हमारी हैं ।

हमारे छोटे भाई सरोजकुमार का देहान्त हमारे परिवार में बड़ी दुःखद और तुरंत घटी घटना है। मृत्यु के घण्टों पहिले से सभी उसे भगवान का नाम सुना रहे थे। छोटी दादीजी भी वहीं उसके सिरहाने बैठी पचनमस्कार मत्र आदि का पाठ कर रही थी। उनकी शान्तिमय मुद्रा उस समय सभी को साहस के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। लगभग १८ घण्टो तक भाई को नाम सुनाया गया। अन्तिम क्षणों में तो ऐसा मालूम होता था, जैसे मृत्यु-महोत्सव मनाया जा रहा हो। छोटी दादी जी का आदेश था—'खबरदार ! सांस रहने तक एक हिचकी भी कोई न ले, यह लड़का बड़ा पुण्यात्मा है। इसकी सांस में भगवान् का नाम है। इसका समाधिमरण होने दो।'

अन्त में उसे जल तक का त्याग करा दिया गया। भाई अनन्त शान्ति में प्रयाण कर गया। नेत्र खुलकर मुंद गये। चेहरे पर ऐसी शान्ति विराज गई कि लोग कहने लगे कि "ऐसा मरण नहीं देखा"।

घर का बच्चा-बच्चा इस समय वहां था। भाई की बहू, और कहीं जाकर रो लेती पर वहां वह भी पैताने बैठी भगवान् का नाम ले रही थी। आबाल-वृद्ध सभी भगवान् का नाम एक स्वर में ले रहे थे।

ऐसे समय ऐसी हिम्मत घर के सभी को रहे इसका श्रेय छोटी दादी जी को है।

यह तो एक पहलू है। ऐसे ही कितने हमारे जीवन के पहलू हैं, जहां उनकी छाप अमिट है।

"श्रीजैन-बाला-विश्राम" जैसी संस्था है वैसी शायद ही कहीं मिले। छोटी दादी जी के प्रति भय-मिश्रित अगाध प्रेम वहां की सभी स्नातिकाओ में है। मैं तो यह जानता हूँ, कि उनकी भृकुटि मात्र से वातावरण में हेर-फेर पड़ जाता है। प्रमाद की वे बहुत बड़ी दुश्मन हैं।

—टेलीफोन की घटी बजी और तुरंत सुनने उठ खड़ी होंगी।

—किसी को वक्त देकर वक्त के पहिले स्वय इन्तजार करते उनको पा लीजिए।

—आज तक जिन्दगी में उनकी ट्रेन कभी छूटी नहीं।

—अगर आप उनके अतिथि है, तो आपको अपनी फिक्र नहीं करनी पड़ेगी।

—बचपन में मैं माँ को छोड़कर उनके पास कई बार रहा हूँ, पर माँ के अभाव की कमी याद आई ऐसा ख्याल नही आता। बीमारी में उनकी देख-रेख में रहकर मुझे सदा और किसी की देखभाल में रहना खटका है।

—सीमेन्ट की जमीन में अगर मारबल की बहार देखना हो, तो आप आश्रम में देखिए। इसका श्रेय भी मैं इन्हें ही देता हूँ।

—कितनी ही बार आवश्यकता पड़ने पर घरभर में जब दवा के लिए अमृतधारा, हीग या ऐसी कोई चीज न मिली, तो उनकी पोटली में अवश्य मिल जायगी। ऐसा सभी जानते है। पोटली में कागज, पेन्सिल, कलम आदि सभी अपने-अपने स्थान पर मिलेंगे।

—जब कभी आश्रम से कोठी पर आती हैं, तो कोठी की औरतो में तैयारी-सी होने लगती है। इसी भांति जब कहीं से लौटकर आश्रम में पहुँचने को हों, तो वहाँ जाकर वहाँ के लोगों की दौड़-धूप देखते ही बनती है।

ऐसी बात नहीं है कि इनसे 'भूत के भय' जैसी बात हो। साधारण मनुष्य प्रमाद से इतना लापरवाह हो जाता है कि—अपने रहन-सहन का नियम भी ठीक से नही पालता। सभी को मालूम है कि —इस अनियम से उन्हें एक चिढ-सी है। इसीलिए दौड़-धूप मच जाती है।

छोटी दादी जी के मुख से धर्म की बातें, कर्त्तव्य की बातें, सहज ही समझ में आ जाती हैं। उनकी विचारशैली इतनी सुलझी हुई है कि अपनी कोई कठिनाई या सशय की बात उनको बतलाइये और वे तुरंत उसको सुलझा देती हैं। शास्त्र-सभा में इनके मार्मिक विचारों और धर्ममनन की प्रभुता गूंजने लगती है। हजारो नरनारियों के बीच इस सरलता से अपने विचारो को रखती हैं कि लोग आश्चर्य करते रह जाते हैं।

एक दक्षिणी जैन-युवक आश्रम में कार्य करता था। एक मुनिसघ के समागम पर क्षुल्लक की दीक्षा ले बैठा। दूसरे दिन आहार के लिए उसके आगे भी भक्तिभाव से—"हे स्वामिन्!" आदि संबोधन करते और करबद्ध खड़े उन्हें देख बहुत से विरोधियों की हिम्मत टूट गयी।

वे कहतीं—"मै स्वय इसकी दीक्षा के विरोध में थी। जानती थी कि इसमें योग्य शक्ति नहीं है। परन्तु जब इसने दीक्षा ले ली, तो हमें तो उस 'पद' की पूजा करनी ही है।"

इसके बाद इनका बड़ा प्रयत्न रहा कि वह दीक्षावृत्ति लेकर उसे पालने में समर्थ हो। दुर्भाग्यवश शरीर की अति दुर्बलता के कारण अपने पद योग्य नियम आदि पालने में जब उन युवक को कठिनाई होने लगी, तो भी 'उनकी हँसी न उडे अन्यथा धर्म की हानि होगी', इस सुविचार से उन्हें सकुशल दक्षिण उनके स्थान तक पहुँचवा दिया। मतलब यह कि सभी समस्याओं पर अपना कर्त्तव्य एक बार स्थिर कर उसे पूरा करने की अपूर्व क्षमता उनमें है, और उसे पूरा भी अवश्य करती हैं।

हम तो श्री दादी जी के चरण-रज के योग्य भी नहीं। और क्या? उनकी गौरवगाथा भी-सफलता से लिखने में असमर्थ हे। 'उनकी उच्चता में, उनके महान् आदर्शों में अहर्निश विश्वास बना रहे' यही प्रयत्न है।

कभी सोचता हूँ, कि-छोटी दादी जी के बिना कैसा लगेगा? टैगोर के बिना शान्तिनिकेतन कैसा हो गया? गाधी के बिना सेवाग्राम कैसा हो गया?

हृदय पुकार पुकार कर कहने लगता है—'ऐसा कभी न हो! ऐसा कभी न हो!!'

—सुबोधकुमार जैन

बहूजी

स्वभावतः, महान् व्यक्तियों की एक अलग पारिवारिक-शृंखला होनी चाहिए—उनकी एक अलग जाति होनी चाहिए। साधारण स्तर के लोगों के बीच उनका जन्म और परिपालन अप्राकृतिक-सा दीखता है। ब्रह्मचारिणी पूज्य चन्दाबाई जी को जब मैं अपनी "बहूजी"—छोटी दादी जी के रूप में देखता हूँ तो मुझे यही भावना उचित प्रतीत होती है। कहाँ हम, कहाँ वह। ऐसा लगता है मानों दूर अस्पष्ट क्षितिज में हम अधम पृथ्वीवासी एक आकाश-वासिनी से मिलने के विफल प्रयत्न कर रहे हों !

मैं उनके जीवन के इतिहास को सविस्तर तथा क्रमबद्ध नहीं जानता, चूँकि मैं अबतक इसके लिए बहुत छोटा था। पर आज भी जब मैं उनके उन शिथिल अगों को देखता हूँ जिन्होंने अपनी दीप्ति नही खोई तो मेरे सामने अनायास ही एक चित्र-छाया आ जाती है—पहाड़ पर चढ़ती हुई एक धूमिल आकृति की—जिसके चारो ओर आँधी और वर्षा का भीषण प्रहार हो, पर जो फिर भी दृढ पग बढाये जा रही हो प्रतिक्षण नई दिशा, नई भूमि और नये नक्षत्रों को पीछे छोड़ते हुए, पहाड़ की उच्चतम शिला पर ध्यान केन्द्रित कर !

पू० देवकुमार दादा जी और धर्मकुमार दादा जी दोनों, हमारी दोनों दादी जी लोगों को छोड़ कर छोटी अवस्था में ही चले गए थे—हमारा स्टेट कोर्ट आफ वार्ड्स के अन्तर्गत चला गया—ऐसे कठिन समय में क्या भविष्य था मेरी इन बहूजी का ? १२ वर्ष की असहाय विधवा रोने के सिवा कर ही क्या सकती थी—रो-रो कर शरीर को केवल व्यवहार धर्म से गला देने के सिवा कोई अन्य रूप ही नही था उसके लिए—सफेद साड़ी का हमारे समाज में और कोई कर्त्तव्य ही नहीं। पर ये निराली थी—इन्होंने आँसू बहाये पर ये व्यर्थ नहीं गए—इनकी आँखो के पानी ने दूसरों के दुख धोये—अनगिनत मुखो पर स्मित की रेखा खीच दी और अब त्याग और ज्ञान के बल पर इन्होंने अपने को इतना ऊँचा उठा लिया है कि हम उनकी पूजा करना चाहते हैं पर इसमें भी अपने को असमर्थ पाते हैं। मथुरा की इन मीरा ने भक्तिरस के गीत तो नहीं रचे—नहीं वह नाचीं—पर इनके जीवन का प्रत्येक पद उसी अपार्थिव संगीत से अनुप्राणित है—वह स्वय ही उस चिरनवीन नृत्य के कम्पनों से शिल्पित हैं।

अब तो हमारा परिवार बहुत बड़ा हो गया—हम सब कितने ही भाई बहन हैं—बहूजी के पौत्रों को भी अब पुत्र हो गए हैं—हम सब सुखी हैं—शिक्षित हैं—रहने को शहर का सबसे ऊँचा मकान,

सवारी के लिए मोटरें हैं, बड़ा व्यापार है। सब कहते हैं कि हमारा यह देव-परिवार अत्यन्त भाग्यशाली, है—समृद्ध है—पुण्यवान् है—पर अगर हमसे पूछा जाये तो हम सब यही दुहरायेंगे कि हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति इन परिग्रहों में नही—हमारा गौरव इनमें नही—हमारा सुख इनमें नही—हमारा सारा आनन्द इस अनुभूति में है कि हम उस परिवार के सदस्य हैं जिसके पावन-प्रदीप बाबू देवकुमार जी दादा जी और हमारी बहूजी हैं—ये दोनों हमारे कुल की महत्ता और समृद्धि के आन्तरिक आधार हैं।

वे कभी-कभी ही हमलोगों के पास शहर से दूर स्थित आश्रम से आती हैं-आश्रम और ये दोनों उदासीन हैं। अभी कुछ वर्ष पहले करीब १० साल तक मुझे यह भी नही पता था कि ये हमारी बहूजी हैं—इतना विरक्त स्वभाव है इनका कि दादी के कोई भी गुण इनमें नही—ये आती और चली जाती—जैसे किसी से ममता ही न हो इनको। अब मुझे पता चला कि यह दिखावटी है—घर में कोई बीमार हुआ तो १५ नम्बर से कई बार नियम से टेलीफोन आता है—खुद भी कष्ट कर चली आती हैं बिना अपनी असुविधा का ध्यान किये। फिर भी वे औरों से पूर्णतया भिन्न हैं। इनकी ममता भी अनुशासित है। अभी हाल ही में सरोज भैया की दुखद मृत्यु के समय सब धीरज खो बैठे और रोने लगे—लेकिन इन पर कदाचित् ही मैंने आँसू के चिह्न पाये—हाँ, उनके गम्भीर मुख पर विषाद की गहन तम रेखा थी—स्तब्ध शांति थी—धीमी आहें और असहाय कठोर मुद्रा—जैसे जीवन-मृत्यु के दर्शन में उलझी हो।

वह दिन मुझे कभी नही भूलेगा जब मैं औरों के साथ बहूजी के संग मन्दिर में पूजा कर रहा था। न जाने क्यों उनके साथ पूजा करने में मुझे स्फूर्ति मिलती है—मेरे सामने पूजा का महत्व बढ़ जाता है। मालूम होता है कि एक अकृत्रिम चैत्यालय में अर्चना कर रहा होऊँ; स्वर्ण कलशों से, मणिदीपों की ज्योति में। उनके सामीप्य से मुझे देव-मूर्ति समीप लगती—उनके साथ-साथ जब, कर जोड़ मस्तक नवाता तो देव-चरणों के अद्भुत स्पर्श का अनुभव होता। शायद उनका स्वर्गिक स्वर और उनके पवित्र अवयव मुझ जैसे क्षुद्र निर्बल और बाहुबली के बीच सेतु का कार्य करते हैं।

बहूजी के बारे में लिखने के समय धर्मकुंज की याद आ ही जाती है—वह आश्रम पू० दादा जी के नाम से आबद्ध है—और सचमुच बहूजी के अन्तर का बाह्य-रूप है। वे उसके अणु-अणु में वे समायी हुई हैं। अभी भी वहाँ की कठोर, सूनी, ऊँची दीवारों में और ऊपर मँडराते बादलों में उनका एकाकी हृदय सिसकियाँ भरता है—रोता है—और समाज के नियमों से पगु बनी अबोध सुकुमारियों के आँसुओं में अभी भी इनका विधवा-हृदय निरन्तर चीत्कार करता है—यही चीत्कार उन्हें अभी भी सतत परिश्रम की प्रेरणा देती है जिससे यह आश्रम चला जाता है। मुझे तो, जब कभी मैं आश्रम जाता हूँ, दूर ही से उसकी चहारदीवारी को देख ऐसा लगता है कि बहूजी बैठी सामायिक कर रही हैं—बड़े-बड़े आम्र-वृक्षों में घिरी हुई वहाँ की पावन सन्ध्या में, योगासन में स्थित पत्थर की उस विशाल, भगवान् की मूर्ति में मुझे उन्ही की नैसर्गिक सुन्दरता, तपस्या, और शान्ति के वृहत् रूप के दर्शन होते हैं—वह प्रतिमा उन्हीं की आत्मा की प्रतीक लगती है।

अतुल कुमार जैन बी० ए०, एल-एल० बी०

एकत्र समन्वय

प्रभात वेला थी। ठंडी ठंडी वायु के झोंकों के साथ नन्हें-नन्हें जल-कण मेरा मुख-प्रक्षालन कर रात्रिजन्य तन्द्रा का उन्मूलन कर रहे थे। वे चाहते थे मेरे बाह्य का प्रक्षालन कर अंतस् को पावन बना देना। झरोखे से मेरी दृष्टि हरित दूर्वादल पर जा पड़ी, किन्तु उसके गुंजन को पारकर मेरा मन किसी अन्य समस्या में उलझ गया। मैंने देखा माँ श्री का शरीर क्षीण है किन्तु आभा—तेज अपार। "मानव मानवता की खोज में रत रहता है"—विचार मेरे हृदय में आया और मचाने लगा उमड़-घुमड़ कर तूफान। मेरा कौतूहल जगा और जा टकराया विचारशैल के अंचल से। क्या सचमुच माँश्री को कर्मठ बनानेवाली कोई विद्युत्-शक्ति है? या दैवी वरदान है? अथवा कोई उद्देश्य-प्रेरक स्तम्भ है? या अन्य कोई कारण है? इत्यादि प्रश्न मानस पटल पर अंकित होने लगे। बिजली की कौंध के साथ-ही-साथ मेरा अनुभव गहनतम और विचार उत्तरोत्तर गम्भीरतर होने लगे। एवं मैं डूबने उतराने लगी भावनाओं के प्रलयकारी तूफान में। कुछ क्षणों तक ऊहा-पोह करने के उपरान्त मेरा मन संतुलित हुआ और अन्त:करण में संतोष का स्मित अट्टहास। मैं उछल पड़ी, मेरा मन मयूर नाच उठा, यह पाकर कि माँश्री को प्रगतिशील बनानेवाली तीन शक्तियाँ हैं—उनका शरीर किसान का, मस्तिष्क विद्वान् का और हृदय साधु का।

मानव-प्रवृत्ति नवीन योजनाओं का पुंज है। वह कल्पना के रंगीन परों पर आसीन हो प्रकृति के अणु-अणु से जीवनोत्थानकारी आशा-सुमनों का चयन करती है। विश्वोपवन में उसका हृदय-कोकिल कूज उठता है, ताप, दैन्य, पीड़ा और घृणा का बीभत्स दृश्य देख। विश्व-रंगमंच पर उसकी जीवन-यवनिका मंद-मंद झोंकों से झूलती रहती है और शनैः-शनैः शक्ति, विद्वत्ता एवं साधुता का छायाचित्र उस पर अंकित होता रहता है। शरीर शास्त्रवेत्ताओं ने तथा अध्यात्मशास्त्र ज्ञाताओं ने इसी कारण मानव को शक्ति, ज्ञान और आचार का सञ्चित कोष कहा है।

शक्ति से तात्पर्य मेरा यहाँ उस शक्ति से है जो दीनों का त्राण और दुष्टों का संहार करे। वह परिश्रम जिसमें जीवनतत्त्व घिसकर एक अमृतोपम रसायन बन जाये। जिसका पान कर त्रसित, बुभुक्षित, सुख-शान्ति से चैन की वंशी बजाएँ। आमोद-प्रमोद में मस्त हो झूमने लगें।

माँश्री का हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ शरीर शरणागत-पालक, सेवापरायण एवं अंतस् करुणा का परिचायक है। उसमें कृषकों की भाँति अपने को हवन कर अन्य को बनानेवाली शक्ति विद्यमान है। स्व-

बलिदान करनेवाली त्याग की आभा चमत्कृत है एवं निस्वार्थ भाव का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। क्षीण एवं शुभ्रकान्तिमय वपु में धैर्य, क्षमता और ममता की त्रिवेणी अबाधगति से प्रस्तुत है। वीरत्व की शान्त ज्योत्स्ना में रुग्णों की परिचर्या रह-रह कर आलोक फेंक रही है।

मैंने माँश्री को दिन में १०–१२ घंटे से लेकर १६–१७ घंटे तक कार्य करते देखा है। अनवरत श्रम करना उनके जीवन का जैसे लक्ष्य है। यह बात नहीं कि वे मानसिक श्रम ही करती हों, किन्तु शारीरिक अध्यवसाय भी। आप रसोई की सारी वस्तुओं का शोधन स्वयं करती हैं। सभी वस्तुओं को यथास्थान रखती हैं। यदि क्रम में व्यतिक्रम तनिक भी हुआ तो आप स्वयं काम में जुट जाती हैं और वस्तुओं को क्रमबद्ध कर ही साँस लेती हैं। पत्रादि अपने हाथों लिखना, हिसाब-किताब देखना, विश्राम की ६०–७० छात्राओं के खाने-दाने का प्रबन्ध करना तथा अन्य समयोचित कार्यों को आप सदैव सचेष्ट रह करती रहती हैं।

आपका तेज, अनोखी सूझ, नवीन योजना, प्रत्युत्पन्न बुद्धि विद्वत्ता के परिचायक हैं तथा गंभीर विचार, तीव्र दृष्टि, मर्मस्पर्शी शब्दावलि आपकी अलौकिक प्रतिभा की सूचक हैं। मस्तिष्क क्या है? वह जिसमें कवि तुलसीदास के समान विषम परिस्थितियों में लगने वाले थपेड़ों को संभाल कर रखने की क्षमता हो, उन्हें (!) बुद्धिरूपी तराजू पर तौलकर विचारमयी छैनी से काट-छाट कर स्वानुकूल बना तह जमाकर रखने का कौशल है। जमा से तात्पर्य यह नहीं कि वे उल्टी, तवे पर जलने-वाली रोटी की भाँति जलकर भस्मसात् हो जायें, अपितु उनका निरीक्षण उस सूक्ष्म, कला-कोविद दृष्टि से होता रहे जो आवश्यकता पड़ते ही पहिचान कर उचित प्रयोग में लगाये जा सकें।

विचार-प्रवण माँश्री की विचारशक्ति और प्रत्युत्पन्न बुद्धि के लिए आपकी दैनन्दिनी में प्राप्त एक ही निदर्शन पर्याप्त है। १६ वर्ष की अवस्था में वैधव्य जीवन का भार लिए आप वृन्दावन से आ रही थी। भाग्यवश आप डब्बे में अकेली थीं और ट्रेन अपनी धुन में मस्त हो तेजी से चली जा रही थी। आपने देखा एक गुण्डा गवाक्ष पर आ खड़ा हो गया है। उसकी दृष्टि से आपने उसके अभिप्राय को ताड़ लिया एवं सतर्क हो हाथ में लोटा उठा लिया। अत्याचारी ने देखा नवयौवन सुकुमार सुमन में विवेकपूर्ण बुद्धि और अपरिमित साहस की महक झिड़की मार रही है। वह सह न सका उस मौन आघात को। और भागा साँस रोक कर। आपकी विचार शक्ति, ज्ञान शक्ति एव स्मरण शक्ति के प्रमाणार्थ एक बार में २० से ३० तक प्राकृत गाथाएँ धर्मशास्त्र की पढ़ लेना और जीवन में सदैव के लिए जमा कर लेना कम नहीं। प्राकृत व्याकरण का अध्ययन नहीं करने पर भी आप संधि-विच्छेद कर अर्थ खोलने में सिद्ध-हस्त हैं।

विदुषी माँ चिरायु हों, यही कामना है। युग-युग तक हम नारियों का पथ-प्रदर्शन करती रहें, यही भावना है।

—शरबती देवी न्यायतीर्थ

सन्तों के शुभाशीर्वाद

और

श्रद्धाञ्जलियाँ

सन्तों के शुभाशीर्वाद

हमारा जैन-महिला-समाज श्री ब्र० पं० चन्दाबाई जी के नेतृत्व में सफलता प्राप्त कर रहा है। उनका त्याग, तप, संयम और ज्ञानाराधन अद्वितीय है। उनकी अध्यक्षता में ३२ वर्ष पूर्व श्री जैन-बाला-विश्राम की स्थापना हुई थी और यह हर्ष का विषय है कि आज भी यह संस्था सफलता-पूर्वक समाजसेवा कर रही है। वे दीपक की भांति अपने जीवन को दूसरों के लिए प्रोज्वलित रखती है। अतः उनका प्रत्यक्षीकरण मन में प्रकाश की एक झलक दिखाता है और हृदय हर्षातिरेक से भर जाता है। वे चिरायु हों और सदा उनसे प्रकाश की किरणें समाज पाता रहे, यही कामना है।

—श्री १०८ मुनि, वीर सागर संघ

मैं श्री शान्तिमूर्त्ति चन्दाबाई के समागम से इस निर्णय पर पहुँचा कि आपके दर्शन-मात्र से ज्ञान का प्रकाश और शान्तिसुधा का आस्वाद आता है—अतः आपको चन्द्र की उपमा दी जावे तो उचित नहीं, क्योंकि चन्द्रमा तो बाह्य प्रकाश और शान्ति का दाता है किन्तु आपके द्वारा आभ्यन्तर ज्ञान और शान्ति मिलती है।

—(१०५ क्षुल्लक) गणेशवर्णी

श्रद्धाञ्जलियाँ—

राष्ट्रपति-भवन,

नई दिल्ली

श्री चन्दाबाई उन इनी-गिनी बिहार की महिलाओं मे हैं जिन्होंने जन-सेवा में बहुत ममय लगाया है और उनकी स्थापित सस्थाएँ अभी भी काम कर ग्ही हैं। दह एक आदर्श महिला हैं और मुझे यह जानकर कि उनको अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय किया गया है, खुशी हुई। मैं ग्रन्थ के व्यवस्थापकों को धन्यवाद देता हूँ और इस काम मे उनकी सफलता चाहता हूँ।

राजेन्द्र प्रसाद

प्रत्येक युग में समाज के निर्माण में पुरुषों ही ने नहीं बल्कि स्त्रियों ने भी कम हाथ नहीं बँटाया है। बड़ी दिलेरी और तत्परता के साथ मनुष्यता की सेवा में वे अग्रगामी रही हैं। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज के कितने क्षेत्रों में महिलाओं ने पुरुषों से अधिक उपयोगी कार्य किया है। प्रकृति ने उनमें कितनी ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रदान की हैं जो पुरुषों को प्राप्त नहीं। इन गुणों के कारण वे समाज को सहृदय, न्यायनिष्ठ और सुखमय बनाने में अधिक समर्थ हो सकी हैं।

इन देवियों में श्रीमती चन्दाबाई जी का नाम अत्यन्त ही हर्ष तथा गर्व के साथ उल्लेख किया जा सकता है। इस विदुषी देवी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा या कहा जाय सब थोड़ा है। जिस देवी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा, शक्ति, सहृदयता और कार्यपटुता द्वारा केवल स्त्री-जाति का ही नहीं, वरन् सारे समाज का इतना बड़ा उपकार किया है उसके लिए आभार-प्रदर्शन करना उचित ही है।

पिता की, परिवार की दुलारी, वैभव में पली देवी के सुख-सुहाग की लाली यौवन के उषा काल में ही मिट गई। विधाता वाम हो गये। उनकी चूड़ियाँ टूट गईं। परन्तु वह अबला नहीं सबला नारी थीं। वह वह स्त्री नहीं जो अपने दुःख से जग को दुःखी करे बल्कि अपने हृदय की आह को मानव मात्र की कराह के मरहम-पट्टी करने में उन्होंने भुला दिया।

सतत परिश्रम, लगन और उत्साह के साथ स्वाध्याय द्वारा अपनी योग्यता बढ़ाने में जुट गईं। इन दूरदर्शिका नारी ने अपनी सूक्ष्म सूझ द्वारा सर्वप्रथम नारी-समाज के नव-निर्माण की कल्पना की, कल्पना ही नहीं बल्कि अपने अथक परिश्रम द्वारा उसे बहुत अंशों में पूर्ण भी किया।

जिस समय समाज की जर्जरित अवस्था का विचार लोगों के दिमाग के बाहर की बात थी उस समय उन्होंने उसकी दशा का अनुभव किया और सुझाया कि नारी के विकास के बिना समाज सम्यक् समाज नहीं कहा जा सकता। स्थान-स्थान पर सभाएँ कीं, लोगों को ज्ञान दृष्टि दी और दी अपने विचार का प्रतीक कन्या पाठशाला आरा और अजमेर में।

इसके अनन्तर इनका कदम अ० भा० दि० जैन-महिला-परिषद् की स्थापना कर उसके संगठन को सुदृढ़ बनाना था। बड़े उत्साह के साथ महिलाओं का संगठन प्रारम्भ किया और उसमें भी सफलताएँ प्राप्त कीं। यही नहीं इस देवी ने अपनी अनुपम शक्ति द्वारा साहित्य की भी सेवा की। सोचा इस विदुषी नारी ने कि साहित्य-समाज का दर्पण है। जब तक इसका उत्थान नहीं होगा तब तक देश, समाज और मानव-मात्र का कल्याण नहीं। अपनी कहानी, कविता और निबन्धों द्वारा जनता के हृदय पर असीमित प्रभाव डालते हुए उसे वास्तविकता का ज्ञान कराया और साथ ही साथ शिक्षाप्रद पुस्तकों का अभाव भी दूर किया।

इस देवी की [illegible] में धर्म की मात्रा भी किसी प्रकार कम नहीं। धर्म की [illegible] आडम्बर न समझ इन्होंने हृदय में जगमगाती हुई एक अलौकिक ज्योति मानी और अपने आचार-

विचार, शक्ति और दृढ़ता द्वारा सिद्ध कर दिया कि यह उसी दिव्य शक्ति की देन है। सीधे-सादे सौम्य रूप में धवल स्वच्छ खादी के भीतर एक ऐसी आत्मा है जिसमें माँ का हृदय, धरित्री की क्षमा, सागर की विशालता, कवि की कल्पना और धर्म के प्रति सच्चा अनुराग है।

इन्होंने शरीर को साधना, चिन्तन, मनन और परिशीलन में तपा कर अन्तर की विषमता ज्वाला में विष को अमृत बना दिया। इनके व्यक्तित्व पर कवि जयशंकर प्रसाद की कामायनी की यह पंक्तियाँ कितनी उपयुक्त घटती हैं:

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नभ पग तल में
पीयूषस्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।"

जो कोई भी इनसे मिलता है उससे वह इतनी उदारता, स्नेह और सहृदयता के साथ बात करती हैं कि वह कृत-कृत्य हो जाता है। हो भी क्यों न, इस देवी में तो माँ की ममता और समाज की सेवा कूट-कूट कर भरी है।

इन्होंने अपने जीवन को अपने मैके और ससुराल के धन-वैभव में न फँसाया बल्कि उसका त्याग कर अपने समस्त जीवन को समाज की धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और राजनैतिक सेवा में बड़े उत्साह और लगन के साथ बिता दिया। अतः हम इस दिव्य देवी के प्रति अपना अगाध स्नेह तथा श्रद्धा प्रकट करते हैं। ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह देवी चिरायु रहे और आशा करते हैं कि उनके व्यक्तित्व के आदर्श से हमारे समाज तथा देश की अन्य नारियाँ भी शिक्षा लेकर उसी मात्रा में मानव-मात्र का कल्याण करने का व्रत लेंगी। आज अपने देश में इन जैसी देवियों की ही आवश्यकता है जो पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर समाज की प्रत्येक कठिनाई को दूर करने में सदैव तत्पर रहें।

इन्होंने अपने अदम्य साहस, विद्वत्ता और परिश्रम द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि भारत की देवियाँ आज भी वही देवियाँ हैं जिनका वर्णन इतिहासों, पुराणों और प्राचीन ग्रन्थों में कथा के रूप में मिलता है। अतः मैं इस देवी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

—जगजीवन राम
संवाद-वहन-मंत्री
गणतंत्र भारत

श्री चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ का जो आयोजन किया गया वह सर्वथा उचित है। सेवा-भावी, त्यागी और कर्मठ कार्यकर्ताओं की समाज को बड़ी आवश्यकता है। अभी तक नारी समाज सेवा का क्षेत्र भारत में प्रायः अछूता है। नारियों की जागृति और शिक्षा की ओर नेताओं का ध्यान भी कम ही गया है।

इस क्षेत्र में मौश्री ने आदर्श मार्ग बताया है। एक नैसर्गिक घोर आपत्ति को दिव्याग्नि समझकर उन्होंने अपने जीवन को उसमें समर्पण करके शुद्ध सुवर्ण बना दिया। साथ ही साथ त्याग और सेवा से चन्दन का परिमल चढ़ा दिया।

चाहता हूँ कि आपका प्रयत्न सफल हो।

—आर० आर० दिवाकर

राज्यपाल, बिहार राज्य

स्त्रियों के उद्धार के लिए श्रीमती चन्दाबाई ने बड़ा स्तुत्य कार्य किया है। ऐसे कार्यकर्त्ता सारे भारत में काम करे, ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है।

—कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी

राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

पं० चन्दाबाई-अभिनन्दन-ग्रन्थ के समाचार से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। ऐसी देश-सेविका और समाज-सेविका का अभिनन्दन अवश्य ही होना चाहिए। इस अवसर पर मैं भी अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। चन्दाबाई ने जैन-समाज में ही नही बल्कि भारत के समस्त नारी-समाज में अपनी सेवाओं के द्वारा आदर का स्थान प्राप्त किया है। उनमें सेवा करने की सद्वृत्ति है, नेतृत्व करने अथवा नाम कमाने या पद प्राप्त करने की लिप्सा या वासना नहीं। वास्तव में सेवक का पद नेता के पद से कहीं अधिक शान्तिदायक और उपयोगी होता है।

भारतीय समाज को और मुख्यतः नारी-समाज को आज शिक्षा और शिल्प की नितान्त आवश्यकता है। चन्दाबाई ने भी इन्हीं महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण करने की ओर ध्यान दिया है। स्वार्थपरता और यश-वैभव की महत्वाकांक्षा तो सबमें होती है लेकिन सेवा की महत्वाकांक्षा रखने वाले बिरले ही होते हैं। काश! भारतीय नारी-समाज में चन्दाबाई के समान समाज-सेविकाएँ पर्याप्त संख्या में होतीं। उनका आदर्श सभी भारतीय महिलाओं का पथ-प्रदर्शक बने। भावी नारी-समाज उनसे प्रेरणा प्राप्त करके अधिकाधिक सेवा और समुन्नति के पथ पर अग्रसर हो।

मेरी शुभकामना है कि चन्दाबाई दीर्घायु प्राप्त करके और स्वस्थ रहकर देश और समाज की अधिक से अधिक सेवा करें।

—डाक्टर अनुग्रहनारायण सिंह।

अर्थ मन्त्री, बिहार राज्य

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि भारतीय जैन-महिला-परिषद् ने श्री विदुषीरत्न ब्र० पं० चन्दाबाई-अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार करने का निश्चय किया है। श्री० ब्र० पं० चन्दाबाई जैन ने साहित्य, शिक्षा, महिला जागृति एव नारी-समाज की जो सेवाएँ की हैं उनसे कौन परिचित नही है।

ऐसी परोपकारिणी तथा देशभक्त साध्वी का सम्मान करना हमलोगो का कर्तव्य है।

मैं आपके सद्प्रयत्न की सफलता चाहता हूँ।

—मिश्री लाल गंगवाल

प्रधान-मंत्री, मध्यभारत

ब्रह्मचारिणी प० चन्दाबाई जैसी परम साध्वी तथा विदुषी देवी पर न केवल जैन-समाज वरन् सारा देश गर्व कर सकता है। उनके आदर्श चरित्र, तपस्वी जीवन, त्याग भावना और धर्म-प्रेम देश के प्रत्येक व्यक्ति को देश-सेवा के लिए प्रेरणा देगा। जैन-समाज और खास कर स्त्री-जाति की सेवा करने में उन्होने अपना सारा जीवन ही लगा दिया। वे स्वय एक संस्था है फिर भी उन्होने धर्म-साधना, स्त्री सुधार एव जैन-समाज के उद्धार के लिए अनेको संस्थाएँ स्थापित करके जो अतुलनीय सेवा की है वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। जैन-समाज उनके ऋण से उऋण नही हो सकता। दया की मूर्ति इस देवी ने अहिंसा और सत्य की साधना द्वारा अनेको का उद्धार किया है और कितनो में ही अपने उज्ज्वल चरित्र से सद्भावना से विवेक तथा सद्बुद्धि जागृत की है।

मुझे इस पवित्र देवी से मिलने का जब जब अवसर मिला मेरे ऊपर इस देवी के निर्मल चरित्र, तपस्वी जीवन और सरलहृदयता की छाप पडी। ऐसी देवियो का भारत में होना उसके बडे सौभाग्य का चिह्न है। पण्डिता चन्दाबाई अच्छी वक्ता और लेखिका है। लेखनी पर भी उनका अधिकार है। एक मासिक का सुयोग्यता से कई सालो से सम्पादन कर रही है और उसके द्वारा स्त्री-जाति में जीवन तथा जागृति और धर्म-साधना की प्रेरणा जागृत कर रही है। उनकी निस्वार्थ सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकती। जैन-समाज को और देश को आज इस महान् देवी के मार्ग-दर्शन तथा नेतृत्व की अभी कई सालों तक आवश्यकता है। वीर इसको शतायु करे, मैं इस अवसर पर पूरी श्रद्धा के साथ देवी को अपना अभिनन्दन समर्पित करता हूँ।

—श्याम लाल पाण्डवीय

राजस्वमन्त्री, मध्यभारत

कहा जाता है कि स्त्रियाँ दया, धर्म, शूरता, वीरता, धीरता, उदारता, कोमलता, वक्तृता, परोपकारिता और सहनशीलता आदि मानवीय गुणों की मूर्ति होती है। कारण कि वे उस प्रेम की एकमात्र प्रतिमा हैं जो ईश्वर का ही दूसरा रूप है और जो मानवता का आधार तथा इस संसार का सरस

सार है । पुरुषों की बनिस्बत स्त्रियों में तेजस्विता और नम्रता, कर्कशता और कोमलता, कठिनता और कमनीयता, उदारता और संकीर्णता, चंचलता और स्थिरता तथा क्रूरता और दयालुता आदि मधुर एवं तीक्ष्ण गुणों का सामञ्जस्य अधिक स्पष्ट दिखाई देता है । उनमें सभी गुण काफी मात्रा में रहते हैं । यही कारण है कि जिस काम को वे हाथ में लेती हैं उसे ऐसी खूबसूरती के साथ पूरा करती हैं कि देखकर लोग दंग रह जाते हैं, जिस ओर वे कदम बढ़ाती हैं उसी ओर सुख-सुविधा की तूती बोलने लगती हैं, जिस ओर वे टेढ़ी नजर से ताक देती हैं उसी ओर गाज गिरने लगता है और जिस ओर वे हँस देती हैं उधर ही फूल झड़ने लगता है । अर्थात् वे जिस दिशा में मुड जाती हैं उधर ही कमाल कर दिखाती हैं, सफलता उनकी राह ताकती रहती है । श्री ब्र० पं० चन्दाबाई जैन इसका जीता-जागता उदाहरण है । आप सिर्फ नारी-समाज ही के लिए नहीं बल्कि मानव-जाति के लिए एक आदर्श है ।

आपके जीवन की एक-एक घटना, आपका एक-एक कार्य और आपकी एक-एक उक्ति किसी भी मनुष्य के चरित्र-निर्माण के लिए बहुत बड़ा साधन तो है ही, समाज के लिए अनुपम निधि भी है । १२ वर्ष की ही अवस्था में विधवा होने के बाद अपने धर्मशास्त्र के अनुसार वैधव्य दीक्षा लेकर अपने देश, समाज, धर्म और साहित्य की जो सेवा की है उससे सारा देश परिचित है । धनुपुरा (आरा) में अवस्थित श्री जैन-बाला-विश्राम आपकी समाज-सेवा का ही एक अंग है । आपका स्थान पश्चिम की उन महिलाओं से कहीं ऊँचा है जो आजीवन अविवाहिता रहकर सेवा का व्रत लेती हैं । आपने एक तपस्विनी की तरह आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए देश, समाज तथा धर्म की जो निःस्वार्थ सेवा की है वह सभी धार्मिक तथा समाज-सेवकों के लिए अनुकरणीय है ।

आप एक आदर्श समाज-सेविका होते हुए उच्चकोटि की विदुषी भी हैं । आपकी लिखी पुस्तकें आज के लोगों को समुचित शिक्षा तो देती ही हैं भावी सतानों को भी चिरकाल तक राह दिखाती रहेंगी । ऐसी साध्वी और परोपकारिणी माता के प्रति अपनी श्रद्धा का फूल कौन नहीं अर्पण करेगा । मैं हृदय से आपके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और भा० जैन-महिला परिषद् को धन्यवाद देता हूँ जिसने कृतज्ञता प्रकाश के रूप में आपको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है ।

—अब्दुल कयूम अन्सारी ।
भू० पू० मन्त्री
जनकार्य-विभाग, बिहार ।

जैन-महिला-परिषद् ने श्री विदुषी-रत्न ब्र० पं० चन्दाबाई को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया है इसे जानकर मुझे हर्ष हुआ । जैन-समाज में आपका विशेष स्थान है ; इतना ही नहीं, यदि यह कहा जाय कि आप भारत की उन इनी-गिनी महिलाओं में से एक हैं जिन्होंने वर्त-

भाग शताब्दी में शिक्षा प्रचार, महिला जागृति तथा साहित्य की उन्नति में अथक परिश्रम किया है तो अत्युक्ति नहीं होगी । ऐसे नारी रत्न को ऐसी पूजा भेंट करना अपने में नव-जीवन का संचार करना है । इनकी गौरवमयी कीर्ति जैन-बाला-विश्राम धर्मकुज के रूप में आरा (बिहार) में विद्यमान है । मैं इस आयोजन की शुभकामना करता हूँ ।

—जगलाल चौधरी

एम. एल. ए. बिहार राज्य

श्री विदुषी ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाई जी को मै उसी समय से जानता हूँ जब धनुपुरा (आरा) मे 'बाला-विश्राम' की स्थापना हुई और आरा नगर मे जैनसिद्धान्त-भवन का उद्घाटन हुआ था । पण्डिता चन्दाबाई जी के त्याग और तप के आदर्श को ही महिला विद्यालय की उन्नति का श्रेय प्राप्त है । स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन के हृदय मे धर्मानुराग इन्ही की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ था और फलस्वरूप उन्होने जैनधर्म और जैन-साहित्य की स्तुत्य सेवा की । जहाँ तक स्मरण है महिला-रत्न-माला, सौभाग्य रत्नमाला, स्त्रियो का चक्रवर्तित्व आदि पुस्तकें श्री पण्डिता जी की लिखी हुई हैं और इनके बहुत संस्करण कुमार जी ने प्रकाशित करवाये थे । सभी क्षेत्रों मे पण्डिता जी की तपस्या के तेज से प्रकाश फैला है । भारतीय नारी के लिए उनका जीवन सर्वथा अनुकरणीय है । उनकी साधना ने उनके जीवन को पारस बना दिया है । उनकी शक्ति से अनेक व्यक्तियों का जीवन निर्मल हुआ है । सत्य, अहिसा, विश्वप्रेम, लोकसेवा, साहित्याराधन आदि पुण्य कर्म एव शुभ आचरण का संकल्प ग्रहण करके उन्होने बडी दृढता से उस व्रत को निबाहा है । यही उनके निष्कलक जीवन का मौन उपदेश है । मै बडे आदर से उनका अभिनन्दन करता हूँ । अत्यन्त कार्यव्यस्त होने से मै संक्षिप्त शब्दों मे ही इस नारी-साहित्य की लेखिका की अभ्यर्थना करता हूँ ।

—शिवपूजन सहाय ।

मन्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् , पटना ।

भारतीय नारीत्व की परछाई ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई की सर्वतोमुखी सेवाओं के उपलक्ष्य में अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का सुखावह सन्देश प्राप्त कर मुझे ऐसा जान पडा कि यह अभिनन्दन भारतीय नारी शक्ति की तपोमयी, त्यागमयी उस जीवन्त प्रतिमूर्ति का किया जा रहा है, जिसका जीवन और कृतित्व राष्ट्र और धर्म की शाश्वत व्याख्या है । ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई ने अन्त.सलिला सरस्वती को देश के कोने-कोने में प्रकट रूप मे प्रवाहित कर अपने जीवन में ही अक्षय श्रेय प्राप्त किया है । उनका यह सम्मान तो बहुत पहले होना चाहिए था । मेरा अपना विश्वास है कि माँश्री वर्तमान नारीत्व की बधाई और आगे आने वाली पीढ़ी की जय जयकार है ।

—साहित्याचार्य प्रभात शास्त्री

प्रचार मन्त्री, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

जय मृदुल मनोहर तेज पुंज, भारत की हे विदुषी महान्
तुम जगीं जमाना जाग गया, तोड़े वैभव के सब बंधन।
तुम उठीं उठाया निज समाज, जन-जन में भर कर स्पंदन
तुम हँसी हँसाये बाल-वृद्ध, मिट चले आकांक्षा के क्रंदन
तुम बढ़ीं बढ़ चली तब समाज, तेरा माँ करते अभिनन्दन
तेरी मदु वाणी से घर-घर हो उठे अमर मधु कीर्तिमान
जय मृदुल मनोहर तेज पुंज, भारत की हे विदुषी महान्

नारी समाज की मुकुट मणि, तुम से नारी गतिमान हुई
जिनवर की छाया में रहकर, तुम निर्मल चन्द्र समान हुई
तुम-सी उदार माता को पा शिक्षा भी स्वयं महान् हुई
नवनीत सुखद मंजुल, हे माँ ! तुम से युग की नव कीर्ति हुई
तेरी श्वासों से जैन दीप, रहता निशिवासर दीप्तिमान
जय मृदुल मनोहर तेज पुज, भारत की हे विदुषी महान्

हे तपस्विनी हे ब्रह्मचारिणी, तेरा कितना उज्ज्वल जीवन
तेरी उस निर्मल ज्योति से आलोकित जैन-जगत् का मन,
युगनिर्मात्री चन्दाबाई, सब करते तेरा अभिनन्दन
भारत का जन-जन करता है हृदय से तेरा अभिवादन
तुम अमर रहो हे तपोनिधि, करती विद्या का श्रेष्ठ दान
जय मृदुल मनोहर तेज पुज, भारत की हे विदुषी महान्

—नवीन चन्द्र आर्य

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि अ० भा० दि० जैन-महिला-परिषद् की ओर से माँश्री ब्र० प० चन्दाबाई जी जैन को उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। वृन्दावन की बालिका आरा में आई और उसने इसे तीर्थभूमि बना दिया। आज अपनी वृद्धावस्था में माँश्री स्वयं एक संस्था बन गई हे। उनका अभिनन्दन हमारे हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। उनका त्याग, उनकी तपस्या, उनकी साधना, उनकी लगन, उनकी विद्वत्ता—सभी हमारे लिये अभिनन्दनीय हैं। वे अपने जीवन तथा अपनी वाणी द्वारा हमें सतत प्रेरणा देती रहें, जगन्नियंता से मेरी यही प्रार्थना है। अभी तो वे केवल ६३ वर्ष की हे। हमें विश्वास है वे अभी काफी दिनों तक हमारे बीच रहकर हमारे हृदय में शक्ति का संचार करती रहेंगी। वे शतायु हों—दीर्घायु हों उनका आशीर्वाद बना रहे। बस।

—मनोरंजन प्रसाद
प्रिंसिपल, राजेन्द्र कालेज, छपरा

प्राच्ये विहारे रमणीयमेकम्, आरामिषं पत्तनमस्ति रम्यम् ।
तस्योपकण्ठे दिशि वासवस्य, बालादिविश्रामशुभं निकेतम् ॥१॥
संस्थापयामास महामहिम्नी, कारुण्यरत्नाकरधीरबुद्धि: ।
चन्द्रावती चन्द्र विनिर्मला सा विशालकीर्तिर्जयतु प्रकामम् ॥२॥
आगत्य दूरादिह संपठन्ति बाला.सुशीलाः पठने प्रवीणा: ।
स्वधर्मग्रन्थान् विविधप्रकारान्, भद्रस्वभावा महता श्रमेण ॥३॥
बालाः समस्ता विनिवेशयन्ति चित्ते स्वकीये विषयान् दुरूहान ।
विस्तारयन्ति प्रवण स्वधर्मम् अहो प्रमोदावसरः समेषाम् ॥४॥
नारीसमाजं निखिलं विचिन्त्य चिन्ता तदीये हृदये बभूव ।
अशिक्षितानांक थमुद्गतिः स्यादतः प्रबन्ध त्वरितञ्चकार ॥५॥
ज्ञानस्य वृद्धयै पठनत पदीयम्पूर्वं यथास्यादितरत्र चेष्टे ।
ज्ञानेन सर्वं भवतीह लोके मनश्च मां प्रेरयते सदैव ॥६॥
नारीजनीनं बहु पुस्तक सत् श्रमेण रम्य रचयाञ्चकार ।
अधीत्य नार्यो हृदि ज्ञानराशि संलेभिरे पुण्यमये स्वकीये ॥७॥
विचार्य साध्वी प्रथम पपाठ स्वधर्मशास्त्र विमल सुरम्यम् ।
ततश्च तर्कन्त्वथ शब्दशास्त्रं काव्यादिक साधुतर हिताय ॥८॥
शुभेऽजमेरे नगरे मनोज्ञां संस्थापामास निजव्ययेन ।
एकां हि सम्यक् किल पाठशालां परोपकाराय जगत्प्रसिद्धाम् ॥९॥
कालेन जातेन सुनिश्चितं सा सासारिकं यत् खलु वस्तुजातम् ।
दुःखाकर तत्र सुखाय किञ्चित् अत· तप साधनमेव भेजे ॥१०॥
या मानुषी लोकहिताय शश्वत् शक्ति स्वकीया व्ययते धरायाम् ।
तपस्विनी सा परिगीयमाना लोकैः समस्तै र्वसुधातलेऽस्मिन् ॥११॥
हे दीनबन्धो ! भवबन्धनान्मां संमोचये प्रार्थनमस्ति नित्यम् ।
न कामयेऽहं जगतीह किञ्चित् सद्दर्शन प्रार्थयते तवैव ॥१२॥
आराध्यदेवस्य कृपाकटाक्षैः सर्वेप्सित लभ्यमिहास्ति लोके ।
शरणागतां मामथ दीनदीना हीना विभूतेः शरण त्वमेव ॥१३॥
ससारमेनं खलु दुःखभारं विचार्य बुद्धया परिव्राजिकाऽभृत् ।
एवंविधं भारतभूमिभागे नारीसुरत्नं विरल बभूव ॥१४॥
माङ्गल्यमूर्त्तिः परमः परेशः त्रिभुनियन्ता सकलाघहारी ।
जिनेन्द्रदेवः करुणैकरूपो देव्यै यशोऽत्र विमलं प्रदेयात् ॥१५॥

—रामसकल उपाध्याय

(विद्याभूषण, महामहाध्यापक, व्याकरण-साहित्यतीर्थ, आयुर्वेदरत्न)

यदाहि लोकः समयप्रभावतः सरस्वतीसङ्गमशून्य आसीत् ।
विलुप्तज्ञानान्वित-धर्मभ्रान्तः विभिन्न दुष्कर्मणि सम्प्रसक्तः ॥१॥
दुर्ज्ञानसंक्षुब्धविवेकशून्यः स्त्रीवर्गमूले पुरुषातिचारः
प्रवृत्त आसीत् वचसाऽप्यगम्यः संभ्रान्त दुःसाहसिकः प्रतापः ॥२॥
अबोधबालासु सीमन्तभागे त्रिषष्टिवर्षीयनरस्य लोके
श्रीशून्यशैथिल्यं कराग्रभागैः सिन्दूररेखाग्निशिखा इवासीत् ॥३॥
सर्गस्थितिप्राथमिकाहि नारी पतिव्रतानेकविधर्मि लोक–
दुराग्रहैः निर्दलिताऽयसक्ता रुरोद दीनाप्यतुलेन्दुवक्त्रा ॥४॥
श्रुत्वै तदाक्रन्दनशब्दमस्याः संसृष्टिमात्रार्तिविनाशकैश्च
सम्प्रेरित सर्वदुःखान्तकारी देवाधिदेवैः स्वविभूतिवर्गः ॥५॥
चन्द्रात्मिकाया अपि चन्द्रवत्याः समाजकल्याणसमुत्सुकायाः
धर्मप्रिये भारतवर्षभूमौ सृष्टिः प्रशस्तस्य कुले प्रजाता ॥६॥
मनुष्यलोकेऽपि सुसीमशक्तिः चन्द्रप्रभानिर्मलनिष्कलंका
चन्देति नाम्ना प्रथिता गुणैः सा दुःखेसुखे ग्लौरिव सर्वदैका ॥७॥
तत्पितृवर्गैर्हि सुखोपलब्ध्यै सामाजिकैः सामयिकैश्च बन्धनैः
लेभे सुभद्राऽपवयस्ककान्तया बाला तदा धर्मकुमारभार्याम् ॥८॥
इत्थं समुत्कर्षविघातरूपम् विघ्नं विलोक्यार्थ दिवौकसैर्हि
चतुर्दशेऽल्पे सुवयःप्रवृत्ते भवे सुपत्यन्तरिता कृता सा ॥९॥
तथाऽप्यसौ हर्षविषादशून्या समाजकल्याणविधौ दयार्द्रा
व्रजन्तु बालाः सतत सुमार्गे इत्युत्सुका ध्यानपरान्विताभूत् ॥१०॥

ध्याने प्रकाशत्वमवाप्य सेयम्
शिक्षा विना कंटकितान् लोके
स्त्रीचेतिबुद्ध्या सुविचार्य चन्दा—
बाई सुशिक्षोपकृतौ निमग्ना ॥११॥

रसैकनन्दैकमिते सुवर्षे पूर्वोत्तरैवन्यपुरी (धनुपुरा) भूभागे
आरानगर्याः रचितं चकास्ति श्रीजैनबाला-भवनं विशालम् ॥१२॥
श्रीजैनबालाभवनस्य निर्मितौ लक्षं हि द्रव्यं व्ययितं तया च
दत्तं भगिन्या सहित व्रजेशया स्वजीवनं चैव समाजकृत्ये ॥१३॥
रागादिदोषैः सुसंभिन्न कान्तिः चतुर्दिक्षु येयम् महाशक्तिरूपा
समेषां जनानां मनोमोहमत्र विनिर्धूय कान्त्या प्रकाशं प्रदेयात् ॥१४॥

सेयंहि ज्योतिः सदा मानवानाम्
मनःसन्निविष्टा स्थिरा संस्थिता स्यात्
मनःप्रार्थना बाह्यदत्तस्य योग्या
सदा पूरणीया नितान्तं स्वयासौ ॥१५॥

—मूलचंद, साहित्य-[illegible]

श्री चन्दाबाई जैन बिहार की उन गिनी-चुनी देशभक्त महिलाओं में हैं, जिनके लिए बिहार को गौरव है । एक उच्च और धनी परिवार की महिला होते हुए भी आपने समाज-सेवा और विशेष-कर महिला-समाज की उन्नति और सेवा का जो सराहनीय व्रत ले रखा है और जिस व्रत को बड़ी ही निष्ठा के साथ पिछले ३०—३५ वर्षों से पालन करती आ रही हैं; वह किसी भी समाजसेविका के लिये अनुकरणीय है । आरा के जैन-बाला-विश्राम और अन्य कई नारी सेवाकारिणी संस्थाएँ खोल कर और उनको अपना पूरा सहयोग देकर आपने महिला-समाज और नारी-आन्दोलन की प्रगति में बड़ी सहायता पहुँचाई है । आपका जीवन, आदर्श और कार्य, बिहार के पिछले महिला-समाज के लिये विशेष रूप से अनुकरणीय है । मैं उनके अभिनन्दन के इस अवसर पर उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और परमात्मा से उनके दीर्घ जीवन के लिये प्रार्थना करता हूँ, ताकि वे अभी बहुत दिनों तक, उपेक्षित और अनुन्नत, पर साथ ही अत्यन्त महत्वपूर्ण नारीवर्ग की सेवा करती रहें और अपनी जैसी और भी देशभक्त देवियाँ तैयार कर सकें ।

—देवव्रत शास्त्री

माँश्री ब्र० पं० चन्दाबाई जैन उच्चकोटि की विदुषी और आदर्श समाजसेविका हैं । इनका जीवन त्याग एवं तपस्या का महाकाव्य है । मेरी प्रार्थना है कि ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे ताकि वे अपनी बहुमूल्य सेवाओ के द्वारा समाज का अधिक से अधिक कल्याण कर सकें ।

—प्रोफेसर राधाकृष्ण शर्मा
अध्यक्ष, इतिहास विभाग
राजेन्द्र कालेज, छपरा ।

मेरे लिये यह परम सौभाग्य की बात है कि मुझे यह पुनीत अवसर प्राप्त हुआ है कि मैं माँश्री चन्दाबाई जी को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करूँ, जिन्होने अपने वैधव्य के नारकीय जीवन को इस रूप में बदल दिया, जो जन-जीवन में और विशेषकर नारी-जीवन मे मगल का उद्बोधन करने वाला बन गया ।

विधि के इस विधान को क्या कहा जाय । जिस अमागलिक कार्य से व्यक्ति का जीवन यातनामय बन कर समस्त वातावरण में कालुष्य की सृष्टि करता है वही समष्टि के जीवन में दैव-योग से वरदान बनकर उतरता है—केवल दिशा निर्देश के अन्तर से ।

आज आरा नगर के उस छोर पर जैन-बाला-विश्राम के नाम से, धनुपुरा के पास जो कुछ हम देख रहे हैं, वह क्या है ? उसकी सृष्टि के मूल में जो रहस्य छिपा है वह कितना विचित्र है ?

काश ! चन्दाबाई जी का प्रारम्भिक जीवन सुखोपभोग में बीता होता, तो क्या होता इसे कौन कहे, परन्तु नियति का विधान तो कुछ और था एवं वही होकर रहा, जिसे होना था। वह हमारे नगर का ही नहीं वरन् हमारे प्रान्त का—हमारे देश का गौरव बन गया है।

और मेरा सौभाग्य यह है कि मैं उसी नगर का एक नागरिक हूँ जिसमें श्री चन्दाबाई जी जैसी देवी उसी युग में अवतीर्ण हुईं, जिसमें मैं भी हूँ।

इसलिए श्रीमती चन्दाबाई जी के श्री चरणों में मै अपनी अकिञ्चन श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भगवान् से निवेदन करता हूँ कि वह देवी जी के जीवन को दीर्घ करें ताकि उनकी तपस्या का फलोपभोग हम कर सकें। साथ ही इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के संयोजकों को इस सुन्दर कार्य के लिए बधाई।

—रघुवंश नारायण सिंह
संपादक—भोजपुरी, आरा।

चरणो में शतबार प्रणाम
हे करुणा की जीवित प्रतिमे? गौरवमयी पूर्ण निष्काम
चरणों में शतबार प्रणाम
नारी हित बन दीप जली तुम
पतझड़ में बन सुमन खिली तुम
पा प्रकाश, सौरभ नन्दन का हुआ धन्य, हर्षित भू-धाम
चरणों में शतबार प्रणाम
दुख की ज्वाला में तप-तप कर
लिये धैर्य सम्बल, गल-ढलकर
नारी के अज्ञान-दशानन हित तुम स्वय बन गई राम
चरणो में शतबार प्रणाम
पावन त्याग, परिश्रम, साहस
बना तुम्हारा अब उज्वल यस
जिसका भव्य रूप यह जग में मूर्तिमान 'बाला-विश्राम'
चरणों में शतबार प्रणाम

—कालू राम 'अखिलेश'

मांश्री चन्दाबाई जी को मैं किन शब्दों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। आपकी पावन चरणधूलि का स्पर्श पा, आज मैं पण्डितम्मन्य बन गया हूँ। मांश्री ने बिहार में भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिए जो अथक श्रम किया है, उसके लिए बिहार आपका आभारी रहेगा। आपने केवल महिला-समाज का ही अभ्युत्थान नहीं किया है, बल्कि अनेक नवयुवक और वृद्ध आपके सदुपदेश और परामर्शों से जीवन का निर्माण कर चुके हैं। मेरी यह मां अनेक वर्षों तक इस भगवान् महावीर के विहार को अपने त्याग और सेवा का पाठ पढ़ाती रहें, यही मेरी हार्दिक कामना है।

—वाचस्पति त्रिपाठी
आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ

पं० चन्दाबाई जी ने अल्पवय में ही वैधव्य जीवन पाकर भी अपने जीवन को पवित्र और सेवामय बना कर महिला-समाज के समक्ष एक अनुपम अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। 'दि० जैन महिला-परिषद्' और 'महिलादर्श' पत्र द्वारा आपने महिला-समाज में जागृति, ज्ञान और सत्संस्कार की वृद्धि का अपूर्व कार्य किया है। 'जैन-बाला-विश्राम' की स्थापना करके उसमें धार्मिक, संस्कृत एवं अन्य लोकोपयोगी शिक्षण के प्रबन्ध के साथ नारी-जाति के जीवन-स्तर को उन्नत बनाने की ओर तन, मन और धन से निरन्तर आप तत्पर रहती हैं। यह देखकर आपके प्रति मेरा हृदय श्रद्धा और भक्ति से भर उठता है। आज मैं अपने और अपने परिवार की ओर से श्री जिनेन्द्र प्रभु से उनके जीवन को चिरायु बनाने की कामना करता हूँ और हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

—(राव राजा सर सेठ) स्वरूपचन्द्र जी हुकुमचन्द, नाईट
इन्द्रभवन कोठी, तुकोगंज, इन्दौर।

श्रीमती विदुषी ब्र० पण्डिता चन्दाबाई जी के नाम से जैन-समाज भलीभाँति परिचित है। उन्होंने दि० जैन-महिला-समाज की जो असाधारण एवम् अनवरत सेवाएँ की हैं उन्हें कभी नहीं भुलाया जा सकता। सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में नारी-समाज के उत्थान-कार्य में आपके द्वारा दिये गए महान् योग के कारण ही आज हमारा महिला-समाज जागृत है। उनके द्वारा स्थापित बाला-विश्राम आरा, समाज की उन आदर्श संस्थाओं में से है जो अब तक हजारों सुसंस्कृत समाज-सेविकाओं को तैयार कर चुकी है। समाज-सेवा के लक्ष्य को लेकर उन्होंने निःस्वार्थ भाव से जो सेवा-व्रत धारण किया है वह अनुकरणीय एवम सराहनीय है। ऐसी नारीरत्न का हमारे बीच में होना समाज के लिए गौरव का विषय है। उनका जीवन प्रारम्भ से ही धर्ममय एवम् संयमपूर्ण रहा है, त्याग एवम् धर्म-निष्ठा में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। उनके प्रति मेरी असीम श्रद्धा है।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि उनके द्वारा की गई महान् सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति में कृतज्ञता-प्रकाशन की जो सुन्दर परंपरा है, उसे निभाने के हेतु किए गए इस प्रयास की मैं हृदय से सराहना करता हूँ।

—भागचन्द्र सोनी

हमें यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्रीमती विदुषी ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी आरा को उनकी सामाजिक एवं धार्मिक सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। यह सभी जानते हैं कि रत्नों की खानि में से ही रत्नों का प्रादुर्भाव होता है। बिहार प्रान्त के आरा नगर में स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी का घराना जैन-समाज में प्रसिद्ध है, इस घर पर लक्ष्मी तथा सरस्वती की सुखद छाया सदा से रहती आई है। श्रीमती विदुषी ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी इसी परिवार की महिलारत्न हैं। आप स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी की अनुजवधू हैं। लघु वय में आपको वैधव्य-दीक्षा मिली। इस दुखमय अवस्था को आपने कैसे आदर्श रूप से स्वय अभ्युदय का साधन बनाया और आपने जो सामाजिक व धार्मिक सेवाएँ की वह भी किसीसे छिपी नही है। आपने अपन आपको आत्मविश्वास की भूमिका पर सरस्वती की कृपापात्र बनाया, और फिर ज्ञानाराधन के सत्य सुन्दर रूप सच्चारित्र से अपने आपको विभूषित किया और सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये—इस तरह आप ने उत्थान के लिए महिला-ससार के लिये एक सुन्दर आदर्श रखा।

आपने महिलाओं में जागृति की ज्योति जगाने के लिये बाला-विश्राम की स्थापना की। जिसमें रह कर हजारों महिलाओं ने अध्ययन कर अपने जीवन को सफल बनाया एव आपकी सेवा, त्याग और तपस्या से प्रभावित होकर अपने जीवन को समुज्ज्वल बनाया तथा अपने पैरों पर खड़ी होकर सम्मान के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं।

त्याग, तपस्या और सेवा से हर कोई प्रभावित हुए बिना नही रहता। आपकी विद्वत्ता भी अपूर्व है, महिला-समाज में आप अद्वितीय रत्न हैं।

यद्यपि मुझे आपके निकट में रहने का विशेष सुअवसर प्राप्त नही हुआ किन्तु परम पूज्य जगद्वंद्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज के आत्मत्याग से उत्पन्न हुई परिस्थिति को सुलझाने में आपने दिल्ली पधार कर जो प्रयत्न किया उन चंद दिनों में आपके सपर्क में रहने का सौभाग्य मिला। आपके त्याग, तपस्या से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। आपका साहस, उत्साह और निर्भी-कता सराहनीय है।

आपने महिलाओं में लेखन-शक्ति बढ़ाने के लिये जैन-महिलादर्श नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की जो अब भी महिलाओं में जागृति उत्पन्न करती रहती है। आप ३२ वर्षों से उसकी संपा-दिका हैं। आप जैसी विदुषी महिलाओं से समाज गर्व एवं गौरव अनुभव करती है।

आपने समाज-सेवा के साथ देश और राष्ट्र की सेवा में हाथ बँटाया है। आप प्रारम्भ से ही खद्दर पहिनती हैं और दूसरों को भी इसके लिये उपदेश एवं प्रेरणा देती रहती हैं। हम श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते हैं कि आप दीर्घकाल तक जीवित रहकर धर्म एवं समाज की इसी प्रकार सेवा करती रहें।

—परसादी लाल पाटनी

श्रीमती चन्दाबाई जी ने अपने त्याग, तप और ज्ञान द्वारा जैन-नारी-समाज में जागृति का अद्भुत कार्य किया है। चिरकाल से घोर अन्धकार में पड़े हुए जैन स्त्री-समाज में शिक्षा-प्रचार के लिये उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया है। अतः वे निश्चय ही सबके लिये पूजनीय और अभिवन्दनीय हैं। मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

—नाथूराम प्रेमी

(हिन्दीग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई—४)

सीमाहीन मिला दुखियों को,
स्नेह-सिक्त मातृत्व तुम्हारा।
सदा बहाई तुमने सब पर
सरल-सरस करुणा की धारा।
तुमने परहित काज हर्ष से,
मांगी घर-घर जाकर भिक्षा,
किन्तु सुलभ कर ही डाली—
बन्दिनि नारी को हित शिक्षा।
आज तुम्हारे ही प्रयत्न से,
ज्ञान-सूर्य का यह प्रकाश है,
हुआ तुम्हारे ही द्वारा,
नारी का यह बौद्धिक विकास है।
तुम अनेक-आश्रय-विहीन,
अबला-अनाथ की आश्रयदाता।
तुम अनेक निबलों की सम्बल
तुम अनेक दुखियों की माता।
हे करुणा की मूर्त्ति!
तुम्हें श्रद्धायुत वन्दन,
पूज्ये विदुषी रत्न,
तुम्हारा शत अभिनन्दन।

—'नीरज'

श्रीमती विदुषीरत्न माननीया ब्र० पण्डिता चन्दाबाई जी समाज में एक आदर्श नारी हैं। वे संस्कृत की मर्मज्ञ विदुषी हैं। सम्पन्न वैष्णवकुल में जन्म लेकर समाज-प्रसिद्ध वैभव-सम्पन्न दि० जैन कुल में गृहाधिकारिणी बनीं। आप सप्तम प्रतिमा के व्रत लेकर विशिष्ट धर्मपरायण एवं आदर्श नारी

बन गई हैं। आपने अपना जीवन तो पवित्र बनाया ही है साथ ही बाला-विश्राम नामक संस्था का संस्थापन एवं संचालन करके समाज के अभिन्न अंग नारी समाज का भी आप कल्याण कर रही हैं, विशेष बात यह है कि—पञ्चामृताभिषेक, स्त्री द्वारा अभिषेक आदि शास्त्रोक्त विधि-विधान का मार्ग आप प्रसारित कर रही है। दि० जैन महिलादर्श नामकी एक मासिक पत्रिका का संपादन भी बड़ी योग्यता के साथ आप कर रही है। इसलिए नारी-समाज में आप एक उल्लेखनीय योग्य विदुषीरत्न हैं। आप वर्तमान मुनिगण में भी पूर्ण श्रद्धा रखती हैं। विशेषकर परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराज ने जो ३ वर्ष तक अन्न त्याग किया था उस समय हरिजन मंदिर प्रवेश निषेध के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न कर आप आगममार्ग रक्षण एवं आचार्य-भक्ति में दृढ़ता से तत्पर रही हैं।

आप चिरकाल तक इसी प्रकार समाज को धर्मलाभ पहुँचाती रहें यही मेरी हार्दिक भावना है।

—मक्खनलाल सिद्धान्त शास्त्री
मोरेना

जिस समय मै काशी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ, विद्यालय के छात्र आरा के स्वनामधन्य स्व० बा० देवकुमार जी और उनके घराने के प्रति बडी ही श्रद्धा रखते थे। जब-तब छात्रो की गोष्ठी में उनकी चर्चा होती रहती थी। उस समय बनारस की क्वीस कालेज की सस्कृत परीक्षाओ का मानदंड आज से बहुत ऊँचा था। बिरले छात्र उसकी परीक्षाओ में बैठने का साहस करते थे। यदि कोई सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा भी पास कर लेता था तो बड़े आदर के साथ देखा जाता था।

एक दिन छात्रो की गोष्ठी मे मैंने सुना कि बा० देवकुमार जी की अनुजवधू बहुत विदुषी हैं। उन्होंने क्वीन्स कालेज की सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा पास की है। मैं सुनकर स्तब्ध रह गया। उस समय में प्रथमा की तैयारी कर रहा था और लघुकौमुदी व्याकरण घोका करता था। अतः संस्कृत व्याकरण की कठिनाई से सुपरिचित था। अवस्था भी १२–१३ के लगभग थी। इसलिए एक रईस घराने की कुलवधू को सस्कृत की पण्डिता सुनकर मेरा आश्चर्यान्वित होना स्वाभाविक ही था। तभी मै विदुषी चन्दाबाई जी के नाम से परिचित हुआ। उसके बाद उनकी एक दो पुस्तकें भी देखी और सरस्वती पत्रिका में सम्पादकाचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की लौहलेखनी से लिखी गई उनकी समीक्षा भी पढ़ी। मेरी श्रद्धा हुई।

फिर एक दिन सुना कि चन्दाबाई जी आरा में जैन-बाला-विश्राम स्थापित कर रही हैं। कन्याशाला, पुत्रीशाला, कन्यागुरुकुल आदि नाम तो सुने थे, किन्तु बालाविश्राम नाम तो एकदम अभिनव था। मन ने कहा किसे सूझा यह सुन्दर नाम? मन ने ही उत्तर दिया एक विदुषी की संस्था जो है। अब तक भी में चन्दाबाई जी के दर्शन से वंचित ही था।

सन् २३ में ललितपुर में एक साथ तीन गजरथ चले। तब मैं मोरेना के श्री गोपाल जैन-सिद्धान्त विद्यालय में पढ़ता था। ललितपुर में हमारे विद्यालय का और बालाविश्राम का कैम्प आमने-सामने ही था। वहीं मैंने सबसे प्रथम बाई जी के दर्शन किये और विश्राम की छात्राओं के सौष्ठव में उनकी अमिट छाप देखी।

अध्ययन समाप्त करने के बाद मै काशी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में धर्माध्यापक हो गया और मोरेना मे मेरे सहपाठी प० भुजबली शास्त्री आरा के जैन-सिद्धान्त-भवन मे पुस्तकाध्यक्ष तथा बाला-विश्राम के अध्यापक हो गये। एक बार कलकत्ते के रथयात्रा-महोत्सव से लौटते समय शास्त्री जी से मिलने के उद्देश्य से आरा उतरना हुआ और प्रथम बार बाला-विश्राम को देखने का तथा उसकी संस्थापिका से बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् तो कई बार जाना हुआ। विद्वत्ता और न्याय की साक्षात् प्रतिमा श्री चन्दाबाई जी और उनके विश्राम को देखकर दर्शक श्रद्धावनत हुए बिना नही रहता। स्त्री हो या पुरुष सद्शिक्षा और सुसस्कार उसे कुछ-से-कुछ बना देते हैं। एक भारतीय बाला के लिए वैधव्य जीवन कठोर अभिशाप है किन्तु उस कठोर अभिशाप को भी सुख-शाति और समृद्धि के रूप मे कैसे प्रवाहित किया जा सकता है बाई जी के जीवन की कठोर साधना इसका ज्वलत उदाहरण है।

जरा कल्पना तो कीजिए उन दिनों की, जब स्त्री-शिक्षा के विरोध की धूम थी और पर्दा-प्रथा, वह भी विहार के उच्चघरानो में अपनी चरम सीमा पर थी। एक अभिजातवश की कुलबधू बारह वर्ष की अवस्था मे विधवा हो जाती है। उस पर दु.ख का पहाड टूट पडता है। घर भर इस अनभ्र वज्रपात से व्याकुल हो उठता है। उसके ज्येष्ठ अपने नवयुवक लघुभ्राता की मृत्यु से मर्माहत हो जाते है, किन्तु सुशिक्षित है, समझदार है, विचारशील है। अत अपनी अभागिनी अनुजबधू को जली-कटी नहीं सुनाते। कोई उससे यह नही कह पाता "बहू राक्षसी है, घर मे आते ही पति को खा गई"। सब उसके अभाग्य पर दुखी है और है सवेदनशील। विचारशील बा० देवकुमार जी विधवा बालिका के भावी जीवन के विषय में सचिन्त है। वे उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करते है। हिन्दी, सस्कृत और धार्मिक शिक्षा के लिए सुयोग्य अध्यापक नियुक्त करते है। वैष्णव सस्कारो में पली हुई बालिका जैनधर्म की शिक्षा और सस्कारो से सस्कारित होती है। कुछ वर्षों के पश्चात् देवतुल्य ज्येष्ठ भी चल बसते है। किन्तु उन्होंने जो अकुरारोपण किया था वह धीरे-धीरे वृक्ष का रूप लेता है और काल पाकर उस वृक्ष में सुमधुर फल लगने लगते है। बालविधवा बाला क्रमश. विदुषी, सुलेखिका और सप्तम-प्रतिमा धारिणी बनकर समाज की विवाहित और अविवाहित बालाओं के लिए विश्राम-स्थल बन जाती है और अपनी बहन व्रजवाला देवी को भी गार्हस्थिक जीवन से उबार कर उन बालाओं की सेवा में लगा देती है।

कितना असीम उपकार है इन बहनो का स्त्री समाज पर। विधवा को कुलकलंकिनी और राक्षसी समझने वाले सास-ससुर और जेठ-जिठानी आँखें खोलकर देखें कि विधवा के जीवन को किस तरह स्व-पर-कल्याणकारक बनाया जाता है। और पति का नाम चलाने की इच्छा से दत्तक पुत्र लेने-

वाली विधवाएँ देखें कि पति के वश का नाम कैसे चिरस्थायी किया जाता है । और अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग किसमें है ।

विदुषीरत्न चन्दाबाई जी आदर्श विधवा और आदर्श स्त्री रत्न है । उनका जीवन स्त्री-समाज के लिए ही नही, किन्तु मानव-समाज के लिये अभिनन्दनीय है । मैं उन सती, साध्वी को प्रणाम करता हूँ और भावना करता हूँ कि उनकी जैसी सती साध्वियों से भारत का क्षितिज सदा आलोकित रहे ।

—कैलाश चन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
(प्रधानाध्यापक स्या० वि० काशी)

प्रान्ते यस्मिन्नभूद्वीर आरा पूस्तत्र राजते ।
बालाविश्रामतो यस्या नाम को नावगच्छति ॥१॥
सस्थाया जननी चन्दाबाई नारी-शिरोमणि: ।
विदुषी महिलादर्श-पत्र-सम्पादिका तथा ॥२॥
शील रत्न पर रक्ष्य रत्नमायाति याति च ।
आयान्तु नित्यसौख्याय परन्ताद्दृङ् न कर्हिचित् ॥३॥
एव विचार्य या बाल्याच्छीलसरक्षणोद्यता ।
यथाविधि व्रतव्रात यत्नत. परिरक्षति ॥४॥ युग्मम्
अज्ञानगर्तगा बाला मोहमूर्च्छाऽस्तचेतना ।
लेखमन्त्रैर्यया दिव्यै. शश्वत्प्रीत्या प्रबोधिता ॥५॥
महिलाना मनोनामदरीसस्था तमस्तति: ।
यद्ग्रन्थरत्नसद्दीपै समूलं विनिवारिता ॥६॥
शास्त्रमानसकासार यन्मनोहस आश्रित. ।
क्षणमात्र बहिर्यात्रा मनुते मृत्युसन्निभाम् ॥७॥
यावद् वाति नभस्वान् भाति विवस्वान् विभासते हिमगु: ।
तावच्चन्दाबाई भारतवर्षं विभूषयतु ॥८॥

—अमृतलालो जैन:
(दर्शन-साहित्याचार्य, काशी)

जीवन में विपत्तियाँ वर्तमान है, अधिक लोग मिलेंगे जो 'मूक चालित पशु' की तरह उनसे असमर्थ हो धारा में बह जाते हैं । अपवाद चरित्र और असाधारण योग्यता समन्वित कुछ ही प्रौढ, उदात्त आत्माएँ है जो ऐसी विपत्तियों को सामाजिक कार्य में कूद पड़ने की, नैतिक अभ्युत्थान और

व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति की प्रेरणा मानती हूं । श्री ब्र० प० चन्दाबाई जी उनमें से एक हैं । उनका अनमोल जीवन साहस, कर्मठता और करुणा का जीता-जागता, ज्वलत उदाहरण है । वह एक स्वयं 'संस्था' रही हैं जहाँ से प्रेरणा की रश्मियाँ विकीर्ण होती रहती हैं, जिन्हें बहुत समेटते हैं । अभाग्य के दुर्धर्ष थपेड़ों में बहते आये अनेक लडके-लडकियो के भाग्य को चमकाने, समुन्नत करने में ही उन्होंने अपने जीवन के समस्त समय का उपयोग किया है । वस्तुत उन्होंने अपने जीवन को सुन्दर, सफल सेवा और आध्यात्मिक-आचरण के सांचे में ढाल दिया है ।

मैं इनको अपनी आदरणीय श्रद्धाजलि अर्पण करता हूँ ।

—डा० ए० एन० उपाध्ये
(एम० ए, डी० लिट्, कोल्हापुर)

श्री विदुषी ब्र० चन्दाबाई ने युगधर्म को पहचाना है और उनकी साधना और अनुष्ठान का केन्द्र उनका 'श्री जैन बाला-विश्राम' जैन-समाज ही को नही वरन् समूचे भारत के नारी-जगत् मे ज्ञान का दान दे रहा है । विदुषी जी में सरल व्यवहार, गुणानुराग और चरित्रनिष्ठा है । उपगूहन और स्थिति-करण अंग का तो इन्होंने अनेक बार सुन्दर उपयोग किया है । आज उनके अभिनन्दन के क्षण मे हार्दिक भावनाओं की अभिव्यक्ति कर मै आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ । वे चिरायु हो । पुन एक बार अभिनन्दन ।

—प्रो० महेन्द्र कुमार, न्यायाचार्य
(हि० वि०, काशी)

मुझे समूचे जैन-समाज में ऐसी कोई महिला नही दिखती जो श्री चन्दाबाई जी की समता कर सके । वस्तुत: वे एक सस्था हैं । उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन नारी-जाति की सेवा में समापत कर जो आदर्श उपस्थित किया है वह निस्सन्देह लोगो को स्फूर्ति और चेतना देगा । पति-विहीना नारी समझती है कि अब उसके जीवन में अंधेरे और निराशा के अतिरिक्त कुछ नही है; पर श्री चन्दाबाई ने उस अवस्था में जो दीप जलाया उससे वे इतनी महिमामयी बन गयी हैं कि सांसारिक जीवन के सारे अभाव उसके आलोक में फीके पड गये । उनका बाला-विश्राम और उनका महिलादर्श उनकी स्फूर्तिदायक अमर रचनाएँ हैं । बाई जी महान् हैं । मै अपनी स्नेहपूरित श्रद्धाञ्जलि उन्हें समर्पित करता हूँ ।

—चैनसुखदास, न्यायतीर्थ, शास्त्री
(श्री जैन सस्कृत कालेज, जयपुर)

श्री महिलारत्न ब्र० चन्दाबाई जी की सरल-विमल मूर्ति के सामने ऐसा कौन व्यक्ति है जो विनम्र न हो जाय। उनकी विद्वत्ता, जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा तथा उन्नत कोटि का चरित्र महिला-समाज ही नही वरन् पुरुष-समाज के लिये भी आदर्श और अनुकरणीय है। धार्मिकता तो उनका कौटुम्बिक गुण है। जैनधर्म की आध्यात्मिक सेवाएँ इस युग में उनके द्वारा हुई है। अनेक आत्माओं को उनसे सदाचार और ज्ञान की प्रेरणा मिली है। हम उनके दीर्घ-जीवन की शुभ कामना करते है।

—जगन्मोहन लाल, शास्त्री,
प्रधानाध्यापक जैन-शिक्षण संस्थाएँ, कटनी।
प्रधान-मन्त्री—भा० दि० जैन परवार सभा।

देव-परिवार की आदर्श देवी विदुषी ब्रह्मचारिणी श्रीमती चन्दाबाई जी का जीवन महिला-जगत् के लिये आदर्श एव अनुकरणीय रहा है। उन्होने बाह्य भौतिक भूषा की उपेक्षा करके सत्श्रद्धा, सज्ज्ञान, सच्चरित्र की आध्यात्मिक भूषा मे अपने आपको अलकृत किया है। आत्महित करते हुए आपने अपनी वाणी द्वारा, लेखो द्वारा तथा वैयक्तिक प्रेरणा द्वारा अनेक महिलाओ को आत्म-उत्थान के साथ समाज-सेवा के लिये तैयार किया। जगत्-जननी महिला जाति के उत्कर्ष के लिये आरा में ज्ञानशाला का उद्घाटन किया। इस ज्ञानशाला ने अगणित बालाओं की ज्ञानपिपासा बुझाई है और भविष्य मे भी यह क्रम चलता रहेगा। जैन-समाज की महिलाओ में जागृति उत्पन्न करनेवालो में आप गणनीय है, आपने इसके लिये अपनी मानसिक, वाचनिक, शारीरिक और आर्थिक सभी शक्तियाँ यानी सर्वस्व समर्पण किया है। इस तरह आपने जनसमाज से स्वय कुछ न लेकर जनसमाज के हितार्थ सब कुछ देकर युग-निर्माण किया है। आप सती साध्वी विदुषी समाजसेविका है। आपका स्वस्थ, प्रसन्न जीवन चिरकाल तक ससार को सुपथ की ओर प्रेरणा देता रहे, ऐसी अन्त.कामना है।

—अजित कुमार, शास्त्री,
(संपादक-जैन गजट, देहली।)

सिर्फ मरने के लिए तो विश्व मे अगणित प्राणी जन्म लेते है परन्तु जन्म लेना सफल उन्हीं का है जिनका जीवन स्व-पर-कल्याण में प्रवृत्त होकर पुनर्जन्म का अभाव करने में साधक बनता है।

ऐसे महानुभावों के नामकीर्तन गुणस्मरणादि द्वारा दूसरे साधारण लोग भी कल्याण-भाजन बन सकते है। आज हम जिस विदुषीरत्न ब्र० पं० चन्दाबाई के विषय में दो शब्द लिखने को प्रस्तुत हुए है उनका जीवन भी जनसाधारण के लिये अनुकरणीय है। जिस प्रकार एक निकट भव्यात्मा के लिए नरक गति की तीव्र वेदना भी सम्यक्त्वोत्पत्ति में साधक हो जाती है उसी प्रकार आपके लिये अल्पवय मे प्राप्त वैधव्य आत्मकल्याण का साधक बना है। सप्तम प्रतिमा की महनीय दीक्षा ग्रहण कर

आप आत्मकल्याण में तो अनवरत प्रवृत्त रहती ही है साथ ही बाला-विश्राम का संचालन, सत्साहित्य-निर्माण,समस्त प्रान्तों में भ्रमण कर सदुपदेश-प्रदानादि कार्यों द्वारा पर-कल्याण करने में भी निरन्तर तत्पर रहा करती हैं। आज महिला-समाज मे जो जागृति ष्टिगोचर हो रही है उसका बहुत कुछ श्रेय आपको है। हम उक्त आदर्श ब्रह्मचारिणी जी की सेवा में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए हार्दिक भावना करते हे कि ब्रह्मचारिणी जी चिरजीवित रहकर समाज एव धर्म की उन्नति में साधक बनी रहें।

—दयानन्द, शास्त्री

(प्रधानाध्यापक—श्री ग० दि० जैन संस्कृत विद्यालय, सागर ।)

धन्य हो तुम ध्रुव यशस्विनि
ज्ञानमदिर की पुजारिणि
वन्दनीय, विशाल वंदित
पूज्यवर हे ब्रह्मचारिणि
कर्मवीरों की महत् कांक्षा तुम्हारी
मोह औ' अज्ञान निद्रा से जगाई
जैन नारी जाति सारी
सींचकर पल्लवित की
साहित्य-क्यारी
जो कि
नारी जाति के ही लिए थी
तुमने बनाई
इस सफल कर्मण्य जीवन
की तुम्ही हो एक उपमा
कर्मयोगिनि
और विदुषी
अमर सेवाएँ तुम्हारी
है, रहेंगी, मातृ-मन्दिर की विधात्री
तुम अडिग
दृढ-निश्चयी
हो आत्म-विश्वासी
सदा से
भल पाएगी नही उपकार

महिला जाति सारी
तुम्हारा !
ज्ञान के मधु-स्रोत की
मन्दाकिनी तुमने बहाई
कार्य की तुम
एक सफल सजीव प्रतिमा
कार्य करने की विलक्षण
पा सकी तुम मात्र क्षमता
क्यों न तुमको कहें
युग-नारी, सुमाता !
एक नारी तुम
कि तुमने नारियों को
धर्म बतलाया सदा से
चला आता
भलती जो पथ रही थीं
भलने वाली कभी थी
उन्हें तुमने पथ लगाया
जैन-नारी जगत की उज्ज्वल विभूति
महान नारी
नही कीमत चुका पाएगा तुम्हारी
एक कण भी
अखिल जैन समाज !
अखिल मातृ-समाज !!
अखिल नारी-वर्ग !!!
मर्ति श्रद्धा की, कि अपने
समय की तुम एक ही हो
क्यो न अभिनन्दन तुम्हारा
हम करें फिर
आज पावन पर्व
नारी जाति आज सगर्व
तुम पर है लगाए आश
क्योंकि तुम ही
जैन-नारी-मात्र की हो एक माता
जैन माता

स्नेह की भण्डार
निश्छल प्रेम की आगार
वन्दन बार शतशत
है तुम्हारा
और श्रद्धांजलि
तुम्हें कवि की !
जगत की !!
जैन नारी जाति की !!!

—महेन्द्र 'राजा', एम० ए०
(भदैनी, बनारस—१)

ब्र० पं० चन्दाबाई जी ने अपने अल्पावस्था में प्राप्त वैधव्य के पश्चात् अपने ऐश्वर्य और जीवन का सुन्दर उपयोग किया जो अभूतपूर्व-सा लगता है । मैं उन्हें वर्षों से जानता हूँ और उनकी कीर्ति के मूर्तरूप 'श्री जैन-बाला-विश्राम' को भी देखने का मुझे सौभाग्य मिला है । अपने स्वाभाविक सकोच के कारण मैं उनसे प्रत्यक्ष वार्तालाप न कर सका । फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि वे, उनका बाला-विश्राम और उनके सम्पादकत्व में निकलने वाला पत्र 'महिलादर्श' अपनी शानी नही रखते । ये हमारे समाज के गौरवस्तम्भ है । श्री जिनेन्द्रप्रभु उन्हे चिरजीवी करे ।

—नाथूलाल जैन, (सा० र०, सं० सू०, शास्त्री, इन्दौर)

इस युग में पूज्य वर्णी जी जैसा हृदय का पारखी व्यक्ति मुझे दूसरा नही दिखा । उन्होने अपने एक पत्र मे श्री ब्र० चन्दाबाई जी को प्रशम-मूर्ति लिखा था । मैने आपका नाम और काम तो पहले ही सुन रखा था परन्तु साक्षात् दर्शन का अवसर नही मिला था । पूज्य वर्णी जी द्वारा आपके लिए 'प्रशम-मूर्ति' विशेषण का प्रयोग देख हृदय में साक्षात् दर्शन की भावना उद्भूत हुई ।

सन् १९४१ के फरवरी की बात है । तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर की यात्रा से लौटकर मै आरा के मैना सुन्दरी भवन (नई धर्मशाला) में ठहरा । आपके दर्शन करने का अवसर आज मिलेगा यह जानकर हृदय प्रसन्नता से भर गया । मध्याह्न के उपरान्त जैन-बाला-विश्राम में आने का निश्चय

किया । मार्ग में कुछ अधिक विलम्ब लग गया इसलिए चार बजते-बजते मैं बालाविश्राम पहुँचा । मेरा ध्यान था कि यहाँ मेरा कोई परिचित नही होगा परन्तु अचानक ही पं० नेमिचन्द्र जी सामने आ गये और उनसे मालूम हुआ कि माताजी आपकी प्रतीक्षा में बहुत समय से बैठी हैं, उन्हें शहर वापस जाना है । मैंने सहजभाव से पूछा कि माता जी कौन ? तब उन्होने कहा, चन्दाबाई जी । उन्हें मेरे आने की खबर कैसे लगी ? मैंने पूछा । तब उन्होंने कहा कि शहर से किसी ने फोन द्वारा खबर दी थी। भाई नेमिचन्द्र जी के साथ यह बात करता करता कार्यालय के द्वार पर पहुँचा नही कि श्वेतवस्त्र-धारिणी माता जी का भव्य दर्शन हुआ । मझोला कद, गौरवर्ण, प्रभापूर्ण मुखमण्डल देख पूज्यवर्णी जी द्वारा प्रदत्त प्रशममूर्ति विशेषण ध्यान में आ गया और ऐसा लगने लगा कि यह तो सचमुच ही प्रशम की मूर्ति है—लोकोत्तर शान्ति इनके मुख से टपक रही है ।

कब आये ? कोई कष्ट तो नही हुआ ? आदि स्नेहाभिषिक्त वार्तालाप से चित्त भर आया । कुछ देर बैठा ही था कि बोल उठी—'चलिये, बाहुबली स्वामी के दर्शन कर लीजिये'.................और साथ ले जाकर आश्रम के एक भाग में कृत्रिम पर्वत पर स्थापित श्री बाहुबली स्वामी की शुभ्रकाय विशाल प्रतिमा के दर्शन कराये । आश्रम के भिन्न-भिन्न विभाग स्वय ही दिखलाये । मुझे लगा कि इस आत्मा में कितनी पवित्रता है ? कितनी निर्मलता है ? कितना स्नेह है ? अभिमान तो इसे छू भी नही गया है । लगभग एक घटा आश्रम में रहा । इसी बीच पठन-क्रम, शासन-व्यवस्था आदि न जाने कितने विषयों की चर्चा उन्होने कर डाली । जैन-बाला-विश्राम आपके जीवन का सर्वतो महान् कार्य है । उसके लिए आपने अपने आपको समर्पित कर दिया है । स्त्री-समाज में यदि शिक्षा और जागृति का प्रसार हुआ है तो उसकी आद्य उपोद्धात्री आप ही हैं । आप में शील है, सयम है, सतोष है और है अनुपम वैदुष्य भी । आपकी भाषण-शैली इतनी आकर्षक है कि सभा मन्त्रमुग्ध-सी स्तम्भित रह जाती है । आश्रम से लौटकर जब शहर गया तब मार्ग में अपने साथी सिं० छकौडीलाल जी जबलपुर के साथ इन्ही की महत्ता तथा त्याग तपश्चर्या की चर्चा करता रहा ।

इन पूज्य माता जी के चरणों में मेरी सादर सभक्ति श्रद्धांजलि समर्पित है ।

—पन्नालाल, साहित्याचार्य,

सागर

मात ! तुम्हारी पावनता से,
आज हो गई पूजित नारी ।
और मुक्ति की राह बन गई,
जो कि कभी थी कलुषित मारी ।

आज तुम्हारी प्रिय ममता में,
पीडित जन को त्राण मिला है ।
धन्य देवि ! तेरी पूजा में,
मानव को वरदान मिला है ।

सत्य और शिव सुन्दर की शुभ,
विधि परिणति माँ श्री तुम में है ।
भव्य कामना, दिव्य भावना
की नित नवगति माँ तुम में है ।

साध्य साधना साधक का,
एकत्व भाव माँ तुम मे ही है ।
नारी के प्रशस्त गौरव का,
तप प्रभाव माँ तुम में ही है ।

पार्थिव बाधाओं से विचलित,
माँ तेरा निर्माण नही है ।
जो तेरा संकल्प मिटा दे,
वह भू पर तूफान नही है ।

कुलिश कठोर कुसुम सी कोमल,
माँ तुम पावन गगधार हो ।
शक्ति भक्ति का सुखद समन्वय,
माँ तुम सचमुच निर्विकार हो ।

युग-युग की कठोर कारा से,
मुक्त आज नारी को करके ।
मूलभूत अधिकार बताए,
माँ ! तुमने ही नारी-नर के ।

ज्ञान-कर्म साहित्य कला से,
चिर निर्मित जीवन माँ तेरा ।
नारी के कल्याण हेतु ही,
चिर अर्पित माँ जीवन तेरा ।

सत्य अहिंसा की प्रतिमा है,
करुणा - पूरित हृदय तुम्हारा।
अक्षय विभामयी कल्याणी,
प्रतिक्षण प्रतिपद सदय तुम्हारा।

धन्य आपके तपत्यागों की,
अमर रहेगी भव्य कहानी।
और युगों तक वंदित होगी,
सरस साधनामय तव वाणी।।

—प्रो० श्रीचन्द्र जैन, एम० ए०
रीवा

चन्दाबाई के चारु-चरित्र-चन्द्र की चोखी चन्द्र-कला, चतुर्दिक चमकित हो, चर्खं में चितेरे चित्र चित्रित कर; तथा चराचर को चितचाय (चित्ताकर्षक) बनाकर, चिन्मूरत, चिद्रूप, चिन्तामणि, चूडामणि, चिदात्मा के चिन्तन को चैतन्य-प्रकाश देती है। उन चन्द्रवत् चन्दाबाई के चरण-चिह्नों पर चिद्विलास तथा चिन्ताहरण को चलना चाहिए।

महान् मेधाविनी, महिला-मणि, 'महिलादर्श' एवं महिला-मन्दिर की मनोज्ञमूर्ति; महिला-मनीषी-मुकुल पर मन्दमति, मादक, मदोन्मत्त, मलिन, महिला-मानस-मिलिन्द मढ़राकर, मनोनीत मकरन्द ले, मन-मल का मार्जन करते हैं। महिला-मुकुट, माननीया माता जी, महिला-मयक-मयूखवत् महिला-मण्डल में मण्डित है।

स्त्री-रत्न, संन्यासिनी, संयमी उन साध्वी की सरलता, सयमित-जीवन, सद्व्यवहार से स्त्री-समाज का सद्धर्म श्रद्धान हुआ है। शिक्षा-शून्य स्त्री-समाज में सुपत्र की सुसम्पादिका-सीकर ने सत्-शिक्षा के शीतल-सलिल की सरिता संचालित की, जिसके शीतल, सुष्ठ सलिल-सिंचन से सोद्यान का सृजन हुआ; उसके सघन, सुरम्य, सुभग स्त्रि-विटप के सुन्दर सौम्य, सुसुषमाशाली सुमनों के सौरभ से सम्पूर्ण समाज सुरभित है। उन सुश्री की—जिनकी सुधी ने स्व-सिद्धान्त-सुधा-सिञ्चन से समस्त समाज को सजग कर तथा संगठन की सुदृढ़ शृंखलाओं में सम्बद्ध कर, स्वर्ग-सोपान का साधन बनाया—श्लाघा में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना, सबका सामूहिक कर्तव्य है।

ओ अभिनन्दनीय आदर्श श्राविका! आपने अशिक्षित महिलाओं के अज्ञानान्धकार का अपने आत्मज्ञान-अंशुमाग से अन्त कर; अनोखे, अमल अंशु-आलोक का अनन्त अन्तरिक्ष में आविर्भाव किया और किया अज्ञान-तम का अन्तर्धान!

श्री महिला-रत्न, विदुषी-रत्न, ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी धन्य हैं। उन्होंने अपने प्रयास से सांस्कृतिक उत्थान कर, राष्ट्र के नव-निर्माण में सहायता दी; और दी एक अमूल्य निधि—सुसाहित्य सृजन की। धन्य ! धन्य !! माँ तुम धन्य हो !!! तुम्हारे प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन मेरी वाणी के वाग्वैदग्ध्य की परिधि के परे है। मेरे इन शब्दों में मेरी ही नहीं वरन् निखिल समाज की हृद-गति निहित है, जो आप सरीखी उदार, साध्वी, सरल महिला-रत्न की अभ्यर्थना में द्रवीभूत हो उठी है—पर अधूरी है—

तब फिर है—

'चरित्रधाम चन्दाबाई के चारुचरणाम्बुजों में चेरा-चञ्जरीको का चरण-वन्दन।'

—वीरेन्द्र प्रसाद जैन

जैन-महिलारत्न ब्रह्मचारिणी माता चन्दाबाई जी प्रतिष्ठा-प्राप्त बाबू नारायणदास, विख्यात वकील, मथुरा की बेटी, तथा समाजोद्धारक, धर्म-प्रचारक, आदर्श सदाचारी श्री देवकुमार जी की पुत्रवधू, भारत जैन-समाज की चूडामणि हैं।

दैव-सयोग से आप १३–१४ वर्ष की अवस्था में ही स्वतन्त्र हो गईं। और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके महिला-समाजोत्थान और जैन-धर्म प्रभावना के काम में लवलीन हो गईं।

बाबू देवकुमारजी ने पैत्रिक जमीदारी के अर्द्धभाग पर चन्दाबाई जी का नाम सरकारी कागजो में लिखवा दिया—यह उनकी अनुपम आदर्श उदारता का नमूना है।

फिर अपने कनिष्ठ पुत्र श्री चक्रेश्वर कुमार को उनका दत्तक पुत्र बना दिया—चि० चक्रेश्वर कुमार जी प्रतिभाशाली युवक B. Sc., B. L. की उपाधि प्राप्त करके बिहार लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सदस्य, अर्थात् M.L.C. निर्वाचित हो गए। पूज्य माता के प्रभाव से वह ससार भोग-विषय से उदासीन, आदर्श सदाचारी, व्रती श्रावक है।

श्री चन्दाबाई जी के पूज्य पिताजी वैष्णव धर्मानुयायी थे, चन्दाबाई जी ने अपनी दोनो बहनों श्रीमती ब्रजबाला देवी तथा श्री केसर बाई जी को जैन-धर्म में दीक्षित करके जैन-धर्मानुरागिणी बना दिया।

श्री चन्दाबाई जी ने अपने निजी अध्ययन, बिना सरकारी विद्यालय में शिक्षार्थ गए, Intermediate Examination in arts की परीक्षा की योग्यता प्राप्त कर ली। संस्कृत भाषा, व्याकरण तथा जैन-सिद्धान्त का तो आप को गहरा अनुभव और ज्ञान विस्तारित है ही।

जैन महिलादर्श मासिक का सम्पादन आपके संरक्षण में होता है, और जैन-महिला-परिषद् की तो आप संस्थापक और प्राण ही हैं ।

महिला-समाज के उत्थानार्थ आपने आरा नगर में पाठशाला, और २-२॥ मील पर जैन-बाला-विश्राम की स्थापना की है, जो जैन-धर्म और लौकिक विज्ञान की शिक्षा तथा सदाचार सगठन के हितार्थ एक आदर्श संस्था है ।

गत ४० वर्ष के घनिष्ठ परिचय के बल पर मै यह कह सकता हूँ कि ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी महावीर भगवान् के समवसरण की मुख्य आर्यिका पूज्य चन्दन बाला स्वरूप है ।

—अजित प्रसाद, एम० ए०, एल्-एल० बी०
लखनऊ

जैन-नारी-जागरण की अग्रदूत, परम विदुषी, बालब्रह्मचारिणी, वयोवृद्ध, समाजसेविका पंडिता श्री चन्दाबाई जी न केवल जैन-समाज की ही वरन् समग्र भारतीय राष्ट्र की वर्तमानकालीन एक महान् विभूति है । अपने तेजस्वी एव प्रौढप्रज्ञा से युक्त व्यक्तित्व तथा चिरकालीन समाज-सेवा एव धर्मप्रेम के लिये वे सादर वन्दनीय है । देश और जाति के लिये गौरव की सजीवमूर्ति इन आदर्श महिला-रत्न ने अपने जीवन, कार्यों और विचारों से महिला का सच्चा आदर्श समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है; तथा नारी-शिक्षा और नारी-जागृति को भारी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्रदान किया है ।

थोडे मे शब्दो में गुँथी हुई यह श्रद्धाञ्जलि उनके लिये समुपयुक्त न होते हुए भी भक्ति-भारावनत हृदय की तुच्छ भेंट रूप स्वीकार्य होगी, ऐसी भावना है ।

—ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०
मेरठ

पूज्य चन्दाबाई जी जैन-समाज की एक अजर अमर विभूति है । मेरा परिचय आपसे बहुत दिनों से है जब मै Stephen's College देहली में पढ़ा करता था । वहाँ आपसे स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में बात हुई । एक बार आप मेरी जन्मभूमि गोहाना में आयीं और 'श्री सानवती आश्रम' का उद्घाटन कर सारगर्भित भाषण दिया । मुझ पर उनके भावों का बड़ा प्रभाव पड़ा ।

सन् १९४२ ई० में आप मथुरा पधारी तो कुछ दिन तक अपने भ्राता श्री जमना प्रसाद जी एडवोकेट के यहाँ ठहरीं पर फिर धर्म-साधन के निमित्त दो दिन चौरासी पर एक दूरी कोठरी में ठहरी ।

वहाँ जब मैं गया तो देखा कि आप थाली लेकर चावल-दाल आदि खाद्य-पदार्थ बीन रही हैं। उनके साथ एक जैन रसोई बनाने वाली भी थी पर फिर भी वे अपना काम निःसकोच आनन्द से कर रही थी।

दुर्योग से उन दिनों मेरी स्त्री टायफड से ग्रस्त थीं और साथ में केवल मेरी पुत्री थी जो प्रभाकर पास थी। पूज्य चन्दा बहन जी दो-दो, तीन-तीन बार मेरे घर आतीं और अपने हाथों से मेरी पत्नी को दवा खिलाती और मेरी लड़की को सान्त्वना देतीं तथा 'महिलादर्श' के लिये कुछ लिख भेजने की प्रेरणा भी देती थी। यह थी उनकी सादगी और स्नेह।

आपका जीवन बड़ा सादा है। सम्पत्तिशालिनी होकर भी थोड़े परिग्रह से आप अपना कार्य चलाकर जिनेन्द्र भगवान् के ध्यान में लीन रहती हैं।

आप विदुषी, सु-लेखिका, अध्यापिका एव प्रचारिका है। 'महिलादर्श' मे आपके विचार समय-समय पर पढ़ने को मिलते है। आपने 'उपदेश रत्नमाला' आदि कई पुस्तको की रचना भी की है। नारी-शिक्षा के लिये आपने 'श्री जैनबाला-विश्राम' की नीव डाली और दूर के नगरो में भी महिला-सभा का अधिवेशन कर आप नारी-शिक्षा को प्रोत्साहन देती रहती हैं। आप वस्तुतः समाजहितेच्छु, धार्मिक साहित्यसेवी नारी है। आपका अदम्य अध्यव्यवसाय प्रशसनीय ही नही, अनुकरणीय भी है।

आपका हृदय निष्पाप है। आपके हाथ कार्यरत रहते है और आपके पैर व्यर्थ घूमने में आनन्द नहीं पाते। आपके वचनो में मधुरता, शिष्टता एव निष्कपटता रहती है। आपकी दूरदर्शिता आपकी पथ-प्रदर्शक है। आप अपनी छात्राओ को भी अपने समतुल्य बनाने के उपक्रम में निरत रहती हैं। वस्तुतः आप धन्य हैं, वह सस्था धन्य है जिस पर आपके वरद हस्तो की परिच्छाया है और वह समाज धन्य है जिसके तिमिर को आप प्रकाश स्तम्भ बनकर मिटा रही है और फैला रही है एक मधुर आलोक। अपने भाव भरे हृदय से मैं आपकी वन्दना करता हूँ।

—उग्रसेन जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०
रोहतक।

पूज्यवरा पण्डिता चन्दाबाई जी का आधुनिक जैन-समाज अत्यन्त ऋणी है और उसके एक लघु सेवक के नाते मैं भी अपने को उनका ऋणी समझता हूँ।

विगत ३५–४० वर्षों का जैन महिला-समाज का इतिहास माता जी की कीर्तिकौमुदी से आलोकित है। इस इतिहास-मंदिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्हीं की समाज-सेवा है।

आपने अपने सामाजिक जीवन में समाज की जो सेवाएँ की हैं उनको फलते-फूलते देखकर आपको आज जो आनन्द हो रहा है उसका मूल्य कौन आंक सकता है ? और उससे समाज का जो प्रचार व प्रसार हो रहा है, वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भूल जाते हैं ।

आज से अनेक वर्ष पहले जैन-महिला-समाज की अवस्था आज जैसी नहीं थी । इस अभागी समाज की रूढ़िभक्त महिलाएँ अशिक्षित रहने को ही प्रतिष्ठा की बात समझती थी । उनको शिक्षित बनाने में, शिक्षा की ओर खींचने में एवं हृदय में शिक्षा-प्रेम भरने में माता जी ने ही सबसे अधिक परिश्रम किया है । आप क्षत्राणी के समान इस क्षेत्र में आई थीं—आपने प्रतिद्वन्द्वियों का सामना किया । अपनी असीम योग्यता, अटूट धैर्य और अप्रतिम दक्षता दिखाई और विजयी हुईं । समाज ने उनको समझा, उनका महत्व स्वीकार किया यह है उनकी एकनिष्ठ साधना का फल । आप समाज की एक निष्काम साधिका है । आपने समाज की नीरव उपासना की है ।

संस्कृति की रक्षा तथा विकास का एक साधन शिक्षा है । माता जी ने शिक्षा को स्थिर रूप देने मे बड़ा भाग लिया है । 'जैन-महिलादर्श' द्वारा उन्होने समाज मे कवयित्रियें एवं लेखिकाओं की जननी होने का उत्तरदायित्व भी निभाया है । ३२ वर्ष से जैनमहिलादर्श के द्वारा आपने साहित्य और शिक्षा, इतिहास और धर्म, राजनीति और समाज तत्त्व का ज्ञान महिला-समाज के लिए सुलभ कर दिया है ।

यदि कोई मुझ से पूछे कि उन्होंने क्या किया ? तो मैं समग्र जैन-महिलादर्श की फाइलें, आधुनिक लेखिकाएँ, कवयित्रियाँ और आधुनिक जैन-महिला साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्ही की सेवा का फल है ।

वे एक असाधारण महिला हैं । जैसी विदुषी हैं वैसी ही प्रतिभाशालिनी और कर्मठ भी है । उनका निष्कपट व्यवहार, उनका सरल और सरसप्रेम, उनकी सहृदयता और उदारता आदि ऐसी बातें है जिनके ही कारण वे अपने परिचित लोक-समूह द्वारा यथारीति समादृत हुई हैं ।

इस बात में कोई सन्देह नही कि बीसवीं शताब्दी के जैन-साहित्य के इतिहास में माता जी की सेवाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं । वे निःसदेह इस युग की आदर्श महिला है । उन्होंने नारी-समाज की ही नही अपितु समस्त जैन-समाज की बड़ी सेवा की है । आज इस अवसर पर श्रद्धा के ये पुष्प उन्हें समर्पित है ।

—सुन्दरलाल जैन
बनारस

जैन समाज मे ऐसा कौन व्यक्ति है जो विदुषी ब्र० पं० चन्दाबाई जी से अपरिचित हो । आपने जैन-समाज का मुख उज्ज्वल किया है और नारी जाति के लिये एक अद्वितीय एवं अवर्णनीय

आदर्श उपस्थित किया है। शास्त्रों में श्री सीता, अजना, चदना, मनोरमा आदि अनेक सतियो के उदाहरण पढ़े हैं परन्तु वह बहुत समय की बात हो चुकी है। श्री चन्दाबाई जी का उदाहरण पूर्णतः प्रत्यक्ष है। इस युग में ऐसी देवी का अवतरण बडा अद्भुत-सा लगता है। आप शील-कर्मठ बनकर हमारे मध्य में रहकर समाज सेवा का कार्य करती रहें, यही मेरी प्रभुचरणो मे प्रार्थना है।

—इन्द्रमणि जैन, वैद्यशास्त्री,
अलीगढ़

किसी भी देश में किसी भी समय मनुष्य समाज के सगठन-सचालन और स्वामित्व की ठेकेदारी पुरुषवर्ग के ही हाथ मे रही है, इसके प्रमाण सर्वत्र उपलब्ध हैं। 'पुरुष' ने यद्यपि अपने अन्य उपयोगी पदार्थों की ही तरह, उसी भावना से अनुप्रेरित होकर 'स्त्री' की 'रक्षा' और पारिभाषिक शब्दों में 'पूजा' भी अवश्य की, परन्तु उसे अपने समकक्ष का प्राणी मानकर समान स्थान और आदर कभी नहीं दिया। फलतः स्त्रीवर्ग का बौद्धिक और व्यावहारिक स्तर क्रमश अनुपातत. गिरता गया, जो आज भी दृष्टिगत है। हमारी आज की सामाजिक स्थिति की शत-प्रतिशत 'पुरुष' की सुविधा एव स्वार्थ-पूर्ति की नीति पर ही आधारित है। 'स्त्री' का स्वतन्त्र और आदरपूर्ण व्यक्तित्व समाज को किसी भी स्थिति में मान्य नही, और न ही 'स्त्री' के व्यक्तिगत स्तर को ऊँचा उठाने की चिन्ता पुरुषशासित-समाज को है।

हमारी आदरणीया ब्रह्मचारिणी प० चन्दाबाई जी ने स्त्रीवर्ग की इस विषम स्थिति का गभीर अध्ययन एव अनुभव किया। स्त्री होने के नाते भी वे 'स्त्री' के कष्टो को अच्छी तरह सोच-समझ सकी और अपनी परिपक्व विचारधारा के कारण उसका सही हल भी प्रस्तुत कर सकी। असमानता के उद्वेग से त्रस्त होकर किये गये आन्दोलनो से कदाचित् कुछ सुविधाएँ भले ही मिल जायें पर समस्या का हल नही मिल पाता, यही समझ कर आपने किसी स्त्री-आन्दोलन का सगठन न करके, उसकी अवनति के मूल कारण के निवारण का उपाय सोचा और उसे अपने ही हाथो शिक्षा के रूप मे सचालित भी किया।

जैन-बाला-विश्राम, आरा आपके ही प्रयत्नो का फल है जिसमें सभी आयु और स्थिति की हजारों स्त्रियो ने शिक्षा पायी। देश के विभिन्न सभी प्रान्तो के व्यक्ति इस संस्था की उपयोगिता से परिचित हैं, इस सम्बन्ध में और अधिक क्या लिखूँ?

इस पीढी के दिगम्बर जैन विद्वान और समाज जिस अनुपात में श्रद्धेय स्वर्गवासी पं० गोपाल दास जी बरैया के ऋणी है और रहेंगे; निस्सन्देह उसी अनुपात में हमारा जैन समाज—विशेषकर महिला-समाज आदरणीया विदुषीरत्न पण्डिता चन्दाबाई जी का चिरऋणी रहेगा।

मेरी कामना है, आप शतायु हों, आपकी कीर्ति स्त्री-समाज की जागृति के ही समान दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़े और आपके द्वारा दिन प्रतिदिन समाज का अधिकाधिक कल्याण हो।

—स्वरूपचन्द्र जैन
जबलपुर

हमलोग यह जानकर अति प्रसन्न है कि आपलोग सेवामयी और त्यागमयी नारी चन्दाबाई का समुचित सत्कार करने जा रहे है। हमारा दृढ मत है कि नारियाँ ही देश के कलेवर का परिष्कार कर सकती है। वह राष्ट्र जो अपनी नारियो को प्रतिष्ठित करने की बात नही सोच सकता, कभी भी विकास की चरमसीमा पर नही पहुँच सकता। हम श्री चन्दाबाई जी के दीर्घ-जीवन की कामना करती है तथा अपनी सस्था की ओर से उनके पाद-पद्मो मे श्रद्धा के दो फूल चढ़ाती है।

—के० वेंकटेश्वरम्
प्रिंसिपल महिला कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

वर्तमान जैन-समाज मे विद्वत्ता, त्याग, सेवा-कार्य, तत्परता, दान-शीलता और सदाचरण आदि उच्च सद्गुणो के एक ही जगह एक साथ पाये जाने का ज्वलन्त उदाहरण विदुषीरत्न ब्र० प० चन्दाबाई जी है। आप जैन-समाज की ही नही, वरन् भारतीय रमणियो के आदर्श का मूर्तिमान रूप है, जिन्हें देखकर प्राचीन सती-साध्वी आर्य ललनाओ का स्मरण हो आता है और हृदय श्रद्धावनत हो जाता है।

आपने जैन-समाज की महान् सेवा की है। महिलावर्ग की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था अ० भा० महिला-परिषद् से निकलने वाले पत्र जैनमहिलादर्श मासिक पत्र की सम्पादिका है। अनेक स्त्रियोपयोगी सुन्दर पुस्तको का लिखना जैन कन्याशालाओं की स्थापना, अगणित असहाय एव उत्पीडित बहनों को आश्रय दान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य आपके द्वारा हुए है और हो रहे है जो आपकी महत्ता के परिचायक है।

आपका पवित्र जीवन समस्त नारियों के लिये अनुकरणीय है विशेष कर संपन्न घराने की बाल-विधवा बहनों के लिये तो आपका संपूर्ण चरित्र खूब अध्ययन और मनन करने योग्य है। आपने अपने जीवन का जैसा सदुपयोग किया है और जो असाधारण विद्वत्ता एवं त्याग के साथ ही धारा-प्रवाह भाषण, लेखन एवं पत्र-सपादन, देशभक्ति, सादगी और सरलता द्वारा असाधारणता प्राप्त की है यह हम महिलाओं के लिये गौरव का विषय है। आपकी तत्वज्ञता, धार्मिकता और नियमित कार्य-प्रणाली तथा समाज-सेवा की सतत लगन से मैं अधिक प्रभावित हूँ। वास्तव में ऐसी ही आदर्श देवियो से हमारा समाज और देश ऊँचा कहला सकता है। आप यथार्थ में एक वन्दनीय महिला हैं।

पण्डिता जी का यह अभिनन्दन-ग्रन्थ महिला-समाज द्वारा तैयार कराकर, जो उनकी अनुपम सेवाओं से उपकृत होकर कृतज्ञता प्रदर्शनार्थ उन्हें भेंट किया जा रहा है, इससे मुझे हार्दिक प्रमोद है। मैं इस अवसर पर पण्डिता जी का अभिनन्दन करती हूँ।

—कंचन बाई (सेठानी)
इन्दौर

पण्डिता चन्दा बाई जी का अपूर्व त्याग और आदर्श नारी-सद्‌गुणों का एक ज्वलन्त उदाहरण है। जिस समय नारियाँ अविद्या तथा कुरीतियों से घिरी हुई थी तब आपने एक कर्मठ समाज-सेविका के रूप में अवतरित हो कर उनके पथप्रदर्शक का कार्य आरम्भ किया। आपत्तिकाल को भी शुभाशुभ कार्यों का फल समझ कर आपने शांति-पूर्वक सहन कर लिया। आप में अद्‌भुत प्रेम एवं दया है। आपका स्वदेश-प्रेम भी सराहनीय है। १९२१ ई० के आन्दोलन से आप बराबर शुद्ध खादी धारण करती हैं।

आपके-पथ प्रदर्शन के फलस्वरूप आज जैन समाज में अनेक नारियाँ लेखिका, कवयित्री एवं समाज-सेविका हैं। आपने महिला समाज को पूर्णतया धार्मिक शिक्षा देकर उन्हें पारलौकिक मार्ग सुझाया है। आपका 'महिलादर्श' पत्र सन् १९२१ ई० से नवीन लेखिकाओं को प्रोत्साहन दे रहा है एवं गृह-शिक्षा, शिशुपालन, कर्त्तव्यपरायणता, पातिव्रत आदि उच्च कोटि के सामाजिक विषयों पर निबन्ध प्रकाशित करता आ रहा है।

दुःखी नारी समाज को त्राण देने के लिए आपने आरा शहर के धनुपुरा नामक ग्राम में 'श्री जैन बाला विश्राम' नामक एक शिक्षण सस्था को जन्म दिया है। इसके धार्मिक वातावरण में सकटाकुल महिलाएँ जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण पाती हैं, एक नयी आशा की झलक देखती हैं और निकलती हैं उच्च चरित्र, सयम और सादगी को अपने व्यक्तित्व में सँजोये हुए।

नारी-सगठन के लिए आपने १९१९ ई० में 'अखिल भारतीय महिला परिषद्' की स्थापना की। उस समय से सतत यह सस्था नारी में ऐक्य-भावना की जागृति कर रही है।

पण्डिता जी का शास्त्र-ज्ञान अपूर्व है और इसके बलपर आप धुरन्धर विद्वानों से जटिल दार्शनिक तत्त्वों पर वादविवाद करती हैं। आपके शब्द कठिन विषयों की व्याख्या में भी बड़े ही मार्मिक सरल एवं उपयुक्त होते हैं।

आपने पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित इस युग में भी सदा अपनी भारतीय सस्कृति को महत्त्व दिया एवं नारी-हृदय में इसके विशुद्ध रूप का सचार कर मिटती सस्कृति को नव जन्म दिया है।

आप में माता का स्नेह, वीराङ्गनाओं का शौर्य, कुल ललनाओं की सहिष्णुता एवं उदारता है । आप का हिन्दी भाषा पर पूर्णाधिकार है तथा आपने अपने कर-कमलों से हृदय को भाव एवं मस्तिष्क को विचार दे अनेक महिलोपयोगी साहित्य की रचना की है । जिन सौभाग्यशालिनी नारियों पर आपका प्रभाव पड़ा, वे देश-प्रेम, स्वालम्बन, धर्मानुराग, कर्तव्यपरायणता एवं सहनशीलता से विभूषित हो उठीं । आपके सम्बन्ध में जितना लिखा जाय थोड़ा है। आप दीर्घजीवी होकर नारी जाति का कल्याण करें, यही सतत भावना है ।

—लज्जावती जैन, विशारद

देहरादून

जिनके आशीर्वाद से नहीं, सिर्फ चरण रज से कोटिश: प्राणियों का कल्याण हुआ तथा उनके जीवन में प्रकाश की दीप्ति दीपित हुई, उन्हें आज क्या अर्पण करूँ? सिर्फ तुच्छ भाव कुसुमों को, जो उद्रेक मचा रहे हैं और बाहर निकलने के लिए हलचल मचा रहे हैं उन्हीं मुरझाये तथा अधखिले पुष्पों को आप के चरणों में बिखेर देना चाहती हूँ ।

मुझे अपना सौभाग्य ही कहना पड़ेगा कि मुझे छुटपन से ही आपकी छत्रच्छाया में रहने का अवसर मिला ।

जब मैं १८ वर्ष की थी, मुझे कठोर वैधव्य का भार बहन करना पडा । मैं बिल्कुल अनाथ हो गयी । आपने मृदुल वाणी के द्वारा ससार से विरक्ति का उपदेश दिया । उस दिन से मुझे यह ज्ञात हुआ कि इनकी वाणी में जरूर कोई दिव्य तेज है, वास्तव में वही तेज आज साकार बनकर बाला-विश्राम के कण-कण में व्याप्त हो रहा है ।

पर्दा तथा अशिक्षा का जमाना था । उस समय में आपने पढ़ने के लिए मुझे प्रेरित किया । मैंने बहुत मना किया, किन्तु फिर नत होना पडा और मैं कलकत्ते पढने के लिए भेज दी गयी । अभाग्य था, कलकत्ते में मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया । अन्ततः इलाहाबाद में मैंने इण्टर तक शिक्षा प्राप्त की । फिर बीमारियों ने आ घेरा और लाचार हो मुझे पढ़ना छोड़ देना पड़ा । बीमार होने पर रुपये पानी की तरह बहाये, पर निराश हो अध्ययन छोड़ना पड़ा । क्योंकि जीजी का कहना था कि स्वास्थ्य के ऊपर ही पढ़ना, धर्म-ध्यान सब अवलम्बित है। तब से अब तक मैं अपना सारा समय आपके चरणों में व्यतीत करती आरही हूँ । थोड़े दिनों के उपरान्त अपने परिश्रम तथा अपूर्व त्याग से आपने बालाविश्राम की स्थापना एक निर्जनवन में की । आपकी शक्ति तथा तेज को देखकर बड़े-बड़े तपस्वी विस्मित होते हैं तथा आपके सयम के आगे उन्हें नत होना पड़ता है ।

इनमें एक विशेषता यह है कि काम करते समय ये अत्यन्त गंभीर तथा कार्यशीला प्रौढ़ा बन जाती है किन्तु बच्चो की दुनिया में बच्ची । कोई लडकी, घर की स्मृति आ जाने पर जब रोती हुई आ जाती है उस समय जरा देखिये कितना प्यारा मनोविनोद करती है । उपदेश के साथ ही साथ छोटे-छोटे चुटकुले तथा कहानियाँ कहती है कि रोती हुई लडकियाँ भी हँस देती हैं । आपकी शरण में हम माँ - बहनो सबको भूल जाती है क्योकि माँ नही देवी माँ मिली है । फिर स्मृति कैसी ?

एक घटना याद है। एक दिन सध्या समय आप सामयिक करने मे ध्यानमग्न थी, अभाग्यवश शायद चीटियाँ आपका ध्यान भग्न करने के लिए आप पर टूट पडी । पैरो मे काटा फिर भी उन्हें तृप्ति नही मिली—ऊपर चढी हाथो मे काटा, कुछ चीटियो ने शरीर के भीतर धावा बोल दिया, किन्तु आप रचमात्र भी विचलित नही हुई । जब आपका सामयिक समाप्त हुआ, आँखे खुली, देखा चीटियो का समुदाय । वडी कोमलता से उन्हें हटाया, जिससे वे मर न जायँ ।

अचानक मे वहाँ पहुँची । देखा हाथो मे, पैरो मे वडे-बडे ददोरे पडे हुए है, सहम उठी । कहाँ इतना कोमल शरीर और कहाँ दुष्ट चीटियो का आक्रमण ! खुजली से बेचैन होने पर भी दिव्य हँसी मुखपर अठखेलियाँ कर रही थी । मेरे बहुत आग्रह करने पर थोडा सा तैल पैरो मे लगा लिया और कहने लगी—ब्रजबाला, इतने से ही विचलित हो गयी, मानव जीवन मे न जाने कितनी मुसीबतें आती है, मुसीबतो का आना तो जरूरी है किन्तु उनसे डर जाना ही कायरता है । उनकी एक-एक बात वास्तव मे दिल की वाणी होती है । मेरा मस्तक नत हो गया, और मैंने मन-ही-मन उस दिव्य मूर्ति का स्तवन किया, मेरा दिल गूँज उठा—धन्य देवि . धन्य . . . . माँ धन्य ... जीजी तुम्ही तो सब कुछ हो ।

आपकी सहनशीलता सराहनीय है, आपत्तियों—कठिनाइयों के आने पर सदा डटी रहती है । घबडाना तो दूर रहा, मुख पर शिकन भी नही आती, किन्तु उससे लडने के लिए कटिबद्ध हो जाती है ।

दुनिया का नियम है जो आता है वह जरूर जाता है और सिर्फ छोड जाना है अपनी अक्षय कीर्ति अथवा अपनी निन्दनीय आलोचना । मत्र-तत्र के बल कुछ नही कर सकते ...मोहवश मनुष्य रोता है, विलपता है, और हाथ मलता रह जाता है ।—यही आपका पावन उपदेश है ।

मुझे सिर्फ आपकी शरण चाहिए, मेरा जीवन अमर बन जायगा, आपके पवित्र चरण रज से मेरे जीवन का उद्धार होना सभव है ।

अन्त में मै यह प्रार्थना करती हूँ कि पूज्य जीजी शतशत वर्ष जियें, दिल पुकार उठता है अपनी जीजी, पूज्य जीजी के लिए क्या न करूँ..................पर सिर्फ एक दुराशा मात्र है ....।

मेरी तुच्छ श्रद्धाजलि आपके चरणों में सादर समर्पित है—आप युग-युग वर्ष जियें और मानवता की पथ-प्रदर्शिका बनी रहें, यही मेरी तुच्छ कामना है ।

—ब्रजबालादेवी, जैन

मैं अपने पूज्य पिता के देहावसान के बाद अपनी छोटी अवस्था में विधवा माँ के साथ कारंजा आश्रम में पढती थी। चार-पाँच साल की उस छोटी अवस्था में ही उस आश्रम के एक योग्य चिकित्सक आदर्श जीवन का महत्त्व समझाते हुए प० चन्दाबाई जी का उदाहरण देते और तब मेरा हृदय इस महिमामयी नारी के प्रति श्रद्धा से भर उठता।

थोड़ी बड़ी होने पर 'महिलादर्श' में उनका नाम देख कर एवं जैन समाचारपत्रों में उनकी यशोगाथा पढकर उन्हें देखने की बलवती इच्छा मेरे अन्तर में जाग उठी, पर आरा की लम्बी दूरी ने उनसे प्रत्यक्ष का अवसर न आने दिया। जब मैं अध्ययनार्थ सोलापुर श्राविकाश्रम में गयी तो वहाँ भी उनका गुणानुवाद सुनने को मिला।

एक बार मैं सुमति बाई जी के साथ महाराज शांतिसागर के दर्शनार्थ यात्रा को गयी। फलटण में सुना कि श्री चन्दाबाई भी आयी है और यह सुनकर मेरा हृदय हर्ष से परिपूरित हो उठा। पण्डिता सुमति बाई जी के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था अत जब वे मिली तब उनमें बातें होने लगी और मै शात निश्चल-सी श्री चन्दा बाई का सौम्य रूप निहारती रही। जब स्नेह से गीले स्वर में मुझसे उन्होंने पूछा—कि 'बेटी! तुम क्या पढती हो और कहाँ की हो!' तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। उसी समय मैंने अनुभव किया कि उनका बाह्य व्यक्तित्व ही इतना प्रभावशाली है कि इसकी छाप अमिट होती है। रात्रि को वे एक सिर्फ पतली-सी चादर बिछा कर सो गयी। उनकी इस सादगी से मैं और भी प्रभावित हुई। यह उनसे मेरी पहली भेंट थी।

दूसरी भेंट का अवकाश तब मिला जब मैं पुन: प० सुमति बाई के साथ श्री शिखर जी की बन्दना को गई। वहाँ महिला अधिवेशन था और वहाँ प० चन्दाबाई जी भी पधारी थीं। परिषद् का सारा कार्य आप और अपने साथ आयी हुई कुछ छात्राओं से करवाती थीं। परिषद् का काम समाप्त कर मैं आरा 'बाला आश्रम' के दर्शनार्थ गयी। यह आश्रम आपकी सेवाओं और स्नेह का मूर्त्त रूप है। स्टेशन पर देखा मैंने आपकी व्यस्तता। सेवक और छात्राओं के रहते हुए भी अपने सामान आदि का प्रबन्ध आप कर रही थी। आपके उस जीवन की झाँकी के पटपर मुझे यह पंक्ति उद्धृत सी लगी। 'Trifles make perfection, but perfection is no trifle' (छोटी-छोटी बातें जीवन को पूर्ण बनाती हैं किन्तु वह पूर्णता कभी महत्त्व-हीन नही होती)।

मै कर्मठ माँ के चरणो में अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हुई उनके दीर्घ जीवन की कामना करती हूँ।

—विद्युतलता शाहा बी० ए०

सोलापुर

श्री ब्र० पं० चन्दाबाई जी जैन-समाज के उन नारी-रत्नों में से एक है, जिनके प्रकाश से आज जैन-जगत् का कोना-कोना उद्भासित हो रहा है। मेरी जैसी अनेक बालाएँ उनके पादमूल में रहकर ज्ञानार्जन कर चुकी है। मेरा ऐसा विश्वास है कि उनके अलौकिक तेज का प्रभाव अव्यक्त रूप से ही सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो पर ऐसा पडता है जिससे जीवन की गति-विधि परिवर्तित हुए बिना नही रहती। मै माँश्री के चरणो में श्रद्धा के सुमन चढाती हुई, उनकी चिरायु की कामना करती हूँ।

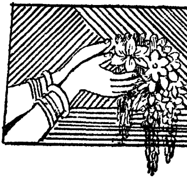
—सूरजमुखी देवी, न्यायतीर्थ
मुजफ्फरनगर

माँश्री चन्दाबाई जी का मेरे जीवन पर अद्भुत प्रभाव पडा है। मैंने उनसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अनेक बातें सीखी है तथा परोपकारिणी माँ का स्नेहाञ्चल मेरे ऊपर सदा रहता है, अत: मैं उनके चरणारविन्द में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना अपना कर्तव्य समझती हूँ।

—सुशीलादेवी जैन
आगरा

जिनसे माँ की ममता, स्नेह और सद्शिक्षा अनेक युवतियाँ प्राप्त कर चुकी है तथा जिन्होंने सुषुप्त नारी-समाज को जगाया, उसका लालन-पालन किया और उसे सब प्रकार से सबल बनाया, उन देवी की अर्चना करना मानवमात्र का कर्तव्य है। मै स्नेहशीला माँ के चरणो में अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करती हूँ।

—चन्द्रमुखी देवी, न्यायतीर्थ
डिब्रूगढ (आसाम)



दर्शन-धर्म

जैन दार्शनिक-साहित्य की पृष्ठभूमि

श्री प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

प्रागैतिहासिक स्थिति—

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस कल्पकाल में पहले भोगभूमि थी। यहाँ के निवासी कल्प-वृक्षों से अपनी जीवन-यात्रा चलाते थे। उनके खाने-पीने पहनने-ओढ़ने के भूषण, मकान सजावट, प्रकाश और आनन्द-विलास की सब आवश्यकताएँ इन वृक्षों से पूर्ण हो जाती थी। इस समय न शिक्षा थी और न दीक्षा। सब अपने भोगविलास में मग्न थे। जनसख्या कम थी। युगल उत्पन्न होते थे और जीवनभर साथ-साथ रहते थे तथा मरते भी साथ थे। जब धीरे-धीरे यह भोगभूमि की व्यवस्था क्षीण हुई, जनसख्या बढी और कल्पवृक्षों की शक्ति प्रजा की आवश्यकता-पूर्ति नही कर सकी, तब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भोगभूमि में सन्तान-युगल के उत्पन्न होते ही माँ-बाप युगल मर जाते थे। अत· समाज-रचना का प्रश्न ही नही था। वह युगल बडा हुआ और कल्पवृक्षो से अपनी शारीरिक आवश्य-कताओं की पूर्ति करके अपना भोगजीवन बिताता था। परन्तु जब सन्तान अपने जीवनकाल में ही होने लगी, तब उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की समस्याएँ सामने आयी और तब व्यक्तियो के भोग-जीवन से कर्मयुग आरम्भ हुआ। इसी समय चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते है जो उन्हे खाना पकाना, बर्तन बनाना, खेती करना, जगली पशुओ से अपनी रक्षा करना, उनका सवारी आदि मे उप-योग करना, चन्द्रसूर्य आदि से निर्भय रहना, दड-व्यवस्था आदि सब कुछ सिखाते है। वे मकान बनाना, नगर-गाँव बसाना आदि सभी व्यवस्थाएँ जमाते है इसीलिए इन्हे कुलकर या मनु कहते हैं। अन्तिम कुलकर ने बच्चो की नाभि या नाल काटना सिखाया था, इसीलिए इन्हे नाभिराय कहते थे। इनकी युगल सहचरी का नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर—

इनसे आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव नामक पुत्र हुए। इनके समय से ही वस्तुत. कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हुई। इन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षराभ्यास कराने के लिए लिपि बनायी जो आगे ब्राह्मीलिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। भरत इनके पुत्र थे जिनके नाम से इस देश का "भारत" नाम पडा। भरत बडे ज्ञानी और विवेकी थे। ये राज्य सम्हालते हुए भी सम्य-ग्दृष्टि थे। इन्हें "विदेह" भरत कहा जाता था। ये षट्खडाधिपति चक्रवर्ती कहे जाते थे। ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में समाज-व्यवस्था की स्थिरता के लिए प्रजा का क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन किया। जो रक्षा करने में कटिबद्ध थे उन्हें क्षत्रिय, व्यापार और कृषि-प्रधान वृत्ति वालो

को वैश्य और शिल्प आदि से आजीविका करने वालो को शूद्रवर्ग मे स्थान दिया । पीछे भरत ने इन्हीं में से व्रतचारित्रधारी विशिष्ट व्यक्तियो का ब्राह्मण वर्ग बनाया जिसका आधार व्रत-संस्कार रहा । इस तरह यह गुणकर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था हुई । ये कर्मभूमि की व्यवस्था के अग्र-सूत्रधार थे । अतः इन्हें आदि ब्रह्मा या आदिनाथ भी कहते हैं । प्रजा की रक्षा मे तत्पर इन प्रजापति ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल मे जिस प्रकार व्यवहारी राजधर्म और समाज-व्यवस्था का प्रवर्तन किया, उसी तरह तीर्थकाल में व्यक्ति की शुद्धि और समाज मे शान्तिस्थापन के लिए "धर्मतीर्थ" का भी प्रवर्तन किया । "अहिंसा" को मूल धर्म बताया । इसी अहिसा को सामाजिक रूप देने के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतो का उपदेश दिया । राज्य का परित्याग कर ये सर्वथा नग्न रहे और परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा मे अपनी आत्म-साधना परिपूर्ण कर इनने कैवल्य प्राप्त किया । राज्यकाल में की गई समाज-रचना और व्यवहार-व्यवस्थाओं के सधारण तथा व्यक्ति की शुद्धि के लिए "धर्म" का आद्य उपदेश इन्ही आदिनाथ ने दिया । ये प्रथम तीर्थंकर थे और इन्होंने इस कल्प-काल में धर्मतीर्थ का संस्थापन किया था । इनकी ऐतिहासिकता को डा० हर्मन जैकोबी तथा सर राधाकृष्णन् आदि ने स्वीकार किया है । भागवत (५।२ ६) में जो ऋषभदेव का वर्णन मिलता है वह जैन-परम्परा के वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है । भागवत में जैनधर्म के सस्थापक के रूप मे ऋषभदेव का उल्लेख होना और आठवें अवतार के रूप मे उनका स्वीकार किया जाना इस बात का साक्षी है कि ऋषभ के जैनधर्म सस्थापक होने की अनुश्रुति* निर्मूल नही है । बौद्ध-दर्शन† ग्रन्थो में दृष्टान्ताभास या पूर्वपक्ष के रूप में जैनधर्म के प्रवर्तक या स्याद्वाद के उपदेशक के रूप में ऋषभ और वर्द्धमान का ही नामोल्लेख है । इन्होंने मूल अहिसाधर्म का आदि उपदेश दिया और इसी अहिसा की स्थायी प्रतिष्ठा के लिए उसके आधारभूत तत्त्वज्ञान का भी निरूपण किया है । इनने समस्त आत्माओं को स्वतंत्र द्रव्य और अपने में परिपूर्ण अखण्ड मौलिक मान कर अपनी तरह जगत् के समस्त प्राणियो को जीवित रहने के समान अधिकार को स्वीकार किया और अहिसा के सर्वोदय रूप की सजीवनी जगत को दी । अहिसा के मानस रूप की प्रतिष्ठा विचार-क्षेत्र मे लाने के लिए आदि प्रभु ने जगत के अनेकान्त स्वरूप का उपदेश दिया । इनने बताया कि जगत का प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्म, गुण, पर्यायों का आकार है । उसके विराट् रूप को पूर्णज्ञान स्पर्श भी कर ले पर वह शब्दो के द्वारा कहा नहीं जा सकता । वह अपने ही दृष्टिकोणो से अनन्त रूप में देखा जाता और कहा जाता है । अत इस अनेकान्त समुद्र को शान्ति और गभीरता से देखे । दूसरो के दृष्टिकोणो का आदर करो, क्योंकि वे भी तुम्हारी ही तरह वस्तु के स्वरूपांशों को ग्रहण करने वाले हैं । इस तरह अनेकान्त दर्शन वस्तुस्वरूप के विचार-क्षेत्र में दृष्टि की एकागता और सकुचितता से होने वाले मतभेदो को उखाड कर मानस समता की सृष्टि करेगा और वीतरागचित्त की पुष्टि में उर्वरभूमि का काम देगा । मानस अहिसा के लिए जहाँ विचार शुद्धि करने

---

* खंडगिरि उदयगिरि की हाथीगुफा के २१०० वर्ष पुराने लेख से ऋषभदेव की प्रतिमा की कुल-क्रमागतता और प्राचीनता स्पष्ट है । यह लेख कलिंगाधिपति खारवेल ने लिखाया था । इस प्रतिमा को नन्द ले गया था । पीछे खारवेल ने इसे नन्द के ३०० वर्ष बाद पुष्पमित्र से प्राप्त किया था ।

† टि० न्यायविनिश्चय परि० ३ ।

तत्त्व सं० स्याद्वाद परीक्षा

वाले अनेकान्त दर्शन की मूल आधार के रूप में उपयोगिता है वहाँ वचन की निर्दुष्ट प्रणाली भी आवश्यक है। क्योंकि अनेकान्त को व्यक्त करने के लिए एकान्ती शब्द समर्थ नही हो सकते। इसीलिए स्याद्वादरूप वचन-पद्धति का उपदेश दिया गया; जिससे प्रत्येक वाक्य अपने में सापेक्ष रहकर स्ववाच्यार्थ की प्रधानता बताता हुआ भी अन्य अंशों का लोप नही करता। उनकी सत्ता से इन्कार नही करके उनका गौण अस्तित्व मानना है। इसीलिए इन धर्मतीर्थंकरों की स्याद्वादी के रूप में स्तुति की जाती है † जो इनके तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की प्रणाली का वर्णन है। इनने प्रमेय का स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त बताया है। प्रत्येक "सत्" चाहे वह चेतन हो या अचेतन हो त्रिलक्षण युक्त परिणामी है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरो ने जहाँ अहिंसा मूलधर्म का उपदेश दिया वहाँ प्रमेय का स्वरूप त्रिलक्षण परिणामी के रूप में बताया। प्रमेयो को देखने-जानने का प्रकार अनेकान्त दर्शन तथा उसके वर्णन करने की पद्धति स्याद्वाद और इसीके परिवार भूत नय सप्तभगी आदि का विवेचन किया। जैनदर्शन के त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्त दृष्टि स्याद्वाद और स्वतत्र आत्मा की सत्ता ये आधारभूत मुद्दे है। प्रमेय का षट्द्रव्य, साततत्त्व आदि रूप विवेचन-विवरण की बात है।

भगवान् ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए। इनने अपने युग में इसी सत्य का उद्‌घाटन किया।

२२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ—

बाइसवे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे। जब इनके विवाह का जुलूस नगर मे घूम रहा था और युवक कुमार नेमिनाथ अपनी नवसगिनी राजुल की सुख-सुषमा के रगीले स्वप्न में झूमते हुए दूल्हा बनकर रथ मे सवार थे उसी समय बारात में आये हुए मासाहारी राजाओ के स्वागतार्थ इकट्ठे किये गये विविध पशुओं की भयंकर चीत्कार इनके कानो में पडी। इस एक चीत्कार ने नेमिनाथ के हृदय से अहिंसा का स्रोत फोड दिया। और उन दयामूर्ति ने उसी समय रथ से उतर कर उन पशुओ के बधन अपने हाथों खोले। विवाह की वेशभूषा और विलास के स्वप्नों को असार समझ भोग से योग की ओर अपने चित्त को मोड दिया और बाहर-भीतर की समस्त गाँठो को खोल ग्रन्थिभेद-कर—परम निर्ग्रन्थ साधना मे लीन हुए। इन्ही का अरिष्टनेमि के रूप मे उल्लेख वेद में भी आता है।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ—

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बनारस मे उत्पन्न हुए थे। वर्तमान भेलपुर उनका जन्मस्थान माना जाता है। ये राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के नयनों के तारे थे। जब ये आठ वर्ष के थे तब एक दिन अपने सगी-साथियो के साथ गगा के किनारे घूमने जा रहे थे। गंगा तट पर कमठ नामक तपस्वी पंचाग्नि तप तप रहा था। दयामूर्ति कुमार पार्श्व ने एक जलते हुए लक्कड से

† "धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये" ॥ लघीय० श्लो० १।

अधजले नाग-नागिनी को बाहर निकाल कर प्रतिबोध दिया, उन मृतप्रायः नागयुगल पर अपनी दया ममता उड़ेल दी। वे नाग युगल धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में इनके भक्त हुए। कुमार पार्श्व का इस प्रकार के बाल तप तथा जगत की विषम हिंसापूर्ण परिस्थितियों से चित्त विरक्त हो उठा। इस युवा कुमार ने शादी-विवाह के बंधन में न बंधकर जगत के कल्याण के लिए योगसाधना का मार्ग ग्रहण किया। पालीपिटकों में बुद्ध का जो प्राक् जीवन मिलता है और छः वर्ष तक बुद्ध ने जो कुछ साधनाएँ की थी उससे निश्चित होता है कि उस काल में बुद्ध पार्श्वनाथ की परम्परा के तपोयोग में भी दीक्षित हुए थे। इनके चातुर्याम संवर का उल्लेख बराबर आता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान पार्श्वनाथ थे, यह जैन-ग्रन्थों के उल्लेखों से भी स्पष्ट है। उस समय स्त्री परिग्रह में शामिल थी और उसका त्याग अपरिग्रह व्रत में आ जाता था। इनने अहिंसा आदि तत्त्वों का उपदेश दिया।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर—

इस युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व इनका जन्म कुण्डि ग्राम में हुआ था। वैशाली के पश्चिम में गण्डकी नदी है उसके पश्चिम तट पर ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रिय कुण्डपुर, वाणिज्य ग्राम, करमार ग्राम और कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखाग्राम थे। इसीलिए भगवान् महावीर का जन्मस्थान वैशाली माना जाता है। क्योंकि कुण्डग्राम वैशाली का ही उपनगर था। इनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्रीय ज्ञात क्षत्रिय थे। और ये उस प्रदेश के राजा थे। रानी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में कुमार वर्द्धमान का जन्म हुआ। इनने अपने बाल्यकाल में सञ्जय विजय (सम्भवतः वेलट्ठिपुत्र) के तत्त्व विषयक संशय का समाधान किया था, इसलिए लोग इन्हें सन्मति भी कहते थे। ३० वर्ष तक ये कुमार रहे। उस समय की विषम परिस्थिति ने इनके चित्त को स्वार्थ से जनकल्याण की ओर फेरा। उस समय की राजनीति का आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग स्वार्थियों ने धर्म की आड में धर्मग्रन्थों के हवाले दे देकर अपने वर्ग के संरक्षण की चक्की में बहुसंख्यक प्रजा को पीस डाला था। ईश्वर के नाम पर ब्राह्मण वर्ग विशेष प्रभुसत्ता लेकर ही उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्व का अभिमान स्ववर्ग के संरक्षण तक ही नहीं फैला था, किन्तु शूद्र आदि वर्गों के मानवोचित अधिकारों का अपहरण कर चुका था, और वह तब हो रहा था धर्म के नाम पर। स्वर्गलाभ के लिए अजमेध से लेकर नरमेध तक धर्मवेदी पर होते थे। जो धर्म प्राणीमात्र के सुख-शान्ति और उद्धार के लिए था वही हिंसा, विषमता, प्रताडन और निर्दलन अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्द्धमान का मानस इस हिंसा और विषमता से होनेवाले मानवता के उत्पीड़न से दिन-रात बेचैन रहता था। वे व्यक्ति की निराकुलता और समाज-शान्ति का सरल मार्ग ढूंढ़ना चाहते थे, और चाहते थे मनुष्य मात्र की समभूमिका निर्माण करना। इसी सर्वोदय की प्रेरणा ने उन्हें ३० वर्ष की भरी जवानी में राजपाट को छोडकर योग-साधन की ओर प्रवृत्त किया। जिस परिग्रह के अर्जन, रक्षण, संग्रह और भोग के लिए वर्ग स्वार्थियों ने धर्म को राजनीति में दाखिल किया था, उस परिग्रह की बाहर-भीतर की गाँठें खोलकर वे परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो अपनी मौन साधना में लीन हो गये। १२ वर्ष तक कठोर साधना करने के बाद ४२ वर्ष की उम्र में इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। ये वीत-

राग और सर्वज्ञ बने। ३० वर्ष तक इन्होंने धर्मतीर्थ का प्रचार कर ७२ वर्ष की अवस्था में पावा नगरी से निर्वाण लाभ किया।

सत्य एक और त्रिकाल-अबाधित होता है—

नाथपुत्त भगवान् महावीर को कुल-परम्परा से यद्यपि पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान की धारा प्राप्त थी; पर ये उस तत्त्वज्ञान के मात्र प्रचारक नहीं थे, किन्तु अपने जीवन में अहिंसा की पूर्ण साधना करके सर्वोदय मार्ग के निर्माता थे। मैं पहले बता आया हूँ कि इस कर्मभूमि में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के बाद बाईस तीर्थंकर हुए थे। ये सभी वीतराग और सर्वज्ञ थे। इन्होंने अहिंसा की परम ज्योति से मानवता के विकास का मार्ग आलोकित किया था। व्यक्ति की निराकुलता और समाज में शान्ति स्थापन करने के लिए जो मूलभूत तत्त्वज्ञान और जो सत्य साक्षात्कार अपेक्षित होता है उसको ये तीर्थंकर युगरूपता देते हैं। सत्य त्रिकालाबाधित और एक होता है।‡ उसकी आत्मा देश, काल और उपाधियों से परे सदा एकरस होती है। देश और काल उसकी व्याख्याओं में यानी उसके शरीरों में भेद अवश्य लाते हैं, पर उसकी मूलधारा सदा एकरस-वाहिनी होती है। इसीलिए जगत के असंख्य श्रमणसन्तों ने व्यक्ति की मुक्ति और जगत की शान्ति के लिये एक ही प्रकार के सत्य का साक्षात्कार किया है और वह व्यापक सत्य है "अहिंसा"। इसी अहिंसा की दिव्यज्योति विचार-क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है तो वचन व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद के रूप में जगमगाती है, और समाजशान्ति के लिये अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनाती है। यानी आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये वे चार महान् स्तम्भ हैं जिनपर जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। युग-युग में तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया है।

जगत का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण है कि कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन इस नियम का अपवाद नहीं है। यह त्रिलक्षण परिणाम वाद जैनदर्शन के मण्डप की आधारभूमि है। इस त्रिलक्षण परिणामवाद की भूमि पर अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद पद्धति के स्तम्भों पर जैनदर्शन का तोरण बाधा गया है। विविध नय सप्तभंगी, निक्षेप आदि इसकी झिल-मिलाती हुई झालरें हैं। भगवान् महावीर ने धर्म क्षेत्र में मानवमात्र को समान अधिकार दिये थे, जाति-कुल-शरीर आकार के बन्धन धर्माधिकार में बाधक नहीं थे। धर्म आत्मा के सद्गुणों के विकास का नाम है। सद्गुण के विकास अर्थात् सदाचरण धारण करने में किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार्य नहीं हो सकता। राजनीति व्यवहार के लिए कैसी भी चले, किन्तु धर्म की शीतल छाया प्रत्येक के लिए समान भाव से सुलभ हो यही उनकी अहिंसा और समता का लक्ष्य था, और इसी लक्ष्यनिष्ठा ने धर्म के नाम पर किये जाने वाले पशुयज्ञों को निरर्थक

‡ जे य अतीता पडुप्पन्ना अणागता य भगवंतो अरिहंता ते सव्वे एयमेव धम्मं

—आचारांगसूत्र

ही नहीं अनर्थक भी सिद्ध कर दिया। अहिंसा का झरना एक बार हृदय से जब निकलता है तो वह मनुष्यों तक ही नही प्राणिमात्र के संरक्षण और पोषण तक जा पहुंचता है। अहिंसक संत की प्रवृत्ति तो इतनी स्वावलम्बिनी तथा निर्दोष हो जाती है, जिसमें प्राणिघात की कम से कम सम्भावना रहती है।

जैन-श्रुत—

वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध हो रहा है, वह इन्हीं महावीर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट है। इन्होंने जो कुछ अपनी दिव्य ध्वनि से कहा उसको इनके शिष्य गणधरों ने ग्रन्थ रूप में गूंथा। अर्थागम तीर्थंकरों का होता है और शब्द शरीर की रचना गणधर करते हैं। वस्तुतः तीर्थंकरों का प्रवचन दिन में तीन बार या चार बार होता था। प्रत्येक प्रवचन में कथानुयोग, द्रव्यचर्चा, चारित्र निरूपण और तात्त्विक विवेचन सभी कुछ होता था। यह तो उन गणधरों की कुशल पद्धति है, जिसमें वे उनके सर्वात्मक प्रवचन को द्वादशांग में विभाजित कर देते हैं। चारित्र विषयक वार्ताएँ आचारांग में, कथांश, ज्ञातृ धर्मकथा और उपासकाध्ययन आदि में, प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रश्न व्याकरण आदि में आते हैं। यह सही है कि जो गाथाएँ और वाक्य आगम संकलन में हैं उनमें कुछ वही हों जो भगवान् महावीर के मुखारविन्द से निकले हों। जैसे समय-समय पर बुद्ध ने जो मार्मिक गाथाएँ कही, उनका संकलन 'उदान' में पाया जाता है। ऐसी ही अनेक गाथाएँ और वाक्य उन-उन प्रसंगों पर तीर्थंकरों ने कहे ही होंगे। वे सब मूल अर्थ ही नही शब्द रूप में भी इन गणधरों ने द्वादशांगी में गूंथे होंगे। यह श्रुत अङ्गप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में विभाजित है। अङ्गप्रविष्ट श्रुत ही द्वादशांग श्रुत है, यथा आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासक दशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद श्रुत। दृष्टिवाद के पांच भेद हैं परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगत श्रुत के चौदह भेद हैं, उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्ति-नास्ति-प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान नामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याण नामधेय, प्राणवाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार। तीर्थंकरों के साक्षात् शिष्य बुद्धि और ऋद्धि के अतिशय निधान श्रुत केवली गणधरों के द्वारा ग्रन्थबद्ध किया गया। यह अंग पूर्व रूप श्रुत इसलिये प्रमाण है कि इसके मूल वक्ता परम अचिन्त्य केवल ज्ञान विभूति वाले परम ऋषि सर्वज्ञदेव हैं। आरातीय, आचार्यों के द्वारा अल्पमति शिष्यों के अनुग्रह के लिये जो दश वैकालिक उत्तराध्ययन आदि रूप में रचा गया अङ्गबाह्य श्रुत है, वह भी प्रमाण है क्योंकि अर्थ रूप में यह श्रुत तीर्थंकर प्रणीत अंगप्रविष्ट से जुदा नहीं है। यानी इस अंगबाह्य श्रुत की परम्परा, चूंकि अंग प्रविष्ट श्रुत से बंधी हुई है अत. उसकी तरह प्रमाण है। जैसे क्षीर समुद्र का जल घड़े में भर लेने पर मूल रूप में वह समुद्र जल ही है†।

† तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति। किंकृतोऽयं विशेषः। वक्तृविशेषकृतः। त्रयो वक्तारः। सर्वज्ञतीर्थंकरः। इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उपदिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यातिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणं तत्प्रमाणं तत्प्रामाण्यात्।। आरातीयैः पुनराचार्यैः काल दोषात्सङ्क्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति। क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।"

सर्वार्थसिद्धि १-२०

श्वेताम्बर परम्परा का आगम श्रुत—

वर्तमान में जो आगम श्रुत श्वेताम्बर परम्परा को मान्य है, उसका अंतिम संस्करण वलभी में वीर निर्वाण सवत् ९८० में हुआ था। विक्रम की ६ ठी शताब्दी में यह संकलन देवर्द्धिगण क्षमा श्रमण ने किया था। इस समय जो त्रुटित अत्रुटित आगम वाक्य उपलब्ध थे, उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। उनमें अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन हुए। एक बात खास ध्यान देने की है कि महावीर के प्रधान गणधर गौतम के होते हुए भी इन आगमों की परम्परा द्वितीय गणधर सुधर्मास्वामी से जोडी गई है जबकि दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थो का सम्बन्ध गौतम स्वामी से है। यह भी एक विचारणीय बात है कि श्वेताम्बर परम्परा जिस दृष्टिवाद श्रुत का उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुत के अग्रायणीय पूर्व से कषाय पाहुड षट्खडागम-महाबन्ध आदि सिद्धान्त ग्रन्थो की रचना हुई है। यानी जिस श्रुत का श्वेताम्बर परम्परा में लोप हुआ, उस श्रुत की धारा दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित है। और दिगम्बर परम्परा जिस अग-श्रुत का लोप मानती है उसका सकलन श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित है।

श्रुतविच्छेद का मूल-कारण—

इस श्रुत-विच्छेद का एक ही कारण है वस्त्र। महावीर स्वयं निर्वस्त्र परम निर्ग्रन्थ थे। यह दोनो परम्पराओं को मान्य है। उनके अचेलक धर्म की सगति आपवादिक वस्त्र को औत्सर्गिक मानकर नही बैठायी जा सकती। जिन कल्प आदर्श मार्ग था, इसकी स्वीकृति दशवैकालिक, आचाराग आदि में होने पर भी जब किसी भी कारण से एक बार आपावादिक वस्त्र घुस गया तो उसका निकलना कठिन हो गया। इतना ही नही जम्बू स्वामी के बाद जिन कल्प का उच्छेद मान कर इस काल में जिन कल्प धारण करने वालो को 'निह्नवी' कहकर निन्दा की जाने लगी†। एक वस्त्र के साथ ही साथ पात्र आदि उपधियो की संख्या बढकर चौदह तक जा पहुँची। प्रसिद्ध विद्वान् पडित बेचरदास जी ने ठीक ही लिखा है कि "किसी वैद्य ने सग्रहणी के रोगी को दवा के रूप में अफीम सेवन करने की सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड़ जाती है, और वह उसे नही छोडना चाहता वैसे ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई है।" (जैन साहित्य में विकार पृ० ४०)

यह निश्चित है कि भगवान् महावीर को कुल-परम्परा से अपने पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ की आचार-परम्परा प्राप्त थी। यदि पार्श्वनाथ की परम्परा में साधुओं के लिए वस्त्र की स्वीकृति होती तो महावीर स्वयं नग्नता को साधुत्व का अनिवार्य व्यावहारिक रूप न देते और न स्वय नग्न दिगम्बर रहकर ही साधना करते। चातुर्याम पार्श्वनाथ का था। उसमें अहिंसा, सत्य और अचौर्य के साथ अपरिग्रह तो दोनों को स्वीकृत ही था। प्रश्न ब्रह्मचर्य के पृथक् मानने न मानने का था। जब पार्श्व शिष्य स्त्री का परिग्रह किये बिना ही अनाचार में लिप्त होने लगे तब यह आवश्यक हुआ कि ब्रह्मचर्य

† जैन-दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन पृ० १।

को स्वतंत्र भाव से महाव्रत माना जाय । अतः पांच महाव्रत के रूप में महावीर का शासन प्रचलित हुआ । सर्वप्रथम महावीर ने जब दीक्षा ली और सर्वसावद्ययोग का त्याग कर समस्त परिग्रह को छोड़ बाहर भीतर की गाँठ खोल परमनिर्ग्रन्थ बने तब उनने लेशमात्र भी परिग्रह अपने पास नही रक्खा था । यदि पार्श्वनाथ के सिद्धान्त में वस्त्र की गुजाइश होती और उसका अपरिग्रह के साथ मेल होता तो महावीर को सर्वप्रथम साधक अवस्था में ही उसके त्याग की न तो तुक ही थी और न आवश्यकता ही । महावीर के देवदूष्य की कल्पना करके वस्त्र की अनिवार्यता और औचित्य की सगति बैठाना आदर्श मार्ग को नीचे ढकेला है ।

अस्तु, हमें तो यहाँ यह देखना है कि श्वेताम्बर परम्परा-सम्मत आगमो में, और दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थो में जैन-दर्शन के क्या बीज मौजूद है ?

जैन-दर्शन के मुख्य-स्तम्भ—

अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद भाषा और उत्पादादि त्रयात्मक परिणामवाद एव स्वतत्र आत्मद्रव्य की सत्ता इन चार महान् स्तम्भो पर जैन-दर्शन का भव्य प्रासाद खडा हुआ है और इन चार मुद्दो के उल्लेख दिगम्बर, श्वेताम्बर सिद्धान्त-ग्रन्थ और आगमो में प्रचुरता से पाये जाते है । हमें जैन-दार्शनिक साहित्य का सामान्यावलोकन करते समय आज तक के उपलब्ध सभी परम्पराओ के साहित्य को ध्यान में रखकर ही काल-विभाग इस प्रकार करना होगा‡ ।

१	सिद्धान्त आगमकाल	वि० ५ वी तक—
२	अनेकान्त स्थापनकाल	वि० ५ वी से ८ वी तक—
३	प्रमाण व्यवस्था युग	वि० ८ वी से १७ वी तक—
४	नवीन न्याय युग	१८ वी से .. ....

युगों का यह विभाजन प्रो० दलसुखजी ने किया है ।

दि० सिद्धान्त ग्रन्थो में षट्खडागम, महाबन्ध, कषायपाहुड और कुन्दकुन्दाचार्य के पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि मुख्य है । षट्खडागम के कर्त्ता आचार्य भूतवलि और पुष्पदत है एव कषाय पाहुड के रचयिता है गुणधर आचार्य । आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोक प्रज्ञप्ति में (गाथा ६६ से ८२) भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद की आचार्य-परम्परा और उसकी ६८३ वर्ष की काल-गणना बताई है ।†

---

‡. "मण परमोहि पुलाए आहारा खवग उवसमे कप्पे ।
संजमतिय-केवलसिज्झणा जंबुम्मि वुच्छिण्णा ॥२५९३॥" विशेषा भा० ०

†. जिस दिन भगवान् महावीर को मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर ने केवलज्ञान पद पाया । जब गौतमस्वामी सिद्ध हो गये तब सुधर्मा स्वामी केवली हुए । सुधर्मा स्वामी के मोक्ष जाने के बाद जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए । इन केवलियों का काल ६२ वर्ष है । इनके बाद नन्दि, नन्दिमित्र अपराजित, गोवर्धन और महाबाहु ये पांच श्रुतकेवली हुए । इन पांचों का काल १०० सौ वर्ष होता है । इनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयनाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म

इस प्रकार ६८३ वर्ष के बाद ही धवला और जयधवला के उल्लेखानुसार धरसेनाचार्य को सभी अंगों और पूर्वों के एकदेश का ज्ञान आचार्य-परम्परा से प्राप्त हुआ। जबकि नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावली से इस बात का समर्थन नहीं होता, उसमें लोहाचार्य तक का काल ५६५ वर्ष दिया है। इसके बाद एक अंग के धारियों में अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि इन पांच आचार्यों को गिनाकर उनका काल क्रमशः २८, २१, १६, ३०, और २० वर्ष दिया है। इस हिसाब से भूतबली और पुष्पदन्त का समय ६८३ वर्ष के भीतर ही आ जाता है। विक्रम संवत् १५५६ में लिखी गई बृहत् टिप्पणिका† नाम की सूची में धरसेन द्वारा वीर-निर्वाण संवत् ६०० में बनाये गये "जोणि-पाहुड" ग्रंथ का उल्लेख है। इससे भी उक्त समय का समर्थन होता है‡। यह स्मरणीय है कि भूतबली पुष्पदन्त ने दृष्टिवाद के अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्व से षट्खंडागम की रचना की है। और गुणधराचार्य ने ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व के दश में वस्तु—अधिकार के अन्तर्गत तीसरे पेज्ज दोष प्राभृत से कषाय पाहुड की रचना की है। इन सिद्धान्त ग्रंथों में जैन-दर्शन के मूल मुद्दे आत्मद्रव्य, अनेकान्त दृष्टि, उत्पादादि त्रयात्मक परिणामवाद और स्याद्वाद तथा उसके परिवारभूत नय आदि के सूक्ष्मबीज बिखरे हुए है। स्थूल रूप से इनका समय वीर-निर्वाण सवत् ६१४ यानी विक्रम की दूसरी शताब्दी (वि० सं० १४४ और ईसा की प्रथम (सन् ८७) शताब्दी सिद्ध होता है। ×

युगप्रधान आचार्य कुन्द-कुन्द का समय विक्रम की ३ री शतादी के बाद तो किसी भी तरह नही लाया जा सकता, क्योंकि मरकरा के ताम्रपत्र में कुन्दकुन्दान्वय के ६ आचार्यों का उल्लेख है।

ये ११ ग्यारह आचार्य क्रमशः दश पूर्व के धारियों में विख्यात हुए। इनका काल १८३ वर्ष है। इसके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पांच आचार्य ११ ग्यारह अंग के धारी हुए। इनके बाद भरत क्षेत्र में कोई ११ ग्यारह अंग का धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशो बाहु और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्ग के धारी हुए। ये सभी आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के एक देश के ज्ञाता थे। इनका समय ११८ वर्ष होता है। अर्थात्, गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिणाम ६८३ वर्ष होता है।

तीन केवलज्ञानी—६२ वर्ष
पाँच ५ श्रुतकेवली—१०० सौ वर्ष
ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारी—२२० वर्ष
चार आचाराङ्ग के धारी—११८ वर्ष
कुल ६८३ वर्ष

हरिवंश पुराण, धवला जयधवला, आदि पुराण तथा श्रुतावतार आदि में भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल यही ६८३ वर्ष दिया गया है।

(देखो, जयधवला प्रथमभाग प्रस्तावना—पृष्ठ ५४७–५०)

---

† योनि प्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम् (बृहट्टिपणिका जैन स्त० सं० १–२ परिशिष्ट)

‡ देखो धवला प्रथमभाग प्रस्तावना —पृ० २३–३०

× धवला प्रथम भाग —पृ० ३५ और जयधवला प्रस्तावना—पृ० ६४

यह ताम्रपत्र संवत् ३८८ में लिखा गया था। उन ६ आचार्यों का समय यदि १५० वर्ष भी मान लिया जाय, तो शक संवत् २३८ में कुन्दकुन्दान्वय के गुणनन्दि आचार्य मौजूद थे। और कुन्दकुन्दान्वय प्रारम्भ होने का समय स्थूल रूप से यदि १५० वर्ष मान लिया जाता है तो लगभग विक्रम की १ पहली और २ री शताब्दी कुन्दकुन्द का समय निश्चित होता है। डाक्टर उपाध्याय ने इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी ही अनुमान किया है।† आचार्य कुन्द-कुन्द के पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, समयसार आदि ग्रंथों में जैन-दर्शन के उक्त चार मुद्दों के न केवल बीज ही मिलते है, किन्तु उनका विस्तृत विवेचन और सागोपाग व्याख्यान भी उपलब्ध होता है। जैसा कि इस ग्रंथ के उन-उन प्रकरणों से स्पष्ट होगा। सप्तभंगी नय, निश्चय-व्यवहार, पदार्थ, तत्व, अस्तिकाय आदि सभी विषयों पर आ० कुन्दकुन्द की सफल लेखनी चली है। अध्यात्मवाद का अनूठा विवेचन तो इन्हीं की देन है।

श्वे० आगम ग्रंथों में भी उक्त चार मुद्दो के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए है।‡ "इसके लिए विशेष रूप से भगवती, सूत्र कृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायाग और अनुयोग द्वार मुख्य हैं।

भगवती सूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण. सप्तभंगी, अनेकान्त वाद आदि के दार्शनिक विचार हैं।

सूत्र कृतांग में भूतवाद, ब्रह्मवाद का निराकरण करके पृथक् आत्मा तथा उसका नानात्व सिद्ध किया है। जीव और शरीर का पृथक् अस्तित्व बताकर कर्म और कर्मफल की सत्ता सिद्ध की है। जगत् को अकृत्रिम और अनादि अनन्त प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद का निराकरण कर विशिष्ट क्रियावाद की स्थापना की गई है। प्रज्ञापना मे जीव के विविध भावों का निरूपण है।

राजप्रश्नीय में श्रवण केशी ने राज प्रदेशी के नास्तिकवाद का निराकरण अनेक युक्तियों, और दृष्टान्तों से किया है। नन्दीसूत्र जैन-दृष्टि से ज्ञानचर्चा करनेवाली अच्छी रचना है। स्थानांग और समवायाग में की रचना बौद्धों के अगुत्तर निकाय के ढग की है। इन दोनों में भी आत्मा, पुद्गल ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विषयो की चर्चा आई है। उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा यह मातृका त्रिपदी स्थानांग में उल्लिखित है जो उत्पाद आदि त्रयात्मकता के सिद्धान्त का निरपवाद प्रतिपादन करती है। अनुयोग द्वार में प्रमाण और नय तथा तत्वों का शब्दार्थ प्रक्रिया-पूर्वक अच्छा वर्णित है। तात्पर्य यह कि जैन-दर्शन के मुख्य स्तम्भों के, न केवल बीज किन्तु विवेचन भी इन आगमो में मिल जाता है।

ऊपर मैंने जिन चार मुद्दों की चर्चा की है उन्हें संक्षेप में ज्ञापकतत्व या उपायतत्व और उपेयतत्व इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। विषय प्रवेश के इस प्रकरण में इन दोनों की दृष्टि से जैन-दर्शन का लेखा-जोखा कर लेना उचित है।

† प्रवचनसार की प्रस्तावना

‡ देखो 'जैन-दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन'

ज्ञापक-तत्त्व—

सिद्धान्त-आगम काल में मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान ये पांच ज्ञान मुख्य-तया ज्ञेय के जानने के साधन माने गये हैं। इनके साथ ही नयों का स्थान भी अधिगम के उपायों में है। आगमिककाल में ज्ञान की सत्यता और असत्यता (सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थों को यथार्थ जानने या न जानने के ऊपर निर्भर नहीं थी; किन्तु जो ज्ञान आत्म-संशोधन एवं मोक्षमार्ग में उपयोगी सिद्ध होते थे वे सच्चे और जो मोक्षमार्गोपयोगी नहीं थे वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शत-प्रतिशत सच्चा ज्ञान यदि मोक्षमार्गोपयोगी नहीं है, तो वह झूठा और लौकिक दृष्टि से मिथ्याज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा कहा जाता था। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी बाह्य पदार्थों के अधीन न होकर मोक्षमार्गोपयोगिता पर निर्भर थी। इसीलिए सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्या दृष्टि के सभी ज्ञान झूठे कहलाते हैं। वैशेषिक सूत्र में विद्या और अविद्या शब्द के प्रयोग बहुत कुछ इसी भूमिका पर हैं।

इन पाँचों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में विभाजन भी पूर्वयुग में एक भिन्न ही आधार से था। वह आधार था आत्ममात्र-सापेक्षत्व अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्र-सापेक्ष थे वे प्रत्यक्ष तथा जिनमें इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी वे अप्रत्यक्ष। लोक में जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं वे ज्ञान आगमिक परम्परा में परोक्ष थे।

कुन्द-कुन्द और उमास्वाति—

आ० उमास्वाति या उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का आदि संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का विस्तार से विवेचन है। जैन-दर्शन के सभी मुख्य मुद्दे इसमें सूचित हैं। इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र और आ० कुन्द-कुन्द के प्रवचन-सार में ज्ञान का प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों में विभाजन स्पष्ट होने पर भी उनकी सत्यता और असत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी की तैसी चालू थी। यद्यपि कुन्द-कुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैली में लिखे गये हैं; फिर भी इनकी भूमिका दार्शनिक की अपेक्षा आध्यात्मिक ही है।

पूज्यपाद—

तत्त्वार्थसूत्र पर तत्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञ समझा जाता है। इसमें भी दर्शनान्तरीय चर्चाएँ नहीं के बराबर हैं। आ० पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नाम की सारगर्भ टीका लिखी है जिसमें तत्त्वार्थ के सभी प्रमेयों का विवेचन है। इनके इष्टोपदेश समाधितन्त्र आदि ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से ही लिखे गये हैं। हाँ, जैनेन्द्र व्याकरण में आदि सूत्र इनने 'सिद्धिरनेकांतात्' ही बनाया है।

समन्तभद्र-सिद्धसेन

जब बौद्ध-दर्शन में नागार्जुन, वसुबंधु, असंग तथा बौद्ध-न्याय के पिता दिग्नाग का युग आ गया और दर्शनशास्त्रियों में बौद्धदार्शनिक के तार्किक अंश या परपक्ष खंडन का प्रारंभ हो चुका था; उस

समय जैन-परम्परा में युग-प्रधान स्वामी समन्तभद्र और न्यायावतारी सिद्धिसेन का उदय हुआ। इनके सामने सैद्धान्तिक एवं आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को दर्शन के चौखटे में बैठाने का महान् कार्य था। इस युग में जो धर्म-संस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण कर स्व-दर्शन-प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अत. परचक्र से रक्षा के लिए अपने दुर्ग, स्वतः संवृत करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ इन दो महान् आचार्यों ने किया।

स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इनने आप्त की स्तुति करने के प्रसंग से आप्त मीमांसा युस्त्यानुशासन और बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में एकान्तवादो की आलोचना के साथ ही साथ अनेकान्त का स्थापन, स्याद्वाद का लक्षण, सुनय-दुर्नय की व्याख्या और अनेकान्त में अनेकान्त लगाने की प्रक्रिया बताई। इनने † बुद्धि और शब्द की सत्यता और असत्य का आधार मोक्षमार्गोपियोगिता की जगह बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति को बताया है। 'स्वपरावभासक बुद्धि प्रमाण है,' यह प्रमाण का लक्षण स्थिर किया तथा अज्ञान निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा को प्रमाण का फल बताया। इनका समय ४ थी और ५ वी शताब्दी का मध्यभाग है। आ० सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिसूत्र में नय और अनेकान्त का गंभीर, विशद और मौलिक विवेचन तो किया ही है पर उनकी विशेषता है न्याय के अवतार करने की। इन्होंने प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में 'बाधवर्जित' विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया।

इनन ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह धर्मकीर्ति की तरह मेयविनिश्चय को रखा। यानी इन आचार्यों के युग से 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्र में अपनी प्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति या मेयविनिश्चय से ही सावित कर सकता था। आ० सिद्धसेन ने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये हैं। इस प्रमाणात्रित्ववाद की परम्परा आगे नही चली। इनने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के स्वार्थ और परमार्थ भेद किये। अनुमान और हेतु का लक्षण करके वृष्टान्त-दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त परिकर का निरूपण किया है।

पात्रकेशरी और श्रीदत्त—

जब दिग्नाग ने हेतु का लक्षण 'त्रिलक्षण' स्थापित किया और हेतु के लक्षण के साथ शास्त्रार्थ की पद्धति पर ही शास्त्रार्थ होने लगे तव पात्रस्वामी ने त्रिलक्षण-कदर्थन और श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय ग्रथों में हेतु का अन्ययानुपत्ति रूप से 'एक लक्षण' स्थापित किया और वाद का सांगोपांग विवेचन किया।

जिनभद्र और अकलंक—

आ० जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण (ई० ७ वीं सदी) अनेकान्त नय आदि का विवेचन करते हैं तथा प्रत्येक प्रमेय में उसे लगाने की पद्धति भी बताते हैं। इनने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को, जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था और इसके कारण व्यवहार में असमंजसता आती थी, संव्यवहार प्रत्यक्ष संज्ञा दी ‡। अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोक-व्यवहार

† आप्तमीमांसा (का० ९७)

‡ विशेषा० भाष्य गा० ९५

के निर्वाहार्थ उसे संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह संव्यवहार शब्द विज्ञानवादी बौद्धों के यहाँ प्रसिद्ध रहा है।

भट्ट अकलंक देव (ई० ७ वीं) सचमुच जैन प्रमाणशास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक हैं। इनने अपने लघीयस्त्रय (का० ३, १०) में प्रथमतः प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्ट रूप से मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। परोक्ष प्रमाण के भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को अविशदज्ञान होने के कारण स्थान दिया। इस तरह प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारम्भ होती है।

यद्यपि अनुयोगद्वार, स्थानांग और भगवती सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणो का निर्देश है, यह परम्परा न्यायसूत्र की है। तत्त्वार्थभाष्य में इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' रूप से निर्देश करके भी स्वपरम्परा रूप से स्पष्ट स्वीकार नही किया है और न उत्तरकालीन किसी जैनग्रंथो में इनका कुछ विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण-पद्धति को ही पल्लवित और पुष्पित करके जैन-न्यायोद्यान को सुवासित किया है।

उपाय-तत्त्व—

उपाय तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण स्थान नय और स्याद्वाद का है। नय सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है और स्याद्वाद भाषा का वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा अनेकान्त वस्तु के परिपूर्ण और यथार्थ रूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। आ० कुन्द-कुन्द के पंचास्तिकाय में सप्तभंगी का हमें स्पष्टत प्रथम उल्लेख मिलता है। यद्यपि भगवती सूत्र में जिन अनेक भगजालों का वर्णन है उनमें से प्रकृत सातभंग छाँटे जा सकते हैं। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में इसी सप्तभंगी का अनेक दृष्टियों से विवेचन है। उसमें सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, द्वैत-अद्वैत, दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेक प्रमेयों पर इस सप्तभंगी को लगाया गया है। सिद्धसेन के सन्मति में अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। आ० समन्तभद्र ने विधेय वाद आदि रूप से सात प्रकार का पदार्थ ही निरूपित किया है। दैव और पुरुषार्थ—जो विवाद उस समय दृढमूल था—उसके विषय में स्वामी समन्तभद्र ने स्पष्ट लिखा है कि न तो कोई कार्य केवल दैव से होता है और न केवल पुरुषार्थ से। जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव में फल प्राप्ति हो वहाँ दैव की प्रधानता माननी चाहिये और पुरुषार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्य सिद्ध हो वहाँ पुरुषार्थ को प्रधान और दैव को गौण।

इस तरह समन्तभद्र और सिद्धसेन ने 'नय सप्तभंगी' अनेकान्त आदि जैन-दर्शन के आधारभूत पदार्थों का सांगोपांग विवेचन किया। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नय दृष्टि से जैन-दर्शन में समन्वय किया और सभी वादियों में परस्पर विचार-सहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग में न्यायभाष्य, योगभाष्य, शाबरभाष्य आदि भाष्य रचे गये हैं। यह युग भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भ युग था। इसमें सभी दर्शन अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने

तर्कशास्त्र पैना रहे थे। सबसे पहला आक्रमण बौद्धों की ओर से हुआ जिसके सेनापति थे नागार्जुन और दिग्नाग। तब वैदिक दार्शनिक परम्परा में न्यायवार्तिककार उद्योत' मीमासा श्लोक वार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि ने वैदिक दर्शन के सरक्षण में पर्याप्त प्रयत्न किये। आचार्य मल्लवादि ने द्वादशार नयचक्र ग्रन्थ में विविध भंगों द्वारा जैनेतर दृष्टियो के समन्वय का सफल प्रयत्न किया। यह ग्रन्थ आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। इसकी सिंहगणि क्षमाश्रमणकृत वृत्ति उपलब्ध है। इसी युग में सुमति श्रीदत्त, पात्रस्वामि आदि आचार्यों ने जैन-न्याय के विविध अगों पर स्वतन्त्र और व्याख्या ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ किया।

विक्रम की ७ वी और ८ वी शताब्दी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा के विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी। धर्मकीर्ति ने सदलबल प्रबलतर्कबल से वैदिक दर्शनों पर प्रचण्ड प्रहार किये। जैन दर्शन भी आक्षेपों से नही बचा था। यद्यपि अनेक मुद्दों में जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन समानतन्त्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञान-वाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण दोनो में स्पष्ट अन्तर या विरोध था। और इसीलिए इनका प्रबल खण्डन जैन-न्याय के ग्रन्थो में पाया जाता है। धर्मकीर्ति के आक्षेपों के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर, व्योम शिव, मण्डनमिश्र, शकराचार्य, भट्ट जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शाविक-नाथ आदि वैदिक दार्शनिकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने वैदिक दर्शन के संरक्षण के लिये भरसक प्रयत्न किये। इसी संघर्ष के युग में जैन न्याय के प्रस्थापक दो महान् आचार्य हुए। वे है—अकलक और हरि-भद्र। इनके बौद्धों से जमकर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थो का बहुभाग बौद्ध-दर्शन के खण्डन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खण्डन अकलक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, अष्टशती आदि प्रकरणो में पाया जाता है। हरिभद्र के शास्त्र-वार्ता समु-च्चय, अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तवाद प्रवेश आदि में बौद्ध-दर्शन की प्रखर आलोचना है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। जहाँ वैदिक दर्शन के ग्रन्थों में इतर मतो का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय भी किया है इस तरह मानस अहिंसा की उस उदार दृष्टि का परिपोषण किया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, धर्मसग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासगिक नही होगा कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि मतों के खण्डन में धर्मकीर्ति ने जो अथक श्रम किया है उससे इन आचार्यों का उक्त मतों के खडन का कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकर गुप्त, कर्णकागोमि, शान्त रक्षित, अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाण वार्तिकालकार, प्रमाण वार्तिक स्ववृत्ति टीका, तत्त्वसग्रह, वादन्याय टीका, हेतु-बिन्दु टीका आदि ग्रन्थ रच चुके और इनमें कुमारिल, ईश्वरसेन, मंडनमिश्र आदि के मतों का खण्डन कर चुके और वाचस्पति, जयन्त आदि उस खण्डनोद्धार के कार्य में व्यस्त थे; तब इसी युग में अनन्त-

वीर्य ने बौद्ध-दर्शन के खण्डन में सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई । सिद्धसेन दिवाकर का सन्मतिसूत्र और अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय को जैन-दर्शन के प्रभावक ग्रन्थों में स्थान प्राप्त है । आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्ट सहस्री, आप्त परीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्य शासन परीक्षा, युक्त्यनुशासन टीका जैसे जैन न्याय के मूर्धन्य ग्रन्थों को बनाकर अपना नाम सार्थक किया । इसी समय उदयनाचार्य , भट्टश्रीधर आदि वैदिक दार्शनिकों ने वाचस्पति मिश्र के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया । यह युग विक्रम की ८ वीं, ९ वी सदी का था । इसी समय आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख सूत्र की रचना की, यह जैन न्याय का आद्य सूत्र-ग्रन्थ है, जो आगे के सूत्र-ग्रन्थों के लिए आधार आदर्श सिद्ध हुआ ।

विक्रम की दसवी सदी में आचार्य सिद्धर्षिसूरि ने न्यायावतार पर टीका रची ।

विक्रम की ११–१२ वी सदी को जैन-दर्शन का एक प्रकार से मध्याह्नोत्तर युग समझना चाहिए । इसमें वादिराज सूरि ने न्यायविनिश्चय विवरण और प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्याय-कुमुद जैसे बृहत्काय टीका ग्रन्थो का निर्माण किया । शान्ति सूरि ने जैन-तर्क वार्तिक, अभय देवसूरि ने सन्मति तर्क टीका, जिनेश्वर सूरि का प्रमाण लक्षण, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द सूरि की प्रमाण मीमासा, वादिदेव सूरि का प्रमाण नयतत्त्वालोकालकार और स्याद्वाद रत्नाकर, चन्द्रप्रभ सूरि का प्रेमयरत्नकोष, मुनिचन्द्र सूरि का अनेकान्त-जयपताका टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ है ।

तेरहवीं शताब्दी में मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए । इसी तरह मल्लिषेण की स्याद्वाद मंजरी की रत्नप्रभ सूरि की रत्नाकरावतारिका, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि; रामचन्द्र गुणचन्द्र के द्रव्यालकार आदि ग्रन्थ लिखे गये ।

१४ वी सदी में सोमतिलक की षड्दर्शन समुच्चय टीका, १५ वी सदी में गुणरत्न की षड्-दर्शन समुच्चय बृहद्वृत्ति, राजशेखर की स्याद्वाद-कलिका आदि, त्रैविद्यदेव का विश्वतत्त्व प्रकाश आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये । धर्मभूषण की न्यायदीपिका भी इसी युग की कृति है ।

विक्रम की तेरहवी सदी मे गंगेशोपाध्याय ने नव्यन्याय की नीव डाली और प्रमाण प्रमेय को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड दिया । सत्रहवी शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय जी ने नव्य-न्याय की परिष्कृत शैली में अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया और उस युगन्त विचारो का समन्वय तथा नव्यढग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया । विमलदास की सप्तभंगिनी तरंगिणी नव्यशैली की अकेली और अनूठी रचना है । अठारहवीं सदी में यशस्वत् सागर ने सप्तपदार्थी आदि ग्रन्थों की रचना की ।

इस तरह अकलंकदेव के प्रतिष्ठापित प्रमाणशास्त्र पर अनेकों विद्वच्छिरोमणि आचार्यों ने ग्रन्थ लिखकर जैन-दर्शन के विकास में जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं, उनकी एक झलक मात्र दिखाई गई है । इसी तरह आपके उत्पादादि त्रयात्मक स्वरूप तथा आत्मा के स्वतन्त्र तथा अनेक आपकी सिद्धि उक्त

आचार्यों के ग्रन्थों में बराबर पाई जाती है। मूलतः जैनधर्म आचार-धर्म-प्रधान है। इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचारशुद्धि के लिए ही है। यही कारण है कि तर्क जैसे शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय और समता के स्थापन में किया है। दार्शनिक कटाकटी के युग में भी इस प्रकार की समता और उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजक समन्वय दृष्टि का कायम रखना अहिंसा के पुजारियों का ही कार्य था। स्याद्वाद के स्वरूप तथा उसके प्रयोग की विधियों के विवेचन में ही जैनाचार्यों ने उसके ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करने में जैन-दर्शन का अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियां अन्यत्र कम मिलती हैं। यथा—

नवबीजांकुर-जलदा रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

अर्थात् जिसके संसार को पुष्ट करने वाले रागादि दोष विनष्ट हो गये हैं, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो उसे नमस्कार है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

अर्थात् मुझे महावीर से राग नहीं है और न कपिल आदि से द्वेष, जिसके भी युक्तियुक्त वचन हों उसकी शरण जाना चाहिए।



जैन-दर्शन

पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, आचार्य स्या० वि०, काशी

प्रचलित पद्धति के अनुसार भारतीय दर्शन के दो मुख्य भाग किये जाते हैं—एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। जो दर्शन वेद को प्रमाण मानकर प्रचलित हुए हैं, उनकी गणना आस्तिक दर्शनों में की जाती है। ऐसे दर्शन मुख्य रूप से छः हैं—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। और जो वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते, उनकी गणना नास्तिक दर्शन में की जाती है। ऐसे दर्शन तीन हैं—जैन, बौद्ध और चार्वाक।

किन्तु भारतीय दर्शनों का यह श्रेणी-विभाजन 'नास्तिको वेदनिन्दकः'—जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है, नास्तिक शब्द की इस व्याख्या पर निर्भर है। पाणिनि सूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४।४।६०।' का व्याख्यान करते हुए काशिकाकार ने 'परलोकोऽस्तीति यस्य मतिः स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः।' 'जो परलोक को मानता है वह आस्तिक है और जो उसे नही मानता वह नास्तिक है' यही व्याख्या आस्तिक और नास्तिक शब्द की की है। भट्टोजी दीक्षित ने भी उसीका अनुसरण किया है। इस व्याख्या के अनुसार जैन-दर्शन भी अन्य वैदिक दर्शनों की तरह कट्टर आस्तिक दर्शन है, क्योंकि वह आत्मा, परलोक और मुक्ति वगैरह का अस्तित्व मानता है। बौद्ध-दर्शन में यद्यपि आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है तथापि परलोक, निर्वाण वगैरह का अस्तित्व वह भी मानता है। अतः भारतीय दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शन आस्तिक है।

अतः भारतीय दर्शन का प्रचलित श्रेणि-विभाग केवल सम्प्रदायपरक है। यथार्थ में तो उसके दो ही विभाग हो सकते हैं—एक श्रमण दर्शन और दूसरा ब्राह्मण दर्शन। क्योंकि अतिप्राचीन काल से भारत में दो परम्पराएँ चली आती हैं—एक श्रमण-परम्परा और दूसरी ब्राह्मण-परम्परा। वेद-विरोधी दर्शन श्रमण-परम्परा के अनुगामी है और वेदानुगामी दर्शन ब्राह्मण-परम्परा के। सम्भवतः इसीसे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' इस पाणिनिसूत्र के वार्तिक का व्याख्यान करते हुए 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण दिया है।

एक समय निरीश्वरवादी सांख्य दर्शन भी श्रमण-परम्परा का ही अनुयायी था। किन्तु बाद में उसे ब्राह्मण-दर्शन में सम्मिलित कर लिया गया। और इस तरह आज श्रमण-परम्परा के अनुयायी दो ही दर्शन शेष हैं।

ब्राह्मण-दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य और उत्तर मीमांसा दर्शनों में ज्ञान-मीमांसा के साथ ज्ञेय-मीमांसा को प्रधानता दी गई है। परन्तु योग और श्रमण-परम्परा के अनुगामी बौद्ध-दर्शन

में चारित्र-मीमांसा को प्रधानता दी गई है। इस तरह भी उक्त भारतीय दर्शन इस दृष्टि से दो भागों में विभक्त हैं—एक ज्ञेय मीमांसा प्रधान और दूसरे चरित्र मीमांसा प्रधान। किन्तु जैन-दर्शन में ज्ञेय-मीमांसा और चारित्र-मीमांसा को अथवा विचार और आचार को समान स्थान दिया गया है। इसलिए उसकी तत्त्व-समीक्षा एक ओर जीव और अजीव का कथन करके जगत् का स्वरूप दर्शाती है तो दूसरी ओर चारित्र का निरूपण करके उसके अन्तिम साध्य मोक्ष का मार्ग बतलाती है।

जैन-दर्शन का मूल—

प्रत्येक विशिष्ट दर्शन के मूल में उसके प्रवर्तक की एक खास दृष्टि होती है जो उस दर्शन की आधारभूत होती है। जैन-दर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है अतः उसके प्रवर्तक तीर्थंकरों की एक खास दृष्टि उसके मूल में है। वह दृष्टि है अनेकान्त और अहिंसा की। जितना भी जैन विचार है वह सब अनेकान्त दृष्टि के आधार पर अवलम्बित है और जितना भी जैन आचार है उस सबके मूल में अहिंसा है।

अनेकान्त और अहिंसा—

किन्तु अनेकान्त और अहिंसा ये दो भिन्न दृष्टियाँ नही हैं किन्तु एक ही दृष्टि के दो नाम या दो रूप हैं। वही दृष्टि जब विचार क्षेत्र में प्रवेश करती है तो अनेकान्त के नाम से कही जाती है और जब वह आचार के क्षेत्र में अवतरित होती है तो अहिंसा के नाम से पुकारी जाती है। अत जहाँ अनेकान्त दृष्टि है वही अहिसा है और जहाँ अहिंसा है वही अनेकान्त दृष्टि है। अथवा अनेकान्त ही अहिंसा है और अहिंसा ही अनेकान्त है। जैन-दर्शन के इस आधारभूत तत्त्व को हृदयङ्गम कर लेने से जैन-दर्शन की तत्त्व-व्यवस्था और आचार-व्यवस्था को समझने में कोई कठिनाई नही रह जाती।

१. द्रव्य—

जैनधर्म एक द्रव्य पदार्थ को ही मानता है और उसे इस रूप में मानता है कि उसके मानने पर दूसरे पदार्थों के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

> अपरिचत्तसहावेणुप्पादव्वय धुवत्त संजुत्त।
> गुणवं च सपज्जाय जं तं दव्व तिबुच्चंति ॥३॥

अर्थात् —जो गुण और पर्याय से सहित है तथा अपने अस्तित्व स्वभाव को न छोड़कर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त है, उसे द्रव्य कहते हैं।

यही लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में भी किया है। इस लक्षण में गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहा है। जैसे जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं, और मनुष्य नारक आदि पर्याय पाये जाते है जिनके कारण द्रव्य अपने सजातीय द्रव्यों से मिलते हुए और विजातीय

द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होते हैं, उन्हें गुण कहते हैं, और जो सदा स्थिर न रहकर प्रतिक्षण बदलता रहता है उसे पर्याय कहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्य के ही आत्मस्वरूप हैं, इसलिए ये किसी भी हालत में द्रव्य से पृथक् नहीं होते। अर्थात् ऐसा नहीं है कि गुण पृथक् हैं पर्याय पृथक् हैं और उनसे द्रव्य कोई पृथक् पदार्थ है। किन्तु सदा से द्रव्य गुणपर्यायात्मक ही है।

द्रव्य को गुण और पर्याय का आधार बतलाने के सिवाय उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से भी सहित बतलाया है। जैसे मिट्टी से घट बनाते समय मिट्टी का पिंडरूप पर्याय नष्ट होता है, घट पर्याय उत्पन्न होता है और मिट्टी कायम रहती है। ऐसा नही है कि पिंड पर्याय का नाश पृथक् समय में होता है और घट पर्याय की उत्पत्ति पृथक् समय में होती है। किन्तु जिस समय में पहले पर्याय का नाश होता है उसी समय में उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। और इस तरह प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होते हुए भी द्रव्य ध्रुव रहता है। अतः द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है, किन्तु परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ देती। जैसे एक बालक धीरे-धीरे बढता हुआ युवा हो जाता है और फिर युवा बूढा हो जाता है। बचपन से युवापन और युवापन से बुढापा एकदम नही आ जाता किन्तु बच्चे में प्रतिसमय जो परिवर्तन होता रहता है वही समय पाकर युवापन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रतिसमय होनेवाला परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि उसे हम देख नही पाते। इस परिवर्तन के होते हुए भी उस बच्चे में एक ऐसी एकरूपता बनी रहती है जिसके कारण हम उसे बड़ा होने पर भी पहचान लेते हैं। यदि ऐसा न मानकर वस्तु को सर्वथा नित्य ही मान लिया जाय तो उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। और यदि केवल अनित्य ही मान लिया जाय तो वह क्षणिक हो जायगी। अतः द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाला है। चूंकि द्रव्य में गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय विनाशशील अतः द्रव्य को गुणपर्याय का आधार कहो या उत्पाद विनाश ध्रौव्यात्मक कहो एक ही बात है। द्रव्य के इन दोनों लक्षणों में कोई भेद नहीं है। किन्तु एक दूसरे का व्यंजक है।

२. स्याद्वाद—

जब वस्तु का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है तब सभी वस्तुएँ नित्यानित्य सिद्ध होती हैं। जैन दृष्टि से न कोई वस्तु नित्य है और न कोई वस्तु सर्वथा अनित्य। आकाशादि जो नित्य कहे जाते हैं उनमें भी प्रतिसमय उत्पाद व्यय हो रहा है और दीपक आदि जो अनित्य प्रतीत होते हैं वे भी द्रव्य रूप से ध्रुव हैं, क्योंकि द्रव्य का नाश नहीं होता। ऐसी स्थिति में किसी को नित्य ही और किसी को अनित्य ही कहना वस्तुस्थिति के विरुद्ध है। हाँ, प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है पर्याय रूप से अनित्य है।

इसी तरह कोई भी वस्तु केवल सत् नहीं है। केवल सत् या सर्वथा सत् का मतलब होता है जो किसी भी तरह से असत् न हो। किन्तु यदि वस्तु को केवल सत् ही माना जायगा और किसी

भी रूप से असत् न माना जायगा तो सब वस्तुएँ सब रूप से हो जायेंगी और किसी भी वस्तु का कोई प्रतिनियत असाधारण स्वरूप नही रहेगा । उदाहरण के लिये घट (घड़ा) और पट (कपड़ा) ये दो वस्तु हैं । घट भी वस्तु है और पट भी वस्तु है । किन्तु हम जब किसी से घट लाने को कहते हैं तो वह घट ही लाता है, पट नही लाता । पट लाने को कहते हैं तो वह पट ही लाता है, घट नहीं लाता । इससे सिद्ध होता है कि पट-पट ही है, घट नही है और घट घट ही है, पट नही है । न घट पट है, न पट घट है । किन्तु है दोनों । परन्तु दोनों का अस्तित्व अपनी-अपनी मर्यादा में ही सीमित है—उसके बाहर नही है । यदि वस्तुओं में वह मर्यादा न रहे तो घट पट की तो बात ही क्या, किन्तु सभी वस्तुएँ सब रूप हो जायेंगी । क्योंकि वस्तु का वस्तुपना दो बातों पर कायम है—एक स्व-रूप का ग्रहण, दूसरे पर-रूप का अपोहन (त्याग) । जैसे घट का घटत्व तभी तक कायम है जब तक वह अपने स्वरूप को अपनाये हुए है और अपने से भिन्न जो पट आदि अन्य वस्तुएँ हैं उनके स्वरूप को नही अपनाता । और यह तभी बन सकता है जब उस घट में उसके अतिरिक्त सब वस्तुओ का अभाव माना जाय, क्योंकि जिसका भी अभाव उसमें नहीं माना जायगा उसीका उसमें सद्भाव मानना होगा और ऐसा होने से वे वस्तुएँ एक हो जायेंगी । अतः प्रत्येक वस्तु स्व-रूप की अपेक्षा से ही सत् है और पर-रूप की अपेक्षा से ही अर्थात् (अन्य वस्तु के स्वरूप) की अपेक्षा से असत् है ।

जब हम किसी वस्तु को सत् कहते है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि उस वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से ही वह सत् है । अपने से अन्य वस्तुओं के स्वरूप की अपेक्षा से संसार की प्रत्येक वस्तु असत् है । देवदत्त का पुत्र संसार भर के मनुष्यो का पुत्र नही है और न देवदत्त संसार भर के पुत्रों का पिता है । क्या इससे यह नतीजा नही निकलता कि देवदत्त का पुत्र पुत्र है और नही भी है; इसी तरह देवदत्त का पिता पिता है भी और नहीं भी है ? सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नही है ।

अतः यह मानना पड़ता है कि वस्तु एक रूप नही है, वह सत् है तो असत् भी है; नित्य है तो अनित्य भी है । इसी का नाम अनेकान्त है । किन्तु इसका यह मतलब नही है कि जैन-दर्शन में वस्तु का कोई निश्चित स्वरूप नही है । ऊपर के स्पष्टीकरण से यह भ्रम दूर हो जाता है । व्यवहार में भी हम परस्पर-विरोधी दो धर्म एक ही वस्तु में पाते हैं । जैसे—भारत स्वदेश भी है और विदेश भी, देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी । इसमें कोई अनिश्चितता नही है । क्योंकि भारतीयों की दृष्टि से भारत स्वदेश है और विदेशियो की दृष्टि में विदेश है । यदि भारतीय भारत को स्वदेश ही समझते हैं तो वे केवल अपने दृष्टिकोण से ही भारत को देखते हैं और इसलिए उनका भारत दर्शन एकांगी है । वस्तु के पूर्ण दर्शन के लिए सब दृष्टिकोणों को दृष्टि में रखना आवश्यक है, उसके बिना पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं हो सकते ।

अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानने के दो साधन हैं—एक ज्ञान और दूसरा शब्द । ज्ञान से तो जानने वाला स्वयं ही जानता है और शब्द के द्वारा दूसरो को बतलाता है । किन्तु ज्ञान में और शब्द में एक बड़ा अन्तर है । ज्ञान अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक समय में जान सकता है किन्तु शब्द एक समय में वस्तु के किसी एक धर्म का ही आंशिक व्याख्यान कर सकता है । अतः

परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक-धर्मात्मक वस्तु के होने पर यह समस्या उत्पन्न हुई कि अनेकान्तवाद का प्रकाशन कैसे हो ? क्योंकि शब्द तो एक समय में वस्तु के एक ही धर्म को कह सकता है और उसके सुनने वाले को गलतफहमी हो सकती है । अतः यह आवश्यक समझा गया कि अनेकान्त का द्योतक अथवा सूचक 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्य के साथ व्यक्त या अव्यक्त रूप से सम्बद्ध रहे, क्योंकि उसके बिना अनेकान्त का प्रकाशन नही हो सकता । 'स्यात्' शब्द का अर्थ है कथचित् या किसी अपेक्षा से । जब हम कहते है वस्तु स्यात् नित्य है, तब उसका मतलब होता है कि वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु एक दृष्टि से नित्य है ।

जैन-दर्शन के मूल तत्त्व या द्रव्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि जैन-दर्शन यह स्वीकार नही करता कि सृष्टि किसी विशेष समय में उत्पन्न हुई है । एक ऐसा समय था, जब सृष्टि नही थी, सर्वत्र शून्य था, उस महाशून्य में केवल सृष्टिकर्त्ता अकेला विराजमान था और उसी शून्य से किसी समय उसने इस ब्रह्माण्ड को बनाया । इस प्रकार का मत दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त भ्रमपूर्ण है । असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती ।

३ द्रव्य के भेद—

जैन-धर्म ने इस विश्व के मूलभूत तत्त्वो को दो भागों में विभाजित किया है—एक जीव-तत्त्व और दूसरा अजीव या जड तत्त्व । अजीव तत्त्व के पाँच भेद है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इस तरह यह ससार इन छ· तत्त्वो से बना है । इन छहो को छ द्रव्य कहते है । इन छः द्रव्यों के सिवाय संसार में अन्य कुछ भी नही है—जो कुछ है उस सबका समावेश इन्ही छः द्रव्यों में हो जाता है—

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव अथवा आत्मा का स्वरूप इस तरह बतलाया है ।

अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंग ग्गहण जीव मणिद्दिट्ठ संठाणं ।।८०।।

जीव द्रव्य मे न रस है, न रूप है, न गंध है और न स्पर्श है, न शब्द-रूप ही है । इन्द्रियों के द्वारा इसे जाना नही जा सकता । यह सब आकारो से रहित है—इसका गुण चेतना है ।

आशय यह है कि आत्मा अमूर्त्तिक है और रस रूप गंध स्पर्श शब्द आकार ये सब मूर्त्तिक पुद्गल द्रव्य के गुण या अवस्थाएँ है । अतः आत्मा इन सब से रहित है । इसका गुण केवल चेतना अर्थात् जानना-देखना है । इसे इन्द्रियों के द्वारा नही जाना जा सकता, जो अनुभवी हैं वे ही अवाच्य शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव कर सकते है । यह केवल अनुभवगम्य है, इसे वचन के द्वारा कहा भी नहीं जा सकता ।

जो टूटे-फूटे बने-बिगड़े, वह सब पुद्गल द्रव्य है । मोटे तौर पर हम जो कुछ देखते हैं, छूते है, सूँघते हैं, खाते हैं, वह सब पुद्गल द्रव्य है । इसीसे पुद्गल का लक्षण रूप रस गंध और स्पर्श वाला बतलाया है । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों पुद्गल द्रव्य हैं ।

पुद्गल के दो भेद हे परमाणु और स्कन्ध । पुद्गल के सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं और परमाणुओं के मेल से बने पृथ्वी आदि को स्कन्ध कहते हे । मूल पुद्गल द्रव्य परमाणु है जो दूसरों के मेल के बिना स्वयं कायम रहता है; बाकी सब स्कन्ध हैं ।

धर्म और अधर्म द्रव्य से मतलब पुण्य और पाप नही लेना चाहिए—ये दोनो भी दो स्वतंत्र द्रव्य हैं जो जीव और पुद्गलो के चलने और ठहरने में सहायक हे । छः द्रव्यो में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो निष्क्रिय हे । इनमें हलन-चलन नही होता । शेष जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय हे । इन दोनो द्रव्यो को जो चलने में सहायक है वह धर्म द्रव्य है और जो ठहरने में सहायक है वह अधर्म द्रव्य है । यद्यपि चलने और ठहरने की शक्ति जीव और पुद्गल में है किन्तु धर्म और अधर्म की सहायता के बिना न कोई चल सकता है और न कोई ठहर सकता है । ये दो द्रव्य ऐसे हे जिन्हें जैन धर्म के सिवाय अन्य किसी धर्म ने नही माना । ये दोनो आकाश की तरह ही अमूर्तिक हे और समस्त लोक में व्याप्त हे ।

जो सभी द्रव्यो को स्थान देता है उसको आकाश कहते हे । यह द्रव्य अमूर्तिक है और सर्व-व्यापी है । इसे अन्य धर्म वालों ने भी माना है किन्तु जैनो की मान्यता में उनसे कुछ अन्तर है । जैन धर्म में आकाश के दो भेद माने है—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । सर्वव्यापी आकाश के मध्य में लोकाकाश है और उसके चारो ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है । लोकाकाश में छहो द्रव्य पाये जाते हे और अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है ।

४. सात-तत्त्व—

जो प्रत्येक वस्तु के परिवर्तन में सहायक है उसे काल द्रव्य कहते हे । यद्यपि परिणमन करने की शक्ति सभी पदार्थों में है किन्तु बाह्य निमित्त के बिना उस शक्ति की व्यक्ति नही होती । जैसे कुम्हार के चाक में घूमने की शक्ति मौजूद है किन्तु कीली की सहायता के बिना वह नहीं घूम सकता । सब वस्तुओं के परिवर्तन में सहायक काल द्रव्य है । इस प्रकार जैन धर्म में छ. द्रव्य माने गये हे ।

यद्यपि द्रव्य छः हैं किन्तु धर्म का सम्बन्ध केवल एक जीव द्रव्य से है क्योंकि उसीको दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराने के लिए ही धर्म की आवश्यकता है और दुखों का मूल कारण उसी के द्वारा बांधे गये कर्म है जो अजीव यानी जड़ हे ।

अतः जब धर्म का लक्ष्य जीव को सब दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना है और दुःखों का मूल कारण जीव के द्वारा बांधे गये कर्म हैं तो दुःखों से छूटने के लिए नीचे लिखी बातों की जानकारी होना जरूरी है—

(१) उस वस्तु का क्या स्वरूप है जिसको छुटकारा दिलाना है ?
(२) कर्म का क्या स्वरूप है ?
(३) वह जड़ कर्म जीव तक कैसे पहुँचता है ?
(४) और पहुँचकर कैसे जीव के साथ बँध जाता है ?

इन चारों बातों का ज्ञान होने से संसार के कारणों का पूरा ज्ञान हो जाता है। अब उनसे छुटकारा पाने के लिए तीन बातों को जानना जरूरी है—

(५) नवीन कर्म-बंध को रोकने का क्या उपाय है ?
(६) पुराने बँधे कर्मों को कैसे नष्ट किया जा सकता है ?
(७) इन उपायों से जो मुक्ति प्राप्त होगी वह क्या वस्तु है ?

इन सात बातों की ठीक-ठीक जानकारी होना प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है । इन्हीं को सात तत्त्व कहते हैं । तत्त्व यानी सारभूत पदार्थ ये ही हैं । जो इन्हें नहीं जानता, संभव है वह बहुत ज्ञानी हो; किन्तु वास्तव में उपयोगी तत्त्वों का ज्ञान उसे नहीं है ।

उक्त सात तत्त्वों का नाम है—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष । इनमें से जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। तीसरा तत्त्व आश्रव है जो जीव में कर्म-मल के आने को सूचित करता है । कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं । जीव और कर्म के परस्पर बँधने को बंध कहते हैं । आश्रव और बंध ये दोनों संसार के कारण हैं ।

पाँचवाँ तत्त्व संवर है । आश्रव के रोकने को संवर कहते हैं । अर्थात् नये कर्मों का जीव में न आना ही संवर है और पहले बँधे हुए कर्मों का धीरे-धीरे जीव से अलग होना निर्जरा है । संवर और निर्जरा ये दोनों मुक्ति के कारण हैं । समस्त कर्म बंधन से जीव के छूट जाने को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं । जो जीव सब बंधनों से छूट जाता है वही मुक्त जीव है ।

५. प्रत्येक आत्मा परमात्मा है—

जैनधर्म जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है जिन अर्थात् विजेताओं के द्वारा उपदिष्ट हुआ है । वे जिन अर्थात् तीर्थंकर मानव थे । उन्हें जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ था वह किसी ईश्वर की कृपा या ईश्वरीय पुस्तक द्वारा प्राप्त नहीं हुआ था, बल्कि उन्होंने उसे अपने पुरुषार्थ के द्वारा सब प्रकार की वासनाओं पर विजय प्राप्त करके अपने अनुभव के आधार पर अपने ही अन्तर आत्मा से प्राप्त किया था । क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर साधारण जीवन से उन्नति करते-करते ही तीर्थंकर बनता है । ये मानव तीर्थंकर ही जैनधर्म के ईश्वर हैं । वे मनुष्य रूप में ईश्वर नहीं हैं जैसा कि वैदिकधर्म में राम और कृष्ण को माना जाता है; बल्कि ईश्वर हुए मनुष्य हैं । जैनधर्म में उनका वही स्थान है जो अन्य धर्मों में ईश्वर का है ।

किन्तु वह जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, केवल आदर्श है । यहाँ यह बतला देना उचित और आवश्यक है कि जैनधर्म किसी अनादि सिद्ध ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता और न वह इस जगत् को किसी का बनाया हुआ ही मानता है । इस दृष्टि से वह निरीश्वरवादी है और यदि जगत्-कर्तृत्व का निषेध नास्तिकता है तो जैनधर्म को अवश्य नास्तिक कहा जा सकता है । किन्तु आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, परलोक आदि को मानने के कारण वास्तव में वह नास्तिक नहीं है ।

वह आत्मा को बौद्धों की तरह केवल संस्कारों का एक पिण्ड नहीं मानता, बल्कि एक स्वतन्त्र अखण्ड अविनाशी पदार्थ मानता है । उस आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि अनन्त गुण हैं । ये गुण सब आत्माओं में समान हैं इसलिए सब आत्माएँ समान है । किन्तु जैसे सोना खान से अशुद्ध ही निकलता है उसी प्रकार सब आत्मा भी अनादिकाल से कर्मों के बंधन में पड़कर अशुद्ध रहते है । और जैसे सोने को शुद्ध करने की प्रक्रिया के द्वारा सोने में से मैल दूर हो जाने पर सोना शुद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया के द्वारा बधन से छूटने पर प्रत्येक आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा बन सकती है ।

जैसे मल के दूर हो जाने पर सोने के स्वाभाविक गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं वैसे ही शुद्ध होने पर आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि गुण भी पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है । और, जैसे बिल्कुल शुद्ध होने पर सब स्वर्ण एक से ही रूप-रंग के हो जाते है वैसे ही शुद्ध होने पर सभी आत्माएँ समान होती हैं । शुद्ध होने पर उनके गुण धर्म में कोई अन्तर नही रहता । ससार अवस्था में जो प्रत्येक आत्मा के स्वाभाविक गुणो मे हीनाधिकता पाई जाती है वह अपने अपने कर्मबध के कारण पाई जाती है । कर्मबंध दूर हो जाने पर सब एक से ज्ञाता द्रष्टा हो जाते हैं और आत्मा से परमात्मा बन जाते है । ये परमात्मा ही जैनधर्म के आदर्श है। उनकी दो अवस्थाएँ होती है । पहली अवस्था को सकल परमात्मा या जीव-मुक्त कहते है । क्योकि उस अवस्था में यद्यपि आत्मा सशरीर होता है किन्तु राग-द्वेष और मोह की दुर्गम घाटी को पार कर चुकने के कारण यह पूर्ण ज्ञानी और वीतराग हो जाता है और इसलिए सकल परमात्मा हो जाने पर वह जनता को जनता की ही भाषा में अपने अनुभवों से अवगत कराता है । वह संसार के प्राणियों को उनके असली स्वरूप का भान कराता है और बतलाता है कि जिस मार्ग पर चलकर मैंने परमात्मपद प्राप्त किया है उस मार्ग पर चलने से प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है । इस उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी से प्रार्थना करने की या किसीके आगे गिड़गिड़ाने की जरूरत नही है किन्तु अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखकर खड़े होने की आवश्यकता है । अस्तु,

सकल परमात्मा इस प्रकार जगत् के प्राणियों को हित का उपदेश देने में ही अपना शेष जीवन बिताते हैं । उनकी उपदेश-सभा को समवशरण कहते हैं । क्योंकि उसमें पशु-पक्षियों तक के लिये आने की रुकावट नहीं होती—वे भी उनके उपदेश को सुनकर कल्याण कर सकते हैं ।

आयु के अंत में सर्वोत्कृष्ट ध्यान के द्वारा शेष बचे अघाति कर्मों को नष्ट करके तथा शारीरिक बंधन से भी मुक्त होकर सकल परमात्मा विकल परमात्मा बन जाते है और लोक के ऊपर सिद्धशिला पर विराजमान रहकर सदा आत्मसुख में मग्न रहते हैं । वे न किसी का भला करते है न बुरा; न निंदा सुनकर अप्रसन्न होते है न स्तुति सुनकर प्रसन्न ।

वेदान्त के सिवाय अन्य वैदिक दर्शन भी आत्मा की मुक्ति मानते हैं। किन्तु मुक्त हुए आत्माओं को वे ईश्वर के समान नहीं मानते । क्योंकि ईश्वर तो सबका कर्ताधर्त्ता है । उसकी इच्छा से कृपा से क्या

नहीं हो सकता ? उसके अनुग्रह से ही आत्मा की मुक्ति होती है । तब वह ईश्वर के समान कैसे हो सकती है ? किन्तु जैनधर्म के अनुसार परमात्मत्व ही सबसे ऊँचा पद है--वही आत्मा का सबसे ऊँचा लक्ष्य है । प्रत्येक आत्मा उस पद को अपने प्रयत्न से ही प्राप्त कर सकती है और इस तरह जो आज भिखारी है कल वही भगवान बन सकता है । इस तरह जैनधर्म मनुष्य को देव बनाकर उसे पूजक से पूज्य बनाता है । इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के स्थान में उसने निष्कलंक मनुष्य की प्रतिष्ठा की है और वही उसकी उपासना का अर्थ है ।

जैनधर्म में जो तीर्थंकरो की पूजा वंदना आदि की जाती है वह उन्हें रिझाने के लिए नही की जाती; किन्तु उनके पुण्य गुणो के स्मरण से मनुष्य का चित्त पापरूपी कालिमा के धुल जाने से पवित्र हो जाता है ।



जैन-दर्शन की विशेषताएँ

श्री रामदेव त्रिपाठी

जैन-धर्म की प्राचीनता—

बहुत दिनों तक विद्वानों में यह भ्रम फैला हुआ था कि जैनधर्म कोई स्वतन्त्र मार्ग नही, अपितु वह बौद्धधर्म की शाखामात्र है। बात यह है कि जैनधर्म की बहुत-सी बातें, जैसे ईश्वर और वेद के प्रति अनास्था, ससार को दु:खमय मानकर निवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन, अहिंसा पर अधिक जोर आदि, बौद्धधर्म से इतना अधिक मिलती है कि इतिहास से अपरिचित व्यक्ति सहज ही इस भुलावे में पड़ जाता है। किन्तु, आधुनिक अनुसन्धानो ने इस भ्रम को अब सर्वथा दूर कर दिया है। जैनों मे परम्परा से चौबीस तीर्थंकरो अर्थात् धर्म-प्रवर्तको की प्रसिद्धि चली आ रही है। इनमें से अन्तिम तीर्थ-कर भगवान् महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन होते हुए भी अवस्था में उनसे कही अधिक बड़े थे। इतना ही नही, इनके तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया" के अनुसार निर्विवाद एक ऐतिहासिक पुरुष थे। जैन जनश्रुति पार्श्वनाथ का समय महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले बताती है। ऐसी अवस्था में इसमें कोई सन्देह नही रह जाता कि जैनधर्म बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है और इसलिए उससे एक भिन्न सत्ता रखता है। बल्कि बौद्ध-साहित्य मे इस बात की भी चर्चा आयी है कि स्वयं गौतम अपने आरम्भिक तापस जीवन में जैन साधुओ के लिए बताये गये नियमो का अनुसरण करते थे। सच तो यह है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन ही नहीं, किन्तु वैदिक या हिन्दूधर्म के साथ ही साथ विकसित हुआ। ऋषभ और अरिष्टनेमि की चर्चा ऋग्वेद में स्पष्ट आयी है। इन दोनों की गणना चौबीस तीर्थंकरों में है और ऋषभ तो प्रथम तीर्थंकर है ही। ऋषभ की कथा विष्णुपुराण में भी आयी है। भागवत पुराण तो इन्हें नारायण का एक अवतार तक मान लेता है। ऋषभ की जीवनी, योग और तपस्या पर उनके अधिकार का जो वर्णन इन दोनो पुराणों में आता है, हम देखते है कि जैन-साहित्य में भी वैसा ही वर्णन दिया गया है। वेद का कोई भी विद्वान् आसानी से यह समझ सकता है कि वैदिक साहित्य के आरम्भ से अन्त तक; सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सभी शाखाओ में दो विचारधाराएँ समानान्तर रूप से चली आती है। इनमें से कभी एक प्रबल हो गयी है, कभी दूसरी। एक यज्ञ में पशुओ के बलिदान को अनिवार्य धर्म बतलाती है तो दूसरी इसे घोर पाप कहकर निन्दनीय ठहराती है। यह अहिंसा ही जैनधर्म की आधारशिला है। अत: प्रत्यक्ष है कि आरम्भ से ही प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मणधर्म के पशु-बलि वाले सिद्धान्त और अहिंसाधर्म, जिसे हम जैनधर्म का पर्याय कह सकते हैं, में परस्पर संघर्ष चला आ रहा है।

वैदिक-साहित्य और जैन-धर्म—

आश्चर्य तो तब होता है जब हम वेद में ही इन दोनों मार्गों का उपदेश पाते है। एक ओर "सर्व मेधे सर्वं हन्यात्" कहकर हमें पशुबलि की छूट मिल रही है तो दूसरी ओर "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" की आज्ञा देकर हमें भूतमात्र की हिंसा से विरत किया जा रहा है। कर्मकाण्डी मीमासक इस विरोध का समाधान यह भले ही दे लें कि यज्ञ के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्य के लिए प्राणि-हिंसा वर्जित है, यज्ञ के लिए नही; पर निष्पक्ष अनुसन्धानार्थी को यह उत्तर सन्तुष्ट न कर सकेगा। बात यही तक समाप्त नही होती है। विश्वामित्र और वशिष्ठ की प्रतिद्वन्द्विता तथा शुनः शेप की कथा जो ऋग्वेद में पायी जाती है, वह भी इसी ओर सकेत कर रही है। ब्राह्मण लोग पशुबलि के समर्थक थे और क्षत्रिय लोग अहिंसा धर्म के। वशिष्ठ और विश्वामित्र का संघर्ष इन्ही दोनो पक्षों के सघर्ष का चित्र उपस्थित करता है। संहिताकाल से ब्राह्मणकाल में आते-आते यह संघर्ष और भी प्रबल हो जाता है। भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि कुरु-पञ्चाल देश में ब्राह्मणों की चलती थी और कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म का आदर था, तथा पूर्वीय प्रदेशो में क्षत्रियों के नेतृत्व में पशुबलि का घोर विरोध किया जा रहा था। पूर्व और पश्चिम के आर्यों में यह मतभेद क्योकर हुआ यह भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इतिहासज्ञों का कहना है कि भारतवर्ष में आर्यलोग एक बार ही एक ही टुकड़ी में नही आये, अपितु वे दो टुकडियो मे बँटकर दो काल में यहाँ आये। पूर्वागत आर्यों की सस्कृति और रहन-सहन मे भारत की प्राचीन जातियो के सम्पर्क आदि से बहुत परिवर्तन हो गया था; अतः पीछे से आये आर्यलोगो के आचार-विचार से उनका आचार-विचार दूर जा पड़ा था। परिणामतः इन दोनो वर्गों में आपस मे नही पटा और परागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को सुदूर-पूर्व और दक्षिण मे खदेड दिया। यही कारण है कि मनुस्मृति धर्मग्रन्थ, जिसे परागत आर्यों के नेता ब्राह्मणों ने बनाया है, एक स्वर से यह घोषित करते है कि विन्ध्याचल के दक्खिन और प्रयाग के पूर्व म्लेच्छ देश है, आर्यों का वास तो केवल सरस्वती नदी से पूर्व, प्रयाग से पश्चिम और विन्ध्यपर्वत से दक्षिण में है। यह सीमा मोटे तौर पर कुरु-पञ्चाल देश की ही बतायी है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पूर्व के देशों से कोशल, काशी, विदेह, और मगध का ग्रहण होता है। गगा की घाटी के इस उपजाऊ भाग में सहज ही परागत आर्य बढ़ना चाहते थे; किन्तु उनके नेता ब्राह्मण लोग उन्हें इन म्लेच्छ देशो में जाने से रोकते थे। शतपथब्राह्मण मे कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध की तरफ नही जाने का उपदेश दिया गया और कारण ये बताये गये है—

(१) पूर्व के आर्यों मे अब पहली पवित्रता नही रह गयी है। उन्होने वेद मे बताये गये यज्ञ आदि धर्मों को छोड दिया है। इतना ही नही, उनमें एक नये धर्म का भी प्रचार हो रहा है, जिसके अनुसार यज्ञ आदि कर्मकाण्ड और पशुबलि से दूर रहना ही सच्चा धर्म बताया जाता है। इसलिए कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणों को वहाँ नही जाना चाहिये, अन्यथा वहाँ उनकी धार्मिक कट्टरता में शिथिलता आ जायगी और इस भाँति उनके सिद्धान्त के अपमान के द्वारा परम्परा या उनका भी अपमान होगा।

(२) पूर्वीय देशों का सामाजिक संघटन भी कुरु-पञ्चाल में प्रचलित सामाजिक संघटन से बिल्कुल भिन्न है। कुरु-पञ्चाल में समाज मे सर्वोपरि स्थान ब्राह्मण को दिया गया है और क्षत्रिय, वैश्य तथा

शूद्र तीनों इसके नीचे माने गये हैं; परन्तु पूर्व में क्षत्रिय लोग ही सर्वोच्च स्थान पाते हैं और ब्राह्मणों को उनसे निकृष्ट समझा जाता है। इस कारण से भी कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणों को वहाँ जाकर अपनी शान में बट्टा नही लगाना चाहिये।

(३) पूर्व-पश्चिम के आर्यों में इस गहरे मतभेद का एक तीसरा कारण भी वाजसनेयि संहिता में पाया जाता है। पूर्व के आर्यों ने वैदिक यज्ञमार्ग का परित्याग किया था, समाज में पुरोहित या ब्राह्मण-वर्ग की सर्वश्रेष्ठता मानने से इनकार किया था; इतना ही भर नहीं, उनकी भाषा भी विकृत हो गयी थी। पूर्वीय आर्य शुद्ध संस्कृत नही बोल सकते थे। सस्कृत की अपनी खास ध्वनियों का उच्चारण इन लोगों को नही आता था; पर कुरु-पञ्चाल के वासी इनका सही-सही उच्चारण बड़ी सफाई से करते आ रहे थे। संस्कृत की ध्वनियाँ और शब्द इन पूर्वियों के मुँह में पड़कर अत्यन्त भ्रष्ट हो जाते थे, जिन्हें पश्चिमीय लोग बडी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उदाहरणार्थ पूर्वीय आर्य संस्कृत के 'र' के स्थान पर बराबर 'ल' बोला करते थे, जैसे, राजा का उच्चारण ये लाजा करते थे। इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि पूर्वीय देशों में संस्कृत के बदले एक ऐसी भाषा प्रचलित हो गयी थी, जिससे आगे चल कर पाली और प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ। इनमें पाली को बौद्धो ने अपनी धार्मिक भाषा बनाया और प्राकृत में जैनों के धर्मग्रन्थ लिखे गये। इन भाषाओं को पश्चिमीय आर्य अपभ्रंश कहते तथा इन्हें बोलने वालों को म्लेच्छ नाम देते थे। कुरु-पञ्चाल के शुद्ध संस्कृत-भाषी आर्यों के लिए इस अपभ्रंश भाषा और उनके बोलने वालों के प्रति अनादर बुद्धि स्वाभाविक थी। पतञ्जलि ने अपने महा-भाष्य व्याकरण पढने का एक यह भी कारण बताया है कि हम शुद्ध सस्कृत जानकर म्लेच्छ भाषा के प्रयोग को छोड़ें और इस भाँति म्लेच्छ होने से बचें (तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा माभूमेत्यध्ययेयं व्याकरणम्")।

उपनिषद् और जैन-धर्म

अब हम संहिताकाल और ब्राह्मणकाल से आगे बढ़कर उपनिषद् काल में पहुँचते हैं, तो देखते हैं कि धर्म की इन दो व्याख्याओ में महान् अन्तर पड जाता है। उपनिषदो का विकास पूर्वी आर्यों में हुआ, जिनके नेता क्षत्रिय थे, अत. इनमें कर्मकाण्ड और प्रवृत्तिमार्ग को नीचा दिखाकर ज्ञानकाण्ड और निवृत्तिमार्ग की महिमा गायी गयी है। उपनिषद् का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविद्या और तपश्चरण के द्वारा आत्मशुद्धि ही सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ धर्म ठहरायी जाती है और प्राचीन सिद्धान्त यज्ञ, पशुबलि आदि को सदा के लिए निकृष्ट स्थान मिल जाता है। फल यह होता है कि इस काल में आर्य संस्कृति का केन्द्र पश्चिम न होकर पूर्व और ब्राह्मणों की कुटी न होकर राजाओ के प्रासाद हो जाते हैं। कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण भी इस समय उपनिषद् के नवीन सिद्धान्त आत्मविद्या की दीक्षा लेने के लिए बड़े कुतूहल से पूर्व के राजाओं के पास दौड़ पडते है। थोड़े ही दिनो में जिसे वे कुधर्म कहकर पुकारते थे, उसे ही ग्रहण करने वे बिना किसी हिचकिचाहट के स्वयं जाने लगते हैं। अपने को पवित्र समझने वाले कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण जिस याज्ञवल्क्य को केवल पूर्वीय ब्राह्मण होने के कारण घृणा की दृष्टि से देखते आ रहे थे, उसे ही इस काल का सर्वश्रेष्ठ पुरुष समझा जाता है। ये याज्ञवल्क्य और इनके आश्रयदाता

वक अपनी विद्वत्ता और प्रभाव से उपनिषद् की आत्मविद्या का प्रबल समर्थन कर पुराने कर्मकाण्ड और पशुबलि-प्रधान धर्म को अमान्य हराते है।

इस तरह आत्मविद्या का यह सिद्धान्त ही, जो पशुबलि के विरोध और अहिंसावाद के झण्डे को लेकर आगे बढ़ा, जैनधर्म से अनुप्राणित है। जैनधर्म के प्रवर्तक इस युग के सभी तीर्थंकर—ऋषभ से लेकर महावीर तक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए, एक भी ब्राह्मण वश में उत्पन्न नही हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकर महावीर की जीवनी के सम्बन्ध में एक बडी विचित्र घटना कही जाती है। पहले महावीर एक ब्राह्मणी के गर्भ में ही आये थे, किन्तु इन्द्र ने जिनके जिम्मे भावी तीर्थंकरों का सारा प्रबन्ध था, सोचा कि जैनधर्म के तीर्थंकर के लिए ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा होना अप्रतिष्ठा की बात होगी। अतः उन्होंने बदल कर महावीर को एक क्षत्राणी के गर्भ में रख दिया। इस आख्यान में चाहे जितना भी सत्याश हो, पर इतना सुनिश्चित है कि तीर्थंकरों को क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होना ही अभीष्ट है, अन्य कुलो में नहीं।

अत उपर्युक्त निष्कर्षों से यह सुविदित है कि अहिंसावादी जैनधर्म भी उतना ही पुराना है, जितना स्वय वेद। हाल की हरप्पा और महेन्जोदाडो की खुदाई ने तो और भी अधिक आश्चर्यजनक प्रमाण सामने ला दिये है। इन जगहो से निकली मोहरो और सिक्कों पर अकित चित्र जैन तीर्थंकरों की आकृति से मिलते हैं। इनका यदि सम्यक् अध्ययन हो तो प्राचीन भारत के धार्मिक और सामाजिक संघटन पर पूरा प्रकाश पड सकेगा। जैन-परम्परा तो यहाँ तक कहती है कि वेद भी पहले अहिंसा धर्म के ही पोषक थे। राजा वसु के समय में आकर दो आचार्यों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता की वजह से ही उन्हें यज्ञपरक बनना पडा। जैनों का कहना है कि जो लोग मास खाना चाहते थे उन्होंने वेद की गलत व्याख्या कर पशुबलि को धर्म का एक अनिवार्य अग बना दिया, इसलिए अहिंसा धर्म के अनुयायी जैनों को वेद पर अविश्वास कर अपने आगमो पर ही निर्भर रहने की नौबत आयी। यह जानकर और भी कुतूहल होता है कि लगभग यही कहानी महाभारत में भी मिलती है। उसमें भी राजा वसु को ही वेदो की भ्रान्त व्याख्या कर पशुबलि को वेदविहित घोषित करने का दोषी बताया गया है। दोनों पक्षो के साहित्य में समान रूप से इस घटना का उल्लेख अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण बात है। कम से कम यह अनुमान तो हम कर ही सकते है कि वेदों मे पहले कुछ ऐसे भी अंश थे, जो अहिंसा का ज़ोरदार समर्थन करते थे, भले ही वे आज प्राप्य नही हैं, अन्यथा जैनो के इस विश्वास का क्या आधार होगा कि पहले वेद भी अहिंसाधर्म के ही पोषक थे? जिस प्रकार हिन्दू यह मानते हैं कि उनका वेद नित्य है, सृष्टि के आदि में सर्वज्ञ ऋषि मुनि आकर केवल ससार के उपकार के लिए उसको फिर से प्रकाश में ला देते है, ठीक उसी भाँति जैनो का कहना है कि उनका अहिंसाधर्म नित्य है; जब-जब लोग उसे भूलने पर आते है तो दयालु तीर्थंकरगण उत्पन्न होते हैं और फिर से उसकी याद दिला देते हैं।

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन का स्थान—

भारतीय विद्वान् दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों को दो विभागों में बाँटते हैं—वैदिक और अवैदिक। जो दर्शन वेदों के प्रामाण्य को निर्विरोध स्वीकार करता है, उसे वैदिक कहते है और जो

उन पर विश्वास नहीं करता है उसे अवैदिक । इन्ही दोनी विभागों का नाम क्रमशः आस्तिक और नास्तिक भी है जो अधिक प्रसिद्ध है । आस्तिक दर्शनो में सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिक और मीमासा-वेदान्त की गणना होती है तथा नास्तिक दर्शनो में जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और चार्वाक-दर्शन के नाम आते हैं । किन्तु यह आस्तिक और नास्तिक का विभाग कोई महत्त्व नही रखता है । अभी हम ऊपर देख आये हैं कि जैनों को किस कारण वेद और वैदिक क्रियाकाण्ड पर से अपनी आस्था हटानी पडी । अहिंसाधर्म और वैदिक कर्मकाण्ड मे परस्पर ऐसा विरोध है कि एक को मानने वाला दूसरे को मान ही नही सकता । इसलिए यह एक सीधी बात है कि जैनदर्शन वेद की सीमा से बाहर चला आया है । लेकिन इसी कारण इसे नास्तिक दर्शन कहना भ्रमजनक है, विशेषत अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'एथीस्टिक स्कूल' तो और भी भ्रान्त है । 'एथीस्ट' उसे कहते है जो सृष्टि का आरम्भ किसी पुरुष-विशेष से नही मानता, यही 'एथीस्ट' का शब्दार्थ है । और यह सिद्धान्त साख्य दर्शन का भी है । सांख्य भी इस सृष्टि की रचना किसी व्यक्ति-विशेष स्रष्टा के हाथ से नही मानता । अत इस अर्थ में साख्य-दर्शन भी जैनदर्शन की पक्ति में आ जाता है और उसे भी नास्तिक दर्शन कह सकते हैं ।

पतञ्जलि का योगदर्शन भी, जिसे कपिल के निरीश्वर साख्य की तुलना में सेश्वर साख्य भी कहा जाता है इसी तरह सृष्टिवाद का विरोध करता है । योगदर्शन का ईश्वर केवल योगमार्गियो का आदर्शमात्र है । वही इस पूर्णता का प्रतीक है, जहाँ तक मनुष्य को पहुँचना है । अधिक से अधिक वह मुमुक्षुओं के मार्ग से विघ्नो को हटा सकता है, सृष्टि से तो उसे कोई सम्बन्ध नही । योग के उदासीन ईश्वर और यहूदियो के सृष्टिकर्त्ता जेहोवा मे आकाश और पाताल का अन्तर है । न्याय-वैशेषिक दर्शनो में यद्यपि ईश्वर को सृष्टि और सहार का कर्त्ता माना गया है, पर इनकी 'सृष्टि' और अंग्रेजी का 'क्रियेशन' एक ही वस्तु नही है । न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है कि जीवन और भूतचतुष्टय के परमाणु सभी वैसे ही नित्य हैं, जैसे आकाश आदि । अत. परमात्मा अपनी तरफ से एक भी परमाणु न तो पैदा करता है और न नष्ट करता है । वह केवल इनके सयोग-वियोग का दिशा-निर्धारण करता है, अन्यथा विश्व का कण-कण सदा से रहता आया है और सदा रहा करेगा । इस तरह न्याय-वैशेषिक की सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता की कल्पना अंग्रेजी 'क्रियेशन' और 'क्रियेटर' से बिल्कुल भिन्न पदार्थ है । पूर्व मीमासा तो सृष्टिकर्त्ता का नाम भी नही लेती । सृष्टिवाद के विरोध में वह निरीश्वर साख्य के समकक्ष ही हो जाती है । जैसे साख्य सृष्टि का मूलकारण अचेतन प्रकृति को बतलाता है, वैसे ही पूर्वमीमांसा भी सृष्टि के विकास का आदि कारण अचेतन कर्म को ही मानती है, उसकी दृष्टि में कर्म से बढ़कर कोई पदार्थ ही नही । और नास्तिक दर्शनो का मूर्धन्य उत्तरमीमासा या वेदान्त तो सृष्टि के सिद्धान्त को और भी नही मानता । उसके अनुसार यह सारा स्थूल ससार एकमात्र परब्रह्म का प्रपंच है अर्थात् इस विश्व की सृष्टि नही होती, केवल विवर्त या विकास होता है । इस भाँति इन दर्शनों से तुलना करने पर जैनदर्शन में इनसे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता । सृष्टिवाद के विरुद्ध होते हुए भी जैनदर्शन योग की तरह एक सर्वज्ञ परमात्मा की कल्पना करता है, जिसे वह मानव जीवन का आदर्श मानता है । पूर्वमीमांसा की तरह यह भी कर्म को ही ससार का हेतु स्वीकार करता है । प्रत्येक जीव को उसके वास्तविक रूप में परमात्मा समझने में वह वेदान्त दर्शन की तुलना में चला

आता है। इस तरह आस्तिक-नास्तिक का विभाग संकीर्ण हो जाता है। जैसा कि हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय' के व्याख्याता गुणरत्न का कहना है हम आस्तिक शब्द का अभिप्राय अधिक से अधिक वह ले सकते है कि आत्मा सच है, यह ससार सच है, इस संसार से मोक्ष भी सच है और मोक्ष का मार्ग भी सच है। जो दर्शन इन बातो पर विश्वास करता है उसे आस्तिक कहना चाहिये और शेष को नास्तिक। इस परिभाषा के अनुसार जैनदर्शन भी आस्तिक दर्शनों में आ जाता है। नास्तिक दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन और सभवतः अनात्मवादी बौद्धदर्शन रह जाते हैं। यदि आस्तिक का अर्थ जन्मान्तरवादी किया जाय तब तो बौद्धदर्शन भी आस्तिक दर्शन में ही अन्तर्भूत हो जायगा, केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन कहला सकेगा। इस तरह आस्तिक-नास्तिक की चाहे जो भी व्याख्या हो, पर साख्य, मीमांसा आदि दर्शनो से अलग कर जैनदर्शन को नास्तिक दर्शनो की श्रेणी में नहीं बिठाया जा सकता। हाँ, इसे अवैदिक दर्शन तो अवश्य कहा जा सकता है; क्योंकि जैनों के अहिंसाधर्म और वैदिक कर्मकाण्ड की पशुबलि को परस्पर विरुद्ध मानना स्वाभाविक हो जाता है।

जैनों के उपास्य—

इस तरह जैनदर्शन यद्यपि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नही मानता, पर परमात्मा के समकक्ष एक ऐसे आदर्श पुरुष को स्वीकार करता है, जो कर्म के सारे बन्धनो से मुक्त और अनन्त पवित्रता, अनन्त-ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदि गुणो से युक्त रहता है। अनन्त गुणों का भण्डार यह पुरुष राग-द्वेषादि की विजय करने के कारण जिन कहलाता है और उसको आदर्श मानने वाला धर्म जैनधर्म के नाम से पुकारा जाता है। साराश यह है कि मनुष्य का आदर्श मनुष्य-भिन्न कोई शक्ति नहीं, अपितु एक आदर्श मनुष्य ही है जो हर तरह की पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है। इस दुःखमय संसार से छुटकारा चाहने वालों को उसीको आदर्श मानकर उसीके मार्ग पर चलना चाहिए। इसे जैनागम में सिद्ध परमेष्ठी कहा गया है, इसके नीचे चार और परमेष्ठी हे। इनमें दूसरे अर्हत् परमेष्ठी हैं जो स्वयं जीवन्मुक्त रहते हुए तीर्थंकर नाम कर्म के कारण संसारी प्राणियो को कर्त्तव्य मार्ग का उपदेश देते हैं। इन्हें जैनलोग अवतारो या पैगम्बरो के नाम मानते हे। इसके बाद आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी का स्थान आता है। जैन सम्प्रदाय मे साधक अपनी साधना की विभिन्न दशाओं में इन्ही पाँचो को आदर्श मानकर आगे बढ़ता है।

जैन-श्रुतियां—आगम—

जैन सम्प्रदाय में भी अपने आगम ग्रन्थों को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु यथार्थ ज्ञान के अन्य साधनों से विरोध पडने पर वह किसी भी उक्ति को आदरणीय नहीं समझता। उसके धर्मग्रन्थ भी सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतरागी से प्रकाशित हुए हे। उनका उद्देश्य भी स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति करना ही है, अतः उनमें भी पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। उनका विषय भी सत्यासत्य का विवेक ही है। सर्वज्ञ से प्रकाशित होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। इनके आचार्य को गणधर कहते हे जो महावीर के प्रधान शिष्य सुधर्मा इस युग के अन्तिम गण-धर हुए हे। इन आगमों को अग, पूर्व, प्रकीर्ण इन तीन विभागों में बाँटा जाता है। इनमें प्रथम विभाग

अर्थात् अंग के १२ , पूर्व के १४ तथा प्रकीर्ण के १६ उप-विभाग हैं। विभाग की एक दूसरी पद्धति भी है, जिसके अनुसार इन्हें चार शाखाओं में रखते हैं; वे ये हैं—

(१) प्रथमानुयोग—इसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि ६३ शलाका-पुरुषों की जीवनियाँ हैं।

(२) चरणानुयोग—इसमें गृहवासी और त्यागियो के कर्त्तव्यों का निर्देश है, जिन्हें क्रम से अणुव्रत और महाव्रत कहते हैं।

(३) करणानुयोग—इसमें विश्व एव विश्व के उपादानों का वर्णन है।

(४) द्रव्यानुयोग—इसमें अध्यात्मविद्या और मूलतत्त्वों का विवेचन है (पदार्थविद्या)।

जैन-दर्शन की समन्वयात्मकता—

जैन-दर्शन की सबसे बडी विशेषता है उसकी सहिष्णुता और समन्वयप्रियता। जहाँ अन्य दर्शन एक दूसरे के सिद्धान्त के खण्डन मे ही अपनी अधिक शक्ति लगा देते हैं, वहाँ जैन-दर्शन सभी दर्शनों की उक्ति में कुछ न कुछ सचाई पाता है। सचाई से उसे इतना प्रेम है कि वह धूलिकण में से भी छानकर सचाई निकालने मे नही हिचकिचाता। विपक्ष के प्रति विरोध भावना उसमें नही है। किसी भी सिद्धान्त को वह सिर्फ इसलिए अमान्य नही ठहरा सकता कि कोई विपक्षी दर्शन उसे अपना सिद्धान्त समझता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने प्रतिपाद्य विषय को भिन्न-भिन्न आचार्यों के अनुभवों से सहायता लेकर सर्वांगीण बना देता है। इसलिए और दर्शनो का दृष्टिकोण एकांगी मिलता है, पर जैन-दर्शन की दृष्टि सम हावलम्बनात्मक और समन्वयात्मक बनी रहती है। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि भागवत आदि मार्ग एकमात्र भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं, पूर्वमीमांसा आदि केवल कर्म को ही मुक्ति के लिए पर्याप्त बताती है, वेदान्त आदि तत्त्वज्ञान मात्र से परमपुरुषार्थ की सिद्धि को स्वीकार करते हैं, पर जैन-दर्शन मोक्ष के लिए सम्यक् विश्वास, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, जो क्रमशः भक्ति, ज्ञान और कर्म के प्रतिनिधि हैं, तीनो को अनिवार्य कहता है। उसके अनुसार जिस प्रकार रोगी को चिकित्सक की कुशलता, औषध की उत्तमता पर विश्वास, दवा के सेवन की विधि का ज्ञान और उसका नियमित सेवन, ये तीनो मिलकर ही रोगमुक्त कर सकते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु को गुरु के वचनो और श्रुतियो पर विश्वास, उनके प्रतिपाद्य विषयो का ज्ञान और तदनुसार आचरण य तीनों मिलकर ही संसार से मुक्त कर सकते हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म का ऐसा समन्वय हमें गीता को छोड़ और कहीं नहीं मिलता। इन तीनो को जैन-दर्शन 'तीन रत्न' कहकर पुकारता है।

जैन-प्रमाण-विज्ञान—

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वभाव ही है सर्वज्ञता। केवल कर्म का पर्दा पड़ जाने से आत्मा अल्पज्ञ बनी हुई है। जैसे-जैसे यह कर्म का आवरण हटता जाता है, मानव की ज्ञानसीमा बढ़ती

जाती है और अन्त में वह सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञान दुनिया की वस्तुओं को दिखला भर देता है, नयी कल्पनाएँ नहीं करता। दुनिया स्वय सच है। वेदान्तियो का उसे माया समझना और बौद्धो का विज्ञान-स्वरूप या शून्य समझना भ्रान्तिपूर्ण है। जिस तरह प्रकाश से अतिरिक्त प्रकाश्य वस्तुओं की सत्ता है, वैसे ही ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय वस्तुओं की सत्ता है। यह ज्ञान पाँच तरह का होता है—मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्याय और केवल ज्ञान। जिसे और दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान कहते हैं, वह मति के अन्तर्गत है। श्रुति का अर्थ है शब्दज्ञान, अर्थात् किसीसे सुनकर जानना। अपने से भिन्न देश और काल की वस्तु को जानना अवधिज्ञान है। दूसरे के मन की बात को समझना मन:पर्याय है। ज्ञान की वह विशुद्धावस्था, जिस पर किसी तरह का आवरण नही रहता, जो पूर्णता को प्राप्त है, केवलज्ञान कहलाती है। इनमें मति और श्रुति को परोक्ष कहा जाता है और शेष को प्रत्यक्ष। यह प्राय. उल्टा मालूम होगा, पर बात यह है कि जैन-दार्शनिक प्रत्यक्ष उसे कहते है, जिसे आत्मा बिना किसी साधन के साक्षात् जान सके। अत जिस ज्ञान मे इन्द्रिय आदि अवान्तर साधनो की आवश्यकता बनी रहती है उसे वे परोक्ष (अक्षण परम्) कहते है। अत. दर्शनकारों का जो यौगिक अथवा आर्षज्ञान है, उसे ही ये प्रत्यक्ष कहते है, शेष प्रत्यक्ष—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को ये परोक्ष कहते है।

जैन-दर्शन की सबसे बडी देन, उसकी अपनी मौलिक चिन्तना का फल है, जिसे स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहा जाता है। अनेकान्तवाद का यह कहना है कि हम किसी भी वस्तु के किसी भी अंश को केवल एक ही विध्यात्मक (Positive) रूप से नही कह सकते, बल्कि उसका एक निषेधात्मक (Negative) रूप भी है। जैसे केवल 'घडा है' हमारा यह कहना कोई अर्थ नही रखता, क्योंकि मिट्टी का घडा है, पर सोने या चाँदी का नही; पीला घडा है, पर लाल, काला नही। यहाँ घडा है, पर वहाँ घडा नही, इस समय घडा है, पर पहले-पीछे नही। इस तरह घडे की स्थिति हजारो उपाधियो से सीमित है। मतलब यह है कि कोई भी वस्तु स्व-द्रव्य, स्व-भाव (आकार), स्व-क्षेत्र (देश) और स्व-काल में है, पर परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र और परकाल मे नही है। इस प्रकार किसी वस्तु के विषय मे हम है और नही है, दोनो कह सकते है। विध्यात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) दोनो तरह का वर्णन ही किसी पदार्थ का पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित कर सकता है। एकागी वर्णन से हम वस्तु का सिर्फ एक प्रकार (Aspect) ही जान सकेंगे। किन्तु एक ही वस्तु के विषय में 'है' और 'नहीं है' दोनों परस्पर-विरोधी बातें हो जाती है, जो हमारी समझ के बाहर हैं। अत इस दृष्टि से युगपत् निरूपण करने में असमर्थता होने के कारण सभी पदार्थ अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी हो जाते हैं। इस तरह किसी भी वस्तु की सत्ता को हम सात प्रकार से प्रकट कर सकते है।

(१) स्यात् घट: अस्ति।
(२) स्यात घट: नास्ति।
(३) स्यात् घट: अस्ति च नास्ति च।
(४) स्यात् घट: अवक्तव्य:।
(५) स्यात् घट: अस्ति च अवक्तव्यश्च।

(६) स्यात् घट: नास्ति च अवक्तव्यश्च ।
(७) स्यात् घट: अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यश्च ।

इसे ही सप्तभंगी नय कहते है; क्योंकि सात ही प्रकार है जिनसे हम किसी भी वस्तु की स्थिति को बता सकते हैं, इनसे कम या अधिक हम नही कर सकते । स्यात् यहाँ सन्देह-सूचक नही; किन्तु कथञ्चित् किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण का सूचक है । इस प्रक्रिया में स्यात् शब्द लगा है, इसलिए इसे स्याद्वाद कहते है और नानात्मक होने से अनेकान्तवाद । संक्षेप में हम यह कह सकते है कि हमारी सत्ता उपाधिग्रस्त है । बिना किसी उपाधि का नाम लिये हम किसी सत्ता का वर्णन नही कर सकते । ये उपाधियाँ नाना है, अत: प्रत्येक सत्ता में एक तरफ से एकत्व और दूसरी तरफ से नानात्व जुड़ा हुआ है । घट घट से तो अभिन्न है, पर पट, मठ आदि अगणित वस्तुओं से वह भिन्न है और इस अभेद और भेद दोनो के प्रतियोगियों के पूर्ण ज्ञान से ही घट का पूर्ण ज्ञान हो सकता है । इसलिए जैन-दर्शन का कहना है कि एक वस्तु के ज्ञान के लिए सभी वस्तुओं का ज्ञान अपेक्षित है । उसका सिद्धान्त है कि—

एको भाव: सर्वथा येन दृष्ट: सर्वे भावा: सर्वथा तेन दृष्टा: ।
सर्वे भावा: सर्वथा येन दृष्टा: एको भाव: सर्वथा तेन दृष्ट: ।।

यदि हम थोडी सूक्ष्मता से सोचे तो सहज ही हमारी समझ में यह बात आ जायगी कि दुनिया की सारी चीजें परस्पर इस तरह सम्बद्ध है कि एक का सम्यग्ज्ञान तभी संभव है जब हम सभी को सम्यक् जान लें । इस श्लोक का भाव यह है कि एक के ज्ञान के लिए सबका ज्ञान अपेक्षित है और सबके ज्ञान से ही एक का ज्ञान संभव है । पतञ्जलि ने भी संभवत: वस्तुओं की परस्पर-संबद्धता (**Relativity**) को सोचकर ही "एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" कहा था । बात यह है कि एक शब्द का सम्यग्ज्ञान और प्रयोग तभी संभव है जब हमें और शब्दो का भी सम्यक् ज्ञान और प्रयोग मालूम हो जाय । अत: अन्य दर्शनो के एकान्तवाद की तुलना में जैन-दर्शन का यह अनेकान्तवाद अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान है । बे-समझी या ईर्ष्या से केवल हँस कर इसकी खिल्ली उडाना उचित नही । वास्तव में 'अनेकान्तात्मक वस्तु' अर्थात् दुनिया का प्रत्येक पदार्थ नानारूपधारी है, दृष्टियों के भेद से वह असंख्य स्वरूपों में हमारे सामने आता है, इस सिद्धान्त की सचाई का अनुभव हम अपने नित-प्रति के व्यवहार में करते है ।

जैन-पदार्थ-विज्ञान—

जैनो के समन्वयात्मक दृष्टिकोण और अनेकान्तवादी प्रमाण-विज्ञान के अनुरूप ही उनका पदार्थ-विज्ञान भी है । एक ओर वैदिक दर्शन 'त्रिकालाबाधित सत्यम्' की घोषणा करते है तो दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन 'यत् क्षणिकं तत् सत्' कहकर उसका तीव्र प्रतिवाद करता है । हम देखते है कि दोनो दो छोर पर खड़े होकर ताल ठोकते है । एक कहता है कि जो सदा एकरस बना रहे वह सच है ('नाभावो विद्यते सत:' कह कर गीता भी इसीका समर्थन करती है) तो दूसरा कहता है कि जो क्षण-क्षण बदले वह सच है । अजीब तमाशा है । जैन-दर्शन एक रागद्वेष-हीन निर्णायक की भाँति आकर यह समझौता

उपस्थित करता है कि "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् सत् न तो एकान्त ध्रुव अर्थात् स्थायी होता है और न एकान्त क्षणिक। जो उत्पत्ति और विनाश से गुजरता हुआ भी स्थिर बना रहे, उसे ही सत् कहते हैं। जैनों की यह तत्त्व-परिभाषा भी एक अद्भुत वस्तु है, इसका जोड़ हमें हीगल की तत्त्वपरिभाषा में ही मिलता है। उसका भी कहना है कि सिन्थेसिस से ग्रथित और समन्वित थीसिस और एन्टीथीसिस् ही वस्तुओं का सच्चा स्वरूप है। इस तरह तत्त्वों की द्वन्द्वात्मकता का साक्षात्कार जैनों ने हीगल के दो-ढाई हजार वर्ष पहले कर लिया था।

इसी तरह द्रव्य की परिभाषा करते हुए जैन-दर्शन कहता है—"गुणपययवद् द्रव्यम्"। अर्थात् जिसमें गुण, पर्याय या परिणाम दोनों हों उसे द्रव्य कहते है। गुण का अर्थ है वह विशेषता जो स्थायी बनी रहे, जैसे सोने की चमक, लालिमा आदि; और पर्याय कहते हैं रूपान्तर में परिणति को, जैसे सोने का कभी कुण्डल, कभी अंगूठी आदि बन जाना। सोने के चाहे जितने भी आभूषण हम बनाते जायें, उसकी चमक, लालिमा आदि एक-सी बनी रहेगी। सत् की परिभाषा में कहा गया ध्रौव्य अर्थात् स्थिरता इसी गुण को बताती है और उत्पाद-व्यय इसी पर्याय को लक्षित करते है। इस प्रकार किसी भी वस्तु का स्वात्मगुण (Intrinsic quality) स्थायी बना रहता है, किन्तु उसके भिन्न-भिन्न परिणामो का (Modifications) उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को हम नित्य और अनित्य, दोनों कह सकते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनियों के द्रव्य के गुण और पर्याय नैयायिको के गुण-पर्याय की तरह द्रव्य से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही। द्रव्य से उनका तादात्म्य है, क्योंकि जैनधर्म वेदान्त की तरह ही धर्म-धर्मी में सर्वथा भेद नही मानता। विचार मे धर्म धर्मी से भिन्न भले ही हो, पर सत्ता मे दोनो एक है। इस तरह से जैनों की भेद में अभेद वाली अनेकान्तात्मक नीति के कारण गुण और पर्याय द्रव्य से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं; अतः वे अलग स्वतन्त्र पदार्थ नही।

इस द्रव्य को पहले दो भागो में बाँटते हैं—अस्तिकाय—बहुप्रदेशी (विस्तार वाला Volume और अनस्तिकाय—एक प्रदेशी या असम्बद्ध-प्रदेशी (विस्तार रहित)। दूसरी श्रेणी में केवल काल की गणना है। पहले अर्थात् अस्तिकाय को फिर दो भागो में विभक्त किया जाता है—जीव—चेतन और अजीव—अचेतन। जीव का स्वाभाविक गुण है ज्ञान; वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। इसके भी दो भेद है—मुक्त और बद्ध। बद्ध के भी दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। दूसरी कोटि में पाँच प्रकार के स्थावर हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस के चार भेद है—द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव और पाँच इन्द्रिय जीव। पंचेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—समनस्क—मन-सहित और अमनस्क—मन-रहित। अजीव द्रव्य को चार भागों में बाँटा जाता है—पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। पुद्गल द्रव्य और जीवद्रव्य दोनों ही क्रियाशील हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। इस विश्व के समस्त व्यापार जीव और पुद्गल के घात-प्रतिघात पर ही अवलम्बित हैं। इस पुद्गल के भी दो भेद है—परमाणु रूप और स्कन्ध—संघात रूप। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को चलने में; अधर्म द्रव्य ठहरने में सहायता देता है तथा आकाश द्रव्य धर्मरत द्रव्यों

को रहने की जगह देता है। जैनों के धर्म और अधर्म द्रव्य पुण्य-पाप से भिन्न वस्तु हैं। ये दोनों द्रव्य प्रेरणा करके किसी को चलाते या ठहराते नहीं हैं, किन्तु जिस तरह मछली के चलने के लिए पानी का रहना अनिवार्य है, उसी भाँति सक्रिय द्रव्यों की गति के लिए धर्म की सत्ता आवश्यक है। इसी तरह से जैसे पेड की छाया यात्री के विश्राम में सहायक होती है, वैसे ही अधर्म भी वस्तुओं के गत्यवरोध में निमित्त होता है। जैनो का कहना है कि यदि गति और स्थिति के नियामक धर्म और अधर्म न रहें तो संसार का यह रूप ही न रह जाय, सारा संसार परमाणुओं में छिन्न-भिन्न होकर अनन्त आकाश में बिखर जाय। इस तरह सारा विश्व जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ: द्रव्यों से चल रहा है।

जो बद्ध या संसारी जीव हैं, उनकी चार जातियाँ हैं—(१) नारक, नरक में निवास करने वाले, (२) तिर्यक्—पशु-पक्षी, कीडे, मकोडे, पेड-पौधे, जल-अग्नि-वायु आदि, (३) मनुष्य और (४) देव—देवगति मे (स्वर्गों में) रहने वाले। इन बद्धजीवों के शरीर दो प्रकार के होते हे—(१) औदारिक या स्थूल शरीर, (२) कर्म शरीर या सूक्ष्म शरीर। यों तो जैनागम में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच भेद बतलाये गये हे। जैनों का सिद्धान्त है कि कार्माण—कर्मशरीर भी पौद्‌गलिक होता है। राग-द्वेष आदि वासनाओं से आत्मा से जाकर ये कर्मपुद्‌गल चिपक जाते हैं और इस तरह कर्मशरीर—सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होती है। कर्मपुद्‌गलो का जीव से आकर चिपक जाना बन्ध है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण कर्मपुद्‌गलो का आना आस्रव है। यदि जीव अपनी वासनाओं पर अधिकार कर ले तो नये कर्मपुद्‌गलो का उसकी ओर आना बन्द हो जायगा, इसी स्थिति का नाम सवर है। तात्पर्य यह है कि आस्रव का न होने देना सवर है। जो कर्मपुद्‌गल पहले से सचित हैं, उन्हें योग निरोध, इन्द्रिय निरोध तथा ध्यान, समाधि द्वारा निर्जीर्ण करना, निर्जरा है। निर्जरा की स्थिति द्वारा ही जीव कर्मबन्धन को तोडकर हल्का—स्वतन्त्र बनता है। जब सारे के सारे कर्मपुद्‌गल विनष्ट हो जायँगे तो जीव कर्मशरीर से मुक्त होकर आवागमन और सुख-दुःख से परे हो जायगा। इस अवस्था में जीव अपने वास्तविक रूप को पा अर्थात् अनन्त आनन्द, ज्ञान-शक्तिमय होकर लोक के अग्रभाग मे इस प्रकार जा पहुँचेगा, जिस प्रकार खाली घडा पानी के ऊपर आ जाता है। जैन-दर्शन में इस भाँति जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व माने जाते हैं। यदि इन सातों तत्त्वो में हम सुख और दुःख के कारण पुण्य और पाप को जोड़ दें, तो ये ही नौ जैन-दर्शन मे पदार्थ नाम से पुकारे जायँगे। इस जैन-दर्शन मे पाँच अस्तिकाय, छ द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ माने जाते हैं। इन भिन्न-भिन्न सज्ञाओं को ठीक-ठीक नही समझने से ही बहुत से पाठक खीझ कर यहाँ तक कह बैठते हैं कि जैन-दर्शन में पदार्थों की सख्या कही कुछ मिलती है और कही कुछ।

ऊपर कही गयी सारी बातों का सारांश यही है कि राग-द्वेष आदि वासनाओं के उद्रेक से ही जीव को अनादिकाल से बन्धन में फँसना पडा है और फलस्वरूप तरह तरह के दुख भोगने पड़ रहे हैं। यदि हम राग-द्वेष से रहित हो जायँ तो हमें इस दुख में शरीर से अपने आप मुक्ति मिल जायगी। इस तरह सारे जैन-दर्शन की सार्थकता आस्रव और संवर के सिद्धान्तो को समझाने में है।

जैन-आचार-विज्ञान--

अब प्रश्न यह उठता है कि इस वासना को नष्ट कैसे किया जाय ? मोक्ष के लिए कौन-सा मार्ग पकड़ा जाय ? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है , जैन-दर्शन मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रय को अनिवार्य बताता है । इसके लिए घर का त्याग अनिवार्य नही है । जंगल में फिरते हुए भी सांसारिक भोग की ओर उन्मुख साधुओ से गृहस्थ रहकर भी विषयों से विरक्त जन कही बढ़कर हैं । घर पर रहे या जंगल में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों व्रतों का पालन आवश्यक है । इन्हीं का पालन जब भिन्न-भिन्न परिस्थितियो से सीमित होता है तो उसे अणुव्रत कहते हैं । यह गृहियों के लिए विहित है । यहाँ तक सफलता मिल जाने के बाद घर का त्याग कर योगी हो जाना चाहिये । इसके बाद उक्त पाचों व्रतों को हर परिस्थिति में बिना किसी अपवाद के पूरी सूक्ष्मता के साथ निबाहना चाहिये । इस प्रकार पाँच पापो का पूर्णतया त्याग महाव्रत कहलाता है । इन महाव्रतो के अलावा त्यागियो को अपने मन, वाणी और कर्म पर पूरा अधिकार करना चाहिये । उनकी एक भी क्रिया निरर्थक नहीं होनी चाहिये । वासनाओ पर विजय कर लेने के कारण उनके व्यवहार और हृदय से कठोरता एकदम दूर हो जानी चाहिये । ऐसा दृढ़ सयमी आदर्श पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । जैन-दर्शन देवों की अपेक्षा भी ऐसे योगी पुरुषो को उत्कृष्ट मानता है । देवो के स्वर्ग का सुख नश्वर है, पर मोक्ष तो अनन्त है, अत· मोक्ष चाहनेवाले देवो को भी मानवों की भाँति इन व्रतो का पालन करना होगा ।

ध्यान देकर देखने से पता चलता है कि जैनो का सारा धर्म, सारा आचार शास्त्र अहिंसा पर केन्द्रित है । पाँचो व्रतो मे अहिंसा को प्रथम स्थान देना भी उसके इस महत्त्व को सूचित कर रहा है । वस्तुतः झूठ बोलना, चोरी आदि मे भी दूसरे प्राणियो को दुख पहुँच ही जाता है, अत. बाकी चार व्रतो में भी अहिंसा समान रूप से ग्रथित है । इसलिए जैनलोग अहिंसा के पालन पर इतना जोर देते हैं । बौद्धो के अहिंसा धर्म से इनका अहिंसा धर्म बहुत भिन्न है । बौद्ध लोग स्वय प्राणी की हत्या करने में ही हिंसा मानते हैं, पर मांस-विक्रेता से खरीद कर मास खाने में वे कोई पाप नहीं मानते । किन्तु जैन लोग स्वय हिंसा करना, दूसरे के द्वारा की जाती हुई हिंसा में साक्षात् या परम्परया सहायक होना तथा दूसरों से की जाती हिंसा को सह लेना या स्वीकृति देना, सब कुछ वर्जित मानते हैं । इसके अतिरिक्त हिंसा प्राण लेना ही नही, किन्तु अग-भंग करना, मारना, पीटना, क्लेश पहुँचाना या अन्य किसी तरह से किसी को मन, वचन और काम से कष्ट देना मानी जाती है । पशुओं को तनिक भी कष्ट देना महान् पाप माना गया है । इस प्रकार जैनो का अहिसा धर्म संसार के लिए आदर्श है । मानवता की सुरक्षा इसी अहिंसाधर्म से हो सकती है ।

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जिस तरह विश्व के किसी भी धर्म के प्रवर्तक के आदर्श में और उसके अनुयायियों के वास्तविक आचार में क्रमशः गहरी खाई पड़ती जाती है, उसी तरह अहिंसा धर्म बहुत कुछ दोषपूर्ण होता जा रहा है ।

वैदिक दर्शन ने भी जैन-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों को ज्योंका त्यों ले लिया है। महाभारत का 'अहिंसा परमो धर्म' वाक्य स्पष्टत: जैनों का है। जैन-दर्शन का दृष्टिकोण बड़ा लोकोपयोगी है। वेद और ईश्वर को न मानने पर भी अपने आगम और पचपरमेष्ठी पर उसकी अटूट भक्ति और श्रद्धा है। यह दर्शन बौद्ध और अद्वैतवादियो की तरह दुनिया को काल्पनिक, शून्य या मायामय कहकर जीवन-संग्राम से भागना नही सिखाता। उसे इस ठोस धरती पर पूरा विश्वास है। भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी को वह दुनिया के लिए आवश्यक मानता है। इसीलिए बहुत अधिक फैलकर भी सूखे ज्ञान की माला जपनेवाला बौद्धधर्म भारत की हरी-भरी सरस भूमि से बाहर निकाल दिया गया, पर जैन-धर्म आज भी यहां फल-फूल रहा है। जैन-दर्शन पृथ्वी की उपेक्षा कर स्वर्ग और मोक्ष की ओर आँखें लगाये रहने को नहीं कहता। वह मनुष्यो को बन्दी समझ कर देवताओ के जीवन के लिए नही ललचाता। उसका कहना है कि,—"तुम मानव, केवल मानव और सच्चे मानव बनो, क्योकि यह प्रकृति का साम्राज्य एकमात्र मानव के कल्याण के लिए ही बना है।"



जैन-दर्शन में आत्मतत्त्व

पं० श्रीवंशीधर जैन, व्याकरणाचार्य शास्त्री, बीना

१. जैन-दर्शन के प्रकार—

प्रचलित दर्शनों में से किसी-किसी दर्शन को तो केवल भौतिक दर्शन और किसी-किसी दर्शन को केवल आध्यात्मिक दर्शन कहा जा सकता है, परन्तु जैन-दर्शन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार स्वीकार किये गये हैं।

विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के अस्तित्व, स्वरूप, भेद-प्रभेद और विविध प्रकार से होने वाले उनके परिणमन का विवेचन करना 'भौतिक दर्शन' और आत्मा के उत्थान, पतन तथा इनके कारणों का विवेचन करना 'आध्यात्मिक दर्शन' है साथ ही भौतिक दर्शन को 'द्रव्यानुयोग' और आध्यात्मिक दर्शन को 'करणानुयोग' भी कह सकते हैं। इस तरह भौतिकवाद, विज्ञान (साइन्स्) और द्रव्यानुयोग ये सब भौतिक दर्शन के और अध्यात्मवाद तथा करणानुयोग ये दोनों आध्यात्मिक दर्शन के नाम हैं।

२. जैन-संस्कृति में विश्व की मान्यता—

'विश्व'[1] शब्द को कोष-ग्रन्थों में सर्वार्थवाची शब्द स्वीकार किया गया है अतः विश्व शब्द के अर्थ में उन सब पदार्थों का समावेश हो जाता है जिनका अस्तित्व संभव है। इस तरह विश्व को यद्यपि अनन्त[2] पदार्थों का समुदाय कह सकते हैं परन्तु जैन-संस्कृति में इन सम्पूर्ण अनन्त पदार्थों को निम्नलिखित छः[3] वर्गों में समाविष्ट कर दिया गया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

---

(१) (देखिये—अमरकोष-तृतीयकाण्ड-विशेष्यनिघ्नवर्ग श्लोक-६४, ६५)

(२) अनन्त शब्द जैन-संस्कृति में संख्याविशेष का नाम है। इसी तरह आगे आनेवाले संख्यात और असंख्यात शब्दों को भी संख्याविशेषवाची ही माना गया है। जैन-संस्कृति में संख्यात के संख्यात, असंख्यात के असंख्यात और अनन्त के अनन्त-भेद स्वीकार किये गये हैं। (इनका विस्तृत विवरण—तत्त्वार्थ राजवार्तिक सूत्र ३८ अध्याय प्रथम में देखिये।)

(३) "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः", "जीवाश्च" और "कालश्च" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १, ३ व ३८)

इनमें से जीवों[४] की संख्या अनन्त है, पुद्गल भी अनन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक-एक हैं तथा काल असंख्यात हैं। इन सब को जैन-संस्कृति में अलग-अलग द्रव्य[५] नाम से पुकारा गया है क्योंकि एक प्रदेश[५] को आदि लेकर दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों के रूप में अलग-अलग इनके आकार पाये जाते हैं या बतलाये गये हैं।

जिस द्रव्य का सिर्फ एक ही प्रदेश होता है उसे एक प्रदेशी[६] और जिस द्रव्य के दो आदि संख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेश होते हैं उसे बहुप्रदेशी[७] द्रव्य माना गया है। इस तरह प्रत्येक जीव तथा धर्म और अधर्म ये तीनों द्रव्य समान असंख्यात[८] प्रदेशों के रूप में बहुप्रदेशी द्रव्य हैं, अनन्त[९] पुद्गल सिर्फ एक प्रदेश वाले द्रव्य हैं और अनन्त[१०] पुद्गल दो आदि संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त[११] प्रदेशों के रूप में बहुप्रदेशी द्रव्य माने गये हैं। इसी प्रकार आकाश को अनन्त प्रदेशों के रूप में बहुप्रदेशी और संपूर्ण कालों में से प्रत्येक काल को एकप्रदेशी[१२] द्रव्य स्वीकार किया गया है। यहाँ पर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि संपूर्ण काल द्रव्य असंख्यात[१३] होकर भी उतने हैं, जितने कि प्रत्येक जीव के या धर्म अथवा अधर्म द्रव्य के प्रदेश बतलाये गये हैं।

---

(४) यद्यपि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की संख्या ही अनन्त है लेकिन अनन्त संख्या के अनन्त-भेद होने के कारण जीवों की संख्या भी अनन्त है और पुद्गलों की संख्या भी अनन्त है इसमें कोई विरोध नहीं आता।

(५) "द्रव्याणि" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र २)

(५) "जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं। तं खुपदेशं जाणे" ॥२७॥ (द्रव्यसंग्रह में) श्री नेमिचन्द्राचार्य

(६) "एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात् खण्डवर्जितः स यथा" (पंचाध्यायी अध्याय १, श्लोक ३६)

(७) "प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोऽप्यनन्ताश्च।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्यायाख्यास्ते ॥२५॥ (पंचाध्यायी अध्याय १)

(८) "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ८)

(९) "नाणोः" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ११)
यहाँ पर "अणु एक प्रदेशी द्रव्य है" यही अर्थ ग्रहण किया गया है।
"एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात् खण्डवर्जितः स यथा।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यतः स्वतः सिद्धः ॥३६॥ (पंचाध्यायी अध्याय १)

(१०) "संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १०)
यहाँ पर च शब्द से अनन्त संख्या का भी ग्रहण किया गया है।

(११) "आकाशस्यानन्ताः" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ६)

(१२) देखिये टिप्पणी नं० ६ "कालाणु र्वा यतः स्वतः सिद्धः"

(१३) "ते कालाणू असंख्य दव्वाणि" ॥२२॥ (द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

इन सब द्रव्यों में से आकाश द्रव्य सबसे बड़ा और सब ओर से असीमित विस्तार वाला द्रव्य है तथा बाकी के सब द्रव्य इसी आकाश के अन्दर ठीक मध्य में सीमित होकर रह रहे हैं[1]। इस प्रकार जितने आकाश के अन्दर उक्त सब द्रव्य याने सब जीव, सब पुद्गल, धर्म, अधर्म, और सब काल विद्यमान हैं उतने आकाश को लोकाकाश और शेष समस्त सीमारहित आकाश को अलोकाकाश नाम से पुकारा गया है[2]। यहाँ पर भी इतना ध्यान रखने की जरूरत है कि आकाश के जितने हिस्से में धर्म द्रव्य अथवा अधर्म द्रव्य का जिस रूप में वास है वह हिस्सा उसी रूप में लोकाकाश का समझना चाहिये। इस तरह लोकाकाश के भी धर्म अथवा अधर्म द्रव्य के समान ही असंख्यात प्रदेश सिद्ध होते हैं तथा धर्म और अधर्म द्रव्यो की ही तरह सम्पूर्ण अनन्त जीव द्रव्यों, संपूर्ण अनन्त पुद्गल द्रव्यों तथा संपूर्ण असंख्यात काल द्रव्यो का निवास भी आकाश के इसी हिस्से में समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्यो की बनावट के बारे में जैन-ग्रन्थों में लिखा है कि जब कोई मनुष्य यथासभव अपने दोनो पैर फैलाकर और दोनो हाथो को अपनी कमर पर रखकर सीधा खडा हो जावे, तो जो आकृति उस मनुष्य की होती है वही आकृति धर्म और अधर्म दोनो द्रव्यो की समझनी चाहिये। यही सबब है कि लोक को पुरुष के आकार वाला बतलाया गया है और जहाँ तक ब्रह्माण्ड या परब्रह्म भी लोक को इसीलिए ही कहते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य की बनावट[3] के बारे में जैन-ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि इन दोनो द्रव्यो की ऊँचाई चौदह रज्जु, मोटाई उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु और चौड़ाई पूर्व-पश्चिम नीचे बिल्कुल अन्त में सात रज्जु, ऊपर क्रम से घटते-घटते मध्य में सात रज्जु की ऊँचाई पर एक रज्जु, फिर इसके ऊपर क्रम से बढते-बढ़ते साढे तीन रज्जु की ऊँचाई पर पाँच रज्जु तथा उसके भी ऊपर क्रम से घटते-घते बिल्कुल अन्त में साढे तीन रज्जु की ऊँचाई पर एक रज्जु है।

जब कि धर्म और अधर्म द्रव्यों की बनावट के समान ही लोकाकाश की बनावट है तो इसका मतलब यही है कि लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर धर्म और अधर्म द्रव्यो का एक-एक प्रदेश साथ-साथ बैठा हुआ है[4] तथा इसी तरह लोकाकाश के उस उस प्रदेश पर धर्म और अधर्म द्रव्यो के प्रदेशों के साथ-साथ एक-एक काल द्रव्य भी विराजमान[5] है। इस तरह सम्पूर्ण असख्यात काल द्रव्य मिलकर धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा लोकाकाश की बनावट का रूप धारण किये हुए हैं।

---

(१) "लोकाकाशेऽवगाहः" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १२)
(२) "षड् द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा" ॥२२॥ (पंचा० अ० २)
(३) देखिये—(तत्त्वार्थ राजवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय पांचवां, सूत्र ३८ का व्याख्यान)
(४) "धर्माधर्मयोः कृत्स्ने" (तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र १२)
(५) "लोयायास पदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख दव्वाणि ॥२२॥
(द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

इन चारों द्रव्यों में से आकाश द्रव्य तो असीमित अर्थात् व्यापक होने की वजह से निष्क्रिय है ही, साथ ही शेष धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और सपूर्ण काल द्रव्यो को भी जैन-सस्कृति में निष्क्रिय[1] द्रव्य ही स्वीकार किया गया है अर्थात् इन चारो प्रकार के द्रव्यो में हलन-चलन रूप क्रिया का सर्वथा अभाव है। ये चारो ही प्रकार के द्रव्य अकप स्थिर होकर ही अनादि काल से रहते आये हैं और रहते जायेंगे। इनके अतिरिक्त सभी जीव और सभी पुद्गल द्रव्यो को क्रियावाले द्रव्य स्वीकार किया गया है और यह भी एक कारण है कि जिस प्रकार धर्मादि द्रव्यो की बनावट नियत है उस प्रकार जीव द्रव्यों और पुदगल द्रव्यों की बनावट नियत नही है। प्रत्येक जीव यद्यपि धर्म या अधर्म अथवा लोकाकाश के बराबर प्रदेशो वाला है और कभी-कभी कोई जीव अपने प्रदेशो को फैलाकर समस्त[2] लोक में व्याप्त होता हुआ उस आकृति को प्राप्त भी कर लेता है। परन्तु सामान्य रूप से प्रत्येक जीव छोटे-बडे जिस शरीर मे जिस समय पहुँच गया हो, उस समय वह उसी की आकृति[3] का रूप धारण कर लेता है। पुद्गल द्रव्यो में यद्यपि एक प्रदेशी सभी पुद्गल क्रियावान् होते हुए भी नियत आकार वाले हैं परन्तु अवगाहन-शक्ति की विविधता के कारण दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशो वाले पुद्गलो के आकार नियत नही है। यही वजह है कि दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशो वाले अनन्तो पुद्गल लोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे भी समा कर रह रहे हैं। यद्यपि सामान्य रूप से प्रत्येक जीव का निवास लोकाकाश के असख्यात वे भाग क्षेत्र में माना गया है, परन्तु परस्पर अव्याघात शक्ति के प्रभाव से एक ही क्षेत्र में अनन्तो जीव भी एक साथ रहते हुए माने गये हैं।

प्रत्येक जीव चेतना-लक्षण वाला है और चेतनारहित[4] होने के कारण धर्म, अधर्म, आकाश और सपूर्ण काल द्रव्यो को अजीव माना गया है। इसी प्रकार सभी पुद्गल रूपी माने गये हैं अर्थात् सभी पुद्गलो में रूप, रस, गध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं। यही कारण है कि इनका ज्ञान हमें स्पर्शन, रसना, नासिका और नेत्र इन बाह्य इन्द्रियो से यथायोग्य होना रहता है[5]। पुद्गलो के अतिरिक्त सब जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और सब काल इन सभी को अरूपी स्वीकार किया गया है अर्थात् इनमे रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चारों गुणो का सर्वथा अभाव पाया जाता है अत इनका ज्ञान भी हमे उक्त बाह्य इन्द्रियो से नही होता है। यद्यपि अनन्तो पुद्गलो का ज्ञान भी हमे बाह्य इन्द्रियो से नही होता

---

(१) "निष्क्रियाणि च" (तत्त्वार्थ अ० ५, सूत्र ७)

(२) केवल समुद्घात के भेद लोकपूरण समुद्घात में।
मूल शरीर को न छोड़ते हुए आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बहिर्गमन को समुद्घात कहते हैं।

(३) "अणुगुरुदेहपमाणो" ॥१०॥ (द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(४) "रूपिणः पुद्गलाः", "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"

(तत्त्वा० अ० ५, सूत्र ५ व २३)

(५) इन्द्रियग्राह्य होने से ही पुद्गल द्रव्यों को मूर्त और इन्द्रिय ग्राह्य न होने से ही शेष सब द्रव्यों को अमूर्त भी माना गया है।

(देखिये—पंचाध्यायी अध्याय २, श्लोक ७)

है परन्तु इससे उन पुद्गलों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अभाव नहीं मान लेना चाहिये। कारण कि इन गुणों का सद्भाव रहते हुए भी इन पुद्गलों में पायी जाने वाली सूक्ष्मता ही उक्त बाह्य इन्द्रियों से उनका ज्ञान होने में बाधक है। इसी तरह शब्द का ज्ञान जो हमें बाह्य कर्ण इन्द्रिय से होता है इससे शब्द की पौद्गलिकता ही सिद्ध होती है।

जीव द्रव्यों के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में इस लेख में आगे विचार किया जायगा। शेष द्रव्यों के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में यहाँ पर विचार किया जा रहा है—

जिनका स्वभाव पूरण और गलन का है[1/1] अर्थात् जो परस्पर सयुक्त होते-होते बडे से बड़े पिण्ड का रूप धारण कर लें और पिण्ड में से वियुक्त होते-होते अन्त में अलग अलग एक-एक प्रदेश का रूप धारण कर लें, उन्हें पुद्गल कहा गया है। ऐसे स्थूल पुद्गल तो हमें सतत दृष्टिगोचर हो ही रहे हैं लेकिन सूक्ष्म से सूक्ष्म और छोटे से छोटे पुद्गलों के अस्तित्व को भी—जिनका ज्ञान हमें अपनी बाह्य इन्द्रियो से नही हो पाता है—विज्ञान ने सिद्ध करके दिखला दिया है। अणुबम और उद्रजनबम आदि पदार्थ उन सूक्ष्म और छोटे पुद्गलों की अचिंत्य शक्ति का दिग्दर्शन करा रहे हे।

जब कि सब जीव और सब पुद्गल क्रियाशील द्रव्य हे तो जिस समय कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करता है और जब तक करता रहता है उस समय और तब तक उसकी उस क्रिया में सहायता करना धर्म द्रव्य का स्वभाव है[1/2]। इसी तरह कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करने-करते जिस समय रुक जाता है और जब तक रुका रहता है उस समय और तब तक उसके ठहरने में सहायता करना अधर्म द्रव्य का स्वभाव है[2]। यद्यपि जैन-संस्कृति में जीव और पु्गल द्रव्यों को स्वत: क्रियाशील माना गया है परन्तु यदि अधर्म द्रव्य नही होता तो गतिमान् जीव और पुद्गल द्रव्यों के स्थिर होने का आधार ही समाप्त हो जाता और यदि धर्म द्रव्य नही होता तो ठहरे हुए जीव और पुद्गलो के गतिमान् होने का भी आधार समाप्त हो जाता, अत: जैन-संस्कृति में धर्म और अधर्म दोनों द्रव्यों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है और यही सबब है कि मुक्त जीव स्वभावत: ऊर्ध्व गमन करते हुए भी ऊपर लोक के अग्रभाग में जैन मान्यता के अनुसार इसलिये रुक जाते हे क्योंकि उसके आगे धर्म द्रव्य का अभाव है[3]।

सब द्रव्यों को उनकी निज-निज आकृति के अनुसार अपने उदर में समा लेना आकाश द्रव्य का स्वभाव है।[4] प्रत्येक द्रव्य का लम्बे, चौड़े, मोटे, गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि विभिन्न रूपो में दृष्टि-

---

(1/1) "अणवः स्कन्धाश्च", "भेद संघातेभ्य उत्पद्यन्ते", "भेदादणुः"

(1/2) "गइपरिणयाणधम्मो पुग्गलजीवाण गमण सहयारी" ॥१७॥

(द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(२) "अण्णजुदाण अधम्मो पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी" ॥१८॥

(द्रव्यसंग्रह में श्री नमिचन्द्राचार्य)

(३) "धर्मास्तिकायाभावात्" (तत्त्वा० अ० १, सूत्र ६)

(४) "आकाशस्यावगाहः" (तत्त्वा० अ० ५, सूत्र १८)

गोचर होता हुआ छोटा बड़ा आकार हमें आकाश के अस्तित्व को मानने के लिये बाध्य करता है अन्यथा आकाश द्रव्य के अभाव में सब वस्तुओं के परस्पर विलक्षण आकारों का दिखाई देना असंभव हो जाता।

इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव, प्रत्येक पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश स्वत. परिणमनशील द्रव्य माने गये हैं परन्तु इन सबके उस परिणमन का क्षणिक विभाजन करना काल द्रव्य का स्वभाव है[1] अर्थात् द्रव्यों की अवस्थाओं में जो भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ता का व्यवहार होता रहता है अथवा कालिक दृष्टि से जो नये-नये या छोटे-बड़े का व्यवहार वस्तुओं में होता है इस सब की वजह से हमें काल द्रव्यों के अस्तित्व को मानने के लिये भी बाध्य होना पड़ता है।

आकाश द्रव्य एक क्यों है? इसका सीधा सादा उत्तर यही है कि वह सीमारहित द्रव्य है। 'सीमारहित' इस शब्द का व्यापक रूप अर्थ होता है और 'सीमासहित' इस शब्द का व्याप्य रूप अर्थ होता है तथा व्यापक द्रव्य वही होगा जिससे बड़ा कोई दूसरा द्रव्य न हो अतः आकाश द्रव्य का एकत्व अपरिहार्य है और इस आकाश की बदौलत ही दूसरे द्रव्यों को ससीम कहा जा सकता है।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों को भी जैन-संस्कृति में जो एक-एक ही माना गया है उसका कारण यह है कि लोकाकाश में विद्यमान समस्त जीव द्रव्यों और समस्त पुद्गल द्रव्यों को गमन में सहायक होना धर्म द्रव्य का काम है और ठहरने में सहायक होना अधर्म द्रव्य का काम है। वे दोनों काम एक, अखण्ड और लोकाकाश भर में व्याप्त धर्म द्रव्य और इसी प्रकार एक, अखण्ड और लोकाकाश भर में व्याप्त अधर्म द्रव्य के मानने से सिद्ध हो जाते हैं। अत. इन दोनों द्रव्यों के भी अनेक भेद स्वीकार नहीं करके एक-एक[2] भेद ही इनका स्वीकार किया गया है।

काल द्रव्य को अणुरूप (एक प्रदेशी) स्वीकार करके उसके लोकाकाश के प्रमाण विस्तार में रहने वाले असंख्यात भेद स्वीकार करने का अभिप्राय यह है कि काल द्रव्य से संयुक्त होने पर ही वस्तु में वर्तमानता का व्यवहार होता है और यदि किसी वस्तु का काल द्रव्य से संयोग था, अब नहीं है तो उस वस्तु में भूतता का तथा यदि किसी वस्तु का आगे काल द्रव्य से संयोग होने वाला हो, तो उस वस्तु में भविष्यत्ता का व्यवहार होता है। अब यदि काल द्रव्य को धर्म और अधर्म द्रव्यों की तरह एक अखण्ड लोकाकाश भर में व्याप्त स्वीकार कर लेते हैं तो किसी भी वस्तु का कभी भी काल द्रव्य से असंयोग नहीं रहेगा। ऐसी हालत में प्रत्येक वस्तु सतत और सर्वत्र विद्यमान ही मानी जायगी, उसमें भूतता और भविष्यत्ता का व्यवहार करना असंगत हो जायगा। लेकिन जब काल द्रव्य को अणु रूप से अनेक मान लेते हैं तो जितने काल द्रव्यों में जिस वस्तु का जब संयोग रहता है उन काल द्रव्यों की

(१) "वर्तनापरिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" (तत्वा० अ० ५, सू० २२)
(२) "आ आकाशादेक द्रव्याणि" (तत्वा० अ० ५, सूत्र ६)
इस सूत्र में धर्म, अधर्म और आकाश को एक-एक ही बतलाया गया है।

अपेक्षा उस वस्तु में तब वर्तमानता का व्यवहार होता है और जिनसे पहले संयोग रहा है किन्तु अब नहीं है उनकी अपेक्षा भूतता का तथा जिनसे आगे सयोग होने वाला है उनकी अपेक्षा भविष्यत्ता का व्यवहार भी उस वस्तु में सामञ्जस हो जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति में एक ही साथ हम "यहाँ है, पहले वहाँ था, और आगे वहाँ होगा" इस तरह वर्तमानता, भूतता और भविष्यत्ता का जो व्यवहार किया करते हैं उसका कारण यही है कि जहाँ के काल द्रव्यों से पहले उसका संयोग था उनसे अब नही है। अब दूसरे काल द्रव्यो से उसका सयोग हो रहा है और आगे दूसरे काल द्रव्यो से उसका सयोग होने की संभावना है। इस प्रकार जब दूसरे अणुरूप भी द्रव्य पाये जाते हैं और उनमें भी भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ता का व्यवहार होता है तो इनमें यह व्यवहार काल की अणुरूप स्वीकार किये बिना संभव नही हो सकता है अत. काल द्रव्य को अणुरूप मानकर उसके लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात भेद मानना ही युक्तिसगत है।

इस तरह से अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल इन सब द्रव्यो के समुदाय का नाम ही विश्व है क्योकि इनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु विश्व में शेष नही रह जाती है। ये सब द्रव्य यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र रूप में अनादि हैं और अनिधन[1] हैं फिर भी अपनी-अपनी अवस्थाओ के रूप में परिणमनशील[2] है अत· सब वस्तुओं के परिणमनशील होने की वजह से ही विश्व को 'जगत्' नाम से भी पुकारा जाता है क्योकि 'गच्छतीति जगत्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत् शब्द का अर्थ 'परिणमनशील वस्तु' स्वीकार करने का ही यहाँ पर अभिप्राय है।

३—द्रव्यानुयोग में आत्म-तत्त्व—

ऊपर जैन-संस्कृति के अनुसार जितना कुछ विश्व के पदार्थों का विवेचन किया गया है वह सब विवेचन द्रव्यानुयोग की दृष्टि से ही किया गया है। उस विवेचन में विश्व के पदार्थों में जीवद्रव्य को भी स्थान दिया गया है इसलिए यहाँ पर द्रव्यानुयोग की दृष्टि से उसका भी विवेचन किया जाता है।

जीव द्रव्य का ही अपर नाम "आत्मा" है। इसका ग्रहण स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन बाह्य इन्द्रियो से न हो सकने के कारण "विश्व के पदार्थों में आत्मा को स्थान दिया जा सकता है या नहीं ?"—यह प्रश्न प्रत्येक दर्शनकार के समक्ष विचारणीय रहा है। इतना होते हुए भी हम देखते है किसी भी दर्शनकार ने स्वकीय (स्वय अपने) अस्तित्व को अमान्य करने की कोशिश नही की है। वह ऐसा कोशिश करता भी कैसे ? क्योंकि उसका उस समय का सवेदन (अनुभवन) उसे यह बतलाता रहा कि वह स्वय दर्शन की रचना कर रहा है इसलिए वह यह कैसे कह सकता था कि "उसका निजी कोई अस्तित्व ही नही है ?"

---

(१) तत्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥८॥ (पंचाध्यायी अध्याय १)

(२) वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामी ॥८९॥ (पंचाध्यायी अध्याय १)

यही बात सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के विषय में कही जा सकती है अर्थात् कोई भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपने अस्तित्व के विषय में संदेहशील नही रहते है। कारण कि जिस समय जो कुछ वे करते हैं उस समय उन्हें इस बात का अनुभवन होता ही है कि वे अमुक कार्य कर रहे है। इस तरह जब वे अपने अनुभव के आधार पर स्वयं अपने को यथासमय उस कार्य का कर्ता स्वीकार करते रहते हैं तो फिर वे ऐसा संदेह कैसे कर सकते है कि "उनका अपना कोई अस्तित्व है या नही ?" यहाँ पर अस्तित्व का अर्थ ही आत्मा का अस्तित्व है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात ठीक है कि सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो को सतत स्वसंवेदन (अपना अनुभवन) होता रहता है परन्तु शरीर के अन्दर व्याप्त होकर रहने वाला "मैं" शरीर से पृथक् तत्त्व हूँ—ऐसा संवेदन तो किसी को भी नही होता है अत. यह बात कैसे मानी जा सकती है कि "शरीर से अतिरिक्त "आत्मा" नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ?"

उत्तर—जितने भी निष्प्राण घटादि पदार्थ हैं उनकी अपेक्षा प्राण वाले शरीरों में निम्न-लिखित तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं—

(१) निष्प्राण घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थों का ज्ञान नही कर सकते है जब कि प्राणवान् शरीरों में दूसरे पदार्थों का ज्ञान करने की सामर्थ्य पायी जाती है।

(२) निष्प्राण घटादि पदार्थ स्वत. कोई प्रयत्न नही कर सकते हैं जब कि प्राणवान् शरीरो को हम स्वत प्रयत्न करते देखते है।

(३) निष्प्राण घटादि पदार्थों में "मै सुखी हूँ या दु खी हूँ, मै गरीब हूँ या अमीर हूँ, मैं छोटा हूँ या बड़ा हूँ" आदि रूप से स्वसंवेदन[1] नही पाया जाता है जब कि प्राणवाले शरीरो में उक्त प्रकार से स्वसंवेदन करने की यथायोग्य योग्यता पायी जाती है।

इस प्रकार निष्प्राण घटादि पदार्थों और प्राणवान् शरीरों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की समानता पायी जाने पर भी प्राणवान् शरीरो में जो परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसंवेदकत्व ये तीन विशेषताएँ पायी जाती है उनका जब घटादि निष्प्राण पदार्थों मे सर्वथा अभाव विद्यमान है तो इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणवान् शरीरों के अन्दर किसी ऐसे स्वतन्त्र पदार्थ की सत्ता स्वीकृत करनी चाहिये जिसकी वजह से ही उनमें (प्राणवान् शरीरो में) उक्त प्रकार से ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा जिसके अभाव के कारण ही निष्प्राण घटादि पदार्थों में उक्त विशेषताओं का भी अभाव पाया जाता है। इस पदार्थ को ही 'आत्मा' नाम से पुकारा गया है।

---

(१) अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥५॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)

तात्पर्य यह है कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनो ही प्राण शब्द के वाच्य हैं। ये जिस शरीर में जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक वह शरीर प्राणवान् कहलाता है तथा जब जिस शरीर में इनका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह शरीर तथा जिन पदार्थों में इनका सतत अभाव पाया जाता है वे घटादि पदार्थ निष्प्राण कहे जाते है। हम देखते है कि शरीर के विद्यमान रहते हुए भी कालान्तर में उक्त प्राणो का उसमें सर्वथा अभाव भी हो जाता है अतः यह मानना अयुक्त नही है कि वे शरीर से ही उत्पन्न होने वाले धर्म नही है तो जिसके वे धर्म हो सकते है, वही 'आत्मा' है।

प्रश्न—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचो भूतो (पदार्थों) के योग से ही शरीर का निर्माण होता है और तब उस शरीर मे उक्त प्राणो का प्रादुर्भाव अनायास ही (अपने आप ही) हो जाता है। यही कारण है कि शरीर मे पृथ्वी तत्त्व का मिश्रण होने से हमें नासिका द्वारा गन्ध का ज्ञान होता रहता है क्योंकि गन्ध पृथ्वी का गुण है, जल तत्त्व का मिश्रण होने से हमे रसना ारा रस का ज्ञान होता रहता है क्योकि रस जल का गुण है, अग्नि तत्व का मिश्रण होने से नेत्रों द्वारा हमें रूप का ज्ञान होता रहता है क्योंकि रूप अग्नि का गुण है, वायु तत्त्व का मिश्रण होने से हमें स्पर्शन द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता रहता है, क्योकि स्पर्श वायु का गुण है और इसी तरह आकाश तत्त्व का मिश्रण होने से हमे कर्णों द्वारा शब्द का ग्रहण होता रहता है क्योकि शब्द आकाश का गुण है।

उत्तर—पहली बात तो यह है कि "शब्द आकाश का गुण है" इस सिद्धान्त को शब्द के लिए कैद कर लेने वाले विज्ञान ने आज समाप्त कर दिया है। इसलिए शब्द का ज्ञान करने के लिये शरीर में अब आकाश तत्त्व के मिश्रण को स्वीकार करने की आवश्यकता नही रह गयी है। इसके अलावा शब्द में जब घात-प्रतिघात रूप शक्ति पायी जाती है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि शब्द आकाश का या दूसरी किसी वस्तु का गुण न होकर अपने आप मे द्रव्य रूप ही हो सकता है क्योंकि गुण मे वह शक्ति नही पायी जाती है कि वह स्वय असहाय होकर किसी दूसरे पदार्थ का घात कर सके अथवा दूसरे पदार्थ से उसका घात हो सके। और यदि शब्द को कदाचित् गुण भी मान लिया जाय, तो फिर आकाश के अलावा वह किसका गुण हो सकता है? इसका निर्णय करना असभव है यही कारण है कि जैन-सस्कृति में शब्द[1] को रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला पुद्गल द्रव्य ही मान लिया गया है तथा जैन-सस्कृति की यह मान्यता तो है ही, कि पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु इन चारों ही तत्त्रों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो ही गुण विद्यमान रहते हैं अत. रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान करने के लिये शरीर में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन पृथक्-पृथक् चारो तत्त्वों के सयोग की आवश्यकता नही रह जाती है। इतना अवश्य है कि शरीर भी घटादि पदार्थों की तरह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला एक पुद्गल पिण्ड है और जिस प्रकार घटादि पदार्थ निष्प्राण है उसी प्रकार यह शरीर भी अपने आप मे निष्प्राण ही है; फिर भी जब तक इस शरीर के अन्दर आत्मा विराजमान रहती है तब तक वह प्राणवान् कहा जाता है।

---

(१) अप्यर्थः कोऽपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोऽनतिक्रमात् ॥६७॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)

दूसरी बात यह है कि उक्त प्राण रूप शक्ति जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सब में या इनमें से किसी एक में स्वतन्त्र रूप से नही पायी जाती है तो इन सब के मिश्रण से वह शरीर में कैसे पैदा हो जायगी ? यह बात समझ के बाहर की है। कारण कि स्वभाव रूप से अविद्यमान शक्ति का किसी भी वस्तु में दूसरी वस्तुओं द्वारा उत्पाद किया जाना असंभव है । इसका मतलब यह है कि जो वस्तु स्वभाव से निष्प्राण है उसे लाख प्रयत्न करने पर भी प्राणवान् नहीं बनाया जा सकता है। अतः शरीर के भिन्न-भिन्न अगो को कोई कदाचित् अलग-अलग पृथ्वी आदि तत्वों के रूप में मान भी ले, तो भी उस शरीर में स्वभाव रूप से असंभव स्वरूप प्राणशक्ति का प्रादुर्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए विश्व के समस्त[1] पदार्थों मे चित् (प्राणवान्) और अचित् (निष्प्राण) इन दो परस्पर-विरोधी पदार्थों का मूलत भेद स्वीकार करना आवश्यक है ।

तीसरी बात यह है कि कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान करने की योग्यता होने पर भी शब्द-श्रवण की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमें रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान करने की योग्यता होने पर भी शब्द-श्रवण और रूप-ग्रहण की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमें रस और स्पर्श का ज्ञान करने की योग्यता होने पर भी शब्द, रूप और गन्ध का ज्ञान करने की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है । इसी प्रकार कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमें केवल स्पर्श-ग्रहण की ही योग्यता पायी जाती है, शेष योग्यताओं का उनमे सर्वथा ,अभाव रहता है ऐसी हालत में इन शरीरो में यथासभव पचभूतो के मिश्रण का अभाव मानना अनिवार्य होगा। अब यदि पच-भूतो के मिश्रण से शरीर मे चित्शक्ति का उत्पाद स्वीकार किया जाय तो उक्त शरीरो में चित्शक्ति का उत्पाद असंभव हो जायगा, लेकिन उनमे भी चित्शक्ति का सद्भाव तो पाया ही जाता है ।

चौथी बात यह है कि सपूर्ण शरीर मे एक ही चित्शक्ति का उत्पाद होता है या शरीर के भिन्न-भिन्न अगो में अलग-अलग चित्शक्ति उत्पन्न होती है ? यदि सपूर्ण शरीर मे एक ही चित्शक्ति का उत्पाद होता है तो नियत रूप से स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ही, रसना इन्द्रिय द्वारा रस का ही, नासिका द्वारा गन्ध का ही, नेत्रो द्वारा रूप का ही और कर्णों द्वारा शब्द का ही ग्रहण नही होना चाहिये । यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अगो मे पृथक्-पृथक् चित्शक्ति उत्पन्न होती है तो हमें स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण द्वारा एक ही साथ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का ग्रहण होते रहना चाहिये । लेकिन यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जिस काल में हमें किसी एक इन्द्रिय से ज्ञान हो रहा हो, उस काल में दूसरी सब इन्द्रियो से ज्ञान नही होता है ।

यदि कहा जाय कि चित्शक्ति का धारक स्वतंत्र आत्मा का अस्तित्व शरीर में मानने से नियत अगो द्वारा ही रूपादिक का ज्ञान क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न अगों के सहयोग से ही आत्मा अपनी स्वाभाविक चित्शक्ति के द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया करती है अतः

(१) ततः सिद्धं यथावस्तु यत्किञ्चिज्जडात्मकम् ॥६६॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)

सब अंगों के विद्यमान रहते हुए भी, जिस ज्ञान के अनुकूल अंग का सहयोग जिस काल में आत्मा को प्राप्त होगा, उस काल में वही ज्ञान उस आत्मा को होगा, अन्य नहीं।

पाँचवी बात यह है कि पंचभूतों के संयोग से शरीर में चित्शक्ति का उत्पाद मान लेने पर भी हमारा काम नही चल सकता है। कारण कि ज्ञान की मात्रा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान कर लेने में ही समाप्त नही हो जाती है। इन ज्ञानो के अतिरिक्त स्मरण, एकत्व और सादृश्य आदि के ग्रहणस्वरूप प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द-श्रवण अथवा अंगुल्यादि के संकेतों के अनन्तर होने वाला अर्थज्ञानरूप आगमज्ञान (शब्दज्ञान) ये ज्ञान भी तो हमें सतत होते रहते हैं। इस तरह इन ज्ञानों के लिये किन्ही दूसरे भूतों का सयोग शरीर में मानना आवश्यक होगा।

यदि कहा जाय कि ये सब प्रकार के ज्ञान हमें मन द्वारा हुआ करते हैं तो यहाँ पर प्रश्न होता है कि शरीर तथा मन दोनों में एक ही चित्शक्ति का उत्पाद होता है या दोनों में अलग-अलग चित्-शक्तियाँ एक साथ उत्पन्न हो जाया करती हैं अथवा मन में स्वभाव रूप से चित्शक्ति विद्यमान रहती है?

पहले पक्ष को स्वीकार करने पर मन से ही स्मरणादि ज्ञान हो सकते हैं, स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियों से नही, इसका नियमन करने वाला कौन होगा?

दूसरे पक्ष को स्वीकार करने पर जिस काल में हमें स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान होता रहता है उसी काल में हमें स्मरणादि ज्ञान होने का भी प्रसंग उपस्थित हो जायगा, जो कि अनुभव के विरुद्ध है।

तीसरा पक्ष स्वीकार करने पर "पंचभूतों के सम्मिश्रण से शरीर में चित्शक्ति का प्रादुर्भाव होता है" इस सिद्धान्त का व्याघात हो जायगा।

यदि कहा जाय कि स्वाभाविक चित्शक्ति-विशिष्ट मन को स्वीकार करने से यदि काम चल सकता है तो आत्मतत्व को मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? तो इसका उत्तर यह है कि जैन-सस्कृति में एक तो मन को भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया गया है; दूसरे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और बहुत से पंचेन्द्रिय जीव ऐसे पाये जाते है जिनके मन नहीं होता है। इसलिए चित्शक्ति विशिष्ट-आत्मतत्व को स्वीकार करना ी श्रेयस्कर है। यह आत्मा ही मन तथा स्पर्शन आदि इन्द्रियों के सहयोग से पदार्थों का यथायोग्य विविध प्रकार से ज्ञान किया करता है।

तात्पर्य यह है कि जितने संज्ञी[1] पंचेन्द्रिय जीव है उनके मन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं अतः वे इन सबकी सहायता से पदार्थों का ज्ञान किया करते हैं। जो जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं उनके मन नही होता, उनमें केवल उक्त पाँचों इन्द्रियाँ ही

---

(१) "संज्ञिनः समनस्काः" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र २४)

विद्यमान रहती हैं अत. वे मन के बिना इन पाँचों इन्द्रियों से ही पदार्थों का ज्ञान किया करते है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवो के मन और कर्ण इन्द्रिय के अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवों के मन तथा कर्ण और ने इन्द्रियो के अतिरिक्त तीन इन्द्रियाँ , द्वीन्द्रिय जीवो के मन तथा कर्ण, नेत्र और नासिका इन्द्रियों को छोड़ कर शेष दो इन्द्रियाँ ही पायी जाती हैं एवं एकेन्द्रिय जीवो के मन, तथा कर्ण, नेत्र, नासिका और रसना के अतिरिक्त सिर्फ एक स्पर्शन न्द्रिय ही पायी जाती है इसलि ये सब [१] जीव उन-उन इन्द्रियों से ही पदार्थों का ज्ञान किया करते है ।

इस प्रकार प्राणवा् शरीरों मे जो "परपदार्थज्ञातृत्व" शक्ति पायी जाती है वह शरीर का धर्म न होकर आत्मा का ही धर्म है—ऐसा मानना ही उचित है । इसी तरह प्राणवान् शरीरो मे जो "प्रयत्नकर्तृत्व' शक्ति पायी जाती है उसे भी शरीर का धर्म न मानकर आत्मा का ही धर्म मानना चाहिये क्योकि परपदार्थज्ञातृत्व शक्ति जिन युक्तियों द्वारा शरीर की न होकर आत्मा की ही सिद्ध होती है उन्ही युक्तियो द्वारा प्रयत्नकर्तृत्व शक्ति भी शरीर की न होकर आत्मा की ही सिद्ध होती है ।

प्रयत्न के जैन-संस्कृति में तीन [२] भेद माने गये है—मानसिक, वाचनिक और कायिक । इनमे से मानसिक प्रयत्न को वहाँ पर 'मनोयोग', वाचनिक प्रयत्नो को 'वचनयोग' और कायिक प्रयत्न को 'काय-ोग' कहकर पुकारा गया है । मन का अवलम्बन लेकर होने वाले आत्मा के प्रयत्न को मनोयोग कहते हैं, इसी प्रकार वचन (मुख) और काय का अवलम्बन लेकर होने वाले आत्मा के उस-उस यत्न को क्रम से वचनयोग और काययोग कहते हैं ।

वचनों को बोलने का नाम ही आत्मा का वाचनिक यत्न है और शरीर के द्वारा प्रतिक्षण हमारी जो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं उन्ही को आत्मा का कायिक प्रयत्न समझना चाहिये । मानसिक प्रयत्न का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

मन पौद्गलिक पदार्थ है, यह बात तो हम पहले ही बतला चुके हैं । वह मन दो प्रकार का है— एक मस्तिष्क और दूसरा हृदय । जितना भी स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द (श्रुत) रूप ज्ञान हमें होता रहता है वह सब मस्तिष्क की सहायता से ही हुआ करता है अत. ये सब ज्ञान आत्मा के मानसिक ज्ञान कहलाते हैं । इसी प्रकार जितने भी क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, लिप्सा, भय, सक्लेश आदि मोह के विकार तथा यथायोग्य मोह का अभाव होने पर क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, तुष्टि, निर्भयता, विशुद्धि आदि गुण हमारे अन्दर प्राप्त होते रहते हैं वे सब मन की सहायता से ही हुआ करते हैं अत उन सब को आत्मा के मानसिक प्रयत्नों में अन्तर्भूत करना चाहिये ।

इन तीनो प्रकार के प्रयत्नो में से संज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के तो ये सब प्रयत्न हुआ करते हैं, लेकिन असंज्ञी पचेन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवों के सिर्फ वाचनिक और कायिक

(१) "वनस्पत्यन्तानामेकम्", कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि"

(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र २२, २३)

(२) "कायवाङ्मनः कर्मयोगः" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र १)

प्रयत्न ही हुआ करते हैं क्योंकि मन का अभाव होने से इन जीवों के मानसिक प्रयत्न का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों के सिर्फ कायिक प्रयत्न ही होता है, कारण कि उनमें मन के साथ साथ बोलने का साधनभूत मुख का भी अभाव पाया जाता है अतः उनके मानसिक और वाचनिक प्रयत्न नहीं होते हैं। द्वीन्द्रियादिक जीव चलते-फिरते रहते हैं इसलिए उनके शारीरिक प्रयत्नों का तो पता हमें चलता ही रहा है, परन्तु एकेन्द्रिय वृक्षादिक जीवों की जो शरीर-वृद्धि देखने में आती है वह उनके शारीरिक प्रयत्न का ही परिणाम है।

यह बात हम पहले बतला आये है कि जितने भी संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, उन्हें पदार्थों का ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय स्वसंवेदन अर्थात् "अपने अस्तित्व का भान" सतत होता रहता है, परन्तु संज्ञी पचेन्द्रिय प्राणियों के अतिरिक्त जितने भी असंज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय प्राणी हे उन्हें मन का अभाव होने के कारण यद्यपि पदार्थ-ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो की तरह अपने अस्तित्व का भान नहीं होता है अर्थात् "मैं अमुक पदार्थ का ज्ञान कर रहा हूँ" अथवा "मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ" ऐसा ज्ञान उन्हें नही हो पाता है, फिर भी उस समय उनकी उस ज्ञान-रूप या उम क्रिया-रूप परिणति होते रहने के कारण उस परिणति का अनुभवन तो उन्हें होता ही है अन्यथा चीटी आदि प्राणियों को अग्नि आदि के समीप पहुँचने पर यदि उष्णताजन्य दुख-रूप सामान्य अनुभवन न हो तो फिर वहाँ से वे हटते क्यो है ? इसी प्रकार शक्कर आदि अनुकूल पदार्थों के पास पहुँचने पर यदि मिठासजन्य सुख-रूप सामान्य अनुभवन उन्हे न हो, तो वे उन पदार्थों से चिपटते क्यो हैं ? इससे यह बात सिद्ध होती है कि एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियों को यथायोग्य स्वसवेदन होता ही है। एक बात और है कि जैन-दर्शन में प्रत्येक ज्ञान को स्वपरप्रकाशक स्वीकार किया गया है, अतः एकेन्द्रिय आदि सब प्राणियो के स्वसवेदकत्व का सद्भाव अनिवार्य रूप से मानना पडता है। इतनी विशेषता है कि एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो का जो स्वसवेदन होता है उसे जैन-सस्कृति में 'कर्मफलचेतना'[1] नाम से पुकारा गया है; क्योकि इन जीवो में मन का अभाव होने के कारण कर्ता, कर्म, क्रिया और फल का विश्लेषण करने की असामर्थ्य पायी जाती है तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के स्वसवेदन को 'कर्मचेतना'[2] नाम से पुकारा गया है; कारण कि मन का सद्भाव होने से इन जीवो मे कर्ता आदि के विश्लेषण करने की सामर्थ्य विद्यमान रहती है। इन्ही संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो में से ही जो जीव हित और अहित की पहचान करके पदार्थज्ञान अथवा प्रवृत्ति करने लग जाते हे उनके स्वसंवेदन को 'ज्ञानचेतना'[3] के नाम से पुकारा जाने लगता है।

---

(१) चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात् कर्मफलचेतना ॥१६५॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)
(उत्तरार्ध)

(२) अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ॥१६५॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)
(पूर्वार्ध)

(३) एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ॥
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञान चेतना ॥१६४॥
सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना ॥
असत्यबंधफला तत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥२१७॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)

प्राणवान् शरीरों में होने वाला यह स्वसंवेदन भी पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर शरीर का धर्म न होकर आत्मा का ही धर्म सिद्ध होता है अतः जैन-संस्कृति में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की तरह आत्मा का भी परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसंवेदकत्व के आधार पर स्वतः सिद्ध और अनादिनिधन अस्तित्व माना गया है ।

४—करणानुयोग में आत्मतत्व—

हम देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी दुःख से डरता है और सुख की चाह करता है। यही कारण है कि जिन दार्शनिकों ने आत्मा के अस्तित्व को नही माना है उन्होंने भी "महाजनो येन गत. स पन्थाः" के रूप में जगत् को सुख के साधनों पर चलने का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के अस्तित्व के बारे में विवाद हो सकता है, परन्तु जगत् के प्रत्येक प्राणी को जो सुख और दुःख का अनुभवन होता रहता है इस अनुभवन के आधार पर अपनी सुखी और दु खी हालतो की सत्ता मानने से कौन इन्कार कर सकता है ? इसलिए ऊपर जो द्रव्यानुयोग की अपेक्षा स्वत. सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि करने का प्रयत्न किया गया है इतने मात्र से ही हमारे प्रयत्न की इतिश्री नही हो जाती है। इसके साथ ही आखिर हमें यह भी तो सोचना है कि सुखी और दु खी हालतें आत्मा की ही मानी जायें या आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध ही नही है ? और यदि इन हालतों को आत्मा की हालतें मान लिया जाय तो क्या ये हालतें आत्मा की स्वत. सिद्ध हालतें है या किन्ही दूसरे कारणों से ही आत्मा में इनकी उत्पत्ति हो रही है ? और क्या ये नष्ट भी की जा सकती है ?

वेदान्त दर्शन में इन सुख और दुःख रूप हालतों को आत्मा की हालतें नही स्वीकार किया गया है वहाँ पर तो आत्मा को सत्, चित् और आनन्दमय ही स्वीकार किया गया है। सुख और दुःख "जिनका अनुभवन हमें सतत होता रहता है" ये सब माया के रूप है और मिथ्या है तथा इनसे आत्मा सदा अलिप्त रहती है ।

जैन-संस्कृति में भी आत्मा को वेदान्त दर्शन की तरह यद्यपि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ही माना गया है परन्तु सतत प्रत्येक प्राणी के अनुभवन में आने वाले सुख और दुःख को जहाँ वेदान्त दर्शन में मिथ्या स्वीकार किया गया है वहाँ जैन-संस्कृति में इन्हें स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष होने की वजह से उसी आनन्द गुण के विकारी परिणमन माना गया है। जैन-दर्शन मे वेदान्त दर्शन की अपेक्षा आत्मतत्त्व की मान्यता के विषय में यही विशेषता है । जैन-संस्कृति में आत्मा के आनन्द गुण के इन विकारी परिणमनो का कारण आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ अनादि[1] संयोग माना गया है और साथ ही वहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि पुद्गल द्रव्य के सयोग को आत्मा से सर्वथा पृथक् किया जा सकता है तथा आनन्द गुण के सुख-दुःख रूप विकारों को भी नष्ट किया जा सकता है ।

(१) यथानादि स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥३५॥

(पंचाध्यायी अध्याय २)

इस प्रकार स्वतः सिद्ध और अनादिनिधन चित्‌शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्व को स्वीकार करने के साथ-साथ जैन-संस्कृति में यह भी स्वीकार किया गया है कि आत्मा अनादिकाल से परतंत्र (बद्ध है,) परन्तु स्वतंत्र (बन्धरहित) हो सकता है; अशुद्ध है परन्तु शुद्ध हो सकता है; मोह, राग तथा द्वेष आदि विकारों का घर है, परन्तु ये सब विकार दूर किये जा सकते हैं; संसारी है परन्तु मुक्त हो सकता है; अल्पज्ञानी है परन्तु पूर्ण ज्ञानी हो सकता है। इसी तरह कभी तिर्यक्, कभी मनुष्य, कभी देव और कभी नारकी होता रहता है, परन्तु इन सबसे परे सिद्ध भी हो सकता है।

यदि जैन-संस्कृति के द्रव्यानुयोग पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होता है कि आत्मा की बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि के विषय में कुछ भी जानकारी देने में वह सर्वथा असमर्थ है। कारण कि द्रव्यानुयोग सिर्फ द्रव्य के स्वरूप का ही प्रतिपादन कर सकता है और द्रव्य का स्वरूप वही हो सकता है जो उस द्रव्य में सतत विद्यमान रहता हो अत: आत्मा का स्वरूप स्वत: सिद्ध और अनादिनिधन चित्‌शक्ति को ही माना जा सकता है। आनन्द यद्यपि मुक्तात्माओं में तो पाया जाता है, परन्तु संसारी आत्माओं में उसका अभाव रहता है। इसी तरह बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि कोई भी अवस्था आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकती है। कारण, यदि संसारी आत्मा में अबद्धता और शुद्धि आदि अवस्थाओं का अभाव है तो मुक्तात्माओं में बद्धता और अशुद्धि आदि अवस्थाओं का अभाव रहता है। इसलिए द्रव्यानुयोग की दृष्टि से जब आत्मतत्त्व के बारे में कुछ निर्णय करना हो तो वह निर्णय यही होगा कि आत्मा स्वत: सिद्ध और अनादिनिधन चित्‌शक्ति स्वरूप का धारक है। कारण कि यह स्वरूप संसारी और मुक्त दोनों प्रकार की सब आत्माओं में पाया जाता है। यही कारण है कि द्रव्यानुयोग की दृष्टि में एकेन्द्रिय से लेकर समस्त संसारी आत्माएँ और समस्त मुक्त आत्माएँ समान मानी गयी हैं, क्योंकि समस्त संसारी और सिद्ध आत्माएँ सब काल और सब अवस्थाओं में स्वत: सिद्ध और अनादिनिधन चित्‌शक्ति-रूप स्वरूप से रहित नहीं होती हैं। लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं कि यदि द्रव्यानुयोग आत्मा की बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि का प्रतिपादन नहीं करता है तो ये सब आत्मा की अवस्थाएँ नहीं मानी जा सकती हैं। कारण कि यदि इन्हें आत्मा की अवस्थाएँ नहीं माना जायगा तो संसारी और मुक्त का भेद समाप्त हो जायगा और इस तरह मुक्ति के लिये प्रयास करना भी निरर्थक हो जायगा। इसी तरह संसारी जीवों में भी "अमुक जीव एकेन्द्रिय है और अमुक जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अथवा संज्ञी पंचेन्द्रिय है, अमुक जीव मनुष्य है अथवा तिर्यंक्, नारकी या देव है" इत्यादि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमगम्य विविधताओं का लोप कर देना होगा। हमारे अन्दर कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ, कभी मोह, कभी काम, कभी सुख और कभी दु:ख आदि अवस्थाओं का जो सतत अनुभवन होता रहता है इसे गलत मानना होगा तथा अच्छे-बुरे कामों का जीवन में भेद करना असंभव हो जायगा या तो अहिंसा आदि पुण्य कर्मों की कीमत घट जायगी अथवा हिंसा आदि पाप कर्मों की कीमत बढ़ जायगी। इस प्रकार समस्त संसार का प्रतीतिसिद्ध और प्रमाणसिद्ध जितना भेद है सब निरर्थक हो जायगा। इसलिए जैन-संस्कृति में द्रव्यानुयोग के साथ करणानुयोग को भी स्थान दिया गया है और जिस प्रकार द्रव्यानुयोग वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादक होने के कारण आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक है उसी प्रकार करणानुयोग

को आत्मा की उक्त प्रकार की विविध अवस्थाओं का प्रतिपादक माना गया है। अर्थात् आत्मा की बद्धता आदि का ज्ञान हमें द्रव्यानुयोग से भले ही न हो परन्तु करणानुयोग से तो हमें उनका ज्ञान होता ही है अतः जिस प्रकार द्रव्यानुयोग की दृष्टि से आत्मा स्वतः सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट है उसी प्रकार वह करणानुयोग की दृष्टि से बद्ध और अबद्ध आदि अवस्थाओ को भी धारण किये हुए है। लेकिन ये बद्ध आदि दशाएँ आत्मा की स्वतः सिद्ध अवस्थाएँ नही है, बल्कि उपादान-निमित्त और सहकारी कारणो के सहयोग से ही इनकी निष्पत्ति आत्मा में हुआ करती है। आत्मा अनादि काल से परावलम्बी बनी हुई है इसलिए अनादि काल से ही बद्ध आदि अवस्थाओ को प्राप्त किये हुए है और जब तक परावलम्बी बनी रहेगी तब तक इन्ही अवस्थाओ को धारण करती रहेगी; क्योंकि बद्ध आदि अवस्थाओं का परावलम्बन कारण है। लेकिन जिस दिन आत्मा इस परावलम्बन वृत्ति को छोडने में समर्थ हो जायगी उस दिन वह बन्ध-रहित अवस्थाओ को प्राप्त कर लेगी। अतः हमें आत्मा की स्वावलम्बन-शक्ति के जागरण के लिए अनुकूल कर्तव्य-पथ को अपनाने की आवश्यकता है जिसका उपदेश हमें जैन-संस्कृति के चरणानुयोग से मिलता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक संस्कृति के हमें दो रूप देखने को मिलते हैं—एक दर्शन और दूसरा आचार। जैन-संस्कृति के भी यही दो रूप बतलाये गये हैं। इनमें से पहले रूप यानी दर्शन को पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्यानुयोग और करणानुयोग इन दो भागो में विभक्त कर दिया गया है और दूसरे रूप याने आचार का प्रतिपादन चरणानुयोग में किया गया है।

इस प्रकार चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्व का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसकी अनादिकालीन पौद्गलिक परतन्त्रता से होने वाली विविध प्रकार की विकारी अवस्थाओ से छुटकारा पाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति आत्मा की स्वावलम्बन वृत्ति के जागरण के साधनभूत अहिंसा आदि पाच व्रत रूप अथवा क्षमा आदि दश धर्म रूप कर्तव्यपथ पर आरुढ हो। आत्मा के विषय में यही जैन-संस्कृति का रहस्य है।



जैन दर्शन का प्रतिपाद्य विषय—जीव

पं० श्री मूलचन्द, न्याय-साहित्य-शास्त्री

प्रस्ताविक—

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ है—जड और चेतन अथवा जीव और अजीव । इन्ही दो पदार्थों की लीला से यह ससार चलता है । जो जन्म लेते है, मरते है, बढते है, सुख-दु ख का अनुभव करते है, विविध इच्छाएँ जिनमें प्रसूत होती है, इनकी पूर्ति मे जो सतत सचेष्ट रहते है, वे सब जीव है । वृक्ष भी बढते है, मरते है, जन्म लेते है, सुख-दु ख आदि का अव्यक्त रूप से अनुभव करते है अत: इनमे भी जीव है । यह बात विज्ञान-विशारद डा० जगदीशचन्द्र वसु ने अपने अनुसधानो द्वारा जगत के समक्ष सप्रमाण सिद्ध कर दी है । जीव से भिन्न अजीव है । घट-पट आदि पदार्थों की तरह जीव का प्रत्यक्ष नही होता है; क्योंकि यह स्वरूपत अमूर्तिक है । दृष्टिगोचर होने वाले पौद्गलिक सभी पदार्थ मूर्तिक माने गये है । रूप, रस, गध, स्पर्श ये गुण जिनमें पाये जाते है, वे मूर्तिक है । जीवात्मा में ये गुण नही है । अत यह मौलिक स्वरूप की अपेक्षा अमूर्तिक माना गया है और इसीलिए वह किसी भी इन्द्रिय का विषय नही होता है ।

आत्मा का परिमाण—

अन्य कितने ही सिद्धान्तो में सिद्धान्तकारो ने इसे व्यापक माना है । किन्तु जैन-दर्शन एकात रूप से ऐसा नही मानता है । उसकी ऐसी मान्यता है कि आत्मा का स्वभाव सकोच-विस्तार वाला है । इस कारण कर्मबधन अवस्था में उसे छोटा-बडा जितना भी शरीर प्राप्त होता है उसके बराबर हो जाता है[1] । मोक्ष अवस्था में जिस शरीर से मुक्त होता है उससे कुछ न्यून रहता है । जैन-न्याय-ग्रन्थों में आत्मा की व्यापकता और अणुपरिमाणता दोनो का निषेध करके उसे मध्यम परिमाण वाला बतलाया गया है; वह इसी अपेक्षा से बतलाया गया है । शरीर भी सब जीवों का एक-सा नही होता है । किसी का सबसे बड़ा और किसी का सबसे छोटा होता है तथा किसी का मध्यम परिमाण वाला होता है । जैन शास्त्रों में हमें इसका जितना विशद और स्पष्ट वर्णन मिलता है उतना अन्यत्र नही ।

---

१ अणुगुरु देहपमाणो उवसंहारप्प सप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसोवा ।। (द्रव्यसंग्रह ।)

जितना आकाश क्षेत्र शरीर द्वारा घेरा जाता है उसका नाम अवगाहना है। यह अवगाहना सबसे छोटी लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव की होती है तथा सबसे बड़ी स्वयभूरमण समुद्र के अन्दर रहने वाले महामत्स्य की। इसीसे अवगाहना के छोटे-बड़े पने का अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष से भी हमें ऐसा ही प्रतीत होता है कि लोक में ऐसी अवगाहना वाले भी जीव हैं, जो बड़ी कठिनाई से देखे जाते हैं या जिन्हें देखने के लिए खुर्दबीन की आवश्यकता होती है। वर्तमान वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि यह समस्त लोकाकाश रूप पोल जीवों से भरी हुई है। उनकी खोज में थेकसस नामक जन्तु इतना अधिक सूक्ष्म बतलाया गया है कि ऐसे जन्तु सुई के अग्रभाग में एक लाख से भी अधिक समा जाते हैं। जैनशास्त्रों में ऐसा वर्णन सूक्ष्म जीवों का देखने में आता है। परस्पर में जीवों की अवगाहना में इतना अन्तर पड़ने का कारण उनके प्रत्येक के साथ लगे हुए कर्म हैं। इसलिए उनके अनुसार जिस जीव को जैसा शरीर मिलता है तब उसकी वैसी अवगाहना हो जाती है। कारण कि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निमित्त के अनुसार प्रदीप[1] के प्रकाश की तरह सकोच और विस्तार को प्राप्त होता रहता है। यद्यपि मूलत: जीव लोकाश के बराबर असख्यात प्रदेशी है यह अवस्था उसे केवल समुद्घात की दशा में अपने आत्म प्रदेशों द्वारा समग्र लोकाकाश को व्याप्त कर लेने पर प्राप्त होती है।

*उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जैन-शास्त्रों में मूलत जीव को असख्यात-*प्रदेशी—लोकाकाश के बराबर व्यापक स्वरूप वाला मानते हुए भी कर्मबन्धन रूप परतन्त्र दशा में उसे मध्यम परिणाम वाला भी—अव्यापक भी माना है।

आत्म-अस्तित्व की सिद्धि—

जिस प्रकार इन्द्रियों से घट-पट आदि भौतिक पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस प्रकार से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर उसका अस्तित्व अपने और पराये के लिए कैसे हो सकता है? इसके लिए समाधान इस प्रकार है कि अजीव पुद्गल का अश-परमाणु जैसे अपने कार्यों द्वारा प्रतीति में आता है, उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व भी कारण व्यापार द्वारा प्रतीति में आता है। कारण का व्यापार देखने से कर्त्ता का अनुमान होता है। जिस प्रकार रथ को सचालित करने वाला सारथी होता है उसी प्रकार शरीरादि को सचालित करने वाली आत्मा है। शरीर में जितनी क्रियाएँ होती है चाहे वे बुद्धिपूर्वक हों चाहे अबुद्धिपूर्वक हों इनका अधिष्ठाता आत्मा है। जिस प्रकार मिट्टी के अभाव में घट रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार आत्मा रूप अधिष्ठाता के बिना कोई भी शारीरिक, वाचनिक और कायिक व्यापार नहीं होता है। इस तरह दूसरे के चैतन्य को हम अनुमान द्वारा जान सकते हैं तथा अपने ही द्वारा हम अपनी आत्मा का प्रत्यक्षीकरण अनुभव-प्रमाण द्वारा कर सकते हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ इत्यादि प्रकार का जो अन्तरग में अपने आपकी ओर झुकता हुआ बोध होता है वह आत्मा को ही विषय करता है; क्योंकि ऐसा बोध आत्मा के ही सहारे से होता है। बिना आत्मा के ऐसा बोध नहीं हो सकता है। अन्यथा अचेतन शरीरादिक में भी ऐसा बोध

१. प्रदेश संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। मोक्षशास्त्रे अ० ५० सू० १६

होना चाहिये । मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, इस प्रकार का व्यवहार शरीर को आश्रित करके होता है; वह आत्मा का उपकारी होने से ही शरीर में उपचार से होता है ।

यहाँ यह आशंका नहीं करनी चाहिये कि जब यह अहं प्रत्यय अन्याश्रित ही होता है तो "आत्मा के नित्य विद्यमान रहने से सदा ही अहं प्रत्यय होते रहना चाहिऐ । परन्तु यह सदा तो होता नहीं है, कादाचित्क होता है । अतः जो कादाचित्क होगा वही इसका कारण होगा; नित्य आत्मा नहीं" । क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग माना गया है । यह उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है । साकार ग्रहण का नाम ज्ञान और निराकार ग्रहण का नाम दर्शन है । अहं प्रत्यय भी एक प्रकार का उपयोग है । कर्मों के क्षयोपशमादि की विचित्रता से इन्द्रिय, मन एवं आलोक आदि की सहायता मिलने पर यह उपयोग रूप अह प्रत्यय उत्पन्न होता है । जैसे बीज अंकुरोत्पादन रूप नित्य शक्ति से समन्वित रहता है, परन्तु जब तक उसे बाहरी साधन सामग्री नहीं मिलती है तब तक वह अंकुर को उत्पन्न नही करता है, मिलने पर ही करता है । बस, इसी तरह आत्मा के सदा विद्यमान रहने पर भी यह अहं प्रत्यय सहायकों की सहायता नित्य न मिलने से आत्मा में सदा न होकर कभी-कभी होता है । अतः इसका और कोई भौतिक कारण नही है, केवल आत्मा ही एक कारण है ।

न्याय-सूत्र के तृतीय अध्याय में गौतम ने आत्मा का सविस्तर वर्णन किया है । वहाँ पर उन्होंने आत्मसिद्धि के विषय में "दर्शनस्मरणाभ्यामेकार्थनिर्णयात्" ऐसा प्रमाण दिया है कि नेत्र के द्वारा हम जिस पदार्थ को देखते हैं, उसी पदार्थ को स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा छूते हैं । इस तरह इन दोनों इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं उनका आश्रय एक है या दो ? यदि द्रष्टा और स्पृष्टा ये दो व्यक्ति जुदे-जुदे माने जायें तो "जिसे मैंने देखा था उसी को मैं छू रहा हूँ" इस प्रकार का जो एकत्वावमर्शक ज्ञान-प्रत्यभिज्ञान होता है वह नही हो सकता । क्योंकि ऐसा ज्ञान छूने वाले और देखने वाले व्यक्ति की एकता में ही होता है, अनेकता में नही । अनेकता में द्रष्टा को स्पृष्ट ज्ञान एवं स्पृष्टा को दृष्टज्ञान नही है । अन्य दृष्ट पदार्थ को दूसरा स्मरण कैसे कर सकता है ?

ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया—

पदार्थ को जानने और देखने की शक्ति आत्मा में ही है, भौतिक शरीरादि में नहीं । विज्ञान का कहना है कि मनुष्य जब किसी पदार्थ का निरीक्षण करता है तो उसका चित्र उसकी आँख की पुतली के अन्दर बन जाता है और फिर वह धीरे-धीरे मस्तिष्क तक पहुँच जाता है । मस्तिष्क तक उसे पहुँचाने में भीतर के सूक्ष्म तन्तु सहायता देते हैं । परन्तु यदि वह व्यक्ति अन्यमनस्क है या किसी विचारधारा में ओत-प्रोत है तो वह उस समय आँखों के समक्ष उपस्थित होते हुए भी इस पदार्थ के ज्ञान से वंचित ही रहता है यद्यपि इस स्थिति में भी उस पदार्थ का चित्र आँखों की पुतली में बनता है । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देखने वाला पदार्थ इन्द्रियों से भिन्न ही है । जो इनसे भिन्न है वही आत्मा है । जैन-दर्शन में यह बात युक्तिपुरस्सर सिद्ध की गई है कि आत्मा, शरीर द्रव्येन्द्रिय एवं द्रव्यमन से भिन्न है । आँखें देखती हैं । शरीर छूने पर किसी पदार्थ को जानता है । यह व्यवहार ही

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है । जिस प्रकार एक मकान के अन्दर रहा हुआ व्यक्ति खिड़कियों द्वारा बाहर के पदार्थों को देखता और जानता है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी मकान के अन्दर स्थित आत्मा इन्द्रियरूपी खिड़कियों द्वारा बाहर के पदार्थों को जानता और देखता है । अतः जिस प्रकार खिड़कियों से देखने और जानने वाला व्यक्ति मकान और खिड़की से भिन्न भूत है उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियों से भिन्न भूत देखने और जानने वाला आत्मा पृथक् भूत ही है तथा उनसे सर्वथा स्वतन्त्र सत्ताशील है । इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय के साथ यदि आत्मा उपयुक्त नहीं है तो उस-उस इन्द्रिय के समक्ष उपस्थित पदार्थ भी नहीं देखा व जाना जा सकता है । इससे यह ज्ञात होता है कि इन सबसे भिन्न कोई ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है कि जिसका इन्द्रियों के साथ उपयोग मिलने पर मनुष्य निकटवर्ती इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ को देखता व जानता है ।

इस शरीर में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । इनसे क्रमशः रूप, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्द का बोध होता है । सांख्यों ने इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ, नैयायिक आदिकों ने बाह्येन्द्रियाँ एवं जैन-दर्शनकारों ने द्रव्येन्द्रियाँ कहा है । नेत्र से केवल रूप का ही ग्रहण होता है, रसादिक का नहीं । इसी तरह स्पर्शन इन्द्रिय से केवल ठंडा, कड़ा, नरम, गरम, आदि ८ प्रकार का स्पर्श जाना जाता है, रूप रसादिक नहीं । इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि वे जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती हैं, उसका प्रकाशन करती हैं । जैन-दर्शन की मान्यतानुसार चक्षु, इन्द्रिय पदार्थ से सम्बद्ध नहीं होती है, फिर भी उसका प्रकाशन करती है । बाकी चार इन्द्रियाँ अपने विषयभूत पदार्थों का अपने साथ सबंध होने पर या संयोग होने पर ही उनका प्रकाशन करती हैं । सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले नैयायिक, वैशेषिकों ने चक्षु-इन्द्रिय को भी प्राप्यकारी माना है । उनका इसके विषय में कहना है कि "चक्षुइन्द्रिय से जब हम पदार्थरूप का ग्रहण करते हैं तो वह चक्षुइन्द्रिय वहाँ तक जाती है और उसके रूप का संस्कार लेकर लौटती है । चाक्षुष प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य प्रत्यक्षों में यह बात नहीं है । कर्ण इन्द्रिय से जब हमें शब्द का बोध होता है तो वह शब्द स्वयं ही वायु में लहराता हुआ हमारे कान के पास तक आ पहुँचता है । श्रोत्रेन्द्रिय उसे ग्रहण करने अपने अधिष्ठान से बाहर नहीं जाती । इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय आदि के साथ भी यही बात लागू होती है । कारण कि इन इन्द्रियों के विषय भी अपने को विषयभूत करने वाली इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने पर ही जाने जाते हैं; असम्पर्क अवस्था में नहीं । इस तरह न्याय वैशेषिक की मान्यतानुसार समस्त इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं ।

जयन्तभट्ट आदि आचार्यों के मतानुसार विषय को पाकर संस्कार ग्रहण करना ही प्राप्यकारित्व है और इस तरह की प्राप्यकारिता सब इन्द्रियों में है । भले ही चक्षु अपने विषय के पास जाय और शेष इन्द्रियाँ न जायँ । सांख्य, जैमिनीय इत्यादि सभी वैदिक दार्शनिकों ने अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार पाँचों इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना है । चक्षु और मन को जैन-सम्प्रदाय, चक्षु एवं श्रोत्र और मन को बौद्ध-सम्प्रदाय अप्राप्यकारी मानता है । जिन आँख, कान आदि को हम प्रत्यक्ष देखते हैं वे वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं ये तो इन्द्रियों के अधिष्ठाता मात्र हैं । इन इन्द्रियों के आकार रूप में परिणमित हुए आत्मा के प्रदेश ही वास्तविक इन्द्रियाँ हैं । जैन-सिद्धान्त ने निर्वृत्ति, उपकारण, लब्धि और उपयोग के भेद से प्रत्येक इन्द्रिय को चार विभागों में विभक्त किया है, जैसा कि न्याय दर्शन कहता है कि देखने

की जो इन्द्रिय है वह कृष्णताराप्रवर्ती है—आँख की पुतलियों में रहती है—हम पुतली को तो देख सकते हैं, किन्तु यथार्थ इन्द्रियों को नहीं देख सकते हैं। इसी तरह श्रोत्र इन्द्रिय का अधिष्ठान श्रोत्रकुहर, घ्राणेन्द्रिय का नासिका, रसना का जिह्वा, स्पर्शन का शरीर का चमड़ा है। हम इन्हें देख सकते है किन्तु सुनने की इन्द्रिय को, सूंघने की इन्द्रिय को, चखने की इन्द्रिय को एवं छूने वाली इन्द्रिय को नहीं देख सकते है। केवल अनुमान द्वारा ही उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार न्याय अथवा सब दर्शनों की मान्यता में जिन कर्ण शष्कुली, अक्षिगोलक कृष्णतारा आदि बाह्य आकारों को इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है उसीको जैन-परिभाषा में बाह्यनिर्वृत्ति कहा गया है तथा इन अधिष्ठानों में स्थित जिन्हें वास्तविक अतीन्द्रिय इन्द्रिय माना है, उन्हें आभ्यंतर निर्वृत्ति कहा है। निर्वृत्ति का अर्थ रचना है। यह बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो प्रकार की है। इन्द्रियाकार—रचना का नाम बाह्य-निर्वृत्ति है और यह पौगद्‌गलिक—भौतिक विकार मानी गई है। सांख्यमत के अनुसार इन इन्द्रियों का उपादान कारण अहंकार माना गया है। वेदान्तियों का भी यही मत है। न्यायवैशेषिक के मतानुसार इन्द्रियों के कारण पचभूत हे। बौद्धो के यहाँ इनका कारण रूप स्कंध है। इस तरह हमें यह समझने में देर नही लगती है कि आत्मा इन्द्रिय स्वरूप नहीं है; किन्तु वह तो इनसे भिन्न एक स्वतंत्र सत्ताशाली पदार्थ है। अहंकार, पंचभूत एवं रूपस्कंध ये सब इन्द्रियों के उपादान जड़ हैं। इन्द्रियों में जानने की शक्ति एवं जानने रूप व्यापार का नाम लब्धि और उपयोग है, यह भावेन्द्रिय है।

मन का स्वरूप और कार्य—

मन भी दार्शनिकों लिए विचार का विषय रहा है। बौद्ध-दर्शन में आत्मतत्त्व से अलग इसे नही माना है; किन्तु उसके स्थान में उसने मन माना है। जैन मान्यतानुसार मन के द्रव्य मन और भाव मन के भेद से दो भेद हैं। द्रव्य मन हृदयप्रदेशवर्ती और अष्ट पाँखुडी वाले कमल के आकार के जैसा है। भाव मन ज्ञानरूप होने से मतिज्ञान आदि की तरह आत्मगत माना गया है। द्रव्य मन के विषय में श्वेताम्बर-परम्परा दिगम्बर-परम्परा से मतभेद रखती है। वीर्यान्तिराय एवं नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा की विशुद्धि रूप भाव मन है। इसमें दोनों परम्पराएँ सहमत हैं। गुण-दोष आदि का विचार एव स्मरणादि करने के सम्मुख हुए आत्मा के जो मनोवर्गणा नामक जड़द्रव्य सहायक होते हैं वे ही द्रव्य मन है। जैसे देखती तो आँख है पर देखने में उसे सहायक चश्मा होता है इसी तरह विचारक तो आत्मा है पर विचार करने में द्रव्य मन आत्मा को सहायता पहुँचाता है। यह द्रव्य मन मनोवर्गणाओं से उत्पन्न होने के कारण पौद्‌गलिक माना गया है। तथा आत्मा इस द्रव्यमन से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार हमें ये मन के दो भेद जैन-दर्शन में देखने को मिलते हैं उस प्रकार अन्य दर्शनो में नही। द्रव्य मन का स्थान हृदय जिस प्रकार दिगम्बर जैन-परम्परा मानती है, उसी प्रकार अन्य कितने ही वैदिक मतानुयायी भी मानते हैं।

मन आत्मा के द्वारा प्रेर्य है। यह बात न्यायवैशेषिक आदि दर्शनों को भी सम्मत है। मन के स्वरूप का जहाँ विचार किया गया है वहाँ स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यदि मन के माध्यम बिना ही स्वतंत्र रूप से इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पादन करने में स्वतंत्र होतीं तो एक साथ ही अनेक ज्ञान उत्पन्न

हो जाते। किन्तु ऐसा होता नहीं है। एक समय में एक ही ज्ञान होता है। ज्ञान के इस अयौगपद्य से सूचित होता है कि प्रत्येक शरीर में एक मन रहता है। इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा के द्वारा प्रेर्य उस मन का जिस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होगा वही इन्द्रियजन्य ज्ञान उस समय होगा।

आत्मा का स्वभाव ज्ञानात्मक—

दीपक का स्वभाव जिस प्रकार प्रकाशात्मक होता है उसी प्रकार जैन-दर्शन में आत्मा का स्वभाव ज्ञानात्मक माना है; यद्यपि आत्मा को ज्ञानात्मक मानने में भी अन्य दर्शनों के लिए परस्पर में मतभेद है; फिर भी ज्ञानरहित इसे किसी ने भी नही माना है। न्याय वैशेषिकों की ऐसी मान्यता है कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं है, किन्तु वह ज्ञान का अधिकरण है। एक सम्बन्ध ऐसा है जो आत्मा और ज्ञान को नित्य जोड़े रहता है। इस सम्बन्ध का नाम समवाय है। ससारी आत्माओ का ज्ञान अनित्य और परमात्मा—ईश्वर का ज्ञान नित्य है। मुक्ति होने पर ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है। सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति तत्त्वजन्य बुद्धितत्त्व माना गया है अतः यह स्वभावतः अचेतन है। चेतन पुरुष के संसर्ग से ही इसे चेतन मान लिया गया है अतः यह आत्मा का स्वभाव नही है। योग-दर्शन की भी यही मान्यता है। मीमांसकों का कहना है कि आत्मा ज्ञान-सुखादिक रूप नही है। ज्ञान-सुखादिक उसमें समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। एक जैन-दर्शन ही ऐसा दर्शन है जो आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानता है। यदि आत्मा का ज्ञान स्वभाव न माना जाय तो उसमें स्वभावतः जडत्व आने का प्रसंग आयगा। जिनकी ऐसी मान्यता है कि आत्मा में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है उनके लिए जैन-दार्शनिकों ने ऐसा कहा है कि जब समवाय सम्बन्ध स्वय एक है तो उसमें यह विशेषता कैसे आ सकती है कि वह ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से ही करावे अन्य आकाशादिक पदार्थों के साथ न करावे तथा ऐसा कहना कि आत्मा और ज्ञान को एक माना जाय तो दुःखजन्य प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान के नाश होने पर आत्मा के विशेष गुण बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार के उच्छेद होने से आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये; क्योकि जैनमत में आत्मा इन गुणों से भिन्न है। कारण कि जैन-दर्शन ने इन गुणो को आत्मा का स्वभावगुण नही माना है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ही आत्मा के अपने स्वरूप है। सुख-दुःखादि आत्मा के विशेष गुण अवश्य हैं, किन्तु ये आत्मस्वरूप नहीं हो सकते। गुण दो प्रकार के होते हैं— १. स्वभावगुण[1] और २. विभावगुण। जल में शीतलता जल का स्वभाव गुण है। अग्नि की उष्णता अग्नि का स्वभाव गुण है। परन्तु जब अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता आ जाती है तो वह उष्णता उसका विभावगुण बन जाती है; क्योंकि यह उसमें पर के निमित्त से आती है। जब निमित्त हट जाता है तो यह उष्णता भी उससे दूर हो जाती है। इसी तरह मोहनीय कर्म का सद्भाव-उदय जब तक जीवात्मा के बना रहता है, तभी तक वह आत्मा दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म के चक्कर में गोते खाता रहता है। ज्यों ही यह आत्मा से हट जाता है कि ये गुण भी जल की उष्णता की भाँति आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। उष्णता के अभाव में जिस प्रकार जल का अभाव नहीं होता है उसी प्रकार इन

---

१. वैशेषिकों ने आत्मा के ९ गुण तथा नैयायिकों ने ६ गुण माने हैं।

विभाव गुणों के अभाव में आत्मा का भी उच्छेद नहीं हो सकता है। बुद्धि और सुख के विषय में जैन-दार्शनिकों का कथन है कि बुद्धि शब्द ज्ञान का वाचक है। यह ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार हैं। आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं—ज्ञानावरणीय कर्म के एक देश क्षय और उपशम से उत्पन्न होते हैं। क्षायोपशमिक अवस्था में कर्म का सद्भाव रहता ही है। मलतः उसका नाश नहीं होता है। केवल ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। इसमें अपने प्रतिपक्षी का सर्वथा अभाव हो जाता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण नाश हो जाता है तो ज्ञानावरणीय कर्म के एक देश के सद्भाव में होनेवाले ज्ञानों का अभाव हो जाता है अतः केवल ज्ञान अवस्था में जैन-परम्परा इन बुद्धिरूप क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव मानती है और केवल ज्ञान का जो कि क्षायिक ज्ञान है, सद्भाव मानती है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वभाव मानने पर भी उसका सर्वथा विच्छेद जैन-दर्शन अगीकार नहीं करता है। तथा किसी अपेक्षा यह भी उसे मान्य है। केवल ज्ञान रूप विशेषण-विशिष्ट आत्मा जब बन जाती है तो इसके पहले वही आत्मा जो मतिज्ञान आदि विशेषणो से विशिष्ट थी वह नहीं रहती अतः इस विशेष पर्याय की अपेक्षा उसका उच्छेद मानने में कोई दूषण भी नही है।

सुख-स्वभाव—

इसी तरह सुख का भी सर्वथा अभाव जैन-दार्शनिकों ने नहीं माना है। इस विषय में उनकी ऐसी मान्यता है कि सुख से जब विषयादिक सुख ग्रहण किया जाता है तब तो वह आत्मा का निजगुण नही माना जा सकता है। कारण कि सुख भी वेदनीय कर्म के निमित्त से होने के कारण विभावगुण ही माना जायगा। वेदनीय कर्म का अभाव होते ही ऐसे सुख के अभाव में आत्मा का अभाव नहीं हो सकता है। हाँ, एक सुख ऐसा होता है जो अक्षय, अभेद एवं निरतिशय है। वही आत्मा का निजगुण माना गया है। जैन-परम्परा इस सुख का कभी विनाश नही मानती है। इसी तरह आत्मा का भी गुण कभी विनाशी नही माना गया है। कारण कि वहाँ इसे मतिज्ञान का ही भेद माना गया है। मति-ज्ञान आत्मा का निज स्वाभाविक गुण नही है। प्रयत्न को अवश्यवीर्यान्तराय के अभाव से उद्भूतवीर्य लब्धिरूप माना है और यह आत्मा का निजगुण है।

इस विवेचन से केवल इतना ही प्रदर्शित करने का अभिप्राय है कि आत्मा का निजगुण ज्ञान है। इस मान्यता में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है तथा ज्ञान एव सुख के उच्छेद से मुक्ति का लाभ आत्मा को होता है, ऐसी मान्यता जैन-मान्यता से विपरीत है।

यद्यपि न्याय, वैशेषिक, मीमांसक सिद्धान्त इन बुद्धि, सुख-दुःख आदि गुणों को आत्मा में मानते हैं। तथा साख्य, योग वेदान्त आदि दर्शन इन्हें अंतःकरण के धर्म मानते हैं। परन्तु जैनमत इन्हें आत्मगत धर्म मानकर भी उन्हें उसका निज स्वाभाविक गुण नहीं मानता है; यह बात भी इस विवेचन से सुस्पष्ट हो जाती है तथा इन नवगुणों का अत्यन्त उच्छेद ही आत्मा की मुक्ति है ऐसा जो सिद्धान्त न्याय, वैशेषिकों का है वह सिद्धान्त जैन-सिद्धान्त-मान्य मुक्ति के साथ कहाँ तक सम-न्वयात्मक बैठता है यह विषय भी फलित हो जाता है।

अनेक आत्माएँ—

वेदान्त सिद्धान्त जिस प्रकार जीवात्मा के सिद्धान्त को मानता है उस प्रकार जैन-सिद्धान्त इस सिद्धान्त को नहीं मानता है । वह तो साख्य एव नैयायिकों की तरह अनेकान्तवादी सिद्धान्त है । इसके मतानुसार ससार में जितने शरीर है चाहे वे स्थावर जीवों के हो या त्रस जीवों के हों प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न है । यहाँ उपाधिभेद से भिन्नता नही है जैसी वेदान्तिकों ने मानी है । न्याय सिद्धान्त का जिस प्रकार यह कथन है कि "जीवस्तु प्रतिशरीर भिन्न." उसी प्रकार यहाँ भी "जीवो णेगविहो" यह बतलाया गया है । जीवों के[1] संसारी और मुक्त के भेद से दो भेद हैं । जन्म-मरण आदि के चक्कर में जो पड़े हुए हैं वे सब संसारी जीव हैं । इस चक्कर से जो छूट चुके हैं, आवा-गमन जिनका सदा के लिए बन्द हो गया है वे मुक्त जीव हैं । त्रस और स्थावर के भेद से, जिनके विषय में पीछे कहा जा चुका है, ससारी जीव अनेक हैं । इन्हो जीवों की अपेक्षा अर्थात् इनके उत्पत्ति स्थानो की अपेक्षा ही चौरासी लाख योनियाँ संसार के अतर्गत मानी गयी है । प्रत्येक आस्तिक सिद्धान्तकारों ने इन्हे अपनाया है ।

कर्ता-भोक्ता—

जैन सिद्धान्त में जीव को कर्ता-भोक्ता माना गया है । सांख्य सिद्धान्त जीवात्मा को कर्त्ता नहीं मानता है, किन्तु भोक्ता मानता है । हम इसके विपरीत नैयायिकों में यह देखते हैं कि वहाँ जीव को कर्त्ता और भोक्ता दोनो माना है । परन्तु इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व में वहाँ हमें यह मान्यता देखने में आती है कि जीव जब तक शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है तभी तक उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण रहते हैं । परन्तु जब वह शारीरिक बधन से मुक्त हो जाता है तब उसमें ये नही रहते । जैन-परम्परा इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व को और ससारी मुक्त इन दोनों ही अवस्थाओ में मानती है । कर्तृत्व और भोक्तृत्व को उसने दो नयो को लेकर जीव के साथ घटित किया है । वे दो नय व्यवहार और निश्चय हैं । व्यवहार की अपेक्षा यह जीव पौद्गलिक ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्ता होता है तथा शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपने शुद्ध ज्ञानादिक भावों का कर्ता होता है । इसी तरह व्यवहार नय से सांसारिक अवस्था में यह जीव पौद्गलिक कर्मों के फलभूत सुख-दुःख आदि का कर्त्ता और निश्चय नय की अपेक्षा अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन का भोक्ता है ।

—o—

१. पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहार दो दु ण्णिच्चय दो
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ।। द्रव्यसंग्रह ।।

जैन दर्शन में परोक्षज्ञान

प्रो० श्री राजेंद्र प्रसाद, एम० ए०, पटना

प्रमाण के भेद—

जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रमाण से प्रमा यानी सत्य-ज्ञान की उत्पत्ति होती है । प्रत्यक्षज्ञान की विशेषता यह है कि वह विशद होता है, इसके द्वारा ज्ञात वस्तु का प्रकाशन स्पष्ट रूप से होता है । इसलिए जैन आचार्यों ने 'स्पष्ट प्रतिभासत्व' को प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया है । प्रत्यक्षज्ञान की विशदता या स्पष्टता का अर्थ है अन्य सहायक ज्ञान का अभाव । अर्थात् प्रत्यक्ष-ज्ञान को किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नही रहती है, इसकी प्राप्ति के लिये ज्ञाता को किसी तरह के पूर्व ज्ञान या माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ती । जब मैं देखता हूँ कि 'आग जल रही है, तो इस ज्ञान को पाने के लिए मुझे किसी अपर ज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती, इसीलिए ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष की संज्ञा दी जानी चाहिये; परन्तु जैनदर्शन में आत्मज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है; इन्द्रियज्ञान को नही ।

परोक्ष का स्वरूप—

परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष का उल्टा है—इसका लक्षण है अविशद प्रतिभासत्व । यह सदा अस्पष्ट होता है, इसकी सिद्धि के लिये एक दूसरे ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, इसमें ज्ञानान्तर की सापेक्षता सदा वर्तमान रहती है । जब मैं सामने की पहाड़ी से धुआँ निकलते देखकर यह अनुमान करता हूँ कि पहाड़ी में अग्नि है तो यह पहाड़ी के अग्निमान् होने का ज्ञान परोक्ष है, क्योंकि इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए पहले धुएँ का ज्ञान होना आवश्यक है—इसके अभाव में अग्नि का ज्ञान नहीं होगा अतएव अग्नि का ज्ञान परापेक्ष है, पर की अपेक्षा से होने के कारण ही इसे अविशद या अस्पष्ट कहा जाता है । वे सभी ज्ञान, जिन्हें किसी भी तरह के पूर्वज्ञान या पूर्वानुभव की अपेक्षा रहती है, परोक्ष के अन्तर्गत रखे जाते हैं ।

जैनों के परोक्ष ज्ञान की परिभाषा बौद्धों की परिभाषा से मेल नहीं खाती । उनके अनुसार परोक्षज्ञान वह है जो केवल सामान्य को विषय करता है । सभी वस्तुओं के दो गुण होते हैं—सामान्य और विशेष । सामान्य परोक्ष प्रमाण का विषय है । सामान्यमात्रविषयत्व परोक्ष प्रमाण का लक्षण है । न्यायदीपिका में श्री अभिनव धर्मभूषण इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि बौद्धों की परिभाषा

मान लेने पर तो परोक्ष प्रमाण की प्रमाणता ही स्थिर नहीं रह सकती। क्योंकि प्रमाण मात्र का यह धर्म है कि वह सामान्य और विशेष दोनों को विषय करता है। अतएव बौद्धों का लक्षण असंभव दोष से दूषित है। "प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वेन तस्य लक्षस्यासम्भवित्वात्" (न्यायदीपिका) केवल किसी एक को विषय करना अप्रमाणता का द्योतक है। अतएव परोक्ष प्रमाण का लक्षण केवल सामान्य को विषय करना कदापि नही हो सकता। प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष के भी सामान्य और विशेष —दोनों ही विषय हैं। अतएव बौद्ध परिभाषा को स्वीकार करना उचित नहीं है।

परोक्ष के भेद—

अविशदता या अस्पष्टता को परोक्ष प्रमाण का लक्षण मानकर जैन तार्किकों ने इसके पाँच भेद किये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क-अनुमान और आगम (तत् पञ्चविधम् स्मृतिः प्रत्यभिज्ञानम् तर्कः अनुमानम् आगमश्चेति—'न्यायदीपिका')। इन सबों को ज्ञानान्तर की अपेक्षा रहती है। परोक्ष ज्ञान के कारण भूत ज्ञान कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष और कभी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रहते हैं।

स्मृति-ज्ञान की प्रमाणता—

स्मृतिज्ञान का विषय कोई अनुभूत-पदार्थ रहता है और इस ज्ञान की अभिव्यक्ति 'वह' शब्द के द्वारा होती है। जब कभी किसी वस्तु का अनुभव होता है तो उस अनुभव के फलस्वरूप एक धारणा बनती है। यह धारणा आत्मा में एक प्रकार का संस्कार पैदा करती है जो भविष्य में अनुकूल स्थिति होने पर अनुभूत विषय का स्मरण करा देता है। अनुभूत विषयों के संस्कार आत्मा में सदा वर्तमान रहते हैं, किन्तु वे सुप्त रहते हैं। ये ही सुप्त संस्कार स्मृति के अवरोधक कारणो के ह्रास और अनुभूत विषय के पुनर्दर्शन या उसीके समान किसी अन्य वस्तु के दर्शन होने पर प्रबुद्ध हो अतीत वस्तु का स्मरण कराते हैं। अतएव पूर्व अनुभव के जाग्रत संस्कार स्मृति ज्ञान के कारण हैं। बिना पूर्वानुभव के स्मृति नही हो सकती, अपरिचित वस्तु का स्मृतिज्ञान असम्भव है। पूर्व अनुभव की अपेक्षा होने से ही स्मृतिज्ञान की गणना परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत होती है। आज से कुछ दिनो पहले हमने देवदत्त को देखा, इस अनुभव का संस्कार हमारे मन में तभी से वर्तमान था। आज जब हम पुन. देवदत्त को देखते हैं या उसके समान या उससे सम्बन्धित किसी को देखते हैं तो वह पुराना संस्कार जाग्रत हो भूतकाल में देखे गये देवदत्त की याद दिलाता है और हम कह उठते हैं, "यह वह देवदत्त है" या "यह आदमी उस देवदत्त के समान है।" देवदत्त को 'वह' या 'उस' शब्द से संबोधित करने का अर्थ है कि हम उससे पूर्व परिचित हैं। स्मृतिज्ञान सदा इसी तरह से व्यक्त किया जाता है। स्मृतिज्ञान भी और ज्ञानो की तरह सदा सत्य नहीं होता; इसके भी आभास होते हैं जिनकी गिनती अप्रमाणो में होती है। जब हम किसी अनुभूत वस्तु को उसी रूप में याद करते है; जिस रूप में हमने उसका अनुभव किया था, तो हमें यथार्थ स्मृतिज्ञान होता है; किन्तु जब स्मृत वस्तु अनुभूत से भिन्न होती है, तो ऐसे स्मरण को स्मृत्याभास कहते हैं।

जैन दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य कोई भारतीय दार्शनिक स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं। न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध आदि सबों का यही कहना है कि स्मृति अप्रमाण है, क्योंकि स्मृति के

द्वारा ज्ञात वस्तु का ही ज्ञान होता है—जो वस्तु पहले से ज्ञात है उसे पुनः याद कर जानने से हमारे ज्ञान की वृद्धि नहीं होती । स्मृति पूर्व अनुभव के द्वारा गृहीत वस्तु को ही आत्मा के सामने पुनः प्रस्तुत करती है, इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण इसकी प्रमाणता स्वीकार नहीं की जा सकती ।

जैन दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि गृहीतग्राही होने से कोई भी ज्ञान अप्रमाण हो सकता है । प्रमाण की परिभाषा में ही उन्होंने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि प्रमाण अपूर्वार्थ (अगृहीत वस्तु) को विषय करता है । स्मृति भी गृहीतग्राही होने से अप्रमाण हो जायगी, किन्तु जैन दार्शनिको ने यह दिखलाया है कि सूक्ष्म विवेचन करने पर स्मृति पर गृहीतग्राहित्व का आरोप मिथ्या ठहरता है । स्मृति पर गृहीत-ग्राहित्व का आरोप तभी सत्य होता जबकि अनुभव और स्मृति, दोनों के विषय एक होते, किन्तु दोनो के विषय भिन्न हैं । अनुभव वर्तमान वस्तु को ग्रहण करता है, जिसकी अभिव्यक्ति 'यह' के द्वारा होती है; और स्मृति भूतकालीन वस्तु को ग्रहण करती है जिसकी अभिव्यक्ति 'वह' के द्वारा होती है । गृहीतग्राही होने के लिए स्मृति को भी वर्तमान वस्तु (जो अनुभव का विषय है) को विषय करना चाहिये था, किन्तु भूतकालीन वस्तु को विषय करने के कारण स्मृति और अनुभव में विषय भेद है *और विषय भेद होने से स्मृति अगृहीतग्राही प्रमाणित होती है जिससे इसकी स्वतन्त्र प्रमाणता सिद्ध* होती है । दूसरे, प्रमाणता का नियामक अविसवाद है । जो ज्ञान विसंवाद रहित है, जिसका विरोध कोई अन्य प्रमाण नही करता—वह प्रमाण है । स्मृति भी प्रत्यक्ष आदि की तरह विसंवाद रहित है, अतएव अविसवादी होने से अन्य प्रमाणो की तरह यह भी प्रमाण है । विसवादी होने पर स्मृति नही बल्कि स्मृत्याभास होता है जो अन्य प्रमाणाभासों की तरह अप्रमाण है । तीसरे, जब हम जानी हुई वस्तु को जानने के कारण स्मृति को अप्रमाण कहते हैं तो इस विशेषता के अनुसार कभी-कभी प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा । कभी-कभी अनुमान के द्वारा जानी हुई वस्तु के विषय में पूर्णतया निश्चित ज्ञान पाने के लिए हम उसी वस्तु को प्रत्यक्ष का विषय बनाते हैं । रसोई घर से धुएँ को आते देखकर हम यह अनुमान करते हैं कि रसोई घर में आग जल रही है । इस अनुमानजन्य ज्ञान को और भी सुदृढ़ करने के लिए हम रसोई घर में जाकर अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है । अब यदि ज्ञात वस्तु का ज्ञान प्रदान करने से कोई प्रमाण अप्रमाण हो सकता है तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण मे प्रत्यक्ष अनुमान के द्वारा पहले से ज्ञात विषय का ज्ञान कराता है । किन्तु प्रत्यक्ष की अप्रमाणता कोई भी स्वीकार नहीं करता । अतएव जब प्रत्यक्ष प्रमाण है तो स्मृति को अप्रमाण मानना न्यायसंगत नही है । स्मृति की प्रमाणता की चौथी समर्थक युक्ति यह है कि विस्मरण, संशय, विपर्यय आदि मिथ्याज्ञानो का निवारण स्मृति के द्वारा होता है, मिथ्याज्ञान का निराकरण प्रमाण का ही कार्य है । इसलिए भी स्मृति को प्रमाण मानना आवश्यक है ।

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता—

प्रत्यवमर्श, संज्ञा, प्रत्यभिज्ञा आदि प्रत्यभिज्ञान के कई नाम हैं । अनुभव और स्मरण से उत्पन्न होने वाला संकल्पनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है । स्मृति के लिये पूर्वानुभव की अपेक्षा रहती है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान के लिए अनुभव और स्मृति दोनों की आवश्यकता पड़ती है । प्रत्यभिज्ञान के विषय पूर्व

और उत्तर की दशाओं में विद्यमान रहनेवाले एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य (असमानता), प्रतियोगित्व (दो वस्तुओं का विशेष) दूरत्व आदि हैं। जब कोई आदमी जिनदत्त को एक बार देखता है और फिर कुछ दिनों के बाद देखने पर उसे पहचान कर कहता है 'यह वही जिनदत्त है' या पहले से गाय का ज्ञान रखते हुए जंगल में उसी के समान एक पशु को देखकर कहता है 'गाय के समान गवय है' या भैंसा को देखकर कह उठता है कि भैंसा गाय से भिन्न होता है, या दो वस्तुओं के विषय में कहता है कि क ख का प्रतियोगी है, या क ख से दूर है, तथा उसके ये सभी वाक्य प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान के उदाहरण हैं। पहले उदाहरण में प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व और उत्तर की दशाओं में वर्तमान जिनदत्त के व्यक्तित्व की एकता है, दूसरे में पूर्व अनुभूत गाय और वर्तमान कालीन गवय की समानता, तीसरे में पूर्व अनुभूत गाय और वर्तमान भैंसा की भिन्नता, चौथे में प्रतियोगित्व और पाँचवें में दूरत्व है। पहले प्रकार के प्रत्यभिज्ञान को एकत्व प्रत्यभिज्ञान, दूसरे को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तीसरे को वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसी तरह प्रत्यभिज्ञान के और भी भेद किये जा सकते हैं। सभी तरह के प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मृति के संकलन की आवश्यकता पडती है। पहले उदाहरण में ज्ञाता को जिनदत्त का पूर्वानुभव रहता है, उसे वह पुनः देखता है और देखकर पूर्व परिचय को स्मरण करता है और तब वह कहता है 'यह वही जिनदत्त है'। यहाँ पर 'यह' वर्तमान अनुभव का विषय है और 'वही' स्मृति का। दोनो के मिश्रण से भूत और वर्तमान कालों में विद्यमान एकता का ज्ञान होता है। दूसरे उदाहरण में भी पूर्व परिचित गाय की स्मृति और वर्तमान गवय की तात्कालिक अनुभूति के मिश्रण से दोनो के बीच वर्तमान सादृश्य का ज्ञान होता है। विश्लेषण करने पर सभी प्रकार के प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मृति का संकलन मिलेगा।

अन्य कई भारतीय दार्शनिको ने जैनो के प्रत्यभिज्ञान विषयक मत को अस्वीकार किया है। सबसे तीव्र आक्षेप बौद्धो का है; वे प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नही मानते। उनके इस मत का आधार क्षणिक-वाद है। क्षणिकवादी बौद्धों के अनुसार कोई वस्तु पूर्व और उत्तर के क्षणो में एक नही रहती। पहले क्षण की वस्तु दूसरे क्षण में दूसरी हो जाती है, अतएव एकत्व नाम की कोई चीज सत्य नही है। पहले क्षण का 'क' दूसरे क्षण में 'क' २ हो जाता है। जबकि एकत्व मिथ्या है, तो इसको विषय करने वाला ज्ञान अवश्य ही अप्रमाण है। रस्सी की जगह सर्प का ज्ञान कराने वाला ज्ञान अप्रमाण है, उसी तरह एकत्व के अभाव में एकत्व का ज्ञान कराने वाला प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है। जहाँ कही ऐसा लगता है कि यह वही है, वहाँ एकत्व नही, बल्कि सादृश्य है। उत्तर क्षण की वस्तु पूर्व क्षण की वस्तु के स्दृश है और इसी सदृशता को भूल से एकत्व समझ कर ज्ञाता कहता है कि 'यह वही है'। बौद्धो की इस आलो-चना का आधार उनका क्षणिकवाद होने से जैन दार्शनिकों ने इसका खडन क्षणिकवाद के खडन द्वारा किया है। वे कहते है कि वस्तुओ में परिवर्तन होते है, किन्तु इन परिवर्तनो के साथ-साथ वस्तु की तात्त्विक एकता बनी रहती है।

कुछ विचारको का कहना है कि प्रत्यभिज्ञान नाम का कोई एक प्रमाण नही है, बल्कि जिसे हम प्रत्यभिज्ञान कहते हैं वह दो प्रमाण—प्रत्यक्ष, और स्मरण का जोड़मात्र है। क्योंकि इस तरह के ज्ञान के 'यह' अश का ज्ञान प्रत्यक्ष से और 'वही' अश का ज्ञान स्मरण से होता है। इसलिए प्रत्यक्ष

और स्मरण के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान को एक अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है । इसके उत्तर में जैनाचार्यों का कहना है कि प्रत्यभिज्ञान दोनों का जोड़मात्र नहीं, बल्कि दोनों का मिश्रण होते हुए भी दोनों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष से वर्तमान को जान सकते हैं और स्मरण से भूत को, वर्त्तमान और भूत की एकता, समानता, असमानता आदि का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है न स्मरण से । अतएव प्रत्यभिज्ञान का विषय प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय से भिन्न है, और विषय भेद न होने से प्रत्यभिज्ञान को स्वतंत्र प्रमाण मानना गलत नही है । अतएव प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण की अपेक्षा रखते हुए भी उन दोनों से भिन्न एक स्वतत्र प्रमाण है ।

प्रत्यभिज्ञान और वैशेषिक दर्शन—

वैशेषिक दर्शन के अनुयायी एकत्व प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष का एक भेद मानते हैं । उनका कहना है कि प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियों के होने पर होता है और नहीं होने पर नही होता है; इसलिए यह भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है । प्रत्यभिज्ञान भी इन्द्रियों के होने पर होता है नही होने पर नहीं होता है इसलिए यह भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है । जैनों के अनुसार यह मत गलत है, क्योंकि प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान का ज्ञान हो सकता है, भूत और वर्तमान की एकता का नही, जो कि प्रत्यभिज्ञान का विषय है । इसके उत्तर में वैशेषिक मत की पुष्टि करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं सचमुच इन्द्रियाँ सामान्य दशा में वर्त्तमान मात्र का ज्ञान कराती हैं किन्तु कई विशेष दशाओं में संस्कार और स्मरण आदि सहकारियों की सहायता पा भूत और वर्तमान अवस्थाओ में विद्यमान एकत्व का भी ज्ञान करा सकती हैं । अंजन आदि की सहायता से आँखें वैसी वस्तुओं को देख लेती हैं जिन्हें सामान्यतया वे देख नही पाती । इसी तरह स्मरण की सहायता से पूर्व और उत्तर की दशाओ में वर्तमान एकत्व का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से हो सकता है । इस उत्तर का भी जैन आचार्यों ने खंडन किया है । उनका कहना है कि सहकारियों के मिल जाने पर भी किसी-भी प्रमाण से वैसी वस्तु का ज्ञान नही हो सकता है जो उसका विषय नही है । अविषय को विषय करना किसी भी प्रमाण के लिए किसी भी दशा में संभव नही है । आँख का विषय रूप है, अंजन आदि की सहायता से भी आँख की गति रूप में ही हो सकती है, रस आदि किसी अविषय में कदापि नही । दूसरे, प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान अस्पष्ट होता है—ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखता है, इसलिए भी इसे प्रत्यक्ष नही माना जा सकता ।

नैयायिकादि-दर्शन और प्रत्यभि-ज्ञान—

नैयायिक और मीमासक सादृश्य और वैसादृश्य —प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते है किन्तु उन्हें उपमान की संज्ञा देते हैं । उनके विरुद्ध जैन तार्किकों का कहना है कि सादृश्य या वैसादृश्य के ज्ञान मे प्रत्यभिज्ञान का लक्षण (अनुभव और स्मृति का सकलन) वर्तमान है, अतएव उन्हें भी प्रत्यभिज्ञान ही मानना चाहिये । सादृश्य या वैसादृश्य रहने से यदि उसका दूसरा नामकरण किया जाय तो प्रति-योगित्व, दूरत्व आदि को विषय करने वाले सभी प्रमाणों को अलग-अलग नाम देने पड़ेंगे, जो कि अना-वश्यक है । बात यह है कि ये सभी बिना किसी खींच-तान के प्रत्यभिज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान का सामान्य लक्षण सबों में वर्तमान है ।

तर्क का स्वरूप और प्रमाणता—

तर्क के चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि कई नाम हैं। तर्क व्याप्ति ज्ञान को कहते हैं। ' दो वस्तुओं के बीच एक विशेष सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह सम्बन्ध नियत साहचर्य का है। जब दो वस्तुओं का साहचर्य सर्वदेश और सर्वकाल में वर्तमान रहता है, जिसमें कभी व्यभिचार (अपवाद) नहीं होता, ऐसे व्यभिचार रहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। इस तरह का सम्बन्ध धूम और अग्नि का है। धूम के साथ अग्नि सदा रहती है —जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहती है। इस सम्बन्ध में कभी अपवाद नहीं होता। कभी भी धूम बिना अग्नि के नहीं पाया जाता। ऐसे सम्बन्ध को अविनाभाव भी कहते हैं। अविनाभाव सम्बन्ध वैसी वस्तुओं में होता है जो एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकती है। दो वस्तुओं के बीच स्थित अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कराने वाला प्रमाण तर्क कहलाता है साध्य और साधन में व्याप्ति का होना अनुमान का आधार है; और चूँकि व्याप्ति का ज्ञान तर्क से होता है, तर्क की प्रमाणता महत्वपूर्ण है।

तर्क-विषयक जैनमत वैदिक न्याय के तद् विषयक मत से नितान्त भिन्न पड़ता है। तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण नैयायिक नहीं मानते, न इसे अप्रमाण ही कहते हैं। उनके अनुसार तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक या सहायक है, यह प्रमा की उत्पत्ति नहीं करता, बल्कि प्रमाण से प्राप्त ज्ञान के विषय में सन्देह का निवारण कर उक्त ज्ञान की पुष्टि में सहायक होता है।

जैन दार्शनिक तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि तर्क की प्रमाणता सत्य है, क्योंकि इससे प्राप्त ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता, कोई भी प्रमाण तर्क का विरोध नहीं करता। यह अगृहीतग्राही है, क्योंकि व्याप्ति का—जो तर्क का विषय है—ज्ञान अन्य किसी भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता। व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान तक ही सीमित रहता है—जब कि व्याप्ति सभी जगह और सभी समय (भूत, वर्तमान, भविष्य) के विषय में लागू रहती है। प्रत्यक्ष के द्वारा हम केवल अभी सामने के धूम और अग्नि को जान सकते हैं, सभी धूम और अग्नि के सम्बन्ध को नहीं। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष से अकेले नहीं मिल सकता, लेकिन स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहकारिता पाने पर प्रत्यक्ष व्याप्तिज्ञान का साधक बन सकता है। प्रत्यक्ष के द्वारा निस्सन्देह हम वर्तमान धूम और अग्नि को ही जान सकते हैं, किन्तु इसके साथ-साथ पहले के देखे गये धूम अग्नि के उदाहरणों को स्मृति के सहारे याद कर और प्रत्यभिज्ञान के द्वारा यह जान कर कि पहले और आज के धूम-अग्नि सभी सजातीय हैं, हम सभी धूम अग्नि के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए जबकि एक विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष (स्मरण और प्रत्यभिज्ञान से सहित प्रत्यक्ष) ही व्याप्तिज्ञान का साधक है, तो इसके लिए एक नवीन प्रमाण (तर्क) को स्वीकार करना अनावश्यक है। इस आक्षेप का खंडन जैन दार्शनिकों ने उसी ढंग से किया है जैसा कि प्रत्यभिज्ञान पर लाये गये ऐसे आक्षेप का उन्होंने किया था। वे कहते हैं कि हजार सहकारियों के होने पर भी कोई प्रमाण अविषय का ज्ञान नहीं दिला सकता—'सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तेरयोगात् (न्यायदीपिका)'

व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से भी नहीं हो सकता। यदि हम मान लें कि व्याप्ति अनुमान से गृहीत होती है, तो दो बातें हो सकती हैं—व्याप्ति का ग्रहण उसी अनुमान से होता है जिसकी यह व्याप्ति है, या किसी दूसरे अनुमान से ? यदि पहला विकल्प सत्य है, तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर व्याप्ति अनुमान पर आधारित होती है, और स्वय अनुमान व्याप्ति पर; अर्थात् दोनों को एक दूसरे पर आश्रित होना पड़ता है। दूसरा विकल्प मानने पर अनवस्था दोष होता है, क्योंकि दूसरे अनुमान की व्याप्ति के ग्रहण के लिये तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी, तीसरे की व्याप्ति के लिये चौथे की, इस तरह इस प्रक्रिया का कही अन्त नही हो सकेगा। अतएव अनुमान से व्याप्ति ग्रहण की कल्पना करना उचित नहीं है। व्याप्ति ग्रहण आगम आदि अन्य प्रमाणों से भी नही हो सकता, क्योंकि उनके भी विषय भिन्न हैं।

बौद्ध-दर्शन और तर्क-प्रमाण—

बौद्ध दार्शनिक भी तर्क को प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार व्याप्तिज्ञान (जिसके लिए जैन लोग तर्क की आवश्यकता बतलाते हैं)—निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा होता है—तर्क नाम के किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। श्री अभिनव धर्मभूषण ने बौद्धो के इस मत का विश्लेषण कर सिद्ध किया है कि उनकी युक्ति तर्क की अप्रमाणता नहीं सिद्ध करती। वे कहते हैं कि जिस विकल्प से व्याप्ति मिलती है वह प्रमाण होगा या अप्रमाण ? अप्रमाण तो होगा ही नही, क्योकि उस हालत में उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति भी अप्रमाण हो जायगी। यदि वह प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष होगा या अनुमान, क्योंकि बौद्धों के अनुसार ये ही प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष तो यह हो ही नही सकता, क्योंकि अस्पष्ट है और अनुमान भी नही हो सकता, क्योंकि हेतुज्ञान की आवश्यकता नही पड़ती। अतएव व्याप्तिज्ञान का साधक प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, जिसे तर्क की संज्ञा दी गई है।

इन्ही युक्तियों के आधार पर जैन दार्शनिकों ने तर्क को स्वतंत्र प्रमाण माना है। उनके अनुसार तर्क के लिए प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान तीनों की अपेक्षा रहती है। यही ज्ञानान्तर की अपेक्षा इसे परोक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट कराती है। किन्तु तीनो के मिश्रण से उत्पन्न होने पर भी तर्क उनका समुदायमात्र नहीं है। मीमांसक तर्क को प्रमाण मानते हैं, किन्तु उसका नाम ऊह रखते हैं।

आगम-प्रमाण—

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान का नाम आगम है। आगम को श्रुतज्ञान भी कहते हैं। आगम ज्ञान का आधार आप्त है और आप्त वह है जो सर्वज्ञ (सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान रखनेवाला) वीतराग (रागद्वेष से मुक्त) और परम हितोपदेशी (शुद्ध चित्त से सबों को परमहित का उपदेश देने वाला) होता है। सर्वज्ञ होने से आप्त के वचन कभी असत्य नहीं हो सकते; वीतराग होने से राग-द्वेष आदि ज्ञान को कलुषित करनेवाली कुप्रवृत्तियों से दूषित नही होते; और परम हितोपदेशी होने से आप्त उनका प्रकाशन सत्य रूप में करता है, किसी को धोखा देने की इच्छा न होने से

सत्य ज्ञान को छिपाने या दूसरे रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति नहीं होती । ऐसे पुरुषों के वचनों की व्याख्या कर उनके अन्तर्गत स्थित अर्थ या तात्पर्य को ग्रहण करना आगम प्रमाण है । आगम ज्ञान केवल वचनों से नहीं, बल्कि किसी भी तरह के संकेतों (अक्षर या अन्य कोई संकेत जिनके द्वारा मन का भाव दूसरों पर व्यक्त किया जा सकता है) के माध्यम से हो सकता है । धर्मग्रंथों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान ही आगमज्ञान है ।

चार्वाकों ने आगम को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रक्खा है । वे कहते है कि शब्दों को सुनना या पढ़ना, जिसके द्वारा आगम-ज्ञान होता है, दोनो ही प्रत्यक्ष के भेद है—सुनना, श्रावण प्रत्यक्ष है, और पढ़ना चाक्षुष प्रत्यक्ष । इसके उत्तर में जैन-दार्शनिकों का कहना है कि आगम प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि प्रत्यक्ष शब्दो के सुनने या पढने मात्र तक सीमित, है जबकि आगम-ज्ञान सुनने या पढने मात्र से नही, बल्कि सुने गये या पढे गये शब्दो के तात्पर्य समझने से होता है । नैयायिक आगम को प्रमाण मानते हैं, किन्तु उनके द्वारा किया गया आगम का लक्षण भ्रान्ति-पूर्ण है । आगम की प्रमाणता के लिये आप्त का सर्वज्ञ, वीतराग और परम हितोपदेशी होना अनिवार्य है, किन्तु नैयायिको का आप्त सर्वज्ञ नही है । नैयायिक ज्ञान को अस्वसंवेदी –अपने से नही, बल्कि दूसरे ज्ञान से ज्ञात होने वाला मानते है । किन्तु ऐसा मानने पर ज्ञान का ज्ञान होना ही असम्भव हो जायगा । एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की, दूसरे के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पडती जायगी, और इस आवश्यकता का कही अन्त न होने से अनवस्था दोष हो जायगा । अतएव नैयायिको के आप्त को अपने ज्ञान का ज्ञान नही हो सकता; इस-लिए कि वह सर्वज्ञ नही है, क्योंकि सर्वज्ञता के अन्तर्गत ज्ञान का ज्ञान भी आता है ।

आगम ज्ञान की निष्पत्ति शब्दों से अर्थ ग्रहण करने पर होती है । शब्दो से अर्थ का ज्ञान संकेत से होता है । वाक्य के रूप में सजे हुए शब्दों से समुचित ज्ञान मिलता है । वाक्य आपस में अपेक्षा रखने वाले शब्दो का निरपेक्ष समूह है, जैसे—'दूध लाओ' वाक्य में 'दूध' और 'लाओ' दोनो शब्द एक दूसरे की अपेक्षा रखते है और इस वाक्य के अर्थ को समझने के लिए किसी दूसरे वाक्य की अपेक्षा नहीं है । शब्दो के परस्परापेक्ष और शब्दसमूह के निरपेक्ष होने पर ही वाक्य से अभीप्सित अर्थ का ज्ञापन हो सकता है ।

आगम के बाद परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत अनुमान आता है, किन्तु जैनाचार्यों की अनुमान विषयक चर्चा इतनी विस्तृत है कि उसका प्रतिपादन एक स्वतंत्र निबंध के बिना सम्भव नहीं है ।

जैनेतर दर्शनों में स्याद्वाद

पं० श्री हीरालाल जैन, शास्त्री

जैनेतर दर्शनों में तद्विषयक विद्वानों ने स्याद्वाद को कहाँ तक और किस रूप में अपनाया है इस बात के बताने के पूर्व "स्याद्वाद" शब्द का लक्षण समझ लेना आवश्यक है; क्योंकि उसी लक्षण के सहारे ही हम अजैन दर्शनों में स्याद्वाद का अन्वेषण कर सकेंगे।

स्याद्वाद का स्वरूप—

स्याद्वाद शब्द एकान्त या सर्वथापन का निषेधक और अनेकता का सूचक है। स्याद्वाद का अर्थ होता है—पदार्थ का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से (अपेक्षाओं से) परीक्षण कर निर्णय करना। क्योंकि सर्वथा एक ही दृष्टि से पदार्थ का सर्वाङ्ग निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने सबसे प्रथम "सिद्धिरनेकान्तात्" अर्थात् "वस्तु तत्त्व की सिद्धि अनेकान्त-स्याद्वाद से ही हो सकती है" अन्यथा नहीं, की घोषणा की।

अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथचित्वाद और स्याद्वाद ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथचित्' किसी अपेक्षा से होता है। सस्कृत भाषा के अनुसार 'स्यात्' यह अन्वय है और वह अनेकान्त का द्योतक एव सर्वथापन का निषेधक है। जैसा कि विद्यानन्द स्वामी ने कहा है—

स्यादिति शब्दोऽनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती तथा विवक्षापायात् ॥
अष्टसहस्री पृ० २८६।

अकलंक देव ने भी स्याद्वाद का पर्यायवाचक अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार किया है—
'सदसन्नित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्त.। अष्टशती पृ० २८६।

पंचास्तिकाय की टीका में अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—
'सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः।'

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध देवागम स्तोत्र में स्याद्वाद का क्या सुन्दर लक्षण किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेय विशेषकः ॥

स्याद्वाद सर्वथा एकान्त का त्याग—निषेध करके कथंचित् अपेक्षा भेद से वस्तुतत्त्व का निर्णय करता है और वही ही सप्तभंगी रूप नयों की अपेक्षा से स्वभाव और परभाव द्वारा वस्तु में सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और सामान्य-विशेष की व्यवस्था का प्रतिपादन करता है।

स्याद्वाद की उपयोगिता—

वस्तु के यथार्थ स्वरूप निर्णय के लिए स्याद्वाद का उपयोग सर्वप्रथम है। बिना इसके वस्तु का निर्णय नही हो सकता। यदि हम किसी वस्तु को उसके किसी एक धर्म की मुख्यता से एक ही रूप में मान लें और उसके समस्त धर्मों का अपलाप कर दें, तो संसार का व्यवहार तक नही चल सकता, वस्तु का निर्णय तो बहुत दूर की बात है। उदाहरणार्थ—यदि हम किसी मनुष्य को 'मामा' कहते हैं, तो क्या वह संसार के सभी मनुष्यों का मामा है? उत्तर में कहना पड़ेगा कि नही। किसी की अपेक्षा से वह चाचा भी है, किसी की अपेक्षा से भाई भी है। इसी प्रकार एक अखण्ड अनन्त धर्म रूप वस्तु को भी किसी एक धर्म की मुख्यता से उसे एक रूप कहना अयुक्त है, किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसे नाना रूप ही मानना सर्वथा न्यायसगत है।

इतनी प्रारम्भिक भूमिका के बाद अब मे अपने विषय पर आता हूँ। और भिन्न-भिन्न दर्शनों के ग्रन्थों का अवतरण देकर यह दिखाने का यत्न करूँगा कि भारतीय प्रसिद्ध जैनेतर विद्वानो ने भी "स्याद्वाद" का अपने यहाँ कहाँ तक उपयोग किया है।

नित्यानित्य विचार—

जैन-दर्शन की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य एवं पर्याय अपेक्षा अनित्य है। पर्याय-उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली होती है जो कि वस्तु में अनित्यता सिद्ध करती है। साथ ही उत्पाद व्यय से वस्तु में हमें उसकी स्थिति की ध्रुवता का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही स्थिरता ध्रुवता वस्तु में नित्य धर्म का अस्तित्व सिद्ध करती है। इस प्रकार सक्षेप में वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हुआ करती है। जैसा कि उमास्वामी ने कहा है—"*उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्*।"

पतञ्जलि महाभाष्य—

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में जैन-दर्शन के उक्त सिद्धान्त का निम्न-लिखित शब्दो में कितना अच्छा विवेचन किया है—

द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्यरुचकाः क्रियन्तेरुचकाकृतिमुपमृद्यकटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः स्वर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिरागारसदृशे कुण्डले भवतः आकृतिरन्यान्याच भवति द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

मीमांसा श्लोक-वार्तिक—

मीमांसा दर्शन के उद्भट विद्वान कुमारिलभट्ट ने भी पदार्थों के इस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप को स्वीकार किया है; देखिये—

१. वर्द्धमानकभंगे च, रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः, प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ।।

२. हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ।।

३. न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ।।

मीमांसा श्लोकवार्तिक पृ० ६१९ श्लोक सं० २१, २२, २३ ।

कुमारिलभट्ट का उक्त सिद्धान्त जैन-दर्शन के तो अनुकूल है ही, साथ ही वह वर्णनशैली में भी स्वामी समन्तभद्राचार्य का कितना अधिक अनुकरण करता है, यह देवागमस्तोत्र के निम्नलिखित श्लोको से स्पष्ट विदित हो जाता है । पाठकों को इस बात का ध्यान रहे कि कुमारिलभट्ट से स्वामी समन्तभद्र तीन-चार शताब्दी पूर्व हो चुके हैं । इससे निश्चित है कि स्वामी समन्तभद्र के समन्त-भद्र-स्याद्वाद का प्रभाव उस समय के सभी दर्शनों पर पडा था । अस्तु, वे श्लोक ये हैं—

१. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।५९।।

२. पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत. ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ।।६०।। देवागमस्तोत्र

गभीर निरीक्षण से पाठक यह अनुभव किये बिना न रहेंगे कि स्वामी समन्तभद्र के सूत्रात्मक श्लोको की व्याख्या रूप ही कुमारिलभट्ट ने व्याख्यान किया है ।

सत्-असत्-विचार—

सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थ, स्वरूप से—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् हैं और-पररूप से—परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत् स्वरूप हैं । जैसे घट अपने द्रव्य पुद्गल मृत्तिका, क्षेत्र इस स्थान, काल वर्तमान एव भाव लाल काला आदि की अपेक्षा से तो हैं—सत् स्वरूप है—और वही पर से—अन्य पटादिक के द्रव्य क्षेत्र काल भाव से —नही हैं, असत् रूप है । दोनों में से किसी एक रूप मानने से वस्तु या तो सर्वात्मक हो जायगी, अथवा लोक-व्यवहार का अभाव हो जायगा । इसलिए दोनों रूप ही वस्तु को मानना आवश्यक है । इसीलिए श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।१५।।

इस श्लोक का अन्तिम चरण बहुत महत्त्व का है, आचार्य कहते हैं कि यदि उभयात्मक वस्तु न मानोगे, तो पदार्थ की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है।

वैशेषिक-दर्शन—

महर्षि कणाद ने अन्योन्याभाव के निरूपण में भी उक्त उभय रूप वस्तु को ही स्वीकार किया है—

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्।

वैशेषिक दर्शन अ० ९ आ० १ सूत्र ४, ५

उपस्कार—यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते, तत्र तादात्म्याभाव प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना। असत् गौरश्वात्मना, असन् पटो घटात्मना इत्यादि। पृ० ३१३

भाष्य—तदेव रूपान्तरेण सदप्यन्येन रूपेणासद् भवतीत्युक्तम्॥ पृ० ३१५

न्याय-दर्शन—

गौतम ऋषि के न्याय-सूत्रों पर अनेकों प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिसमें वैदिक वृत्ति में "कर्म से उत्पन्न होने वाले फल उत्पत्ति के पूर्व सत् है अथवा असत्?" इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि 'उत्पादव्ययदर्शनात्' न्या० ४–१–४९

व्याख्या—प्राङ् निष्पत्तेः सदसदिति चानुवर्तते फलसम्बन्धात् पूर्ववत् निष्पत्तेः प्राक् फल कार्य, सदसदिति वेदितव्यम्। कुत उत्पादव्ययदर्शनात्, तदुत्पत्तिविनाशयोरुपलभ्यमानत्वात्। चेदुत्पत्तेः प्राक् कार्यमसद् भवेत् न जातूत्पद्येत्। असत शशशृंगादेरुत्पत्त्यदर्शनात्। सच्चेत् न कदाचिद्विनश्येत्। पुरस्तात् सतः पश्चादपि सर्वनियमेन विनाशासभवात्। उत्पद्यते विनश्यति च कार्य, तस्मात् भवति प्रतिपत्तिर्नूनमेतदुत्पत्तेः प्राक् नासदस्ति, नापि सत्, किन्तु सदसदिति॥४९॥ वैदिकी वृत्ति॥

पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि कितने उत्तम प्रकार से वृत्तिकार ने सत्-असत्-उभयात्मक वस्तु को स्वीकार किया है, जो कि जैन-दर्शन के बिल्कुल अनुरूप ही है।

भेदाभेद-विचार—

द्रव्य से पर्याय, गुण से गुणी अथवा धर्म से धर्मी कथंचित् अपने संज्ञा लक्षणादि से भिन्न है, और आधारादि की अपेक्षा अभिन्न है। यह जैन-दर्शन का प्रसिद्ध कथन है। इसीको स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ, भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया॥३६॥

एक वस्तु में किसी दृष्टि से भेद एवं किसी दृष्टि से अभेद प्रमाणसिद्ध ही है, काल्पनिक नहीं। हाँ, इनमें कभी कोई प्रधान तो दूसरा गौण हो जाता है।

वेदान्त-दर्शन—

व्यास-प्रणीत ब्रह्म-सूत्रों पर भास्कराचार्य-रचित भाष्य में भेदाभेद का विचार करते हुए "युक्तेः शब्दान्तराच्च" (२-१-१८) सूत्र पर लिखा है—

अवस्था तद्वतोरिव नात्यन्तभेदो नहि शुक्ल-पटयोर्धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदः, किन्तु एकमेव वस्तु, नहि निर्गुण नाम द्रव्यमस्ति, न हि निर्द्रव्यो गुणोऽस्ति, तथोपलब्धेः, उपलब्धिश्च भेदाभेदव्यवस्थायां प्रमाणं प्रमाणव्यवहारिणाम् तथा कार्यकारणयोर्भेदाभेदावनुभूयेते, अभेदधर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदः स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते। न हि तरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते। तस्यैव ताः शक्तयः, शक्ति-शक्तिमतोश्चानन्यत्वमन्यत्व चोपलभ्यते। पृ० १०१

अद्वैतवाद—

अद्वैत जैसे अभिन्नवाद में भी भेदाभेद की चर्चा का स्पष्ट वर्णन देखने में आता है। विद्यारण्य स्वामी अपने ग्रन्थ में कार्यकारण का विचार करते हुए लिखते है—

स घटो नो मृदो भिन्नो, वियोगे सत्यवीक्षणात्।
नाप्यभिन्न. पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात्॥ श्लोक ३५५

कितने स्पष्ट शब्दों में भेदाभेद को स्वीकार किया है।

सामान्य-विशेष-विचार—

यद्यपि सांख्य, अद्वैतवादी एवं और भी अनेक मत सामान्य रूप ही पदार्थ को स्वीकार करते है और बौद्धादिक विशेष रूप ही पदार्थ को स्वीकार करते है; किन्तु अनुभव, तर्क एवं आगम बताता है कि यथार्थ में पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक उभयरूप हैं। एक रूप मानने पर दोनों का ही अभाव सिद्ध हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने पदार्थ को सामान्य-विशेषात्मक उभयरूप माना है—

सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषयः। परीक्षामुख अ० ४ सू० १

अर्थात्—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है। इसी बात का उल्लेख पतञ्जलि-भाष्य में भी है। जैसे—सामान्य-विशेषात्मनोऽर्थस्य। समाधिपा० सू० ७
सामान्य-विशेषसमुदायो द्रव्यम्। (विभू० सू० ४४)

कुमारिलभट्ट ने भी सामान्य विशेष रूप वस्तु को स्वीकार किया है। यथा—

सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च, व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
जायते द्व्यात्मकत्वं न, विना सा च न सिद्ध्यति॥५॥

अन्योन्यापेक्षिता नित्यं, स्यात्सामान्यविशेषयोः ।
विशेषाणाञ्च सामान्यं, ते च तस्य भवन्ति हि ।।६।।
निर्विशेष हि सामान्यं, भवेच्छशविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च, विशेषास्तद्वदेव हि ।।७।।
तदनात्मकरूपेण, हेतू वाच्याविमौ पुन. ।
तेन नात्यन्तभेदोपि, स्यात्सामान्यविशेषयो ।। (पृ० ५४६, ४७, ४८)

इन उद्धरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैन-दर्शन के स्याद्वाद-मार्तण्ड की प्रखर किरणें सर्व ही दर्शनों में निराबाघ रूप से प्रकाशित हो रही हैं ।



जैन-दर्शन में मन की स्थिति

एस० सी० घोषाल, एम० ए०, बी० एल०

प्रस्ताविक—

इस लघु लेख की भूमिका में जैन-दार्शनिकों की दृष्टि में मन के इन्द्रिय होने, न होने की सभावनाओं पर विचार करना है। हिन्दू दर्शनो से इसका कहाँ तक तुलनात्मक सम्बन्ध है, इसका विवेचन करना भी अप्रासगिक न होगा।

वैदिक साहित्य और मन—

वैदिक साहित्य मे वर्णित प्रारम्भिक प्रसगो में मन को इन्द्रिय के रूप में ग्रहण नहीं किया गया था। अथर्ववेद (काण्ड २१, अनुवादक १.६.५) में हम पाते है कि—

"इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मन. षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संश्लिष्टानि" अर्थात् "ये पांच इन्द्रिय मन के साथ छ होकर ब्रह्म के द्वारा मेरे हृदय में उडेली गयी है।"

यहाँ पर सिर्फ पाँच ही इन्द्रियो के होने का उल्लेख है। जब मन का इनसे योग होता है यह छ हो जाती हैं।

उत्तर (बाद के) दार्शनिको ने मन को इन्द्रिय में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा में तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा कि "मन के साथ छ" होने का अर्थ मन का इन्द्रिय होना ही है। लेकिन मीमासा-दर्शन में वेदों के अनुवाद की प्रणाली का सविस्तर आख्यान मिलता है। उसमें यह सापेक्ष वर्णित है कि हम वेदों में "यजमान पचमा इडा भक्षयन्ति" का आदेश पाते हैं अर्थात् "पाँचों यज्ञभाव सहित इडां (बुद्धि) का भक्षण करती है।" यहाँ पर चार, चार प्रकार के ऋत्विक् पुजारी हैं और पाचवाँ यजमान है। अतः यह कभी नही कहा जा सकता कि "यजमान के साथ मिलकर पांच" में यजमान भी एक ऋत्विक् (वेद कराने वाला) है। यजमान हमेशा पुजारी से भिन्न है। कल्पना की किसी भी सीमा में वह पुजारियों की कोटि में समाविष्ट नहीं किया जा सकता।

इस शृंखला में एक अन्य उदाहरण उद्धृत किया जाता है—"वेदानध्यापयामास महाभारत-पचमान्" अर्थात् "उसने महाभारत के साथ मिलाकर पाँच वेद सिखलाया।" यह विदित है कि महा-

भारत वेद नहीं है अतः "महाभारत के साथ मिलाकर पाँच" कथनमात्र से महाभारत को कभी वेद नहीं कहा जा सकता।

अत. उपर्युक्त तर्क द्वारा "मन के साथ पाँच इन्द्रिया छ हुई" से मन को कभी इन्द्रिय नही समझना चाहिये।

धर्मराजध्वरिन्द्र-लिखित वेदान्त परिभाषा में एक वर्णन है कि "न तावदन्त करणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति" अर्थात् "कोई प्रमाण नहीं है कि मन (अन्तःकरण) इन्द्रिय है।" "यजमान-पंचम" और "महाभारत-पंचम" के वर्णन के उपयुक्त उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं और लेखक "मन. षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति", गीता १५ (७) उद्धृत करने के बाद लिखता है—मन के साथ छ होने में कोई विरोध नहीं खड़ा होता, यद्यपि मन को इन्द्रिय के अग के रूप में नही समझा जाय। इन्द्रिय के अगों में केवल इसी प्रकार के एक अग के लिए सख्याओं की पूर्णता को रोकने का कोई दृढ आदेश नहीं है।" इसको स्वीकार करने के लिए कथा-उपनिषद् मे एक उद्धरण रखा जाता है—

"इन्द्रियेभ्यः परोह्यर्थः अर्थेभ्यश्च पर मन।" अर्थात् "कर्म इन्द्रियों के अंगो के परे है, मन इन्द्रिय के परे है।"

वास्तव में यह बडा मनोरजक प्रसग है कि अन्तःकरण को मन मानकर वेदान्त परिभाषा का लेखक दूसरे रूप में मन को इन्द्रिय के रूप में मान लेता है। कर्म का अर्थ है इन्द्रिय और जब स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रवण इन्द्रियाँ बहिरिन्द्रियाँ कही जाती हैं तब मन को अन्तरिन्द्रिय कहा गया है।

वेद में हमलोग यह भी पाते हैं—"एतस्माद् जायते प्राणो मन. सर्वेन्द्रियाणि च।" अर्थात् "ईश्वर से प्राण, मन और सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है।" वेदों में प्राणों की या के बारे में पर्याप्त विचार-धाराएँ हैं। लेकिन इनसे यह पता लगता है कि मन का सभी इन्द्रियों से भिन्न होने का ही उल्लेख है।

वेदान्त-सूत्र और मन—

शंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्र (सूत्र २. ४ ६–१७) नाम के अपने भाष्य में प्राण और मन के बारे में विभिन्न श्रुतियों को विचार-धाराओं की व्याख्या की है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राणों की संख्या ग्यारह है, इन्द्रियाँ दस हैं और एक अन्तःकरण (जिसको आत्मा कहा गया है) है।

"दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश. आत्मशब्देनात्रान्तःकरणं परिगृह्यते।" वेदान्त-सूत्र (२.४.१७) पर अपने भाष्य में वे कहते हैं कि यद्यपि मन को इन्द्रियों से भिन्न उल्लेख किया जाता है पर स्मृतियों के आदेश से इसको इन्द्रिय ही मानना चाहिये।

(स्मृतौत्वेकादशेन्द्रियाणीति मनसोऽपीन्द्रियत्वम् श्रोत्रादिवत् संगृह्यते)"

मनुसंहिता (२.८९–९२) से लिये गये निम्नलिखित उद्धरण से स्मृतियों का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा—

"प्राचीन मुनियों द्वारा उल्लिखित ग्यारह इन्द्रियों का मैं क्रम से वर्णन करूँगा । पाँच तो कर्णेन्द्रिय (श्रवण), स्पर्श, दृष्टि, स्वाद और गंध हैं । ये ही पायु, उपस्थ, हाथ, पैर और आवाज को लेकर दस बनती हैं । पाँच कर्णेन्द्रिय आदि ज्ञानेन्द्रिय कही जाती हैं और पाँच पायु आदि कर्मेन्द्रिय । ग्यारहवाँ मन है जो अपने गुण के कारण दोनों प्रकार है । "

गीता और मन—

गीता में मन को इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है । जैसा कि (१०–२२) में वर्णित है "मैं इन्द्रियों के बीच मन हूँ" जिसका अर्थ हुआ कि इन्द्रियों में सबसे अच्छा । जैसे—

"वेदाना सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासव. ।
इन्द्रियाणा मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।

सांख्य-सूत्र और मन—

साख्य सूत्र २–२६ में हमलोग पाते हैं—"उभयात्मकमत्र मन" अर्थात् "मन दोनों प्रकार का है" (ज्ञानेन्द्रिय उसी तरह कर्मेन्द्रिय) । साख्य-कारिका २७ में हम यही विचार देखते हैं ।

गौतम-दर्शन में मन की स्थिति—

गौतम ने अपने न्याय में इन्द्रियों की गणना करते हुए पाँच इन्द्रियों त्वक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ को छोड़ दिया है और केवल पाच इन्द्रियों अर्थात् स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रवण पर ही विचार किया है । हिन्दू न्याय दर्शन में मन को इन्द्रिय माना गया है, पर उपर्युक्त उल्लिखित ढग से इसको पाँच इन्द्रियों से भिन्न बताया गया है । यह वर्णित है कि वास्तविक इन्द्रियाँ स्पर्श, स्वाद आदि अपने निश्चित कर्मों में स्थिर हैं । उदाहरण के लिये घ्राणेन्द्रिय केवल गंध का ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है, स्वाद और दृष्टि का नहीं । पर मन अपनी सभी अवस्थाओं और गुणों में प्रत्येक कर्मों में अपने को लगा सकता है । मन में अन्य इन्द्रियों के सदृश केवल एक ही विशेष गुण नहीं है । वात्स्यायन न्याय-सूत्र १.१.–८ के अपने भाष्य में इसको इस तरह उद्धृत करते हैं:—

"भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति । मनस्तु अभौतिकं सर्व-विषयञ्च, नास्य स्वगुणस्येन्द्रियभाव इति । सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिञ्चास्य युगपज्ज्ञाना-नुत्पत्तिकारण वक्ष्याम इति । मनश्चेन्द्रियभावान्न वाच्य लक्षणान्तरमिति तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति ।"

उद्योतकर भी अपने न्यायवार्तिक में इसी विचार का प्रतिपादन करते हैं:—

"मनः सर्वविषयं स्मृतिकारणसयोगाधारत्वात् आत्मवत् सुखग्राहकसयोगाधिरणत्वात् समस्ते-न्द्रियाधिष्ठातृत्वात् ।"

जैन-दर्शन और मन—

अब हमलोग देखें कि जैन-दर्शन का इस सम्बन्ध में क्या विचार है । हिन्दू न्याय की तरह जैन-तर्क भी विश्वास करता है कि इन्द्रियाँ पाँच हे (द्रव्य और भाव के अनुसार विभाजित)

हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमासा में हम पाते है कि.—

"स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसघ्राणचक्षु· श्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ।"

जैन-तर्क में मन को अनिन्द्रिय या इन्द्रिय-नही कहा गया है इससे यह नही अनुमान लगाना चाहिये कि मन इन्द्रिय नही है । हेमचन्द्र कहते हे कि मन सभी कर्म करता है—

सर्वार्थग्रहण मन. (प्रमाण-मीमासा १.१.२५) अर्थात् यह सिर्फ स्पर्श का ही कर्म नही करता, जैसा कि स्पर्शेन्द्रियाँ करती हैं, बल्कि यह सभी काम करता है जो अन्य इन्द्रियाँ करती हे । मन को अनिन्द्रिय और इन्द्रिय-नही कहा गया है ("सर्वे न तु स्पर्शनादीना स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्ते तेनेति सर्वार्थग्रहण मनोऽनिन्द्रियमिति नो इन्द्रियमिति चोच्यते ।")

अकलंक देव ने सूत्र १–१४ पर अपने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है—"मन को अनि-न्द्रिय कहा जाता है ।"

(अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत्) भाष्य में उसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है·—

"*मनोऽन्त.करणमनिन्द्रियमित्युच्यते* । कथ इन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते ? *यथाऽनुदरा* कन्या इति नास्या उदर न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदराभावादनुदरा । तथानिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभावः, किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावादनिन्द्रिय मन इत्युच्यते ।

अर्थात् मन को अन्त करण या अनिन्द्रिय कहा जाता है । क्योंकि मन को इन्द्रिय वर्णित किया गया है ?

यह नही सोचना चाहिये कि मन इन्द्रिय नही है । हमलोग उस स्त्री को जिसमे गर्भ-धारण की शक्ति नहीं होती, कहते हे कि यह "बिना पेट की औरत है ।" इसका यह अर्थ नही कि वास्तव मे उसको बिलकुल पेट नाम की चीज ही नही, बल्कि वह गर्भ धारण करनेसे असमर्थ है । अत. 'अनिन्द्रिय' शब्द के व्यवहार से यह नही समझा जाय कि मन इन्द्रिय नही है । बल्कि मन को किसी विशेष कर्म को सम्पन्न करने की प्रवृत्ति नही है जैसा कि आँख केवल देख सकती है । उस प्रकार मन की प्रवृत्ति नहीं होती; अतः उसे अनिन्द्रिय कहा जाता है ।

मन और अन्य इन्द्रियों की विभिन्नता इस रूप में निरूपित की जाती है। चक्षुरिन्द्रिय आदि इन्द्रियों की अवस्था कर्मों के सम्पर्क में आकर प्रभाव ग्रहण करती हैं। लेकिन मन इस तरह वस्तुओं के निकट सम्पर्क में आकर प्रभाव ग्रहण नहीं करता।

अतः जैन तर्क का दृष्टिकोण हिन्दू दर्शन के समान ही मन के इन्द्रिय होने की संभावना के निरूपण में है। यद्यपि जैन-तर्क मन को इन्द्रिय रूप में स्वीकार करता है, पर इसकी संज्ञा इन्द्रिय-नहीं या ईषत्-इन्द्रिय (लघु इन्द्रिय) देता है। क्योंकि यह अन्य इन्द्रियों की तरह आँख को ग्राह्य नहीं है। जैन-मत के अनुसार इसका सचालन समुन्नत आत्मा के स्वरूप से होता है जिसमें मनःपर्याय अर्थात् दूसरों के विचारों का ज्ञान है।

हिन्दू शास्त्रों में वर्णित प्राचीन मत वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिसमें मन को इन्द्रिय नहीं माना गया है। स्मृतियाँ या मन का निरूपण करने वाली अन्य दार्शनिक प्रणालियाँ मन को इन्द्रिय रूप में ही ग्रहण करती हैं। वैदिक साहित्य में इन्द्रियों की संख्या पाँच है, स्मृति और सांख्य दर्शन में ग्यारह है (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन)। हिन्दू न्याय दर्शन में सिर्फ पाँच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन को ही इन्द्रिय के रूप मे स्वीकार किया गया है।

जैन तार्किको का दृष्टिकोण हिन्दू न्याय दर्शन द्वारा वर्णित दृष्टिकोण के ही सदृश है। वे मन को इन्द्रिय के रूप में मानते हैं, पर उसका अन्य इन्द्रियों से अन्तर स्पष्ट करते समय इसको अपने विशेष, अनुपम गुण के फलस्वरूप अनिन्द्रिय या इन्द्रिय-नहीं की संज्ञा देते हैं। मन में सभी वस्तुओं, कर्मों को ग्रहण करने की क्षमता है—जबकि अन्य इन्द्रियाँ इस क्षेत्र में किसी विशेष कार्य का ही संपादन करती है अतः निरपेक्ष है।



पदार्थ के सूक्ष्मतथ्य का विवेचक—नयवाद

श्री अजितकुमार शास्त्री, देहली

प्रस्ताविक—

मानव-जीवन को सुखी और स्व-पर-हितकारी बनाने के लिए अनेक दर्शनों का प्रणयन हुआ है। उन दर्शनों का कलेवर दो भागों से सम्पन्न है—१–सिद्धान्त, २–आचरण।

विश्व में बहुत-से दर्शन भूतकाल में प्रकाश में आये और भूत में ही विलीन भी हो गये, जिन दर्शनों का अस्तित्व इस समय भी है, उन सब में भी इन दोनो का समावेश पाया जाता है।

जैन-दर्शन की उत्पत्ति और उसकी आचार-मीमांसा—

भारतीय दर्शनों में अनेक दृष्टिकोणों से जैन-दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। जैन-दर्शन का उदय भगवान् ऋषभदेव से हुआ जो कि सबसे प्रथम धर्म-उपदेष्टा माने गये हैं, इसी कारण उनका नाम 'आदिब्रह्मा आदिनाथ या अग्रजिन' भी प्रसिद्ध है।

जैन-दर्शन में आचरण की दृष्टि से जो सूक्ष्म विवेचन है वह न केवल बहुत सुन्दर है अपितु अनुपम भी है। आत्मा संसार चक्र में पड़कर किन क्रियाओ से अपना पतन करता है और किन क्रियाओ के आचरण से उसका उत्थान होता है? धार्मिक आचरण का मूल अहिंसा क्या है तथा पापाचरण की नीव हिंसा का वास्तविक रूप क्या है? संसार की व्यापक अशान्ति का मूल परिग्रह क्या बला है? और विश्व-शान्ति का अमोघ साधन अपरिग्रह का क्या रूप है? कैसे, कितना, कहाँ। किसमें इसका विकास होता है? इत्यादि जिज्ञासाओं का सन्तोषजनक समाधान जैन-सिद्धान्त देता है।

अनन्त शक्तियो का पुञ्ज यह आत्मा दीन-हीन सांसारिक योनियो में आवागमन क्यों करती है और पूर्ण शुद्धि पाकर यह परमात्मा कैसे बन जाती है? इन प्रश्नो का उत्तर जैन-सिद्धान्त ने बहुत स्पष्ट दिया है। कर्म-सिद्धान्त का श्रेणीबद्ध विवेचन जैन-सिद्धान्त के सिवाय अन्यत्र कही न मिलेगा। साधारण आत्मा किन-किन आवरणों से पूर्ण शुद्ध-बुद्ध होकर परमात्म-पद प्राप्त करती है? इस विकास का क्रमबद्ध विवरण जैन-सिद्धान्त ही सदा से बतलाता आ रहा है।

जैन-दर्शन का पदार्थ-विज्ञान—

जिस तरह जैन-दर्शन में आचरण-प्रक्रिया का विशद विवेचन है उसी प्रकार जैन-दर्शन में पदार्थ-विज्ञान का सिद्धान्त भी विश्व के समस्त दर्शनों में अद्वितीय स्थान रखता है। यह जगत् क्या है?

कब कहाँ इसका आदि है और कहाँ इसका अन्त है, या नहीं है ? इसकी उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का क्या सत्य रूप है ? जड पदार्थ कौन से, कितने है ? पुद्गल, परमाणु, स्कन्ध, शब्द किस तरह बनते-बिगड़ते हैं ? आकाश, काल आदि क्या कुछ हैं ? चेतन पदार्थ क्या हैं, तथा पदार्थों के सही जानने की और उनके यथार्थ विवेचन की निर्विवाद प्रक्रिया क्या है ? इत्यादि जटिल गुत्थियों को भी जैन-दर्शन ने अच्छी तरह सुलझा कर दार्शनिक ससार के समक्ष जो यथार्थ अनुभव रखा है, यदि जिज्ञासु विद्वान् उसे अवगत कर लें तो दर्शनों की ऊबड-खाबड़ भूमि सुन्दर समतल बन कर ज्ञान की क्रीड़ा-स्थली बन सकती है। किन्तु खेद, विश्व समस्याओ के सुन्दर समाधान रूप जैन-दर्शन को विश्व अभी तक नहीं समझ पाया !

पदार्थों के विज्ञान पर यदि विचार करें तो वह दो प्रकार का है—१–स्वयं जाननेरूप, २–दूसरों को प्रतिपादन करने रूप । जानना मन तथा त्वचा, रसना, नासिका, नेत्र एवं कानो द्वारा होता है और प्रतिपादन (कहना, जताना) केवल रसना इन्द्रिय द्वारा । हमारी रसना (जीभ) दो कार्य करती है —१–भोज्य पदार्थ का रस-ज्ञान कराती है और २—किसी भी इन्द्रिय या मन द्वारा जानी हुई बात दूसरों को कह डालती है ।

जानने और कहने मे महान् अन्तर है । एक क्षण में जितना ज्ञान लिया जाता है उस एक क्षण की जानी हुई बात को कोई भी व्यक्ति न तो उतनी देर में (एक क्षण में) कह सकता है, और न अधिक समय मे भी उस जानी हुई पूरी बात को कह सकता है । हमने एक घण्टे तक एक मेला देखा, उस मेले में कुछ मनोरञ्जन के दृश्य थे, कुछ ज्ञान-सचय (भाषण आदि) के दृश्य थे, पुरुष-स्त्रियों की भीड़ की रेल-पेल थी, दूकानों की चहल-पहल थी और हजारों परिचित-अपरिचित व्यक्तियों से मिलने, वार्तालाप करने, देखने का सयोग था । अब यदि हम उस मेले के एक घटे के देखे हुए विवरण को कहना चाहे तो कई दिनों मे भी न तो कह सकते है और न सारी बातों को—सारी चेष्टाओं को कह ही सकते है । दूर की बात जाने दीजिए, आप एक सेब को खाकर यदि उसका यथार्थ अनुभूत स्वाद बतलाना चाहे तो हजारो यत्न करने पर भी उसे नहीं बतला सकते । अनन्तबली सर्वज्ञ तीर्थंकर स्वयं जितना जानते हैं उसके अनन्तवें भाग वे अपनी वाणी द्वारा जनता को बतला पाते है ।

जानी हुई बात को पूरी तरह न कह सकने के भी दो विशेष कारण हैं—१–जितने ज्ञान-अंश हैं उनके वाचक उतने शब्द नहीं है, इस कारण बहुत-सी जानी हुई बातें कही नही जा सकती। तदनुसार जब कि सेब के अनुभूत यथार्थ रस-आस्वाद के प्रतिपादक शब्द है ही नहीं, तब भला वह कहा भी कैसे जावे ? २–एक समय में ज्ञान जितना जान लेता है, रसना (जिह्वा) में इतनी शक्ति नही कि वह उतने ज्ञान-अंश को एक ही समय में कह सके । सड़क पर दौड़ते हुए हमने अनेक वाहन (मोटर, ताँगा, बैलगाड़ी, साइकिल आदि) एक सेकंड में एकदम देख लिये, किन्तु उस देखने को जब हम किसी के सामने कहेंगे तो एक-एक वाहन को क्रम से (सिलसिलेवार) कहते जावेंगे, इस तरह उस एक सेकंड के ज्ञान को अनेक मिनटों में कह पावेंगे फिर भी देखी हुई बहुत-सी चीजें (मनुष्य, पशु, मकान, सड़क, दुकान, पेड़, पक्षी आदि) कहने से छूट जावेंगी ।

सारांश यह है कि ज्ञान का वचन द्वारा प्रतिपादन सिलसिलेवार (क्रमशः) होता है और अधूरा होता है।

जानने-रूप-ज्ञान के भेद और नय—

जानने रूप ज्ञान के दो भेद हैं—१–सर्वांश-ग्राही, २–अंश-ग्राही। जो पदार्थ के समग्र अंशों को परिवर्तनीय (पर्याय) तथा अपरिवर्तनीय (द्रव्य) जानता है, वह सर्वांश-ग्राही ज्ञान है। जो पदार्थ के किसी एक परिवर्तनशील—पर्याय, अथवा अपरिवर्तनशील–द्रव्य अश को जानता है वह अंश-ग्राही ज्ञान है, जैन-दर्शन में इस अंश-ग्राही ज्ञान का नाम नय रखा गया है।

पदार्थ का जितना भी आंशिक ज्ञान है, वह सब नय कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति नय को ही ज्ञान या प्रमाण (सर्व-अंश-ग्राही बोध) मान बैठे तो वह एक विवाद का अथवा असत्य जानने का कारण बन जाता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय—

आत्मा का द्रव्य रूप से विचार किया जावे तो वह अजर-अमर अविनाशी है—जल, अग्नि, वायु, शस्त्र आदि कोई भी पदार्थ उसको नहीं नष्ट कर सकता। उसके ज्ञान दर्शन आदि गुण सदा उसके साथ रहते हैं, बचपन का ज्ञान न केवल बुढ़ापे तक रहता है बल्कि अन्य जन्म तक बना रहता है। आत्मा में ऊपर से शरीर भले ही बदल जावे किन्तु आत्मा में कुछ तब्दीली नहीं आती—कुछ परिवर्तन नहीं आता। ऐसा जानना द्रव्य-विषयक (द्रव्यार्थिक) नय है।

यदि आत्मा को मनुष्य आदि किसी योनि-विशेष की अपेक्षा विचारा जाय तो ऐसा जानना भी ठीक है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर (पर्याय) धारी आत्मा जन्म-मरणशील है—यानी मनुष्यादि के रूप में आत्मा किसी दिन पैदा होता है, तो वही आत्मा एक दिन मर जाता है, तदनन्तर अन्य योनि में जन्म लेता है और वहाँ भी सदा जीवित नहीं रहता, किसी न किसी दिन अपना जीवन समाप्त करके मर जाता है। ऐसा जानना पर्याय-विषयक (पर्यायार्थिक) नय है।

दर्शनकारों में से कुछ दर्शनकार द्रव्यार्थिक नय को ही पूर्ण ज्ञान का रूप देकर आत्मा को सर्वथा नित्य मान बैठे हैं और कुछ दर्शनकार केवल पर्यायार्थिक नय को प्रमाण मानकर आत्मा को क्षणिक या अनित्य ही मान बैठे हैं।

वास्तविक निर्णय किया जाय तो आत्मा एक दृष्टि से अविनश्वर—अमर है और अन्य दृष्टि से नश्वर—जन्म-मरणशील भी है।

ऐक्सरे से यदि शरीर के भीतर की हड्डियों का फोटो आता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर में खून, मांस, चर्म, नसें आदि अन्य चीजें हैं ही नहीं। अथवा यदि अन्य केमरे से शरीर का ऊपरी ही चित्र आता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर के भीतर रक्त, मांस, हड्डी आदि चीजें नहीं पाई

जातीं । इसी तरह जिस (द्रव्यार्थिक) केमरे ने आत्मा का अपरिवर्तनशील फोटो लिया है उस केमरे की दृष्टि से आत्मा अजर-अमर अविनाशी है और जिस (पर्यायार्थिक) केमरे ने आत्मा का परिवर्तन-शील फोटो लिया है उस फोटो में आत्मा जन्म-मरणशील विनश्वर दिखाई पड़ता है । इस तरह आत्मा अविनश्वर भी है और आत्मा विनश्वर भी ।

एक मेले के चित्र भिन्न-भिन्न स्थानों से और भिन्न-भिन्न दिशाओं से लिये जावें, तो उन सबमें सारे मेले का अक्स तो आवेगा, परन्तु भिन्न-भिन्न रूप से आवेगा । अतः वे परस्पर भिन्न होते हुए भी अपने-अपने रूप से ठीक हैं ।

अनामिका (चौथी) अंगुली कनिष्ठा (पांचवीं) अंगुली की अपेक्षा बड़ी है, किन्तु वही अना-मिका अंगुली मध्यमा (तीसरी बीच की) अंगुली से छोटी भी है । इस तरह अनामिका छोटी भी है और बड़ी भी है । पं० श्री जवाहरलाल नेहरू स्व० पं० मोतीलालजी नेहरू की दृष्टि से पुत्र हैं किन्तु इन्दिरा गान्धी की अपेक्षा पिता हैं और राजीव संजीव की दृष्टि से नाना भी हैं ।

नयवाद और 'भी' का प्रयोग—

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थों को भिन्न-भिन्न अंश रूप से जानना ही नय है । इस नय रूप में अन्य दृष्टिकोणो की संभावना जतलाने के लिए 'भी' शब्द का प्रयोग होना चाहिये—नेहरूजी पुत्र भी हैं, पिता भी हैं और नाना, भाई आदि भी हैं । यदि नय में 'ही' का प्रयोग किया जाय तो उस पदार्थ के अन्य सम्भावित सही दृष्टिकोणो का निषेध हो जाता है, उस दशा में वही नय एकान्त हठ का रूप लेकर असत्य ज्ञान का द्योतक सिद्ध हो जाता है । नेहरूजी पिता ही हैं—इसका अर्थ हुआ कि वे श्री मोतीलालजी की अपेक्षा पुत्र; किन्तु श्रीमती विजयालक्ष्मी की अपेक्षा भाई न माने जा सकेंगे, जो कि सरासर गलत होगा ।

इस तरह नयवाद यदि परस्पर अन्य दृष्टिकोणों की अपेक्षा लेकर 'भी' के रूप में प्रयुक्त होता है तो वह सत्य ज्ञानांश होता है और संसार के सभी विवाद शान्त कर सकता है, क्योंकि विवाद (झगड़े) तभी होते हैं जबकि मनुष्य अन्य व्यक्ति के दृष्टिकोण (Point of view) को गलत मान बैठते हैं । नयवाद यदि अन्य दृष्टिकोणों की उपेक्षा करके 'ही' (ऐसा ही है) के रूप में प्रयोग किया जाय तो वही विवाद का मूल बन जाता है और असत्य जानकारी का रूप धारण कर लेता है ।

स्याद्वाद और नयवाद—

वचन ज्ञान का अपूर्ण रूप होता है जैसा कि पूर्व में बताया गया है, अतः जितना भी वचन प्रयोग है सब नय रूप है । नयवाद को बोलते समय 'स्यात्' (किसी दृष्टिकोण की अपेक्षा) शब्द का प्रयोग किया जाता है । 'स्यात्' शब्द लगाने से यह सिद्ध हो जाता है कि हमने जिस दृष्टिकोण से पदार्थ जाना है वह आंशिक है—अधूरा है, अन्य दृष्टिकोणों की अपेक्षा उसका सही अन्य रूप भी है । यों परस्पर अपेक्षा रखकर वचन का प्रयोग करना ही 'स्याद्वाद' है । जैसे—

१—स्यात् पं० जवाहरलाल नेहरू पिता हैं (अपनी पुत्री इन्दिरा की अपेक्षा से)।

२—स्यात् पंडित नेहरू जी पिता नहीं हैं (अपने पिता, बहिन, भेवते आदि की अपेक्षा से)।

३. स्यात् पंडित नेहरू जी पिता भी हैं तथा पुत्र, भाई, नाना भी हे।

४. स्यात् पंडित नेहरू अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) हैं; क्योंकि कोई भी ऐसा शब्द नहीं जो एक ही साथ उनके पिता, पुत्र, भाई, नाना आदि सभी सम्बन्धों को कह सके।

५. स्यात् पं० नेहरू अवक्तव्य (एक ही शब्द द्वारा उनके सभी रिश्ते नहीं कहे जा सकते अतः अनिर्वचनीय) होते हुए भी अपनी पुत्री की अपेक्षा पिता हे।

६—स्यात् पं० नेहरू अवक्तव्य होते हुए भी अपने पिता, बहिन आदि की अपेक्षा पिता नही हैं।

७—स्यात् पण्डित नेहरू अवक्तव्य होते हुए भी, पिता है भी और पिता नही भी हैं।

इस तरह किसी एक दृष्टिकोण के सूचक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करके नयवाद सात प्रकार की धाराओं से एक ही पदार्थ के विषय में कहा जा सकता है, इन सात धाराओ का ही दूसरा नाम सप्तभंगी है।

प्रत्येक पदार्थ में अस्ति (है), नास्ति (नही है) आदि अनेक धर्म (अन्त) भिन्न-भिन्न अपेक्षा से पाये जाते हैं, अतः प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (अनेक धर्म) रूप है।

अनेकान्त रूप पदार्थ का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जानना नयवाद है और उसको सही रूप से वचन द्वारा प्रकट करना 'स्याद्वाद' है, उस स्याद्वाद की समस्त (सातो) सम्भावित वचन-धाराएँ 'सप्तभंगी' है।

इसी नय के नैगम, सग्रह आदि तथा सद्भूत, असद्भूत व्यवहार निश्चय आदि और भी अनेक भेद हैं।

नयवाद का विशेष विवरण बहुत विस्तृत है, संक्षिप्त रूप इतना ही है। यदि दार्शनिक विद्वान् इस नयवाद को अवगत कर लें तो पदार्थ-निर्णय में वे बहुत सफल हो सकते हे।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् श्री आइन्स्टाइन ने अपना सबसे आधुनिक आविष्कार यही नयवाद–स्याद्वाद या अपेक्षावाद (रैलेटिविटी) के रूप में संसार के सामने रखा है, किन्तु जैन-सिद्धान्त इस आविष्कार को हजारों वर्ष पहले संसार के समक्ष रख चुका है।



जैन-दर्शन में पुद्गल-द्रव्य और परमाणु-सिद्धान्त

श्री दुलीचन्द्र जैन, एम-एस-सी०, एम० डी०

जगत के रहस्य और दर्शन—

प्रागैतिहासिक काल से ही जगत् मनुष्य के समक्ष एक पहेली बना हुआ है। जगत् के सर्व-श्रेष्ठ और विचारशील प्राणी–मनुष्य ने सूर्य और चन्द्र की प्रथम किरणों का दर्शन आतंक, आश्चर्य और रहस्य के ही रूप में किया होगा, और इसीलिए वेदों में ऋषि-मुनि प्रकृति के सुन्दर अंगों–चन्द्र, सूर्य, वरुण, विद्युत् आदि की स्तुति करते हुए मिलते हैं। आगे चलकर मनुष्य के मस्तिष्क में जगत्-स्रष्टा की कल्पना प्रस्फुटित हुई और यह जिज्ञासा भी हुई होगी कि यह जगत् किन तत्त्वों से निर्मित है। भारतीय दर्शनकारों के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चभूतों के सिद्धान्त, यूनानी दार्शनिकों का मिट्टी जल, अग्नि, और वायु इन तत्त्वों का सिद्धान्त, जैन-दार्शनिकों का जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्यों (Fundamental realities of Universe) का सिद्धान्त, इत्यादि उपर्युक्त प्रश्न के ही उत्तर है। प्रकृति (Matter) की आन्तरिक रचना के विषय में भी उन दार्शनिको ने विचार किया और कणाद व डेमोक्रिटस आदि कतिपय विचारकों ने प्रकृति (Matter) के परमाणु-सिद्धान्त (Atomic Theory)को भी प्रस्तुत किया। जैन-दार्शनिकों ने भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है। हैम्बर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) के डा० शुब्रिङ्ग (Schubring) ने एक भाषण में कहा था कि जैन-विचारको ने जिन तर्कसम्मत और सुसम्बद्ध सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि में भी अमूल्य एव महत्त्वपूर्ण हैं। विश्व-रचना के सिद्धान्त के साथ ही साथ उच्चकोटि के गणित और गणितज्योतिष भी मिलते है। सूर्यप्रज्ञप्ति का उल्लेख किये बिना भारतीय ज्योतिष का इतिहास अधूरा रहेगा।१

जैन विचारकों के इन सिद्धान्तों का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि वे आज से सहस्रों वर्ष पूर्व अन्वेषित हुए थे। आधुनिक विद्वान् परमाणुवाद के सिद्धान्त का उद्गम कणाद और

1 'He who has a thorough knowledge of the structure of the world can not but admire the inward logic and harmony of gain ideas. Hand in hand with the refined cosmographical ideas goes a high standard of astronomy and mathematics. A history of Indian astronomy is not conceivable without the famous Surya Pragyapti.

यूनानी दार्शनिकों से मानते हैं, किन्तु यदि पाश्चात्य विद्वानों को जैन-दर्शन-साहित्य के अध्ययन का अवसर मिलता तो परमाणु सिद्धान्त का उद्गम भगवान् पार्श्वनाथ से माना जाता जो कणाद से भी बहुत दिन पहले हुए थे।

(आधुनिक इतिहास वेत्ताओं ने भ० पार्श्वनाथ (८४२ ई० पू०) को प्रथम ऐतिहासिक पुरुष और जैनधर्म का प्रचारक स्वीकार किया है।)†

जैन-सिद्धान्त और द्रव्य—

जैन-सिद्धान्त विश्व को छः द्रव्यों से निर्मित मानता है, १ जीव (soul), २ पुद्गल (Matter & Energy), ३ धर्म (Medium of motion for souls and matter), ४ अधर्म (Medium of rest), ५ आकाश (space) और ६ काल (time)[१]। ये छः द्रव्य विश्व के मूलतत्त्व (Fundamental realities) हैं। यह अविनाश्य है, ध्रुव है, नित्य है। इनका कभी विनाश संभव नहीं जैसा कि द्रव्य की परिभाषा में अर्तानिहित है—द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् उसे कहते हैं जिसमें पर्यायों की दृष्टि से उत्पाद और व्यय होते हों और गुणों की दृष्टि से जो ध्रौव्य सहित हो।[१] वस्तु के एक पर्याय (modification) का नाश होना व्यय है और नवीन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है, किन्तु पर्याय बदलते हुए भी वस्तु के वस्तुत्व, अस्तित्व आदि गुणों का अचल रहना ध्रौव्य है। जैसे लकड़ी जलकर राख हो जाती है। इसमें लकड़ी रूप पर्याय का व्यय होता है और क्षाररूप पर्याय का उत्पाद होता है, किन्तु दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अस्तित्व अचल रहता है, उसके प्राङ्गारत्व (Carbon) का विनाश नहीं होता, यह ध्रौव्य गुण है।

द्रव्यविषयक उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए ही जैन-सिद्धान्त में जगत्कर्त्ता की कल्पना को निराधार कहा गया है। द्रव्य अविनाशी है, ध्रुव है और इसीलिए उनका शून्य में से निर्माण सम्भव नहीं, क्योंकि अनित्य वस्तुओं की ही उत्पत्ति सम्भव है।[२] नित्य (अविनाशी) द्रव्य न तो अपने अस्तित्व को खोकर अभाव रूप ही हो सकता है और न शून्य (अभाव Unreal) में से उत्पन्न ही

† Cosmology Old & New by Prof. G. R. Jain

१ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।

आचार्य कुन्दकुन्द (पञ्चास्तिकाय)

२. अज्जीव पुण्णेयो पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्त सेसादु॥

(आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (द्रव्यसंग्रह)

१. सद्द्रव्यलक्षम् —उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

आचार्य उमास्वाति (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५)

२. (द्रव्याणि) नित्यावस्थितान्यरूपाणि, रूपिणःपुद्गलाः।

आचार्य उमास्वाति (तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५)

हो सकता है। पुद्गल पर जीव अथवा पुद्गल का प्रभाव पड़ने से उसमें केवल पर्यायों का ही परिवर्तन सम्भव है। जैन-धर्म का यह द्रव्यों की नित्यता का सिद्धान्त विज्ञान का प्रकृति की अविनश्वरता का नियम (Law of Indestructibility of Matter) है। इस नियम को १८ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लॅव्हाद्जियर (Lavoisier) ने इन शब्दो में प्रस्तुत किया था—कुछ भी निर्मेय नही है और प्रत्येक क्रिया मे अन्त में उतनी ही प्रकृति (Matter) रहती है जितने परिमाण में वह क्रिया के आरम्भ में रहती है। केवल प्रकृति (matter) का रूपान्तर (modification) हो जाता है। †

जगत् और पुद्गल—

जैन दार्शनिको ने पुद्गलो को भी विश्व के उपर्युक्त छः मूल तत्त्वों में परिगणित किया है। इस पुद्गल (Matter and energy) अथवा प्रकृति और ऊर्जा को मूर्तिक द्रव्य भी कहा गया है। मूर्तिक उसे कहते है जिसका अस्तित्व हमारी इन्द्रियो द्वारा ज्ञात हो सके। विश्व मे हम जो कुछ देखते है अथवा जो कुछ इन्द्रिय-गम्य (perceptible) है वह सब पुद्गल है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' में पुद्गल की परिभाषा इस प्रकार की है—पुद्गल उसे कहते है जो रूपी-मूर्तिक हो, अर्थात् जिसमें रूपादि पाये जावें।[१] स्पष्ट शब्दो में, स्पर्श, रस, गध और वर्ण ये चार गुण जिसमें पाये जावें उसे पुद्गल कहते है।[२] स्पर्श आठ प्रकार का होता है—१ स्निग्ध, २ रूक्ष, ३ मृदु, ४ कठोर, ५ उष्ण, ६ शीत, ७ लघु (हल्का), ८ गुरु (भारी)। रस ५ प्रकार का होता है—१ मधुर, २ अम्ल, ३ कटु, ४ तिक्त, ५ कषायला। गन्ध दो प्रकार की है—१ सुगध, २ दुर्गंध। वर्ण पाँच प्रकार का माना गया है—१ कृष्ण, २ रक्त, ३ पीत, ४ श्वेत, ५ नील।

इन गुणो के विषय में यह नियम है कि जिस वस्तु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारो में से एक भी गुण होगा उसमे प्रकट अप्रकट रूप से शेष तीन गुण भी अवश्य ही होगे। यह भी सभव है कि हमारी इन्द्रियों से किसी वस्तु के सभी गुण अथवा उनमे से कुछ गुण लक्षित न हो सके। जैसे कि उपस्तु किरणें (Infra red rays) जो कि अदृश्य तापकिरणें है, वे हमलोगों की आँखों से लक्षित नही हो सकती, किन्तु उल्लू और बिल्ली की आँखें उन किरणों की सहायता से देख सकती हैं। कुछ

† "Nothing can be created and in every process there is just as much substance (quantity of matter) present before and after the process has taken place. There is only a change or modification of matter.

—Law of Indestructibility of Matter as defined by Lavoisier.

१. रूपिणः पुद्गलाः, रूपं मूर्तिः रूपादिसंस्थानपरिणामः, रूपमेषामस्तीति रूपिणः मूर्तिमन्तः।

—सर्वार्थसिद्धिः अध्याय ५

२. स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः।

—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ५)

ऐसे आचित्रीय पट (photographic plates) आविष्कृत हुए है जो इन किरणों से प्रभावित होते हैं जिनके द्वारा अधकार में भी आचित्र (photographs) लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती; किन्तु गन्धवहन-प्रक्रिया (Tele-olefaction phenomenon) से स्पष्ट है कि गध भी पुद्गल का (अग्नि का भी) आवश्यक गुण है। एक गन्धवाहक यन्त्र (Tele-olefactory cell) का भी आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है। यह यन्त्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा बहुत सग्रहृष (sensitive) होता है और १०० गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है। इसकी सहायता से फूलों आदि की गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान को तार द्वारा या बिना तार के ही प्रेषित की जा सकती है। स्वयचालित अग्नि शमक (Automatic fire-control) भी इससे चालित होता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि बहुत से पुद्गलों की गध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नही होती, किन्तु और अधिक सग्रहृष (sensitive) यन्त्रों से वह लक्षित हो सकती है।

पुद्गल की उपर्युक्त परिभाषा के विषय में एक प्रश्न और भी उपस्थित हो सकता है। वह यह कि जैन-सिद्धान्तकारों ने वर्ण को पाँच ही प्रकार का क्यों माना जबकि सौर वर्णपट (solar spectrum) में सात वर्ण होते हैं और प्राकृतिक अप्राकृतिक वर्ण (natural & pigmentory colours) बहुत से होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्ण से उनका तात्पर्य सौर वर्णपट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नहीं है प्रत्युत पुद्गल के उस मूल गुण (fundamental property) से है जिसका प्रभाव हमारी आँख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदि आभास कराता है। आप्टिकल सोसाइटी आॅफ अमेरिका (Optical Society of America) ने वर्ण की निम्नलिखित परिभाषा दी है—वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आँख के कृष्ण पटल (Retina) और उससे सबद्ध शिराओं की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है। रक्त, पीत, नील, श्वेत, कृष्ण इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं[1]।

पंचवर्णों का सिद्धान्त

पञ्चवर्णों का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया जा सकता है। यदि किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाय तो सर्वप्रथम उसमें से अदृश्य (dark) ताप-किरणें (heat rays) निस्सरित (emitted) होती हैं, उसके अनन्तर वह रक्त वर्ण किरणें छोड़ती है। और अधिक ताप बढाने से वह पीत वर्ण-किरणें छोड़ती है और फिर उसमें से श्वेत वर्ण किरणें निस्सरित होती हैं। यदि उसका ताप और अधिक बढाया जाय तो नीलवर्ण किरणें भी उद्भूत हो सकती हैं। श्री मेघनाद शाह और बी० एन० श्रीवास्तव

१ "Colour is the general term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached nervous mechanisms. It may be examplified by the enumeration of characteristic instances such as red, yellow, blue, black and white.,.....

—प्रो० घासीराम जी द्वारा लिखित Cosmology Old & New से उद्धृत

ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मियाँ छोड़ते हैं; इससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत अधिक है[1]। तात्पर्य यह कि ये पाँच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों (temperatures) पर उद्भूत हो सकते हैं और इसलिए पुद्गल के मूल गुण (fundamental properties) हैं। वैसे जैन विचारकों ने वर्ण के अनन्त भेद माने हैं। हम सौर वर्णपट के वर्णों में (spectral colours में) देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी (violet) तक तरङ्ग-प्रमाणों (wavelengths) की विभिन्न अवस्थितियों (stages) की दृष्टि से विचार किया जाय तो इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त प्रकार के सिद्ध होंगे; क्योंकि यदि एक प्रकाश-तरङ्ग (light-wave) प्रमाण (length) में दूसरी प्रकाश-तरङ्ग से अनन्तवें भाग (infinitesimal amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरङ्गें दो विसदृश वर्णों को सूचित करती हैं। इस प्रकार जैन-दार्शनिकों की पुद्गल की परिभाषा तर्क व विज्ञान-सम्मत सिद्ध होती है।

जैन-सिद्धान्त सब पुद्गलों को परमाणुओं से निर्मित मानता है। यह परमाणु बहुत सूक्ष्म है, अविभाज्य है। इन्हें पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद भी कहा जाता है। परमाणु का लक्षण व उसके विशिष्ट गुण (characteristics) इस प्रकार परिगणित किये जा सकते हैं.—[2]

(१) सभी पुद्गलस्कन्ध परमाणुओं से निर्मित हैं और परमाणु पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश हैं।

(२) परमाणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म हैं। वह दृष्टि द्वारा लक्षित नहीं हो सकते।

(३) परमाणु में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत अथवा उष्ण) होते हैं।

(४) परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उससे निर्मित पुद्गल स्कन्ध रूप कार्य से लगाया जा सकता है।

सामान्यत पुद्गल स्कन्धों में चार स्पर्श होते हैं। स्निग्ध, रूक्ष में से एक, शीत, उष्ण में से एक, मृदु, कठोर में से एक, लघु, गुरु में एक, किन्तु परमाणु के सूक्ष्मतम अंश होने के कारण मृदु, कठोर व लघु-गुरु का प्रश्न नहीं उठता इसलिए उसमें केवल दो स्पर्श माने गये हैं।

---

१ Some of the stars shine with a bluish-white light which indicates that their temperatures must be very high.

—M. N. Saha & B. N. Shrivastava.

२. कारणमेव तदन्त्यः सूक्ष्मो नित्यो भवेत्परमाणुः ।
एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

—स्वामी अकलंकदेव (तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ५, सूत्र २५)

परमाणु और स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया—

जैन-सिद्धान्त में परमाणुओ के व स्कन्धों के बन्ध से स्कन्ध बनने के भी निश्चित और सुसम्बद्ध नियम हैं। वे इस प्रकार हैं:—[1]

(१) पुद्गल स्कन्ध भेद, संघात और भेद-संघात इन तीन प्रक्रियाओ द्वारा उत्पन्न होते हैं। भेद का अर्थ स्कन्धो का विघटन है। इस प्रक्रिया में एक स्कन्ध में से कुछ परमाणु विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्धों से मिल जाते हैं। संघात का अर्थ स्कन्धो का सयोजन (मिलना) है। भेद-सघात का अर्थ इन दोनो प्रक्रियाओं का एक साथ होना है।

(२) अणु की उत्पत्ति केवल भेद-प्रक्रिया से ही हो सकती है।

(३) पुद्गल में स्निग्ध और रूक्ष दो प्रकार के गुण होते हैं। इन गुणो के कारण ही बन्ध होता है। कुछ स्निग्ध गुण वाले परमाणु का दूसरे रूक्ष गुण वाले परमाणु से बन्ध हो सकता है, अथवा स्निग्ध गुण वाले परमाणुओं का भी परस्पर बन्ध सभव है और इसी प्रकार रूक्ष गुण वालो का भी।

(४) केवल एकाक (जघन्य unit) स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण वाले परमाणुओ का बन्ध नही होता अर्थात् जो परमाणु सर्वजघन्य शक्तिस्तर (least energy level) पर होते है उनका बन्ध नही होता।

(५) साथ ही जो परमाणु अथवा स्कन्ध समशक्ति-स्तर (equal energy level) पर होते हैं अर्थात् जिनमें स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों की सख्या समान होती है उनका बन्ध नही होता।

(६) केवल उन्हीं परमाणुओ का बन्ध होता है जिनमें स्निग्ध और रूक्ष गुणो की सख्या में दो एकाको (absolute units) का अन्तर होता है। जैसे ४ स्निग्ध गुणयुक्त परमाणु अथवा स्कन्ध का ६ स्निग्ध गुणयुक्त परमाणु व स्कन्ध से बन्ध सभव है, अथवा छ रूक्ष गुणयुक्त परमाणु से बन्ध संभव है।

(७) बन्ध की प्रक्रिया में सघात से उत्पन्न स्कन्ध में स्निग्ध अथवा रूक्ष में से जो भी गुण अधिक संख्या में होते हैं, नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप होता है। जैसे एक स्कन्ध १५ स्निग्ध गुण-युक्त स्कन्ध और १३ रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से बना तो नवीन स्कन्ध स्निग्ध-रूप होगा। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि यदि किसी अणु (atom) में से एक विद्युदणु (Electron ऋणाणु) निकाल लिया जाय तो वह विद्युत्प्रभूत (positively charged) और यदि एक विद्युदणु जोड़ दिया जाय तो वह विद्युतप्रभूत (negatively charged) हो जाता है।

---

१. भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते । भेदादणुः । स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः, न जघन्य गुणानाम्, गुणसाम्ये सदृशानाम्, द्वयधिकादिगुणानां तु, बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।

—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ५)

यह नियम प्रयोग सिद्ध सत्य है अथवा नही यह नही कहा जा सकता, किन्तु यह बहुत महत्व-पूर्ण बात है कि जैन विचारको का ध्यान इस प्रकार के सूक्ष्म अणुओं के बन्ध-सम्बन्धी नियमो को प्रस्तुत करने की ओर आकृष्ट हुआ ।

पुद्गल का वर्गीकरण

जैनाचार्यों ने पुद्गल का वर्गीकरण भी बडी वैज्ञानिकता से किया है । उन्होंने सामान्यत: पुद्गल को दो वर्गों में विभक्त किया है—(१) अणु और (२) स्कन्ध ।[१] अणु अथवा परमाणु की परि-भाषा लिखी जा चुकी है । स्कन्ध अणुओ के सघात को कहते है । स्कन्धों के छ: वर्ग किये गये है:—

(१) स्थूलस्थूल—इस वर्ग मे ठोस पदार्थों को रखा गया है, जैसे लकड़ी, पत्थर, धातुएँ आदि ।

(२) स्थूल—इस वर्ग में द्रवपदार्थ सम्मिलित है, जैसे जल, तेल आदि ।

(३) स्थूल सूक्ष्म—इसमें प्रकाश-ऊर्जा (Energy या शक्ति) को रखा गया है; जैसे प्रकाश, छाया, तम आदि ।

(४) सूक्ष्म स्थूल—इसमें उद्जन (hydrogen), जारक (oxygen) आदि वातिएँ (gases) परिगणित है । साथ ही ध्वनि ऊर्जा (sound energy) आदि अदृश्य ऊर्जाएँ भी सम्मि-लित है ।

(वर्गीकरण मे प्रकाश-ऊर्जा के अनन्तर वातियों (gases) को रखा गया है । भार (weight) की दृष्टि से वातिएँ प्रकाश-ऊर्जा की अपेक्षा अधिक स्थूल (denses) है; किन्तु वर्गीकरण का आधार घनत्व (density) नही दृष्टिगोचर होना न होता है । प्रकाश, विद्युत् आदि ऊर्जाएँ आँखो से देखी जा सकती है और वातिएँ नही । इस प्रकार दृश्य और अदृश्य की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया गया है । जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा लक्षित हो सकती है वे स्थूल-सूक्ष्म वर्ग मे परिगणित है और जो शेष स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियो के विषय (उनके द्वारा लक्षित होने वाली) है वे सूक्ष्म-स्थूल वर्ग में परिगणित है ।)

(५) सूक्ष्म—इस वर्ग में और भी अधिक सूक्ष्म स्कन्ध आते है जो हमारी विचार-क्रिया जैसी क्रियाओ के लिए अनिवार्य है । हमारे विचारो और भावो का प्रभाव इन पर पडता है और इनका प्रभाव हमारी आत्मा और अन्य पुद्गलो पर पड़ता है । इन्हे कर्मवर्गणा कहा जाता है ।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म—इस वर्ग में अत्यधिक सूक्ष्म अणु जैसे विद्युदणु (electron), विद्युदणु (position), विद्युत्कण (proeon) आदि सम्मिलित है ।[२]

---

१. अणवः स्कन्धाश्च ।

—(आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५)

२. अतिस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्म स्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धराधयोभवन्ति षड्भेदाः ॥

पुद्गल के इस वर्गीकरण मे प्रकृति और ऊर्जा (Matter & Energy) दोनों ही सम्मिलित हैं। क्योंकि, पुद्गल की परिभाषा के अनुसार ऊर्जा भी पौद्गलिक सिद्ध होती है। ऊर्जा में भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण होते हैं। प्रकाश जो ऊर्जा का ही एक पर्याय है, पौद्गलिक है; क्योंकि उसमें रूप होता है और जैनधर्म के इस सिद्धान्त के अनुसार, कि जिस वस्तु में रूप, रस, गंध, स्पर्श इन चारों में से कोई एक भी गुण होता है, उसमें प्रकट अप्रकट रूप से तीन गुण भी अवश्य ही होना चाहिए, प्रकाश में स्पर्श, रस व गंध गुण भी सिद्ध होते हैं यद्यपि वे इतने सूक्ष्म हैं कि हमारी स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय उन्हें लक्षित नहीं कर पातीं। अभी तक वैज्ञानिक लोग ऊर्जा (Energy) को पौद्गलिक नहीं मानते थे, परन्तु सापेक्षवाद के सिद्धान्त (Theory of Relativity) और विद्युदणु सिद्धान्त (Theory of Electronic structure) के अनुसन्धान के अनन्तर यह सिद्ध हो गया है कि विद्युदणु (Electron) जो पुद्गल (Matter) का सार्वभौम अनिवार्य तत्त्व (Universal Constituent) है, वह एक विद्युत्कण है और इस प्रकार यह सर्वसम्मत है कि प्रकृति और ऊर्जा (Matter & Energy) एक ही हैं। मात्रा (Mass) और ऊर्जा (Energy) के बीच का सम्बन्ध निम्न समीकरण से स्पष्ट है —

ऊर्जा = मात्रा (प्रकाश की गति)

रैस्टलैस यूनीवर्स (Restless universe) के लेखक मैक्स बार्न (Max Born) महोदय ने लिखा है कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार मात्रा अर्थात् प्रकृति (Matter) व ऊर्जा (Energy) अनिवार्य रूप से एक ही हैं। ये एक ही वस्तु के दो रूपान्तर हैं। मात्रा (Mass अर्थात् प्रकृति या Matter) ऊर्जा (Energy) के रूप में और ऊर्जा मात्रा के रूप में रूपान्तरित भी की जा सकती है।[1]

इससे स्पष्ट है कि जैन-दार्शनिकों का प्रकृति और ऊर्जा (Matter & Energy) दोनों को पुद्गल का पर्याय (Modifications) मानने का सिद्धान्त युक्तिसंगत, तथ्यपूर्ण व विज्ञान-सम्मत है।

भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूला इति स्कन्धाः ।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्पिर्जलतैलाद्याः ॥
छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि ।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।
तद्विपरीताः स्कन्धा अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥

—आचार्य कुन्दकुन्द (नियमसार)

1 According to this theory (Theory of Relativity) mass and energy are essentially the same—Max Born (Restless Universe)

पुद्गल के पर्यायें-छायातमादि—

जैन दार्शनिकों ने छाया, तम, शब्द को भी पुद्गल के पर्यायों में परिगणित किया है।[1] साधारणत: विचारको ने प्रकाश को तम का अभाव मान लिया है, किन्तु जैन-दार्शनिको ने तम का लक्षण दृष्टि-प्रतिबन्ध-कारण व प्रकाश-विरोधी इस प्रकार किया है।[2] तम प्रकाश का प्रतिपक्षी (Antithesis) है और वस्तुओ की अदृश्यता का कारण है। तम मे वस्तुएँ दिखाई नहीं देती। आधुनिक विज्ञान भी तम को अभावात्मक अर्थात् प्रकाश के अभाव-रूप नहीं मानता। जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है कि तम (darkness) में भी उपस्तु ताप-किरणें (Infra-red heat rays) का सद्भाव रहता है जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखें और कुछ विशिष्ट (special) आचित्रीय पट (photographic plates) प्रभावित होते हैं। इस प्रकार तम का दृश्य प्रकाश (visible light) से भिन्न अस्तित्व है, वह प्रकाश के अभाव-रूप नहीं।

छाया—

छाया को भी जैनधर्म पुद्गल का ही पर्याय मानता है। विज्ञान की दृष्टि में अणुवीक्षो (lenses) और दर्पणो (mirrors) के द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब (Images) दो प्रकार के होते है—(१) वास्तविक (Real) और (२) अवास्तविक(virtual)। इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा (प्रकाश) के ही रूपान्तर हे। ऊर्जा ही छाया (shadow) एव वास्तविक अवास्तविक प्रतिबिम्बो (real & virtual images) के रूप में लक्षित होती है। व्यतिकरण पट्टियों (Interference bands) पर यदि एक गणना यन्त्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (dark band) मे से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (photo-electrically) विद्युदणु (electrons) निसरित होते है यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि काली-पट्टी केवल प्रकाश के अभाव-रूप नहीं, उसमें भी ऊर्जा होती है और इसी कारण विद्युदणु निकलते है। काली पट्टियों के रूप मे जो छाया होती है वह छाया (shadow) भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है।

जैन-शास्त्रों में छाया (shadows & images) के बनने की प्रक्रिया का भी सम्यक् निर्देश किया गया है। छाया प्रकाश के आवरण के निमित्त से होती है।[3] आवरण (obstruction अवरोधक) का एक अर्थ अपारदर्शक कायो (opaque bodies) का प्रकाश पथ मे आ जाना है।

---

१. सद्दो बन्धो सुहुमो थूलो संठाण भेदतम छाया।
उज्जोदा दवासहया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥
—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (द्रव्यसंग्रह)

२. तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि।
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि)

३. छाया प्रकाशावरणनिमित्ता, साद्वेधा, वर्णादिविकारपरिणता, प्रतिबिम्ब मात्रात्मिका चेति।
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५. सूत्र २४)

इस प्रकार की छाया को अंग्रेजी में 'शैडो' (shadow) कहते हैं। यह तम के अन्तर्गत आ जावेगी और इस प्रकार यह प्रकाश की अभावात्मिका नहीं अपितु पुद्गल का रूपान्तर सिद्ध होती है। दूसरे प्रकार का आवरण दर्पणों (mirrors) और अणुवीक्षों (lenses) का प्रकाश-पथ में आना है। इनसे वास्तविक और अवास्तविक (Real & virtual) दो प्रकार के प्रतिबिम्ब (images) बनते हैं। यह दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) वर्णादि विकार परिणत (२) प्रतिबिम्बमात्रात्मक। वर्णादिविकार परिणत छाया वास्तविक प्रतिबिम्ब है जो विपर्यस्त (inverted) हो जाती है और जिनका प्रमाण (size) बदल जाता है। यह प्रतिबिम्ब प्रकाश-रश्मियों के वस्तुत. मिलन से बनते हैं और प्रकाश का ही पर्याय होने के कारण स्पष्ट रूप से पौद्गलिक हैं। प्रतिबिम्ब मात्रात्मिका छाया में अवास्तविक प्रतिबिम्ब (virtual images) सम्मिलित होंगे, जिनमें केवल प्रतिबिम्ब ही रहता है, प्रकाश-रश्मियों के वस्तुत: (actually) मिलने से यह प्रतिबिम्ब नहीं बनते। आशय यह कि छाया के विषय में भी जैनसिद्धान्त में सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

प्रकाश का वर्गीकरण भी सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। प्रकाश को दो वर्गों मे विभक्त किया गया है—(१) आतप, (२) उद्योत। आतप सूर्यादि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को कहते हैं और उद्योत चन्द्रमा, जुगनू आदि के शीत प्रकाश को कहते हैं।[1] तात्पर्य यह कि आतप में ऊर्जा का अधिकाश ताप-किरणों (heat energy) के रूप में प्रकट होता है और उद्योत में अधिकाश ऊर्जा प्रकाश किरणों (light-energy) के रूप मे प्रकट होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण पुरातन विचारकों की सूक्ष्मदृष्टि और भेदशक्ति (discriminative power) का परिचायक है।

शब्द—

जैन सिद्धान्त में शब्द को भी पौद्गलिक माना है। उसे पुद्गल का ही पर्याय या रूपान्तर स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करता है, किन्तु आधुनिक विज्ञान के प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि शब्द पौद्गलिक है, आकाश का गुण नहीं। शब्द एक स्कन्ध के दूसरे स्कन्ध से टकराने से उद्भूत होता है। यह मत आधुनिक विज्ञान के मत से बहुत अधिक मिलता है।[2] शब्द का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है[3]—

---

१. आतप आदित्यादि निमित्त उष्णप्रकाशलक्षण: ।
उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिप्रभव: प्रकाश: ॥
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५)

२. शब्दस्कन्धप्रभव: स्कंध: परमाणुसंघसंघात: ।
स्पृष्टेषु तेषु जायते, शब्द उत्पादको नियत: ॥
—आचार्य कुन्दकुन्द (पञ्चास्तिकाय)

३. शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात् ।
भाषात्मक उभयथा अक्षरिकृतेतर विकल्पत्वात् ।
अभाषात्मको द्वेधा प्रयोग विस्रसानिमित्तत्वात् ॥
—तत्र वैस्रसिको बलाहकादिप्रभव: ।
—प्रयोगश्चतुर्धा तत वितत घनसौषिरभेदात् ।
—स्वामी अकलंकदेव (तत्वार्थराजवार्तिक, अध्याय ५)

- शब्द
  - भाषात्मक
    - अक्षरीकृत
    - अनअक्षरात्मक
  - अभाषात्मक
    - प्रायोगिक (२)
      - तत (१)
      - वितत (२)
      - घन (३)
      - सुषिर (४)
    - (१) वैस्रसिक

(१) वैस्रसिक—इस वर्ग में मेघगर्जन जैसे प्राकृतिक प्रक्रियाओं से उद्भूत होने वाले शब्द परिगणित होते हैं।

(२) प्रायोगिक वे शब्द हैं जो वाद्ययन्त्रों से उत्पन्न किये जाते है।

(३) तत वे शब्द है जो चर्मतनन आदि झिल्लियों के कम्पन (vibrations of membranes) से उत्पन्न होते है, जैसे तबला, भेरी आदि से उत्पन्न शब्द।[1]

(४) वितत वे प्रायोगिक शब्द है जो वीणा आदि तन्त्रयन्त्रों (stringed instruments) में तन्त्रो के कम्पन (vibrations of strings) से उद्भूत होते हैं।[2]

(५) घन वे शब्द है जो ताल, घण्टा आदि घन वस्तुओं के अभिघात से उत्पन्न होते हैं। जिह्वाल यन्त्रों (reed instruments हारमोनियम आदि) से उद्भूत होने वाले शब्द भी इस वर्ग में सम्मिलित है।[3]

(६) सुषिरशब्द वंश, शंख आदि में वायु-प्रतर के कम्पन (vibrations of air columns) से उद्भूत होते हैं।[4]

आधुनिक विज्ञान शब्द (ध्वनि sound) को दो विभागों में विभक्त करता है—(१) कोलाहल (noises) और (२) सगीत ध्वनि (musical sound)। इनमें से कोलाहल वैस्रसिक वर्ग में गर्भित हो जाता है। सगीत ध्वनियों (musical sounds) का उद्भव चार प्रकार से माना गया

१. चर्मतननिमित्तः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवस्ततः।

—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र २४)

२. तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिसमुद्भवो विततः।

३. तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः।

४. वंशशंखादिनिमित्तः सौषिरः।

—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र २४)

है—(१) तन्त्रों के कम्पन (vibrations of strings) से, (२) तनन के कम्पन (vibrations of membranes) से, (३) दण्डों और पट्टिकाओं के कम्पन (vibrations of rods- and plates) व जिह्वाल (reed) यन्त्रों के कम्पन से और (४) वायु-प्रतरों के कम्पन (vibrations of air columns) से। यह चारों क्रमशः प्रायोगिक वर्ग के वितत, तत, घन और सुषिर भेद हैं। इस प्रकार पुद्गल और उसके रूपान्तरों (modifications या पर्यायों) से सम्बद्ध सिद्धान्त जैन-विचारकों की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि के प्रतिफल प्रतीत होते हैं।

पुद्गल के पूर्व-लिखित वर्गीकरण में सूक्ष्मसूक्ष्म नामक छठे वर्ग में दो परमाणुओं के बन्ध से बने स्कन्ध तक सम्मिलित हो सकते हैं, परमाणु नहीं। इस वर्ग में विद्युदणु (electron), उद्युदणु (positron), उद्युत्कण (proton), निद्युत्कण (neutron) आदि सम्मलित हैं, क्योंकि जैन-सिद्धान्त के अनुसार यह पुद्गल के परमाणु—अविभाग प्रतिच्छेद (Ultimate particles)—नहीं हैं, कारण यह कि, जैन-दार्शनिकों का यह मत है कि परमाणु स्कन्ध-रूप अवस्था में ही कार्यकारी होता है। यह कण कार्यशील हैं इसलिए स्कन्ध (composite) ही हैं, परमाणु (non-composite) नहीं। स्कन्धों के इस वर्गीकरण में विद्युत्कण (negatrons) भी रखे जावेंगे जिनके अस्तित्व की सभावना मैक्सबार्न महोदय ने अपनी पुस्तक रेस्टलेस यूनीवर्स में पृष्ठ २६६ पर इन शब्दों में प्रकट की है—

संभवत. विद्युत्कणों (negatrons) का भी अस्तित्व है, यद्यपि अभी तक कोई उनके अनुसंधान में सफल नहीं हुआ है; और सम्भवत विश्व में ऐसे भाग होंगे जहाँ वे अधिक सख्या में हैं। वहाँ उद्युदणु (positrons) विद्युत्प्रभृत न्यष्टियों (negatively charged nuclei) के चारों ओर चक्कर लगाते होंगे। (जैसे कि हमारी पृथ्वी की प्रकृति में (matter) उद्युत्प्रभृत न्यष्टियों (positively charged nuclei) के चारों ओर विद्युदणु (electrons) चक्कर लगाते हैं।) इस प्रकार की प्रकृति और हमारी पृथ्वी की प्रकृति में बहुत अधिक अन्तर नहीं होगा।[१]

सारांश यह कि कुछ विद्युदणुओं और उद्युदणुओं के सघात (Combination) से निर्मित एक विद्युत्कण (negatron) के मिलने की सभावना है। इसी प्रकार उद्युत्कण (proton) भी उद्युदणुओं और विद्युदणुओं (positron & electrons) के सघात से निर्मित प्रतीत होता है। निद्युत्कण (neutron) समसंख्या में विद्युदणुओं और उद्युदणुओं के मिलने से बना हुआ स्कन्ध प्रतीत होता है। रेस्टलेस यूनीवर्स में दूसरे प्रकार से इसकी सभावना प्रकट की गई है—

---

१ Perhaps negative protons (negatrons) also exist, no one has succeded in finding them yet. And perhaps there are regions in the universe where they are in excess. These positive clectrons (positrons) circulate round negative nuclei. Matter of that kind, would not greatly differ from our matter.

--Restless Universe (Max Born) page 266.

उद्युत्कण (proton) + विद्युदणु (electron) = निद्युत्कण (neutron)
निद्युत्कण + उद्युदणु = उद्युत्कण

और इस प्रकार केवल उद्युदणु और विद्युदणु ही पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद (ultimate particles) प्रतीत होते हैं ।

परमाणु-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विशेष—

जैन-दार्शनिको के पुद्गल और परमाणु सिद्धान्त के विषय मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने अन्य भारतीय दर्शनो के विपरीत, पुद्गल (Matter & Energy) को एक ही प्रकार का माना है, सब पुद्गलों की आंतरिक रचना में कोई भेद नहीं माना, अपितु उनको एक ही प्रकार के तत्व (परमाणु-स्निग्ध अथवा रूक्ष में से कोई एक गुणयुक्त) से निर्मित स्वीकार किया। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, स्वर्ण, पारद आदि को एक ही पुद्गल के रूपान्तर (पर्याय या modifications) स्वीकार किया । आचार्य उमास्वाति जो ईसा की प्रथम शती के लगभग हुए थे, उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—पुद्गलस्कंध किसी बड़े स्कध के टूटने से (भेद से) अथवा छोटे-छोटे स्कधो के संघात से उत्पन्न होते है । इस सघात (combination) के मूलकारण परमाणुओं के स्निग्ध रूक्ष गुण है ।[1] तात्पर्य यह कि जगत् में जितने भी भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गल सीसा, सुवर्ण, गधक आदि दृष्टि में आते हैं (अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से गृहीत होते है) वे सब स्निग्ध और रूक्ष गुणों से युक्त परमाणुओं के बन्ध से उत्पन्न होते हैं और उनके रचना-तत्व एक ही होने के कारण सब पुद्गल एक ही प्रकार के हैं । प्रकृति (Matter) की विद्युदणु सबन्धी रचना (electronic structure) के अनुसन्धान के पूर्व वैज्ञानिक पुद्गल को भिन्न-भिन्न प्रकार का मानते थे । एक तत्त्व (element) की प्रकृति (Matter) को दूसरे तत्त्व की प्रकृति से भिन्न प्रकार की मानते थे । किन्तु, विद्युदणु सिद्धात के अनुसन्धान से यह सिद्ध हो गया है कि सब तत्त्वो की प्रकृति एक ही प्रकार की है । वैज्ञानिक अब सब प्रकृति (Matter) को विद्युदणु और उद्युदणुओं से निर्मित स्वीकार करते है । इससे पुद्गलों का आधारभूत तत्त्व एक ही है, जैनधर्म का यह सिद्धान्त विचार और तथ्यपूर्ण सिद्ध होता है ।

इतना ही नही, पुद्गल की वैद्युदिक अन्तःरचना (electronic structure) की ओर भी जैन-विचारकों की दृष्टि गई है और पुद्गल-परमाणु में रहने वाले स्विग्ध और रूक्षगुणो से उनका तात्पर्य विद्युत् और उद्युत् प्रभार (negative & positive charges of electricity) से ही रहा है । ईसा की छठी शताब्दी में प्रणीत आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—विद्युत् और मेघगर्जन स्निग्ध रूक्ष गुणों के निमित्त से होते हैं ।[2] आधुनिक विज्ञान भी यह स्वीकार करता

---

१. भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते । स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः।
—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ सूत्र अध्याय ५) सूत्र २६, ३३

२. स्निग्धरूक्षनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादि विषयः (वैस्रसिकः शब्दः) ।
—आचार्यपूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५,
सूत्र २४)

है कि विद्युत और उद्युत् प्रभार (अथवा धन और ऋण विद्युत्) के विसर्जन (मोचन discharge) से विद्युत् और मेघगर्जन होते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्निग्ध और रूक्षगुण शब्दो का प्रयोग उद्युत् और विद्युत् प्रभार (positive & negative charges) के ही अर्थ में हुआ है।

कई वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आविष्कृत विद्युदणु (electron), उद्युदणु (positron), निद्युत्कण (neutron), उद्युत्कण (proton) आदि में से केवल विद्युदणु और उद्युत्कण एव निद्युत्कण (neutron) और उद्युत्कण (proton) में से कोई एक पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद (ultimate particles) प्रतीत होते है।[1] जैनसिद्धान्त की दृष्टि से विद्युदणु और उद्युदणु भी स्निग्ध और रूक्ष गुणयुक्त स्कन्धों के सघात से उत्पन्न स्कन्ध है। इसका आशय यह नही कि विद्युदणु और उद्युदणु क्रमशः केवल रूक्ष और केवल स्निग्ध गुणो से युक्त स्कन्धो के बन्ध से निर्मित है अपितु इसका तात्पर्य यह है कि उद्युदणु स्निग्ध और रूक्ष दोनों प्रकार के गुणों से युक्त स्कन्ध है और इसी प्रकार विद्युदणु भी; किन्तु उद्युदणु में दो एकांक (absolute units) स्निग्ध गुण अधिक होते हैं और विद्युदणु में दो रूक्ष गुण अधिक होते हैं। इनमें बन्ध की प्रक्रिया इस प्रकार समझायी जा सकती है। "क्ष" रूक्ष गुणवाला स्कन्ध (क्ष × क) रूक्ष गुण युक्त स्कन्ध से सघटित हुआ। इस प्रकार (रूक्ष—क) रूक्ष गुण वाला स्कन्ध बन गया। (क्ष—क) स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध और (क्ष—क) स्निग्ध गुणवाले स्कन्ध के संघात से २ क्ष गुणवाला एक स्निग्ध स्कन्ध बना। (रक्ष—२) रूक्ष स्कन्ध से २ क्ष स्निग्ध स्कन्ध संघटित हो गया। इस प्रकार दो एकांक रूक्ष गुण (two absolute units of negative charge) युक्त स्कन्ध विद्युदणु (electron) निर्मित हो गया। यह स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धो के बन्ध का उदाहरण है। न्यष्टि (nucleus) में रहनेवाला उद्युत्कण (protons) स्निग्ध स्कन्धो के परस्पर बन्ध के उदाहरण हैं।

बन्ध के पूर्वोल्लिखित नियमो में से एक यह है कि केवल दो एकांक (absolute units) स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों का अन्तर होने पर ही स्कन्धों का बन्ध होता है। इस प्रकार बध हो जाने पर स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों में से जिनकी संख्या दो एकांक अधिक होती है नवीन स्कंध भी उसी रूप होता है। तात्पर्य यह कि जितने भी स्कन्ध बनेंगे उनमे केवल दो एकांक गुणों का अन्तर होगा। आधुनिक शब्दावली में उनमें केवल दो एकांक प्रभार (two absolute units of charge) होता है। इन गुणों का एकांक इनका वह सूक्ष्मतम अंश है जिसके दो भाग नहीं किये जा सकते। इस दृष्टि से विद्युदणु, उद्युदणु, उद्युत्कण आदि में केवल दो एकांक प्रभार होना चाहिए क्योंकि वह सब ऐसे

---

1 The existance of the first four (electron, positron, proton, neutron) is firmly established, two light ones (the electron and the positron) and the two heavy ones, proton and neutron. These are too many for it is likely that the combination of a proton and an electron, a neutron and a positron will give a neutron, a proton. Either neutron or proton must be composite.

—Max Born (Restless Universe) page 266.

स्कन्धों से निर्मित है जिनमें स्निग्ध और रूक्ष गुणों की संख्या का अन्त दो एकांक रहा है। इसके अनुसार इन सब में सम मात्रा में प्रभार होना चाहिए। हम देखते हैं कि आधुनिक अनुसन्धान से यह बात सम्मत है। यद्यपि विद्युदणु (electron) और उद्युत्कण (proton) में मात्रा (mass) का अन्तर है (उद्युत्कण विद्युदणु से १८५० गुणित भारी है) फिर भी प्रभार की मात्रा (amount of charge) समान होती है। इससे जैनधर्म का उपर्युक्त सिद्धान्त तथ्यपूर्ण सिद्ध होता है।

उपर्युक्त नियमों में विसदृश (स्निग्ध रूक्ष गुणवाले) अणुओं के बंध के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार स्निग्ध और रूक्ष गुणों की समसंख्या वाले विसदृश अणुओं का भी बन्ध नहीं होता। बंध के लिए दो एकाकों का अन्तर होना अनिवार्य है चाहे स्कंध सदृश (एक ही प्रकार के गुणयुक्त) हों अथवा विसदृश (भिन्न प्रकार के गुणयुक्त)। दूसरे मत के अनुसार सदृश गुणयुक्त परमाणु या स्कन्धों का बन्ध तो संख्या में दो का अन्तर होने पर ही होता है किन्तु विसदृश गुणयुक्त परमाणुओं या स्कंधों का बन्ध गुणों की संख्या में दो का अन्तर होने पर अथवा गुणो की सख्या समान होने पर हो सकता है। निद्युदणु (nutrino) और निद्युत्कण (neutron) जिनमें विद्युत् और उद्युत् प्रभार (negative & positive charge) समान होते हैं, इनके निर्माण की प्रक्रिया दूसरे मत के आधार से ही समझायी जा सकती है।

पुद्गल की आन्तरिक रचना के विषय में जैन-सिद्धान्तकारों के एक और विचार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। एक स्थल पर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है कि पुद्गल द्रव्य-स्कन्ध (आधुनिक अणु atom) में अणुसमूह और वातियो (gases) आदि पुद्गलों में व्यूहाणु (molecules) चलित–क्रियाशील—होते हैं[1]। यह आधुनिक प्रवैगिकीय सिद्धान्त (Dynamical theory) और विद्युदणुसिद्धान्त (Electronic theory) की ओर सकेत है। पुद्गल की इस क्रिया का भी वर्गीकरण किया गया है। क्रिया दो प्रकार की मानी गई है—(१) विस्रसा क्रिया (२) प्रयोग निमित्ता क्रिया[2]। विस्रसा क्रिया प्राकृतिक होती है—बिना किसी बाह्य निमित्त कारण से। इस प्रकार की क्रिया न्यष्टि (nucleus) के चारो ओर विद्युदणुओं (electrons) की होती है। वातियों (gases) में व्यूहाणुओं (molecules) की क्रिया भी विस्रसा कही जा सकती है। प्रयोग-निमित्ता क्रिया बाह्यशक्ति व कारणो से उत्पन्न होती है।

परमाणु और स्कन्ध के बन्धाबन्ध के नियम-सम्बन्धी प्रकरण में यह उल्लिखित है कि भेद, संघात और भेद-सघात इन तीन प्रक्रियाओं से पुद्गल स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। भेद का अर्थ यह है स्कन्ध में से कुछ परमाणु विघटित हो जाते हैं और दूसरे स्कन्ध में मिल जाते है। संघात की प्रक्रिया में एक स्कन्ध के कुछ अणु दूसरे स्कन्ध के कुछ अणुओं के साथ संघटित हो जाते हैं और इस प्रकार

---

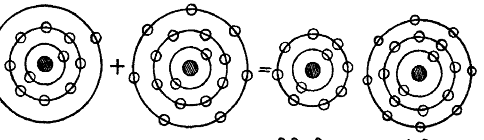
१. पोग्गलदव्वम्हि अणुसंखेज्जादीहवंति चलिदाहु।
—गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा ५९२)

२. पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया। विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च।१६।
—स्वामी अकलंकदेव (तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ७)

वे अणु दोनों स्कन्धों से समान रूप से संबद्ध रहते हैं। भेद-संघात का अर्थ भेद और संघात इन दो प्रक्रियाओं का एक साथ होना है। इस प्रक्रिया (भेद-सघात) में एक स्कन्ध के कुछ अणु दूसरे स्कन्ध से मिलकर दोनों स्कन्धों से समान रूप में सम्बद्ध रहते है। संघात और भेद-सघात में अन्तर यह है कि संघात में सघटित होकर समान रूप से दोनों स्कन्धो से सम्बद्ध रहनेवाले अणु किसी भी स्कन्ध (आधुनिक अणु atom) से विच्छिन्न नही होते (भेद प्रक्रिया नही होती); किन्तु भेद-संघात में एक ही स्कन्ध के अणु विघटित होकर सघटित रूप से दोनो स्कन्धों से संबद्ध हो जाते है।

आधुनिक विज्ञान अणुओ (atoms) के मिलने से व्यूहाणु (molecules) बनने के तीन प्रकार मानता है—(१) विद्युत्संयुजता (electro valency), (२) सहसयुजता (Covalency), (३) विसहसयुजता (Coordinate covalency)। विद्युत्सयुजता (electro valency) में एक अणु के बाह्यकक्षीय कवच (outermost orbital shell) के कुछ विद्युदणु (electrons) उससे विच्छिन्न होकर दूसरे अणु (atom) के बाह्यकवच (outermost orbital shell) के विद्युदणुओ से मिल जाते हैं। जैसे क्षारातु (sodium) के बाह्यतम कवच पर एक विद्युदणु रहता है और नीरजी (chlorine) के बाह्यतम कवच पर सात विद्युदणु रहते हैं। एक स्थायी रचना (stable structure) में शिथिराति (neon) की भाति बाह्यतम कवच (shell) पर आठ विद्युदणु रहना चाहिए। जब व्यूहाणु (molecule) बनता है तो नीरजी के सात बाह्यतम कवच पर रहने वाले विद्युदणुओं में क्षारातु (sodium) के अणु (atom) के बाह्यतम कवच का एक विद्युदणु (electron) मिल जाता है और इस प्रकार नीरजी (chlorine) के अणु के कवच की रचना मदाति (argon) के कवच की भाति हो जाती है और क्षारातु (sodium) के बाह्यकवच की रचना भी शिथिराति (neon) के कवच की भाँति रह जाती है। यह बात इस चित्र से स्पष्ट हो जावेगी—

● न्यष्टि (nucleus)
○ विद्युदणु (electron)



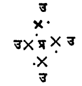
शिथिराति विन्यास — मंदाति विन्यास

क्षारातु (Sodium) — नीरजी (Chlorine) — क्षारातुनीरेय (Sodium chloride)

सहसंयुजता (covalency) में एक अणु (atom) के बाह्य कवच के विद्युदणु दूसरे अणुओ के बाह्य कवच के विद्युदणुओ से मिलकर स्थायी रचना बना लेते हैं और इस प्रकार सब अणुओं

के बाह्यकवच की रचना जड़ (अक्रिय) वातियों (inert gases) के विन्यास (Configuration) की भांति हो जाती है। जैसे प्राङ्गार (carbon) के एक अणु से उद्जन (hydrogen atom) के चार अणु (atoms) इस प्रकार मिलते हैं :—

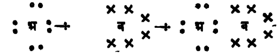
उ = उद्जन (hydrogen) का एक अणु
प्र = प्राङ्गार (corbon) का एक अणु



हंसपद (×) से चिह्नित चार विद्युदणु (electrons) प्राङ्गार के बाह्यतम कवच के हैं। इनमें प्रत्येक उद्जन-अणु (hydrogen atom) से आये चार विद्युदणु मिल गये हैं जो (·) बिन्दु से सूचित किये गये हैं। इस प्रकार यह आठ विद्युदणु प्राङ्गार अणु के विन्यास (configuration) को शिथिराति (neon) के विन्यास की भाँति बना देते हैं। उद्जन के अणुओं में भी यही आठ विद्युदणु दो-दो विभक्त हो जाते है और इस प्रकार उद्जन के अणुओं की आकृति (configuration) भी यानाति (helium) नामक अक्रियावाति (Inert gas) के अणु की आकृति के अनुरूप हो जाती है। इस प्रकार विद्युदणुओं के सहविभाजन (sharing) द्वारा बंध होता है।

तीसरे प्रकार की विसहसंयुजता (coordinate covalency) में यह दोनों की प्रक्रियाएँ होती हैं। उसमें एक ही अणु के बाह्य कवच के कुछ विद्युदणु सक्रमित (transferred) होते है और फिर दोनों अणुओं में सहविभाजित (shared) हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों अणुओ की रचना जड़वातियो (Inert gases) की रचना के अनुरूप हो जाती है :—

: देय युगल (lone pair)



अ = दाता (doner)
ब = भोक्ता (accepter)

इसमें 'अ' के दो विद्युदणु 'ब' की ओर संक्रमित (transferred) हो गये हैं और इन दो अणुओं के मिल जाने से 'ब' का विन्यास (configuration) जड़वातियो के अनुरूप हो गया है। किन्तु, साथ ही यह दो अणु (electrons) 'अ' के साथ भी सहविभाजित (shared) हैं और इन्ही के द्वारा 'अ' की रचना भी जड़वातियों के विन्यास (configuration) के अनुरूप होती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में विद्युदणुओं का सक्रमण (transfer) और सहविभाजन (sharing) दोनों ही होते हैं।

भेद, संघात और भेद-संघात इन तीनों प्रक्रियाओं के ही नामान्तर प्रतीत होते है। भेद का एक और प्रकार होता है। वह है पुद्गलों की गलन (खंडन या disintegration) प्रक्रिया। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से स्कन्ध (अणु atom) का गलन (विदारण, खंडन, disintegration) होना भेद है[1]। तेजोद्गरण (Radioactivity) की प्रक्रिया के कारण को इसके आधार पर समझाया जा सकता है। वह प्रक्रिया अणु (atom) की आन्तरिक रचना से सम्बद्ध है इसलिए इसका कारण आन्तरिक है। आधुनिक विज्ञान का भी यही अभिमत है। तेजोद्गरक तत्वों से निस्सरित होने वाली रश्मियो के गुणो के अनुसन्धानों के पश्चात् यह सिद्ध हो गया है कि तेजोद्गरण (Radioactivity) अनिवार्यतः एक न्यष्टि (nucleus) से सबद्ध प्रक्रिया है।[2] खण्डन क्रिया (disintegration phenomenon) जिसमें किरणातु आदि (Uranium etc.) के कुछ अ-कण (£-particles) विचलित हो जाते हैं भेद का एक अच्छा उदाहरण है।

पुद्गल (Matter & Energy) में अनन्त शक्ति होती है इसकी ओर भी जैन-दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। कई स्थलो पर पुद्गल की इस अनन्त शक्ति का उल्लेख मिलता है। एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अंश एक 'समय' में लोक (universe)के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है। जैन-सिद्धान्त के अनुसार यह दूरी २.०१६ + १०[११] मील है। इस कथन से परमाणु की अनन्त शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसन्धानों द्वारा भी यह सिद्ध हो गया है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है। एक ग्राम (gram) पुद्गल में ९×१० २० अर्ग (erg) ऊर्जा (energy) होती है। इतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन)कोयला जलाने पर मिल सकती है। मात्रा (mass) और ऊर्जा के विषय में यह समीकरण दिया ही जा चुका है :—

ऊर्जा = मात्रा (प्रकाश की गति) [२]

इससे स्पष्ट है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है।

जैन-सिद्धान्त में पुद्गल (matters) की पूरण और गलन क्रियाओ (combination and disintegration phenomena)की ओर भी पर्याप्त सकेत मिलते हैं। पुद्गल की परिभाषा एक अन्य रीति से भी की जाती है। जिसमें पूरणक्रिया और विगलन क्रिया (combination

---

१. द्वितय निमित्तवशात् विदारणं भेदः।

—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५)

2 Soon after the nature of the rays given out by the radio-active substances had been established, it was realised that radioa ctivity is essentially a neuclear property

—Essentials of Physical Chemistry.

(Bahl & Tuli) page 200.

and disintegration) संभव हों वे पुद्गल हैं।[1] अर्थात् एक स्कन्ध दूसरे स्निग्ध रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से मिल सकता है और इस प्रकार अधिक स्निग्ध रूक्ष गुणों वाला स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है। यह पूरण-क्रिया है। अथवा एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध रूक्ष संयुक्त स्कन्ध विच्छिन्न हो सकता है। यह विगलन किया है। गत शताब्दी के वैज्ञानिकों का यह मत था कि तत्व (elements) अपरिवर्तनीय हैं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप में परिवर्तित (transformed) नहीं हो सकता है किन्तु नये अनुसंधानों तेजोद्गरण (Radioactivity) आदि से यह सिद्ध हो गया है कि तत्त्व (elements) परिवर्तित (transformed) हो सकते हैं। किरणातु (Uranium) के एक अणु (atom) में से जब तीन अ-कण (£ particles) विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह एक तेजातु (radium) के अणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है और तेजातु का एक अणु (atom) ५ अ-कणों (£ particles) से विच्छिन्न हो जाता है तो सीसा (lead) का एक अणु शेष रह जाता है। यह विगलन क्रिया (disintegration) है। विज्ञान के क्षेत्र में पूरणक्रिया (combination) के भी कई उदाहरण मिलते है। भूयाति (nitrogen) के एक अणु (atom) की न्यष्टि (nucleus) में जब एक अ-कण (£ particle) मिल जाता है तो एक जारक (oxygen) का अणु बन जाता है। लध्वातु (lithium) और विडूर (beryllium) में भी इसी प्रकार पूरण क्रिया सभव है।

पुद्गल का परिणमन और अवगाहना—

जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य पुद्गल के सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाया जा सकता है। जैनसिद्धान्त के अनुसार लोक (Universe) जिसमें पुद्गलद्रव्य आदि स्थित है उसमें असंख्यात प्रदेश (आकाश के एकाक-absolute units of space) होते हैं। किन्तु, पुद्गल अनन्तानन्त (infinite in number) हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनन्तानन्त (infinite) पुद्गल (Matter) असख्यात (countless) प्रदेशवाले लोक में कैसे स्थित है, जब कि एक प्रदेश आकाश का वह अश है जिसमें एक ही परमाणु स्थित हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि में कहा है कि सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के योग से परमाणु—और स्कन्ध भी, सूक्ष्म रूप परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं।[2] इसी बात को नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने

---

१. पूरयन्ति गलन्ति इति पुद्गलाः।
पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः।
तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र १—१४
छव्विह संठाणं बहुविह देहेहिं पूरदि गलदित्तिपोग्गलो।—धवला

२. सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात्परमाण्वादयोहि सूक्ष्मभावेनपरिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते, अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहतास्ति, तस्मादेकस्मिन्नपिप्रदेशेऽनन्तानन्तावस्थानं न विरुद्ध्यते।
—सर्वार्थ सिद्धिः।

आकाश के छोटे से छोटे भाग (smallest unit of space) 'प्रदेश' की परिभाषा करते हुए कहा है—कि पुद्गल का एक अविभाग प्रतिच्छेद परमाणु-आकाश के एक प्रदेश (unit space) को घेरता है, किन्तु उसी प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु भी स्थित हो सकते हैं।[1] यह कैसे सभव हो, इस प्रश्न का उत्तर यह है । यद्यपि परमाणु के विभाग नहीं हो सकते, किन्तु परमाणु में और स्कन्धों में भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति यह दो प्रक्रियाएँ सभव हे । अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु अथवा स्कन्ध जितने स्थान में स्थित होता है उतने ही स्थान में अन्य परमाणु व स्कन्ध भी रह सकते हैं । (जैसे एक ही कमरे में कई विद्युद्दीपों (lamps) का प्रकाश समा सकता है। (जैन सिद्धान्त में प्रकृति (matter) और ऊर्जा (Energy) को एक ही माना है) । सूक्ष्म-परिणमन की क्रिया का अर्थ है कि परमाणु में सकोच हो सकता है । उसका घनफल कम हो सकता है, वह सूक्ष्म रूप परिणत हो सकता है । इस प्रकार वह कम स्थान घेरता है । सूक्ष्म परिणमन-क्रिया आधुनिक विज्ञान के आधार पर समझायी जा सकती है । अणु (Atom) के दो अग होते हैं एक मध्य-वर्त्ती न्यष्टि (nucleus) जिसमें उद्युत्कण और विद्युत्कण (protons & neutrons) होते हैं और दूसरा बाह्यकक्षीय कवच (orbital shells) जिनमें विद्युदणु (electrons) चक्कर लगाते हैं । न्यष्टि (nucleus) का घनफल पूरे अणु (atom) के घनफल से बहुत ही कम होता है । और जब कुछ कक्षीय कवच (orbital shells) अणु से विच्छिन्न (disintegrated) हो जाते हैं तो अणु का घनफल कम हो जाता है । यह अणु विच्छिन्न अणु (stripped atoms) कहलाते हैं । ज्योतिष सम्बन्धी अनुसन्धानो से यह पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे है जिनका घनत्व हमारी पृथ्वी की घनतम वस्तुओं से भी २०० गुणित, है एडिंग्टन ने एक स्थल पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यष्टीय पुद्गल (nuclear matter) हमारी वास्कट के जेब में समा सकती है । एक तारे का घनत्व जिसका अनुसन्धान कुछ ही समय पूर्व हुआ है ६२० टन अथवा १७३६० मन प्रति घन इन्च है । इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं (stripped atoms) से निर्मित है । उसके अणुओ (atoms) में केवल न्यष्टियाँ ही है; कक्षीय कवच (orbital shells) नही । जैन-सिद्धान्त की भाषा में इसका कारण अणुओं का सूक्ष्म परिणमन है ।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनधर्म के पुद्गल और परमाणु सम्बन्धी बहुत से सिद्धान्तो को वैज्ञानिक आधार पर समझाया जा सकता है । जैनाचार्यों के मतानुसार इनका मूल स्रोत एक विशिष्ट अलौकिक ज्ञान परम्परा है, किन्तु यदि हम उन्हें दार्शनिक विचार-विमर्श और चिन्तन के प्रतिफल भी स्वीकार करें तो भी पुद्गल और परमाणु-सम्बन्धी यह सिद्धान्त अमूल्य और वैज्ञानिक हैं और इनमें से अधिकांश प्रयोग-सिद्ध सत्य भी ।

---

१. जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु वट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाण रिहं ॥
—द्रव्य संग्रह

—o—

जैन धर्म में काल द्रव्य की वैज्ञानिकता

श्री नन्दलाल जैन बी० एस-सी०

जैन-धर्म और आधुनिक विज्ञान—

आज का जगत् प्रगतिशील है । विज्ञान इस प्रगति में पूर्ण रूप से सहायक । इसलिए हम इस युग को "वैज्ञानिक" भी कहने लगे हैं । आज के इस युग में मनुष्य प्रत्येक स्थल पर वैज्ञानिकता देखने को उत्सुक है । यदि कहीं वैज्ञानिकता का उसे अभाव प्रतीत होता है, तो वह उस तरफ से उपेक्षित होने लगता है । धर्म भी आज ऐसा ही स्थल है, जहाँ आज लोग प्रत्यक्ष वैज्ञानिकता न देख उसके प्रति उपेक्षित होते जा रहे हैं । इसलिए धर्म और विज्ञान के विषय में हमें कुछ विचार कर लेना चाहिए ।

हम देखते हैं कि आज विज्ञान की दृष्टि सिर्फ भौतिक जगत् में सीमित है । अभौतिक (अभूर्तिक पदार्थ या शक्ति) क्षेत्र में किये गये अभी तक के समस्त वैज्ञानिक प्रयत्न असफल ही सिद्ध हुए कहना चाहिए । फलत. आज भी विज्ञान इस विषय में कोई निर्णय नहीं देता । हमारे सामने आत्मा, गति-माध्यम (धर्म), स्थितिमाध्यम (अधर्म), आकाश एवं काल द्रव्य है, जो सरूपी है । गतिमाध्यम (Ether) को छोड अन्य पदार्थों के विषय में विज्ञान अभी तक कोई निर्णय स्थिर रूप से नहीं दे सका है । गति-माध्यम के विषय में भी Ether के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन नहीं हो सका है । दूसरी बात यह है कि विज्ञान के द्वारा प्रकाश में आई हुई सभी बातें सत्य ही हों, यह कोई नियम नहीं है ! विज्ञान के सिद्धान्त हमेशा बदलते रहते हैं, और कहीं २ तो उनमें विरोध भी पाया जाता है । उदाहरण स्वरूप हम Plotemy एव Coperincus के इन सिद्धान्तों को लेते हैं ।

धर्म और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन—

(१) सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगाता है, पर पृथ्वी स्थिर है ।
(२) पृथ्वी चक्कर लगाती है एवं सूर्य स्थिर है ।

दोनों ही सिद्धान्त परस्पर-विरोधी हैं । वास्तविक सत्य क्या है, हम नहीं कह सकते । सत्य का पता लगाने का कोई तरीका हमारे पास नहीं है । पर हम यह भी नहीं कह सकते कि दोनों ही सिद्धान्त झूठे हैं । अलबर्ट आइन्सटाइन के "सापेक्षता सिद्धान्त" ने इस दिशा में काफी समाधान पेश किया है,

परन्तु फिर भी वास्तविक सत्य का पता नही। इसके आधार पर सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा से, एवं पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गतिशील हैं। फिर कोई विरोध नही। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक सिद्धान्तो की सत्यता आपेक्षिक ही माननी चाहिए, वास्तविक नही। और इसीलिए हम धर्म और विज्ञान को एक स्तर पर नहीं रख सकते। धर्म मूर्तिक पदार्थों के अतिरिक्त अमूर्तिक पदार्थों का भी निरूपण करता है। वह जितना ही आध्यात्मिक है, उतना ही भौतिक है। आखिर भौतिकता से ही तो वह आध्यात्मिकता की ओर बढ़ता है। इसीलिए मानव के लिए धर्म विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। धर्म चिर-सुख प्राप्ति का कारण है, विज्ञान द्वारा प्रस्तुत सुख अचिर और विनाशी है। धर्म और विज्ञान का साम्य आज भौतिक-विवेचन में ही सम्भव है, अभौतिक या आध्यात्मिक में नही। इस भौतिक विवेचन में जो धर्म जितना ही ज्यादा साम्ययुक्त होगा, उतना ही वह जन-गण के लिए ग्राह्य होगा।

भ० महावीर द्वारा उपदिष्ट जैनधर्म और उसके सिद्धान्त इसी कोटि में आते हैं। आज की वैज्ञानिक-प्रगति की दृष्टि से देखा जावे, तो जैनधर्म काफी आगे है। भौतिक जगत् की मूल शक्तियो के विषय में विज्ञान अभी पूर्ण रूप नही ले सका है। फिर भी आज यह स्पष्ट है कि जिन पदार्थों की सत्ता को आज वैज्ञानिक अनुभव करने लगे हैं वे जैनधर्म में पहले से ही निर्दिष्ट हैं। श्रीजगदीशचन्द्र वसु के सिद्धान्त ने जैनधर्म के एक इसी तरह के सिद्धान्त की पुष्टि की है। धर्म एव अधर्म द्रव्य के अतिरिक्त कालद्रव्य भी आज वैज्ञानिको के मस्तिष्क का केन्द्र बना हुआ है।

भौतिक जगत एवं काल-द्रव्य—

जैन धर्म का भौतिक जगत्-जीव तथा पाँच प्रकार के अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, एव पुद्‌गल) इस प्रकार—छः द्रव्यो से निर्मित है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों को छोड अन्य किसी दर्शन में काल को उतनी महत्ता नही दी गई है, जितनी जैन-दर्शन में। काल-द्रव्य की समस्या पर वैज्ञानिको, दार्शनिकों और गणितज्ञों—सभी का ध्यान गया है, परन्तु जैन-दर्शन का निरूपण सबसे ज्यादा सारभूत है। चूँकि जैनमत के अनुसार "काल" अमूर्त है, इसीलिए विज्ञान इसकी सत्ता के विषय में चुप हो, यह बात नही। आधुनिक विज्ञान 'समय' के कार्यकलाप के आधार पर उसे द्रव्य रूप से मानने का अनुभव करने लगा है, पर अभी तक उसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही किया है। एडिंग्टन का यह कथन—

Time is more Physical reality than matter एव हैनशा का यह वाक्य—

These four elements (space, matter, TIME and medium of motion) are all separate in our mind. We can't imagine that one of them could depend on another or be converted into another."

उपर्युक्त निर्देश में प्रमाण है। भारतीय प्रोफेसर एन. आर. सेन भी इसी पक्ष में है। जैनधर्म के अनुसार द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक होता है। कालद्रव्य में भी ये तीनो पाये जाते हैं, व्यवहारकाल और निश्चलकाल इसीके परिणाम हैं। द्रव्य की यह परिभाषा आधुनिक विज्ञान के आधार परसिद्ध है। विज्ञान के शक्ति-स्थिति (Conservation of energy) तथा वस्तु-अविनाशित्व (Law of

Indestructibility of matter) एवं Transformation of Energy आदि सिद्धान्त स्पष्ट निर्देश करते हैं कि नाशवान् पदार्थ में ध्रुवत्व है। डेमोक्राइट्स का अभिमत इस विषय के लिए काफी है।

"Nothing can never become something, something can never become nothing."

कालद्रव्य की ध्रौव्यता वाचकपद "वर्तना" है और उत्पाद-व्ययत्वसूचक "समय" है। (वर्तना-परिणाम..........एवं सोऽनंतसमयः ॥ (तत्वा० सूत्र ६) । कालद्रव्य के अस्तित्व के विषय में जैनधर्म का बहुत ही गम्भीर तर्क है। उसके अनुसार काल

"सर्वद्रव्य वर्तना निमित्तभूत:" (प्रवचनसार)
दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ (द्र० संग्रह)

—प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यैकवृत्ति रूप. परिणाम:........................सहकारिकारणसद्भावे दृष्ट:। यस्तु सहकारिकारणं, स काल. (पचास्तिकाय) ।

'काल पदार्थों के परिणमन में कारण-स्वरूप है'। यह उसके परिणमन में, परिवर्तन में, वैसे ही सहायक है, जैसे कुम्हार के मिट्टी-बर्तन-निर्माण-चक्र में पत्थर। यह पत्थर चक्र में गति स्वयं पैदा नही करता, अपितु गतिमान् बनाने में सहायक मात्र होता है। कालद्रव्य के बिना जगत् का विकास रुक जायगा। "समय" के अभाव में वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश, आश्चर्यजनक लैम्प के अभाव में, अलादीन के शानदार महल के समान, होने लगेगा। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसन का कथन है कि "जगत् के विकास में काल एक खास कारण है। बिना कालद्रव्य के परिणमन और परिवर्तन के कुछ भी नही हो सकते।" यह कथन जैनमत से ही बिलकुल मिलता-जुलता है। इस सबके आधार पर हम यही कह सकते हैं कि "काल" भी एक द्रव्य है।

काल-निरूपण

जैनधर्म के अनुसार, काल दो तरह का है—(१) निश्चय (२) व्यवहार। असंख्य अविभागी कालाणु जो लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश मे फैले हुए हैं, निश्चय काल है। उन कालाणुओं में परस्पर बंध की शक्ति नही है, वे परस्पर मिलकर "स्कन्ध" नही बना सकते। वे "रयणाण रासीमिव" प्रत्येक आकाश प्रदेश में स्थित हैं। ये कालाणु अदृश्य, अमूर्त और स्थिर (निष्क्रिय) हैं। कालाणु में परस्पर बंध (मिलन-शक्ति) का अभाव कालद्रव्य को "अस्तिकायत्व" से वंचित करता है। कालद्रव्य में अस्तित्व (सत्ता, Existence) तो है, पर कायत्व (विस्तरण-शक्ति, मिलन-शक्ति, Extension) नहीं है। यह विस्तार विशेष दो प्रकार का है—(१)ऊर्ध्व-प्रचय (२) तिर्यक्प्रचय।

"समय विशिष्ट वृत्ति प्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः ॥ प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक् प्रचयः ॥ (प्रव० सार)

"काल" को छोड़ अन्य सब द्रव्यों में दोनों प्रचय पाये जाते हैं—अतीत, अनागत, वर्तमान काल के अनन्त समयों में होनेवाला परिणमन ऊर्ध्वप्रचय एवं संख्य, असंख्य एवं अनन्त प्रदेशों के कारण

तिर्यक् प्रचय होता है। कालद्रव्य में, समय मात्र होने के कारण ऊर्ध्वप्रचय है, प्रदेशों के अभाव से तिर्यक् प्रचय नहीं, क्योंकि द्रव्य एक प्रदेशी है। उसके ऐसा होने में कारण—

जास ण संति पदेसा, पदेसमेत्त' व तत्त्वदो णाद्। सुण्ण जागतमत्थ" है। व्यवहार काल को समय कहते हैं। (सोऽनत समय:)। समय का अर्थ परिणमन, क्रिया, परत्वापरत्व से लिया जाता है। यह व्यवहार काल अपने अस्तित्व के लिये (Determination of its measure) निश्चय काल के अधीन है, इसलिए "परायत्त" है। व्यवहारकाल का खुलासा "पंचास्तिकाय" में स प्रकार है—

"समओ णिमिसो कट्ठा, कला य णाली तदो दिवा रत्ती।
मासो दु अयण संवच्छरोत्ति कालो परायत्तो ॥

........एवं विधो हि व्यवहारकाल: केवल कालपर्यायमात्रत्वेनावधारयितु मशक्यत्वात्परायत्त इत्युपमीयते ॥'

व्यवहार और निश्चय काल में यह विशेषता है कि प्रथम तो सादि एव सान्त होता है, जबकि द्वितीय अनंत होता है। निश्चयकाल का लक्षण वर्तना (continuity) है जिसे "ध्रौव्यत्व" कहते हैं।

"प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैक समया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना " ॥

उपर्युक्त निरूपण आधुनिक विज्ञानवेत्ता भी स्वीकार करते हैं। निश्चय काल के अस्तित्व के बारे में भी वे अब यों कहने लगे हैं—

"Whatever may be time de jure (व्यवहार)" the Astronomer Royal's time is de facto (निश्चय)" (ऐडिंग्टन)

एक प्रदेशी होने से ही काल द्रव्य में ध्रौव्यत्व है, इसे भी वर्गसन यों स्वीकार करता है " The continuity of time is due to the Spatialisation or (absence of Extensive magnitude (कायत्व) of the durational flow" काल का ऊर्ध्व प्रचयत्व भी इसीसे लोग स्वीकार करते हैं (Mono-dimensionalism) आइस्टाइन का सिद्धान्त, "लोकाकाशस्य यावन्त: प्रदेशा: तावन्त एव कालाणवो निष्क्रिया: एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्या लोक व्याप्य स्थिता:" को पूर्ण रूप से मानता है। यही ऐडिंग्टन के इस कथन से भी ज्ञात होता है :—

"You may be aware that it is revealed to us in Einstine's theory that space and time are mixed in rather a strange way.

Both space and time vanish away into nothing if there be no matter. We can't conceive of them without matter. It is matter in which originate space and time and not universe of preception"

जैनधर्म में भी अलोकाकाश में पदार्थों के अभाव से कालाणु का भी अभाव है। "अकायत्व" को एडिंग्टन इन शब्दों में स्वीकार करता है :—

I shall use the phrase time's arrow to express this one way property of time which has no analogue in space"

काल की "अनन्तता" भी एडिंग्टन आइस्टाइन की Cylinder theory के आधार पर मानता है।

"The world is closed in space-dimensions (लोकाकाश) but it is open at both ends to time dimensions"

इस प्रकार काल-द्रव्य का जो निरूपण जैनमत में है, उसे वैज्ञानिक स्वीकार करने लगे हैं।

काल द्रव्य के कार्य—

"वर्तना परिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" यह सूत्र जैन मत का, इस विषय में निरूपण करता है। काल वस्तुओं के अस्तित्व को कायम रखने में, परिणत में, परिवर्तन में क्रिया में, समय की अपेक्षा छोटे-बड़े (जैसे बाल, वृद्ध इत्यादि) होने में सहायक है। इस सूत्र में निश्चय और व्यवहार दोनों कालों का कार्य निर्दिष्ट है।

दव्वपरिवट्ट रूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो
परिणामादी लक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥१॥

यह गाथा इसी सूत्र का विशेषार्थ है, जो स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि काल जगत् के परिवर्तन, परिवर्धन, अस्तित्व एव उत्पाद व्ययात्मकत्व होने में सहायक है। काल-द्रव्य भी स्वय परिवर्तित और परिवर्धित होता है जैसे उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी (उन्नति व अवनतिशील काल)। स परिवर्तन में भी काल ही स्वय कारण है। यदि काल के परिवर्तन में और कोई दूसरा कारण हो, तो "अनवस्था" हो जावेगी इसलिए काल स्वतन्त्र है एवं परिवर्तन में सहायक होना उसका कार्य है। इस विषय में पूर्वोक्त वर्गसन का मत ही काफी प्रमाण है।

कालका माप—

सबसे छोटा काल का प्रमाण "समय" है। उसकी परिभाषा यह है—वह समय जो एक परमाणु (या कालाणु) अपने पास के दूसरे (consecutive) परमाणु के पास तक पहुँचने में लेता है, "समय" कहलाता है। ऐसे अनन्त समयों में व्यवहार काल विभक्त है जिस प्रकार भार का माप "परमणु-भार" या आकाश का "प्रदेश" है, उसी तरह काल का माप "समय" है। सबसे बड़े काल का प्रमाण "महाकाल" का है, जो उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल—दोनों के प्रमाण के योग के बराबर है। उसका प्रमाण है—

४१६४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२२९२०००००००.............
(कुल ७७ अंक) Jain Cosmology G. R. Jain
और सबसे छोटा काल-प्रमाण "समय" है ।

कालाणु वर्तमान विज्ञान के भौतिक समय के World wide Instants ही समझने चाहिये । शेष प्रमाण तो विज्ञान मानता ही है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने जिन कारणों से काल की सत्ता एवं द्रव्यत्व निर्देश किया है, वे ही कारण, एव वे ही कार्य जो जैनमत में कहे गये हैं, आज का विज्ञान स्वीकार करता है–परन्तु फिर भी काल का स्वतन्त्र द्रव्यत्व (Substanciality like matter, ether etc.) स्वीकार नही करता । और जैनधर्म में काल निरूपण की महत्ता का मुख्य आधार यही है कि उसने काल को एक स्वतंत्र द्रव्य की हैसियत से बताया है, और उसे जगत् के विकास का एक आवश्यक अंग बताया है । वैशेषिकादि दर्शन जैनमत के इस व्यवहार काल तक ही रह गये हैं, उससे आगे नही बढ़ सके हैं ।

विज्ञान की आधुनिक प्रगति को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि भविष्य में धर्म (Ether) अधर्म (Gravity) के समान काल का भी स्वतंत्र द्रव्यत्व विज्ञान स्वीकार कर लेगा ।



आचार्य विद्यानन्द और उनकी तर्क-शैली

न्यायाचार्य श्री दरबारीलाल, कोठिया

जैन-परम्परा में विद्यानन्द नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं ।[1] किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि सुप्रसिद्ध एवं उच्चकोटि के दार्शनिक एवं न्याय ग्रन्थों के प्रणेता तार्किकचूडामणि आचार्य विद्यानन्द और उनकी तर्कशैली पर ही कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है ।

१—परिचय—

आचार्य विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्यों का अपने ग्रन्थों में उद्धरणादि रूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो के समुल्लेखो तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उसे यहाँ देने के लोभ का हम सवरण नही कर सकते ।

(क) कार्यक्षेत्र—

सर्वप्रथम हम विद्यानन्द की उन प्रशस्तियों को लेते हैं जो उन्होंने अपने ग्रन्थों के आदि अथवा अन्त मे श्लेष रूप में दी हुई हैं । इन प्रशस्तियों में विद्यानन्द ने अपने समकालीन दो गग-नरेशों—शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया है[2] । गंग राजाओं का राज्य वर्तमान मैसूर प्रान्त के उस बहुभाग में था, जिसे 'गङ्गवाडि'

---

१. देखो, लेखक द्वारा सम्पादित-अनूदित और वीरसेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर) द्वारा प्रकाशित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना पृष्ठ–५ ।

२. यथा–(क) जीयात्सज्जनताश्रयः शिव-सुधाधाराबधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः ।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालन-प्रक्षमः ।।

—तत्त्वार्थ श्लो० प्रश० प० ।

प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसा की चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवीं शती में श्रीपुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्य-काल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों और दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैन-धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दि ने, कहते हैं, इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और पूज्यपाद देवनन्दि आचार्य इसी राज्य के गंग-नरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं, कि ऐसे जिन शासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में आचार्य विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और निर्विघ्नता के साथ वहाँ रहकर अपने बहु समय-साध्य विशाल ग्रन्थों का प्रणयन किया हो। अतः विद्यानन्द के उपर्युक्त प्रशस्ति लेखों से उनके साहित्यिक कार्यों तथा जैन-शासन के प्रचार कार्यों का क्षेत्र उक्त गंगराजाओं की राज्यभूमि 'गंगवाडि' प्रदेश (वर्तमान मैसूर प्रान्त) प्रतीत होता है और यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि उनका समग्र जीवन इसी प्रदेश में बीता जान पड़ता है। अस्तु।

इस प्रशस्ति पद्य में विद्यानन्द ने 'शिव-मार्ग'—मोक्षमार्ग का जयकार तो किया ही है, किन्तु उन्होंने अपने समय के गंगनरेश शिवमार द्वितीय का भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्रीपुरुष का उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ई० सन् ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था।

(ख) शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः।

(ग) विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्री सत्यवाक्याधिपैः।—युक्त्यनुशासनालंकार प्रश०।

(घ) जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः ॥ —प्रमाण-परीक्षा

(ङ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै। —आप्तपरीक्षा

इनमें 'सत्यवाक्य' पद द्वारा शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) के उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया गया है।

(च) अष्टसहस्री के निम्न प्रशस्ति-पद्य में भी 'सत्यवाक्य' का निर्देश किया गया प्रतीत होता है:—

येनाऽशेष-कुनीतिवृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः,
यद्वाचोऽप्यकलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थसार्थ-द्युतः।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्,
विद्यानन्द-घन-प्रदोऽनघधियां स्याद्वाद-मार्गाग्रणीः ॥

यहाँ 'यद्वाचोऽप्यकलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थ सार्थ-द्युतः' और 'अनघधियां विभुः' ये दो पद खास तौर से विद्वानों के लिए विचारणीय हैं। ये दोनों ही पद 'सत्यवाक्य' के अर्थ में प्रयुक्त किये गये जान पड़ते हैं और उस हालत में 'अष्ट सहस्री' की रचना भी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के राज्य समय में की गई मालूम होती है। इस पद्य के सारे ही पद ऐसे हैं जो स्वामी समन्तभद्रयतीन्द्र के अतिरिक्त किसी राजा विशेष में लगते हैं और वह राजा विशेष यहाँ सत्यवाक्य (राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम) के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं जान पड़ता।

(ख) समय—

उपर्युक्त उल्लेखों से यह भी ज्ञात हो जाता है कि आ० विद्यानन्द उक्त गंग-नरेश शिवमार द्वितीय और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के समकालीन हैं और इसलिए उनका समय इन राजाओं का काल है। अर्थात् ई० सन् ७७५ से ८४० उनका अस्तित्व समय अनुमानित होता है। जैसा कि हमने विस्तार के साथ अन्यत्र[1] विचार किया है।

(ग) साधु-जीवन और चारित्र-पालन—

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म-प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्भुत अध्ययनशीलता और अपूर्व तर्कणा आदि के सम्बन्ध में इसी लेख में हम आगे विचार करेंगे। उससे पूर्व हम उनके उच्च चारित्र-पालन के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

आचार्य विद्यानन्द ने यद्यपि चारित्र-सम्बन्धी कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नही रचा और यदि रचा भी हो तो वह उपलब्ध नही है, जिस पर से उनके चारित्र-पालन के सम्बन्ध में कुछ विशेष जाना जाता; फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्री-गत व्याख्यानों से उनके निर्दोष और सुदृढ़ चारित्र-पालन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम उदाहरणस्वरूप उनके तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक-गत दो महत्व-पूर्ण विचारों को प्रस्तुत करते हैं:—

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक (पृ० ४५२) में तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के ११ वें सूत्र के व्याख्यान में जब उन्होंने पूर्व-परम्परानुसार दुःख शोक आदि असातावेदनीय रूप पापास्रव के कारणों का समर्थन किया तो उनसे प्रश्न किया गया कि जैन-साधु जो काय-क्लेश. अनशन, आतापन आदि दुश्चर तपों को तपते है उनसे उन्हें भी दुःखादि होना अवश्यम्भावी हैं और ऐसी हालत में उनके भी असाता-वेदनीय रूप पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपों का उपदेश युक्त नही है। और यदि युक्त है तो दुःखादि को पापास्रव का कारण बतलाना असगत है? विद्यानन्द इस प्रश्न का अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि की तरह आर्षसम्मत समाधान करते हुए कहते है कि जैन-साधुओं को कायक्लेशादि तपश्चरण करने में द्वेषादि कषाय रूप परिणाम उत्पन्न नही होते, बल्कि उसमें उन्हें आनन्द आता है। जिन्हें उनके करने में सक्लेश होता है और आनन्द नहीं आता—उन्हें भार तथा आपद मानते हैं उन्ही के वे दुःखादिक पापास्रव के कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन है वे सब दुःख रूप ही हैं और इसलिए इतर साधुओं के भी उनके करने से पापास्रव होगा। अत संक्लेशपरिणामयुक्त दुःखादि ही पापास्रव के कारण हैं।[2]

---

१. देखो, 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना पृष्ठ ४७–५४।

२. ऐसा ही आर्षसम्मत व्याख्यान विद्यानन्द ने 'अष्टसहस्री' (पृ० २६०) में स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा-गत 'विशुद्धि संक्लेशांग' इस ९५ वीं कारिका का किया है।

२. इसी तरह इसी ग्रन्थ (पृष्ठ ४६४) में तत्त्वार्थसूत्र के ७ वें अध्याय के १७ वें सूत्र का व्याख्यान करते हुए विद्यानन्द ने पुष्कल युक्तियों द्वारा साधु के नाग्न्य (दिगम्बरत्व) का जोरदार एवं सबल समर्थन किया है और वस्त्रादि ग्रहण का पूर्णतः निषेध किया है।

सूक्ष्म विवेकी विद्यानन्द के इन सुदृढ़ एवं युक्तिपूर्ण विचारों से प्रकट है कि वे अपने उच्च चारित्र-पालन (अनशनादि तपों एवं नाग्न्य के आचरण) में कितने सावधान और विवेकयुक्त थे तथा उनकी समग्र प्रवृत्ति कितनी निर्दोष और आर्षाविरुद्ध होती थी। आप्त-विषय पर लिखी गई अपनी 'आप्त-परीक्षा' की टीका-प्रशस्ति में विद्यानन्द ने स्वयं लिखा है[1] कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप बहुभूषणों से सतत आभूषित थे। उनसे कोई दो-सौ वर्ष बाद होने वाले एवं विक्रम की ११ वीं शती के प्रभावशाली विद्वान् स्याद्वाद-विद्यापति वादिराजसूरि ने भी अपने 'न्याय-विनिश्चय विवरण' में एक जगह उन्हें बड़े आदर के साथ 'अनवद्यचरण' (निर्दोष चारित्र-पालक) जैसे गौरवपूर्ण विशेषण द्वारा समुल्लेखित किया है।[2] अतः सन्देह नहीं कि इसी कारण विद्यानन्द का मुनिसंघ में असाधारण एवं सम्मानपूर्ण स्थान था और उन्हें आचार्य माना जाता था।[3]

(घ) सूक्ष्म-प्रज्ञादि गुण-दिग्दर्शन—

आ० विद्यानन्द उच्च चारित्राराधक तपस्वी आचार्य होने के साथ ही भारतीय समस्त दर्शनों के पारङ्गत अपूर्व विद्वान् भी थे। वे वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक साख्य और बौद्ध-दर्शनो के मन्तव्यो को जब अपने दार्शनिक ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में रखते तथा उनका समालोचन करते हैं तो उन दर्शनों की उनकी अगाध विद्वत्ता, तलस्पर्शी अध्ययन और विशाल पाण्डित्य का विशद परिचय मिलता है। उनके तर्कपूर्ण उत्तर पक्ष सूक्ष्म और गम्भीर ज्ञान के भण्डार हैं और भारतीय दार्शनिकों के मस्तक को उन्नत करने वाले हैं। जैन-शास्त्रों के विपुल उद्धरणों से उनका जैन-शास्त्राभ्यास भी अद्भुत और महान् ज्ञात होता है। आगम ग्रन्थों तथा पूर्ववर्ती दार्शनिक ग्रन्थों का उन्होंने जो मर्मोद्घाटन किया है वह उनकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। उनकी इस प्रकार की प्रतिभा एवं सूक्ष्मप्रज्ञा का एक सुन्दर उदाहरण देखिये :—

---

१. 'स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम्।
तत्त्वार्थार्णव-तरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥३॥'—पृ० २६६।

२. 'देवस्य शासनमतीव-गभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः।
विद्वान्न चेत्सद्गुण चन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः ॥
—न्यायवि० वि० लि० प० ३८२।

३. देखो, शिलालेख-संग्रह प्रथम भाग गत शकसंवत् १३२० का उत्कीर्ण शिलालेख नं० १०५। इन शिलालेखों में विद्यानन्द को नन्दिसंघ के मुनियों में गिनाया है और वहाँ उन्हें नन्द्यन्त नामों वाले आचार्यों में प्रधान एवं प्रथम स्थान दिया गया है।

आचार्य मूर्धन्य श्री गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है[1] कि 'जो गुण और पर्याययुक्त है वह द्रव्य है।' इस पर शंका की गई कि 'गुण' संज्ञा तो इतर दार्शनिकों की है, जैनों की नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित की गई है और इसीलिए उनके ग्राहक सिर्फ दो नयों—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का ही उपदेश दिया गया है। यदि गुण भी उनके यहाँ वस्तु माना जाय तो उसको ग्रहण करने वाला एक और तीसरा 'गुणार्थिक' नय माना जाना चाहिए ?

इस शंका का समाधान सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द इन तीनों विद्वानों ने किया है। सिद्धसेन ने तो यह जवाब दिया है[2] कि 'गुण' पर्याय से भिन्न नहीं है—पर्याय में ही 'गुण' शब्द का प्रयोग जैनागम में किया गया है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दो ही नयों का उपदेश है, गुणार्थिक नय का नहीं।

अकलंकदेव कहते हैं[3] कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है और सामान्य, उत्सर्ग अन्वय, गुण ये सब पर्यायवाची शब्द हैं तथा विशेष, भेद, पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। इसलिए गुण को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय ही है—उससे भिन्न गुणार्थिक नाम के तीसरे नय को मानने की आवश्यकता नहीं है। अथवा, गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं—पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलंकदेव के इन समाधानों के बाद फिर शंका की गई कि यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं तो द्रव्य-लक्षण में उन दोनों का निवेश क्यों किया गया है ?

इसका उत्तर विद्यानन्द अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं सूक्ष्म बुद्धि से देते हुए कहते हैं[4] कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों रूप है—१. सहानेकान्त और २ क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान करने के लिए तो गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त की सिद्धि के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा गया है। अतः गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों का द्रव्यलक्षण में निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहाँ तक हम जानते हैं, यह दो तरह के अनेकान्तों का प्रतिपादन और उक्त सुन्दर समाधान विद्यानन्द की सूक्ष्म प्रज्ञा एवं तीक्ष्ण बुद्धि से ही प्रस्तुत हुए हैं।[5]

१. 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।'—तत्त्वार्थसूत्र ५-३७ ।

२. सन्मति सूत्र ३-६, १०,११,१२ नं०, की गाथाएँ ।

३. देखो, तत्त्वार्थवार्तिक ५-३७ पृ० २४३ ।

४. 'गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये ।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ४३८ ।

५. वादीभ सिंह सूरि (८ वीं ९ वीं शती) ने भी अपनी 'स्याद्वादसिद्धि' में युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों का वर्णन किया है जो विद्यानन्द का ही अनुकरण मालूम होता है।

प्रतिभामूर्ति विद्यानन्द सूक्ष्मप्रज्ञा के अतिरिक्त स्वतंत्रचेता और उदार-विचारक भी थे। प्रकट है कि अकलंकदेव[1] और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[2] तथा लघु अनन्तवीर्य[3] आदि ने प्रत्यभिज्ञान के अनेक (दो से भी अधिक) भेद बतलाये हैं। परन्तु विद्यानन्द[4] अपने ग्रन्थों में प्रत्यभिज्ञान के एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार एक उदाहरण उनके उदार विचारों का भी हम नीचे प्रस्तुत करते हैं:—

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक (पृ० ३५८) में आ० विद्यानन्द ने ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियों की व्यवस्था गुणों व दोषों से बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शनादि गुणों तथा मिथ्यात्वादि दोषों से व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है। जो उन्हें अनादि, नित्य, सर्वगत और अमूर्तस्वभाव मानते हैं वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से बाधित है। इस तरह उन्होंने अपने उदार विचारों को उपस्थित किया है और यह उनकी जैन-तर्कग्रन्थों के लिए अपूर्व देन है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उनके इस कथन को ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८२–४८७) तथा न्याय कुमुदचन्द्र (पृ० ७६८–७७९) में पल्लवित एवं विस्तृत किया है।

यहाँ यह भी उल्लेख योग्य है कि विद्यानन्द अत्यन्त प्रामाणिक और श्रेष्ठतम व्याख्याकार भी थे। उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र, अकलकदेव आदि के पद-वाक्यादिकों का अपने ग्रन्थों में जहाँ-कहीं व्याख्यान एवं मर्मोद्‌घाटन का अवसर आया है उनका उन्होंने बड़ी प्रामाणिकता एवं ईमानदारी से व्याख्यान किया है।[5]

उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग अनूठी पद्यात्मक काव्य-रचना, तर्कगर्भ वाद-चर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शी जिन-शासन-भक्ति उन्हें उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि अद्वितीय वादी, महान् सिद्धान्ती और सच्चा जिन-शासनभक्त सिद्ध करने में पुष्कल प्रमाण हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय में—कम से कम जैन परम्परा में तो—कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यही वजह है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादी देवसूरि, हेमचन्द्र, लघुसमन्तभद्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथ-प्रदर्शक एवं अनुकरणीय हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहाँ अकलकदेव के वाङ्मय के आधार से रचा गया है वहाँ विद्यानन्द की प्रमाण-परीक्षादि तार्किक रचनाओं का भी वह आभारी है और उनका उस पर उल्लेखनीय प्रभाव है।[6]

---

१. देखो, लघीय० का० २१, । २ परीक्षामुख ३–५ से ३–१० । ३ प्रमेयरत्न० ३–१० । ४ तत्त्वार्थ श्लोकवा० पृ० १९०, अष्ट स० २७९, प्रमाण परीक्षा पृ० ६९ ।

५. देखो, तत्त्वार्थ श्लोकवा० पृ० २४०, २४२, २५४ आदि तथा अष्टस० पृ० ५, १९८, २६० आदि और प्रमाण-परीक्षा पृ० ६८, ६९ आदि ।

६. देखो, 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना पृ० २८ ।

वादिराज सूरि (ई० १०२५) ने लिखा है[1] कि 'यदि विद्यानन्द अकलंकदेव के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था।' प्रकट है कि आ० विद्यानन्द ने अकलंकदेव की अष्टशती के तात्पर्य को अपनी अष्टसहस्री द्वारा उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में विद्यानन्द के तत्त्वार्थालंकार (तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक) तथा देवागमालंकार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है[2] कि 'आश्चर्य है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलंकारों की चर्चा करने-कराने और सुनने सुनाने वालो के भी अंगों में कान्ति आ जाती है—उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादि देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण के ग्रन्थ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों से उपजीव्य हैं। उन्होंने उनके ग्रन्थों से स्थल-के-स्थल उद्धृत किये हैं और अपने ग्रन्थों को उनसे अलंकृत कर उन्हें गौरव प्रदान किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को, जिसके सम्बन्ध में विद्यानन्द ने स्वयं कहा है[3] कि 'हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए उसीसे ही समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जावेगा', पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए हैं कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण' नाम की नव्य-न्याय शैली-प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आ० विद्यानन्द उच्चकोटि के प्रभावशाली दार्शनिक एवं तार्किक विद्वान् थे और उनकी अनूठी रचनाएँ भारतीय दर्शन-साहित्याकाशके दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

यहाँ विद्यानन्द की उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का कुछ परिचय दे देना अनुचित न होगा। विद्यानन्द के निम्न ९ ग्रन्थ हैं। इनमें ३ तो टीका-ग्रन्थ हैं और शेष ६ उनके स्वतन्त्र एवं मौलिक हैं।

१ विद्यानन्द महोदय, २ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र-टीका), ३. अष्टसहस्री (देवागम-टीका), ४ युक्त्यनुशासनालंकार (युक्त्यनुशासन-परीक्षा) ५. आप्त-परीक्षा, ६ प्रमाण-परीक्षा, ७. पत्र-परीक्षा, ८. सत्यशासन-परीक्षा और ९. श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र।

१. विद्यानन्द महोदय--यह आ० विद्यानन्द की सम्भवतः आद्य रचना है; क्योंकि उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है[4] और सूचनाएँ दी गई हैं कि 'विस्तार से 'विद्यानन्द

---

१. देखो, न्याय विनिश्चय विवरण (लि० प० ३८२) गत वह पद्य, जो इसी लेख में पहले उद्धृत किया जा चुका है।

२. 'ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरङ्गेषु रिङ्गति ॥श्लो० २८॥

३. 'श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमय सद्भावः ॥ अष्ट० पृ० १५७।

४. 'इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये'। —तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २७२, '.........प्रत्यगम्यताम् ॥ यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्द महोदयात्। तत्त्वा० पृ० ३८५। इति तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्द महोदयेन च प्रपञ्चतः प्ररूपितम्।' —अष्ट० स० पृ० २९०। 'देवागम-तत्त्वार्थालंकार-विद्यानन्द महोदयेषु च तदन्वयस्य व्यवस्थापनात्।'—आप्त-परीक्षा पृ० २६२।

महोदय' से जानना चाहिए ।' किन्तु दुर्भाग्य से आज यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं । विक्रम की १३ वीं शताब्दी तक इसका पता चलता है । विद्यानन्द के चार सौ वर्ष बाद होनेवाले वादी देवसूरि ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसका नामोल्लेखपूर्वक उसकी पंक्ति दी है । [1] इस उल्लेख से जहाँ इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि एवं महत्ता प्रकट है वहाँ उसका १३ वीं शती तक अस्तित्व भी सिद्ध है । इसकी खोज होनी चाहिए ।

२. *तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक*—यह आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वाति अथवा उमास्वामि) रचित तत्त्वार्थ-सूत्र पर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण विशाल टीका है । जैन वाङ्मय की उपलब्ध कृतियों में यह एक बेजोड़ रचना है और तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में प्रथम श्रेणी की टीका है । कुमारिल भट्ट ने जैमिनिसूत्र पर मीमांसा श्लोकवार्तिक लिखा है । विद्यानन्द ने उसीके जवाब में इस टीका को रचा है ।

३. *अष्टसहस्री*—यह स्वामी समन्तभद्र के देवागम (आप्त-मीमांसा) स्तोत्र पर रचा गया महत्व-पूर्ण टीका-ग्रन्थ है । विद्यानन्द ने अपने पूर्वज भट्टाकलंकदेव द्वारा 'देवागम' पर ही लिखी गई गहन दुरूह रचना 'अष्टशती' को इसमें अनुस्यूत एवं आत्मसात् करके अपनी प्रतिभा से उसके प्रत्येक पद-वाक्यादिका हृदयस्पर्शी मर्मोद्घाटन किया है ।

४. *युक्त्यनुशासनालंकार*—यह भी स्वामी समन्तभद्र के तर्कगर्भ 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्र पर लिखी गई उनकी मध्यम परिमाण की सुन्दर एवं विशद टीका है ।

५. *आप्त-परीक्षा (स्वोपज्ञ टीकासहित)*—स्वामी समन्तभद्र ने जिस प्रकार 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस तत्त्वार्थसूत्र के मङ्गलाचरण पद्य पर उसके व्याख्यान रूप में आप्तमीमांसा लिखी है उसी प्रकार आचार्य विद्यानन्द ने उसी पद्य के व्याख्यान रूप में आप्त-परीक्षा रची है और साथ ही उसपर स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है । इसमें ईश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म की परीक्षापूर्वक अर्हन्त जिन को आप्त सिद्ध किया गया है । रचना बड़ी सुबोध व महत्त्वपूर्ण है ।

६. *प्रमाण-परीक्षा*—इसमें दर्शनान्तरीय प्रमाणों के स्वरूपादि की आलोचना करते हुए जैन-दर्शन-सम्मत प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का अच्छा वर्णन किया गया है ।

७. *पत्र-परीक्षा*—यह विद्यानन्द की गद्य-पद्यात्मक लघु तर्क-रचना है । इसमें जैन दृष्टि से पत्र (अनुमान प्रयोग) की व्यवस्था की गई है और अन्यदीय पत्र मान्यताओं में दोष दिखाये गये हैं ।

८. *सत्यशासन-परीक्षा*—यह विद्यानन्द की अन्तिम रचना जान पड़ती है; क्योंकि यह अपूर्ण उपलब्ध है । इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनों (मतों) की परीक्षा करने की प्रतिज्ञा की गई है । परन्तु उनमें से ९ की पूरी और प्रभाकर शासन की अधूरी परीक्षा मिलती है । प्रभाकर शासन का शेषांश,

---

१. "महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत् ।"—पृ० ३४९ ।

तत्त्वोपप्लव परीक्षा और अनेकान्त शासन-परीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। यह कृति भी अन्य कृतियों की तरह ही विद्यानन्द की तर्कणाओं से ओत-प्रोत है और बहुत ही विशद है।

६. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र—यह श्रीपुर के पार्श्वनाथ (पार्श्वनाथ के सातिशय प्रतिबिम्ब) को लक्ष्य में रखकर रचा गया विद्यानन्द का भक्तिपूर्ण स्तोत्र-ग्रन्थ है। कपिलादि की आलोचना करते हुए पार्श्वनाथ को आप्त सिद्ध किया गया है। इसमें कुल ३० पद्य हैं। २९ पद्य तो ग्रन्थ-विषय के प्रतिपादक हैं और अन्तिम ३० वाँ पद्य उपसंहारात्मक है। समन्तभद्र के देवागम की तरह यह तर्कपूर्ण सुन्दर स्तोत्र है।

२—तर्क-शैली—

आचार्य विद्यानन्द श्रेष्ठ तार्किक विद्वान् हैं। सहेतुक विवेचन-शैली तर्कशास्त्रियों के लिए मनोरंजक है।

इनके उपलब्ध सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं न्यायविषयक हैं। इनमें उन्होंने जो अद्भुत तर्क-शैली प्रस्तुत की है वह सूक्ष्म और तीक्ष्ण तर्कणाओं से ओत-प्रोत होते हुए भी इतनी विशद और प्रसाद एवं प्रवाह-गुणयुक्त है कि विद्वान् पाठक उस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहता। विद्यानन्द की विचारपूर्ण तर्कशैली पर अपने उद्गार प्रकट करते हुए बनारस के प्रसिद्ध दार्शनिक स्वर्गीय पं० अम्बादासजी शास्त्री ने कहा था कि 'विद्यानन्द की असाधारण तर्कणा एवं गहन विचारणा अत्यन्त प्रशंसनीय है। उन्होंने ईश्वरकर्तृत्व की जैसी विशद, सबल एवं तर्कपूर्ण समालोचना की है वैसी अन्य किसी ने की हो, अब तक देखने में नहीं आई। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि विद्वानों ने भी ईश्वरकर्तृत्व की आलोचना की है, किन्तु वह आलोचना विद्यानन्द की आलोचना की समता नहीं करती। विद्यानन्द तो दण्ड लेकर ईश्वर के पीछे पड़ गये! 'आप्त-परीक्षा' उनकी इस विषय की एक बेजोड़ रचना है। निःसन्देह निष्पक्ष व्यक्ति उनकी तर्कशैली की प्रशंसा करेंगे[१]।'

जैन तार्किक पं० सुखलालजी विद्यानन्द के तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक की तर्कणाओं एवं गहन विचारणाओं की तारीफ करते हुए लिखते हैं[२] कि 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खण्डन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी किसी भी टीका में नहीं। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं; बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में बिल्कुल अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैनवाङ्मय में जो थोड़ी-बहुत कृतियाँ महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियाँ 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं।

१. शास्त्री जी का एक मौखिक भाषण, जिसे न्यायालंकार पं० बंशीधर जी इन्दौर ने सुनाया।

२. देखो, तत्त्वार्थसूत्र सविवेचन की 'परिचय' प्रस्तावना पृ० ६१।

तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके, ऐसा दिखाई नहीं देता।'

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी प्रोफेसर (बौद्ध-दर्शन) हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ने विद्यानन्द की तार्किक कृतियों और उनकी प्रसन्न तर्कशैली की प्रशंसा करते हुए लिखा है[1] कि 'तर्क ग्रन्थ के अभ्यासी, विद्यानन्द के अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा में गूंथे गये युक्तिजाल से परिचित होंगे। उनके प्रमाण परीक्षा, पत्र-परीक्षा और आप्त-परीक्षा प्रकरण अपने अपने विषय के बेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्द के अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्यायग्रन्थों के आधारभूत हैं। इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्यायग्रन्थों पर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं। यदि जैनन्याय के कोषागार से विद्यानन्द के ग्रन्थों को अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा।'

उक्त विद्वानों के इन उद्गारों से स्पष्ट है कि तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द की तर्क-निष्णात प्रमेय-प्रतिपादन-शैली कितनी आकर्षक तथा मुग्ध करने वाली है। उनकी इस अपूर्व तर्कशैली के दो उदाहरण देखिए :—

१. (क) 'कस्यचिद् दुष्टस्य निग्रहं शिष्टस्य चानुग्रहं करोतीश्वरः प्रभुत्वात्, लोकप्रसिद्धप्रभुवत्। न चैवं नानेश्वरसिद्धिः, नाना प्रभूणामेकमहाप्रभुतन्त्रत्वदर्शनात्। तथा हि विवादाध्यासिता नाना प्रभव एक-महाप्रभुतन्त्रा एव नाना प्रभुत्वात्। ये ये नाना-प्रभवस्ते ते अत्रैकमहाप्रभुतन्त्रा दृष्टाः, यथा सामन्त-महा-सामन्तमाण्डलिकादय एकचक्रवर्तितन्त्राः, प्रभवश्चैते चक्रवर्तीन्द्रादयः, तस्मादेकमहाप्रभुतन्त्रा एव। योऽसौ महाप्रभुः स महेश्वर इत्येकेश्वरसिद्धिः। स च स्वदेहनिर्माणकरोऽन्यदेहिना निग्रहानुग्रहकरत्वात्, यो योऽन्य-देहिनां निग्रहानुग्रहकरः स स स्वदेहनिर्माणकरो दृष्टः, यथा राजा, तथा चायमन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरः, तस्मात्स्वदेहनिर्माणकर इति सिद्धम्।

तच्च न परीक्षाक्षमम्; महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः। तथा हि-यदि हीश्वरो देहान्तराद्विनाऽपि स्वदेहमनुध्यानमात्रादुत्पादयेत् तदाऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहलक्षणं कार्यमपि प्रकृतं तथैव जनयेदिति तज्जनने देहाधानमनर्थकं स्यात्। यदि पुनर्देहान्तरादेव स्वदेहं विदधीत तदा तदपि देहान्तरमन्य-स्माद् देहादित्यनवस्थितिः स्यात्। तथा चापरापरदेहनिर्माण एवोपक्षीणशक्तिकत्वान्न कदाचित्प्रकृत कार्यं कुर्यादीश्वरः '—आप्त-प० पृ० ६६–६७॥

(ख) 'किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा? प्रथमपक्षे विधि-वाद एव। द्वितीय पक्षे निरालम्बनवादः। तृतीय पक्षे तूभयदोषानुषङ्गः। चतुर्थपक्षे व्याघातः—सत्त्वास-त्त्वयोः परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः, सकृदेकत्रोभयप्रतिषेधायोगात्।
—अष्टस० पृ० ८।

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ३, किरण ११।

कितनी प्रसन्न, विशद, अर्थगर्भ, प्रवाहयुक्त और तर्कपूर्ण शैली है ! शंका और समाधान कितने व्यवस्थित और सरल तरीके से प्रस्तुत किये गये हैं ! इसी तरह अपने समग्र ग्रन्थों में उन्होंने इस मोहक एवं प्रबोधजनक शैली को अपनाया है ।

२. दूसरा उदाहरण भी देखिए—(क) कुमारिल भट्ट ने मीमांसा-श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ का निषेध करते हुए लिखा है कि 'सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नही, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनों को सर्वज्ञ माना जाय तो उनके उपदेशों में परस्पर विरोध क्यों ? इसलिए कोई सर्वज्ञ नही है ।' यथा—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ।।

तर्कनिष्णात विद्यानन्द कुमारिल के इस प्रचण्ड आक्षेप का तर्कपूर्ण करारा उत्तर देते हुए लिखते हैं कि 'इस तरह श्रुति भी प्रमाण नही हो सकती । हम पूछते हैं कि भावना श्रुतिवाक्य का अर्थ है, नियोग नही—इसमें क्या नियामक है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों खतम हो जाते हैं । इसी तरह नियोग श्रुति वाक्य का अर्थ है, विधि (ब्रह्म) नहीं, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनो श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और वेदान्ती दोनों नष्ट हो जाते हैं ।' यथा—

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ।।
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा ।
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ।।

(ख) कुमारिल ने सर्वज्ञ के निषेध के सिलसिले में ही मीमांसा-श्लोकवार्तिक में एक दूसरी जगह लिखा है कि 'सद्भावसाधक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणो में से कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नही है । अतः अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है ।' यथा—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ।।
नचागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः ।
न च मन्त्रार्थवादाना तात्पर्यमवकल्प्यते ।। ....इत्यादि ।

तर्क विशारद विद्यानन्द कुमारिल के इस सबल आक्रमण का तर्कयुक्त प्रबल जवाब देते हुए कहते हैं कि 'सर्वज्ञ का साधक सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्षादि से वस्तु का सद्भाव सिद्ध होता है । अतः उनसे सर्वज्ञ का अभाव नहीं हो सकता । अभाव-प्रमाण भी सर्वज्ञ का निषेधक सम्भव नही है; क्योंकि जहाँ निषेध्य का निषेध (अभाव) करना होता है उसका ज्ञान होने पर और जिसका निषेध करना होता है उसका स्मरण होने पर ही नियम से 'नहीं है' ऐसा ज्ञान अर्थात् अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है । लेकिन न तो किसी प्रमा-

आदि से समस्त संसार का ज्ञान सम्भव है, जहाँ सर्वज्ञ का निषेध करना है और न सर्वज्ञ का पहले अनुभव है तब उसका स्मरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि अनुभवपूर्वक ही स्मरण होता है। अतः अभाव प्रमाण का उदय न हो सकने से वह भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं साध सकता। इसलिए सर्वज्ञ का कोई बाधक न होने से वह नियम से सिद्ध होता है।' यथा--

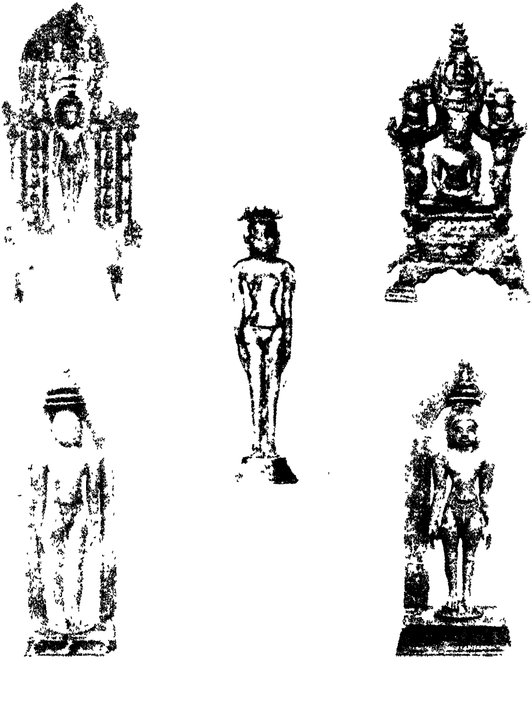
प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दन् त्रिकालं भुवनत्रयम्।
रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद् बाधकं भवेत्।।
नानुमानोपमानार्थापत्त्याऽऽगमबलादपि।
विश्वज्ञाभावसंसिद्धि तेषां सद्विषयत्वत.।।
....
अभावोऽपि प्रमाणं न निषेध्याधारवेदने।
निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा।।
न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते।
नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुत.।।

येनाऽशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम्।--आप्त-प० पृ० २२३-२२५

कुमारिल प्रभाकर, धर्मकीर्ति प्रज्ञाकर आदि मीमांसक तथा बौद्ध-दार्शनिकों ने जैन-दर्शन पर जो-जो प्रचण्ड आक्षेप तथा आक्रमण किये हैं उन सबके विद्यानन्द ने इसी प्रकार अपनी सन्तुलित एवं गम्भीर तर्कशैली में प्रबल तथा मर्मस्पर्शी जवाब दिये हैं। कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ ग्रन्थकार तो कहीं-कहीं परपक्षखण्डन में अपना सन्तुलन भी खो बैठे हैं और दूसरे दार्शनिकों को उन्मत्त, अज्ञानी अश्लीलवक्ता आदि गालियों की वर्षा करते हुए भी देखे जाते हैं; किन्तु सूक्ष्मविवेकी विद्यानन्द की तर्कगर्भ विचारणा में ऐसी कोई चीज दृष्टिगोचर नहीं होती। निःसन्देह यह विद्यानन्द की सबसे बड़ी विशेषता है जो बहुत कम तार्किकों में पाई जाती है। मीमांसकों और वेदान्तियों की भावना, नियोग और विधि की दुरूह चर्चा जो जैन वाङ्मय के लिए विद्यानन्द की अपूर्व देन है, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री में अत्यन्त गम्भीर और प्राञ्जल भाषा में विस्तार के साथ प्रस्तुत करके विद्यानन्द ने विद्वानों के लिये न केवल सुन्दर ज्ञान-भण्डार प्रदान किया है, अपितु एक अच्छा आदर्श भी उपस्थित किया है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती जैन तार्किकों पर उनकी तर्कशैली का अमिट प्रभाव पड़ा है।

अन्त में हम यह कहते हुए अपने निबन्ध को समाप्त करते हैं कि विद्यानन्द की उज्ज्वल कीर्ति और प्रभाव में जहाँ उनकी यह प्रसन्न तर्कशैली कारण है वहाँ तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों और देवागम की कारिकाओं की विशाल एवं विस्तृत व्याख्याएँ भी उसमें चार चाँद लगाती हैं और इसलिए आचार्य विद्यानन्द और उनकी अमर रचनाएँ दोनों जैन वाङ्मय में गौरवास्पद हैं।

चोगामी नालुका होपानहरूआ जिला देवाली में प्राप्त भगवान महावीर की मूर्त्तियां



भारतीय-दर्शन-क्षेत्र में जैन-दर्शन की देन

प्रो० विमलदास कोंदिया, एम० ए०, एल०-एल० बी०

भारतीय-दर्शन के दो स्रोत—

भारतीय दर्शन में इतिहासानुक्रम को देखना एक बड़ी ऐतिहासिक भूल है। भारतीय दर्शन के अनेक स्रोत है। उन स्रोतो का अध्ययन करना ही भारतीय-दर्शन का इतिहास और परिचय है। प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न भारतीय क्षेत्र मे उत्पन्न होनेवाले जन-समूह के जीवन और जगत् की गुत्थियो को समझने और सुलझाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक प्रतीत होती है। ऐहिक सुख से परिपूर्ण या सासारिक दु खों से दु.खित मनुष्य ही अध्यात्म और परलोक की चिन्ता करते है। उन्हीं की अध्यात्म की ओर रुझान होती है। भारत में हमें दोनो प्रकार के मनुष्यों के द्वारा-जीवन, जगत्, परलोक और अध्यात्म के विषय मे किये गये चिन्तनों का साहित्य मिलता है। इसमें दो धाराएँ मुख्य है।—(१) श्रमण-धारा (२) ब्राह्मण-धारा। वर्तमान युग के अधिकतर दार्शनिको ने ब्राह्मण-धारा को ही मूलस्रोत मानकर विचार किया है। यह उनका एक-पक्षीय चिन्तन है। किन्तु विधुशेखर भट्टाचार्य आदि विद्वान इस एक-पक्षीय चिन्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नही कि ब्राह्मण-धारा ने भारतीय-दर्शन क्षेत्र में सबसे अधिक योगदान दिया है। उक्त धारा ने कई दार्शनिक सिद्धान्तो को जन्म दिया है और वह अबतक अक्षुण्ण रूप से चलती चली आ रही है। न्याय वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त, शैव,शक्ति आदि दर्शन इसी की देन है। इसके अतिरिक्त आर्हत, बौद्ध, साख्य, आजीवक आदि और भी दर्शन हैं जिनको हम श्रमण-धारा की देन कह सकते है। यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण पहले नही किया गया है किन्तु वर्तमान समय की खोजों ने हमें इस प्रकार के वर्गीकरण करने के लिए बाध्य किया है। जैन, बौद्ध तथा कहीं-कहीं ब्राह्मण साहित्य में भी हमें श्रमण तथा ब्राह्मण-धाराओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते है। ब्राह्मण-धारा का मूल स्रोत है वेद और वेद से ही उन्हें भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को तिपादन करने की प्रेरणा मिली है। वेद स्वय संग्रहीत-ग्रन्थ होने के कारण किसी एक निश्चित वाद के पोषक प्रतीत नही होते। उनमें हमें बहुदेवतावाद, एकत्ववाद, क्रियाकाण्ड, प्रकृति-पूजा,

(१) **आत्मज्ञान**—अध्यात्मवाद की बुनियाद डालने का श्रेय यहाँ के तीर्थंकरों को है। तीर्थंकर आत्मा के विकास में विश्वास करते थे। इन्होंने स्वयं आर्हन्त्य पद प्राप्त कर सिद्धत्व की प्राप्ति की। निगोदावस्था से लेकर चरम लक्ष्यतक पहुँचने की सुन्दर यात्रा का वर्णन तीर्थंकरोने ही अपने दिव्य-ज्ञान द्वारा किया और बतलाया कि इस विकास में मुख्य हेतु सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। जिन आत्मीय गुणों को आज मनो-विज्ञान ने संसार के सामने रखा; उन्हीं रहस्यों को तीर्थंकरो ने प्रतिपादन करके संसार के कल्याण के लिए मार्ग खोला। उन्होने कहा 'ज्ञान आत्मा है, आत्मा ज्ञान है।' "अरे संसार के जीवो ! आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो; अन्य वस्तुओ के ज्ञान प्राप्त करने से कोई विशेष लाभ नहीं, क्योंकि जो एक को जान लेते हैं वे सबको जान लेते है।" इस प्रकार की अध्यात्ममूलक शिक्षा तीर्थंकर परम देवो की थी। भौतिकवाद के स्तर से मनुष्य को ऊपर ले जाकर अध्यात्म के पथ पर चला कर चरम लक्ष्य तक पहुँचाना ही तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित धर्म का लक्ष्य था। इस देन का श्रेय कर्म-युग के प्रथम आर्य ऋषभ को है जो भारत का सर्व-प्रथम सस्कृत पुरुष था। अनन्तर इसी अध्यात्मवाद के अनेक रूप बन गये।

(२) **त्रिरूप सत्**--इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय भी जैन दर्शन के प्रवर्तकों को है। 'वस्तु सत् है और वह त्रिरूप है' यह मन्तव्य अत्यन्त प्राचीन है—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है। इस व्यापक तत्व का लाक्षणिक-रूप ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश है। तीर्थंकरों ने कहा— 'भाव पदार्थ का नाश नही होता और अभाव का उत्पाद नही होता। वस्तुओ के गुण और पर्यायो में ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य देखने में आते हैं।' इस तथ्य का उल्लेख भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है। जैन-दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार की दार्शनिक परम्परा को जन्म देने का श्रेय आर्य कुन्दकुन्द को है। आर्य कुन्दकुन्द को मूल सघीय आचार्य होने के नाते इस तथ्य का ज्ञान था। उन्होने प्रस्थानत्रयी के समान प्राभृतचर्या द्वारा अनेक अतिभौतिक तत्वों का प्रतिपादन किया है। उनका विचार सत् के स्वरूप का प्रतिपादन कर उसको त्रिरूप बतलाना था। इसकी प्रतिष्ठापना उन्होंने उच्च आध्यात्मिक स्तर पर की है। यह भारतीय दार्शनिक-चिन्तन का उत्कृष्ट नमूना है। अतः इसके जन्म का श्रेय महाश्रमणों को है।

(३) **परमाणुवाद**:—आज परमाणुवाद की चर्चा सर्वत्र है। एटम वाम्ब के अविष्कार ने जगत् को चकित और भयभीत किया है। क्या हम जानते हैं—इसकी खोज किसने की ? विदेशीय तथा भारतीय विचार-इतिहासज्ञो का मन्तव्य है कि इसका अनुसधान भी तीर्थंकरो के मस्तिष्क की प्रयोगशाला में हुआ। वैशेषिकों ने तथा ग्रीक दार्शनिको ने भी इसकी प्रेरणा यहीं से प्राप्त की। अर्हन्त परम देवने कहा—'अन्त ही जिसका आदि है, अन्त ही जिसका मध्य है, और अन्त ही जिसका अन्त है और जो इन्द्रियो से ग्रहण नहीं किया जा सकता ऐसा जो अविभागी पुद्गल द्रव्य है, उसको, अरे ससार के प्राणियो ! परमाणु समझो।' इसी प्रकार परमाणु-वाद की नीव डालकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्थापित कर द्वैतवाद की सृष्टि का श्रेय भी उन दिव्य पुरुषों को है जिन्होंने जैन भौतिकवाद की स्थापना की। इन मूल परमाणुओ से उपलब्ध स्कन्धों से ही भौतिक जगत् की निर्मिति है। अतः यह तत्व भी जैन दर्शन की महान् देन है।

(४) **अनेकान्तः**—महाश्रमण भगवान समंतभद्रने युक्त्यनुशासन में लिखा है कि 'तत्व अनेकान्त स्वरूप है और वह अशेष रूप है।' इस दार्शनिक तथ्य ने नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भाव, अभाव, सत्, असत् आदि एकान्तवादों का निराकरण किया। अनेकान्त ने इनकी सापेक्षता सिद्ध की और बतलाया कि सत्य

जादू-टोना आदि अनेक प्रकार के सिद्धान्त मिलते हैं। उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इन्ही को आधार मानकर अनेक मत स्थापित किए। वैदिक आर्य वेद अपने साथ लाए थे इसलिए उनमें हमे विशेष दार्शनिक मतभेदों का उल्लेख नही मिलता। उनका जब भारत में प्रवेश हुआ तो उन्हें यहाँ भारतीय आर्यों की एक भिन्न-प्रकार की संस्कृति और सभ्यता से परिचय मिला। यह सस्कृति और सभ्यता यहाँ के मूल-निवासी श्रमणों की थी। श्रमणो की कार्य-प्रणाली के केन्द्र थे काशी, कोशल, मगध, अग, वंग और कलिंग। उसमें मगध ने सबसे अधिक भाग लिया है। श्रमणों के अनुसार मगध शाश्वत सस्कृति और सभ्यता का केन्द्र रहा है। वैदिक आर्यों ने अपनी सभ्यता का केन्द्र कुरु-पाञ्चाल को बनाया। सप्त-सिन्धु देश उनका प्रथम उपनिवेश था। इस हेतु से हम उनकी सभ्यता और सस्कृति को साप्तसिन्धवी सभ्यता और सस्कृति कह सकते है। द्रविड़ संस्कृति और सभ्यता भी यहाँ की मौलिक स्वतं सस्कृति थी, जो बहुत काल तक उत्तर भारतीय सस्कृतियों के प्रभाव से अप्रभावित रही। सर्वप्रथम श्रमणो ने वहाँ जाकर अपनी संस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया। पश्चात् वैदिक लोग भी वहाँ पहुचे। 'तोल काप्पियम्' में इसके प्रमाण मिलते हैं।

संस्कृतियों का संघर्ष-काल—

जहाँ तक ब्राह्मण और श्रमण सस्कृतियों का सम्बन्ध है, इनमें बहुत काल तक खीचातानी चलती रही। इस खींचातानी के फलस्वरूप ही वैदिक ऋषियो को औपनिषद क्षेत्र मे उतरना पडा। पतञ्जलि ने सका उल्लेख 'येषां च शाश्वतिको विरोधः' इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या में 'अहि-नकुलम्,' 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण द्वारा किया है। यह उल्लेख श्रमण और ब्राह्मणो की उत्कट प्रतिद्वन्द्विता का सूचक है। उपनिषद्-साहित्य उस मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल का साक्षी है जब वैदिक चिन्तकों को वैदिक सस्कृति की श्रमणो के आक्रमण से रक्षा की चिन्ता थी। साधारण जनता श्रमण-मार्ग को जानती थी। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि उनको रुचिकर नही थे। नरमेध, पशुमेध, गोमेध मानसिक क्रान्ति के भयकर स्थल थे। जाति-जाति का भेद भी असह्य था। स्त्री और शूद्रका व्यवहार यहाँ के सामाजिक आचार के विरुद्ध था। इस प्रकार के वातावरण में औपनिषदिक साहित्य की रचना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती है। यह वह समय था जब सर्वप्रथम वैदिक लोगों के हृदय में आत्म-चिन्तन की प्रेरणा उत्पन्न हुई। उन्होंने 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य.' इत्यादि का नारा लगाया। यथार्थ में अध्यात्मविद्या श्रमणों की निज चीज थी। वे आत्मा को स्वदेह-परिमाणरूप मानते थे। जब वैदिकों में भी यह चर्चा चली तो उन्होंने आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न विचार उपस्थित किये। किन्ही ने उसको विश्व-व्यापी कहा। किन्ही ने वट-कणिका मात्र कहा। अन्य ने अंगुष्ठ-मान बतलाया तथा अन्य ने ब्रह्मवाद की नीव डाली। इन्ही भिन्न-भिन्न विचारधाराओ ने अनेक सिद्धान्तों को जन्म दिया। यह निर्विवाद तथ्य है कि भारतीय दर्शनो का जन्म आत्म-दर्शन और परलोक की समस्या के हल में है। ईश्वर आदि का विचार बहुत पीछे से यहाँ प्रविष्ट हुआ है। मुझे तो ईश्वरवाद विदेशियों की देन प्रतीत होता है। बहुत कुछ सम्भव है ईश्वरवाद का जन्म सेमेटिक सिद्धान्तों में मिले। इस विषय पर अनुसन्धान होने की आवश्यकता है।

जैन-दर्शन का योग-दान—

इस पृष्ठभूमि को लेकर हमें विचार करना है कि जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में कितना योगदान दिया है।

तत्व, यथार्थता एकान्त में न होकर अनेकान्त में है । अनेकान्त तत्व ही विरोध, वैयाधिकरण्य, अनवस्था आदि दोषों से रहित हो सकता है । यह परगामम का बीज है । इसका प्रतिपादन जात्यन्ध व्यक्तियों के हस्ति के प्रतिपादन के समान नहीं है । इसमें समग्र एकान्त दृष्टियाँ समन्वित होती हैं तथा यह विरोध का विध्वंसक है । यह परम तथ्य है । जिसने अनेकान्त स्वरूप को जान लिया, वही केवल ज्ञानी है। इस प्रकार अपेक्षावाद की सृष्टि कर जैन-दर्शन ने विरोधी दार्शनिक क्षेत्रो में एक महान सामञ्जस्य के सिद्धान्त की नींव डाली । वर्तमान युग के रिलेटिविटी के सिद्धान्त के बीज इसमें पूर्ण रूप से मिल सकते है। जैन दर्शन की यह देन अपूर्व है। आचार्य सिद्धसेन ने इसको निखिल जगत् के गुरु के रूप में स्मरण किया है।

(५) **स्याद्वाद**--स्याद्वाद अनेकान्त-वाद से परिफलित सिद्धान्त है । जिस वस्तु-स्वरूप को हम भावरूप से जानते और देखते हैं उसी को शब्दों से जानना स्याद्वाद कहलाता है । इसी हेतु से स्याद्वाद को श्रुत कहा गया है । भगवान की वाणी को स्याद्वादमयी कहने का भी यही तात्पर्य है । वस्तुगत अनेक धर्मों का अपेक्षा की दृष्टि से विचार करना स्याद्वाद का कार्य है । इसमें 'स्यात्' शब्द की सार्थकता सर्वोपरि है । समन्तभद्र के शब्दों में 'स्यात्' शब्द सत्य का लाञ्छन है । व्यवहार में सत्य का प्रतिपादन स्याद्वाद को छोड़कर अन्य रूप में हो नही सकता। स्याद्वाद सकलादेश है ; विकलादेश नय है । हम जगत् की धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में स्याद्वाद से काम ले सकते हैं । भविष्य में राष्ट्रीय-निर्माण स्याद्वाद के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित होना चाहिये । स्याद्वाद के सिद्धान्त पर आधारित ज्ञानतन्त्र सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होगा । इसके प्रयोग करने की आवश्यकता है । स्याद्वाद मनुष्य के अन्दर बौद्धिक सहानुभूति उत्पन्न करता है । विरोध को यह जड़ से उखाड़ देता है। मनुष्य स्याद्वादी होकर ही समाज-निर्माता बन सकता है । हमें इस जैन दर्शन की अपूर्व देन का जीवन क्षेत्र में उपयोग करना चाहिये ।

(६) **नयवादः**--नयवाद भी जैन-दर्शन की अद्‌भुत् देन है। अन्य दर्शनकारों ने प्रमाण शास्त्र पर तो विचार किया और उसके सिद्धान्त स्थापित किये किन्तु जहाँ तक नय पक्ष का सबध है उस पर किसी ने विचार ही नही किया। इसी कारण से मैं गौतम और बौद्ध न्याय शास्त्र के ग्रन्थों को अधूरा समझता हूँ । वस्तु तत्व की विवेचना प्रमाण और नयों द्वारा होनी चाहिये । उमास्वामी ने 'प्रमाणनयैरधिगमः' यह सूत्र ठीक लिखा है। वह न्याय-पद्धति का प्रतिपादक प्रथम सूत्र है । नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय क्रम से नैयायिक, वेदान्त, व्यवहारवाद, बौद्ध, शब्दवाद, रूढिवाद, तथा अर्थ क्रियावाद के प्रतिपादक हैं। इनमें समग्र दार्शनिक सिद्धान्त समावेशित किये जा सकते है। नयों का वर्गीकरण निश्चय और व्यवहार से भी किया गया है। यह परम्परा कुन्दकुन्द की है । वेदान्त ने भी इसी को उत्तर में ग्रहण किया और परम-संग्रह को उत्कृष्ट तत्व मानकर ब्रह्माद्वैत की स्थापना की। इस नयवाद का उपयोग मनुष्य को अच्छे तनयो (पुत्रो) पर किये गये व्यवहार के समान करना चाहिये । तभी दार्शनिक क्षेत्र में कौटुम्बिक भावना उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार की कौटुम्बिक भावना के आधार पर आधारित दर्शन ही किसी लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं । अन्यथा दार्शनिक कलह जीवन और जगत् के क्षेत्र को गन्दा करके मनुष्यो को पथभ्रष्ट कराने में सहायक होगा । अतः हमें नयवाद का उपयोग करके दृष्टि-समता का भाव पैदा करना चाहिये । भारत का इसी में कल्याण है।

सप्तभंगी--सप्तभंगी का सिद्धान्त जैन दार्शनिक-चिन्तन का चरम-रूप है । अनैकान्तिक मस्तिष्क सप्तभंगी पर ही टिक सकता है। विचार-प्रगति का यह अन्तिम विकास है। यूरोप में जिस चीज को हेगेल ने

बतलाया । भारतीय दर्शनकारो में सर्वप्रथम इसका उल्लेख कुन्दकुन्द ने किया । कुन्दकुन्द की 'सिय अत्थि, णत्थि' आदि गाथा प्रत्येक दार्शनिक के मुखपर रहती है । हेगेल ने विचार-गति के प्रवाह का उल्लेख करते हुए थीसिस, और एन्टी सिन्थेसिस के रूप में तत्व की व्यवस्था की । किन्तु जैन दार्शनिकों ने अस्ति, नास्ति. अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्तिनास्त्यवक्तव्यरूप सात भंगों को स्थापित कर अपनी गणित शास्त्र-सम्बन्धी तथा विचार शास्त्र-सम्बन्धी प्रखरता का परिचय दिया । माध्यमिको ने इसका विरोध किया और फलतः शून्यता में शरण लिया । इसका अर्थ यह है कि वे अज्ञेयवादी बन गये । अज्ञेयता की स्वीकृति ज्ञान का अपघात है, जिसको कोई दार्शनिक स्वीकार नही कर सकता । अतः कहना पड़ता है कि सप्तभगीवाद भारतीय डाइलेक्टिक का सर्वोत्कृष्ट नमूना है । यह खोज जैन दर्शनकारों की ही है ।

(७) **मोक्षतत्वः**–मोक्ष के सिद्धान्त का उद्गम भी जैन दार्शनिककों की देन है । बौद्ध दार्शनिकों ने निर्वाण की स्थापना की । हिन्दू दार्शनिको ने निश्रेयस या ब्रह्म-प्राप्ति की स्थापना की । मोक्ष सिद्धान्त के उपदेश का श्रेय तीर्थंकरो को इसलिये है कि मोक्ष का सिद्धान्त जैन दर्शन में ही बनता है। आखिर मोक्ष कर्मों से छुटकारा पाने का नाम ही तो है । जैनियों की बन्ध मोक्ष व्यवस्था सार्थक और सप्रमाण है । बन्ध के हेतुओ के अभाव और निर्जरा से मोक्ष की अवाप्ति का सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त पर आधारित है । इसकी व्याख्या जैन दार्शनिको ने की है । आत्मा जब बन्धनबद्ध है तब उस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति मालूम पडती है । इसके अतिरिक्त जीव का अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी जो उसे सतत ऊपर की ओर प्रेरित करता रहता है । जब अन्तिम ध्येय की प्राप्ति हो जाती है तब जीव अपने उत्कृष्ट स्वभाव सिद्धत्व मे स्थिर हो जाता है जो मुक्त जीवों की शास्वत अवस्था है । इस अवस्था के प्राप्त होने पर जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है और जीव अपने अनन्त गुणो में रमता हुआ शाश्वतिक आनन्द को प्राप्त हो जाता है । यह मोक्ष का सिद्धान्त आर्हती सस्कृति की परम देन है।

(८) **कर्म सिद्धान्तः**—कर्म सिद्धान्त भी जैन तीर्थंकरो का प्राचीनतम सिद्धान्त है । कर्मलिप्त जीव अनादि काल से इस समार में भ्रमण करता रहता है । यह कर्म-तत्व मीमांसाको के अपूर्व से विलक्षण है । मन, वचन, काय के हलन-चलन से जो आत्मा मे परिस्पन्द होता है उसके निमित्त से पौद्गलिक वर्गाणएँ कर्म रूप परिणमित हो जाती है । इसकी परम्परा अनादि होती हुई भी सान्त है, किसी-किसी मामले में यह अनादि और अनन्त भी है । किन्तु मोक्ष की दृष्टि से यह अनादि सान्त है । अन्यथा मोक्ष तत्व की स्थापना हो ही नहीं सकती । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म जीव की भिन्न-भिन्न शक्तियो को आवृत कर उनका विश्वास नही होने देते है । इसीलिये जीव ससार में परिवर्तन करता है । कर्म सिद्धान्त ने ही ईश्वर के सिद्धान्त को निरर्थक कर दिया । कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के विचार ने बहुत से दार्शनिको को चकित किया है । इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त के रा ही हम चारित्र आदि के सिद्धान्त का विवेचन कर सकते है । अतः कर्म सिद्धान्त भी तीर्थंकरों की मौलिक देन है ।

उत्कृष्टचारित्र—अनेक दार्शनिकों का विचार है कि जैन और बौद्ध दर्शन चारित्र-निर्माण पर अधिक जोर देते है । उनका कहना बहुत हद तक ठीक है । जैन-दर्शन के अनुसार दर्शन और ज्ञान होने पर भी जब तक चारित्र की प्राप्ति नही होती तब तक म ुष्य अपने ध्येय पर नही पहुँच सकता । आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में

चारित्र को ही धर्म बतलाया है ; क्योंकि समता चारित्र से उत्पन्न होती है । जब समता उत्पन्न हो गई तो मोह और क्षोभ स्वतः दूर हो जायगे । आत्मा के स्वरूप में आचरण से लेकर यथाख्यात स्वरूप की प्राप्ति तक चारित्र बढ़ता रहता है । गुणस्थान क्रम चारित्र की वृद्धि का द्योतक है । चारित्र की उत्कृष्टता की प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेक प्रकार के दुर्धर तप तपने तथा संयम की आराधना करने का उपदेश दिया जो सर्वथा विलक्षण है । आज संसार में दर्शन और ज्ञान की तो वृद्धि है, किन्तु चारित्र की ओर लक्ष्य नही । हमारी अवनति का यही कारण है । कौन नही जानता कि चरित्र नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है । इसके लिए हमें सामाजिक चारित्र तथा व्यक्तिगत चारित्र दोनों की उन्नति करनी चाहिए । भारत अपने सदाचार से ही अपने मस्तिष्क को ससार के समक्ष ऊँचा उठा सका । आज चरित्रहीनता हमें कहाँ ले जा रही है, हम नही कह सकते ! इसके लिए हमें अपना जीवन नियमित करना होगा । तभी हम उन्नति कर सकेंगे । हम अपने को आर्य कहलाने के अधिकारी तभी हो सकते है जब हमारा चरित्र ुण समुन्नत होगा । उत्कृष्ट चरित्र की शिक्षा भी इस हेतु से जैन-दर्शन की परम देन है ।

(९) **ध्यानः**—ध्यान या समाधि का मार्ग भी जैन दार्शनिकों की देन है । कर्मों का दहन ध्यान की अग्नि में ही होता है । यह सबसे उत्कृष्ट यज्ञ है । जैन तीर्थंकरों ने इसी प्रकार के यज्ञ किये न कि मूक, निर्बल पशुओं का घात किया । इसकी ही अभ्यास-अवस्था को सामायिक कहते है । यह सामायिक या ध्यान प्रत्येक मनुष्य को त्रिकाल करना चाहिए । मैं कौन हूँ; कहाँ से आया हूँ; मुझे कहाँ जाना है; मेरा क्या कर्तव्य है—इत्यादि प्रश्नो का ध्यान में ही हल मिल सकता है । आर्द्र, रौद्रध्यान ससार के बन्धन है । धर्म और शुक्ल ध्यान द्वारा ही आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है । पतञ्जलि ने भी यौगिक प्रक्रिया द्वारा ध्यानादिक का वर्णन किया है और स्वरूप प्राप्ति की शिक्षा दी है । किन्तु जैन समाधि और ध्यान की प्रक्रिया जिसका गुणस्थानों द्वारा विशेष अध्ययन किया जा सकता है, एक अपूर्व प्रक्रिया है जो सबसे अधिक आत्म-विकास की साधिका होती है। उसका उपदेश भी तीर्थंकरों ने दिया और यह भी जैन-दर्शन की अपूर्व देन है। इसीके समकक्ष प्रक्रिया हमें बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलती है । इसका तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये । तुलनात्मक अध्ययन करने पर जैन-प्रक्रिया की छाप बौद्ध ध्यान प्रक्रिया पर अवश्य प्रतीत होगी ।

(१०) **अहिंसाः**—जैन-दर्शन से यदि अहिंसा को अलग कर दिया जाय तो जैन दर्शन की आत्मा ही समाप्त हो जायगी । आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को परम ब्रह्म का स्वरूप कहा है अर्थात् आत्मा स्वभाव से अहिंसक है । यदि अनेकान्त दार्शनिक मूल सिद्धान्त है तो उसका व्यवहार रूप अहिंसा है । अहिंसा परम व्यवहार धर्म है । विश्व के जीवों का अस्तित्व अहिंसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित है । संसार के सब प्राणी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता । इसलिये जीव-दया या जीव-रक्षा प्राणिमात्र का धर्म है। जैनदर्शन योग्यतम के सरक्षण में विश्वास नहीं करता । इसके विपरीत जैन-दर्शन का विश्वास है निर्बलतम के संरक्षण में । हिंसा स्वघातिनी है । हिंसा की परम्परा का नाश नही होता । जीव 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के आधार पर ही जीवित रह सकते हैं । आज विज्ञान ने हमारे दिलों को हिला दिया है । एटम बाम्ब और हाइड्रोजन बाम्ब के आविष्कार हमारी हिंसा प्रवृत्ति की चरम सीमाएँ है । हम अहिंसा में ही विश्वास कर जीवित रह सकते है । अन्यथा हमारा विनाश प्रलय से भी भयंकर सिद्ध होगा । महात्मा गांधी ने

इस युग में जन्म लेकर भगवान् महावीर के एक शिष्य से प्रेरणा पाकर अहिंसा के अस्त्र का प्रयोग कर विश्व के सामने एक महान आदर्श रखा कि अहिंसा में ही जीवन और विश्व का कल्याण है। संसार में युद्ध प्रवृत्ति को समाप्त कर देना चाहिये। भविष्य का मनुष्य कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के लिए अपनी जान देने के लिए कभी तैयार नहीं होगा। गान्धीजी ने स्वयं एक हिन्दू के हाथ से गोली खा कर अपने को अहिंसा की वेदी पर चढ़ा दिया। विश्व का इतिहास इसका साक्षी रहेगा। मनुष्य की दानवीय प्रकृति कहाँ तक कार्य कर सकती है इसका यह नमूना है। गान्धीजी चले गये किन्तु अहिंसा की विजय अवश्यम्भाविनी है। यदि ससार को दो युद्धो से सबक नहीं मिला तो तीसरा युद्ध अवश्य ही अहिंसा की विजय मे विश्वास पैदा करेगा। अतः इस अहिंसा के सिद्धान्त की उत्कृष्ट साधना जैन दर्शन की अमूल्य देन है जिसके मूल्य का विश्व अनुभव करत जा रहा है।

(११) **अपरिग्रहवादः**—अपरिग्रहवाद जैन दर्शन की अन्तिम देन है। भगवान स्वयं नग्न थे और उन्होने निर्ग्रन्थ मार्ग का उपदेश दिया। परिग्रह की भावना अनेक दोषों की जननी है। लोभ, द्वेष, डाह आदि सब इमी के चट्टे-वट्टे हैं। आज हम देखते हैं कि हम किस प्रकार परिग्रह की तृष्णा बढ़ाते जा रहे हैं। आज प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि ससार की सम्पत्ति मेरे घर में आ जाय। आज अमेरिका की परिग्रह की नीति से ससार क्षुब्ध है। संसार की वस्तुओं पर अधिकार कर दूसरों को शोषण करने की भावना पाप-भावना है। आवश्यकतानुसार परिग्रह रखकर हमारा उद्देश्य नैर्ग्रन्थ्य का होना चाहिये। प्राचीन काल में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सदृश व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को छोड़कर त्याग के मार्ग में लगे और उत्कृष्ट ध्येय की प्राप्ति की। आज वैसे उदाहरण कहाँ हैं ? जैन आचार्यों ने तिलतुष मात्र परिग्रह का निषेध किया है। मानव जाति को अपरिग्रहता की ओर झुकना चाहिये। संसार में न कोई कुछ लाया है और न ले जायगा। साठ-सत्तर वर्ष की अल्प स्थिरता के लिए शासन-शोषण की भावना गर्हणीय है। जगत् की वस्तुओ पर मानव मात्र का अधिकार है। अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओ को अहिंसा की भावना के साथ-साथ उपयोग कर निष्परिग्रह होने की भावना रखनी चाहिये। जैनचारित्र का आदर्श अपरिग्रहवाद में है। विषम-वितरण इसी सिद्धान्त के परिपालन से दूर किया जा सकता है। पूँजीवाद के दोष भी इसीसे दूर हो सकते है। अतः परिग्रह की मूर्छा कदापि नही करना चाहिये। बड़े राष्ट्राधिनायकों को इस पर विचार करना चाहिये। हम तो महारम्भो को भी मानव जाति के लिए हानिकारक समझते हैं। यथार्थ में मनुष्य अल्पारम्भ की भावना से ही पैदा होता है। इस प्रकार जैन दर्शन ने उत्कृष्ट अपरिग्रहवाद नीव डालकर एक महान् आदर्श उपस्थित किया है।

जैन-दर्शन की मान्यता—

इस लेख में मैंने अपने स्वचिन्तन से ये एकादश विशेषताएँ निकाली हैं, मै जिनको समझता हूँ कि ये श्रमण-धारा की अपूर्व देन हैं। अन्य दर्शनो से ये वस्तुएँ सर्वथा भिन्न है; इसी कारण से इनका पार्थक्य पृथक प्रतीत होता है। जैन-दर्शन इस परम्परा को आज तक अक्षुण्ण रूप से चला रहा है। ये मगध संस्कृति और सभ्यता की शाश्वत भित्तियाँ हैं, जिनके ऊपर श्रमण-संस्कृति का भव्य-भवन निर्मित है। आचार्य समन्तभद्र ने, दया, दम, त्याग, समाधि, नय, प्रमाण आदि जैन दर्शन की विशेषताएँ बतलाई हैं

और उनको अद्वितीय कहा है। मेरे विचार में तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उपर्युल्लिखित एकादश बातें ही विशेषता की द्योतक प्रतीत हुईं, जिनका संक्षिप्त रूप में दिग्दर्शन करा दिया गया है। भारतीय मस्तिष्क अ ूर्व है। यहाँ के तत्व-चिन्तकों ने संसार को क्या-क्या दिया इसकी परिगणना करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु इतना अवश्य मानने योग्य है कि यहाँ की मूल सभ्यता का आधार अनेकान्त (सत्य) और अहिंसा रहे हैं। जब-जब लोगों ने सत्य और अहिंसा के विरोध में आवाज उठाई है उसका विरोध हुआ है। असत्य और हिंसा तो स्वयं घातक हे। इनपर आधारित कोई भी संस्कृति और सभ्यता चिरकाल-स्थायिनी नहीं रह सकती। भविष्य के भारत का भी हमें इन्हीं तत्वों की आधार-शिला पर निर्माण करना है। देखें, समय हमारा क ाँ तक साथ देता है।



जैन-दर्शन में शब्द की स्थिति

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्ताविक—

शब्द और अर्थ क्या है ? इनका सम्बन्ध है या नही ? ये नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य हैं तो इनका क्या स्वरूप है और अनित्य हैं तो क्या ? अर्थतत्व का ज्ञान कैसे और क्यों होता है ? अर्थ-तत्व का निर्णय किस प्रकार से और किन साधनो से किया जाता है ?—आदि प्रश्नों का समाधान वैयाकरणो के अतिरिक्त दार्शनिकों ने भी किया है। शब्द सुदूर प्राचीन काल से ही दार्शनिको के लिए विचार का विषय रहा है। जैन दर्शनकारो ने भी शब्द और अर्थतत्व पर पर्याप्त ऊहा-पोह किया है। प्रमोत्पत्ति का प्रधान साधन शब्द ही है। अत. इसके स्वरूप पर विचार करना दर्शन शास्त्र का एक अनिवार्य अग है।

स्वरूप—

जैन दर्शन में शब्द को पुद्गल का पर्याय या रूपान्तर माना गया है। इसकी उत्पत्ति स्कन्धो के परस्पर टकराने से होती है। इस लोक में सर्वत्र ुद्गलरूप शब्द वर्गणाएँ, अति सूक्ष्म और अव्याहत रूप से भरी हुई हैं। हम अपने मुह से तालवादि के प्रयत्न द्वारा वायु विशेष का निस्सरण करते हैं, यही वायु पुद्गल-वर्गणाओ से टकराती है, जिससे शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड में शब्द के आकाश गुणत्व का निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि परमाणुओ के संयोग रूप स्कन्धो शब्दवर्गणाओ के सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान रहने पर भी ये वर्गणाएँ शब्द रूप तभी परिणमन करती है, जब अर्थबोध की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित परस्पर घर्षण होता है। वाद्यध्वनि तथा मेघ आदि की गर्जना भी वर्गणाओ के घर्षण का ही फल है। कुन्दकुन्द स्वामी ने शब्द स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है——

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियमा ॥---पञ्चास्तिकाय

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओं के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं। इन स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द की उत्पत्ति होती है।

अतः यह सिद्ध है कि शब्द पुद्गल का पर्याय है—पुद्गल स्वरूप है और इसकी उत्पत्ति स्कन्धों के परस्पर टकराने से होती है।

जब शब्द पुद्गल का पर्याय है तो यह किस गुण के विकार से उत्पन्न होता है; क्योंकि प्रत्येक पर्याय गुणों की विकृति—परिवर्तन से उत्पन्न होता है। पुद्गल में प्रधान चार गुण होते हैं—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। शब्द स्पर्श गुण के विकार से उत्पन्न होता है। भाषा वर्गणाएँ जो पुद्गल रूप हैं, उनमें पुद्गल के चारो प्रधान गुणों के रहने पर भी स्पर्श गुण के परिवर्तन से शब्द की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि शब्द कर्ण इन्द्रिय से स्पर्श करने पर ही अर्थबोध का कारण बनता है। आज के विज्ञान ने (sound) ध्वनि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रक्रिया प्रस्तुत की है, उससे भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है। विज्ञान ध्वनि की उत्पत्ति में 'कम्पन' को आवश्यक मानता है। यह कम्पन स्पर्श गुण के परिवर्तन से ही सभव है। जैन दार्शनिको ने शब्द को गतिमान, स्थितिमान और मूर्तिक माना है। परीक्षण से भी उक्त तीनों गुण शब्द में सिद्ध है। अतः शब्द पुद्गल का पर्याय है और स्पर्श गुण के विकारसे उत्पन्न होता है तथा इसमें पुद्गल के चारो गुणो में से स्पर्श गुण ही प्रधान रूप से व्यक्तावस्था में पाया जाता है।

नित्यानित्यत्व—

मीमांसक का कहना है कि शब्द को अनित्य मानने से अर्थ की प्रतीति सभव नही, किन्तु शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अत. शब्द नित्य है। शब्द नित्य न हो तो स्वार्थ का वाचक नही हो सकता है। शब्द में वाचकत्व और अर्थ में वाच्यत्व-शक्ति है, अत· शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमादि प्रमाणों से सिद्ध है। उदाहरण के लिए यो कह सकते है कि हमने किसी व्यक्ति से पानी लाने को कहा। शब्द अनित्य होता तो पानी शब्द कहने के साथ ही नष्ट हो जाता और श्रोता को अर्थ की प्रतीति ही नही होती तथा हम प्यासे ही बने रहते और सुननेवाला हमें कभी भी पानी लाकर नही देता। पर यह सब होता नही है, श्रोता हमारे कहने के साथ ही अर्थ बोध कर लेता है और जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है श्रोता उसकी क्रिया को भी सम्पन्न कर देता है। अतएव शब्द नित्य है, अन्यथा अर्थबोध नही हो सकता था। अनित्य शब्द से अर्थ की प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति असभव है।

'यह घट है' इस शब्द की सदृशता इसी प्रकार के विभिन्न देशवर्ती शब्दो में पायी जाती है, अत यह सदृशता अर्थ का वाचक हो जायगी, नित्यता नही—यह आशंका भी निरर्थक है, अत. शब्द सदृशता से अर्थ का वाचक नही हो सकता; क्योंकि शब्द मे वाचकत्व एकत्व से सभव है, सदृशता से नही। न सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से अर्थ का निश्चय किया जा सकता है; क्योकि ऐसा मानने से शब्द-ज्ञान में भ्रान्ति-दोष आयगा। एक शब्द में संकेत होने पर दूसरे शब्द से अर्थ का निश्चय निर्भ्रान्त नहीं हो सकता; अन्यथा गृहीत संकेत गोशब्द में अश्व शब्द से गाय अर्थ का निश्चय भी अभ्रान्त हो जायगा। यदि शब्द के अवयवों के साम्य से शब्द में सदृशता स्वीकार की जाय तो यह भी असंगत होगा; क्योकि वर्ण निरवयव होते है। गत्व से विशिष्ट गादि शब्दों में भी वाचकत्व नहीं बन सकता है; यतः गादि सामान्य का अभाव है और सामान्य के अभाव के कारण शब्दों में नानात्व भी संभव नही। अतएव नित्य शब्द द्वारा ही अर्थबोध हो सकता है।

पतंजलि ने 'ऋलृक' सूत्र की व्याख्या में जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छा शब्दों का विवेचन करते हुए जाति शब्दों को नित्य; क्रियावाचक शब्दों को अत्यन्त सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष; गुणवाचक शब्दों

अव्यवहार्य और स्वानुभूति-संवेद्य एवं यदृच्छा शब्दों को लोक-व्यवहार का हेतु माना है। यदृच्छा शब्द भौतिक है, ये नित्य नही; प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं।

कैयट ने इसी सूत्र की व्याख्या में यदृच्छा शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व स्वीकार नही किया। ये इसे माया, अविद्या और अज्ञान का ही प्रपच मानते है।

नैयायिक और वैशेषिक शब्द को अनित्य मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि उत्पत्ति के तृतीय क्षण में शब्द का ध्वस हो जाता है; यह आकाश का गुणविशेष है। लौकिक व्यवहार में वर्ण से भिन्न नाद ध्वनि को ही शब्द कहा जाता है।

बौद्ध अपोह—अन्य निवृत्ति रूप शब्द को मानता है तथा इस दर्शन मे शब्द को अनित्य माना गया है।

प्रभाकर ने शब्द की दो स्थितियाँ मानी हैं— ध्वनि रूप और वर्ण रूप। दोनों रूप आकाश के गुण हैं। इनमें ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य है और वर्णात्मक शब्द नित्य।

जैन दर्शन में उपर्युक्त सभी दर्शनों की आलोचना करते हुए शब्द को नित्या नित्यात्मक माना गया है। असल बात यह है कि जैन दर्शन में विचार करने की दो पद्धतियाँ है—द्रव्यार्थिक नय या द्रव्यदृष्टि और पर्यार्थिक या पर्याय दृष्टि। किसी भी वस्तु का विचार करते समय उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में से जब एक दृष्टि प्रधान रहती है तब दूसरी दृष्टि गौण और दूसरी के प्रधान होने से पर पहली गौण हो जाती है। अतः द्रव्य दृष्टि से विचार करने पर शब्द कथञ्चित् नित्य सिद्ध होता है; क्योंकि द्रव्य रूप शब्द वर्गणाएँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं और पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से शब्द कथञ्चित् अनित्य हैं; क्योकि व्यक्ति विशेष जिन शब्दो का उच्चारण करता है, वे उसी समय या उसके कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाते है। जैन दार्शनिको ने पर्यायापेक्षा भी शब्द को इतना क्षण-विध्वंसी नही माना है, जिससे वह श्रोता के कान तक ही नही पहुँच सके और बीच में ही नष्ट हो जाय। एक ही शब्द की स्थिति कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक हो सकती है। यही कारण है कि जैन दार्शनिको ने शब्द को एकान्त रूप से नित्य या अनित्य माननेवाले पक्षों का तर्क-सगत निराकरण किया है। कुमारिल भट्ट के नित्यपक्ष की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने बतलाया है कि अर्थ के वाचकत्व के लिए शब्द को नित्य मानना अनुपयुक्त है; क्योकि शब्द के नित्यत्व के बिना अनित्यत्व से भी अर्थ का प्रतिपादन संभव है। जैसे अनित्य धूमादि से सदृशता के कारण पर्वत और रसोई घर में अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार गृहीत सकेतवाले अनित्य शब्द से भी सदृशता के कारण अर्थ का प्रतिपादन संभव है। यदि कार्यकारण एवं सदृशता सम्बन्धो को वस्तुप्रतिपादक न माना जाय और केवल नित्यता को ही प्रधानता दी जाय तो सर्वत्र सभी पदार्थों को नित्यत्वापत्ति हो जायगी। अतएव कुमारिल भट्ट ने जो शब्द को नित्य माना है तथा शब्द की उत्पत्ति न मानकर उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव माना है, वह सदोष है। तर्क द्वारा शब्द कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होता है। शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं।

अर्थ-प्रतिपत्ति—

जैन दार्शनिकों ने अर्थ में वाच्य रूप और शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता मानी है। इस योग्यता के कारण ही संकेतादि के द्वारा शब्द सत्य अर्थ का ज्ञान कराते हैं। घट शब्द में कम्बुग्रीवादि

वाले घड़े को कहने की शक्ति है और उस घड़े में कहे जाने की शक्ति है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का संकेत ग्रहण हो जाता है कि घट शब्द इस प्रकार के घट अर्थ को कहता है, वह व्यक्ति घट शब्द के श्रवण मात्र से ही जलधारण क्रिया को करनेवाले घट पदार्थ का बोध प्राप्त कर लेता है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अर्थप्रतिपत्ति का निर्देश करते हुए कहा है——

सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः———परीक्षामुख

प्रभाचन्द्र ने शब्द और अर्थ के वास्तविक सम्बन्ध की सिद्धि में उपस्थित किये गये तर्कों का उत्तर देते हुए लिखा है कि यह सत्य है कि अर्थज्ञान के विभिन्न साधनों से अर्थ का ज्ञान समान रूप से स्पष्ट नही होता, कोई अधिक स्पष्ट रूप से वस्तु का ज्ञान कराते हैं और कोई नही। अग्नि शब्द से उतना अग्नि का स्पष्ट ज्ञान नही होता, जितना कि अग्नि के जलने से उत्पन्न दाह का। साधन के भेद से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान होता है, विषय के भेद से नही। अतः अस्पष्ट ज्ञान करानेवाले साधन से ज्ञात पदार्थ को असत्य नही कह सकते। साधन के भेद से एक ही शब्द विभिन्न दशाओ में विभिन्न अर्थों के प्रकट करने की योग्यता रखता है।

शब्द और अर्थ की इस स्वाभाविक योग्यता पर मीमासक ने आपत्ति प्रस्तुत की है कि शब्द-अर्थ में यह स्वाभाविकी योग्यता नित्य है या अनित्य ? प्रथम पक्ष में अनवस्था दूषण आयेगा और द्वितीय पक्ष मे सिद्ध साध्यतापत्ति हो जायगी। इस शका का समाधान करते हुए बताया गया है कि हस्त, नेत्र, अगुली सज्ञा सम्बन्ध की तरह शब्द का सम्बन्ध अनित्य होने पर भी अर्थ का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है। हस्त, सज्ञादि का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य नही है, क्योंकि हस्त, संज्ञादि स्वय अनित्य हैं, अतः इनके आश्रित रहनेवाला सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है। जिस प्रकार दीवाल पर अकित चित्र दीवाल के रहने पर रहता है और दीवाल के गिर जाने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शब्द के रहने पर स्वाभाविक योग्यता के कारण अर्थबोध होता है और शब्दाभाव में अर्थबोध नही होता। मीमासक के समस्त आक्षेपो का उत्तर प्रभाचन्द्र ने तर्कपूर्ण दिया है।

भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय मे शब्द और अर्थ की विभिन्न शक्तियो का निरूपण किया है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में शब्द और अर्थ की स्वाभाविक योग्यता का निरूपण करते हुए भर्तृहरि के सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध——

जैन-दर्शन शब्द के साथ अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध मानता है। यह स्वाभाविक है तथा कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। इन दोनो मे प्रतिपाद्य प्रतिपादक शक्ति है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्य-ज्ञापक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य-कारण आदि सम्बन्ध भाव नही है। शब्द और अर्थ में योग्यता का सम्बन्ध होने पर ही संकेत होता है। सकेत द्वारा ही शब्द वस्तुज्ञान के साधन बनते हैं। इतनी विशेषता है कि यह सम्बन्ध नित्य नहीं है तथा इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों द्वारा होती है। —

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्यः——प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ११६

जैन दार्शनिकों ने नित्यसम्बन्ध, अनित्य संबंध एवं सम्बन्धाभाव का बड़े जोरदार शब्दों में निराकरण किया है। प्रमेय कमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने जो विस्तृत समालोचना की है, उसीके आधार पर थोड़ा सा इस सम्बन्ध में विवेचन कर देना, अप्रासंगिक न होगा।

वैयाकरण अर्थबोध शब्द से न मानकर शब्द को अभिव्यक्त करनेवाली सामूहिक ध्वनि विशेष से ही अर्थ बोध मानते हैं, और इसीका नाम उन्होंने स्फोटवाद रखा है। इनका कहना है कि अर्थ में निश्चित वाच्य शक्ति है और उसका वाचक स्फोट है। यदि वर्णों में वाचकत्व शक्ति स्वीकार की जाय तो वर्णों में यह वाच-कत्व शक्ति न तो उनके समूहपने से संभव हो सकती है और न पृथक्पने से। पृथक्पने के मार्ग को स्वीकार करने में 'गौ.' शब्द में से 'ग' वर्ण ही गाय पदार्थ का वाचक हो जायगा। 'औ' और विसर्ग का उच्चारण निष्फल ही होगा। यदि सामूहिक वर्णों को अर्थबोधक माना जायगा तो वर्णों की सामूहिकता ही एक काल में कैसे सभव हो सकेगी ? क्योंकि वर्ण अनित्य हैं। उनका उच्चारण क्रमश: होता है तथा इनके उच्चारण स्थान भी निश्चित हैं और ये उच्चारण स्थान एक साथ अपना काम नही करते हैं। अत: सामूहिक वर्ण अर्थ-बोध के हेतु नही हो सकते।

अनुग्राह्य और अनुग्राहक सम्बन्ध की अपेक्षा भी वर्णों में वाचकत्व शक्ति सिद्ध नही हो सकती; अत: अनु-ग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध मूर्त्त में होता है अर्थात् अनुग्राह्य वस्तु और अनुग्राहक वस्तु दोनों के सद्भाव में यह नियम घटित होता है। इनमें से प्रथम के सद्भाव में और द्वितीय के अभाव में या द्वितीय के सद्भाव में और प्रथम के अभाव में यह नियम किस तरह कार्यकारी हो सकेगा ? ग, औ और विसर्ग में 'ग' 'औ' पूर्व वर्ण हैं और विसर्ग पर वर्ण है। इनमे पूर्व वर्ण 'ग' 'औ' इन दोनो का पर वर्ण विसर्ग की सद्भाव अवस्था में अभाव है। अत· उपर्युक्त सम्बन्ध वर्णों में नही है।

पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्ण मे जन्य-जनक सम्बन्ध भी नहीं है, जिसके आधार पर पर्व वर्ण और अन्त्य वर्ण का सम्बन्ध मानकर वर्णों की सामूहिकता एक काल में एक साथ बन सके और उस सामूहिकता की अपेक्षा वर्ण अर्थ के वाचक हो सके। अन्यथा वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होने लगेगी।

सहकार्य-सहकारी सम्बन्ध की अपेक्षा भी पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्णों का सद्भाव एक साथ एक काल में नही माना जा सकता है, यत विद्यमानों में ही यह सम्बन्ध होता है। अन्त्य वर्ण के समय मे पूर्व वर्ण अविद्य-मान है, फिर इस सम्बन्ध की कल्पना इनमे कैसे सभव है। जिस प्रकार यह सम्बन्ध वर्णों में सभव नही, उसी प्रकार पूर्व वर्ण-ज्ञान और पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार में भी नही बन सकता है। क्योंकि पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कारपूर्व वर्ण ज्ञान के विषय की स्मृति में कारण हो सकता है, अन्य में नही। वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार से उत्पन्न स्मृतियाँ भी अन्त्यवर्ण की सहायता नही कर सकतीं, यत: उनकी उत्पत्ति भी एक साथ संभव नही। क्रमश· उत्पन्न स्मृतियो की उत्पत्ति भी असंभव है। यदि सम्पूर्ण संस्कारो से उत्पन्न एक स्मृति अन्त्यवर्ण की सहायता करती है, यह माना जाय तो विरोधी घटपदार्थ अनेक पदार्थों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार भी एक स्मृति-जनक हो जायेंगे। निरपेक्ष वर्ण पदार्थवाचक नही हो सकते हैं; क्योंकि पूर्व वर्णों का उच्चारण निरर्थक हो जायगा। अत: किसी भी सम्बन्ध में ऐसी शक्ति नही है जिससे गौ: आदि शब्दों द्वारा गवादि अर्थों की प्रतीति हो सके। पर, अर्थ की प्रतीति शब्दों द्वारा देखी जाती है; अत: स्फोट नाम की शक्ति ही अर्थबोध का कारण

है। स्फोटवादी शब्द को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। यही ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय रूप है। स्फोट को भी नित्य, अखण्ड, अनिर्वचनीय और निर्लेप माना गया है।

जैन दर्शनकारों ने इस स्फोटवाद की विस्तृत समीक्षा करते हुए बताया है कि एक का अभाव अन्य वस्तु के सद्भावका कारण होता है। यह कारण उपादान हो अथवा निमित्त, पर कार्योत्पत्ति में सहायक अवश्य रहता है। प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त दोनो प्रकार के कारणो से उत्पन्न होता है। बलिष्ठ उपादान भी अकेला तब तक कार्य उत्पन्न नही कर सकता है, जब तक निमित्त सहायता नही करता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि अर्थ प्रतीति में उपादान कारण है, पर यह उपादान अपने सहकारी पूर्व वर्ण की अपेक्षा करता है। यद्यपि अन्त्य वर्ण के समय में पूर्व वर्ण का सद्भाव नही है, फिर भी श्रूयमाण पूर्व वर्ण का अभाव तो अन्त्य वर्ण के समय में विद्यमान है। इस अभाव की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ प्रतीति में पूर्ण समर्थ है। जैसे आम्रवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ आम अपने भार के कारण स्वय गिरकर अथवा दूसरे किसी कारण से च्युत होने पर वह अपना संयोग पृथ्वी से स्थापित करता है। इस सयोग में उसके पूर्व सयोग का अभाव कारण है; अन्यथा पृथ्वी से उसका सयोग हो ही नही सकता। अतएव पूर्व वर्ण-ज्ञान के अभाव से विशिष्ट अथवा पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति करा देता है।

पूर्व वर्ण विज्ञानोत्पन्न संस्कार प्रवाह से अन्त्यवर्ण की सहायता को प्राप्त करता है। प्रथम वर्ण और उससे उत्पन्न ज्ञान से सस्कार की उत्पत्ति होती है; द्वितीय वर्ण का ज्ञान और उससे प्रथम वर्ण ज्ञानोत्पन्न संस्कार से विशिष्ट सस्कार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्त्य संस्कार तक क्रम चलता रहता है। अतएव इस अन्त्य सस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति में जनक होता है।

शब्दार्थ की प्राप्ति में सबसे प्रमुख कारण क्षयोपशम् रूप शक्ति है, इसी शक्ति के कारण पूर्वा पर उत्पन्न वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है, जिसकी सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ प्रतीति का कारण बनता है। इमी प्रकार वाक्य और पद भी अर्थ प्रतीति में सहायक होते हैं।

जैन दर्शन में कथञ्चित्तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध शब्द और अर्थ का माना गया है, जिससे स्फोटवादी के द्वारा उठायी गयी शंकाओं को यहाँ स्थान ही नहीं। भद्रबाहु स्वामी ने भी शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध की विवेचना करते हुए कहा है——

अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिन्नं अभिन्नं च।
खुर अग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥१॥
विच्छेदो न वि दाहो न पूरणं तेण भिन्नं तु।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि तत्थेव पच्चओ होइ ॥२॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ।—न्यायावतार पृ० १३

शब्द—अभिधान अर्थ—अभिधेय से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। चूंकि छुर, अग्नि और मोदक इनका उच्चारण करने से वक्ता के मुंह और श्रोता के कान नष्ट या जल या भर नहीं जाते हैं, इसलिये तो अर्थ से

शब्द कथञ्चिद्भिन्न है और चूंकि 'मोदक' शब्द से 'मोदक' अर्थ में ही ज्ञान होता है और किसी पदार्थ में नहीं होता, इसलिये अपने अर्थ से शब्द कथञ्चित् भिन्न है।

शब्द के भेद—

शब्द के मूलत दो भेद है—भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकार का है—अक्षर-रूप और अनक्षर रूप। मनुष्यो के व्यवहार में आनेवाली अनेक बोलियाँ अक्षररूप भाषात्मक शब्द है और पशुपक्षियो की टें-टें, मै-मैं अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द है। अभाषा रूप शब्द के दो भेद हैं—प्रायोगिक और स्वाभाविक। जो शब्द पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न होता है उसे प्रायोगिक और जो बिना पुरुष प्रयत्न के मेघादि की गर्जना से होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। प्रायोगिक के चार भेद है—तत, वितत, घन और सुषिर। चमड़े को मढकर ढोल, नगारे आदि का जो शब्द होता है, वह तत है। सितार, पियानो और तानपुरा आदि के शब्द को वितत, घण्टा, झालर आदि के शब्द को घन एव बासुरी, शख आदि के शब्द को सुषिर कहते है।

उपसंहार—

जैन दर्शन मे शब्द को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके बिना प्रमा ही सभव नहीं तथा सर्वज्ञ वचनो की प्रमाणता के अभाव मे आगम भी प्रमाण नही हो सकेगा। शब्द को जैन दार्शनिकों ने आकाश गुण नही माना है, प्रत्युत पौदगलिक सिद्ध किया है। शब्द की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा मानी है। पूज्यपाद ने अपने व्याकरण के आरभ मे—**'सिद्धिरनेकान्तात्'** सूत्र लिखा है, जिसकी वृत्ति लिखते हुए सोमदेव ने बतलाया है—**"सिद्धिः शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात्, अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्वानित्यत्व विशेषणविशेष्याद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धत्वात्** अर्थात् शब्दो की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा ही हो सकती है। अत. प्रत्येक शब्द में नित्यत्व अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, विशेषण, विशेष्यत्व आदि अनेक विरोधी और अविरोधी धर्म पाये जाते हैं। जैन दर्शन शब्द के अर्थ विकास और प्रसार में स्वाभाविक योग्यता को ही कारण मानता है; परन्तु देश, काल आदि के प्रभाव के कारण शब्द के अर्थ मे उत्तरोत्तर विस्तार होता रहता है। विद्यानन्दि स्वामी ने पुद्गल स्कन्ध रूप शब्द की सिद्धि संक्षेप मे निम्न प्रकार की है—

न शब्दः खगुणो बाह्यकरणज्ञान गोचरः। सिद्धो गंधादिवत्सं व सोमूर्तद्रव्यमप्यतः ॥
न स्फोटात्मापि तस्यं व स्वभावस्या प्रतीतितः। शब्दात्मनस्सदा नाना स्वभावस्यावभासनात् ॥
अन्तः प्रकाश रूपस्तु शब्दे स्फोटो परे ध्वनिः। यथार्थं गतिहेतुः स्यत्तथा गंधादितोपरः ॥
गन्धरूप रसस्पर्शः स्फोटः किं नोपगम्यते। तत्राक्षेप समाधान समत्वात्सर्वथार्थतः ॥

अत. जैन दर्शन ने शब्द को आकाश गुण न मानकर पौद्गलिक माना है तथा शब्द और अर्थ का कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध किया है। स्फोट द्वारा अर्थबोध नही होता है, क्योंकि वर्ण, ध्वनि, पद और वाक्य का स्फोट किसी भी दशा में सभव नही।

वेदान्त और जैन-धर्म की कतिपय समानताएँ

श्री टी० के० बी० एन० सुदर्शनाचार्य

दर्शन-शास्त्र क्या है ?—

अपनी मौलिक विशिष्ट दार्शनिकता के फलस्वरूप जैन-प्रणाली की मान्यता 'दर्शन-शास्त्र' नामक भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण प्रणालियों में एक है। इस प्रणाली की सुदीर्घ सीमा के भीतर भारतीय दर्शन के अनेकानेक विचार प्रसारों का समुचित समावेश है।

दर्शन-शास्त्र का साहित्यिक अर्थ विचारों का वैज्ञानिक दृष्टि से पर्यालोचन करना है। दो प्रकार के कर्तव्य निर्देश इसके सूत्रधार हैं—प्रथम कि व्यक्ति को अस्तित्व की विशेष दशाओं और विभिन्न अवस्थाओं की जटिलता के बीच वस्तुतः सच्चे आनन्द की अनुभूति के लिये क्या करना चाहिये और दूसरा कि उन दशाओं की व्यापक सृष्टि से पूर्णतः स्वतंत्र हो जाने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा क्या अनुभव करना चाहिये। कोई भी शास्त्र जो इन दोनों कर्तव्य निर्देशों के सम्बन्ध में वास्तविक मौलिक विचार-धाराओं की स्थापना करता है, 'दर्शन-शास्त्र' कहलाता है। इसी को 'विचार-शास्त्र' या 'मनन-शास्त्र' की भी संज्ञा देते हैं। इस परिभाषा से स्पष्टतः व्यक्त होता जाता है कि अपने अभियानों के क्रम में यह दो विस्तृत विभागों में बँट जाता है—(१) कर्म से संबंधित कर्तव्य-निर्देशों की उचित सिद्धि अर्थात् मनुष्य को अस्तित्व की कुछ विशेष अवस्था में आनन्दानुभूति उपलब्ध करने के लिये किन कार्यों की नियोजना करनी चाहिये और किन की नहीं और (२) वस्तुओं की तात्विक प्रवृत्ति की सत्यता के बारे में कर्तव्यनिर्देशों की उचित सिद्धि, जिसको मनुष्य प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अनुभवगम्य कर सके और उसको दुखों की विकरालता से पूर्णतः मुक्ति मिल जाय और वह शाश्वत आनन्द की विपुलता का अनुभव करे। प्रथम विभाग को 'धर्म-मीमांसा' भी कह सकते हैं। इसका नामकरण 'मोक्ष-दर्शन' भी होता है। पहले को धार्मिक जीवन और दूसरे को आत्मदर्शन या सिर्फ दर्शन के नाम रूप से सम्बोधित किया जायगा।

जैन-दर्शन की महत्ता—

साधारणतया धार्मिक और दार्शनिक अनेकों प्रणालियों की एक लम्बी परम्परा का स्रोत बहता आया है पर वस्तुतः तत्व की झाँकी कुछ ही में मिलती है, जो महत्वपूर्ण है। ये विभिन्न प्रणालियाँ बिना एक दूसरे का पारस्परिक विरोध किये एक ही लक्ष्य की दिशा में भिन्न और क्रमशः कदम उठाती हैं, ऐसा

समझा जाना चाहिए। हमारे महाप्राज्ञ ऋषियों और मुनियों ने जिनको सार्वभौमिक अस्तित्व और प्रकृति की सत्यता के ज्ञान की सूक्ष्मतम अनुभूति तक थी, हमारे लिये अनेकों दर्शन या प्रस्थान की प्रणालियों के रूप में अपने साधनामय जीवन का निष्कर्ष छोड रखा है। इन्ही प्रणालियों की प्रोज्ज्वल सूची के बीच जैन दर्शन ने एक महत्वपूर्ण और प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया है। बाह्य पदार्थों के विवेक एव आत्मानुभूति द्वारा आनन्द की प्राप्ति कराने के कारण जैन दर्शन अन्य दर्शनो मे अग्रगण्य है।

वेदों में आत्मा—

वस्तुत दर्शन शब्द उमी विज्ञान के लिये सार्थक है जो हमको चिर मुक्ति प्राप्त करने में और आत्मा की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान कराने में समर्थ बनावे। दर्शन की प्रत्येक प्रणाली ने इस दर्शन शब्द के सिद्धान्त का उत्थान किया है। उदाहरणार्थ, वृहदारण्यकोपनिषद्[1] कहता है कि आत्मा की निश्चय से अनुभूति करनी चाहिये और याज्ञवल्क सहिता[2] घोषित करती है "ध्यान के द्वारा आत्मा के पर्यवेक्षण में ही विशिष्ट गुण अवस्थित है।" मुण्डकोपनिषद्[3] में हम पाते है कि जब आत्मानुभूति हो जाती है तब हृदय की गाठ खुल जाती है, सभी शकाएँ दूर हो जाती हैं, कर्म शक्तियों का क्षय हो जाता है। इन उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त ने दर्शन शब्द की आत्मानुभूति पर जोर दिया है। जो वेदान्त में दर्शन की प्रक्रिया है वही जैनधर्म मे भी सत्य है। दर्शन शब्द से जैन धर्म जिन गूढ़ विचारो का प्रतिपादन करता है उनका समुचित ज्ञान सुगमता से उपनिषद्-ग्रन्थो और प्रख्यात जैनाचार्यों के अमोघ वचनों की तात्विक विवेचनापूर्ण तुलना से प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषो के साक्षात् अनुभवो के मार्मिक संकलन वैदिक ग्रन्थ मोक्ष उपलब्ध करने के लिए इन तीन स्तरों[4] को अपनाने की अनुमति प्रदान करते है, अर्थात् (१) पवित्र धर्म ग्रन्थों का सुनना (श्रवण)[5] (२) ऐसे धर्मग्रन्थो के विचारो पर विचार (मनन)[6] और (३) आत्मा के आत्मस्वरूप पर स्वतत्रविचार (निदिध्यासन)[7]।

---

१. आत्मा वारे द्रष्टव्यः (वृहद० उप० २, ४–५)

२. अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्। (यज्ञ, संहिता, पुस्तक १ श्लोक ८)

३. भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परापरे॥ (मु०—उप०॥ २–८)

४. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवति,
आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (वृहद०४, ४–५)

५. श्रवणं नाम वेदान्तशास्त्राणि आरम्भ कस्य विद्या प्रतिपादकानीति तस्वर्दशिन आचार्य न्याययुक्तार्थ ग्रहणम्।

६. एवमाचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनं मननम्

७. एतद्विरोधि भेदवासनानिरसनायास्यैवार्थस्यानवरत भावना निदिध्यासनम् (श्री भाष्य १-१-१-पृ०२७)

जैन ग्रन्थ भी इसी के अनुरूप तीन स्तर[1] निर्धारित करते हैं।

वे हैं (१) उचित दृष्टि (सम्यक् दर्शन)[2], जो तीर्थंकरों या अर्हंतों के अडिग एकान्त विश्वास में निहित है। (२) पदार्थ, जैसा है, उसका वैसा ही उचित ज्ञान (सम्यक् ज्ञान),[3] (३) उचित कार्य (सम्यक् चारित्र)[4] जिसको सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के उपरान्त धारण किया जाता है। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके उपयोगों से जीव को विरत कर शुद्धोपयोग आत्मा को लगाने की प्रक्रिया है। सम्यक् दर्शन और अन्य सभी स्पष्टतः निम्नलिखित श्लोक में वर्णित हैं—

तत्वस्याप्त गतिर्ज्ञानं श्रद्धानं तस्य दर्शनम्।
पापारम्भ निवृत्तिस्तु चारित्रं वर्ण्यते जिनैः।।

(धर्मशर्माभ्युदय काव्य, श्लोक २१)

देखिये चन्द्रप्रभ चरित्र श्लोक १८–४ भी और पुरुषार्थसिद्धयुपाय २, २२, ३३, ३, ४०, २२२)
वैदिक ग्रन्थों के अनुसार जीवन की सर्वोत्कृष्ट दशा (परमपद) अहिंसा[5], सत्य भाषण[6], आर्जव[7] आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

बोधायन के विचार—

भगवद् बोधायन महर्षि सर्वश्रेष्ठ दशा प्राप्त करने के लिए निदिध्यासन, ध्रुवनु-स्मृति आदि के द्वारा सात उपायो का सरल मार्ग निर्देश करते हैं:——

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (मोक्षशास्त्र)
एवं सम्यग्दर्शनबोध चारित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति (पुरुषार्थ०– १–२०)

२. येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितः, तेन रूपेणार्हता प्रतिपादिते तत्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् (योग वेद ग्रन्थ,) जैसा कि सर्व दर्शन संग्रह में कहा है।
तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् (तत्वार्थाधिगमसूत्र)
रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेनवा।। (सर्वसंग्रह पृ० ६२)

३—येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेनस्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्।
यथाहुः—— यथावस्थिततत्वानां संक्षेपाद्विस्तरेणवा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः समम्यग्ज्ञानं मनीषिणः।
तज्ज्ञानं पंचविधं मतिश्रुतावधिमनः पर्यायकेवलभेदेन। (सर्वसंग्रह पृ० ६८)

४. संसरण कर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्धानस्य ज्ञानवतः पापागमनकारण क्रियानिवृत्तिः सम्यक् चारित्रम्
सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते (सर्व संग्रह पृ० ६५)

५— मा हिंस्यात्सर्वभूतानि। यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन (बृह उप ६–४–२२)

६— सत्येन लभ्यः (मु० उप, ३–५) सत्यं वद (तैत्ति उप०)

७—शान्त उपासीत (छान्द उप० ३–१४–१) शान्तो दान्तः (बृह उप० ६–४–२३)
तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः (प्र० उप० १–१५–१६) तपसा ब्रह्मचर्येण (प्र० उप० १–१७)

तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रिया कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यस्सम्भवानिर्वचनाच्च । (१) जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात् कायशुद्धिर्विवेक । अत्रनिर्वचनम्—आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्व शुद्धौ ध्रुवानुस्मृतिरिति । (२) विमोकः कामानभिष्वङ्गः । शान्त उपासीतेति निर्वचनम् । (३) आरम्भण-संशीलनं पुन.पुनरभ्यासः । निर्वचनम्-सदातद्भावभावितः । (४) पंचमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया । निर्वचनम—क्रियावानेष ब्रह्मविदा वरिष्ठः । (५) सत्यार्जवदयादानाहिंसाः कल्याणानि । निर्वचनम्-सत्येन लभ्य', तेषामेवैष: विरजो ब्रह्मलोक इत्यादि । (६) देशकाल वैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज दैन्यमभास्वरत्वं मनसाऽवसादः। तद्विपर्ययोऽनवसादः । निर्वचनम—नायमात्मा बलहीनेन लभ्य. । (७) तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः (अति सतोषश्च विरोधीत्यर्थः) निर्वचनम्—शान्तो दांत इति।

जैन-दर्शन में आत्मा—

इसी तरह जैन धर्म के क्षेत्र की भी देन है। उसके अनुसार भी मोक्ष अहिंसा, सत्यभाषण, आर्जव और अन्य लक्षणो के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ये सभी लक्षण निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है:–

अहिंसासूनृतास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा : ।
नयत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसा तं मतम् ।
प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि योऽतथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ।
अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रत मुच्यते ।
बाह्याः प्राणा नृणामर्थो हरता तं हिताहिते
दिव्यौदरिककामानां कृतानुमतकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम् ।
सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदसत्स्वपि जायेत मर्च्छया चित्तविप्लवः ।
भावनाभिर्भावितानि पंच भि: पंचधा क्रमात् ।
महा तानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम् ।

(जैन आगम, जैसा कि सर्वसंग्रह में है पृ० ६३)

तुलनात्मक विवेचन—

वैदिक ग्रन्थ और जैन ग्रन्थ कहते हैं कि आत्मा चेतन, कर्ता और उपभोक्ता है। निम्नलिखित उपनिषद के उद्धरण है, जिनमें आत्मा के स्वरूप का अच्छा सारगर्भित उल्लेख है——

एषहि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्र० उप० ४–९)
अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रम्यते (छान० उप० ८–१२–४–५)

यही तथ्य दिखलाने के लिए जैन ग्रन्थो से भी उद्धरण उद्धृत किया जा सकता है:——
चेतना लक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम्। (चन्द्रप्रभ चरित्र, श्लोक १८–४)

फिर हम निम्नलिखित श्लोक से जैन मान्यता के आधार पर आत्मा के गुणो का सुविस्तृत विवरण प्राप्त कर सकते हैं:——

अमूर्तश्चेतनाचिह्नः कर्ता भोक्ता तनुप्रभः।
ऊर्ध्वगामी स्मृतो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।। (धर्मशर्माभ्युदय, श्लोक २१)
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।
परिणममाणो नित्यं ज्ञान विवर्तैरनादि सन्तत्या।
परिणामानाः स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च। (पुरुषार्थ सिद्धियुपाय, १–१०)

अन्तिम मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद जैन ग्रन्थो में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है:—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।

तात्पर्य यह है कि आत्मा नित्य, निर्लिप्त, स्वभावतः शुद्ध, अव्याबाधित, विशद परपद में स्थित और केवल ज्ञान रूप है। पर्याय की अपेक्षा से आत्मा की ससारावस्था सभव है। द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा सदा शुद्ध है।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा।
परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सर्वव।।

अभिप्राय यह है कि आत्मा कृतकृत्य, परमात्मा स्वरूप, समस्त प्रकार के कालुष्य से रहित, परमानन्द रूप, ज्ञानमयी और ज्ञाता-द्रष्टा है।

मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते हुए वैदिक ग्रन्थ कहते हैं—"आत्मा गुणो और अवगुणों के बन्धन से मुक्त हो सर्वोच्च पद पर चली जाती है।[1]" इसी तरह जैन ग्रन्थ भी अंतिम मुक्ति के विचार को लिपिबद्ध करते हैं—"ऊपर चला जाना"। यथा:——

---

१. अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवामि (छान० उप० ४–१–८१)

स एतं देवयानं पन्थानमापद्य अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं, स वरुण लोकं स आदित्यलोकं, स इन्द्र लोकं, सप्रजा पतिलोकं, स ब्रह्मलोकं।

निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स मोक्षः कथ्यते जिनैः।
ज्वालाकलापवद्दह्ले ऊर्ध्वमेरण्ड बीजवत्।
ततः स्वभावतो याति जीवः प्रक्षीणबन्धनः।
लोकाग्रं प्राप्य तत्रैव स्थितिं बध्नाति शाश्वतीम्।
ऊर्ध्वं धर्मास्तिकायस्य विप्रयोगान्न यात्यसौ।
तत्रानन्तमसम्प्राप्तमव्याबाधमसन्निभम्।

प्राग्देहात् किञ्चिदूनोऽसौ सुखं प्राप्नोति शाश्वतम् ।
(धर्मशर्माभ्युदय, श्लोक २१)

जैन-दर्शन में सप्तभंगी-न्याय—

जैन धर्म के आध्यात्मिक पक्ष के सम्बन्ध में जैन धर्म के दर्शन में सप्तभंगी न्याय एक प्रमुख स्थान रखता है।

वस्तु के सत्य या तथ्य का निरूपण करने के लिए जैनाचार्यों ने सप्तभंगी न्याय का प्रयोग किया है। यह पद्धति आत्मा या अन्य किसी पदार्थ के सत्य का दर्शन कराने में पूर्ण समर्थ है। वस्तु अनेक धर्मात्मक हैं, उसके विभिन्न गुण और धर्मों का विवेचन एक दृष्टि से सम्भव नहीं। अतः इस न्याय द्वारा आत्मा का वास्तविक बोध करना चाहिये।

सप्तभंगी न्याय विचार करने की एक प्रणाली है। इसके सात भंग हैं। यथा:—

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगस्स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते।
क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगस्समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः।
आद्यावाच्य विवक्षायां पंचमो भंग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठ भंग समुद्भवः।
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भंग उच्यते।
घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि घटो यतः।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात्सदसत्त्वयोः।
अनेकान्तात्मक वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।

(१) स्यादस्ति—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावापेक्ष या वस्तु कथञ्चित् रूप से अस्ति रूप है। जिस समय हम इस दृष्टि से वस्तु का अवलोकन करते हैं, उस समय हमारी दृष्टि अन्य धर्मों को गौण रूप से ग्रहण करती

है और उपर्युक्त धर्म की प्रधानता हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब हम आत्मा को वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से देखते हैं तो यह हमें कर्मबद्ध संसारी दिखलाई पड़ती है। इसके गुणों का कर्म के आवरण के कारण तिरोधान पाया जाता है। अत आत्मा अस्ति—कर्मबद्ध चतुर्गति स्थिति की अपेक्षा से।

(२) स्यान्नास्ति—परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जब कथन करते है तो यह दूसरा भग बनता है। अर्थात् जो आत्मा मनुष्य गति में है, वही आत्मा उसी समय नरक गति में नही है। अत. इस दृष्टि से हम कह सकते हे कि नरक गति की अपेक्षा से आत्मा नही है या जड़ पदार्थों की अपेक्षा आत्मा जड़ नही है।

(३) स्यादस्ति स्यान्नास्ति—यह तीसरा भग क्रमशः प्रथम और द्वितीय भंग को मिला देने पर बनता है। अर्थात् कथञ्चित् अस्ति-नास्ति है। जैसे ऊपर के उदाहरण में बताया गया है कि आत्मा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से मनुष्य गति में है और परद्रव्य क्षेत्रादि की अपेक्षा नरक गति में नही है अत. यहाँ आत्मा मनुष्य गति में है और नरक गति में नहीं है, यह तीसरा भग बना।

(४) स्यादवक्तव्य—जब प्रथम और द्वितीय भंग को एक साथ कहा जाता है, उस समय एक ही काल में उभय धर्म के निरूपण की शक्ति न होने के कारण वस्तु अवक्तव्य मानी जाती है। ऊपर के उदाहरण में यदि आत्मा की मनुष्य गति और नरक गति का एक साथ निरूपण करे तो कभी नही कर सकते है। क्योकि अस्ति-नास्ति का कथन क्रमशः ही होता है युगपत् नही; अतः चतुर्थ भंग बनता है।

इस चतुर्थ भंग को पहले, दूसरे और तीसरे के साथ मिलाने से पंचम, षष्ठ और सप्तम भग बनते हैं।

(५) स्यादस्ति-अवक्तव्य—अस्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाने से।

(६) स्यान्नास्तिम्-अवक्तव्य— नास्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाने से।

(७) स्यादस्ति-नास्ति-अवक्त— अस्ति-नास्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाने से।

स्यात्[1] उत्तम पुरुष है। यहाँ यह क्रियाविशेषण के रूप मे व्यवहृत है। जिसका अर्थ है—"अंशत· या एक निश्चित अर्थ में—

(१) प्रथम कथन में एक वस्तु का अस्तित्व विचार के अन्तर्गत लिया जाता है। (२) दूसरे में, एक वस्तु का असत् रूप विचारा जाता है। (३) तीसरे में, सत् और असत् दोनों क्रम रूप में विचारे जाते है।

१. वाक्येष्वनेकान्तद्योति गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तिङन्तप्रतिरूपकः॥ (सर्व संग्रह पृ० ६३)

तदुक्तम्:—

स्याच्छब्दादप्यनेकान्त सामान्यस्यावबोधने।
शब्दान्तर प्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये॥इति (सप्त तरंगिणी पृ० १६)

(४) कथन कहने की चौथी प्रणाली में जो विचारा जाता है वह है अवक्तव्यता क्योंकि उसी क्षण वस्तु क्या है और क्या नहीं है इसका विचार युगपत् किया गया है। (५) पाँचवें तरीके में, एक की अवक्तव्यता के निश्चित वाक्य के साथ उसी क्षण वस्तु क्या है और वस्तु क्या नही है। तो भी यह क्या है यह विचार के अन्तर्गत आता है। (६) छठे में एक की अवक्तव्यता और उस क्षण वे गुण जो उसमें वर्तमान है कि निश्चित वाक्य के साथ वे गुण जो हिस्से से अनुपस्थित हैं विचार के अन्तर्गत लिये जाते हैं। (७) सातवें में, एककी अवक्तव्यता और उसी क्षण वस्तु में वे गुण जो रहते हैं और वे जो नही रहते के निश्चित वाक्य के साथ वस्तु में उपस्थित और अनुपस्थित गुण एक के बाद दूसरे क्रम से विचारे जाते हैं।

सप्तभंगी का यह सिद्धान्त वैदिक ग्रन्थों के भी कतिपय सिद्धान्तों से बहुत कुछ समानता रखता है।

वेद में सप्तभंगी का स्वरूप—

वैदिक और उपनिषद् ग्रन्थों में हम निम्नलिखित रूप से पाते हैं—"तब[1] न सत् था और न असत्"। "तब[2] न मृत्यु थी न अमरता"। "उसके अतिरिक्त कुछ नही था।"[3] "कौन[4] जान सकता है और कौन घोषित कर सकता है कि यह कब आया है। और इस विचित्र सृष्टि का साधन क्या है।" "इस ईश्वरीय एक को न कोई कार्य है न स्फूर्ति[5]।" "उसकी बुद्धि, शक्ति और स्फूर्ति स्वाभाविक है।" "वह[6] एक सत्ता सभी गुणो से पृथक् है। इसका कोई प्रारम्भ और अन्त नही है, और शाश्वत रूप से श्रेष्ठ और स्थायी है, उसको जानकर कोई भी मृत्यु से मुक्त हो जाता है।" "उसका वर्णन करने में शब्द असमर्थ हैं और उससे मुड़ जाते हैं।[7] मन भी उस तक नही पहुँच सकता।" वह आत्मा का वर्णन करता है— नही, नही[8]। वेद के ये वाक्य सप्तभगी न्याय से बिलकुल मिलते-जुलते हैं।

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (ऋग० १०-१२६-१)
२. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि (ऋग० १०-१२६-२)
३. न तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।
४. को 'अत्धा' वेद क इह प्रवोचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टि (ऋग० १०-१२६-६)
५. एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च। (श्वे० उप० ६-११)
६. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥
७. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (तै० Ar. ६, ३१)
८. स एष नेति नेति आत्मा (Br. Ar. UP. ६-५-१५)

निरीश्वरवाद और जैन-धर्म

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

भारत में दर्शन-स्रोत—

हम कुछ ऐसा काम करने का प्रयास कर रहे हैं जिसे हम पूरा कर ही नहीं सकते। भारतीय आर्य संस्कृति में "अथातो धर्म जिज्ञासा" के कारण जितने धर्म या दर्शन पल्लवित तथा विकसित हुए हैं उनमें कौन धर्म तथा दर्शन कितना प्राचीन तथा कितना तत्वयुक्त है. यह कहना या समझाना किसी ज्ञानी और महा-पुरुष का ही काम है। भारतीय दर्शन के एक साधारण विद्यार्थी के नाते हम केवल थोड़ा बहुत जानने या समझने का प्रयासमात्र कर रहे हैं।

जब हम भारतकी इस महान् भूमि पर विकसित भिन्न दर्शनों की तालिका बनाने बैठते हैं तो हमें बुन्देलखंड के दतिया-स्थित पीताम्बरापीठ के श्री स्वामी जी महाराज द्वारा प्रस्तुत यह सूची कुछ साधिकार प्रतीत होती है। उसके अनुसार हमारे अध्ययन के लिए नीचे लिखे दर्शन हैं—

१. जैन दर्शन २. बौद्ध दर्शन ३. चार्वाक दर्शन ४. वैशेषिक दर्शन ५ न्याय दर्शन ६. सांख्य दर्शन ७. योग दर्शन ८. वैष्णव दर्शन ९. शैव दशन १०. शाक्त दर्शन ११ व्याकरण दर्शन १२ मीमांसा दर्शन १३. वेदान्त दर्शन।

"दुर्गा सप्तशती" के १३ अध्यायों की तरह हमारे ज्ञान की सम्पूर्णता के लिए ये १३ अध्याय एक नहीं अनेक जीवन के लिए अध्ययन की सामग्री है। यदि हम इनका कोई भी पहलू जान लेना चाहे तो बुद्धि चक्कर में आ जाती है। ऐसा ज्ञान संस्कार से ही प्राप्त होता होगा—कोरे अध्ययन से नहीं। यहां पर यानी इस लेख में हम केवल निरीश्वरवाद पर कुछ थोड़ा-सा सोचना चाहते हैं। क्योंकि हमारी सम्मति में जैन धर्म संसार का सबसे बड़ा निरीश्वरवादी धर्म है।

क्या ईश्वर है ?—

बड़ा टेढ़ा प्रश्न है कि ईश्वर नाम की कोई चीज है भी या नहीं। वैदिक धर्म भी इसका सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सका है। किसी ने उसे देखा नहीं। किसी ने निश्चित रूप से कहा नहीं कि वह किस प्रकार का है।

नाक, कान, आँखवाला है या निराकार है। उसके अनेक प्रकार के वर्णन के बाद भी फैसला न हो सका। केनोपनिषद् ने प्रश्न वाचक चिह्न से अपना काम शुरू किया और अन्त भी प्रश्न वाचक चिह्न में ही हुआ। शास्त्रों ने "है भी और नहीं भी है"—या "ऐसा है और ऐसा नहीं भी है" Neither this nor that कह कर पीछा छुड़ाया। जब जिज्ञासु प्रश्नों की झड़ी लगा देता है तो हम या हमारे शास्त्र यह कहकर छुट्टी पा जाते हैं कि "ईश्वर का बोध निजी अनुभव की बात है। वह तर्क से नहीं, अनुभव से सिद्ध होता है।" शास्त्र कह देता है कि— "ईश्वरः प्रणिधानाद्वा"

पर, मानव तर्क से ही काम करना चाहते हैं। इस युग में वैदिक धर्म के सबसे बड़े प्रचारक या निरूपक शंकराचार्य भी हुए हैं। वे भी यह कहीं नहीं लिख गये कि ईश्वर से उनका साक्षात्कार हुआ। गायत्री मंत्र जपते समय हम जिस प्रकाश पुञ्ज का आवाहन करते हैं, वह यदि प्रकाश पुञ्ज है तो यह भी उसका एक गुण हुआ। ईश्वर गुण-अवगुण से परे है। तम और प्रकाश की सत्ता ही उसमें समाप्त हो जाती है या हो जानी चाहिये। उस भगवान के लिए हमको कैसे जानकारी हो? शास्त्र में भगवान की व्याख्या की है —

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य
भूतानामगतिम् गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्या च
स वाच्यो भगवानिति॥

यानी जो समूचे ऐश्वर्य का आगार हो, विद्या और अविद्या को जानता हो, प्राणियों की गति और अगति को जानता हो — वही भगवान है।

क्या ऐसा प्राणी हमारे बीच में नहीं आ सकता। यदि हाँ तो वह कभी आया है—यदि नहीं तो क्यों?

ऐसी शंकाओं का उत्तर देने का हमारे शास्त्रों ने प्रयास किया है और बड़ी सुन्दरता से बड़े व्यापक उत्तर दिये गये हैं। इस समूचे ब्रह्माण्ड का एक केन्द्र, एक सहारा, एक उद्गम, एक सूत्र तथा एक आश्रय मानना ही होगा। अन्यथा समची रचना का कोई आधार नहीं समझ में आवेगा और कारण, अकारण को सोचते-पोचते जन्म-जन्मान्तर बीत जायगें। एक—वाद ही वैदिक धर्म का सार तत्व है। सब कुछ एक ही स्रोत से प्रवाहित माना गया है।

वह केन्द्र, वह सर्वव्यापी ही परमात्मा है। ईश्वर है। वह सर्वगुण-सम्पन्न तथा निर्गुण भी है। ऐसे दुरंगी ईश्वर की व्याख्या बड़े सुन्दर शब्दों में श्वेताश्वेतोपनिषद् ने इस प्रकार की है :—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ —श्वेता० ६।११

यह साक्षी चेता परमात्मा ही सृष्टि के आदि में था और रहेगा। इसी सर्व-साक्षी भगवान को अद्वैत सिद्धान्तका आधार तथा मूल माना गया है। ऋग्वेद का नासदीय सूत्र ही वेदान्त की भित्ति है।

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानी
नासीद् रजानें व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद्गहनं गंभीरम्।।"

मनु भगवान ने भी अपनी स्मृति के पहले ही अध्याय के पांचवें श्लोक में लिखा है:—

आसीदिदं तमोभूत,
मज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं
प्रसुप्तमिव सर्वत.।।

अस्तु, तात्पर्य यह कि सृष्टि की प्रथमावस्था में सत् असत् दोनों का अभाव था। प्रकृति ब्रह्म में स्वरूप स्थित थी। अन्तरिक्ष भी नही था। ऐसी अवस्था में किसने किसको आवृत किया, किस स्थान पर किया किसके उपभोग के लिए किया। मनु कहते हैं कि सृष्टि की प्रथमावस्था अंधकार के सदृश थी। अज्ञात, तर्क लक्षण एवं बुद्धि से रहित प्रगाढ निद्रा में थी। उस समय कौन था जो सब कुछ देख रहा था और करनेवाला था—— वह था— वही "एको भूत', साक्षी चेता परमात्मा।"

वैदिक सिद्धान्त इस प्रकार ईश्वर की सत्ता तथा व्यापकता का ज्ञान कराता है। किन्तु, क्या इतना पर्याप्त है?

चार्वाक का मत—

सोचने विचारने की परेशानी को चार्वाक मत दूर कर देता है। वह सब काम हल्का कर देता है। इस मत के प्रवर्तक स्वय बृहस्पति कहे जाते हैं। इसका निचोड़ है कि ईश्वर नाम का कोई तत्व नही है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। चारों तत्वों के भीतर, स्वभाव नामक नियामक वस्तु से ही ससार चलता है। आग का काम है गर्म करना और शीत से ठण्ढक होती है।

"अग्निरुष्णो जलं शीत
शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्
स्वभावात्र स्वव्यवस्थितः।।"

इस मत के अनुसार देह का क्षय यानी नाश हो जाना ही मोक्ष है। विषय इन्द्रिय के संयोग से जो सुख प्राप्त होता है, उसको भोगना चाहिये।

चार्वाक मत ने सब कुछ इस जगत के व्यवहार में मान लिया और दृष्टि से परे की कोई सत्ता मानना अस्वीकार कर दिया। पर, इससे जिज्ञासु का मन नही भरा। जो सामने है, वही सब कुछ है, यह कैसे मान लिया जाय। परोक्ष में कही कुछ भी नही है— ऐसा छिछला विचार दिमाग में घर नही कर सकता।

विदेशी अनीश्वरवाद—

विदेशी अनीश्वरवाद भी चार्वाक इतना छिछला न रहा। पर, जिसे हम अंग्रेजी में Atheist कहते हैं तथा जिसके मत को Atheism कहते हैं, वह एक नैतिक प्रतिक्रिया मात्र थी। धार्मिक यानी आध्यात्मिक प्रतिपादन नही था। अरिस्तू ने जिसको "अविचल प्रवर्त्तक" unmoved mover कहा था, ईसाई धर्म जिसे "अमर सत्, स्वयम्भु सर्वज्ञानी, आदि" माना था, दाँते जिसके विषय में अपने "पैराडिजो" (Paradiso) में लिख गये थे उसे ही पश्चिमी धर्म गुरुओं ने सब नैतिकता का आधार घोषित कर दिया था।" जो धर्म है, वही नैतिकता है। नैतिकता धर्म का अग है। फेयरबाश (Feuerbach) आदि ने इसी "नैतिकता के स्रोत" को अस्वीकार कर दिया। हीगल (Hegel) जैसे पण्डितों ने मानवी सदाचार को दैवी वस्तु मानकर सासारिक पदार्थ घोषित कर दिया। विदेशी नास्तिकों के मत का निचोड़ है :—

१. आदर तथा उपासना के लिये कोई महान् शक्ति नही है।
२. सर्व-व्यापी तथा सर्वज्ञ नामक कोई नही है।
३. ऐसा कोई सत्व या तत्व नही है जिसके भीतर "सब कुछ" समा सकता हो।
४. केवल सत्य ही सब कुछ है।

यह सत्य क्या है! सत्य नामक कौन-सी चीज है। विदेशी नास्तिक "समाज" को, समाज के अङ्ग व्यक्ति को ही आदर का पात्र मानते हैं। पर, समाज का अन्त, चाहे वह कितना ही आदर्श रूप क्यों न ग्रहण करले, क्या होना चाहिए? व्यक्ति का सब कुछ क्या केवल इस संसार तक ही है— उसके बाद क्या होता है? यह सब विदेशी नास्तिक नही सोच सके। इसलिये उनका विचार शुद्ध भौतिक तथा सांसारिक रहा। इसी से उनके विचारो का कोई दार्शनिक महत्व न हो सका।

शून्यवाद—

निरीश्वरवादी—एक प्रकार से हमारे नैयायिक भी कहे जा सकते है। पर, यहाँ पर हम मीमांसा तथा न्याय दर्शन पर विचार नही कर सकेंगे। विषय की गूढ़ता बढ़ जायगी और हमारे सम्हाले नही सम्हल सकेगी। ईश्वर की सत्ता अस्वीकार करनेवालों में बौद्ध धर्म बडा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पर, इसका आधार ही शून्यवाद है। आरम्भ में शून्य था और अन्त में शून्य रहेगा। भगवान बुद्ध को तपस्या से जिस "अभिधम्म" का बोध हुआ था, जिसका "विनय पिटक" में वर्णन है तथा खुद्दक निकाय के उदान नामक ग्रन्थ में बोधिसुत के

प्रथम तीन सुत्तों में "एवं में सुत्त"— में जिसका वर्णन है, उसकी विवेचना करने का यह स्थान नहीं है। पर उसका निचोड़ शून्य है। बीज से अंकुर, अंकुर से वृक्ष के अवयव उत्पन्न होते हैं। यदि बीज समाप्त हो जाय तो वृक्ष की सत्ता ही न होगी। इसी प्रकार इस जीव या आत्मा का हाल है। क्षिति, जल, तेज, वायु तथा आकाश और विज्ञान धातु से शरीर बनता है। इन धातु के समवाय से पिण्ड सज्ञा, नित्य सज्ञा, सुख संज्ञा, सत्य सज्ञा, पुद्‌गल संज्ञा—अहंकार, ममकार संज्ञाएँ होती हैं। यही अविद्या है। अनर्थ का कारण है। ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश होते ही जीव पञ्च तत्वो के पाश से मुक्त हो जाता है और तभी उसका निर्वाण होता है। बौद्ध धर्म में जीव का "मोक्ष" नही होता। मोक्ष से अर्थ होगा "छुटकारा"—यानी छूट कर फिर भी रह जाना।" "निर्वाण" से अर्थ हुआ "बुझ जाना"—सदा के लिए समाप्त हो जाना। दीपक बुझ गया। बस, उस जीव का सदा के लिए अन्त हो गया।

किन्तु, शून्य का जब शून्य ही उद्देश्य है तो इतना चक्कर क्यो ! यदि निर्वाण के बाद कहीं कुछ न रहा तो उसका परिणाम क्या हुआ ? उद्देश्य यदि शून्य मान लिया जाय तो अविद्या की प्रधानता माननी पडेगी। विद्या होते ही निर्वाण हो जाता है। विद्या का अर्थ भी शून्य हो जायगा।

इतने सस्ते में हम महान् बौद्धधर्म को नहीं समझ सकते—पर हम तो केवल ईश्वर की पहेली ही लेकर चले है। उसके लिए इतना इशारा कर देना ही काफी होगा।

जैन-धर्म का तत्व—

जैनियों का निरीश्वरवाद इतना उदार तथा व्यापक है कि हमारे जैसे अ-जैनी तथा ईश्वरवादी के लिये वह ईश्वरवाद ही है—कई दृष्टियो से उससे ऊपर उठ जाता है। वेदान्त यदि एकवाद है; सब जीव या आत्मा को एक परब्रह्म का अंश मानता है तो जैन धर्म अनेकान्तवाद है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव भिन्न भिन्न है। असख्य जीव है और ईश्वर जो व्याख्या हम "सर्व गुण सम्पन्न, सर्व व्यापक. सर्वज्ञानी, परमानन्द" के रूप में करते है, जैन मत से ऐसे असख्य ईश्वर है। जैन धर्म के अनुसार जीव छ प्रकार के होते है। एक दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियवाले तथा मन सहित पाँच इन्द्रियवाले। जिसमें चेतना हो, देखता, सुनता, और जानता हो, उसे जीव कहते हैं। एक इन्द्रिय वृक्ष लता आदि। दो इन्द्रिय शख, कौड़ी आदि। तीन इन्द्रिय चींटी, खटमल आदि। चार इन्द्रिय भ्रमर, मक्खी आदि। पाँच इन्द्रिय समुद्र के कुछ प्राणी तथा मन सहित पंच इन्द्रिय हुई मनुष्य आदि।

जिनमें चेतन गुण नहीं है, वह अजीव तत्व कहलाता है। यह पाँच प्रकार का होता है। पुद्‌गल, धर्मास्ति काय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध हो, उसे पुद्‌गल कहते हैं। गमन करना धर्म का, स्थिर करना अधर्म का, अवकाश देना आकाश का तथा परिवर्तन काल का गुण है। काल असंख्य है। जीव और पुद्‌गल अनन्त हैं। अनन्त काल से चले आये हैं। जीव और पुद्‌गल में ही हलन-चलन क्रिया होती रहती है।

जीव पुद्‌गल के संसर्ग से पाप-पुण्य का भागी होता है। कोई दूसरा इसे फल या दण्ड या उपहार नहीं देता। वह स्वयं अपने कर्म का फल भोगता है। इस जीव की दो अवस्थाएँ हैं—व्यवहार नय और निश्चय नय।

जो जीव व्यवहार नय में पड़ा रहता है, वही राग, द्वेष, मोह आदि से पीड़ित कष्ट उठाया करता है और पैदा होता और मरता रहता है। जो जीव निश्चय नय को प्राप्त कर लेता है, वही वीतराग होता है। बिना किसी देवी देवता के सहारे, केवल अपने बल से, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर जीव "जिन" हो जाता है। यही जिन पूजनीय होता है। इसी "जिन" द्वारा कहा गया धर्म जैन धर्म कहलाता है। स्वभाव से जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त परमानन्दी तथा शान्त है। राग-द्वेष को पार कर वह मोक्ष प्राप्त करता है—संसार से छुटकारा पाकर परमानन्द तथा सर्वज्ञता के अपने स्वभाव को प्राप्त करता है।

"शुद्ध सचयेरम बुद्ध
जिण केवल णापा सहाउ"

परमात्मा की जो व्याख्या हम करते हैं, वही उस जीव को प्राप्त होती है। बंधन के कारण के समाप्त होने से और निर्जरा (आत्मा से कर्म फल झड़ जाना) से समस्त कर्म फल छट जाते हैं और जीव का मोक्ष होता है। तत्वसार में लिखा है:—

अभावाद् बधहेतूना
संवर निर्जरा तथा।
कृत्स्नकर्म प्रमोक्षो हि
मोक्षमित्यभिधीयते ॥

यहां पर हम जैन धर्म के स्याद्वाद या सप्त भंगी नय का विवेचन नहीं करेंगे। हमने बहुत ही संक्षेप में उसके निरीश्वरवाद का वर्णन किया है। हमारे एसे ईश्वरवादी—साथ ही अद्वैतवादी के लिये इसमें अनेक दोष दोख पड़ें; पर.इस निरीश्वरवाद में सब कुछ इतना सुन्दर है कि हमको कोई शिकायत न होनी चाहिये। जीव की ऐसी व्याख्या से हमारा परमात्मा ऐसी राग-द्वेष भरी सृष्टि को बनाने की जिम्मेदारी से बच गया। सृष्टि का उद्देश्य हरेक जीव को "जिन" बना देना हो गया। निर्वाण से "शून्य" का आभास समाप्त हो गया और पश्चिमीय नास्तिकों की तरह हम भौतिक सुख के बंधन में हो नहीं पड़े रहे। जैनी निरीश्वरवाद इतना तर्कपूर्ण है कि उसका सहसा खण्डन करना कठिन है और ईश्वर भक्त के लिए जैनी "वीतराग" मूर्त्तिमान् मिलते हैं।

परम विद्वान् जैनी श्री हेमचन्द्राचार्य ने ईश्वर तत्त्व की एकता को बड़ी उदारता से जैसे अपना भी लिया और हमको उसे न भूलना चाहिये। वे कहते हैं:—

"भव बीजांकुर जनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सो सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।"

जैनाचार

पं० श्री हेमचन्द्र कौंदेय शास्त्री, न्याय-काव्यतीर्थ, प्रभाकर

जैन-धर्म की महत्ता—

जैनधर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक महान् धर्म है। इसकी प्राचीनता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसके सभी नियम-उपनियम प्रकृति से अपना गठबंधन किये हुए हैं—क्या तो दार्शनिक प्रणाली और क्या व्यावहारिक आचार व्यवस्था। दार्शनिक दृष्टि से जब हम विचार करते है तो जैनधर्म में वस्तु का स्वभाव ही धर्म कहा गया है "वत्थुसहावोधम्मो" ऐसा ही श्री कुन्दकुन्द भगवान् का वचन है। वह वस्तु-स्वभाव क्या है तथा उसका क्या धर्म है इस प्रश्न का उत्तर जैनाचार्यों ने स्पष्ट दिया है "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्" तथा 'सद्द्रव्यलक्षणं' अर्थात् संसार में कोई भी जड़ या चेतन द्रव्य ऐसा नही है जिसमें उसकी उत्पत्ति, विनाश और ध्रुव अवस्था न पाई जाती हो। षड्द्रव्यो में जीव द्रव्य चेतन है और बाकी के पाँच द्रव्य अचेतन हैं। इन छहों ही द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सदा से होते आये है, वर्तमान में हो रहे हैं और सदा काल होते रहेंगे। यही द्रव्य का द्रव्यत्व है और उसका त्रिकालवर्ती स्वभाव में स्थिर रहना है, यही उसका धर्म है। जीव द्रव्य ही को ले लीजिये। जीव का स्वभाव ज्ञान है। यह आत्मा से त्रिकाल में विमुक्त नही होता। चाहे जीव एक लघु कीट के रूप में हो अथवा एक मनुष्य के रूप मे उसका ज्ञानस्वभाव उससे कदापि विमुक्त नही होता! जैन शास्त्रों के अनुसार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव में भी अक्षर के अनन्त वें भाग ज्ञान विद्यमान है। इनके बीच ज्ञान के अनन्त भेद होते हैं परन्तु इन सभी ज्ञानों के अधिकारी जीव ही हैं। अजीव कदापि नही। अजीव द्रव्य का जड़ स्वभाव है। इन अजीव द्रव्यों में अनन्त काल से न तो ज्ञान का सम्बन्ध हुआ और न त्रिकाल में भी कभी ज्ञान का सम्बन्ध होनेवाला है। उनका जड स्वभाव कभी भी उनसे विमुक्त नही हो सकता है। अतः यह सिद्ध होता है कि वस्तु स्वभाव का परिवर्तन करना असंभव है और यह वस्तु स्वभाव ही धर्म है तथा वह अनादि अनन्त है। जैन आचार्यों ने इसी वस्तु स्वभाव रूप धर्म का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न दृष्टि से किया है और यह अबतक षड्दर्शन के दार्शनिक विद्वानों के लिए तर्क की कसौटी बना हुआ है।

तीर्थंकरों का आचार-निरूपण—

जैन धर्म में काल परिवर्तन से प्रति युग में २४ तीर्थंकरों की उत्पत्ति नियम से होती है। ये सभी तीर्थंकर जैन धर्म के संस्थापक न होकर केवल प्रसारक ही माने जाते हैं। इन्हें आचार्य, विद्वान् या परम्परागत शिष्यों

की तरह प्रवर्तक कहना ही उपयुक्त होगा, क्योंकि इनके द्वारा किसी नवीन मार्ग या धर्म का प्रतिपादन नहीं होता अपितु युगों से चले आये वस्तु-स्वरूप रूपधर्म की वास्तविकता का उद्धार करना ही इनका कर्तव्य होता है। इन तीर्थंकरों का यह वैशिष्ट्य होता है कि ये वीतरागी अर्थात् हठवाद, पक्षपातवाद और एकान्तवाद से सर्वथा रहित होते हैं। वीतरागी के प्रचारेच्छा, गुरुत्वभाव, मतावलम्बी वृद्धि या अन्य कोई संघ निर्माणादि की अभिलाषा नहीं रहती है, अतः उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वभाव रूप धर्म के प्रतिपादन में किसी को भी सन्देह या भ्रम नहीं होता। "वक्तुः प्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यं" और "वचन प्रामाण्याद्वक्तुः प्रामाण्यं" ये दोनों ही न्याय पूर्ण रूप से परिलक्षित हो जाते हैं। इसी वस्तुस्वभाव की जीत को प्राप्त करना-कराना जैनधर्म प्रवर्तकों का मुख्य लक्ष्य रहा है और इस आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए जिन व्यावहारिक उपायों को साधकों को काम में लाना पड़ा वे ही उपाय आत्मधर्म, जैनधर्म अथवा वीतराग-धर्म नाम से कहे जाते हैं। अथवा विभाव-स्थित आत्मा को स्वभाव-स्थित करनेवाले उपायों का नाम ही धर्म है और वह क्योंकि अन्तरंग, बहिरंग शत्रुओं के विजेता 'जिन' द्वारा प्रवर्तित हुआ अतः इसका नाम जैन धर्म है। संसार स्थित सभी आत्माएँ विभाव-स्थित हैं और वे अनन्त काल से विभाव को त्याग आत्मस्वरूप प्राप्त करती आई हैं अतः यह सिद्ध हो जाता है कि जब से आत्मा विभाव को छोड़कर स्वभाव में स्थित होने का उपाय करती आयी है वह उपाय भी तभी से चला आया है। क्योंकि परमात्मा अनादि से है अतः उस पद की प्राप्ति करानेवाला धर्म भी अनादि–है यह आगम और युक्ति से स्वयं सिद्ध है।

जैनधर्म के भिन्न-भिन्न युगों में उत्पन्न तीर्थंकरों के जीवन में एक और विशिष्टता है कि कोई भी तीर्थंकर परम्परागत ज्ञान या क्रिया का तबतक प्रतिपादन नहीं करते जबतक वे उस कार्य पर स्वयं आरूढ़ होकर उसमें परिपूर्ण नहीं हो जाते। छद्मस्थ ज्ञानी को धर्मोपदेशना का स्वतन्त्र अधिकार जैन शासन में नहीं है। अपूर्ण ज्ञानावस्था में तीर्थंकर मौन ही रहते हैं चाहे उन्हें कैवल्य प्राप्ति में सैकड़ो वर्ष लग जायें। कैवल्य प्राप्ति के उपरान्त ही उनकी दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश होता है और उसका ही अवलंबन कर साधक मोक्षमार्ग का अनुसरण करता है। बिना साधना के कोई साधक लक्ष्य सिद्ध नहीं कर सकता है। जैन तीर्थंकर साधना के सच्चे प्रतीक हैं और उनकी साधना में उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्श एवं सिद्धान्तों का पूर्णतः सामंजस्य पाया जाता है। आदर्शानुकूल सिद्धान्त और सिद्धान्तानुकूल आदर्श का होना जैनधर्म अथवा जैन तीर्थंकरों का अन्यत्र अप्राप्य सामजस्य है। कर्तृत्ववाद अथवा परकृत अनुग्रह, लभालाभ को यहाँ कोई स्थान नहीं है। स्वयं का पुरुषार्थ ही उद्देश्य प्राप्ति का मूल है। जैनधर्म में स्वभाव या धर्म की प्राप्ति माँगने से न होकर व्यक्तिगत पुरुषार्थ से ही होती है। और यही जीव द्वारा कृत पुरुषार्थ मोक्षमार्ग या जैनधर्म कहलाता है। मुक्ति-कामिनी के वरण रूप महान लक्ष्य की प्राप्ति होने पर यह आत्मा कृतकृत्य, शुद्ध, परमात्मा, सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है और उसे विभावरहित स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है।

जैन-धर्म में आचार का स्थान––

जैनधर्म में रत्नत्रय पर विशेष जोर दिया है "सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" यह आगम का मूल सूत्र है। इसमें उमास्वामी महाराज ने मुक्ति और मुक्तिमार्ग सभी का प्रतिपादन कर दिया है। इसकी व्याख्या स्वरूप ही सम्पूर्ण मोक्ष शास्त्र का निरूपण किया है। इतना ही नहीं, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्य और विद्वानों ने इसी महान् सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेक रचनाएँ की हैं जो किसी धर्मग्रन्थों के ग्रन्थों से

कम नहीं है। वस्तु स्वभाव का ज्यों का त्यों श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वस्तु-स्वभाव को ज्यों का त्यों जान लेना सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान द्वारा प्रतिपादित स्ववस्तु स्वरूप (आत्मरूप) को प्राप्त कर लेना सम्यक् चारित्र है। यह रत्नत्रय की निश्चयात्मक कथनशैली है। इन्ही रत्नत्रयो का व्यवहारात्मक प्रतिपादन भी शैली है जो निश्चय स्वरूप की प्राप्ति में कारण होती है।

जैनधर्म पुरुषार्थ-प्रधान है अतः जैन ग्रन्थों में आचार को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किसी भी धर्म के अन्तस्तल को जानने के लिए उसके आचार मार्ग को जानना विशेष रूप से वाञ्छनीय है। आचार मार्ग के प्रतिपादन में ही धर्म का धर्मत्व सन्निविष्ट होता है। वास्तव में "आचारः प्रथमो धर्म.' अर्थात् आचार ही प्रथम धर्म है। भारतीय धर्मों में यह विशिष्टता है कि उनके दार्शनिक और व्यावहारिक रूपो मे पूर्णतः सामञ्जस्य पाया जाता है। दर्शन का सैद्धान्तिक मूल्य है और आचार मार्ग का व्यावहारिक। दर्शन और धर्म वही प्रामाणिक हैं जिनसे लौकिक और पारमार्थिक कल्याण की साधना हो। भारतीय धर्म केवल लौकिक कल्याण को ही महत्त्व नही देते हैं, परन्तु लौकिक कल्याण के साथ पारमार्थिक कल्याण का भी प्रश्न उनके सामने उपस्थित है। अतः वे दर्शन और धर्म में एक ऐसी मैत्री स्थापित किये हुए हैं कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध तोड़ देने पर सारी व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाती है। जैन दर्शन आध्यात्मिकता का प्रतिपादक है और जैन धर्म उसकी व्यावहारिकता का पोषक है। दर्शन और धर्म की यह भव्य झांकी हमें जैनधर्म मे विशेष रूप से दीख पड़ती है।

जैनधर्म का बाह्य कलेवर ही आचार है। तीर्थंकरो के द्वारा आचार की शुद्धता द्वारा ही ससार के दु खो का निवारण होता है। वे स्वय आचार की साधना द्वारा ससार दु:ख से निवृत्त होते हैं और दु खित प्राणियो को दु:खनिवृत्ति का उपदेश देते है। जिधर भी दृष्टि डालिये ससार में दु ख-समु की तुमुल तरगों का भयावह नृत्य हो रहा है। तीर्थंकरो को इस दु खजलधि को धर्मयान द्वारा पार करना है। दु:ख, मोह, क्षोभ, शोक आदि से सतप्त आत्मा का उद्धार कर परमात्मपद की प्राप्ति कराना ही तीर्थंकरो का स्व-पर के लिए महान् पु - षार्थ है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है, वह अप्रकट रूप में परमात्मा है। कर्म-वेष्टित होने के कारण उसका ज्ञान स्वभाव रूप सूर्य प्रकट नही हो रहा है। यह आत्मा किसी का दास नही है। वह स्वरूप से स्वतत्र है और अपनी ही भूल के कारण ससार रूपी भयानक अटवी में भ्रमण कर रहा है। मोह रूप शत्रु ने इसे पराधीन कर दिया है। अपनी काषायिक वासना ने ही इसे ससारबद्ध कर रखा है। इस दासता से उन्मुक्त होने की प्रत्येक जीव की अभिलाषा है और इससे उन्मुक्त होने का यदि कोई सर्वोत्तम सर्वांगीण साधन है तो वह है जैन आचार मार्ग।

आचार का वर्गीकरण—

जैनधर्म में आचार दो विभागों में विभाजित है—मुनि आचार और दूसरा गृहस्थाचार। इनमें मुनि आचार साक्षात् मोक्ष का मार्ग है और गृहस्थाचार परम्परा से ! यदि कोई साधनसम्पन्न व्यक्ति मोक्षाभिलाषी होकर किसी धर्मोपदेशक निर्ग्रन्थ मुनि से धर्म-लाभ की याचना करे तो वे मुनि जैनधर्म की धर्मोपदेश प्रणाली के अनुसार उस मुमुक्षु को मुनि-आचार धारण करने का ही उपदेश देंगे। क्योंकि वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। यदि वह धर्मेच्छुक उस मुनिव्रत को पालने में असमर्थता प्रकट करे तो वे उसे ग्रस-

सर्व प्राणियों के ग्रहण करने योग्य, किन्तु निर्ग्रन्थ मुनिपद की प्राप्ति में कारीभूत गृहस्थाचार का उपदेश देंगे। शक्ति और उत्साह से पूर्ण व्यक्ति को समुचित दिक्षा देना धर्मोपदेष्टा के अधीन है।

जैन-मुनि का आचार—

मुनि आचार का प्रारम्भ २८ मूल गुणों से होता है। २८ से अधिक कम मूलगुण धारण करनेवाले मुनिपद धारण नही कर सकते है। जैन मुनिमार्ग कठिन है और वह साधारण व्यक्तियो द्वारा साध्य नही है। ये २८ मूलगुण निम्न प्रकार हैं—१. अहिंसा महाव्रत २. सत्य महाव्रत ३. अचौर्य महाव्रत ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत ५. परिग्रह त्याग महाव्रत ६. ईर्या समिति ७. भाषासमिति ८. एषणा समिति ९. आदान निक्षेप समिति १०. व्युत्सर्ग समिति ११. सामायिक १२. चतुर्विंशतिस्तव १३. वंदना १४. प्रतिक्रमण १५. स्वाध्याय १६. कायोत्सर्ग १७. स्पर्शनेन्द्रिय विजय १८. रसनेन्द्रिय विजय १९. घ्राणेन्द्रिय विजय २०. चक्षुरिन्द्रिय विजय २१ श्रोत्रेन्द्रिय विजय २२. अस्नानत्व २३. अदन्त धावन २४. भूमि शयन २५. नग्नत्व २६. केशलुंचन २७. मूक भोजन २८. खड़े भोजन।

इन अट्ठाईस मूल गुणो पर ध्यान देने से पता लगता है कि एक जैन मुनि अपनी मन, वचन, और काय की शक्तियो पर नियन्त्रण करते हुए आत्म स्वरूप में मग्न होने का पुरुषार्थ करता है। वैषयिक तृष्णा का दमन करता है और आत्म शक्ति को जागृत करता हुआ विकृति से प्रकृति की ओर झुकता जाता है। वह प्राकृतिक वन प्रदेशों में रहता है। वहाँ के पशु, पक्षी, नाले, झरने, वृक्ष, बेलें और पाषाण ही उसके साथी होते हैं। वह रात्रि में शिला पर सोता है। चन्द्रमा की चाँदनी ही उसका दीपक होती है। प्राकृतिक गुफाएँ ही उसके घर है। सभी प्रकार के नगर और ग्राम के जीवन से सर्वथा अलग रहता हुआ वह स्वतन्त्र विचरण करता है। उसका राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक जीवन से कोई संबंध नही रहता है। ज्ञान अध्ययन और ध्यान ही उसकी निजी सम्पत्ति होती है। उनकी वृद्धि में वह सदा तल्लीन रहता है। एक जैन मुनि के परिकर का वर्णन योगी श्री शुभचन्द्र के शब्दो में देखिये—

> विंध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिका शय्या शिला पार्वती,
> दीपाश्चन्द्रकराः मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनागना।
> विज्ञानं सलिलं पयः सदशन येषां प्रशान्तात्मना,
> ते भव्याः भद-पङ्क-निर्गम पथ.-प्रोद्देशका सन्तु न.।।

साधारणतः एक जैन मुनि की चर्या इस प्रकार होती है। वह ब्राह्म मुहूर्त में जागता है और अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन अधिक से अधिक समय लगाकर करता है। जब उसकी मनोवृत्ति आत्म चिन्तन में नहीं जमती है तब वह स्वाध्याय, ग्रन्थ निर्माण, धर्मोपदेश, साधु परिचर्या, शास्त्र चिन्तन में अपना उपयोग लगाता है। वह बाह्य में किसी छोटे-से प्राणी को भी प्राणबाधा नही पहुँचाता है। मयूरपिच्छ की कोमल पीछी से प्रत्येक स्थान का संशोधन कर ही गमनागमन करता है। त्रिकाल भावशुद्धिपूर्वक आत्मध्यानरत होता है। स्वप्न में भी किसी का अनिष्ट चिन्तन नहीं करता है। अपने विचारों को लौकिक विद्याओ द्वारा कलुषित नहीं करता। विचार निर्मलता के लिये वह सदा ही संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का चिन्तन

करता है। रात्रि में गमनागमन नहीं करता है। शरीर की विश्रान्ति के लिये स्वल्प जागरूक निद्रा लेता है। आचारपरिपालन की कामना से गृहस्थ के द्वारा सम्मानपूर्वक दिये हुए शुद्ध भोजन को ग्रहण करता है। जन-संघर्ष से अतिदूर प्रकृति की सौम्य छत्रच्छाया में वह एकान्त वास करता है ! आत्म कल्याण के साथ वह लोक-कल्याण की सतत भावना करता है। "सर्वेऽपि सन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।" यही उसकी आत्मध्वनि होती है। इन कार्यों के अलावा वह विद्वान निर्ग्रन्थ मुनि, व्याकरण, साहित्य, न्याय, धर्म, वैद्यक, ज्योतिष, राजनीति, काव्य आदि साहित्य का निर्माण करता है, जिससे आगामी धर्म सन्तति को स्थायी साहित्य की प्राप्ति होती है। यह जैन मुनियों के कठिन उद्योग का ही परिणाम है कि आज जो सर्वांगीण जैन साहित्य प्राप्त हो रहा है वह किसी भी धर्म के साहित्य से किसी प्रकार न्यून नहीं है। ऐसे वीतराग मुनियों के केवल शरीर दर्शन मात्र से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। संसार के दु:खित प्राणियों के लिये ये मुनि शान्ति के अग्रदूत और ज्ञान प्रकाशन के लिये ज्ञान स्तम्भ माने जाते है।

मुनियों के इन अट्ठाईस मूल गुणो के अलावा उत्तरवर्ती ८४ लाख उत्तर गुण हैं जिनमें मुनि आत्म ध्यान और तप के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करता है और गुण स्थान प्रणाली में कर्म क्षय करता हुआ आर्हंत्य पद से विभूषित होता है। यही जैन परमात्म पद है। इसके उपरान्त सिद्धावस्था तो अवश्यम्भावी प्राप्य विषय है। यह जैनाचार की आध्यात्मिक चरम सीमा है। यही जैनधर्म का प्राप्तव्य लक्ष्य है।

गृहस्थ का आचार—

जो व्यक्ति मुनि मार्ग का अनुसरण नही कर सकते उनके लिये देश, काल और शक्ति आदि की परि-स्थितियों के अनुसार सुविधा देनेवाला सरल मार्ग गृहस्थ का आचार है; परन्तु यह साक्षात् मुक्ति का मार्ग न होकर क्रमश जीव की मुक्ति प्राप्ति का सहायक कारण है। सर्वप्रथम जैनधर्म मे दीक्षित होने के लिये तीन बातों का साधन करना आवश्यक है—१. मिथ्यात्व त्याग (मुक्ति प्रापक मार्ग में अनास्था) २. अन्याय त्याग (अन्यायपूर्ण साधनों से आजीविका का अभाव) ३. अभक्ष्य त्याग (जीव हिंसोत्पन्न आहार का त्याग)। एक साधारण जैन गृहस्थ इन तीनो ही नियमो का पालन करता हुआ ८ मूल गुण और १३ उत्तर गुणो का पालन करता है। १. मद्यत्याग २. मांस त्याग ३. मधुत्याग ४. बडफल त्याग ५. पीपल फल त्याग ६. ऊमर फल त्याग ७. कठूमर फल त्याग ८. पाकर फल त्याग, ये ८ मूल गुण हैं। १. अहिंसाणुव्रत २. सत्याणुव्रत ३. अचौर्याणुव्रत ४. ब्रह्मचर्याणु व्रत ५. परिग्रह परिमाणाणुव्रत ६. दिग्व्रत ७. देश विरत ८. अनर्थ दण्ड विरत ९. सामायिक १० प्रोषधोपवास ११. भोगोपभोग परिमाण १२. अतिथि सविभाग, ये १२ गृहस्थ के उत्तर गुण हे। इन सभी व्रतो में जीवरक्षा परोपकार, परपीड़ाभाव न्यायपूर्वक आजीविका, सन्तोष, त्यागवृत्ति आदि गुणो की अभिवृद्धि का उपाय बताया गया है। शारीरिक स्वास्थ्य को दृष्टि में रखते हुए भोग विलास से निवृत्ति की ओर एक मुमुक्षु को अग्रसर किया गया है। इन व्रतों को निर्दोष धारण करने पर कोई भी गृहस्थ मुनिपद का आरो-हण सरलता से कर सकता है।

उपर्युक्त व्रतों को साधन करनेवाले गृहस्थ की दैनिक चर्या निम्न प्रकार की होती है। वह देव, शास्त्र गुरु का पूर्ण विनयी भक्त होता है और शास्त्र प्रतिपादित षट्कर्मों को नित्यप्रति करता रहता है। १. देवपूजा २. गुरु उपासना, ३. स्वाध्याय ४. संयम ५. तप और ६. दान ये छ: गृहस्थ के दैनिक षट्कर्म है। इनमें देवपूजा

आत्म शुद्धि का विशेष कारण है । स्वाध्याय धर्म की स्थिरता का हेतु है । दानकर्म लोकोपकार का मुख्य साधन है । जैन वर्ग इन कर्मों में विशेष दृढ़ता से तत्पर होता आया है । इसी कारण आज भी जैनों के विशाल चैत्य, चैत्यालय, विद्यालय, औषधालय, पाठशाला , भोजनालय विद्यमान हैं । ये धार्मिक संस्थाएँ विशाल संख्या में होने के कारण जैन संस्कृति के विस्तृत प्रभाव को आज समूचे भारत पर प्रकट कर रही हैं । यदि जैन संस्कृति को भारतीय संस्कृति से अलग कर दिया जाय तो भारतीय संस्कृति अपूर्ण ही रहेगी । दक्षिण की स्थापत्य कला इसका स्पष्ट प्रमाण है ।

उक्त षट्कर्मों के पालन करने के कारण एक जैन गृहस्थ जहाँ वह अपने आत्म-कल्याण में लगा हुआ है वहाँ वह दूसरे प्राणियों के हित में भी पूर्णतः सतर्क है । उसकी विचार धारा अत्यन्त सरल और सौम्य होती है । जहाँ वह अपने देवाधिदेव से अपने कल्याणकी कामना करता है वहाँ वह लोकहित की कामना इस प्रकार करता है ।

> क्षेम सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल,
> काले काले च सम्यक्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
> दुर्भिक्षं चौर मारीक्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
> जैनेन्द्रं धर्म चक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायि ।।

एक जैन गृहस्थ के आहार-विहार के संबंध में इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि वह अपने आहार में स्वादुभ्रष्ट, जीव संयुक्त, घुने हुए अन्न, फल और रसों को काम में नहीं लाता है । वह सदा ही ताजा, स्वादु और जीव रहित उत्तम आहार करता है । वह अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का अहित नही करता है । उसकी संतोष-पूर्ण वृत्ति उसके गृहस्थ जीवन के सुखों का मूल कारण है ।

जैन-नगर की कल्पना—

उपर्युक्त जैनाचार का अवलोकन करते हुए हम एक जैन नगर का एक काल्पनिक चित्र खींचते हैं । वह नगर कैसा नगर हो सकता है जहाँ के निवासी कभी दूसरो का अहित न सोचते हो, असत्य न बोलते हों, चोरी नही करते हो, ब्रह्मचर्य से रहते हों, भाग्यलब्ध धन से सन्तुष्ट हों, न्यायपूर्वक आजीविका करते हों, अभक्ष्य पदार्थों के भक्षक न हों, परिश्रमी हों, शुद्ध आचार विचार वाले हो ।

जैनाचार का महत्त्व—

अतः निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि भारतीय शास्त्रों में जिस सतयुग की महत्ता वर्णन की गयी है वह युग केवल जैनाचार के पालन करने से कुछ ही समय में इस विश्व में लाया जा सकता है तथा भारत इन्ही गुणों के आधार पर अपने अतीत वैभव को पुनः प्राप्त कर सकता है । वर्तमान मानव विषय-भोगों की प्रचण्ड अग्नि में सन्तप्त हो रहा है । अतः जैनाचार के पालन द्वारा ही आज विश्व में शान्ति हो सकती है । अस्तु मानव इसी से सुख लाभ कर सकता है ।

व्यावहारिक और दैनिक जीवन में जैनत्व का उपयोग

प्रो० श्री रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०,

प्रस्ताविक—

जैन-सम्प्रदाय में जन्म ले लेने मात्र से किसी व्यक्ति को वास्तविक अर्थों में "जैन" नहीं कह सकते। जैन होने के लिए व्यक्ति के चरित्र में कुछ गुणों, कुछ विशेष भावनाओं, व्रतादि की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने जैन-धर्म की पुनर्घटना के समय आचार-व्यवहार के जो नियम बताये थे उनका प्रत्येक जैन के लिए विशेष महत्त्व है। हम यह मानते हैं कि भगवान् महावीर ने इन नियमों का निर्माण करते समय साधुओं को दृष्टि में रखा था। कारण यह था कि जैन धर्म के प्रारम्भिक दिनों में वही एक ऐसी संस्था थी जिसे व्यवस्थित कह सकते थे। साधारण व्यक्तियों में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जागृति नहीं हुई थी। जैन सम्प्रदाय में आधुनिक संगठन बाद की चीज है। प्रारम्भ में ये नियम साधु संस्था के लिये बने। तत्पश्चात् गृहस्थों के निमित्त भी कुछ नियम विनिर्मित किये गये। ज्यों ज्यों समय निकलता गया, त्यों त्यों गृहस्थों के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधानों की आवश्यकता समझी गयी। मुनि और श्रावकों के मूल गुणों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहाँ हम इन व्यावहरिक जीवन सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

पञ्चाणु-व्रत—

जैन शास्त्रों में प्रत्येक जैन के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान है। इनके नाम इस प्रकार हैं— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। शेष सब विधान उन्हीं के अन्तर्गत आते हैं। इनका अर्थ बड़ा व्यापक लेना चाहिये।

प्रथम अणुव्रत—

अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं। हिंसा केवल जीव को मार देने का नाम ही नहीं है वरन् किसी प्राणीमात्र का जी दुखाना भी हिंसा में सम्मिलित है। प्रत्येक प्राणी को जीने का अवसर देना मनुष्य

का कर्तव्य है। प्रारंभ में केवल दैहिक कष्ट न देने का नाम अहिंसा रहा किन्तु जैन धर्म इससे आगे बढ़ा हुआ है। उसके अनुसार कटुवचन, व्यंग्य बाण या अपशब्द का उच्चारण भी हेय है।

अमृत चन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में इस प्रकार हिंसा अहिंसा का विवेचन किया है——

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वा च परो हिंसा हिंसाफल भाजन न स्यात् ।।
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसा फलमेकमेव फल काले ।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफल विपुलम् ।।
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसां नु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ।।
अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ।।

अर्थात् "एक मनुष्य हिंसा (प्राणिवध) न करके भी हिंसक हो जाता है अर्थात् हिंसा का फल प्राप्त करता है। दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता। एक की थोडी सी हिंसा भी बहुत फल देती है और एक की बड़ी भारी हिंसा भी थोडा फल देती है। किसी की हिंसा हिंसा का फल देती है और किसी की नहीं फल देती है। किसी को अहिंसा हिंसा का फल देती है और किसी की हिंसा अहिंसा का फल देती है। हिंस्य क्या है? हिंसक कौन है? हिंसा क्या है? और हिंसा का फल क्या है? इन बातों पर अच्छी तरह विचार करके जैन को हिंसा का त्याग करना चाहिये।"

हिंसा-अहिंसा बाह्य क्रिया नहीं किन्तु हमारे आन्तरिक भावों पर अवलंबित है। इसलिए जैन शास्त्र कहते है— "वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते"। यह संभव है कि कोई किसी को मार डाले, फिर भी उसे हिंसा का पाप न लगे। कोई जीव मरे या न मरे, परन्तु जो मनुष्य प्राणिरक्षा का ठीक-ठीक प्रयत्न नहीं करता, वह हिंसक है और प्राणिरक्षा का उचित प्रयत्न करने पर भी केवल प्राणिवध से कोई हिंसक नहीं कहलाता।[1]

जीवन के लिए जो क्रियाएँ आवश्यक हैं उनके द्वारा प्राणिहिंसा हिंसा नहीं मानी जाती। जब तक जान बूझ-कर हिंसा न की जाय, उसे हिंसा नहीं कहते। अतः प्रत्येक जैन का यह कर्तव्य है कि वह यथाशक्ति अहिंसाव्रत का पालन करे। अपने से हीन श्रेणी के पशु इत्यादि की हिंसा निरर्थक न होने दे, किसी का जी न दुखावें, शुद्ध जीवन व्यतीत करे। जैन सैनिक कर्तव्य के कारण युद्ध कर सकते है। जैन पुराणों में युद्ध और दिग्विजय के विस्तृत वर्णन आते है जिनसे स्पष्ट है कि युद्धों से किसी का जैनत्व नहीं नष्ट होता। अनेक जैनी क्षत्रिय

---

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।

हुए हैं और उनके साथ युद्ध की परम्परा भी लगी है । तीर्थंकर सरीखे धर्माधिकारी युद्ध करते रहे हैं। कर्तव्य हो जाने पर युद्ध अहिंसा के कारण नहीं रोका जा सकता। जैनधर्म सार्वधर्म होने पर क्षत्रियों का धर्म है।

द्वितीय अणु-व्रत—

दूसरा व्रत है– सत्य। जो उचित है, कल्याणकारी है, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय है, वही सत्य है। सत्य का विवेक भी अत्यन्त कठिन है। इस नियम के अनुसार झूठ, कपट, चोरी, अनीति से अर्थोपार्जन, अतथ्य बोलना, धोखेबाजी सब जैन के लिए त्याज्य है। जैनाचार्यों ने जो सत्य की व्याख्या की है उससे भी यही स्पष्ट होता है। सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं—

"सच्छब्दः प्रशसावाची न सदसद् प्रशस्तमिति यावत्। प्राणिपीडाकर यत्तदप्रशस्तम् विद्यामानार्थविषयंवा अविद्यामानार्थविषयंवा। उक्तं च प्रागेव अहिंसा प्रतिपालनार्थमितरद् व्रतमिति तस्माद्धिंसा कर्म वचोऽनृतमिति निश्चेयम् ॥"

अर्थात् सत् शब्द प्रशसावाची है, असत् अर्थात् अप्रशस्त। जो प्राणियों को दुःख देने वाला है, वह अप्रशस्त है, भले ही वस्तुस्थिति की दृष्टि से वह ठीक हो या न हो क्योंकि अहिंसा के पालन के लिये यह द्वितीय व्रत हैं। इसलिये अनृत बोलने वाला हिंसक हैं।

महाभारतकार कहते हैं—"सत्य (तथ्यपूर्ण) बोलना श्रेष्ठ है परन्तु सत्य की अपेक्षा हितकारी बोलना अच्छा है। जो प्राणियों के लिए हितकारी है, वही मेरा सत्य है।"

तृतीय अणु-व्रत—

तीसरा तत्त्व है—अचौर्य अर्थात् चोरी न करना। दूसरे की वस्तु बिना उससे कहे ले लेना चोरी है। चोरी हर प्रकार से त्याज्य है। इससे हिंसा होती है क्योंकि दूसरे का मन दुखता है; सत्य का हनन होता है। हमारे नित्य प्रति के जीवन में अनेक ऐसे कार्य है जो देखने में तो चोरी नही प्रतीत होते किन्तु वास्तव वे चोरी ही हैं। रिश्वत, काला बाजार, अपने कुटुम्बियों से छुपाकर कोई कार्य करना, गुप्त बातें मन में छिपाये रखना भी एक प्रकार की चोरी ही है। सागर धर्मामृत ४–४६ में लिखा है—

"स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम्। यदातदाऽऽदीयमानम्" अर्थात् कोई वस्तु यदि अपनी हो परन्तु यह बात आपको ज्ञात न हो, फिर भी उसे ले लेना चोरी है, क्योंकि लेने में उसे अपनी समझ लिया है। चीज अपनी है या नहीं—इस भ्रम में पड़कर भी वस्तु ग्रहण कर लेना एक प्रकार की चोरी ही है।

कन्याविक्रय, सूद, जुआ, सट्टा, लाटरी इत्यादि का नैतिक मूल्य नहीं है। इनके मूल में स्वार्थ और बेईमानी है। जुए और सट्टे से हम जनता और समाज का कुछ भला नहीं करते। मुफ्त में बिना परिश्रम रुपया हड़प लेना चाहते हैं। यह भी चोरी का एक रूप है। व्यापार जगत् में जैसे माल का वादा किया हो, वैसा

उसे न देना नैतिक अपराध है। श्रम से अनिच्छापूर्वक या छल से कुछ काम करा लेना भी चोरी का रूप है। छिपकर कोई खेल बिना टिकट लिये देख आना या रेल, मोटर इत्यादि में बिना पैसे खर्च किये सफर करना भी चोरी है। स्वार्थवश, द्वेषवश एक का श्रेय दूसरे को न देना, कृतज्ञता प्रकाश न करना भी चोरी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। मानव मात्र को इस सबसे बचना चाहिये।

चतुर्थ अणु-व्रत—

जैन शास्त्रों में ब्रह्मचर्यका का उल्लेख मिलता है। भगवान् महावीर ने इस पर विशेष जोर दिया है। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में ब्रह्मचर्य व्रत नहीं था। शायद उस समय इस व्रत को पृथक् स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। जैन शास्त्रों के अनुसार पार्श्वतीर्थ के साधु भी ब्रह्मचर्य रखते थे, किन्तु उसे वे अपरिग्रहमें सम्मिलित करते थे। उनका विचार था—

> न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
> ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः।।

अर्थात् जननेन्द्रिय संयम द्वारा मनुष्य देवताओं के गुण को प्राप्त हो जाता है। उसकी दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाता है।

"ब्रह्मचर्य का अर्थ है— "ब्रह्म में विचरण करना अर्थात् अपने संयम, निग्रह, शुद्धाचरण द्वारा उसकी ओर मन, वचन, और कर्म द्वारा अग्रसर होना। आज का मानव जीवन की इस उच्च भूमिका में नही उठ पाया है। फिर भी उसे वीर्य रक्षा, जननेन्द्रिय का सयम, आत्मिकबल के संयम का व्रत ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मचर्य वह तप है जिसके द्वारा मनुष्य उच्च ईश्वरीय जीवन व्यतीत कर सकता है। शुद्ध आचरण द्वारा वीर्य की मन, वचन, काय द्वारा रक्षा करते हुए जैन शास्त्रो मे वर्णित सात्त्विक जीवन व्यतीत करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही सबसे श्रेष्ठ तपश्चर्या है। एक ओर चारो वेदों का फल और दूसरी ओर ब्रह्मचर्य का फल—दोनों में ब्रह्मचर्य का फल विशेष है। अपनी शक्ति और स्वतंत्रता की तथा दूसरों की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य उपयोगी है।

पञ्चम अणु-व्रत—

"अपरिग्रह" अन्तिम अणुव्रत है। अपरिग्रह का अभिप्राय है समस्त धनधान्य का त्याग करना। साधारण व्यक्ति परिग्रह को पाप नही मानते। धन और वैभव के संचय को बुरा नहीं समझते। धन की महिमा खूब गायी जाती है। अपरिग्रह के अनुसार किसी को अति धन संग्रह नहीं करना चाहिये। अतिधन संग्रह करने से पूँजीवाद की वृद्धि होती है। मनुष्य धन के लालच में पड़कर शुभ-अशुभ विवेक-अविवेक का विचार नहीं करता। संग्रह की इच्छा इतनी बढ़ती है कि मनुष्य धन, अन्न, गाय, भैंस, जमीन, मकान, सोना चांदी—न जाने क्या क्या संग्रह करने में लगा रहता है। भोग विलास में लिप्त होकर समाज के लिए शत्रु का काम करता है। संयम का कुछ महत्व नहीं रह जाता। धन मनुष्य को गुलाम बनाता है। संयम का अर्थ है कि बची हुई सामग्री दूसरों के काम आवे।

जैन शास्त्रों में भोगोपभोग परिमाण को मूल व्रतों में नहीं लिया। इसे अपरिग्रह व्रत का सिर्फ सहायक कहा है। भगवान् महावीर ने अपरिग्रह और भोगोपभोग परिमाण व्रत में भी भेद बताया है और अपरिग्रह को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है उससे उनकी अर्थशास्त्र की जानकारी स्पष्ट हो जाती है। वे पूँजीवादी प्रथा के खिलाफ थे। समाज में अर्थ का वितरण समान रूप से हो— यह उनका ध्येय था। अपरिग्रह व्रत का लक्ष्य साम्यवाद मालूम होता है। जैन शास्त्र साम्यवाद के पूर्ण पोषक हैं।

ऊपर लिखे पंच महाव्रत के अतिरिक्त देश, काल और गुणों के अनुसार अन्य आवश्यक तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार मिलता है। प्रत्येक गृहस्थ को इनका पालन करना चाहिये—

(अ) १–५ अणुव्रत (६) मद्यत्याग (७) मांसत्याग (८) मधु त्याग—समन्तभद्र

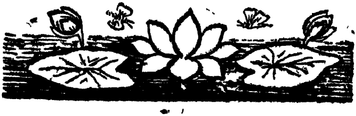
(आ) १–५ अणुव्रत (६) शराब बन्दी (७) मांस त्यागना (८) द्यूत त्यागना–जिनसेन

(इ) १–५ के अतिरिक्त मद्य, मांस, मधु, उदम्बर—कठूमर, बड़फल—पीपल फल, पाकर फल का त्याग
—सोम देव

(उ) (१) मद्य त्याग (२) मांस त्याग (३) मधु त्याग (४) रात्रि भोजन त्याग (५) उदम्बर आदि पांच फलों का त्याग (६) अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु को नमस्कार (७) जीव दया, (८) पानी छानकर पीना —आशाधर

निष्कर्ष—

उपरोक्त मीमांसा से हम कह सकते हैं कि मानव मात्र को निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये— (१) सब धर्मों में एकता देखना (२) सर्व जाति समभाव (३) विवेक (४) प्रार्थना (५) शील (६) दान (७) मांस त्याग (८) शराब छोड़ देना।



जैन दृष्टि से सम्पत्ति-विनियोग

श्री प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला एम० ए०, साहित्याचार्य आदि

'धनलोलुप कौन सा पाप नहीं करते[1]?'—यदि सर्वथा सत्य है तो प्रजापति ऋषभदेव ने ही असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य तथा शिल्प का स्वयं उपदेश क्यों दिया[2]? प्राणी यदि एक क्षण भी शिथिल रहता है तो प्रमादी हो कर पाप संचय करता है। फलत. जब तक वह सराग है तब तक उसे अपनी योग्यतानुसार षट् कर्मों में से कोई करना ही चाहिये। और जब वह लवलीन होकर किसी व्यवसाय में लग जाता है तो उसका अभ्युदय होना अनिवार्य है। उसे आज्ञा है कि यदि जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य परिग्रह से थोड़ा भी अतिरिक्त रखा तो हत्यारे के समान पापी (परिग्रही) हो जाओगे। प्रश्न उठता है कि क्या जैन इस विधि के आचरण की कोई व्यवस्था बताते हैं?

गुणव्रत—

नागरिक तीन कोटियों में विभाजित हैं। प्रारम्भिक श्रेणी का नाम पाक्षिक है। इसके लिए अनिवार्य है कि वह अष्ट मूलगुण का पालन करे। देश, काल तथा व्यक्ति आदि की दृष्टि से मूल-गुणो को उसके प्रकार से गिनाया है। किन्तु बहुप्रचलित मुलगुणों में, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिमित परिग्रह की भी गिनती है अर्थात् इन पांचों को मोटे तौर से पालना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। तो इन पाचो मूल गुणों को जो बढ़ावें उन्हें गुणव्रत[3] कहा है। दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत तथा भोगोपभोगपरिमाण व्रत[4] के भेद से वह तीन प्रकार का है। अतः व्रतों के नाम ही इतने स्पष्ट

१—द्रष्टव्य जैनधर्म और सम्पत्ति शीर्षक लेख। वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० १७६—१९०।

२—स्वामी समन्तभद्र कृत स्वयंभू स्तोत्र, आदिजिनस्तोत्र श्लो० २।

आचार्य जिनसेन कृत आदि पुराण, अध्याय १६ श्लोक १७९—१८५।

३—"अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः

रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लो० ६७।

४—सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य ने दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थ दण्ड त्याग व्रत को गुण व्रत कहा। स्वामी समन्तभद्रादि, तथा सिंहनन्दि आदि आचार्यों ने आचार्य कुन्दकुन्द के समान ही वर्गीकरण किया है।

जहां कुन्दकुन्दाचार्य समन्तभद्रादि ने भोगोपभोग परिमाण व्रत नाम रखा है वहां सूत्रकारने 'उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत' नाम दिया है। इनके टीकाकार पूज्यपाद उमास्वाति आदि ने भी इन्हीं पदों का भाष्य किया है।

हैं कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अथवा सूत्रकार ने परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं समझी । किन्तु समय के साथ जब अज्ञान और शिथिलता बढ़ी तो स्वामी समन्त-भद्र को इन गुणव्रतादि के भी स्पष्ट लक्षण करने पड़े । स्वामी के मत से पाचों इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों की सब दृष्टियो से अविकल संख्या निश्चित कर लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है । जो पदार्थ उपयोगी है उनकी सख्या में आसक्ति को घटाने के लिए यह आवश्यक है[1]। स्वामी ऐसा तार्किक आचार्य केवल परिभाषा, वह भी साध्य साधन रूप से, करके ही तृप्त नहीं हुए है अपितु श्रावक विसन्दिग्ध रूप से गृहीत व्रत का पालन करे इस दृष्टि से उन्होंने उसकी सागोपांग व्याख्या की है । उनके अनुसार "पाचो इन्द्रियों के विषय जिन्हें एक बार उपयोग करके फेंक देना पड़े वह भोग है तथा जिन्हें एक बार उपयोग में लाने के बाद पुनः पुनः उपयोग में लाया जा सके वे उपभोग है । भोगोपभोग व्रती को त्रस जीवों की हत्या से बचने के लिए एवं मास, मधु तथा उन्मत्तता से बचने के लिए मद्य को भी छोड़ना चाहिये । जिनसे लाभ थोड़ा हो और अनर्थ अत्यधिक हो उन्हे भी छोड़ दे। मूल, हरे बेरादि, नवनीत, निम्ब-कुसुम, केतक आदि को भी छोड़े । जो हानिकर है उसे भी छोड़ दे तथा जो असेव्य है अथवा अप्राप्य होने के कारण उपयोग में नही आता है, उसे भी छोड दे क्योंकि सकल्पपूर्वक छोड़ने पर ही व्रत होता है ।" बिना अभ्यास के कैसे त्याग दे ? अथवा आज दुर्लभ तथा अनावश्यक है, कल सुलभ तथा आवश्यक हो जाय ; तब क्या करे ? स्वामी कहते हे "भोगोपभोग यम और नियम रूप से होता है । कतिपय पदार्थों का 'नियम' करो अर्थात् सीमित समय के लिए छोड़ दो और कुछ का 'यम' करो अर्थात् जीवन भर के लिए छोड़ दो। अर्थात् आज दिन या रात भर या मास भर, ऋतु या अयन पर्यन्त भोजन, सवारी, शय्या, स्नान, शुद्ध लेपादि, पुष्प, पान, वस्त्र, भूषण, रति, नृत्य, संगीत आदि का मै त्याग करता हूँ यह नियम है ।" इस प्रकार व्रत, लेने के बाद "यदि विषयो की अपेक्षा करता है, उन्हें याद करता रहता है, भोगो की प्रति आकांक्षा करता है, त्याग कर भी पाप पदार्थों को पाने को आतुर है, तथा भोगते समय पदार्थ में अत्यधिक रस का अनुभव करता है तो उसके भोगोपभोग व्रत मे अतिचार[2] आ जायगा[3]।" तात्पर्य यह कि केवल कमाने से ही मनुष्य परिग्रही नहीं होता है यदि उसकी अपनी भोगोपभोग सख्या निश्चित है तथा अन्तरंग में परिमित परिग्रही बने रहने के लिए आवश्यक भोग-उपभोगों की स्पष्ट विस्तृत तालिका प्रत्येक व्यक्ति के मन में होनी ही चाहिये ।

अब शंका होती है कि परिग्रह परिमाण के बाद भोग-उपभोग परिमाण भी कर लेने पर व्यक्ति जब तक सागार है तब तक अपना व्यवसाय सावधानी से करेगा ही । और जैसा कि प्रकृत्ति का नियम

---

१ अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये । रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।१८२।

२ सूत्रकार के मत से सचित्ताहार, सचित्तसम्बद्धाहार, सचित्तसम्मिश्राहार, अभिषवाहार तथा दुःपक्वा-हार ये पांच अतिचार हैं । तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७—३५ ।

३ रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लो० ८०—९० ।

है कि त्यागनेवाले के पीछे सम्पत्ति तथा राज्यादि दौड़ते हैं तदनुसार उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी तब वह 'कोटपालादि' क्रिया से कैसे बचेगा ?[1] अर्जित सम्पत्ति को कहाँ डाले ?

षट्कर्म—

युगाचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, क्या डाले ? उसके पास बचेगा ही क्या, यदि वह अपने नित्य कृत्यों को उतनी ही सावधानी से करे जितनी से असि-मसि आदि करता है ? आचार्य कहते हैं—"दानं पूजामुक्खं सावय धम्मो ण सावया तेण विणा[2]।" दान और पूजा श्रावक के मुख्य धर्म हैं। इनके बिना श्रावक नही होते। गृहस्थ के देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, विनय, तप और दान ये छः नित्यकर्म है। कुन्दकुन्दाचार्य के मत से इनमें भी दान और पूजा मुख्य हैं। जिस जीवन में ये नही, न वह सम्यक् दृष्टि है और न श्रावक ही है। यही मूल मान्यता थी जिसके आधार पर उत्तर कालीन आचार्यों ने "दान यजन प्रधानो—श्रावकः स्यात्" लिखा है[3]।

श्रावक के छहो नित्य कर्म ऐसे हैं कि यदि वह केवल अपने ही अन्न-वस्त्र भर के लिए कमाये तो उनमें से एक भी न निभेगा। देव पूजा को लीजिये—यदि देवालय नही हैं तब तो इसके निर्माण में ही गृहस्थ की कमाई का बहुभाग जा सकता है। किसी तरह मन्दिर बना तो उसकी प्रतिष्ठा, विविध प्रकार ही विशिष्ट पूजाएँ आदि ऐसे विधान हैं कि इनके लिए ही साधन जुटाना जीवनव्यापी कार्य हो सकता है। पूजा जहाँ व्यक्ति के सामने महान् आदर्श को रखती है वहाँ उसे इस बात के लिए भी प्रेरित करती है कि वह अपनी न्यायोपात्त सम्पत्ति को अनासक्त भाव से व्यय करे। इस प्रकार वीतराग परम त्यागी पूज्य के आदर्श की ओर वह बढ़ता है। जब पूजा के साथ दान मिल जाता है तब गृहस्थ की अधिकार्जन और परिग्रह परिमाण के विरोध की समस्या स्वयमेव सुलझ जाती है। क्योकि अर्जन की भांति त्यजन भी उसका कर्तव्य हो जाता है। वह देखता है कि रोग के समान उसे अपनी सम्पत्ति को अकेले ही नही भोगना है, अपितु उसके बुरे बहुधन को भला करने वाला पर-उपयोग भी है[4]।

दान का लक्षण—

यद्यपि कुन्दाकुन्दाचार्य ने अन्वयमुखेन दान की परिभाषा नही की है तथापि उनका "न दान, न धर्म, न त्याग, न भोग, (कुछ भी नही बचते हैं) जब यह आत्मा रूपी पतंग लोभ रूपी अग्नि के मुख में पड़ जाता है और मर जाता है[5]।" अर्थात् जब तक लोभ है, तब तक सब शुभ-अशुभ

१—सागारधर्मामृत, अध्या० ५ श्लो० १८६—२३।

२—अष्ट प्राभृत, रयणसार गा० ११।

३—सागारधर्मामृत अध्याय १ श्लो० १५।

४—"स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव। 'नीतिवाक्यामृत, सुप्तार्थ १।

५—अष्टप्राभृत, रयणसार गा० १२-१३।

सर्व उसके आगे निःसार है । अतएव इस लोभ कषाय को परास्त करने के लिए "गृहस्थाचार के पालन में रत जो सम्यक् दृष्टि जिनेन्द्र की पूजा करता है, मुनियों को दान देता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार (अन्य दानों को) देता है वह मोक्ष मार्ग रत होता है ।" अर्थात् लोभ कषाय को जीतना दान है । आचार्य का यह परम्परा-लक्षण उनके निश्चय नयानुसार कथन के ही अनुरूप है । देकर भी यदि नामादि का भी लोभ रह गया तो कैसा दान ? क्योंकि जहाँ लोभ है वहाँ परिग्रह अब्रह्मचर्य, चोरी, असत्य तथा हिंसा को आते कितना समय लगता है ?

सूत्रकार की दृष्टि में "अनुग्रह बुद्धि से इनका त्याग दान है" तथा विधि, द्रव्य, दाता तथा ग्रहीता के गुणों के कारण उसमें विशेषता आती है[1]। साधुवाद अथवा प्रत्युपकार की भावना के बिना अपने विभव के द्वारा गुणी, गृहत्यागी साधुओं के कष्ट को दूर करना, उनके पैर वगैरह दबाना, अन्य सभी सेवाएँ करना वैयावृत्य अथवा दान है[2]। उत्तरकालीन समस्त लेखकों ने इन्हीं तीनों आचार्यों की परिभाषाओं को लेकर अपने लक्षण किये हैं । कुन्दकुन्दाचार्य के समान सूत्रकार ने भी बड़ी व्यापक परिभाषा की है तथा अतिथि संविभाग या मुनिवाद के व्यापक रूप में दान को स्वीकार किया है । आचार्य और सूत्रकार की दृष्टि में षोडश भावनाओं में आगत त्याग तथा दशधर्मों में वर्णित त्याग भी था । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी उत्तर काल में मुनिदान पर ही जोर दिया गया है ।

लक्षणों के भाष्य—

टीकाकारों के अग्रणी पूज्यपादाचार्य अपनी सर्वार्थसिद्धि में सूत्रकार का भाष्य निम्नप्रकार से करते हैं—अपने तथा दूसरे का उपकार करने को अनुग्रह कहते हैं । स्व का अर्थ धन है । अतएव पुण्यसंचय रूपी स्वोपकार तथा सम्यक् ज्ञान चारित्रादि की वृद्धि रूपी परोपकार के लिए अपनी सम्पत्ति का त्याग दान[3] है । श्वेताम्बर भाष्यकार आचार्य उमास्वाति ने भी "अपने तथा दूसरे के अनुग्रह के लिए अपनी सम्पत्ति, अन्न, पान, वस्त्रादि को पात्र में देना दान है[4]" अर्थ किया है । अर्थात् इन्होंने भी मुनिदान पर जोर दिया है । भट्टा अकलक ने पूज्यपाद के प्रत्येक पद का विशेष भाष्य करते हुए यहाँ उपदेश दिया है कि अपने परिग्रह परिमाण आदि व्रतों के पालन रूपी स्वार्थ की दृष्टि तथा दूसरे की शरीरयात्रादि के लिए अपने धन का त्याग करना ही दान है[5]।

१—तत्वार्थसूत्र, अध्याय ७—३८ । तत्वार्थाधिगम सूत्र ७—३३ ।

२—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो० १११—११२ ।

३—सर्वार्थसिद्धि पृ० २१६ (निटवे, जैनमुद्रणालय, कोल्हापुर)

४—तत्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य, पृ० १४६ (आर्हत्मत प्रभाकर माला, द्वितीय०)

५—तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० २६२—३ (भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा सनातन जैन ग्रंथमाला, ४ पुष्प)

दत्ति—

इन लक्षणों तथा भाष्यों के फलितार्थ पर जाने के पहिले दान के एक ऐसे रूप का विचार करना है जिस पर आचार्य जिनसेन, पण्डिताचार्य आशाधर जी आदि ने ही लिखा है । परन्तु यह दान-भेद प्राचीन ही रहा होगा । यदि ऐसा न होता तो वरांगचरितकार जटाचार्य उसका विवेचन न करते । आचार्य जटा सिहनन्दि भोग-भूमियों का वर्णन करते हुए भोग-भूमि में जन्म के कारण दान का विवेचन करते हैं । वे दान, दान की विशेषता भेदादि की चर्चा करने के बाद कहते हैं—"कुछ अनुदार प्रकृति लोग कन्या, भूमि, सोना, गाय, भैंस, आदि देने को भी प्रशंसनीय दान कहते हैं । किन्तु अपने दोषों के कारण वीतराग ऋषियो ने उन्हें छोड़ दिया है । कन्या दान से राग की वृद्धि होती है । जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी होगा, राग द्वेष से मोह बढ़ेगा और मोह दूर होने पर विनाश निश्चित है । यदि अस्त्र देंगे तो वे दूसरे के दुःखों के कारण होंगे, सोने के कारण सदा भय बना रहेगा और विचारे गाय भैंस आदि मार, पीट बन्धन आदि दुःखों को भरेंगे । गर्भवती स्त्री के समान पृथ्वी जोते बोये जाने पर महान हिंसा होती है । उस पर रहने वाले अनन्त प्राणियो का वध होता है इसलिए भूदान में कोई विशेषता नही है । किन्तु उचित देश काल में गुणी व्यक्ति को दिये जाने पर वह भी शुद्ध फल को देती है ।" इसके बाद वे दृष्टान्त देकर समझाते हैं और किसे देनेपर क्या उपयोग हो सकता है इत्यादि की व्याख्या करके दान का सांगोपाग विश्लेषण करते हैं[1] । इस प्रकार जटाचार्य का भी कन्यादानादि के प्रति सहमत होना बताता है कि मुनिदान के अतिरिक्त दान भी श्रावक के कर्त्तव्य थे जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य के "......जो देई सत्तिरूपन" पृथक् निर्देश से स्पष्ट है । यतः यह वाक्य ....'मुणिदान करेई" के बाद आता है' अतएव प्रतीत होता है कि मोक्षमार्ग में साधक अतिथि-सविभाग व्रत के अतिरिक्त अन्य दानों की व्यवस्था भी उन्हीं से मिली थी ।

मुनिदान के अतिरिक्त अन्य दानो के लिए कतिपय आचार्यों ने दान शब्द का प्रयोग न करके 'दत्ति' शब्द का भी प्रयोग किया है । किन्तु पण्डिताचार्य ने पात्र दत्ति, समदत्ति, दयादत्ति, आदि भेदों को करके दत्ति और दान को पर्यायवाची ही माना है । पात्रदत्ति में उन्होने उत्तम, मध्यम, तथा जघन्य पात्रो को लिया है । समदत्ति में कन्या दानादि को रखा है तथा शेष दो तो अपने नाम से ही स्पष्ट हैं[2] । तात्पर्य यह कि दान का क्षेत्र इतना विशाल है कि यदि गृहस्थ लोभ से न हारे तो अनन्त सम्पत्ति कमाकर भी उसके परिग्रह परिमाण तथा भोगोपभोग परिमाण को निभा

१—कन्यासु भूहेमगवादिकानि केचित्प्रशंसन्त्यनुदारवृत्ताः ।
स्वदोषतस्तानि विवर्जितानि व्यवृत्त दोषैर्ऋषिभिर्विशेषात् ।।३४।
कन्याप्रदानादिह रागवृद्धिर्द्वेषश्च रागाद्भवति क्रमेण ।
ताभ्यां तु मोहः परिवृद्धति मेति मोहप्रवृत्तौ नियतो विनाशः ।३५।
...............दे कीच काले गुणवत्प्रदत्तं फलावहं तन्भवतीति विद्धि ।३८।
(वरांगचरित सर्ग ७)

२—सागार धर्मामृत अध्याय २, श्लोक ५०—७६ ।

सकता है। अर्थात् मनुष्य को सर्वदा पुरुषार्थ करना चाहिये और त्रिवर्ग की साधना करनी चाहिये। जो व्यक्ति पूजा, दान, आदि नही करते वे केवल 'अर्थ' की साधना करते है तथा अपने जीवन को नष्ट करते हैं। अन्य उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी सार का प्रतिपादन किया है।

समदत्ति—

जो अहिंसा का पालक है वह दयादत्ति का तो पालन करता ही है, क्योंकि इसके बिना अहिंसा असंभव है। पात्रदत्ति के बिना ससार को पार पाना असंभव है। अब विशेष विचारणीय है समदत्ति। पण्डिताचार्य आशाधरजी ने पात्रो को १—धर्मपात्र और २—कार्यपात्र के भेदों में बाँटा है। परलोक में सुखादि मिलें इस लिए धर्मपात्रो को दान देना चाहिये तथा यहाँ सुख और कीर्ति के लिए कार्यपात्रों को दे[१]। इसके बाद कन्यादान का वर्णन है। अन्त में कहा है कि धर्म-अर्थ-काम मे सहकारियों की यथायोग सेवा करे तो मनुष्य यहाँ तथा परलोक में आनन्द पाता है।[२] इसके आगे दयादत्ति तथा आश्रितों के भरण पोषण की विधि है।

सोमदेवाचार्य ने भी अपने उपासकाध्ययन[३] में दान का विस्तृत वर्णन किया है। समदत्ति के विषय में उनका नीतिवाक्यामृत अद्‌भुत है। सम्पत्ति की परिभाषा के बाद वे कहते है कि वही सच्चा धनी है जो धन का उपयोग भी आगम में कही विधि से करता है। वे आगे कहते हे "जो धन से तीर्थ का सत्कार नहीं करता वह मधुच्छत्र के समान सर्वथा नष्ट हो जाता है[४]।

सोमदेवाचार्य के मत से धर्म तथा कर्म सहयोगी पुरुष तीर्थ है। इनके अतिरिक्त तादात्विक (बिना विचारे आगत सम्पत्ति को खर्च करने वाला), मूलहर (पैत्रिक सम्पत्ति पर मौज उडानेवाला) तथा कदर्य (मजदूरादि सभी का पेट काट कर धन जोडनेवाला पूँजीपति) लोगो की सम्पत्ति सहज ही नष्ट हो जाती है[५]। अर्थात् जो सम्पत्ति को सार्थक करना चाहते है उन्हें धर्म तथा कर्म सहयोगियो के साथ अपने वैभव का विभाजन करना ही चाहिये।

दान का लौकिक कारण—

तादात्विक तथा मूलहर तो स्वयमेव अपनी सम्पत्ति नट-विटो में नष्ट कर देते है, कदर्य की सम्पत्ति भी या तो राजा लेता है या उत्तराधिकारी मूलहर बनके खा जाते है अथवा चोरो के काम.

१—धर्मपात्राण्यनुग्राह्‌याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये।
कर्म पात्राणियात्रार्थं च कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ।५०।

२—धर्मार्थकामसध्रीची यथौचित्यमुपाचरन्
सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ।७४।

३—सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ।२।

४—तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ।४।
यशस्तिलक० उत्तरार्ध पृ० ४०३—४७।

५—नीतिवाक्यामृत-अर्थ समायोग

ग्राती है। इसीलिए स्वामी कार्त्तिकेय ने कहा है कि जो लक्ष्मी को कमाता है और न भोगता है और न देता है वह अपने को ठगता है तथा उसकी पर्याय व्यर्थ है। क्योंकि लक्ष्मी कहीं भी नहीं ठहरती है। इसलिए लक्ष्मी का भोग करो तथा दान दो[1]। धन कमाकर पृथ्वी में गाड़ दिया तो वह पत्थर समान है। जोड़ो और न भोगो, न दो तो वह दूसरे के वस्तु तुल्य हुई तथा ऐसा व्यक्ति लक्ष्मी की दासता ही करता है[2]। इसी दृष्टि से समस्त आचार्यों ने लिखा है कि पुरुषों के साथ न जाने वाली लक्ष्मी को दान देकर समाप्त करना चाहिये।

आज के युग में सम्पत्ति को लेकर जो निकृष्ट संघर्ष चल रहा है वह इसीलिए कि दान की परम्परा समाप्त हो गयी है। लोग भूल गये हैं कि जिस प्रकार अर्थ से राष्ट्र-विशेष या व्यक्ति विशेष की सर्व-प्रयोजन-सिद्धि है उसी प्रकार उनके लिए भी अर्थ अनिवार्य है जिन्हें उससे वंचित किया जा रहा है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि लोभ-मरुस्थल में लुप्त दान-सरस्वती नदी को पुन. समदत्ति का सबल प्रचार कर के प्रवाहित करना चाहिये, क्योंकि आज के युग में पात्रदत्ति तो भारत में इस काल में[3] है नहीं। न्याय से धन कमाने वाले को तथा यों ही जन्मान्तर के पुण्य फल से[4] प्राप्त सम्पत्तिशाली को स्वयमेव उसका दान में विनियोग करना चाहिये, यह तभी हो सकता है जब मनुष्य सोचे--

बाह्या. प्राणाः नृणामर्थो हरता त हता हि ते। और इस धन को देने वाले ने क्या नहीं दिया?

१--ता भुजिज्जऊ लच्छी दिज्जउ दाणं दया पहाणेण। कार्तिकेयानुप्रेक्षा १२

२--'णय भुंजदि बेलाए चितावत्थो ण सुवदि रमणीयें।
सो दासत्तं कुणादि विमोहिदो लच्छी तरुणीये।१८।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा ११--२०

३--पढुन्व पंचमयाले भरहे दाणं ण वि पि मोक्खस्स। रयणसार गा० २८।

४--दाणीणं दालिदं लोहिनं विं हवेई महसिरियं।
उहमाणं पुण्ण जिय कामाफलं जाव होई थिरं।२६।



जैन धर्म में नैतिकता का आदर्श

श्री अगरचन्द नाहटा

धर्म और नीति—

धर्म और नीति का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म आत्मा के आन्तरिक भावो से सम्बन्ध रखता है, नीति बाहर के आचार-व्यवहार से। बहुत बार धर्म एव नीति की विभाजक रेखा को ठीक से नही पहचानने के कारण नीति को ही धर्म की सज्ञा दे दी जाती है, पर जैनागमो में धर्म की व्याख्या करते हुए "वत्थु सहावो धम्मो" शब्दो द्वारा वस्तु के स्वभाव को ही धर्म माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी दिखाव से उसका कतई सम्बन्ध नही, वह तो वस्तु के आन्तरिक भाव को ही पकड़ता है। इस आभ्यतर तुला से तौलने पर वर्तमान में धर्म के नाम से पहचाने जाने-वाली बहुत सी बातो का नीति के अन्तर्गत समावेश हो जाता है ? नीति साधन है, धर्म साध्य है।

मनीषियो ने नीति की इस गडबडी को मिटाने के लिए ही धर्म-नीति एव लोक-नीति या राज-नीति के नाम से उसके दो विभाग कर दिये है। जिस व्यवहार का धर्म की ओर अधिक झुकाव है उसे धर्म-नीति एव जिसका लौकिक समाज-व्यवस्था की ओर झुकाव अधिक है उसे लोक-नीति या राजनीति कह सकते है। भारत धर्म-प्रधान देश है। आध्यात्मिक उन्नति ही हमारे पूर्वज ऋषि मुनियो का प्रधान लक्ष्य रहा है। अतः राजनीति को निर्धारित करने में भी धर्म का आदर्श ही सामने रखा गया है। इस प्रकार नीति एवं धर्म एक दूसरे से घुल-मिल-से गये है। धर्म से अविरोधी व्यवहार ही ग्राह्य माना गया है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। एक दूसरे के व्यवहार का प्रभाव समाज पर पड़ता है, अतः समाज व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने व उन्नत करने के लिए सदाचार को प्रधानता दी गई है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिए विद्वान् बनने या अधिक पढ़ने लिखने की योग्यता की इतनी आवश्यकता नही है, जितनी सदाचार की है। सदाचार की शिक्षा समुचित रूप से मिलती रहे इसीलिए प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे नियम बतलाये गये हैं जिनका पालन उस धर्म के प्रत्येक अनुयायी के लिए आवश्यक होता है। जैन धर्म में जीवन को आदर्श बनाने के लिए ऐसे अनेक नियम बतलाये गये हैं। उन्हीं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

जैन-धर्म का निर्धारित आदर्श—

नवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने गृहस्थ के दो प्रकार के धर्मों का विवेचन "धर्म बिंदु" नामक ग्रंथ में किया है। वे हैं सामान्य धर्म, एवं विशेष धर्म। इनमें से विशेष धर्म तो गृहस्थ-श्रावक के १२ व्रत ग्रहण रूप है और सामान्य धर्म मार्गानुसारी के ३५ गुणों के पालन रूप है। इन नियमों का श्रावक बनने की योग्यता की सूचक–भूमिका या पूर्व तैयारी के रूप में बतलाया गया है ? इन सब में नैतिक आदर्शों की ही प्रधानता है। अतः यहाँ उनकी सूची मात्र दी जा रही है। विशेष विवेचन धर्मबिन्दु, श्राद्धगुण विवरण मार्गानुसारी के ३५ गुण आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिये।

गृहस्थ का जीवनादर्श—

१ न्याय से द्रव्य उपार्जन करना। । २ भले पुरुषो के आचार को प्रशसा करना। ३ अपने समान कुल और सदाचारवाले अन्य गोत्रीय से विवाह सम्बन्ध करना। ४ पाप से डरना। प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार आचरण करना। ६ किसी का भी-विशेषतः राजादि का अवर्णवाद नही करना। ७ अति प्रकट एव अति गुप्त न हो, अच्छे पड़ोसी हो ऐसे स्थान में रहना। ८ श्रेष्ठ आचरणवालों की सगति करना। ६ माता पिता की भक्ति करना, आज्ञानुयायी होना। १० उपद्रव वाले स्थान को त्याग देना। ११ निन्दनीय प्रवृत्ति नही करना। १२ आमदनी के अनुसार खर्च करना। १३ धन के अनुसार वेष-भूषा धारण करना। १४ बुद्धि के आठ गुणो से युक्त होना। १५ निरन्तर धर्म सुनना। १६ भोजन पाचन न हुआ हो, वहां तक अन्य भोजन नही करना। १७ समय कुसमय, पथ्यापथ्य का विचार कर भोजन करना। १८ धर्म अर्थ काम को अविरोधी रूप में साधना। १६ अतिथि, साधु एव दीन हीन की योग्यतानुसार सेवा सत्कार करना। २० दुराग्रह नहीं करना। २१ गुणों से पक्षपात रखना, गुणानुरागी होना। २२ देश कालानुसार चलना। २३ अपने बलाबल का विचार करके कार्य करना। २४ वयोवृद्ध, ज्ञान वृद्ध, गुण वृद्धों का आदर करना। २५ कुटुम्बादि पोष्यवर्ग का उचित पोषण करना। २६ पूर्वापर का विचार कर काम करना। २७ विशेषज्ञ बनना। २८ कृतज्ञ—किये हुए उपकार को सदा स्मरण रखना। २६ लोकप्रिय होना। ३० लज्जावान् होना। ३१ दयालु होना। ३२ सुन्दर एव सौम्यकृति। ३३ परोपकार करना। ३४ काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन षट रिपुओं को जीतना। ३५ इन्द्रियों को वश में करना—ये ३५ गुण प्रत्येक गृहस्थ में होने आवश्यक हैं।

इनमें सर्वप्रथम गुण बहुत ही उपयुक्त रखा गया है। गृहस्थाश्रम का सारा दारमदार नीति से द्रव्योपार्जन करना है। अनीति से आया हुआ द्रव्य अनीति के कार्यों में प्रायः खर्च होता है। साधारणतः प्राणी अनुकरणप्रिय होता है अतः एक की अनीति का असर सारे समाज पर पड़ता है। इसी प्रकार आमदनी के अनुसार खर्च करने आदि सभी नियम बहुत ही सुन्दर है। इससे गृहस्थाश्रम बड़ा सुन्दर बन सकता है।

धर्म तो वास्तव में एक ही सनातन सत्य है पर धर्म-पालन की योग्यता के भेद से जैन दर्शन में साधुधर्म एवं श्रावक धर्म, ये दो भेद बतलाये गये हें। साधुओं का चरम लक्ष्य आत्मोद्धार है अतः उनकी साधाना बड़ी कठोर रखी गई है। उनका लोक-व्यवहार के साथ कम से कम ताल्लुक रहता है अतः उनके आचार-विचार वास्तविक धर्म के ही निकट होने चाहिये, पर साधारण गृहस्थ के लिए संसार की बहुत कुछ जिम्मेदारियाँ हैं। अतः वह एक मर्यादा में रह कर ही धर्म का पालन कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर महाव्रत अर्थात् सर्व विरक्ति एवं श्रावकों के धर्म को अणुव्रत अर्थात् देश विरक्ति धर्म की संज्ञा दी गयी है। मुनियों के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पूर्णतः पालन आवश्यक है। तब श्रावक के लिए ये नियम इस प्रकार रखे गये हैं—

१ निरपराधी प्राणी को संकल्प सहित न मारना।

२ अनर्थकारक झूठ न बोलना। कन्या, भूमि, गायादि सम्बन्धी झूठ न बोलना। गाली गलौज न करना।

३ राज्य से दण्ड मिले व लोग में निन्दा हो ऐसी बड़ी चोरी नहीं करना।

४ पर स्त्री का सग परित्याग करना।

५ मर्यादित जीवनोपयोगी वस्तुओं से अधिक का संग्रह न करना।

६ इन नियमों को सुचारु रूप से परिपालन के लिए ३ गुण व्रत एवं ४ शिक्षाव्रत मिलाकर श्रावक के १२ व्रत बतलाये गये हैं। इनमें नैतिकता कितनी कूटकूटकर के भरी पड़ी है यह इनके अतिचारों-दोषो की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है अत उन्हें यहाँ संक्षेप से बतलाया जाता है।

प्रथम व्रत के ५ अतिचार—

१ किसी भी प्राणी को अपने इष्ट स्थान में जाते हुए रोकना बांधना।

२ डंडा या चाबुकादि से प्रहार करना।

३ कान, नाक, चमडी आदि अवयवों का भेदन छेदन न करना।

४ मनुष्य या पशु आदि पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादना।

५ किसी के खान पान में रुकावट डालना।

दूसरे व्रत के अतिचार—

१ सच्चा झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना—मिथ्या उपदेश दोष है।

२ किसी की विशेषतः स्त्री की रहस्य की बात दूसरों के सामने प्रगट करना—रहस्योद्घाटन दोष है।

३ मोहर-हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना, खोटा सिक्का चलाना आदि—कूट लेख किया है ।

४ कोई धरोहर रख के भूल जाय तो उसकी भूल का लाभ उठाकर थोड़ी या बहुत धरोहर को हज्म कर जाना—न्यासापहार दोष है ।

५ आपस में प्रीति टूट जाय, इस ख्याल से एक दूसरे की चुगली खाना या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना—साकार मंत्र भेद है ।

तृतीय व्रत के अतिचार—

१ किसी को चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरित करना या दूसरे के द्वारा प्रेरणा दिलाना अथवा वैसे कार्य में सम्मत होना—स्तेनप्रयोग दोष है ।

२ निजी प्रेरणा या सम्मति के बिना कोई चोरी करके कुछ भी लाया हो उसे लोभवश लेना—स्तेन आहृतादान अतिचार है ।

३ राज्य निर्धारित आयात, निर्यातादि के करों को न देना, राज्य के नियमों का उल्लंघन करना —विरुद्ध राज्यातिक्रम दोष है ।

४ न्यूनाधिक माप, बाँट, तराजू आदि से लेन देन करना—हीनाधिक मानोन्मान है ।

५ असली के बदले बनावटी, अच्छी के स्थान पर बुरी 'वस्तु' को चलाना या देना—प्रतिरूपक व्यवहार दोष कहलाता है ।

चतुर्थ व्रत के अतिचार—

१ निजी सन्तति के उपरान्त कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह सम्बन्ध से दूसरे की सन्तति का विवाह कर देना—पर विवाहकरण है ।

२ किसी दूसरे ने अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री को स्वीकार किया हुआ हो तो उसी कालावधि में उस स्त्री का भोग करना—इत्वर परिगृहीतागमन है ।

३ वेश्या हो, या जिसका पति विदेश गया हो अनाथ विधवा हो, जो किसी पुरुष के कब्जे में न हो उसका उपभोग करना अपरिगृहीतागमन है ।

४ अस्वाभाविक रीति से जो सृष्टि-विरुद्ध काम का सेवन किया जाता है, वह अनंग क्रीड़ा दोष है ।

५ बारबार उद्दीपन करके विविध प्रकार से काम क्रीड़ा करना—तीव्र कामाभिलाष है ।

पांचवां व्रत—

पाँचवें व्रत के अतिचारों में धन, धान्य, क्षेत्र, दास, दासी, गाय, भैंस, घोड़े आदि जानवरों, सोना-चांदी आदि धातुओं का जो परिमाण निश्चित किया हो उसका उल्लंघन करना है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक का संग्रह न करे तो सभी के लिए वस्तुएँ सुलभ हो जावें

और, चोरबाजार, भूखे मर जाना आदि की नौबत ही नही आने पावे । उपर्युक्त अतिचार अर्थात् दोष हैं, जो श्रावक के लिए त्याज्य है ।

इसी प्रकार ८ वें अनर्थ दंड व्रत में व्यर्थ के अनर्थ से बचने के लिए सचेत किया गया है— १ कामोद्दीपक, असभ्य भाषण व परिहास नही करना, २ शारीरिक दुश्चेष्टाएँ न करना, ३ व्यर्थ का बकवास न करना, ४ अनावश्यक हिंसक अस्त्र-शस्त्र आदि पापकारी वस्तुएँ न रखना व दूसरों को न देना, आवश्यकता से अधिक वस्त्र आभूषण तेलादि का उपयोग न करना ।

गृहस्थ के लिए अन्य नियम—

जैनधर्म में जो व्यक्ति इन नियमों का पालन नही कर सकता हो उसे भी ७ व्यसनों का परित्याग तो अवश्य ही करने का विधान पाया जाता है । यथा—

> द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं परदार-सेवा ।
> एतानि सप्त व्यसनानि लोके, घोरोतिघोरं नरक नयन्ति ।

अर्थात् १ जूआ खेलना, २ मांस खाना, ३ शराब पीना, ४ वेश्यागमन करना, ५ शिकार खेलना, ६ चोरी करना, ७ परस्त्री सग करना—ये तो प्रत्येक जैन के लिए सर्वथा वर्ज्य हैं । १३वी शताब्दी के गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल ने अपने विशाल राज्य में इन नियमो का पालन करवाया था । इससे उन्होंने जनता का नैतिक स्तर कितना ऊँचा उठाया था, यह प्रत्येक पाठक सहज में ही समझ सकते है । दया का प्रचार एव मास, मदिरा का त्याग करवाना जैनधर्मी का प्रधान कर्त्तव्य बन गया था । लाखों व्यक्तियों को उन्होने अनैतिक प्रवृत्तियो से हटाकर नीति के मार्ग में लगाया और सारे भारत में जहाँ कही भी वे पहुँच सके, जैन धर्म के सदाचार की छाप जनसाधारण पर अंकित कर दी । यज्ञादि एव देवी बलि को बन्द करने और जीव-दया का असाधारण प्रचार करने का सारा श्रेय जैनाचार्यों को ही है । वैदिक धर्मानुयायियों पर भी इसका बहुत अच्छा प्रभाव पडा । आज भी मारकाट, चोरी एवं अन्य महान् दुष्कर्म करनेवाले जैनधर्मानुयायियों में प्रायः नही मिलते अर्थात् नैतिक आदर्श उनमें बहुत ऊँचे दर्जे का पाया जाता है । हाँ, एक बात को स्वीकार करना आवश्यक है कि जैनियों के व्यापार-प्रधान हो जाने से लोभवृत्ति बढ़ गई है । अत व्यापारिक अनीति उनमें अधिक घुस गई है जिसके कारण वे बदनाम होते हैं, पर यह जैन धर्म से विरुद्ध ही है अतः अधर्म ही है । जैन बन्धुओं को अपने गौरव को अक्षुण्ण बनाने के लिए ऐसे अनीति-कार्यों से शीघ्रातिशीघ्र हटने का प्रयत्न करना चाहिये ।

जैन धर्म में सबसे अधिक जोर दिया गया है राग, द्वेष एव कषाय के विजय पर, क्योंकि जैनों के आराध्य देव का नाम ही वीतराग देव है । वहाँ व्यक्ति-विशेष का कोई खास स्थान नहीं । जो भी वीतरागी हुए है व होनेवाले हैं सभी का आदर करना जैन धर्म का प्रधान आचार है । संसार में जितने अनर्थ होते हैं उनका मूल राग एवं द्वेष या उसीके अवान्तर भेद-क्रोध, मान, माया,

लोभ हैं। इन चारों की संज्ञा जैन धर्म में कषाय रखी गई है जिसका भावार्थ है संसार की वृद्धि करनेवाले दुर्गुण। जितने अंश में इनकी कमी होगी उतने अंश में गुणों का विकास होना माना गया है। कषाय की तीव्रता मंदता को लक्ष्य करके उसके ४ भेद किये गये हैं जिनमें प्राथमिक शुद्धि रूप सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अनन्तानुबन्धी का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना अनिवार्य माना गया है। उस स्तर में पहुँचे बिना बाहर से कोई जैसा भी भला दिखता हो, पर सम्यक्त्वी या जैनी होने की प्रथम भूमिका भी उसने प्राप्त नहीं की—यही जैनागमों की स्पष्ट उक्ति है। इसी प्रकार श्रावक धर्म धारण के लिए उससे हीन कोटि के कषाय अप्रत्याख्यानी एवं साधु बनने के लिए प्रत्याख्यानी एवं वीतराग होने के लिये सज्वलन—कषाय का क्षय होना जरूरी है। अर्थात् ये कषाय क्षय होते है तभी तदनुरूप गुणस्थान प्राप्त होते है। जैन धर्म में गुणस्थान आत्मा के क्रमिक विकार का विवेचन बड़े ही मनोवैज्ञानिक रूप से किया गया है।

त्यागी मुनियों की बात जाने दीजिये—जैन मुनियों के जैसे कठिन एवं पवित्र आचार विचार—जो जैनागमों में प्रतिपादित है—विश्व के किसी भी धर्म में नही मिलेंगे। फलतः जैन साधु सस्था आज भी अन्य सभी धर्मों की साधु सस्था से अधिक आदर्श एवं उच्च ही है पर जैन गृहस्थों के लिए भी जो नीति-मार्ग बतलाया गया है तदनुसार चला जाय तो गृहस्थ जीवन स्वर्ग-सा सुखकर एवं सुन्दर बन जाय, पर खेद है कि हम लोभादि विषय कषायों के इतने अधिक अधीन हो चुके हैं कि हमारे कारण जैन धर्म का गौरव तिमिराच्छन्न है एवं हम हास्यास्पद हो रहे हैं।

जैन-धर्म और नीति—

साहित्य समाज एव धर्म का दर्पण है। जो समाज या धर्म जैसा होता है साहित्य में तदनुरूप उसका स्वरूप प्रतिबिम्बित पाया जाता है। तदनुसार जैन धर्म के नैतिक आदर्शों का पता उसके साहित्य से भली भाँति प्राप्त होता है। भोगों के प्रति आसक्ति एव अनैतिकता मानव का सस्कार-सा बन गया है। दुर्वासनाओ व दुराचारों को तनिक भी पनपने का अवकाश मिला कि वे कुसस्कार आकर उसपर सवार हो जाते हैं। अतः उनसे बचने के लिए अच्छे विचारो एव सदाचारो के प्रति उसे आकर्षित करते रहना नितान्त आवश्यक है। अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान, पूजा, सामायिक, मुनि-सेवा स्वाध्यायादि का इसी में महत्त्व है कि हमारा अधिक से अधिक समय अच्छे वातावरण में व्यतीत होता रहे, ताकि बुरे विचारों एवं कार्यों के लिए कमसे कम समय मिले। अधिक समय तक अच्छे वातावरण में रहने से उसकी सुवास जीवन में महक उठती है। इससे दुराचार रूपी दुर्गन्ध की ओर से उसका मन अपने आप खिच जायगा, उस ओर उसकी अरुचि हो जाने से प्रगति न हो सकेगी अतः जो साहित्य मानवता को ऊँचा उठाने मे सहायक हो, वास्तव में साहित्य की सज्ञा उसीके लिए सार्थक है। पर खेद है कि परवर्ती कतिपय विद्वानों ने उसे आलकारिक कागजों में ही सीमित कर दिया है। जैनाचार्यों ने कुशलवैद्य की भाँति जनता की नाड़ी टटोली और अच्छे साहित्य-सर्जन के द्वारा उसकी उचित चिकित्सा करने का बड़ा भारी प्रयत्न किया। जबकि अन्य साहित्य में विलासिता की ओर झुकने की प्रेरणा मिलती है, तब जैन साहित्य में शृंगारिक साहित्य का नामोनिशान नही है। प्रसंगवश कहीं कुछ वर्णन आ गया तो अन्त में उसे वैराग्य की ओर ही मोड़ दिया गया है। हजारों जैन कथाओं को आप पढ़के देखिये, उनका उद्देश्य एक ही मिलेगा। सत्कर्म

द्वारा सुखों की प्राप्ति, बुरे कार्यों का दारुण दुखद परिणाम, अन्त में धर्माराधन ही एकमात्र सुख का उपाय—यही बात पद-पद पर विवेचित मिलेगी । शृंगारिक लोक कथाओं—प्रेमवार्त्ताओं को भी उन्होंने अपनाया है तो उनमें भी जैन धर्म के नैतिक आदर्शों की ओर स्थान-स्थान पर ध्यान आकर्षित करते रहे हैं एवं अन्त में चरित्र नायक को जैन मुनियों के पास श्रावक या साधु धर्म स्वीकार करवा कर उसे नैतिक आदर्श से ओतप्रोत कर दिया है । यह खूबी जैन विद्वानों की ही है ।

विश्व में सबसे अधिक कुकर्म एवं मानवता का पतन करने वाला कार्य विषय-विलास या भोगासक्ति है । उसको हटाने या कम करने के लिए तो जैन-साहित्य रामबाण औषधि है । अब्रह्मचर्य के कारण ही मनुष्य का शारीरिक एवं मानसिक पतन होता है अतः इससे हटने के लिए स्त्री के लिए स्वपति में सन्तोष एवं पुरुष के लिए स्वपत्नी सन्तोष के लिए ही वैवाहिक प्रथा का जन्म हुआ, पर जहाँ तक दृष्टान्तों—कथाओं द्वारा इससे होते हुए लाभ एवं परस्त्री-गमन व वेश्यागमन के दुष्परिणाम को जनता के हृदय पटल पर अंकित नहीं किया जा सके । इस शील-धर्म के प्रति उनका आकर्षण नहीं बढ़ता इसलिए सीता जैसी रमणियों के चरित्र बड़े आदर्श ढग से चित्रित किये गये हैं जिससे तदनुरूप शीलपालन की प्रेरणा मिलती रहे । जैनधर्म में दान, शील, तप एवं भाव—धर्म के चार आदर्श रखे गये हैं। इनमें से दान एवं शील इन दो पर खूब जोर दिया गया है। इन्हीं को लेकर सैंकड़ों कथाओं सम्बन्धी हजारों कथा-ग्रंथों का निर्माण हुआ है । दान धर्म के माहात्म्य की इन्हीं कथाओं द्वारा जनता को उदारता एवं दानशीलता का पाठ मिला है और शील कथाएं तो इससे भी अधिक मिलती हैं जिन्होंने लाखों स्त्री-पुरुषों को ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट एवं विचलित होने से बचाया है । मानवता के नैतिक आदर्शों के प्रचार में जैन-साहित्य ने बहुत बड़ा काम किया है । इस साहित्य ने पतनोन्मुख प्राणियों को ऊँचा उठाया है ।

जैन धर्म में १७ पापस्थानक बतलाये गये हैं; जिनमें कलह करना, मिथ्या साक्ष्य देना, दोषारोपण करना, निन्दा करना, चुगली खाना को भी पाप स्थानों में सम्मिलित किया है। इनका नैतिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है।

गृहस्थ-श्रावक के २१ गुणों में तुच्छ प्रकृति न रखना, लोकप्रिय, क्रूर न होना, पापभीरु, अशठ, लज्जावान्, दयालु, मध्यस्थ, गुणानुरागी, दीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुगत, विनीत, कृतज्ञ, परोपकारी आदि गुणों का समावेश है ।

नीति के बिना जीवन किसी काम का नहीं रहता । संसार की स्थिति व उन्नति नीति पर ही निर्भर है और आज तो अनीति बहुत अधिक मात्रा में फैल चुकी है अतः नैतिक आदर्शों के पालन की परमावश्यकता है ।

क्या राज्य-विरुद्ध आचरण करना चोरी है ?

डा० श्री जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०

आचौर्यव्रत के अतिचार—

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में अचौर्यव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिक-मानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहाराः— (७.२७)

—अर्थात् स्तेन प्रयोग, स्तेन आहृत आदान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार—ये अस्तेय व्रत के अतिचार हैं ।

विरुद्ध राज्यातिक्रम के विभिन्न व्याख्यान—

विरुद्ध राज्यातिक्रम की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थभाष्यकार ने कहा है—"विरुद्धे हि राज्ये सर्वमेव स्तेययुक्तमादानं भवति"—अर्थात् विरुद्ध राज्य होने पर कुछ भी ग्रहण करना चोरी समझा जाता है । सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककार ने उक्त पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विरुद्ध राज्य में अल्प मूल्य की वस्तुओ को अधिक मूल्य में वेचना विरुद्धराज्यातिक्रम है।

लेकिन यह विरुद्ध राज्य क्या है, और विरुद्ध राज्यातिक्रम पद में चोरी का समावेश कहाँ से हो गया जिससे इसे अचौर्यव्रत का अतिचार माना जाने लगा ?

इस प्रश्न का उत्तर बृहत्कल्प सूत्र और उसके भाष्य को अवलोकन करने से मिल सकता है ।

बृहत्कल्प सूत्र के "वैराज्य विरुद्ध राज्य" नामक प्रकरण में एक सूत्र है :—

"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वेरज्ज—विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करित्तए ।"................... (१—३७)

—अर्थात् वैराज्य विरुद्ध राज्य में निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थिनियों को जल्दी-जल्दी आवागमन नही करना चाहिये । यदि वे ऐसा करेंगे तो प्रायश्चित्त के भागी होंगे ।

वैराज्य—विरुद्धराज्य की व्याख्या करते हुए बृहत्कल्पभाष्य में वैराज्य के चार भेद बताये गये हैं :—१ अणराय (अराजक) २ जुवराय (यौवराज्य), ३ वेरज्जय (वैराज्य), और ४ वेरज्ज (द्वैराज्य) ।

१ राजा के मरने पर जहाँ अभी तक किसी अन्य राजा या युवराज का राजपद पर अभिषेक नहीं हुआ हो उसे 'अणराय' शासन-प्रणाली कहते हैं। महाभारत में कहा है कि प्रचलित युग के आरम्भ में न कोई राज्य था, न राजा और न कोई व्यक्ति शासन कार्य के लिए नियुक्त किया गया था। परन्तु पारस्परिक अविश्वास के कारण इस प्रकार का धर्म का शासन बहुत समय तक न चल सका, और सर्वत्र अराजकता फैल गई। अराजकता के भय से घबराकर देवता लोग विष्णु भगवान के पास पहुँचे, उस समय उन्होंने सर्वप्रथम पृथु को राजा नियुक्त किया। जैन ग्रंथों में भी यही कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव के पूर्व कोई राजा या शासन-कर्त्ता नही था। नाभि महाराज ने उन्हें सर्वप्रथम राजा नियुक्त किया।

२ यदि कोई राजा किसी को युवराज पद पर अभिषिक्त करे, और वह युवराज किसी अन्य को युवराज पद न दे, उस शासन-प्रणाली को 'जुवराय' कहते हैं। इस प्रकार का शासनाधिकार सम्राट् खारवेल को उसके अभिषेक से पहले प्राप्त था। मालूम होता है, यह शासन उस दशा में होता था; जब एक राजा मर जाता था और उसका उत्तराधिकारी दूसरा राजा बहुत छोटा या नाबालिग होता था और शासन-कार्य किसी अभिभावक या निरीक्षण-मंडल के हाथ होता था।

३ जब शत्रु राजा की सेना राज्य में उपद्रव कर राज्य-व्यवस्था को भंग कर देती थी, उस समय की शासन-प्रणाली को 'वैराज्य' कहा जाता था। एतरेय ब्राह्मण में इस शासन-प्रणाली का उल्लेख मिलता है, और यह प्रणाली उत्तर मद्रो और उत्तर कुरुओं में प्रचलित थी (देखो, काशीप्रसाद जायसवाल, 'हिन्दू पॉलिटी'—हिन्दू राज्य-तंत्र, प्रथम खंड, पृ० १४८—६) कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी इस प्रणाली का जिक्र आता है। कौटिल्य ने अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए, द्वैराज्य और वैराज्य शासन प्रणालियों में से, प्रजा की सम्मति से किये जानेवाले वैराज्य को उत्तम बताया है। परन्तु कौटिल्य के अनुसार वैराज्य शासन-व्यवस्था में विजेता, जीवित शत्रु को उच्छिन्न करके बलपूर्वक उसका राज्य छीन लेता है और उसे दण्ड, कर इत्यादि से कष्ट पहुँचाता है, अथवा वह प्रजा का विश्वास-भाजन न बन सकने के कारण उसका सर्वस्व हरणकर चल देता है, अतएव वैराज्य प्रणाली श्रेयस्कर है।

४ जिस शासन-व्यवस्था में एक ही गोत्र के, राज्य के इच्छुक दो राजाओं की सेनाओं में परस्पर युद्ध होता रहता है उसे 'द्वैराज्य' शासन-प्रणाली कहते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार इस व्यवस्था में राज्य के दो स्वामी होते हैं, और दोनों में प्रतियोगिता या पारस्परिक संघर्ष होने से राज्य के नाश हो जाने का अन्देशा रहता है। यद्यपि कौटिल्य का मत है कि पिता-पुत्र या दो भाइयों में परस्पर दाय भाग को लेकर ही झगड़ा हो सकता है, योग-क्षेत्र उनका समान रहता है तथा राज्य-कार्य के चिन्तक अमात्यगण इस झगड़े को शीघ्र ही शान्त कर सकते हैं। महाभारत से पता चलता है कि अवंती में बिन्द और अानुविक नामक दो राजाओं का राज्य था, और वे दोनों मिलकर शासन करते थे। ईसवी सन् की छठी सातवीं शताब्दी में नेपाल में भी यह शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

जिस शासन-प्रणाली में एक से अधिक दलों का राज्य होता है, उसे 'विरुद्ध राज्य' शासन-प्रणाली कहते है, उदाहरणार्थ अंधक-वृष्णियों की शासन-व्यवस्था।

प्राचीन सूत्र आचारांग में भी अराज, गणराज, युवराज, द्वेराज्य, वैराज्य और विरुद्धराज्य नामक शासन-प्रणालियो का उल्लेख मिलता है (२.३.१.सूत्र ३३६)।

वैराज्य अथवा विरुद्ध राज्य शासन-व्यवस्थाओं के रहते हुए जैन साधु-साध्वियों को भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ता था, यही कारण है कि उन्हें ऐसी हालत में गमनागमन का निषेध किया गया है। उदाहरण के लिए राजा के मर जाने पर जब राज्य में अराजकता फैल जाती थी तो उस समय आसपास के राजा नृपविहीन राज्य पर आक्रमण कर देते थे और दोनों सेनाओं में घोर युद्ध होता था। ऐसे समय नग्न जैन श्रमण गुप्तचर आदि समझकर पकड़ लिये जाते थे। उत्तराध्ययन टीका (२.पृ० ४७) से पता चलता है कि एक बार श्रावस्ति के राजा जितशत्रु दीक्षित होकर एकल विहार प्रतिमा से विहार करते हुए किसी 'वैराज्य' में पहुँचे और वहाँ राजपुरुषों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और मार डाला। इसी प्रकार राज्य-सम्बन्धी उपद्रव होनेपर जैन श्रमणों को चोर, लुब्धक आदि के साथ राज्य छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ता था। ऐसी हालत में उन्हें बौद्ध, कापालिक आदि भिक्षुकों का वेष धारण करना पड़ता था; कभी कुत्सित अन्न पर निर्वाह करना पडता था तथा संकट उपस्थित होने पर पलायन और कमल आदि के तालाब में छिपकर अपने प्राणो की रक्षा करनी पड़ती थी। कभी शासक राजा के अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण जैन श्रमणों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। कितनी ही बार प्रद्विष्ट राजा उन्हें देश-निर्वासन कर देता था, उनका आहार-विहार बन्द कर देता था और उनके धार्मिक उपकरण छिनवा लेता था, लेकिन जैन श्रमण आपद्धर्म समझ कर इन सब बाधाओं को शातिपूर्वक सहन करते थे। सभवत. ऐसी ही परिस्थितियों में जैन श्रमणों के लिए सल्लेखना का विधान बताया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मूल में वैराज्य या विरुद्ध राज्य-अतिक्रम का नियम निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के लिए था, जिससे वे संयम की रक्षा कर निर्विघ्नतया धर्म का पालन कर सकें। लेकिन आगे चल कर जब वैराज्य और विरुद्धराज्य की शासन-प्रणालियाँ न रही तो इनकी परम्परा विच्छेद होने से इन शब्दो क अर्थ भी लुप्त हो गया। जिससे उत्तरकालवर्ती जैन आचार्यों ने 'विरुद्ध राज्य' का भिन्नार्थ प्ररूपण कर उसे अचौर्यव्रत के अतिचारों के साथ जोड़ दिया, वस्तुतः 'विरुद्ध राज्य' और चोरी का कोई सम्बन्ध नही मालूम होता।

परम्परा-विच्छेद से अर्थ-विभिन्नता के उदाहरणों की जैन-ग्रंथों में कमी नहीं। उदाहरण के लिए, "वज्जीविदेहपुत्त' विशेषण जैन-सूत्रों में राजा कूणिक (अजातशत्रु) के लिए प्रयुक्त हुआ है। लिच्छावियों की तरह वज्जि भी एक गण था जिसमें जैन परम्परा के अनुसार कूणिक उत्पन्न हुए थे, तथा उनकी माता चेलना विदेह की थी, इसलिए वे विदेहपुत्र कहे जाते थे। परन्तु द्वादशाग में से नवाग के ऊपर टीका लिखनेवाले अभयदेव सूरि वज्जी का अर्थ करते हैं वज्री अर्थात् इन्द्र! इसी प्रकार अंधगवण्हि (अधक-वृष्णि) का अर्थ अभयदेव ने किया है बादरतेजस्कायिक प्राणी (अंधगवण्हिणो त्ति अंहिपा—वृक्षास्तेषां वह्नयस्तदाश्रयत्वेनेत्यंह्रिपवह्नयो बादर तेजस्कायिका इत्यर्थ.—भगवती सूत्र १८–३, पृ० ७४५)!

यही बात यदि "विरुद्धराज्य" के विषय में हुई हो तो क्या आश्चर्य है!

जैन-धर्म और वर्तमान संसार

डा० श्री कालिपद मित्र एम० ए०, डि० लिट्

प्रस्तावना—

वैदिक कर्म-काण्ड का अन्तिम स्वरूप, याज्ञिक विधि तथा बलिदान की निःसार पद्धति, पौरोहित्य और पुजारियों की निरंकुशता इन सबों की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई और इन सबो ने आलोचको के विभिन्न समुदायों को प्रतिवाद के लिए प्रेरित किया। उत्तेजनापूर्ण सबसे पहली आवाज उपनिषदो के अन्तस्तल से उठी—जिन्होंने बहुदेववाद का खडन और एकेश्वरवाद का समर्थन किया। अन्य विरोधियों ने आचार और अध्यात्म सम्बन्धी वैदिक धाराणाओं के विरुद्ध आवाज उठाई। हम इनके अनेक सम्प्रदायों के विषय में सुनते हैं; पाली-बौद्ध साहित्य में पुराण कस्यप, अजित केसकम्बली, संजय बेलट्ठिपुत्त, पकूधा कक्कायन, मक्खली गोसाल, निगन्थ नाथ पुत्त प्रसिद्ध हैं और आचाराग सूत्र तथा अन्य व्यवस्था सम्बन्धी जैन साहित्य में सैकड़ों भाष्यकार हैं। किन्तु उस समय की दो बुलन्द आवाजे गौतम बुद्ध और भगवान महावीर की ही थी। उनके क्रान्तिकारी उपदेश उस युग की पीड़ित जनता के हृदय में प्रतिध्वनित होने लगे और वे प्राचीन प्रचलन के ध्वस के लिए दो अत्यधिक बलशाली और गतिशील शक्ति सिद्ध हुए। समानता और प्रजातन्त्र का एक नया मार्ग खुला, जनता के सामाजिक और धार्मिक जीवन को एक नया रूप मिला। जाति प्रथा और सामाजिक भेदभाव की उग्रता नष्ट हो गई। प्राचीन प्रथाओं का अन्त कर दिया गया। कर्मकाण्ड की कृत्रिम पवित्रता खतम हो चली। जनता को उपदेश दिया गया कि वे अपने में आत्मनिर्भरता के गुण को विकसित क ँ। गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर ने जनता को जो धार्मिक उपदेश दिया वह सस्कृत में नही, विद्वानो की भाषा में नहीं—बल्कि उनकी मातृभाषा पाली और अर्द्धमागधी में दिया।

जैन-धर्म की विशेषता—

अब मैं जैन धर्म के विशिष्ट कर्तृत्वों पर ध्यान दूँगा। भगवान् महावीर ने जाति, धर्म, रंग, और लिंग के सभी भेदों को मिटा दिया। सभी स्त्री-पुरुष समान हैं, यहाँ तक कि नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग्य हैं, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में व्रत और शुद्ध आचरण द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए अनन्त शक्ति विद्यमान है। व्यक्ति के कर्म पर उन्होंने अत्यधिक जोर दिया है। कोई भी व्यक्ति अपने कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है। व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है; उसको दूसरों पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं है।

नारियां और जैन-धर्म—

स्त्रियाँ आध्यात्मिक ज्ञान और पूर्णता को प्राप्त करने के लिए योग्य हैं, महावीर ने स्त्रियों का उचित सम्मान किया और उन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया। जैन धर्म में नारी को हेय तथा निन्द्य नहीं माना गया, बल्कि धर्म साधना द्वारा उसे भी अपना कल्याण करने का अधिकार दिया गया है।

ईश्वर और जैन-दर्शन—

जैनधर्म ईश्वर को जीवन का उत्स, विश्व का कर्ता और गोचर जगत् का निर्देशक नहीं मानता है। इस प्रकार जैन तीर्थंकरोंने पराबलम्बन के बन्धन से मनुष्य की बुद्धि को मुक्त कर दिया। भगवान् महावीर ने मनुष्यों को बतलाया कि वे अपने भाग्य के स्वय निर्माता है और अपने प्रयत्नों के द्वारा ही आध्यात्मिक विकास की चोटी पर पहुँच सकते हैं। इस उपदेश ने मनुष्यों में आत्म-गौरव का एक सुखद भाव भर दिया, उन्हें निर्भीक, बलवान् और स्वावलम्बी बनने को सिखलाया और उन में सद्कार्य करने की प्रेरणा को उत्तेजित किया।

अहिंसा की नींव—

परमात्मा को दया के उत्स के रूप में मनुष्य को नही देखना है। उसे अपने ही कर्म का फल पाना है; उसे मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्ध को ठीक कर रखना है; चूँकि वह स्वयं जीना चाहता है इसलिए दूसरों को भी उसे जीने देना चाहिए। इसलिए सहानुभूति, मस्तिष्क की विशालता और सहिष्णुता पर आधारित पवित्र और न्याय-युक्त जीवन के आचरण के लिए व्यावहारिक आदेश के साथ कर्मवाद के विस्तृत सिद्धान्त का निरूपण किया गया। दूसरे शब्दों में, अहिंसा की नींव भली-भाँति और सच्चाई के साथ डाली गई।

स्याद्वाद—

जैन धर्म की दूसरी विशिष्ट देन है स्याद्वाद और अनेकान्तमत। यह किसी विषय पर भिन्नमतित्व का प्रतिपादन करता है और सत्य की अन्यापेक्षा (Relativity) पर जोर देता है। विषयों की प्रकृति अत्यन्त उलझनमय होती है, न तो सम्पूर्णतः हम किसी वस्तु को स्वीकार ही कर सकते हैं और न अस्वीकार ही। प्रत्येक विषय विरोध और प्रतिकूलताओं से भरा रहता है। किसी वस्तु को पूर्णतः समझने के लिए अस्तित्व और अनस्तित्व, एक और अनेक, स्थायित्व और अस्थायित्व के विरोधों को निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिए। इसके अनुसार कोई भी निर्णय अपने तईं या अपने आप में यथार्थ नहीं होता। चूकि प्रत्येक विचार में सत्यता होती है इसलिए धर्म की प्रत्येक पद्धति में कुछ न कुछ सत्यता अवश्य होगी। जब तक हम लोग यह दावा पेश करते रहेंगे कि सत्य हम ही लोगों में है और दूसरे लोग अंधकार में टटोल रहे हैं तब तक हमलोगों को सत्य कभी भी प्राप्त नहीं होगा और फलतः झगड़ों का भी

अन्त नहीं होगा। सत्य के सर्वांश पर अपने अधिकार का कोई भी दावा नहीं कर सकता। हम-लोगों के धर्म पर दूसरे लोग सहानुभूति-पूर्ण विचार रखें, इसके लिए हमलोगों को भी उचित है कि दूसरों के धर्म के प्रति हम विश्वास, सहिष्णुता और सम्मान का भाव बनाए रखें। अनेकान्त-वाद धार्मिक विचार की सभी पद्धतियों पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार पूर्वक और संश्लिष्ट रूप से विचार करता है।

शान्ति और सामंजस्य का संदेश—

अमृतचन्द्र, यशोविजय, सिद्धसेन दिवाकर, रहस्यवादी आनन्दघन सबों ने समझौता और सद्भाव पर जोर दिया है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने ठीक इसी प्रकार कहा है कि भिन्न मतमतान्तर उसे सर्वशक्तिमान् परमात्मा के पास पहुँचने के लिए केवल विभिन्न मार्ग हैं और स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने उपदेशों में इसी पर जोर दिया है। इस प्रकार स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद उस स्वमताभिमान का विरोधी है जो झगडा उत्पन्न करता है। यह शान्ति और सामञ्जस्य का सन्देश देता है; यह सिखलाता है कि हम लोग लडाई झगडे से अलग रहें। यदि यह सद्भावना एक बार फिर उत्पन्न हो जाय तो संभव है संसार के वर्तमान झगडे अधिकांश में नियन्त्रित हो जायँ।

विकृति का प्रवेश—

धर्म अपनी प्रधान शक्ति को तभी तक कायम रखता है जब तक समाज की आवश्यकताएँ उससे पूर्ण होती हैं। जिस क्षण वह जीवन की वास्तविकता से अलग हो जाता है और अपने को समाज के बदलते हुए या बदले हुए वात्याचक्र के अनुरूप नहीं बना पाता, अपनी शक्ति को खोकर निष्फल बन जाता है। कालान्तर में जैन धर्मावलम्बी पतन को प्राप्त हुए और हिन्दुओं की तरह उन्होंने भी अपने लिए देवताओं का निर्माण किया और उनको अपनी अभिलाषाओं के अधीन बनाने के लिए ऐन्द्रजालिक उपायों का अन्वेषण किया—मन्त्र यन्त्र निकाले, यानी अपने में तान्त्रिक विचारों को विकसित कर लिया। कर्म तो उनके लिए एक सिद्धान्त भर रह गया जिसके अनुसार मनुष्य के कार्य स्वतन्त्र नहीं होते, इस प्रकार उनकी पौरुषेय शक्ति और कार्यशीलता का अपहरण हुआ। विवेक और सत्य धर्म पर चमत्कार और अंधविश्वास की विजय हुई।

जैन-धर्म की गतिशीलता—

इतिहास में विदित है कि जैन धर्म गतिशील परिस्थितियों के अनुरूप अपने को बना सकता है—मताभिमान के बंधन से अपने को मुक्त कर प्रवाहहीनता के सड़न से ऊपर उठ सकता है और साम्राज्य भी स्थापित कर सकता है।

जैन-धर्म सबको प्रेरणा दे सकता है—

ठीक जिस प्रकार भगवान् महावीर ने उन तत्कालीन परिस्थितियों के विरोध में, जिन्होंने समाज को संकुचित कर दिया था, अपनी एक पद्धति निकाली और समाज को नव जीवन दान किया उसी

प्रकार जैनियों को, और उसी वजह से सभी भारतीयों को भी चाहिए कि वे हमलोगों के धार्मिक उपदेशो से प्रेरणा प्राप्त करें। परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का निर्भिकता से सामना करें ताकि हमलोग पवित्र, निर्भीक और साहसी जीवन व्यतीत कर सकें।

जैन-धर्म : आर्थिक समस्याओं का सुन्दर समाधान—

आर्थिक जीवन के क्षेत्र में परिमित और परिग्रह का व्रत न केवल हम ही लोगों के, बल्कि संसार के आर्थिक पुनिनर्माण के कार्य पर प्रकाश डाल सकता है। संसार में मनुष्य को अपने पद और तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार अपने अधिकारो को सीमित करना पड़ता है। इस सीमा के परे जो भी धन प्राप्त किया जाय उसे अपना न समझ कर अखिल समाज के कल्याण में लगा दिया जाय। वर्त्तमान समार की परिस्थितियो पर यदि यह भली भाँति लागू कर दिया जाय तो आर्थिक समस्याओं के शातिपूर्ण समाधान के लिए एक कुजी मिल जायगी और उन तरीकों को भी अपनाना नही पडेगा जो हिसामूलक है तथा ऐसे वर्ग घृणा मे उत्पन्न हैं जो सम्पत्ति को धराशायी कर देते हैं, समाज को क्रान्तिकारी ढग से छिन्न-भिन्न कर देते हैं तथा भावी सन्तान के लिए उत्तराधिकार में चिरन्तन संघर्ष और कलह का बीज छोड जाते हैं।

अहिंसा ही रक्षक है—

सभी मनुष्यों ने विनाशकारी गत दोनों विश्व युद्धों के विपज्जनक परिणामो का अनुभव किया है। विज्ञान ने मनुष्य को जो आणविक शक्ति दी है उसका उसने जीवन को नष्ट करने में उपयोग किया है। कहा जाता है कि विज्ञान ने एक ऐसी प्रक्रिया का पता लगाया है, जिसके द्वारा कोई प्रदेश पाँच मिनट में ही जीवन-विहीन किया जा सकता है। इसके विपरीत, अणु शक्ति यदि उचित रूप से व्यवहृत हो तो मनुष्य का कल्याण कर सकती है और उसकी अवस्था को अपरिमित रूप में समुन्नत बना सकती है। जब तक राष्ट्रीय तथा जातिगत उच्चम्मन्यता का हिंसात्मक भाव तथा बढ़ती हुई प्रति घृणा का त्याग नही होता तब तक मानवता को नष्ट हो जाना पड़ेगा। केवल अहिंसा ही समार को जीवन दे सकती है।

मानव धर्म की ओर हम अग्रसर हों—

भारत के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि हमलोग अपने दोषों के सुधार में तत्परता का भाव रखें तो हमलोगों का सामाजिक ढाँचा बहुत ही दृढ़ हो जायगा। यह हमलोगों का, विशेषकर बुद्धिमानो का, दायित्व है कि प्राचीन पद्धतियो के भग्नावशेष से एक ऐसी नई पद्धति को जन्म दिया जाय जो निश्चय ही हमलोगो के सामाजिक, आर्थिक यहाँ तक कि राष्ट्रीय समस्याओं के भी समाधान के लिए स्वभावतः मानवधर्म का पोषक हो। युद्धरत दल तथा सम्प्रदायों के बीच "युद्ध रोको" की आज्ञा

देने में, आत्मघाती युद्धों को रोकने में तथा उनकी संयुक्त शक्तियों को मानव समुदाय के दुःख-दर्द को दूर करने की ओर लक्ष्य करने में हमलोगों को अवश्य ही समर्थ होना चाहिये ।

अमरता का संदेश—

इस समय की प्रधान आवश्यकता है सहिष्णुता और अहिंसा । प्राचीन काल में भारत ने देश-काल के अनुरूप अपने को बना लिया था तथा सामंजस्य के भाव को प्रदर्शित किया था और समता और विषमता की सम्मिश्रित संस्कृति को जन्म दिया था । आज युद्धों में 'मारो, मारो' के बधिर कर देने वाले उच्च नारों के लगते रहने पर भी भारत अपनी आवाज बुलन्द कर सकता है और अमरता का सदेश दे सकता है । जैन-धर्म का अमर सन्देश विश्व को सुख-शान्ति देने वाला है । अहिंसा और अनेकान्त से ही जगत् सुखी हो सकता है ।

अहिंसा द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति—

विश्व के इतिहास में जो सबसे बड़ी घटना आज तक घट सकी है, और न अबतक जिसका कोई उदाहरण अथवा समानान्तर है, वह लगभग पाँच वर्ष पहले घटी थी । बहुत दिनों के बाद भारत ने पुन: अपनी स्वतन्त्रता एक ऐसे अद्वितीय ढंग से प्राप्त की जिसका पहले कभी प्रयोग नहीं हुआ था । वह अहिंसा का ढंग था जिसका महात्मा गाँधी ने प्रचार और व्यवहार किया था । स्वतन्त्रता का आगमन और ब्रिटेन से उनका "भारत छोड़ो" की अपील का कार्यान्वयन १५ अगस्त १९४७ को हुआ । ये सारी घटनाएँ सद्भाव तथा अनुकूलता के वातावरण में बिना हिंसा के ही घटित हुईं । अनेक अधिकारी विद्वानों की राय है कि जैन-सिद्धान्त के अनुसार अहिंसा का जो भाव है वह महात्मा गाँधी में वास्तविक रूप से मूर्तिमान् हुआ था ।

इतिहास

और

साहित्य

तोरमान विषयक जैन उल्लेख

श्री एन० सी० मेहता, आइ० सी० एस०

प्रस्ताविक—

विक्रम स० १९८३ के आषाढ महीने के "जैन साहित्य संशोधक" गुजराती त्रैमासिक पत्र में प्रकाशित जरात विद्यापीठ के मुनि जिनविजय जी के (रोचक) प्रमाणाधारित लेख के आधार पर मै कुछ आवश्यक विवेचन करूँगा। उसके आधार ग्रंथ "कुवलयमाला' को उद्योतन सूरि उपनाम दाक्षिण्य चिन्ह् ने प्राकृत भाषा में मालवाड़ के "जाबालीपुर" नगर में चैत्र वदी १४ सं० ६९९ में लिखकर समाप्त किया था। यह नगर पहले गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत था।

यह ग्रंथ चम्पू के समान गद्य-पद्यमय है। इसका प्राकृत में दक्षिण महाराष्ट्र के प्रचलित शब्दों का प्रयोगबाहुल्य एवं दक्षिणस्थित प्रदेशो के वर्णन को देखकर यह प्रतीत होता है कि उद्योतन जी इसी प्रान्त के सुरम्य अचल के निवासी थे अथवा बहुत दिनों तक यहीं प्रवास किया था। इनके एक गुरु ख्यातिप्राप्त जैन विद्वान् 'हरिभद्र सूरि' थे इन्होंने १४०० से १४४० तक छोटे बड़े ग्रंथों का निर्माण कर अपनी उज्ज्वल प्रतिभा को प्रदर्शित किया था। इनमें 'समराइच्चकहा' एक सुविख्यात कथा है जिसमें उन्होंने अपने मित्र के द्वेष के कारण अग्निशर्मा के अधः पतन का सफल और मार्मिक चित्रण किया है।

इसी ग्रंथ के आधार पर उद्योतन ने 'कुवलयमाला' का निर्माण किया। जैनियों का कथा साहित्य अधिकतर दशवी शताब्दी के उपरान्त ही उपलब्ध है। ईसा के पश्चात् ऐसे दस ग्रंथ भी प्राप्य नही है जिसको प्रथम सहस्राब्दी में निर्णयात्मक रूप से रक्खा जा सके और जैन कथाओं की प्राचीनता की वैज्ञानिक प्राप्ति हो। इसी उपर्युक्त कारण से उद्योतन सूरि के इस ग्रंथ की महत्ता अपनी निराली है। इस अपूर्व ग्रंथ की केवल दो हस्तलिपियाँ ही प्राप्य हैं जो कुछ आवश्यक विशेषताओं में परस्पर भिन्न हैं। उनमें से एक रविवार फाल्गुन वदी १ संवत् ११३९ को लिखित जैसलमेर' के भंडार में सुरक्षित ताड़पत्र पर अंकित है और दूसरी राज्य पुस्तकालय पूना में प्राप्त प्रायः पन्द्रहवी शताब्दी की है।

उद्योतन ने अपने इस ग्रंथ के अन्त में अपने परिवार, गुरु, समय और अन्य परमावश्यक विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है, जो संक्षेप में नीचे उद्धृत है :—

जैन-उल्लेख—

(१) अत्थि पुहई पसिद्धा दोण्णि पहा दोण्णि चेव देसत्ति ।
तत्थत्थि पहं णामेण उत्तरावहं बुहजणाइण्णं ॥

(२) सुइदिअचारुसोहा विअसिअकमलाणणा विमलदेहा ।
तत्थत्थि जलहिदइआ सरिआ अह चंदभाय त्ति

(३) तीरम्मि तीअ पयडा पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला
जत्थत्थि ठिए भुत्ता पुहई सिरि तोररराएण ॥

(४) तस्स गुरू हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसाओ ।
तीय णयरीय दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले ॥

(५) तस्स विसिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामोत्ति ।
.... .सिवचन्द गणी य मयहरोत्ति ॥ (?)

(६) सो जिण वन्दणादेहं कहवि भमंतो कमेण संपत्तो ।
सिरिभिल्लमालणयरम्मि संठिओ कप्परुक्खोव्व ॥

(७) तस्स खमासमणगुणा णामेणं जक्खयत्तगणिणामो ।
सीसो महई महप्पा आसि तिलोए वि पयडजसो ॥

(८) तस्स य बहुया सीसा तवसी रिअवयणलद्धिसंपण्णा ।
रम्मो गुज्जरदेसो जेहिं कओ देव हरएहिं ॥

(९) णागो विंदीअम्मड दुग्गो आयरिय अग्गि सम्मोय
छट्ठो वडेसरो छम्मुहस्स य (व?) अणस्सते-आसि ॥

(१०) आगा सवण्पण (य) रे जिणालयं तेण णिम्मविय रम्मं ।
तस्स मुह दंसणेच्चिय अवि पसमइ जो अकमत्थो (व्वो) वि ॥

(११) तस्स वि सीसो अण्णो तत्तायरिओ त्ति णाम पयडगुणो ।
आसि तयतेयणिज्जि यपविगहमोहो (दिणयर व्व) ॥

(१२) (जो दूसम सलिलपवा हवेण ही रन्तगुणसहस्साण) ॥
सीलंगविडलसालो लक्खण रुक्खो व्व निक्कंपो ॥

(१३) सीसेण तस्स एसा हिरिदेवो दिण्णदंसणमणेण ।
रइया कुवलयमाला विलसियदक्खिण इन्धेण ॥

(१४) दिण्णजहिच्छियफलओ बहु कित्ती कुसुमरेहि रामोओ ।
आयरियवीरभद्दो अरयावरो कप्परु क्खोव्व ॥

(१५) सो सिद्धन्तेण गुरू, जुत्तिसत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
बहुसत्थगंथवित्थरपत्थारियपयडसव्वत्थो ॥

(१६) आसी तिकम्मानिरओ महादुवारम्मि खत्ति ओपयडो ।
उज्जोअणो त्ति णामतच्चिय परिभत्रजिरे तइआ ।।

(१७) तस्स णिपुत्तो संपइ णामिण वडेसरो त्ति पयडगुणो ।
तस्सुज्जोअणणामो तणओ अह विरइया तेण ।।

(१८) तुंगमलंघं जिण भवण मणहरं सावयाउडल विसमं ।
जावालिपुर अठ्ठावयं व अह अत्थि पुहईए ।।

(१६) तुगं धवल मणहारिरयणपसरंत धयवडाडो वं ।
उसहजिणंदायतणं करावियं वीरभद्देण ।।

(२०) तत्थट्ठिएण अह चोद्दसीए चेतस्स कण्हववक्खम्मि ।
णिम्मविआ बोहिकरी भव्वाण होउ सव्वाण ।।

(२१) परमडमिडडिभगो पणईयणरोहणी कलाचंदो ।
सिरिवच्छरायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ ।।

(२२) को किर सच्चई तीरं जिणवयणमदोअहिस्स दुत्तारं ।
थोअमइणा वि बद्धा एसा हिरिदे विवयणेण ।।

(२३) जिणवयणाओ जंणं अहिय व विरुद्धयं व जं बद्धं ।
त खमसु सठवेज्जसु मिच्छा अह दुक्कड तस्स

(२४) चंडकुलापयवेणं आयारय उज्जोअणेणः रइया मे ।
सिवसंतिबोहि मोक्खाण साहिया होउ भवियाण ।।

(२५) एयं कहं करेडं जं पुण्णं पाविय भए विउलं ।
साहुकिरिया सचितं भवे भवे होउ मे तेणं ।।

(२६) सगकाले बोलीणे वरिसाण सएहि सत्तें हि गएहिं ।
एगदिणेण णेहिं रइया अवरण्हवेलाए ।।

(२७) बण कइत्तणाहिमाणो ण कब्वणुद्धीए विरइया एसा ।
धम्मकहत्तिणिवद्धा मादोसे काहिई इमोए ।।

इन गाथाओं का शब्दार्थ लिखना व्यर्थ है, अतः भावार्थ दिया जा रहा है ।

(१) पृथ्वी पर वो ही विख्यात देश हैं। उत्तरापथ विद्वत्भूमि है ।

(२) चन्द्रभागा नदी इसके बीच से प्रवाहित है ।

(३) इसी के तट पर 'पव्वैया' नगर स्थित है जहाँ 'तोराया' निवास करते थे । (पूना प्रति के अनुसार तोरमान नरेश राज राजेश्वर थे)

(४) गुप्तवंशज 'हरिगुप्त' उनके गुरु थे और वे भी वहीं के निवासी थे ?

(५) इनके शिष्य थे महाकवि 'देवगुप्त' और उनके शिष्य थे 'शिवचन्द्र गणी' ।

(६) वे तीर्थयात्रा करते हुए 'भिन्नमाल' पहुँचे ।

(७) त्रैलोक्य विख्यात यक्षदत्त ज्ञानी इनके प्रमुख शिष्य थे ।

(८) गुर्जर देश को सुशोभित एव अनेक मन्दिरों के निर्माण करने वाले उनके अनेक योग्य शिष्य थे ।

(९) उनमें नाग विन्दा, मम्मद, दुगा, अग्निशर्मा और वेदसार प्रमुख शिष्य थे ।

(१०) 'वेदसार' ने 'आगा सवणा' (आकाशवप्रा) में एक सुन्दर जैन मन्दिर बनवाया था ।

(११) इनके शिष्य थे तत्त्वाचार्य ।

(१२) इनके शिष्य थे 'दक्खिन इन्धा' की पदवी से विभूषित कुवलयमाला के ग्रंथकार ।

(१३, १४, १५) जिनका सिद्धान्त शिक्षण हुआ आचार्य वीरभद्रजी के द्वारा तथा युक्तिशास्त्र अनेक ग्रंथों के रचयिता श्री हरिभद्र जी ने पढ़ाया ।

(१६) उस समय महादुवारा के प्रसिद्ध उद्योतन का राज्य था ।

(१७) उनके पुत्र सम्प्रति या वेदसार जी ही प्रस्तुत ग्रंथकार के पिता थे ।

(१८, १९, २०) सुन्दर जिनालयों एव अनेक श्रावकों से सुशोभित 'जाबालिपुर' के श्री वीरभद्र द्वारा निर्मापित श्री ऋषभदेव मन्दिर में इन्होंने चैत्र बदि चतुर्दशी को यह ग्रंथ समाप्त किया ।

(२१) श्री वत्सराज राजा थे ।

(२४) चन्द्रकुलवंशोद्‌भव उद्योतनाचार्य इसके लेखक हैं ।

(२६) शाकाब्द के ७०० वर्ष पूर्ण होने के एक दिन पूर्व इन्होंने इस ग्रंथ को अपराह्ण में समाप्त किया ।

यहाँ तोराराय या तोरमान का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह निश्चय ही वही हूणनरेश तोरमान हैं जिन्होंने गुप्तों की नींव हिला दी थी । जहाँ हम को ज्ञात है कि इनके प्रसिद्ध पुत्र मिहिरकुल की राजधानी 'साकल' या आधुनिक सियालकोट थी, इनकी राजधानी के विषय में कुछ भी पता नहीं था, किन्तु इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि इनको राजधानी चन्द्रभागा नदी के तट पर पवैय्या नगर में थी ।

सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना है तोरमान के गुरु के विषय में। इनके गुरु थे गुप्तवंशीय हरिगुप्त। इस लेख से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि हरिगुप्त जैनमतावलम्बी थे । किन्तु क्या यह सम्भव है कि विकट हूणाधिपति पराजित गुप्त जैन गुरु के समक्ष नतमतस्तक होते ? किन्तु यदि हरिगुप्त किसी भिन्न गुप्तवंश के थे तो फिर वंश के उल्लेख की आवश्यकता ही क्या थी ? किन्तु यदि हम इस धृष्ट निष्कर्ष को मान लें कि तोरमान विजित गुप्त वंशीय मनुष्य जैनी के शिष्य थे तब हमको यह भी मानना ही पड़ेगा कि विष्णूपासक गुप्तों के वंश में कम से कम एक व्यक्ति तो ऐसा था ही जिसने कुलपरम्परागत विष्णु की उपासना को भगवान् महावीर के कठिन पथ के समक्ष त्याग दिया था । कुवलयमाला के ग्रंथकार ऊपर उद्धृत किये गये पाँचवें श्लोक में किसी देव गुप्त के विषय में कहते हैं जो थे

एक विख्यात कवि और हरि गुप्त के शिष्य । पूना की हस्तलिपि इनको बहुकला-कुशल सैद्धान्तिक मानती है । कुवलयमाला की भूमिका में गुप्तराजवंशज एक राजर्षि देवगुप्त का वर्णन है जो त्रिपुरवचरित के रचयिता भी हैं । महाकवि देवगुप्त और राजर्षि देवगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति हैं इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है । अब प्रश्न यह उठता है कि यह राजर्षि थे कौन ? सन् १९८४ में कनिंघम साहब को अहिच्छत्र में एक ताम्रमुद्रा प्राप्त हुई थी । जिस पर "महाराजदेवगुप्तस्य' एक ओर तथा दूसरी ओर अंकित था सुज्ञात जैन चिन्ह पुष्पसहित एक कलश । यह शुभ चिन्ह आज भी जैनों के मध्य प्रचलित है तथा शुभावसरों में निमन्त्रणों में पाया जाता है । गुप्तमुद्राओं पर शासकों की विश्वास परम्परा के अनुसार बैल घोड़ा, लक्ष्मी या धनुर्धारी योद्धा ही अंकित होता है । कलश और पुष्प देवगुप्त के जैनधर्मावलम्बी होनेपर ही उपयुक्त होंगे । शिलालेख के अनुसार देवगुप्त महाराज का समय पाँचवीं शताब्दी का अन्त या छठी शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित हुआ है। यह उद्योतन सूरि के तोरराय के समकालीन हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त के समय से मिल जाता है (tallies)।

यह प्रत्यक्ष है कि इस आदि काल में भी प्राचीन गुजरात की राजधानी भिन्नमाल या श्रीमाल एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ थी जहाँ देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र गणी चले गये थे । कुवलयमाला के अनुसार शिवचन्द्र के शिष्य ने अनेक जिनालयों का निर्माण कर गुजरात को शोभायमान कर दिया था--दूसरे शब्दों में दक्षिण में शैवधर्म से मुठभेड़ के पूर्व ही पश्चिम भारत में जैन-धर्म ने बहुत उन्नति की थी । प्राचीन दक्षिणपथ से इस धर्म का वास्तविक उन्मूलन नवीं शताब्दी में हुआ। दसवें श्लोक में आकाशवप्रा का उल्लेख है । यह आधुनिक 'वादनगर' हो सकता है । आकाशवप्रा अर्थ होता है वह नगर जिसके चतुर्दिक् कोट के स्थान पर आकाश होता है । कुमारपाल के शासनकाल में स० ११५७ ई० में ही आनन्दपुर के चारो ओर दीवालें बनीं ।

१८ से २० श्लोकों में उद्योतन जी ने जाबालिपुर का वर्णन किया है जहाँ वे इस ग्रंथ का निर्माण किये थे । यह नगर आज भी जोधपुर राज्य का प्रधान कार्यालय है और 'अन्हिलवाडपाटण' के चालुक्य राजाओं का एक मुख्य केन्द्र होने के लिए भी प्रसिद्ध है । उद्योतन जी का कथन है 'वत्सराज' के शासन काल में उन्होंने यह ग्रंथ लिखा था । ये नरहस्ति एवं 'परभटभृकुटिभंजक' कहे जाते थे और सम्भवतः वे ही सुविख्यात 'प्रतिहार' राजा हैं जिन्होंने प्राचीन गुजरात से प्रारम्भ कर अपना राज्य कन्नौज तक बढ़ाया । तद्विषयक प्राचीनतम उल्लेख कुवलयमाला से पाँच वर्ष पश्चात् का है और जिनसेनाचार्यकृत हरिवंश पुराण में उपलब्ध है जिसका समय शाकाब्द ७०५ है ।

शक ७०५ में जब इन्द्रायुध उत्तर में राज्य करते थे ।

> शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरा
> पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाय।
> पूर्वां श्रीमेदवन्तिभूभृति नृपे वत्साधिराजेऽपरां
> सौर्या (रा) णामधिमंडलं (लं) जय-युते वीरे वराहेऽवति ।।

श्री वल्लभ का दक्षिण में, अवन्तिराज का पूर्व में वत्सराज का पश्चिम में और जयवराह का शौर्यदेश में शासन था। वत्सराज के पौत्र मिहिरभोज के समय के शिलालेख से वत्सराज की महत्ता का और भी परिचय प्राप्त होता है। इन्होंने भण्डीनरेशों से राज्य छीन लिया था ऐसा इस लेख में वर्णन है। यह भडीवंश कन्नौज का वर्मावंश हो सकता है। नागभट्ट के शासनकाल में अरबों के हमलों के कारण भिन्नमाल को त्याग कर पूर्व में ही जाबालिपुर राजधानी बन चुकी थी। मार-वाड़ में जाबालिपुर या 'झालर' इस पद पर ६०० वर्ष तक रहा तथा १३११ उ० में अलाउद्दीन खिलजी ने इसको नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

कुवलयमाला द्वारा प्राप्त सामग्री का तथ्य—

(१) प्रस्तुत ग्रंथकार उद्योतन सूरि क्षत्रिय थे और उन्होंने प्रतिहारवंशी वत्सराज के शासनकाल में इस ग्रंथ की रचना की। इस समय भिन्नमाल के स्थान पर जाबालिपुर ही राजधानी थी।

(२) उद्योतन प्रसिद्ध हरिभद्र के शिष्य थे।

(३) तोरराय या तोरमान उत्तरपथ के शासक थे और इनकी राजधानी चिनाब या चन्द्रभागा तट स्थित पर्वय्या नगर में थी।

(४) यह तोरराय निस्सन्देह ऐतिहासिक हूणनरेश तोरमान ही हैं और इन्होंने गुप्तवंशोद्भव (संभवतः शासक गुप्तवंश) हरिगुप्त को अपना गुरु स्वीकार किया।

(५) हरिगुप्त के दूसरे शिष्य थे देवगुप्त। सम्भवतः ये कन्नौज के हर्ष के भ्राता राज्यवर्द्धन द्वारा पराजित गुप्तनरेश हो सकते हैं। देवगुप्त जो पराजय के पश्चात् साधु हो गये होंगे और संभवतः इन्हीं की मुद्रा सन् १८९४ ई० में कनिंघम साहब को मिली थी।

(६) हरिगुप्त और देवगुप्त दोनों ही जैनमतावलम्बी थे और यद्यपि तोरराय स्वयं जैनी न रहे हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके ऊपर जैन गुरुओं का प्रभाव बहुत पड़ा होगा।

(७) आठवीं शताब्दी पश्चिम भारत में जैन धर्म का विशेष प्रचार एवं प्रसार था क्योंकि उस समय के पूर्व ही भिन्नमाल को जैन तीर्थों का केन्द्र माना जाता था।

राजावली-कथा में जैन-परम्परा

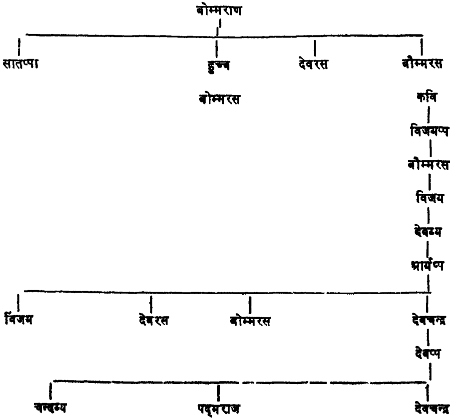
श्री एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, एम० ए०

देवचन्द्र का परिचय—

देवचन्द्र की 'राजावली कथा' एक कृति है जो सन् १८४१ ई० में पूर्ण हुई थी। इसका महत्त्व इस बात में है कि यह जैन मत की परम्परा, कर्णाटक में इसके इतिहास, कन्नड़ और संस्कृत के अन्तर्गत साहित्य और शासक राज्य वंश तथा समकालीन धर्मों पर प्रकाश डालती है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व अत्यन्त संदिग्ध है। किन्तु शोधकार्य के लिए इससे अनेक बातों का पता चलता है; अतएव सर्वथा काल्पनिक कहकर हम इसका परित्याग नहीं कर सकते।

देवचन्द्र और उसके दो बड़े भाई चन्दय्य और पद्मराज बोम्मराय नामक एक जैन ब्राह्मण की सन्तान थे जो गिरिपुर में गणक (Accountant) का कार्य करता था।

(वंशावली)



देवचन्द्र सन् १७७० ई० में पैदा हुआ और १४ वर्ष की उम्र से कविता करने लगा। २२ वर्ष (१७९२ ई०) की उम्र में उसने कन्नड में 'पूज्यपाद चरित' लिखा। कहा जाता है कि उस के बड़े भाई पद्मराज ने भी उस पुस्तक के कुछ अंश को लिखा था। इससे सिद्ध है कि उक्त कृति में दोनों का सहयोग अवश्य रहा होगा। देवचन्द्र ने मुम्मुडी कृष्ण राजा उदेयर को 'राजावलि कथा' सन् १८४१ में दी थी। अतएव वह ७० वर्षों से अधिक अवश्य ही जीवित रहा होगा। 'राजावली' उसकी अन्तिम रचना थी। इसके पूर्व उसने राम कथावतार, सुमेरु शतक, भक्तिसार शतकत्रय, शास्त्रसार, लघुवृत्ति, प्रवचन सिद्धान्त, व्य सग्रह, द्वादशानुप्रेक्षा कथा, ध्यान साम्राज्य, आध्यात्म विचार, कर्णाटक संस्कृत बालनुडी इत्यादि लिखे थे। वह कहता है कि सरदार लक्ष्मण राव के साथ मेकेंजी जब कनक गिरि आया तब उसने उमसे स्थानीय ऐतिहासिक महत्त्व के कागज-पत्रों को मांगा। देवचन्द्र ने अपने 'पूज्यपाद चरित' को उसे दिखलाया। मेकेंजी उस कवि को कमरवल्ली से नागवेल तक अपने साथ ले गया और २५ रु० देकर उससे प्राचीन परम्पराओं का लिखित विवरण भेजने के लिए कहा। देवचन्द्र ने 'राजावली कथा' का श्री गणेश सन् १८०४ ई० में किया और उसको सन् १८३८ ई० में पूरा कर दिया। इस लिए इसके सकलन में उसने लगभग ३५ वर्ष लगाए। कामराज की रानी देवी रम्बा ने इस कृति के सम्बन्ध में सुना और रचयिता से कहा कि मैसूर का इतिहास जोडकर इसे पूर्ण कर दिया जाय। कदाचित् सन् १८४१–४२ में कृष्ण राज उदयर तृतीय के सम्मुख यह उपस्थित किया गया।

ग्रन्थ-परिचय—

इस रचना में ११ अधिकार हैं। मैं यहां 'राजावली कथा' के कतिपय उद्धरणों का अनुवाद और साराश दे देना चाहता हूँ, क्योंकि सभव है यह इतिहास और साहित्य के जिज्ञासुओं के काम की चीज हो। ग्रन्थकार की कालानुक्रमणिका कभी कभी काल्पनिक जान पडती है और जैन दृष्टिकोण से लिखते समय वे वैष्णव और शैवों की कटु आलोचना कर बैठते हैं।

आरम्भ में ग्रथकार ने चौदह भुवन, चौसठ विद्या, चार वर्ण, अट्ठारह उपजातिया और एक सौ एक कुल, चारो वर्णों की विशेषताएँ, कुरुवश, हरिवश नाथवश, कश्यप के उग्रवश आदि, 'कुरुओं' ने हस्तिनापुर में राज्य किया, उग्रों ने काशी में राज्य किया, नाथों ने कुण्डिन में राज्य किया, और अयोध्या में सुप्रतिष्ठित सुबाहु, यशोबाहु, अजितजय आदि ने राज्य किया, इत्यादि विषयों पर लिखा है।

चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, ग्यारह रुद्र आदि के कारण ये चारों परिवार प्रसिद्ध हो गये। इसके बाद, व्यास, कृष्ण, और दशावतार का उल्लेख किया गया है। जैन विधि तथा नन्दीश्वर पूजा जैसे पर्व का वर्णन किया गया है। मल्ली भट्ट ने मसकरी पुराण के आधार पर इस्लाम की कल्पना की और अपने गुरु पार्श्व भट्टारक के उपदेशानुसार मुल्ला शास्त्र की रचना की। महर्षि चाणक्य और नव नन्दों की कथा दी गई है। स्वामी भद्रबाहु उज्जैन में १२ वर्ष पर्यन्त अकाल पड़ने के भय से महाराज चन्द्रगुप्त के साथ देशान्तर चले जाते हैं।

इन्द्रपुर के वसुपाल के समय में सभी ब्राह्मण जैन थे किन्तु बाद में वे जैनधर्म को छोड़ कर अपने को वेदान्ती कहने लगे ।

शक सवत २०० में माधव भट्ट और कोल्लेगाल की श्री देवी को पूज्यपाद नामक एक पुत्र हुआ । मुडीगोन्डम का पाणिनि अपना व्याकरण लिख रहा था किन्तु इस को पूर्ण करने के पूर्व ही उसका अन्तकाल निकट आ गया और इसलिए उसने अपने मामा पूज्यपाद से उसको पूरा करने के लिए कहा · पूज्यपाद ने न केवल जैनेन्द्र व्याकरण लिखा बल्कि पाणिनि व्याकरण की वृत्ति भी लिख डाली। नागार्जुन ने भी मामा या चचेरे भाई पूज्यपाद से सस्ते धातुओं को स्वर्ण में परिणत करने की कला सीखी । कनकगिरि हेमगिरि कहलाने लगा और पार्श्व जिन, पद्मावती और ब्रह्मा की मूर्तियाँ स्थापित हुई । सिद्ध नागार्जुन कुछ समय के लिए हेमगिरि में थे जहाँ कुछ राजाओं ने गोपाल स्थापित किया था और इसलिए वे श्री शैलम चले गये ।

चम्पकपुर के यशोधर ने अपने पुत्र श्रीधर को श्री शैल दिया जहाँ उसने तपस्या की और इसीलिए उस पर्वत का नाम श्री पर्वत और बाद में श्री शैल पड़ा । उसके दक्षिण में, एक बट वृक्ष के नीचे उसने सिद्धि प्राप्त की ; इसलिए उस स्थान को सिद्ध वटम् कहते हैं । अमरावती इसलिए कहते हैं कि वहाँ चतुर निकाया केवल पूजा के लिए एकत्रित हुए थे । मल्लिका लताओं से आच्छादित एवं अर्जुन वृक्ष के नीचे श्रीधर तपस्या कर रहा था और जब खेचर मल्लिका पुष्प से उस महात्मा की पूजा करने लगे तब उसे मल्लिकार्जुन कहने लगे । जब नागार्जुन वहाँ गये तब उन्होंने वहाँ एक देवता की स्थापना की जिसे अब मल्लिकार्जुन कहा जाता है ।

जैन-धर्म के पतन के कारण--

कल्याण पत्तन में चाणक राम के पुत्र सम्यक्त्व चूडामणि विज्जल अपनी रानी गुणवती और मंत्री सम्बुद्धि के साथ राज्य करता था । इङ्गलेश्वर के निकट मणडिज का एक जैन ब्राह्मण शैव्य ब्राह्मण हो गया, लिङ्गभट्ट उसका पुत्र था । लिङ्गभट्ट के पुत्र का नाम मादिराज था । मादिराज और उसकी पत्नी मादला को एक पुत्री और एक पुत्र (वासव राज) उत्पन्न हुआ । वासव ने कालिका की उपासना की और कई सिद्धियाँ प्राप्त कीं । माता पिता के देहान्त के बाद वह ब्राह्मणों से घृणा करने लगा और अपनी बहन नागम्मा की शादी भी नहीं की । वासव और उसके भतीजे चेन्न वासव ने ६७०० बस्तियों को नष्ट कर दिया और वीर शैव्य मत का प्रचार किया। मारी विज्जल की माता गुणरूप से जैन धर्म का पालन करती थी और उसने अपने पुत्र तथा मंत्री बुद्धिसागर से वासव के कार्यों का विरोध करने के लिए कहा ।

कांची में राजा शिवकोटि के अनुज शिवयान ने एक करोड़ शिवलिङ्ग की स्थापना की। समन्तभद्र ने राजा को अपने धर्म में ग्रहण किया । अपने पिता के संन्यास ग्रहण के पश्चात् शिवकोटि का पुत्र श्रीकंठ राज्य सिंहासन पर आरूढ हुआ ।

प्रभाचन्द्र स्वामी ज्वालामालिनी की पूजा करते थे और उन्होंने एक अकलंक और निष्कलंक नामक एक जैन ब्राह्मण के दो लड़कों को पढ़ाया। उन्होंने बौद्धों और वीर शैव्यों को परास्त किया। तत्पश्चात् शुद्ध पुरा के भट्टाकलंक ने अकलंक सतक की रचना की।

शक सम्वत् ७८० में जैन ब्राह्मणों को गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए श्रवणबेलगोला में लाया गया।

भोज-कालीन-अमर—

कुडूग नाडू में कुडूग लूर का नाम था टेरकणाम्बी। नव चोल, वीर प्रताप, सन्तदेव, भूदेव, भीम, रूद्रधर्म और कालिकाल चोल शासित—इनमें से तीन जैन, दो शैव्य और दो वैष्णव थे। ब्रह्म राक्षस ने धर्म चोल को बन्दी बनाया। बन्दी धर्म चोल ने बहुत से जैन, शैव्य और वैष्णव मन्दिरों का निर्माण किया। देवपुर में उसको कारा से मुक्त किया गया।

पार्श्व पण्डित, लोकपालाचार्य आदि अपने शिष्यों के साथ हस्तिमल्लिसेनाचार्य तथा तीन गोत्रों के कुछ जैन ब्राह्मण पाण्डेय देश से आए और जंगल देश में ठहरे। अन्य गोत्र के नौ ब्राह्मण कर्णाटक आए और अरि कुठार में ठहरे। वे लोग होयसल बल्लाल के अधीन कार्य कर रहे थे। जैनियों के ७०० परिवारों ने जाति प्रथा को भंग किया और ५१५ परिवारों ने प्रायश्चित करने से इन्कार किया। किन्तु गेरू सोप्प, भट्कल आदि के अन्य १८५ परिवार सच्चे जैन बने रहे।

शालिग्राम में वैदिक धर्मानुयायी २१ बकरों की बलि चढ़ाने जा रहे थे परन्तु जैन सत धर्माचार्य ने उनको बचा लिया। कुछ ब्राह्मण आटे का पशु बनाकर बलि के काम में लाने लगे। माध्वाचार्य ने माधव धर्म की स्थापना की।

कलिंग के राजा ने चोल की राजगद्दी हड़प ली। पांचाल उसके राज्य को छोड कर उरुगल प्रताप रुद्र के पास चले गए और कठपुतली का नाच सीख कर उन लोगों ने कलिंग के राजा तथा उसके मंत्रियों को मार डाला। विद्यानन्द नाम के एक जैन ब्राह्मण ने कठपुतली के नाच के स्थान पर महाभारत तथा रामायण को प्रतिष्ठित किया। जैनियों में स्थानिक, बिहार के समान कितने सम्प्रदाय चल पड़े। जैन क्षत्रियों में वंग, चौट, अजिल, सावंत, हेगाड सब अलग हो गए। कुंभ कोणम में १२ जैन सम्प्रदाय थे। कांची, चोल, केरल और पाण्ड्य देश में जैन ब्राह्मणों ने पाँच सम्प्रदाय कायम किये—उपाध्याय, पण्डित, नैगार आदि। इसी प्रकार वैश्यों के १४, कोंगा लोगों के १४ और माल्थाला लोगों के १२ सम्प्रदाय बने।

पाण्ड्य देश में वीर पाण्ड्य का पुत्र दक्षिण मथुरा में राज्य कर रहा था। जंगमों ने कून पाण्ड्य को वीर शैव्य मत में दीक्षित किया। गोपाचार्य, गुणभ , यतीन्द्र के समान जैन ब्राह्मण भी थे; उसका पुत्र मल्लि पण्डित जो मंत्री था, राजदरबार से आते समय एक उन्मत्त हाथी को पकड़ कर बगल कर दिया। तब से वह हस्तिमल्लिसेन के नाम से विख्यात हुआ। वह दो भाषाओं का कवि था (उभय भाषा कवि चक्रवर्ती) कुण पाण्डेय ने उस को लिङ्गायत बनने के लिए विवश किया। इसलिए वह पार्श्व पण्डित तथा अन्य पुत्रों को लेकर १२ गोत्रों के ब्राह्मणों तथा

५० शूद्र परिवारों के साथ केरल आया और विजयपत्तन में हरा । कुन पाण्ड्य ने पाण्ड्य देश में ६८५ तथा केवल मथुरा में ही ५० बस्तियों को नष्ट कर डाला । पाण्ड्यों के कुल देवता नेमिनाथ को छिपा दिया गया और कुसुमाण्डिणी का फिर से मीनाक्षी नाम रखा गया । वहाँ के आण्डियों ने जैनियों को बड़ा क्लेश पहुँचाया और भाले बर्छे का पर्व मनाया। (श्रमण सूलद हब्ब)

शंकराचार्य नामक एक स्मार्त ब्राह्मण ने जैन गुरु से शिक्षा प्राप्त की और शुद्ध शैव्य होने के पश्चात् वह शृङ्गेरी में आया जहाँ उसने बसड़ी में जिन मूर्ति को छिपा दिया और उस देवी की पूजा की, जिसे अब सरस्वती कहते हैं । उसने अनेकों भाष्य लिखे और उसके बहुत से लोग अनुगामी बन गए ।

वल्लाल राजा ने उन जैन-परिवारों का बड़ा सम्मान किया जो पाण्ड्य देश से विजय मंगल में आए थे तथा छत्रत्रय पुर में बस गये थे ।

वल्लालो के परिवार में एक वीर भूप था जो मदुरा का पाण्ड्य शासक हुआ । रत्नमौलि, किरीट पति विक्रम विजय विख्यात, सूर, सत्यन्धरा, ब्रह्म, सोमकृति उसके पूर्वज थे । वीर पाण्ड्य के पुत्र कून पाण्ड्य वीर शैव्य हो गया । उसकी गर्भवती रानी अचला कर्णाटक भेज दी गई । उस रानी के पुत्र सल ने दोर समुद्र पर शासन किया । बेटा होयसल देव ने वलकाड़ पर शासन किया और अरिकुमार में त्रिकुट वसडी को १०२१ दुर्मुखी, ज्येष्ठ बहुल, अर्कवार, तुलाराशि, बृहस्पति के रूप में फिर से नया कर दिया । उसका आठवा मत्री एक माचिराज नामक वीर शैव्य था, जिसने कोललूर में एक तालाब बनवाया । तालाब बनवाने का कार्य उसकी पत्नी सान्तवी ने पूरा किया और दिनकणाचारी द्वारा सान्तालेश्वर का एक मन्दिर बनवाया । सवत् ११०४ प्लव, वैशाख ५ को उसको वल्लाल द्वारा, एक अनुदान प्राप्त हुआ । उसने हुलिगर में चिन्न सोमेश्वर का तथा दम्पी में विरूपाक्ष का मन्दिर बनवाया । अभिनव पम्प ने 'जिनाक्षरमाला, 'मल्लिनाथ पुराण' और 'राम चरित' लिखा । वीर वल्लाल ने अपने अनुज वीर शैव्य सिन्धुर बल्लाल को टोण्डनुर का शासक बनाया । बादशाह की राजधानी पर प्रतिवर्ष शत्रुओ का आक्रमण हो रहा था । बादशाह की लड़की ने यह प्रतिज्ञा की कि वह उसीसे विवाह करेगी जो शत्रुओं के आक्रमण को रोक देगा । वल्लाल ने आक्रमण को रोक देने का वचन दिया किन्तु सुल्तान के सम्मुख सर झुकाने से इन्कार किया । सुल्तान क्रुद्ध हुआ और उसने नौकरों को आज्ञा दी कि वे वल्लाल को जान से मार डालें । तौ भी उन लोगों ने उसकी केवल एक अंगुली काट ली और इसलिए उसको बेट्टु वल्लाल कह कर पुकारने लगे ।

कथाओं की सार्थकता—

द्रविड़ देश में वैष्णव ब्राह्मण रामानुज पैदा हुआ जिसने विधाननगर में श्री वैष्णव मत का प्रचार किया । किन्तु वहां के जैनियों ने उन को हरा कर उनके सभी सम्मानों का अपहरण

कर लिया। इसलिए वे निराश होकर उपवास करने लगे। भंगार और सिंगार नाम की उनकी दो पुत्रियाँ थी जिन्होंने उनको धीरज बँधाया और यह वचन दिया कि वे सभी जैनियों को श्री वैष्णव बना देंगी। वे नृत्य और संगीत में परम प्रवीण होकर होयसल देश में आई। वल्लाल ने उनका स्वागत किया और उन्हें जैन धर्म की शिक्षा देने के लिए जैन कवियों को कन्नड़ तथा संस्कृत में रचना करने के लिए आज्ञा दी। मंगल, रन्न, द्रोण, जन्न कर्णपार्य, मधुर, राजहंस, नागवर्म केशव और नेमिचन्द्र ने कन्नड़ में लिखा। वल्लाल के अधीनस्थ कर्मचारी क्षेमकर, दामोदर, पद्मनाभ ने भी अनेक पुराण लिखवाए। नय दिगम्बर दास, नूतन कविता विलास विशेषणों से मुक्त नयसेनाचार्य ने 'धर्मामृत' लिखा। नेमिचन्द्र ने 'कादम्बरी' के साथ प्रतिस्पर्द्धा के लिए लीलावती लिखी। दीपन गुडी से आये हुए जैनियों में से भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण अरिकुठार और दिरकणाम्बी में बस गए। श्री वत्स गोत्र के पार्श्व पण्डित के पुत्र चन्द्रपार्य, चन्द्रनाथ, चन्दणार्य, आदि प्रसिद्ध हुए। चन्दापार्य के द्वितीय पुत्र ब्रह्मसूरि ने 'कैवल्यकार' लिखा। चन्द्रनाथ तथा छत्रत्रयपुर के कुछ अन्य लोग कनक गिरि में बस गए।

दिल्ली के बादशाह ने अपनी लडकी वरनन्दी का विवाह वल्लाल के साथ किया और उसे कर्णाटक भेज दिया। वगारम्भा और सिगारम्भा ने बादशाह से प्रार्थना की कि वे उनके पिता रामानुज तथा श्री वैष्णव लोगों को आमन्त्रित करें। राजा जैनियों से घृणा करने लगा और उसने रामानुज से दीक्षा ली। उसने टोण्डनूर में ७०० वस्तियों को, हेडाटल में १६ वस्तियों को, कलसवाडी में १०० वस्तियों को नष्ट कर दिया और जैनियों के पाँच मन्दिरों में नारायण की स्थापना की। रामानुज को लोग "जैनेवा कठीरव" कहने लगे और इसी पदवी के साथ उन्होंने देश का भ्रमण किया और तिरुपति काशी आदि स्थानों में विष्णु की मूर्ति स्थापित की। उनके साथ में १००० पचम थे जिनका नाम तिरुकुल दास पडा।

उसने मेलुगोट में जिनालय को जड से उखाड़ दिया। संवत् ११११ से १२०० तक चेलुक राज्य स्थापित किया गया। उसी समय अडापुर के निकट की धरती फट गई। वल्लाल ने हसीज चन्द्र मुनीश्वर से इसके निराकरण के लिए प्रार्थना की। मुनि ने एक कूष्माण्ड को अभिषिक्त कर पृथ्वी की दरार में रख दिया और पृथ्वी जुट गई। इसलिए उनका नाम पड़ा और वल्लाल जीव रक्षापाल कहलाया।

दिल्ली के सुल्तान ने वरनन्दी को भेजते समय यह आज्ञा दी कि एक एक गाउड के अन्तर पर ढोल रखे जायँ ताकि वह अपनी लड़की की दशा जान सके। वल्लाल की रानियाँ जब वरनन्दी के सौन्दर्य का मजाक उडाने लगी तब उसने ढोल को बजवाया। सुल्तान ने अपने प्रत्येक वजीर को १ लाख घोड़ा और १८ लाख पैदल सिपाहियों के साथ भेजा। चन्द्र पर्वत के पास मल्लिग सुदर, मल्लिग जुम्नर, मल्लिग वजीर ने वल्लाल का सामना किया। वरनन्दी पर्वत की एक खोह में घुस कर मर गई। वल्लाल सात दिनों तक लड़ा पर विफल रहा और इसलिए एक दूसरी खोह में जाकर प्राणान्त कर लिया।

सिन्धु बल्लाल आदि वैष्णव हो गये । जैन वैश्य वेंकटपुर में बस गये । दास गौड, वणजिग, तिरुकुल, दास, चौपाल पृथक् सम्प्रदाय हो गए । देविहल्ली, केडदाराव, अड्गर, सावन्तन हल्ली और होनजर के श्रावकों ने बंगारम्म और सिगरिम्म को प्रचुर धन दिया और यह वादा कर कि हम लोग विष्णु वर्द्धन और रामानुज की पूजा करेंगे. धर्म परिवर्तन से अपने को बचा लिया । इसलिए वे गौड़ कहलाए । उस समय तक कोई साम्प्रदायिक भेद नही था । रामानुज, शंकर भट्ट और रूद्राराध्या के कारण सम्प्रदाय अलग अलग हो गए ।

बल्लालों के समय में, संवत् १११२ से १२२० तक, बहुतेरे दण्डायकों ने गवर्नर के पद से शासन का कार्य किया । केशव बल्लाल का महाप्रधान था । नीलगिरि में माधव और उसके वंशजों ने वेट्टड कोट पर राज्य किया । माधव, भीम, माधव आदि ने वासुदेव का मदिर बनवाया । चन्दराण ने हेडटल में राज्य किया । गोविन्द, श्रीपति, देवराण और वेंकटपति ने उत्तर में राज्य किया । वेट्टड कोट गोविन्द (मचराण) पर नीलगिरि सोम द्वारा आक्रमण हुआ । फलतः उसने (गोविन्दने) पर्वत के एक ऊँचे करारे से कूद कर आत्महत्या कर ली । हिरबेगुर के कूचिराज वैष्णव हो गए । इन दण्डायको ने १२५० तक राज्य किया । उसके बाद लक्ष्मणदेव राय राज्य करते रहे ।

विद्यानगरी में कृष्णराय ने राज किया । किरातो में प्रताप राय, हस, प्रताप रुद्र, इम्माडी जगदेव, रामदेव, कप, सालुव कम्पिल राय और रामचन्द्र थे जिन्होने २०० वर्ष तक राज्य किया ।

इसके बाद मीमासक भर्तृहरि राज्य कर रहे थे । प्रजा ने कर के रूप मे अपनी उपज के छठे हिस्से से अधिक देने से इन्कार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वे ससार से विरक्त हो गये और भर्तृहरि शतक लिखा । उन्ही के परिवार में राजेन्द्र हुए—सारगधर जिनका लड़का था ।

बेडस कम्पिल के प्रधान को कुम्मत से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था राम । राम की विमाता प्रवान के साथ प्रेम करने लगी और उसने राम को मरवा डालने का प्रयत्न किया । किन्तु वह निकल भागा ।

बल्लाल परिवार के लोग उत्तर की ओर चले गए और विजयनगर में बस गए । उनमें से कुछ कल्गहल्लि, अरिकुठार, तलकड और मूगुर के प्रधान बन गए । चन्द्रवश के शासक कलुलि और हुल्लिनहल्लि मे आकर रुक गए ।

कल्गहलि के वीर सूर ने वासन्तिका देवी का नाम चामुण्डी रखा और महिमापुर नामक नगर बसाया । उसका दामाद उसका उत्तराधिकारी हुआ । वे तुरया हैं । उनका दावा है कि उनके पूर्वज ने एक बार बाढ़ में लौकी को पकड़ कर अपने प्राण बचाये थे और वह मृत्युजय कहलाने लगे । उसको उसकी पत्नी 'शक्ति' द्वारा सभी देवता उत्पन्न हुए, इत्यादि । उसके वशज दक्षिण में निड्डुगनकोट, सिंग गट्टन और जाननकोट में आए । वे मारम्म की पूजा करते थे ।

वीर बल्लाल की मृत्यु के बाद दिल्ली के बादशाह ने बहुत सी जैन बसतियो को तोड़ डाला और मसजिदें बनवाईं। चन्द्रद्रोण पर्वत पर बहुत से चैत्य तोड़ डाले गए, उनकी जगह पर फकीर रखे गए और निर्वाण मठ और फलनार मठ हिन्दुओं के लिए घोषित कर दिए गये और सवत् १३०५ में कर और जमीन के जय अनुदान दिए गए। दिल्ली के बादशाह और उनकी रानी वस्त्र की सिलाई कर अपना जीवन-यापन करने लगी और अपने फकीरों को अथर्ववेद के मत्रो को पढ़ा कर 'खादिर लिंग' के नाम से प्रसिद्ध किया। वे एक पैर पर लिंग, विभूति आदि धारण करते थे और दूसरे पर नाम आदि।

हरिहर राय ने शैव्य और वैष्णवो में मैत्री के लिए प्रयत्न किया। वीर बुक्क राय के समय में वेदान्ताचार्य और अपय्य दीक्षित मे झगड़ा था।

वीर बुक्क ने तिरूमल ततय्य और अन्य श्री वैष्णवों को जैनियो के साथ एक समझौता करने पर राजी किया। संवत् १२९०, कीलक भद्रपद, शुदि १०, गुरुवार को जब जैनो और वैष्णवो में झगड़ा हुआ तब आनेजेंडी, वेनुगोण्ड, कल्लेदपट्टण आदि के भक्तों ने भक्तो के विषय में बुक्क के पास शिकायत की। बुक्क ने अपना निर्णय दिया कि कोविल तिरुमलय, पेरूमल कोविल, तिरुनारायण पुरान और अन्य स्थलों में दोनो दर्शनों के बीच कोई मतभेद नही है।

विकास—

विजयनगर में सोमशेखर राय तथा कुरुव कन्या दीपदमल्लि का पुत्र कृष्णदेव राय था जो एक बड़े राज्य पर शासन कर रहा था देवराय का पुत्र कुमार हरिहर, देवराण और भुजग राय उसके आठ सामन्तो में से थे जो दक्षिण पर शासन करने के लिए भेजे गए थे। वे तेरकणम्बी में आए।

शक संवत् ६०० में एक क्षत्रिय लम्बकर्ण द्वारा कुडगनूर का नाम तेरकणम्बि रखा गया जिसने ५० वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद गोण्डवोल २० वर्ष तक और पार्थिव राय ने ४० वर्ष तक राज्य किया। पार्थिव राय का पुत्र नरसिंह, नरसिंह का पुत्र अहोबल, अच्युन, अच्युत का दत्तक पुत्र पार्थिव राय, प्रताप रुद्र, वामदेव राय, बुक्क, मालव राय, प्रभुदेव तम्म, नारसराण, वीर नरसिंह ने भी राज्य किया। उसके बाद चिक्कराय, शिवन समुद्र के माधव राय, वेंकटपति, चन्द्रगिरि राय, गोविन्द राय आदि ने सवत् १३१० तक ६२० वर्ष तक राज्य किया।

त्रियम्बक राय ने भगवान् त्रियम्बक की स्थापना की और त्रियम्बकपुर बसाया। उसके बाद, आनेगोन्डी से आने वाले तीन व्यक्तियो में से देवराण राय उम्मर में बस गया। भुजग राय उसका पोता था। हरिहर राय कुडुगनाडु के तेरकणम्बी में था। उसका पुत्र वीर राय हरियनाडु का शासक बना। उसने कनकगिरि के विजय को मलेपुर दिया।

विजयनगर में एक बार दुर्भिक्ष पड़ा। अतः दो राजकुमार दक्षिण को चले गए। उन लोगों ने तेरकणम्बी के राजा से पत्थर का एक तेल-मील तथा कुछ जमीन प्राप्त की। परवासुदेव के मंदिर के निकट राम राय ने एक किला बनवाया। उम्मुर देवराण राय, तगडूर प्रभुराम, सोम समुद्र के सोम-

शेखर, बेट्टडपुर के पट्टराय, पेरियपट्टण के नञ्जराय, कल्लहल्लि के पेंगल्व राय, राघव, माधव आदि राज्य कर रहे थे जब कि करूगहल्लि के राजा मैसूर तथा ३० अन्य गाँवों पर शासन कर रहे थे। तदनन्तर विजयनगर से आए हुए कृष्ण राय ने एक कुम्हार की लड़की के साथ विवाह किया। उसने पाँच गाँवों पर राज्य किया था। उसकी लडकी तुरियो के राजप्रासाद में दासी का काम करती थी और तुरियों के साथ बलपूर्वक उसका विवाह होने वाला था। विजयनगर के यादव परिवार के दो राजकुमार आए और सभी शत्रुओ को मार कर, राजा उदयर ने उसके साथ विवाह कर लिया। किन्तु नायक ने राजा उदयर को मार डाला और उसकी गर्भवती पत्नी भाग निकली। सोम वंश का अभिचन्द्र हुडिनाड़ु तथा छः अन्य जिलो पर शासन कर रहा था। भानुकीर्ति उसके गुरु थे। कुन्दूर मठ में नञ्जय नाम का एक व्यक्ति था जो नौकर की सहायता से अभिचन्द्र और भानुचन्द्र को मार कर नञ्जराज उदय के नाम से राज्य करने लगा। उसके पश्चात् उसका नौकर मादरस शासक बना किन्तु वह राक्षसों द्वारा मारा गया। वह प्रेत हो गया। उसकी पूजा करने वाले, सरगूर के उप्पलिग लोगों ने मादेश्वर नाम का मंदिर बनवाया। याक्षी की मूर्ति धूल मे फेंक दी गई और उसका नाम तिप्पादेवी रखा गया।

तुलुव राजाओं मे नरसिंह, तम्म, नरसराण, वीर नरसिंह, कृष्ण और अच्युत राज्य कर रहे थे। तदनन्तर तिरुमल सदाशिव और राम राजय्य ने शासन किया और राम राजा का स्वर्गवास रक्ताक्षी, माघ शुक्ल १, श० १४८५ को हुआ। उसकी मृत्यु के बाद तिरुमल ने माघ शुक्ल ५ से ७ वर्ष, ५ मास और १२ दिन तक राज्य किया। आंगिरस आषाढ़ वदि १२ से श्री रंग ने राज्य किया और श्री रंग पट्टण का निर्माण किया।

वीरनगर मार नायक अनेको को तलवार के घाट उतार रहा था। उसके मन्त्री शन्तय्य ने गर्भवती रानी को जो बेट्टदपुर के वंश की थी, मल्लहल्लि ले गया और वहीं उसकी रक्षा की। उस रानी का पुत्र राजा उदयर हुआ। जंगम पुजारी के रक्षा करने के कारण उसको यह पदवी मिली।

राजा उदयर ने हलपैकरों की सहायता से मार नायक के अनुयायियों को मार डाला और स्वयं शासक बन गया। डोड्ड शन्तय्य उसके मंत्री थे।

दक्षिण में राघव राय, तम्म, अहोवल, वीर प्रभु, जगदेव, विजय, भुजग और गोपाल पाल्यागार के पद पर आरूढ़ होकर शासन कर रहे थे।

आंगिरस के श्री रंगराय श्री रंग पट्टण में ही रहे। वेंकटपति राय और चिक्कराय ने ३० वर्ष तक राज्य किया। रामदेव राय आनन्द आश्विन वदि ३ से आनेगोण्डी पर राज्य कर रहा था। श्री रंगराय ने मैसूर के राजा गौड़ (राजा उदेयर) को बुला भेजा किन्तु उसने उसके सामने जाने से इन्कार कर दिया। उसके मंत्री शन्तय्य ने श्री रंगराय से कर्ज लिया और उसे पुरस्कार स्वरूप कई गाँव भी मिले। शन्तय्य खगेन्द्रमणि दर्पण में पूर्ण निष्णात था। चतुर्मुख शान्ति ने नम्बिर नञ्जप्प को अपने धर्म में दीक्षित किया जिसने पंचरत्न के रूप में आदीश्वर स्तोत्र की रचना की थी।

राजा नृप ने श्री रंगपट्टण को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ का राजकुमार मैसूर में रखा गया और उसे २३ गाँव दिए गए।

मूडविद्री में भैरस उदय राज्य कर रहा था। रत्नाकराचार्य कुछ समय के लिए लिङ्गायत हो गए। उन्होंने वासवपुराण तथा अन्य वीर शैव्य रचनाएँ प्रस्तुत की। कल्लहल्लि में विजय भूपाल के मन्त्री के दो लड़के थे जिनका नाम था नञ्जुण्डरस और मगरस। नजुण्ड कुमट रामनाथ की कहानी सुनकर वीर शैव्य बन गया और उसने 'कुमार राय सगत्य' लिखा।

ब्रह्मसूरि उम्मट्टर प्रधानों का प्रबन्धक था। हुगल ग्राम का विशालाक्ष पंडित चिक्कदेव राय का मंत्री बना। चिक्कदेव राय ने अपने पिता के 'निसिदिग' पर गुड्लु पेत के निकट परवासुदेव का मंदिर बनवाया। उसने विभिन्न मतो के स्वत्वों की जाँच की। १६८४ ई० में रक्ताक्षी (जंगम लोग) ने विद्रोह कर दिया, पर वे चिक्कदेव द्वारा दबा दिए गए। वीर शैव्यों ने विशालाक्ष पंडित को जान से मार डाला। तिरुमलय्यगर मंत्री बना। राजा नृप जलगिय सिंगाराचार्य का शिष्य था। षडक्षरी ने राजशेखर काव्य लिखा जिससे वह प्रसिद्ध हुआ। तिरुमलयगर बहुतों को श्री वैष्णव धर्म में दीक्षित करने लगे।

चिक्कय्य और बोमरस जैसे कुछ जैन पंडित नामधारी बन गए। कनकगिरि और मलेयूर को जो जैन अनुदान मिले थे वे जप्त कर लिए गए। जब चिक्कदेव उत्तर की ओर विजय के लिए निकला तब नगर पर शासन करने के लिए डोड्ड देवय्य को नियुक्त किया। उसने १७०० बसतियों को नष्ट कर दिया। किन्तु राजा ने उसके उपद्रव को रोक दिया और उसे बंदी बना लिया। चिक्कदेव का तारण में देहान्त हो गया।

डोड्ड कृष्ण राजा की रानी को किसी एक प्रेत ने पकड लिया। वे श्रावण बेलगोल गए तब उस प्रेत ने उनको छोडा और इसलिए उन्होने गोम्मटेश्वर को अनुदान दिया।

चोल राजकुमारी पद्मावती से मथुरा के कून पाण्डेय का विवाह हुआ। ये दोनों वीर शैव्य हो गए। मथुरा का अमीराय भी वीर शैव्य था।

वीर राजा के पुत्र कलनि नजराज ने नंजनगुड मंदिर का बहिर्भाग बनवा दिया और बहुत-से वीर शैव्य पुराणों को लिखा।

चिक्कदेव राय ने प्रत्येक जाति के उच्चम्मन्यता के स्वत्वों की जाँच की। इन जातियों में थे— पंचाल, कुम्भकार, व्याध, कुरुय, देवाङ्ग, ओक्कालिग, तेली, ग्वाला, उपरिग, केलासी, धोबी, ओड्ड, डोम्ब, होलेय, माडिग।

मैसूर का इतिहास—

यदुवंश-हरिवंश की एकशाखा—विजयनगर से तीन राजकुमार आए। विजय राजा ने मैसूर में एक कुम्हार जाति की स्त्री से ब्याह किया। तिम्म राज एक गाँव में रुक गया और शेष लोग गोब्बालिकर में रुके। देवराज ने हुल्लहल्लि के प्रधान, कृष्णजम्मणी की लड़की से विवाह किया। बल्लालों की कुलदेवी पद्मावती का नाम चामुण्डेश्वरी पड़ा। पहाड़ पर महाबालेश्वर का जो मंदिर था वह कारूगहल्लि प्रधानों द्वारा बनाया गया था (४४४–४४८)। छः अंगुली वाले चामराज ने वालिकर के देवराज की कन्या पद्ममणि से विवाह किया। उसके पुत्र चामराज ने कोट के प्रधान की लड़की अलकाजम्म से विवाह किया। तिम्म, कृष्ण और बोलचेम उसके सुपुत्र थे। कृष्ण ने केम्बल पर राज्य किया; तिम्म ने सिन्धुवल्ल के प्रधान की रक्षा की और नंजागूड में 'विरूदन्तम्बर गण्ड की उपाधि प्राप्त की।

राजा नृप २३ गाँवों पर राज्य करता था। उसने बेट्टदपुर, नुल्लहल्लि, कलल, मूगूर, वेलुगलि आदि स्थानो की आठ राजकुमारियों से विवाह किया। चामराज ने जगदेव राय के हाथ से चेन्नपट्टण, मड्डुर, नागमगल ले लिया। मलेन्दुर वन्निराज जो पहले जैन था, बाद में वीर शैव्य बन गया और उसने एक आराध्य की लड़की अमृतमणि के साथ विवाह किया। उनसे चिक्कदेव राज उत्पन्न हुए। सिंगरार्य के पुत्र तिरुमलार्य, षडक्षरी और बोमरस के पुत्र विशालाक्ष पंडित उस पुत्र के सहपाठी थे। चिक्कदेव कोविद शिखामणि हुआ, तिरुमलाचार्य विद्याविशारद हुआ, विशालाक्ष पंडित साहित्य भारती हुआ और षडक्षरी कविशेखर हुआ।

निष्कर्ष—

चोल, बल्लाल, दण्डायक, साल, कोंडा, प्रवाल, जल सावंत आदि जैन बने रहे। कुछ जैन ब्राह्मणों ने अपने को उपाध्याय पंडित, अर्चक, इन्द्र स्थानिक में विभाजित कर लिया। कुछ जैन क्षत्रिय चतुर्थ तथा पंचम के नाम से विख्यात हुए। मोगर, सउड़ पाड़िय, आदि पंचमों के गुरु बन गये।

महाकोशल की प्राचीनता

मुनि श्रीकान्तिसागर, साहित्यरत्न

प्रस्ताविक—

महाकोशल प्रान्त में जैन संस्कृति का प्रचार कब से शुरू हुआ, उचित साधनों के अभाव में निश्चित कहना कठिन है, क्योंकि तत्कालीन या परवर्ती साहित्य में इस विषय पर प्रकाश डालने वाले उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुए, न वैसे प्राचीन लेख ही मिले हैं। हाँ, मध्यप्रदेश के एकभाग बराबर विदर्भ से सम्बद्ध कुछ उल्लेख अवश्य ही प्राप्त हैं। नवांगी टीकाकार से भिन्न मलधारी अभयदेव सूरिजी ने अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में की थी, एलिचपुर का राजा एल-याईल जैन धर्मानुयायी था। एलिचपुर उन दिनों जैन संस्कृति का अच्छा केन्द्र था। बड़े-बड़े धनपाल जैसे साहित्यसेवी रहा करते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण में अचलपुर का प्रासंगिक उल्लेख किया है।

प्राचीनता के प्रमाण–

महाकोशल के अन्तर्गत सरगुजा राज्य में लक्ष्मणपुर से १२ वें मील पर रामगिरि पर्वत पर जो गुफाएँ उत्कीर्णित हैं उनमें कुछ भित्ति चित्र भी पाये गये हैं। रायकृष्ण दासजी का मत है कि इनमें से "कुछ चित्रों का विषय जैन था"[१]। कारण कि पद्मासन लगाये हुए एक व्यक्ति का चित्र पाया जाता है। इस गुफा में एक लेख भी उपलब्ध हुआ है। भाषा प्राकृत है। डा० ब्लाख के मत से इसका काल ईस्वी पूर्व ३ शती पड़ता है। इस प्रमाण से तो यही अनुमान होता है कि उन दिनों श्रमण संस्कृति का प्रभाव इस भू-भाग पर अवश्य ही रहा होगा। पद्मासन जैन तीर्थंकर की ही विशेष मुद्रा है। बौद्धों में इस मुद्रा का प्रचलन बहुत काल बाद में हुआ है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अशोक का एक स्तम्भ भी रूपनाथ में मिला है जिस पर उनकी आज्ञाएँ खोदी गई हैं। तो बौद्ध संस्कृति का प्रतीक रूपनाथ और जैन संस्कृति का रामगिरि (रामटेक नहीं, जैसा कि मिराशीजी मानते हैं) अतः ईसवी पूर्व ३सरी शती में जैन प्रभाव महाकोशल में था। परन्तु ईस्वी पूर्व ३ री शती से लगाकर ८ वीं तक का जैन इतिहास अंधकार में है। जब कि बौद्ध संस्कृति की परम्परा की कड़ियाँ इस बीच भी ज्यों की

---

(१) भारत की चित्रकला पृ० १२

त्यों मिलती हैं। पातुर, भद्रावती की गुफाएँ एवं श्रीपुर-सिरपुर (रायपुर) का राजवंश तथा कलात्मक प्रतीक इसके गवाह हैं।

शिल्प स्थापत्य कला की विकसित परम्परा को समझने के लिए मूर्ति की अपेक्षा स्थापत्य अधिक सहायक हो सकते हैं। सम-सामयिक कलात्मक उपकरणों का प्रभाव स्थापत्य पर अधिक पड़ता है। महाकोशल मे प्राचीन जैन स्थापत्य बच ही नहीं पाये, केवल आरंग का एक जैन मन्दिर बच गया है, वह भी इसलिए कि उसमें जैन-प्रतिमा रह गई है। यदि प्रतिमा न रहती तो इस कृति के प्रासाद का भी कभी का रूपान्तर हो चुका होता। इस मन्दिर की आयु भी उतनी नही है कि जो उपर्युक्त विश्रृंखलित परम्परा की एक कड़ी भी बन सके। तात्पर्य कि यह १० वीं शती का पूर्व का नही है। यहाँ पर जैन अवशेष प्रचुर परिमाण में बिखरे पड़े हुँ, परन्तु जैन-तीर्थमाला या किसी भी ऐतिहासिक ग्रथ मे आरग की चर्चा तक नहीं है। परन्तु ६ वीं शती पूर्व वहाँ जैन-सस्कृति का प्रभाव अधिक था, पुष्टि-स्वरूप अवशेष तो है ही। एक और भी प्रमाण उपलब्ध है। वह यह कि आरग से श्रीपुर-सिरपुर जगली रास्ते से समीप पड़ता है। वहाँ पर भी जैन अवशेष बहुत बड़ी सख्या में मिलते हैं। इनकी आयु भी मन्दिर की आयु से कम नही है। ६ वी शताब्दी की एक धातु-मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की मुझे यही से प्राप्त हुई थी यह इत. पूर्व बौद्ध सस्कृति का केन्द्र था। मुझे ऐसा लगता है जहाँ बौद्ध लोग फैले वहाँ जैन भी पहुँच गये। यह पंक्ति महाकोशल को लक्ष्य करके ही लिख रहा हूँ। आरंग के मन्दिर को देख कर राय बहादुर डा० हीरालाल जी ने कल्पना की है कि यहाँ पर महामेघ वाहन खारबेल के वशजों का राज्य रहा होगा। इससे फलित होता है कि ६ वी शताब्दी तक तो जैन सस्कृति का इतिहास मिलता है, जो निर्विवाद है। परन्तु भित्ति-चित्र से लगाकर ८ वी शती के इतिहास-साधन नही मिलते। भारतीय इतिहास के गुप्तकाल में महाकोसल काफी ख्याति अर्जित कर चुका था। इलाहाबाद का लेख और एरण के अवशेष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

उपलब्ध शिल्पकला के आधार से निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आठवीं और नववी शताब्दी से जैन इतिहास प्रारम्भ होता है। गुफा-चित्रों में आठवीं शती तक का भाग अधकारपूर्ण है। इसका कारण भी उचित अन्वेषण का अभाव ही जान पड़ता है।

कलचुरी और जैन-स्थापत्य—

कलचूरियों के समय जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य कला का अच्छा विकास हुआ। वे शैव होते हुए भी पर-मत-सहिष्णु थे, जैन-धर्म को विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे। कलचुरी शंकरगण तो जैन-धर्म के अनुयायी थे, इनने कुल्पाक क्षेत्र में १२ गाँव भी भेंट चढ़ाये थे। इनका काल ई० स० सातवीं शती पड़ता है। महाकोशल में सर्वप्रथम कोकल्ल ने अपना राज्य जमाया। त्रिपुरी-तेवर—इनकी राजधानी थी। कलचूरियों का पारिवारिक सम्बन्ध दक्षिण राष्ट्रकूट शासकों के साथ था। राष्ट्रकूटों पर जैनों का न केवल प्रभाव ही था बल्कि उनकी सभा में जैन विद्वान् भी रहा करते थे। महाकवि पुष्पदंत राष्ट्रकूटों द्वारा ही आश्रित थे, अमोघवर्ष ने तो जैन-धर्म के अनुसार मुनित्व भी अंगीकार किया था, ऐसा भी कहा जाता है। यद्यपि बहुरीबंद आदि कुछेक स्थानों की जैन-मूर्तियों को छोड़कर कलचूरि

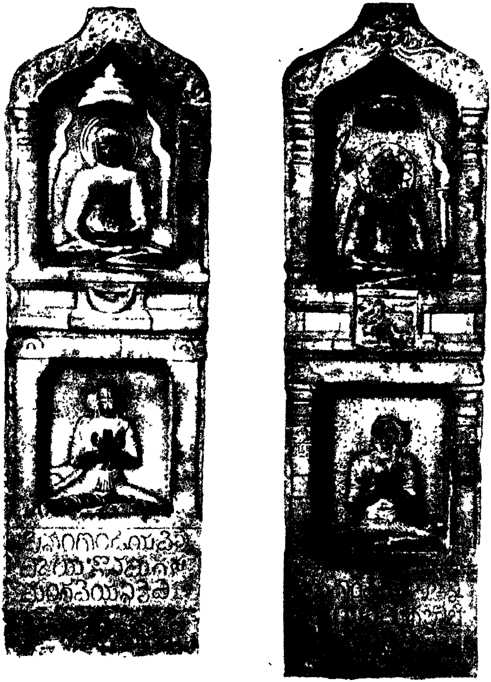
काल के लेखन नहीं पाये जाते । बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो, कलचूरिकालीन जैन-शिल्पकृतियों को छोड़कर शिलोत्कीर्णित लेख अत्यल्प ही पाये जाते हैं । परन्तु लेखो के अभाव में भी उस समय की उन्नतिशील जैन-संस्कृति के व्यापक प्रचार के प्रमाण काफी हैं । जैन मूर्त्तियो के परिकर एव तोरण तथा कतिपय स्तम्भो पर खुदे हुए अलंकरणों के गंभीर अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन पर कलचूरिकाल में विकसित तक्षण-कला का खूब ही प्रभाव पड़ा है । कुछेक अवशेष तो विशुद्ध महाकोशलीय ही हैं । कृतियाँ भिन्न भले ही हों, पर कलाकार तो वे ही थे या उनकी परम्परा के अनुगामी थे । निर्माण-शैली और व्यवहृत पाषाण ही हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित कर देते है । यहाँ के इस काल के जैन, बौद्ध और वैदिक अवशेषो को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ के कलाकार स्थानीय पाषाणों का उपयोग तो कलाकृतियो के निर्माण में करते ही थे, पर कभी-कभी युक्तप्रान्त से भी पत्थर मँगवाते थे । कलचूरिकाल की पत्थर की मूर्त्तियाँ अलग से ही पहचानी जाती है ।

६ से १३ शती तक के जितने भी जैन अवशेष प्राप्त हुए है, उनमे से बहुतो का निर्माण त्रिपुरी और बिलहरी में हुआ होगा । कारण दोनो स्थानो पर जैन मूर्त्तियाँ आदि अवशेषो की प्रचुरता है । कैमोर के पत्थर की जैन-प्रतिमाएँ प्राय. बिलहरो में मिली हैं और बिलहरी के ही लाल पत्थर के तोरण भी पर्याप्त मिले हैं । लाल पत्थर पानी से खराब हो जाता है, प्रक्षालन की सुविधा के लिए कलाकारों ने मूर्त्ति-निर्माण में कैमोर का भूरा और कोमल सचिक्कण पत्थर व्यवहृत किया ।

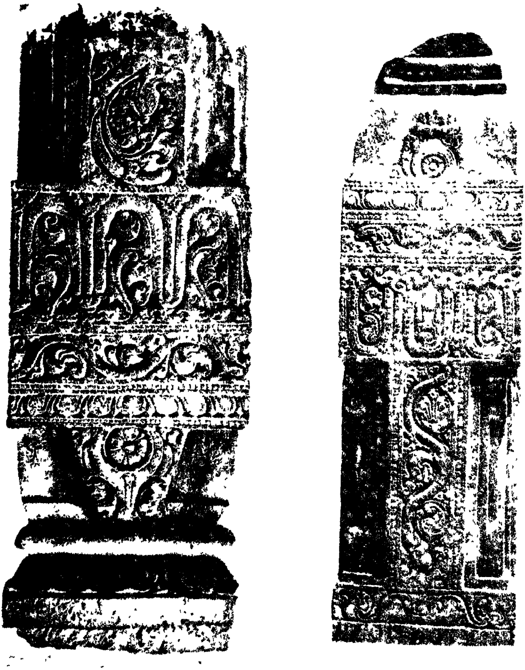
उपसंहार—

प्रसंगत: सूचित करना आवश्यक जान पडता है, जिस प्रकार कलचूरियो के समय में महाकोशल के भू-भाग में उत्तमोत्तम जैन कला-कृतियो का सृजन हो रहा था उसी समय जेजाकभुक्ति बुन्देलखंड में चदेलों के शासन मे भी जैन-कला विकास की चोटी पर थी । आज की शासन-सुविधा के लिए जो भेद सरकार ने किये हैं, इससे महाकोशल और बुंदेलखंड भले ही पृथक् प्रदेश जँचते हो परन्तु जहाँ तक सस्कृति और सभ्यता का सवाल है दोनों में बहुत ही साधारण अन्तर है—यानी जबलपुर और सागर जिले तो एक प्रकार से सभी दृष्टि से बुंदेलखडी ही हैं । सामीप्य के कारण कलात्मक आदान-प्रदान भी खूब ही हुआ है । मुझे बुन्देलखंड में बिखरे हुए कुछेक जैनावशेषों के निरीक्षण का अवकाश मिला है, मेरा तो इस पर से यह मत और भी दृढ़ हो गया है कि कला के उपकरण और अलंकरण तथा निर्माण-शैली में साधारण अन्तर है । अधिक अवशेष, दोनों प्रदेशों में एक ही शताब्दी मे विकसित कला के भव्य प्रतीक हैं । बुन्देलखंड के जैन अवशेषों का बहुत बड़ा भाग तो, वहाँ के शासको की अज्ञानता के कारण, बाहर चला गया परन्तु महाकोशल के अवशेष भी बहुत काल तक बच सकेंगे या नही ?—यह एक प्रश्न है । दुर्भाग्य की बात है कि इतिहास और कला के प्रति अधिक रुचि रखने वाले कुछेक व्यक्ति सीमा पर हैं जो इन पवित्र अवशेषों का विक्रय किया करते हैं । यह अत्यन्त घृणित कार्य है । वे अपनी संस्कृति के साथ महा अन्याय कर रहे हैं ।

धन्नाभुलापाडु जिला कोंडापट से प्राप्त जैन वास्तु-कला के अवशेष



धन्नाभुलापाडु जिला कोडापट से प्राप्त जैन वास्तु-कला के अवशेष



गोम्मटेश्वर

श्री अश्वघोष

स्थान और परिचय—

मैसूर राज्य में श्रवणबेलगोला नामक स्थान में जैन देवता गोम्मटेश्वर की विशाल प्रस्तर-मूर्ति ससार की एक प्रेक्षणीय वस्तु है। सत्तावन फुट ऊँची पत्थर की यह बेजोड़ मूर्ति इन्द्रगिरि पहाडी पर १०–१२ मील दूर से ही दिखायी देने लगती है। मूर्ति पहले तो एक स्तम्भ की तरह दीखती है। परन्तु जैसे-जैसे पास आते हे इसका आकार स्पष्टतर होता जाता है। अन्त में जब इसके निकटतम आकर पैरों के पास खड़े होते है और आँखें ऊँची कर मस्तक की ओर देखने का प्रयत्न करते है तब ऐसा कोई ही विरला होगा जो इसकी विशालता से प्रभावित न हो। जैनियों के लिये तो इस मूर्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान है ही और वे इसकी स्तुति करे तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं, परन्तु अन्य धर्मावलम्बी या नास्तिकों को भी इसकी विशालता के निकट अपनी हीनता का ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। धार्मिक श्रद्धा से नहीं तो कम से कम शिल्पकला का एक अप्रतिम उदाहरण होने के नाते हर मनुष्य का मस्तक इसके आगे नत हो जाता है। एक शिला से बनायी हुई ससार की यह सबसे ऊँची मूर्ति है।

श्रवणबेलगोला प्राचीन काल से दक्षिण में जैन-धर्म के अध्ययन का मुख्य केन्द्र था। जैन-धर्म के प्रसिद्ध आचार्य यहाँ रहा करते थे और धर्मग्रंथों में यहाँ के एक मुनि का साँची में जाकर बुद्धों को शास्त्रार्थ में हराने का वर्णन आता है। यह स्थान दो छोटी पहाड़ियो के बीच सुन्दर हरे-भरे प्रदेश के बीच बसा हुआ है। एक पहाड़ी जिसे चन्द्रगिरि कहते है, भूमि से १७५ फुट ऊँची है। इस पर पुराने जैनमठ इत्यादि के अवशेष हैं और यहाँ पुरातन कालीन पत्थर की बारीक खुदाई के सुन्दर उदाहरण अभी अच्छी अवस्था में देखे जा सकते हैं। दूसरी पहाडी जिसे इन्द्रगिरि या विंध्यगिरि कहते हैं और जिस पर यह विशाल मूर्ति स्थापित है लगभग ४७० फुट ऊँची है। श्रवणबेलगोला की ऊँचाई समुद्र के धरातल से ३००० फुट से अधिक होने के कारण हवामान समशीतोष्ण और स्वास्थ्यकर है। चारों ओर सुन्दर हरे वृक्ष और खेत और दूर-दूर दिखने वाले नीलवर्ण पहाड़ प्राकृतिक दृष्टि से इस भाग की मनोहरता बढ़ाते हैं।

दोनों पहाड़ियों के बीच एक पुराना सरोवर है। श्रवणबेलगोला नाम की उत्पत्ति तीन शब्दों, श्रमण (जैन साधु) बेल (खेत) और गोला (तालाब) से हुई बतलाते हैं।

मैसूर से यह स्थान ६२ मील उत्तर है। सबसे पास का रेलवे स्टेशन यहाँ से २२ मील है। आने-जाने के लिए मैसूर, हासनशौर तथा दूसरे मुख्य स्थानों पर भी बसो का प्रबन्ध है।

इन्द्रगिरि के ऊपर जाने के लिए पहाड़ काट कर लगभग ५०० सीढियाँ बनाई गई हैं। गोम्मटेश्वर की मूर्ति पहाड़ी की चोटी पर स्थित है। इसकी विशालता का अन्दाजा नीचे दी गई कुछ अंगों की लम्बाई, चौड़ाई से भलीभाँति हो सकेगा।

मूर्ति का आकार—

मूर्ति की कुल ऊँचाई	५७ फुट।
कान के नीचे तक की ऊँचाई	५० फुट।
पैरों की लम्बाई	९ फुट।
पैर के अगूठे की लम्बाई	२ फुट ९ इंच।
जाँघ की आधी गोलाई	१० फुट।
कमर की आधी चौड़ाई	१० फुट।
हाथ के नीचे की ऊंगली की लम्बाई	५ फुट ३ इंच।

कमर दूसरे अगों के अनुपात में छोटी दिखती है। पीछे से जाघो तक चट्टान का आधार है, उसके ऊपर कोई आधार नही है। मूर्ति मटमैले पत्थर को काटकर बनायी गई है। किसी प्रकार का रग या पालिश इस पर नही है। दोनो पैरो और हाथों को लपेटती हुई माधवी लता कधो तक ऊपर जाती है। मुदी हुई ध्यानावस्थित आँखें हैं। ओठो पर मन्द मुसकान है। जैन-धर्म के सहिष्णुता, त्याग और इन्द्रियविजय के सिद्धान्तों का समन्वय कलाकार ने इस मूर्ति की मुद्रा मे सफलता से किया है।

इतनी बड़ी मूर्ति इस पहाडी पर कही दूसरी जगह से बनाकर लाना असभव सा है। इसलिए यह अनुमान उचित है कि पहाड़ी की चोटी पर पड़ी हुई किसी विशाल शिला को काटकर यह वहीं बनायी गई है। जैन शिलालेखों, धर्मग्रंथों और दूसरी प्राचीन पुस्तकों के आधार से इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि मूर्ति की स्थापना लगभग सन् ९८३ में हुई होगी।

चैतन्य-गोम्मटेश्वर का परिचय—

गोम्मटेश्वर कौन थे ? जैन-ग्रंथों और शिलालेखो के अनुसार यह प्रथम तीर्थंकर पुरुदेव के पुत्र थे और इनका नाम बाहुबली या भुजबली था। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम भरत था। दोनों भाइयों के मध्य साम्राज्य के लिए हुए संग्राम में बाहुबली विजयी हुए परन्तु उन्होंने हारे हुए भाई को साम्राज्य दे दिया और स्वयं जंगल में तपस्या के लिए चल दिये। उन्होंने कर्म पर विजय पायी और गोम्मटेश्वर नाम से उनकी ख्याति हुई। ज्येष्ठ भ्राता भरत ने उनके स्मरणार्थ पौदनपुर में एक

मूर्ति की स्थापना की। धीरे-धीरे इस स्थान में सर्प इत्यादि विषैले जंगली जीव फैल गये और मूर्ति के दर्शन होना बन्द हो गया। ईसा की दशवी शताब्दी के उत्तरार्ध में गंगवंशीय राजा के मंत्री चामुंडराय ने इसकी ख्याति सुनी और मूर्ति के दर्शन के लिए वे चल दिये। यात्रा के कष्ट इनकी सामर्थ्य के बाहर होने के कारण उन्होंने पौंडनपुर पहुँचने का इरादा छोड़ दिया और स्वयं ही एक अद्वितीय मूर्ति बनवाने का निश्चय किया। चन्द्रगिरि से उन्होंने इन्द्रगिरि पर एक बाण छोड़ा जो एक विशाल शिला पर जाकर लगा। इसी शिला को कटवाकर उन्होंने भिक्षु अरिष्टनेमि के निरीक्षण में गोम्मटेश्वर की मूर्ति बनवायी।

मूर्त्ति का महत्त्व—

एक हजार वर्ष पुरानी होने पर भी देखने में यह मूर्ति ऐसी मालूम होती है जैसे शिल्पी की छेनी से अभी-अभी निकली हो। खुले स्थान में होने के कारण वर्षा, धूप, सर्दी, गर्मी को सहन करने पर भी इतनी अच्छी अवस्था में यह मूर्ति रह सकी आश्चर्य की बात है। दाहिने गाल के नीचे अभी कुछ वर्ष हुए पुरातत्त्व-विभाग वालो को काली-सी छोटी रेखा दिखी है परन्तु उनका कहना है कि यह कोई अधिक चिंता की बात नही है और यह मूर्ति कम-से-कम एक हजार वर्ष तक और बहुत अच्छी हालत में रहेगी।

मन्दिर में और भी कई पुरातन प्रेक्षणीय वस्तुएँ हैं। काले कठोर पत्थरों में खोदी हुई गोम्म-टेश्वर के दोनो ओर रखी अलंकारयुक्त यक्ष और यक्षी की ६ फुट ऊँची मूर्तियां, जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, मन्दिर की छत पर किया हुआ खुदाई का काम इत्यादि बारीकी और परिश्रम के उत्कृष्ट उदा-हरण हैं।

मूर्ति के केवल पैरो की पूजा होती है। मस्तक की पूजा रोज करना असम्भव भी है। १२–१३ वर्ष के बाद एक बार मस्तक की पूजा होती है। इसके लिए महीनों पहिले से तैयारियाँ होती हैं। बल्लियों का एक बड़ा ढांचा मूर्ति के चारों ओर बनाया जाता है जिस पर चढ़कर मस्तक से अभिषेक होता है। यह दिवस जैन-जगत् में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

यह मूर्ति एक पत्थर से बनी विश्व की समस्त मूर्तियों से ऊँची है। मिस्र में भी जहाँ बहुत सी बडी और ऊँची मूर्त्तियाँ हैं एक पत्थर से बनी इतनी ऊँची मूर्ति कोई नहीं है। यह विश्व के आश्चर्य और चमत्कार की वस्तु है। प्रत्येक दर्शक इसके समक्ष पहुँच कर नतमस्तक हो जाता है। धन्य है उस शिल्पी को जिसने इस भव्य गौरवमूर्ति का सृजन किया और धन्य उस घड़ी को भी है, जिसमें यह निर्मित हुई।

पारसनाथ किले के जैन-अवशेष

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी, एम० ए०

स्थान और परिचय—

पारसनाथ किला बिजनौर जिले के नगीना रेलवे-स्टेशन से लगभग बारह मील उत्तर-पूर्व की ओर है। नगीना के उत्तर बढ़ापुर नामक नगर तक नौ मील मोटर-तांगे योग्य सड़क है। और वहाँ से तीन मील पूर्व कच्चे रास्ते से चल कर पारसनाथ पहुँचा जाता है। इस स्थान का नाम "पारसनाथ किला" कब और कैसे पड़ा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पारसनाथ नाम से हम इतना कह सकते हैं कि किसी समय यहाँ जैन तीर्थंकर भगवान् का कोई बड़ा मन्दिर रहा होगा। पार्श्वनाथ जी तेईसवें तीर्थंकर थे, जिनके नाम से संबधित उत्तर भारत में अनेक स्थान हैं। बिहार के हजारीबाग जिले में प्रसिद्ध सम्मेद शिखर को भी लोग "पारसनाथ पहाड़ी" के नाम से जानते हैं।

पारसनाथ किले के सम्बन्ध में एक जनश्रुति यह है कि "पारस" नामक किसी राजा ने यहाँ किला बनवाया था। यह भी प्रसिद्ध है कि यह स्थान श्रावस्ती के प्रख्यात राजा सुलहदेव के पूर्वजों का बहुत समय तक केन्द्र रहा। किले के जो भग्नावशेष यहाँ बिखरे पड़े हैं, उनसे पता चलता है कि मध्य-काल में किसी शासक ने यहाँ अपना गढ़ बनाया था।

हाल में मुझे इस उपेक्षित स्थान को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। जंगल के बीच स्थित होने के कारण किले का पूरा पर्यवेक्षण संभव नहीं हो सका, पर मैंने पुरानी इमारतों के अवशेष कई मील के विस्तार में बिखरे पाये। ईंटों के अलावे जगह-जगह पत्थर के कलापूर्ण खभे, सिर दल तथा तीर्थंकर मूर्तियाँ दिखाई दीं। कुछ शिला-पट्टों पर सगीत में संलग्न स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ उकेरी हैं, अन्य पर कीर्तिमुख, लता-पुष्प आदि विविध अलंकरण सुन्दरता के साथ दिखाये गये हैं। किले में अनेक जगह प्राचीन मंदिरों आदि के स्थान स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। कुछ स्थानों पर इतने पेड़ और झाड़ियाँ हैं कि बिना उनकी सफाई हुए यह बता सकना कठिन है कि वहाँ कितने कलावशेष दबे पड़े हैं।

थोड़े दिन हुए, किले की जमीन को खेती के योग्य बनाने के लिए उसे कुछ शरणार्थियों को दे दिया गया। इन्होंने किले पर "काशी वाला" नामक एक छोटी-सी बस्ती अब आबाद कर ली है। और पास का कुछ भूभाग साफ कर वहाँ खेती करने लगे हैं। इन्ही में सरदार रतन सिंह हैं। जिन्होंने किले से एक अत्यन्त कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमा प्राप्त की है। यह बलुए सफेद पत्थर की है और ऊँचाई

में दो फुट आठ इंच तथा चौड़ाई में दो फुट है । तीर्थंकर कमलांकित चौकी पर ध्यान मुद्रा में आसीन है । उनके अगल-बगल नेमिनाथ जी तथा चन्द्रप्रभुजी की खडी हुई मूर्तियाँ हैं । तीनों प्रतिमाओं के प्रभा-मंडल उत्फुल्ल कमलों से युक्त हैं । मूर्ति के घुंघराले बाल तथा ऊपर के छत्रत्रय भी दर्शनीय हैं । छत्रों के अगल-बगल सुसज्जित हाथी दिखाये गये हैं । जिनकी पीठ के पीछे कलापूर्ण स्तंभ हैं । हाथियों के नीचे हाथो में माला लिये दो विद्याधर अंकित हैं । प्रधान तथा छोटी तीर्थंकर प्रतिमाओं के पार्श्व में चौकी वाहक हैं ।

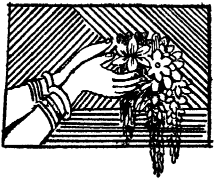
मूर्त्तियों की विवेचना—

मूर्ति की चौकी भी काफी अलंकृत है । बीच में चक्र है, जिसके दोनो ओर एक-एक सिंह दिखाया गया है । चक्र के ऊपर कीर्तिमुख का चित्रण है । चौकी के एक किनारे पर धन के देवता कुबेर दिखाये गये हैं और दूसरी ओर गोद में बच्चा लिये देवी अंबिका । चौकी के निचले पहलू पर एक पंक्ति में ब्राह्मी लेख है जो इस प्रकार है ।

(श्री विरद्धमान सामिदेवः । सम् १०६७ गाप्ताभ सुम्हृभ नाथ प्रतिमा पुठपि ।)

लेख की भाषा भ्रष्ट है । पहला अंश 'श्री वर्द्धमान स्वामीदेव.' होना चाहिए था । तीर्थंकर का नाम 'सुम्हृभनाथ' लिखा है 'जो सभवनाथ के लिए ही प्रयुक्त प्रतीत होता है ।

लेख का संवत् १०६७ सभवत विक्रम सवत् है यह मानने पर मूर्ति के प्रतिष्ठापन की तिथि १०१० ई० आती है । इस अभिलिखित मूर्ति तथा समकालीन अन्य मूर्तियों के प्राप्त होने से पता चलता है कि दसवी ग्यारहवी सदी में पारसनाथ किला जैन-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गया था । जान पडता है कि यहाँ एक बडा जैन विहार भी था । इस स्थान की खुदाई से विहार के अवशेष प्रकाश में आ जायेंगे । आशा है कि निकट भविष्य में पूरी जाँच की जा सकेगी । जिससे इस बात का पता चल सकेगा कि इस भूभाग पर जैन-धर्म किस रूप में विकसित होता रहा । साथ ही मध्यकालीन इतिहास की अन्य समस्याओं पर भी यहाँ की खुदाई से पर्याप्त प्रकाश पड सकेगा ।



राजघाट से प्राप्त कतिपय जैन-मूर्तियाँ

डा० श्री मदनमोहन नागर एम० ए०, डी० लिट्०

प्राचीन मूर्तियों का स्थान और परिचय—

प्रस्तुत मूर्तियाँ काशीनगरी में गंगातट पर स्थित राजघाट नामक प्राचीन स्थान से निकली हैं और इस समय प्रान्तीय संग्रहालय के पुरातत्त्व-विभाग में प्रदर्शित हैं। इनका समय गुप्तकाल अर्थात् पाँचवीं-छठी शती है और ये ओजस्, मृदुलता तथा सजीवता से ओतप्रोत होने के कारण इस काल की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ईस्ट इण्डियन रेलवे तथा पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारियों द्वारा राजघाट के प्राचीन स्थान पर की गई खुदाई के फलस्वरूप यहाँ से बहुत-से मिट्टी के खिलौने, शीशे तथा अनेक प्रकार के पत्थर की गुरियाँ (bead), पौराणिक देवी-देवताओं की प्रस्तर-मूर्तियाँ आदि प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। किन्तु अभी तक उस स्थान से जैन-धर्म की मूर्तियों अथवा उससे सम्बन्धित अन्य अवशेषों के मिलने का पता नहीं चला था। प्रस्तुत मूर्तियों का महत्त्व इस अभाव के कारण और भी बढ़ जाता है; कारण उनके उक्त स्थान से प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि वहाँ पर गुप्तयुग में निश्चय ही कुछ जैन-मतावलम्बी रहते थे जो मंदिर आदि बनवा कर स्वतंत्रतापूर्वक अपने धर्म का पालन करते थे। ये सभी मूर्तियाँ चुनार के पत्थर की बनी हैं और इनका विवरण निम्न प्रकार से है।

पार्श्वनाथ की मूर्त्ति—

नं० १.—भगवान् पार्श्वनाथ की खड़ी मूर्ति (रजिस्टर नं० ४८.१८२, ऊँचाई १' ११" चौड़ाई १३।।" चित्र) पार्श्वनाथ खड्गासन या कायोत्सर्ग मुद्रा में सीधे खड़े हैं। उनके मस्तक पर सात फण वाले सर्प की छाया है। यही सर्प उनका लांछन है। अगल-बगल ध्यान-मुद्रा में स्थित दो जिन दिखाये गये हैं। दाहिनी ओर यक्ष पार्श्वरत्न घट लिये तथा बायीं ओर यक्षी पद्मावती बीजपूरा लिये स्थित हैं। ऊपर गगनचारी देव पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। सर्पफण के ऊपर एक त्रिछत्र रखा है जिस पर एक देव बैठा ढोलक बजा रहा है। मूर्ति की पीठिका पूर्ण विकसित कमल के फूलों तथा मुँहफेरे दो सिंहों से सुसज्जित है। चौकी के ऊपर बायीं ओर यक्षी के समीप पूजन मुद्रा में एक स्त्री दर्शायी गई है। संभवतः यह स्त्री इस मूर्ति की दात्री है अर्थात् इसी उपासिका की धर्मानुरक्ति से यह मूर्ति बनी थी।

पार्श्वनाथ जैनियों के २३ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। कथानकों के अनुसार इनके पिता का नाम अश्वसेन तथा माता का नाम वामा था। इनका जन्म विशाखा नक्षत्र में काशी में हुआ था।

ये एक ऐतिहासिक महापुरुष प्रमाणित हो चुके हैं और इनका जन्मकाल महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व माना जाता है। मथुरा के कंकाली टीले का बोद्धव स्तूप आरम्भ में इन्ही की उपासना के लिए निर्मित हुआ था। कथानको के अनुसार इन्होंने पारसनाथ शिखर पर निर्वाण पद प्राप्त किया था।

पांच तीर्थंकरों की प्रतिमा—

न० २ शिलापट्ट (रजिस्टर न० ४८.१८३ ऊं० १' ११" चौ० १' चित्र) जिस पर यक्ष-यक्षियों से परिवेष्टित पाँच तीर्थ कर उत्कीर्ण हैं। दूसरी पंक्ति के मध्य में जैन सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री आदिनाथ दिखाये गये हैं। बालो की लम्बी जटाएँ जो इनकी विशेषता है, इनके कधों पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रही है। नीचे पद्मासन की कोर पर वृषभ जो इनका लाछन है दिखाया गया है। आदिनाथ— इन्हें ऋषभनाथ भी कहते है—जैनमत के सर्वप्रथम तीर्थंकर माने जाते है। इनके पिता का नाम नाभिराज तथा माता का नाम मारुदेवी था। इन्होंने अयोध्या में जन्म लिया था और कैलाश पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। कहा जाता है कि इनकी सेवा में ८४गन्धर्व तत्पर रहा करते थे। आदिनाथ के दाहिनी ओर श्रेयामनाथ की मूर्ति बनी है। इनके पैरों के पास इनका लाछन गैंडा बना है। ये जैनधर्म के ११ वें तीर्थंकर माने जाते है और काशी के सिंहपुर नामक ग्राम में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम विष्णु और माता का नाम विष्णुद्री था। ६६ गन्धर्व इनकी सेवा में लगे रहा करते थे। इनके प्रधान यक्ष का नाम ईश्वर तथा प्रधान यक्षी का नाम मानवी है। जैन-कथानकों के अनुसार इन्होंने सम्मेदशिखर में निर्वाण प्राप्त किया था। आदिनाथ की मूर्ति की बायी ओर पार्श्वनाथ की मूर्ति ध्यान-मुद्रा में बनी हुई है। ऊपर सर्पफण बना हुआ है जो इनका चिह्न है तथा जिससे ये यहाँ पहचाने जा सके हैं।

मूर्ति की ऊपरी पक्ति मे दाहिनी ओर भगवान् चन्द्रप्रभ ध्यान-मुद्रा में अंकित हैं। नीचे पैर के पास इनका चिह्न अर्धचन्द्र उत्कीर्ण है जिससे हम इनके स्वरूप को पहचान सकते हैं। चन्द्रप्रभ जैनधर्म के आठवें तीर्थंकर हैं। इनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्ष्मणा था। ये अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी (चन्द्रावती बनारस के पास) नामक नगरी में उत्पन्न हुए थे। इनके प्रधान यक्ष का नाम विजय तथा प्रधान यक्षी का नाम ज्वाला है। मूर्ति मे बायी ओर जैनो के २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ जी की मूर्ति बनी है। इनका लाछन शख उनके पैरो के पास पद्मासन पर बना हुआ है। कथानको के अनुसार नेमिनाथ के पिता का नाम समुद्रविजय तथा माता का नाम शिवदेवी था। इनका जन्मस्थान सौरिपुर (द्वारका) माना जाता है। इनके शासन यक्ष का नाम गोमेध तथा शासन यक्षी का नाम अम्बरदेवी है।

शिलापट्ट के निचले भाग पर जो पीठिका के सवृक्ष है, कल्पवृक्ष के नीचे गोद में बालक लिये हुए जैनयक्ष और यक्षिणी उत्कीर्ण है। अगल-बगल जैन-समुदाय इनकी अभ्यंचना कर रहा है। ऊपर गगनचारी देव पुष्पवृष्टि करते दिखाये गये हैं।

जैन मूर्तिकला में देवी-देवताओं का चित्रण अब तक आयागपट्टों, उकेरी मूर्तियों, उन्नत उकेरी मूर्तियों तथा सर्वतो भद्रिकाओं पर ही किया पाया गया है। कुछ शिलापट्ट और ऐसे प्राप्त हुए हैं किन्तु

उन पर चौबीसों तीर्थंकरों का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत शिलापट्ट पर केवल पाँच ही तीर्थंकरों का चित्रण किया जाना बड़ा ही निराला प्रतीत होता है। इसका ठीक-ठीक अर्थ तो लगाना बड़ा ही कठिन है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने आदिनाथ भगवान को, जो जैन-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक थे, केन्द्र मानकर उन चारों तीर्थंकरो—सुपार्श्वनाथ, श्रेयासनाथ, पार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभ—को दिखाने का प्रयत्न किया है जिनका जन्मस्थान काशी माना गया है। किन्तु इस मत के विपक्ष में है भगवान नेमिनाथ की मूर्ति जिनका जन्मस्थान काशी न होकर द्वारका पुरी था। मेरे विचार से कलाकार ने पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्वनाथ की मूर्ति का चित्रण समान होने के कारण दोनो को न बना कर एक के स्थान पर उनके निकटतम पूर्ववर्ती तीर्थंकर नेमिनाथ को चित्रित करना उचित समझा। इसके अतिरिक्त मूर्ति का उद्भव स्थान काशी होना भी इस बात के पक्ष में है कि प्रस्तुत शिलापट्ट मे काशी से ही सबंधित समस्त तीर्थंकरों का एक स्थान पर समष्टि रूप से चित्रण किया गया है।

अज्ञातनाम तीर्थंकरों की मूर्ति—

३. उकेरा हुआ पत्थर (रजिस्टर न० ४८ १८४, ल० २' ४" चौडाई–१०" चित्र) जिस पर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक तीर्थंकर स्थित है। खेद है कि मूर्ति का निचला भाग काफी घिस गया है जिसके कारण चरणचौकी पर बना हुआ उक्त तीर्थंकर का लाछन आदि जाता रहा। अत. यह कहना कठिन है कि मूर्ति में किस तीर्थंकर का स्वरूप चित्रित किया गया है। किन्तु मूर्ति का ऊपरी भाग अब भी पूर्ण रूप से सुरक्षित है जिसके कारण इसकी सुन्दरता तथा कला का हमें पूर्ण रूप से परिचय प्राप्त होता है।

स्तम्भ में अजितनाथ—

४. स्तम्भ (रजिस्टर नं० ४६.५४ लम्बाई ३' १" चौडाई १०" चित्र) जिस पर खड्ग मुद्रा में स्थित श्री अजितनाथ की मूर्ति उकेरी हुई है। नीचे पीठिका पर दो हाथी उत्कीर्ण है जो अपनी सूँड़ में पूर्ण विकसित दोहरा सनाल कमल पकड़े है। इसी पद्म के आसन पर भगवान् खडे दर्शाये गये है। भगवान् अजितनाथ जैनधर्म के दूसरे तीर्थंकर माने गये हैं। इनका जन्मस्थान अयोध्या है। इनके पिता का नाम जितशत्रु तथा माता का नाम विजयादेवी था। कथानको के अनुसार ६० यक्ष-यक्षिणी इनकी सेवा में रहते थे। इनमें प्रधान महायक्ष तथा अजितबला यक्षी है। कहा जाता है कि इन्होंने ७२ लाख पूर्व तक तपस्या करके सम्मेद शिखर (पारसनाथ) पर निर्वाणपद प्राप्त किया था।



राजघाट से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ



चित्र न १
भगवान पार्श्वनाथ पृ० ३६०



चित्र न ३
अज्ञात जैन तीर्थंकर प्रतिमा
पृ० ३६०



चित्र न ४
स्तम्भ में भगवान अजितनाथ
[पृ० ३६२



चित्र न २
शिलापट्ट पर पाँच तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ
[पृ० ३६१

कन्नड़-साहित्य में जैन चित्र-कला और शिल्प

श्री एस० शास्त्री

कन्नड़-साहित्य में कला—

कला को किसी भी भाषा या साहित्य की स्वीकृत दीवारें अपनी परिमिति के भीतर बाँध नहीं सकती। प्रत्येक साहित्य और भाषा में कला का विकास हुआ है और कला सम्बन्धी अपनी मौलिक सभावनाओं की भरमार है। कला की साँसों में गूँजने वाला संगीत विश्व-साहित्य के विगलित प्राणों को छेड़ता है और ससार को सभी साहित्यिक अन्तर्धाराओं का कला से तादात्म्य होता रहता है। सक्षेप में कला साहित्य का प्राण है जो प्राण जीवन के भौतिक आधार से लेकर आध्यात्मिक उत्कर्ष तक मानव को समान आनन्द से स्पन्दित कर देता है।

कन्नड़ साहित्य में भी कला की अंगों सहित अपनी मान्यता है। उस साहित्य की छाया में कला के सभी अगो का विकास एक प्रकार की साधना और धैर्य की सम्मिलित शक्ति के प्रसार से हुआ है। कला की अभिव्यजना की सीमा के भीतर कन्नड़ साहित्य पूर्णतः समृद्ध है। कला की समस्त शैलियो का शारदीय मूल्याकन कन्नड़ साहित्य के उदार हृदय की जलती-बलती आकांक्षा है। जैन-कला की गभीर चेतना की छाप भी कन्नड साहित्य पर जीते-जागते रूप में पड़ी है। जैन-कला की गत्यात्मक विकास धारा के स्पर्श से कन्नड़ साहित्य ने अपने चिन्तन और साधना की गति दिशा को एक रूप दिया है। जैन चित्रकला और शिल्प की विभिन्न पाठशालाओं का प्रौढ़ अध्ययन कन्नड़ साहित्य के मनीषियो ने किया है। इस अध्ययन की गभीरता ने जैन चित्रकला और शिल्प के उद्घाटित तत्त्वो को युग की आँखों के समक्ष लाकर जैन कला को कला के मानदण्ड पर ऊँचा स्थान दिया है। चित्रकला की पारिभाषिक शब्दावलियों एवं भाव-व्यंजनाओं को अपनी साहित्यिक बल्लरियो से सजाकर जैन कला में अद्भुत कला की अलौकिक धारा का दर्शन कराया गया है। कन्नड़ साहित्य के इस महान कार्य से आज जैन चित्रकला और शिल्प उपकृत हैं।

होयसल-काल में विकास—

होयसलकाल में जैन धर्म की विशेष उन्नति हुई। होयसल वंश के राजाओं ने कला के नवीन मापदण्डों को प्रोत्साहित किया और कला के इतिहास में इसका नामकरण होयसल काल से विख्यात हो गया।

ईसवी सन् ६ वीं शताब्दी से १४ वी शताब्दी तक के समृद्ध काल क्षेप में कर्नाटक प्रदेश की जीवंत भूमिपर क्या २ सामाजिक एवं सांस्कृतिक समुत्थान के आदर्श कार्यों की प्रतिष्ठा हुई इसका पूर्ण विवेचन कन्नड़ जैन साहित्य में प्राप्य है। उससे होयसल काल की शिल्प सम्बन्धी महान् कृतियों पर भी उचित प्रकाश की आरोपणा होती है। कन्नड़ लेखको के सुलझे मस्तिष्क द्वारा रचित काव्यो में उल्लेखित वर्णन पृष्ठों से यह स्पष्ट प्रकट है कि वे शिल्प कला और चित्र कला की प्रचलित शैलियों, रीति-नीतियों के अन्यतम पारखी थे और इसके विकास सूत्र को उन्होंने पकड़ा। उनसे शिल्प शास्त्र-सम्बन्धी कतिपय ग्रंथों के रचना काल पर भी प्रकाश पडता है। छठी अथवा ७ वीं शताब्दी की रचना मानसार से प्रारंभ करके १८ वी शताब्दी की शिव तत्त्व रत्नाकर नामक रचना की लम्बी अन्तराय की खाई के बीच कला सम्बन्धी अनूठे ग्रथों की रचना की शृखला कर्नाटक देश में जुडती गयी। पर कही से भी ऐसी प्रतीति नही होती कि होयसल और चाल्युक्य राज्यकालीन शिल्पियो ने किन शास्त्रों का अनुकरण कर कला को प्राणवन्त रखा। इस प्रश्न का सहज उत्तर पाने के लिए तत्कालीन कन्नड़ जैन काव्यों का विशेष अध्ययन-क्रम अपेक्षित है।

अग्गल के उद्धरण——

१२ वी शताब्दी में कर्नाटक प्रान्त मे अग्गल नामक एक जैन महाकवि हुए थे। इन्होंने इग्लेश्वर के चन्द्रगुप्त को लक्ष्य कर चन्द्रप्रभ पुराण रचा था। इस ग्रथ का रचनाकाल चन्द्रप्रभु पुराण संवत् ११११ सोम्य को चैत्र सुदी एकादशी बृहस्पतिबार अर्थात् ३० मार्च सन् ११८९ है। इनके गुरु का नाम श्रीवेदय, माता का नाम बाचामविके एव पिता का नाम सन्तोष था। होयसल वश के शिलालेखों में विश्वकर्मा और नाडव्य का उल्लेख शिल्पाचारियों के रूप में हुआ है। कवि अग्गल ने अपने ग्रंथ के अध्याय १ श्लोक १४४ मे तत्कालीन शिल्पकार और विश्वकर्माओका उल्लेख करते हुए सफेद पके हुए चावलों से की जाने वाली सफेदी तथा चीन पट्ट पर अकित किये जाने-वाले विभिन्न प्रकार के चित्रों का उल्लेख किया है। १५ वें अध्यायो में तो विशेष रूप से चित्र कला की जातियों एव चित्राभासों का स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में तीन प्रकार की चित्र-विधियाँ बतायी गई हैं। श्रुतविधि, आत्मविधि और पटविधि। इसी अध्याय में कवि अग्गल ने ऋजु, ऋजुपरावर्ति, अर्धऋजु, अर्धऋजुपरावर्ति, साच्व, साच्वपरावर्ति, द्वयाध्यक्षपरावर्ति और पारूपरावर्ति आदि अनेक तरह के चित्रों का उल्लेख किया है।

रसचित्र और धूलिचित्र का विस्तृत वर्णन करते हुए कवि अग्गल ने पुल्लक, पत्रक, विन्दुक, धूम-वर्ति, उद्वर्ति, चित्रार्वात आदि भेद-प्रभेद किये हैं। रंगीन चित्रों के उदक, अर्धउदक और वर्णा-न्तक भेदों की नियोजना की है। अपने समय के कलाकारो की कला का सम्यक् विवेचन करते हुए कलिका, कटक, बाल शिखर, त्रिभंग आदि चित्र भेदों द्वारा चित्रकला की मीमांसा की है। कवि ने बताया है कि चित्रण में ग्रन्थिगर्भ, चलतालवट, पुदिउर, पोदरू, उत्तपालिकवि, वरलु पूर्वशाखा, पश्चिमशाखा, श्रम, अनुश्रम, गजकणिका, वह्निकणिका विधियों का उपयोग किया जाना चाहिये। कवि सर्वतोभद्र नामक विधि को चित्रकला के लिए अधिक उपयोगी मानता है। भीति-चित्रों में सफेद

पुती हुई दीवालों पर गहरे रंग से संतुलित रेखाओं द्वारा अंकित करना चाहिये । यदि विशेष प्रकार के पलास्तर द्वारा दीवालों को चिकना कर लिया जाय तो कला की दृष्टि से भीति-चित्र मनोरम हो सकते हे । धूलि-चित्रो में विशेष प्रकार के चावल एवं आटे में रंग मिश्रित कर धार्मिक स्वस्तिक आदि प्रतीकों के रूप में चित्रों का निर्माण किया जाता है । ये धूलिचित्र धर्मोत्सवों के अवसरो पर तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर प्रयुक्त किये जाते हैं ।

तुलना—

कवि अग्गल के द्वारा प्रतिपादित चित्र कला की तुलना हम राज मानस उल्लास, नारद शिल्पशास्त्र एव ब्रह्मसूत्र से कर सकते हैं । पाषुसूत्र में चित्रकला की जिन आकृतियों की विवेचना की गई है प्राय वे सभी आकृतियाँ अग्गल की कला में अंकित हैं । कवि अग्गल ने एक विशेष कार्य यह भी किया है कि उसने चित्र की ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई आदि का प्रमाण भी स्पष्ट रूप से बतलाया है । उसने नाट्य शालाओं में होने वाले अभिनय के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्र एवं उपयोग मे आनेवाले चित्रादि का उल्लेख किया है । यद्यपि मानसार में धूलिचित्र और रसचित्रों की जो विधियाँ निरूपित की गई है प्राय: वे ही विधियाँ कवि अग्गल की कृति में भी हैं । कवि अग्गल ने चित्रो में रग भरने के सम्बन्ध में बताया है कि प्रत्येक आकृति में कलिक, कंटक, बालशेखर, त्रिभग और भफरिक का रहना आवश्यक है । सभवत. कवि ने इन कन्नड़ शब्दों द्वारा रगों के सम्वन्ध मे अपना अभिमत प्रकट किया है । निस्सन्देह होयसल कालिक कवि अग्गल की चित्रकला सम्बन्धी जानकारी अद्भुत थी तथा उसने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन सभी कलाकृतियों का मन्थन किया था ।

वास्तु-कला—

कवि अग्गल मात्र चित्रकला के ज्ञाता नही थे अपितु इनका वास्तु-कला पर भी अपरिमित अधिकार था । प्रासाद व्याख्या करते हुए कवि ने लिखा है कि प्रासाद का सबसे बड़ा गुण उसका मनमोहक और शान्तिप्रद होना है । आराम और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी प्रासाद में ऊँचाई और लम्बाई, चौड़ाई के अनुसार खिड़कियों तथा दरवाजों का रहना आवश्यक है । इन्होंने महाप्रासाद. वैराज्य, पुष्पक, कैलाश, माणिक और त्रिविष्टप आदि प्रासादों के भेद किये हैं । वैराज्य प्रासाद चतुरस्र, पुष्पक त्रिस्र, कैलाश प्रासाद वृत्ताकार, माणिक प्रासाद वृत्त आयताकार और त्रिविष्टप प्रासाद अष्टास्र होता था । इन्होंने ५७ प्रकार के राज-महलों का उल्लेख किया है । अन्य प्रकार से उन्होंने पांच तरह के प्रासाद बताये हैं—स्वास्थ्यक, वर्द्धमान, नन्द्यावर्त, सर्वतोभद्र और बलिभचन्द्र । इन्होंने तीस प्रकार के चैत्यालयों अर्थात् मन्दिरों के भेद बताये हैं । मानस्तम्भ के सम्बन्ध में कवि लिखता है कि यह केवल गर्भगृह के सम्मुख ही नही होता बल्कि इसे मानदण्ड के रूप में रहना चाहिये । मानस्तम्भ, चतुरस्र एवं ऊँचाई का दशांश भूमि के भीतर अर्थात् नीव में रहता है। मानस्तम्भ की मूर्तियाँ खड्गासन और पद्मासन दोनों ही प्रकार की हो सकती है । मूर्तियाँ श्वेत

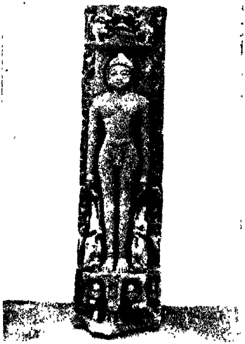
या श्याम वर्ण के निर्दोष पाषाण की प्रतिपादित प्रमाणानुसार होनी चाहिये । मूर्त्तियाँ देखने में सुन्दर और भव्य होने के साथ शास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण तथा शुद्ध होनी चाहिये । कवि ने मूर्ति-कला के सम्बन्ध में भी कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है ।

नगरों के निर्माण के सम्बन्ध में भी कवि ने पूर्ण ज्ञातव्य बातें प्रस्तुत की हैं । कवि कहता है कि नगर, ग्राम, कर्वट, मडम्ब खर्वट, द्रौण, पत्तन आदि का निर्माण विशेष २ विधियों के अनुसार होना चाहिये । आवास स्थानों की दूरी इतनी होनी चाहिये जिससे पर्याप्त वायु और स्वास्थ्य-वर्द्धक सूर्य की किरणों का प्रकाश प्राप्त हो सके । पत्तन और द्रौण में आवासों का श्रेणीबद्ध रहना अत्यावश्यक है ।

कवि अग्गल के पश्चात् जैन साहित्यकारों की अन्य रचनाओं में भी कला के उल्लेख मिलते हैं । वस्तुतः जैनों द्वारा विरचित कन्नड़ साहित्य जहाँ साहित्य, व्याकरण और आचार की दृष्टि से अपना महत्त्व रखता है वहाँ कला की दृष्टि से भी समृद्धिशाली और महत्त्वपूर्ण है ।



मथुरा से प्राप्त जैन पुरातत्त्व



खड्गासन जिन मूर्ति



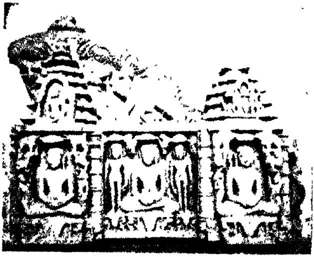
स्तूप की वनवासीजन पूजा करते हुए



वर्द्धमान भगवान् के खड़े हुए चित्र का निचला भाग



अम्बिका देवी



मथुरा स्तूप तोरण द्वार

मथुरापुरी कल्प

डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी०लिट्,

(आचार्य जिनप्रभ सूरि ने जैन तीर्थ-स्थानों के सम्बन्ध में "विविध तीर्थ-कल्प' नामक एक अति उपयोगी ग्रथ की रचना की थी। ये आचार्य मुहम्मद तुगलक (१३२५—१३५१) के समकालीन थे। 'विविध तीर्थ-कल्प' की रचना उसके वर्णन के अनुसार ई० १३२६ और १३३१ के बीच में किसी समय[1] हुई होगी। जिनप्रभ सूरि ने स्वय मथुरा के स्तूपों का उद्धार कराया था। सं० १३९३ (ई० १३३६) में रचित 'नाभिनन्दनोद्धार प्रबन्ध'[2] ग्रंथ में लिखा है कि शत्रुञ्जयोद्धारक समर सिंह ने शाही परमान लेकर संघ और श्री जिनप्रभ सूरि जी के साथ मथुरा और हस्तिनापुर की यात्रा की थी[3]। जिनप्रभ सूरि ने अपने ग्रंथ के मथुरा कल्प नामक भाग में मथुरा के जैन स्तूप की जो अनुश्रुति दी है वह इस प्रकार है—)

सातवें (सुपार्श्वनाथ) और तेइसवें (पार्श्वनाथ) जिनेश्वरों को जो जगत की शरण हैं, नमस्कार करके सज्जनो का मंगल करने वाले 'मथुरा कल्प'[4] को कहता हूँ ।।१।।

जिस समय सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर थे उस समय धर्मरुचि और धर्मघोष नाम के दो आसक्तिरहित मुनिश्रेष्ठ हुए ।

---

(१) नन्दानेकपशक्ति शीतगुमिते श्री विक्रमोर्वीपते-
र्वर्षे भाद्रपदस्य मासयवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ ।
श्री हम्मीर महम्मदे प्रतपति क्ष्मामंडलाखंडले
ग्रंथोऽयं परिपूर्णतां समभजच्छ्रीयोगिनीपत्तने ।।

अर्थात् विक्रम संवत् १३८९ में भाद्रपद शुक्ल दशमी बुधवार के दिन यह ग्रंथ योगिनीपुर नगर (देहली) में समाप्त हुआ। उस समय श्री हम्मीर महम्मद (मुहम्मद तुगलक) पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे।

(२) यह ग्रंथ गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से छप चुका है।

(३) श्री अगरचंद नाहटा कृत 'शासन प्रभावक श्री जिनप्रभ सूरि का संक्षिप्त जीवन चरित्र' पृ० ४, ११

(४) मूल ग्रंथ प्राकृत भाषा में है।

वे मुनि छठे, आठवें, दसवें, बारहवें, या पखवारे तक का उपवास (भोजन का) रखते हुए एक महीने, दो महीने या तीन महीनें, चार महीनें तक का तपश्चरण करते और सज्जनो को प्रतिबोध करते थे। किसी समय उन्होंने मथुरापुरी में विहार किया।

उस समय मथुरा बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। पास में बहती हुई यमुना जी अपने जल से उसे पखार रही थी। ऐसी सुन्दर प्राकीर से वह अलकृत थी, श्वेत पुते हुए घर, मन्दिर, बावड़ी, कुएँ, पुष्करिणी, जिनालय और बाजार उसकी शोभा बढ़ा रहे थे और उसमें अनेक वेदपाठी चातुर्विद्य ब्राह्मण (प्रा० चाउविज्जविद्य) थे।

वहाँ के मुनिवर अनेक वृक्ष पुष्प फल लताओं से भरे हुए 'भूतरमण' नाम के बगीचे में आज्ञा लेकर ठहरे और उपवास के द्वारा उन्होंने चातुर्मास्य बिताया। उस उपवन की स्वामिनी कुबेरा नाम की देवी उनके स्वाध्याय, तप और प्रशमादि गुणो को देखकर प्रसन्न हुई। रात में प्रकट होकर उसनें कहा—'भगवन्, आपके गुणों से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आप कुछ वर मागिए।' उन्होंने कहा—'हम लोग निस्सग हैं, कुछ नही चाहते।' यह कहकर उन्होने उसे धर्म का श्रवण कराकर श्राविका बना लिया।

अब कार्तिक शुक्ल अष्टमी की रात आने पर उन मुनिवरों ने कुबेरा से बिदा माँगते हुए कहा—'हे श्राविके, (धर्म में) दृढ़ आस्था रखना और जिनो के वन्दन और पूजन में प्रवृत्त रहना। इस समय चौमासा बिताकर पारणा के लिए अब हम अन्यत्र जायंगे। उसने दु:खी होकर जवाब दिया—'भगवन्, यही इस उपवन में आप सब काल के लिए क्यों नही ठहर जाते?' साधुओं ने उत्तर दिया—

'साधु, पक्षी, भौंरे और गायों की बस्ती का शरद काल के मेघों की तरह कुछ ठिकाना नही।'

इस पर कुबेरा ने निवेदन किया—'यदि आपका ऐसा ही विचार है तो मुझे भी धर्मकार्य बताइए जिसे मैं पूरा करूँ। देवों का दर्शन मोह का नाश करता है।' साधुओ ने कहा—'यदि तुम्हारा बहुत आग्रह है तो सब संघ के साथ हमें मेरु पर्वत पर ले चलो जिससे चैत्यो की वन्दना करें।' उसने कहा—'तुम दो जनों को मैं वहाँ ले जाकर वंदना करा सकती हूँ, किन्तु मथुरा सघ के ले चलने पर सम्भव है मिथ्यादृष्टि देव मार्ग में विघ्न करें।' साधुओ ने कहा—हमने तो आगमो की सामर्थ्य से ही मेरु का दर्शन कर लिया है। यदि संघ को लें चलने की तुममें शक्ति नहीं है, तो हम ही दो जाकर क्या करेंगे?' इस पर देवी ने लज्जित होकर कहा—'यदि ऐसा है, तो मैं यहीं मेरु के आकार को प्रतिमाओं से अलंकृत (मन्दिर) बना दूगी। उसमें सघ के साथ तुम लोग देव वन्दन करना।'

साधुओं के सम्मति देनें पर देवी ने रात-रात में एक स्तूप बना कर खड़ा कर दिया। वह सोनें का बना हुआ, रत्नों से जटित, अनेक देवों से घिरा हुआ (पारिवारिओ), तोरण, ध्वजा, मालाओ से अलंकृत था। उसकी चोटी पर तीन छत्र लगे थे और वह तीन मेखलाओं (वेदिकाओं) से

मंडित था। प्रत्येक मेखला में चारों ओर पांच प्रकार के रत्नों से बनी हुई मूर्तियाँ लगी थीं। उसमें मूल प्रतिमा श्री सुपार्श्व स्वामी की प्रतिष्ठापित की गई।

प्रातःकाल जब लोग उठे तो स्तूप को देखकर आपस में झगड़ने लगे। किसी ने कहा—'ये वासुकि सर्प के लाञ्छन वाले भगवान स्वयम्भू हैं।' दूसरों ने कहा—'ये शेष की शय्या पर स्थित नारायण हैं।' इसी तरह ब्रह्मा, धरणेन्द्र, सूर्य, चन्द्र को लेकर मतभेद होता रहा। बौद्धों ने कहा—'यह स्तूप नहीं किन्तु बुद्धाण्ड है।' तब निष्पक्ष लोगों ने कहा—'कलह मत करो।' यह स्तूप देव निर्मित (देवता से बनाया हुआ) है। वही देवता इसके विषय में सन्देह का निवारण करेंगे। अपने-अपने देवता की मूर्ति को चित्रपट पर लिखकर अपनी गोष्ठी के साथ ठहरो। जिसका देवता होगा उसीका पट रह जायगा। दूसरे पटों को स्वयं देवता ही नष्ट कर देंगे। जैन संघ ने सुपार्श्व स्वामी का पट चित्रित किया। तब सबने अपने अपने देवता को चित्रपट पर चित्रित किया और अपने संघ के साथ उसका पूजन करके सब दर्शनिये लोग नवमी की रात भर गाते-बजाते रहे। आधी रात बीतने पर उद्दण्ड वायु तिनके कंकड़ पत्थर फेंकती हुई चलने लगी। उसने सब पटों को तोड़ बहाया। प्रलय की तरह के उसके शोर से मनुष्य इधर-उधर भाग गए।

अकेला सुपार्श्व का पट बचा रहा। लोग विस्मित हुए (और उन्होंने कहा)—'ये अर्हत देव हैं।' तब उस पट को सारे नगर में घुमाया गया। उसीसे पट-यात्रा शुरू हुई।

तब स्नान प्रारम्भ हुआ। कौन पहले अभिषेक कराए, इसके लिए श्रावकों में झगड़ा होने पर बड़े आदमियों ने कहा—'सबका नाम लिखकर गोलियों में बन्द करो, उनमें से जिसके नाम की गोली सबसे पहले कुमारी कन्या उठा लेगी, वही पहले अभिषेक कराएगा, चाहे वह दरिद्र हो या धनी हो।' यह बात दशमी की रात को तय हुई।

तब एकादशी के दिन दूध, दही, घी, कुकुम चन्दन आदि से भरे हुए सहस्रों कलश हाथ में लेकर लोगों ने अभिषेक कराया। देवों ने भी छिपे-छिपे उस अभिषेक में भाग लिया। आज भी उसी प्रकार देवता लोग यात्रा में पधारते हैं। जब क्रम से सब स्नान करा चुके तब उन्होंने पुष्प, धूप, वस्त्र, महाध्वजा, आभरण आदि चढ़ाए। साधुओं को भी घी, गुड़ आदिक दिया गया।

द्वादशी की रात को माला चढ़ाई गई। इस प्रकार वे मुनीश्वर देव वंदित सकल संघ को आनन्द पहुँचाकर, चौमासा बिताने के बाद दूसरी जगह पारण क्रिया करके अपने तीर्थ को प्रकाशमान बनाकर कर्ममल के क्षय से सिद्धि को प्राप्त हुए। उससे वह स्थान (मथुरा) सिद्धक्षेत्र बन गया। तब मुनियों के वियोग से खिन्न देवी भी नित्य जिन भगवान के चरणों में रत रहकर अर्धपल्योपम की आयु भोग कर अपने पद से महले मनुष्य-योनि में आई और फिर उत्तम पद (मोक्ष) को प्राप्त हुई। उसकी जगह जो देवी उत्पन्न होती है वही कुबेरा कहलाती है।

उस कुबेरा देवी से रक्षित वह स्तूप बहुत काल तक उघाड़ा हुआ ही रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जन्म लेने तक यही दशा रही। तब मथुरा के राजा ने लोभ के वशीभूत होकर

मनुष्यों को बुलाकर कहा—'स्वर्ण और मणियों से बने हुए इस स्तूप को निकालकर मेरे भंडार में जमा करो । तब लोगों ने लोहे के कुल्हाड़ों से स्वर्ण का स्तूप निकालने के लिये चोट लगाना शुरू किया पर कोई असर न हुआ । प्रहार करने वालों के शरीर में स्वय ही घाव होने लगे । उस पर विश्वास न करके राजा ने अपने हाथ से प्रहार किया । कुल्हाड़ा उछलकर राजा के सिर में लगा और सिर कट गया ।

तब कुपित देवता ने प्रकट होकर जनपद-जनों से कहा—'ऐ पापियो, तुमने यह क्या किया ? राजा की तरह तुम भी नाश को प्राप्त होगे ।' तब भयभीत होकर वे लोग धूप हाथ में लेकर देवता को मनाने लगे । देवी ने कहा—'यदि जिनालय की पूजा करोगे तभी इस उपद्रव से छूटोगे । जो जिनको मूर्त्ति या सिद्धालय की पूजा करेगा उसीका घर स्थिर रहेगा अन्यथा गिर जायगा [1] । प्रतिवर्ष जिन भगवान के पट को नगर में घुमाना चाहिये और (राजा के पाप की स्मृति में) 'कुहाड़ा छह' की भी मनानी चाहिए । यहाँ जो भी राजा होगा उसे चाहिए कि जिन प्रतिमा की स्थापना करके तब भोजन करे अन्यथा वह जीवित न रहेगा । देवता की कही हुई उन सब बातो को सही प्रकार से लोगों ने करना शुरू कर दिया ।

एक बार पार्श्वनाथ स्वामी केवली के रूप में बिहार करते हुए मथुरा में आए । उन्होने समवशरण में धर्म का उपदेश दिया और दुःषमा काल में आगे आने वाली दुरवस्थाओं का वर्णन किया । जब वे अन्यत्र चले गए तब कुबेरा ने सब को बुलाकर कहा—'जिन भगवान कह गए हैं कि दुःषमाकाल निकट है । लोक और राजा लोभी होंगे । मैं भी प्रमाद के कारण बहुत दिन न जिऊँगी । इसलिए उघड़े हुए इस स्तूप को सदा तक मै न बचा सकूगी । इसलिए संघ की आज्ञा से इसे ईंटों से ढँक दूँगी । तुम लोग भी (स्तूप के) बाहर पत्थर का एक मन्दिर (शैलमय प्रासाद) बनवाओ और जो मेरे इस स्थान पर दूसरी देवी होगी, वह भीतर से स्तूप की पूजा करती रहेगी । तब सब ने उस प्रस्ताव को बहुत गुण-सम्पन्न जानकर अपनी अनुमति दी और देवी ने वैसा ही किया ।

(३)

तब वीर भगवान् के सिद्धि पाने के तेरह सौ वर्ष बाद बप्प भट्टि सूरि उत्पन्न हुए । उन्होने भी इस तीर्थ का उद्धार किया । पार्श्व जिन की पूजा कराई और पूजा को सदा जारी रखने के लिए उपवन, कूप और कोठार बनवा दिए और उसे चौरासी के सुपुर्द किया । संघ ने स्तूप की

१ इसके बाद एक वाक्य है—'तभी से छेद ग्रंथ में मथुरा के भवनों को मंगल चैत्य का-उदाहरण माना गया है ।' यह संकेत 'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य' (१।१७७६) की ओर है । उसमें लिखा है कि मथुरा में घर बनवाने के बाद दरवाजे की सिरदल पर सामने की ओर अर्हत्प्रतिमा की स्थापना मंगल के लिए करते हैं । इसके कारण वह मकान 'मंगल चैत्य' कहलाता है । जिस घर में वह जिन प्रतिमा द्वार पर नहीं होती वह घर गिर जाता है । मथुरा के आसपास के छियानवे गांवों में यही मान्यता है ।

ईंटों को खिसकती हुई (गिरती हुई) जानकर पत्थरों से परिवेष्टित करने के लिए स्तूप को खोलना शुरू किया। स्वप्न में देवता ने रोक दिया कि इसे मत उखाड़ो। तब देवता के वचन से वह नहीं खोला गया और सुघटित पत्थरों से परिवेष्टित कर दिया गया। इस स्तूप की आजतक देवता रक्षा करते हैं। सहस्रों प्रतिमाओं और देवलो से, एव आवास स्थानों और मनोहर गंधकुटी से सयुक्त तथा चिल्लणिआ, अम्बा एवं अनेक क्षेत्रपालादि देवों की मूर्त्तियो से अलंकृत यह जिन भवन आज भी विराजमान है[१]।

(४)

इस नगरी मे भावी तीर्थंकर कृष्ण वासुदेव ने जन्म लिया। आचार्य आर्यमंगु और हुंडिय यक्ष का मन्दिर यहाँ है।

यहाँ पाँच स्थल है। यथा—अर्कस्थल, वीरस्थल, पद्मस्थल, कुशस्थल, महास्थल।

यहाँ पर बारह बन हैं, यथा—लोह जंघवन, मधुवन, बिल्ववन, तालवन, कुमुदवन, वन्दावन, भंडीर-वन, खदिरवन, काम्यकवन, कोलवन, बहुलावन, महावन।

यहा पाँच लौकिक तीर्थ हैं, यथा—विश्रान्तिक-तीर्थ, असिकुड-तीर्थ, वैकुण्ठ-तीर्थ, कालिजर-तीर्थ, चर्कतीर्थ।

शत्रुञ्जय मे ऋषभनाथ, गिरनार में नेमिनाथ, भरुकच्छ में मुनिसुव्रत, मोढरक मे महावीर, मथुरा मे सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को नमस्कार करके, सौराष्ट्र में विहार करके जो ग्वालियर मे राज्यभोग कर रहा है। ऐसे श्री आमराज से सेवित्त चरणकमलो वाले श्री बप्पभट्ट सूरि ने विक्रम सवत् ८२६ मे श्री महावीर स्वामी के बिम्ब की मथुरा में स्थापना की।

यहाँ श्री महावीर वर्द्धमान का आश्रय लेने वाले विश्वभूति अपरिमित सेना के साथ अन्त को प्राप्त हुए।

यहाँ बकयमुन राजा से मारे हुए दड नाम के मुनि को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ और उनकी पूजा के लिए स्वय इन्द्र आए।

यहाँ जित शत्रु नामक राजा के पुत्र कालवेशित मुनि अर्श रोग से पीड़ित मुद्गल गिरि मे अन्त को प्राप्त हुए।

यहाँ शंखराज ऋषि के तपः प्रभाव को देखकर सोमदेव नामका ब्राह्मण गजपुर में दीक्षा लेकर स्वर्ग गये और काशी में हरिएसबल नामक मुनि से देवपूज्य हुआ।

---

(१) यह वाक्य डा० बूहलर के पाठ के अनुसार है, यथा—तुम्हेंहि वि बाहिरे पासाओ सेलमइओ पुञ्जिअव्वो। 'सिंघी जैन ग्रंथ माला में छपे हुए ग्रंथ में पाठ इस प्रकार है'—तुम्हेंहि वि बाहिरे पास सामी सेलमइओ पुञ्जिअव्वो। अर्थात् तुम लोग स्तूप के बाहर पार्श्वनाथ स्वामी की पत्थर की प्रतिमा स्थापित करके उसका पूजन करो।

(२) डा० बूहलर ने 'मथुराकल्प' को मूल और अंग्रेजी अनुवाद के साथ वियनानगर से १८९७ में A Legend of the Jaina Stupa at Mathura के नाम से प्रकाशित कराया था।

सिन्धी जैन ग्रंथमाला में भी 'विविध तीर्थ कल्प' की मूल पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

यहाँ उत्पन्न हुई निवृत्ति नामक राजकन्या को राजावेध करने वाले सुरेन्द्रदत्त ने स्वयंवर में वरा।

यहाँ कुबेर दत्त ने कुबेर सेना नाम की माता को और कुबेरदत्त नाम के भाई को अट्ठारह नातियों के साथ प्रतिबोधित किया।

यहाँ श्रुतरूपी समुद्र में पारंगत आर्य मगु ने यक्षरूप में साधुओं का प्रतिबोध किया।

यहाँ कंबल और संबल नाम के मुनिपुत्र जिनदास के संसर्ग से प्रतिबुद्ध होकर नागकुमार हुए।

यहा अन्निकापुत्र नाम के मुनि ने पुष्पचूला को प्रवज्या ग्रहण कराकर ससार-सागर से पार कराया।

यहाँ इन्द्रदत्त नाम के पुरोहित ने मिथ्यादृष्टि के कारण साधु के मस्तक पर पैर रक्खा और फिर श्रद्धापूर्वक गुरु-भक्ति के साथ उनकी प्रदक्षिणा की।

यहाँ इन्द्र ने आर्यरक्षित सूरि की वन्दना की।

यहां वस्त्र पुष्यमित्र, घृत पुष्यमित्र और दुर्बलित पुष्यमित्र नाम के आचार्यों ने विहार किया।

यहाँ भीषण दुर्भिक्ष के समय बारह वर्ष तक सब संघों को एकत्र कर आचार्य स्कंदिल ने आगमो का अनुयोग (व्याख्या) किया।

यहाँ देव निर्मित स्तूप में एक पक्ष के उपवास द्वारा देवता की आराधना द्वारा जिनभद्र श्रमण ने दीमक से खाये हुए पन्नो के कारण त्रुटित महानिशीथ सूत्र को पूरा किया।

यहाँ साधुओं के तप से प्रसन्न होकर शासन देवता ने इस तीर्थ को संघ के कहने से अर्हत् पूजा का स्थान बना दिया और उसी देवी ने मनुष्यो को लोभ के परवश जानकर स्वर्ण के स्तूप को ढककर ईंटो का स्तूप बना दिया।

उसके बाद बप्पभट्टि के कहने से आमराज ने उसे पत्थरो से चिनवा दिया।

यहाँ शंखराज और कलावती ने पाचवें जन्म मे देवसुन्द और कनकसुन्दरी नाम से श्रमणोपासक बनकर राज्य श्री का भोग किया।

इस प्रकार यह मथुरा नगरी अनेक पुण्य-कार्यों की जन्मभूमि है। यहाँ नरवाहना कुबेरा देवी, सिंहवाहना अम्बिकादेवी और सारमेय वाहन क्षेत्रपाल तीर्थ की रक्षा करते हे।

इस प्रकार इस मथुराकल्प का जिनप्रभसूरि ने कुछ वर्णन किया। परलोक की इच्छा करने वाले सज्जन इसका एक बार परायण करें।

मथुरातीर्थ की यात्रा से जो पुण्यफल होता है, वही एकाग्रमन से इस कल्प को सुनने से प्राप्त होता है।[1]

---

१ मथुरा तीर्थ की प्राचीनता के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन ग्रंथों में भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इस तीर्थ का प्रचार ई० पूर्व में हो था, इसे उत्तर मथुरा कहा गया है। ७ वीं और ८ वीं शताब्दी की रचनाएँ पद्मपुराण, हरिवंश और आदिपुराण में उत्तर मथुरा के वैभव की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। श्री श्रुतकेवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी चौरासी मथुरा में ही हुआ है। यहां के मन्दिरों के मूर्ति लेख १० वीं शताब्दी के मिलते हैं। —सं०

प्राचीन तीर्थों की परिचयात्मक एक महत्वपूर्ण कृति

पं० श्री दरबारीलाल जैन, कोठिया, न्यायाचार्य

कृति-परिचय—

विक्रम संवत् १३ वीं शताब्दी के सुविख्यात विद्वान् मुनि मदनकीर्ति की 'शासन चतुस्त्रिंशिका'[१] जैन साहित्य की एक अमूल्य कृति है। यह एक छोटी सी किन्तु बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक रचना है। इसमें कोई २६ तीर्थ-स्थानों—८ सिद्ध तीर्थ क्षेत्रो और १८ अतिशय तीर्थ क्षेत्रों का—परम्परा अथवा अनुश्रुति से यथाज्ञात इतिहास एक-एक स्वतंत्र पद्यमें अति संक्षेप एवं संकेत रूप में निबद्ध है।

विक्रम संवत् १३३४ में बन कर समाप्त हुए चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावकचरित्र, विक्रम सं० १३६१ में रचे गये मेरुतुङ्गाचार्य के प्रबन्ध चिन्तामणि, विक्रम सं० १३८९ में पूर्ण हुए जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थकल्प और विक्रम स० १४०५ में निर्मित हुए राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोश (चतुर्विंशति प्रबन्ध) में भी जैन तीर्थों के इतिहास की सामग्री पाई जाती है, पर विक्रम स० १२८५ के आसपास रची गई यह शासन चतुस्त्रिंशिका उक्त चारों रचनाओ से प्राचीन होने के कारण जैन तीर्थों के ऐतिहासिक परिचय में विशेष रूप से उल्लेखनीय एवं उपादेय है।

इसमें जिन २६ तीर्थ स्थानों और वहाँ के दिगम्बर जिनबिम्बों के अतिशयों प्रभावों और माहात्म्यों का वर्णन किया गया है जो निम्न प्रकार है :—

१ कैलास के श्री ऋषभदेव, २ पोदनपुर के श्री बाहुबली, ३ श्रीपुर के पार्श्वनाथ, ४ हुलगिरि अथवा होलागिरि के शङ्खजिन, ५ धारा के पार्श्वनाथ, ६ वृहत्पुर के वृहद्देव (आदि नाथ), ७ जैन पुर (जैन बिद्री) के दक्षिण गोम्मटदेव, ८ पूर्व दिशा के पार्श्व जिनेश्वर, ९ विश्व सेन नृप द्वारा समुद्र से निकाले शांतिजिन, १० उत्तर दिशा के जिनबिम्ब, ११ सम्मेदशिखर के बीस तीर्थंकर, १२ पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त, १३ नागद्रह के नागह्रदेश्वरजिन, १४ सम्मेदशिखर की अमृतवापिका (जलकुण्ड), १५ पश्चिम समुद्र तट के श्री चन्द्रप्रभजिन, १६ छाया पार्श्व प्रभु, १७ श्री आदि जिनेश्वर, १८ पावापुर के श्री वीर जिन, १९ गिरनार के श्री नेमिनाथ, २० चम्पापुर के श्री वासुपूज्य, २१ नर्मदा के जल से

---

१ यह मेरे द्वारा सम्पादित होकर सन् १९४९ में वीर सेवा मन्दिर, सरसावा से प्रकाशित भी हो चुकी है।

अभिषिक्त श्री शांति जिनेश्वर, २२ अवरोध नगर ([1]आशारम्य या आश्रम) के श्री मुनिसुव्रत, २३ विपुलगिरि का जिनबिम्ब, २४ विन्ध्यगिरि के जिनचैत्यालय, २५ मेदपाट (मेवाड) देशस्थ नागफणी ग्राम के श्री मल्लि जिनेश्वर और २६ मालव देश के मगलपुर नगर के श्री अभिनन्दन जिन ।[2]

इसके सिवाय इसमें स्मृतिपाठक, वेदान्ती, वैशेषिक, मायावी, यौग, सांख्य, चार्वाक और बौद्ध इन दूसरे शासनों द्वारा दिगम्बर शासन की कई बातों के अपनाने का भी प्रतिपादन किया गया है। यहाँ हम इस सुन्दर रचना के कुछ पद्यों को उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं —

(क) पादाङ्गुष्ठनख प्रभासु भविनामाऽऽभान्ति पश्चाद्भवा
यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरतः स्वस्योपवास प्रमा ।
अद्याऽपि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै
देवो बाहुबली करोतु बलवद्दिग्वाससां शासनम् ।।२।।

(ख) यत्र यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातु क्षणं न क्षमं
तत्राऽस्ते गुणरत्न रोहणगिरिर्यो देवदेवो महान् ।
चित्र नाऽत्र करोति कस्य मनसो दृष्ट· पुरे श्रीपुरे
स श्री पार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससा शासनम् ।।३।।

(ग) यस्या· पाथसि नाम विंशतिभिदा पूजाऽष्टधा क्षिप्यते
मन्त्रोच्चारण-बन्धुरेण युगपन्निर्ग्रन्थरूपात्मनाम् ।
श्रीमत्तीर्थकृता यथायथमिय ससंपन्नीपद्यते
सम्मेदामृतवापिकेयमवताद्दिग्वाससा शासनम् ।।१४।।

(घ) स्मार्ताः पाणिपुटोदनादनमिति ज्ञानाय मित्र-द्विषो-
रात्मन्यत्र च साम्यमाहुरसकृन्नैर्ग्रन्थ्यमेकाकिताम् ।
प्राणि-क्षतिमद्वेषतामुपशम वेदान्तिकाश्चापरे ।
तद्विद्धि प्रथम पुराणकलित दिग्वाससा शासनम् ।।१५।।

(ङ) सौराष्ट्रे यदुवंश-भूषण-मणेः श्रीनेमिनाथस्य या
मूर्तिर्मुक्तिपथोपदेशनपरा शाताऽऽयुधाऽपोहनात् ।।.
वस्त्रैराभरणैर्विना गिरिवरे देवेन्द्र-संस्था (स्ता) पिता
चिराभ्रान्तिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससां शासनम् ।।२० ।।

---

१ देखो, निर्वाणकाण्ड गाथा २३ और मुनि उदयकीर्ति कृत अपभ्रंश निर्वाणभक्ति ।

२ इनके खोजपूर्ण ऐतिहासिक परिचय के लिए मेरे द्वारा सम्पादित शासन चतुस्त्रिंशिका के परिशिष्ट (पृ० २९—५५) को देखिए ।

(क) पहले पद्य में बतलाया गया है कि पोदनपुर में बाहुबली स्वामी की विशालकाय एवं प्रभावपूर्ण जिन प्रतिमा प्रतिष्ठित है जो दिगम्बर मुद्रा में विराजमान है और लोक में अपने प्रभाव द्वारा दिगम्बर शासन की महत्ता को प्रकट करती हुई ख्याति को प्राप्त है ।

(ख) दूसरे पद्य में कहा गया है कि श्रीपुर नगर में भगवान् पार्श्वनाथ का जिनबिम्ब आकाश में अधर स्थिर रहता है जो दिगम्बर शासन की लोक में विशिष्ट जय करता हुआ वर्तमान है ।

(ग) तीसरे श्लोक में यह प्रतिपादन किया है कि सम्मेदगिरि की अमृतवापिका (जलमन्दिर के जलकुण्ड) की यह महिमा है कि उसमें भव्यजन सम्मेदगिरि से निर्वाण प्राप्त दिगम्बर मुद्राधारी बीस तीर्थंकरो के नामो का समत्र उच्चारण करके उनके लिए अष्टद्रव्य चढ़ाते हैं और अपनी विशिष्ट भक्ति प्रकट करते हैं ।

(घ) चौथे में कहा गया है कि स्मृतिपाठक, ज्ञान प्राप्ति के लिये हाथों पर रख कर भोजन करना, मित्र और शत्रु तथा अपने और पर में समता (एक-सा) भाव रखना, निर्ग्रन्थ (निर्वसन) रहना और एकाकी (अकेले) रहना इन बातो का कथन करते हैं । तथा वेदान्ती प्राणियों पर शान्ति (दया-भाव) रखना, किसीसे द्वेश नही करना और उपशमभाव (मन्द कषाय) रखना बतलाते हे सो यह सब उनका पुराणप्रतिपादित दिगम्बरो का शासन है, क्योंकि उक्त सब बातें दिगम्बर शासन में सर्वप्रथम और मुख्यतया बतलाई गई हैं और इसलिए स्मृति पाठकों तथा वेदान्तियों ने भी दिगम्बर शासन को अपना कर उसके महत्व को प्रकट किया है ।

(ङ) पाँचवें पद्य में बतलाया गया है कि सौराष्ट्र (गुजरात) में गिरनार पर्वतपर श्री नेमि-नाथ तीर्थंकर की मनोज्ञ एव शान्त दिगम्बर मूर्ति बनी हुई है जो इतनी भव्य और चित्ताकर्षक है कि लोग वहाँ जाकर उसके बडी श्रद्धा से दर्शनादि करते हैं और उसके मूकोपदेश को सुन कर चित्त में बडी शान्ति एव निराकुलता प्राप्त करते है ।

इस तरह यह रचना जहाँ दिगम्बर शासन के प्रभाव की प्रकाशिका है वहाँ साथ में इतिहास-प्रेमियो के लिए इतिहासानुसन्धान की कितनी ही महत्व की सामग्री को भी लिये हुए है और इसलिए इसकी उपादेयता तथा उपयोगिता इस विषय की किसी भी दूसरी कृति से कम नही है । इसका एक-एक पद्य स्वतत्र निबन्ध का विषय है, इसीसे इसका महत्व जाना जा सकता है ।

इसमें कुल ३६ पद्य हैं जो अनुष्टुर् छन्द में प्राय. ८४ श्लोक जितने हे । इनमें नम्बरहीन पहला पद्य आगे ३२ पद्यों के प्रथमाक्षरो से निर्मित है और जो अनुष्टुप् वृत्त में है । अन्तिम (३५ वाँ) पद्य प्रशस्ति पद्य है जिसमें रचयिता ने अपने नामोल्लेख के साथ अपनी कुछ आत्मचर्चा दी है और जो मालिनी छन्द में है । शेष ३४ पद्य ग्रन्थ-विषय से सम्बद्ध हैं, जिनकी रचना शार्दूल विक्रीडित छन्द में हुई है । इन चौंतीस पद्यों में दिगम्बर शासन के प्रभाव और विजय का [1] प्रतिपादन होने से यह रचना 'शासनचतुस्त्रिंशिका' अथवा 'शासन चौंतीसी' के नाम से प्रसिद्ध है ।

१ इसीसे प्रत्येक पद्य के अन्त में सर्वत्र 'दिग्वाससां शासनम्' पद निहित है ।

रचयिता का परिचय—

अब विचारणीय यह है कि इसके रचयिता मुनि मदनकीर्ति कब हुए है और वे किस विशेष अथवा सामान्य परिचय को लिये हुए है ? अत. उक्त दोनों बातों पर विचार किया जाता है:—

समय—

(१) श्वेताम्बर विद्वान् राजशेखर सूरि ने विक्रम सवत् १४०५ में एक 'प्रबन्धकोश' लिखा है जिसका दूसरा नाम 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' भी है। इसमें २४ प्रसिद्ध पुरुषो—१० आचार्यों, ४ संस्कृत-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितों, ७ प्रसिद्ध राजाओ और ३ राजमान्य सद्गृहस्थों के प्रबन्ध (चरित) निबद्ध है। संस्कृत भाषा के ४ सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितों में दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति के प्रख्यात शिष्य मुनि मदनकीर्ति का भी इसमें एक प्रबन्ध है और जिसका नाम 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' है। इस प्रबन्ध में मदनकीर्ति का परिचय देते हुए राजशेखर सूरि ने लिखा है :—

"उज्जयिनी में दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति रहते थे। उनका मदनकीर्ति नाम का एक शिष्य था। वह इतना बड़ा विद्वान् था कि उसने पूर्व, पश्चिम और उत्तर के समस्त वादियो को जीत कर 'महाप्रामाणिक चूडामणि' के विरुद को प्राप्त किया था। कुछ दिनो के बाद उसके मन में यह इच्छा पैदा हुई कि दक्षिण के वादियो को भी जीता जाय। और इसके लिए उसने गुरु से आज्ञा मागी। परन्तु गुरु ने दक्षिण को 'भोगनिधि' देश बतला कर वहाँ जाने की आज्ञा नही दी। किन्तु मदनकीर्ति गुरु की आज्ञा को ठुकरा कर दक्षिण को चले गये। मार्ग में महाराष्ट्र आदि देशो के वादियो को जीतते हुए कर्णाटक देश पहुँचे। कर्णाटक देश में विजयपुर नगर के राजा कुन्तिभोज को अपनी विद्वत्ता और काव्य-प्रतिभा से चमत्कृत किया और उनके अनुरोध पर उनके पूर्वजो के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ लिखना स्वीकार किया। मदनकीर्ति एक दिन में पाँच सौ श्लोक बना लेते थे, परन्तु स्वयं उन्हें लिख नही सकते थे। अतएव उन्होंने राजा से सुयोग्य लेखक की माँग की। राजा ने अपनी सुयोग्य विदुषी पुत्री मदनमजरी को उन्हें लेखिका के रुप में दिया। मदनमजरी पर्दा के भीतर से लिखती थी और मदनकीर्ति धारा-प्रवाह से बोलते जाते थे। कालान्तर में इन दोनों में अनुराग हो गया। जब गुरु विशालकीर्ति को यह मालूम हुआ तो उन्होंने उन्हें समझाने के लिए पत्र लिखे और शिष्यो को भेजा। परन्तु मदनकीर्ति पर उनका कोई असर न हुआ।

इस प्रबन्ध के कुछ आदि भाग को नमूने के तौर पर नीचे दिया जाता है :—

"उज्जयिन्यां विशालकीर्तिर्दिगम्बरः। तच्छिष्यो मदनकीर्तिः। स पूर्वपश्चिमोत्तरासु तिसृषु दिक्षु वादिनः सर्वान् विजित्य 'महाप्रामाणिक चूडामणिः' इति विरुदमुपार्ज्य स्वगुर्वलंकृतामुज्जयिनीमागात्। गुरु-नवन्दिष्ट। पूर्वमपि जनपरम्पराश्रुततत्कीर्तिः स मदनकीर्तिम् भूयिष्ठमश्लाघिष्ठ। सोऽपि प्रामोदिष्ट। दिनकतिपयानन्तर च गुरुं न्यगदीत्—भगवन्! दाक्षिणात्यान् वादिनो विजेतुमीहे। तत्र गच्छामि। अनुज्ञा दीयताम्। गुरुणोक्तम्—वत्स! दक्षिण मा गाः। स हि भोगनिधिर्देशः। को नाम तत्र गतो वर्षान्यपि

न तपसो भ्रश्येत् । एतद्गुरुवचनं विलंघ्य विद्यामदाध्मातो आल कुद्दालनि.श्रेण्यादिभिः प्रभूतैश्च शिष्यैः परिकरितो महाराष्ट्रादिवादिनो मदन् कर्णाटदेशमाप । तत्र विजयपुरे कुन्तिभोजं नाम राजान स्वय त्रं विद्य-विदं विद्वत्प्रिय सदसि निषण्ण स द्वारस्थनिवेदितो ददर्श । तमुपश्लोकयामास.........।"

इस प्रबन्धगत वर्णन से दो बातें स्पष्ट हैं । एक तो यह कि मदनकीर्ति निश्चय ही एक सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं तथा वे दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति के सुविख्यात एवं 'महाप्रामाणिक चूडामणि' की पदवी प्राप्त दिग्विजेता शिष्य थे और इन प्रबन्ध कोशकार राजशेखर सूरि(वि० स० १४०५) से पहले हो गये हैं । दूसरी बात यह कि वे विजयपुर नरेश कुन्तिभोज के समकालीन हैं और उनके द्वारा वे सम्मानित हुए थे । कुन्तिभोज का समय विद्वानों ने वि० स० १२६२ अनुमानित किया है[1] और इसलिये मदनकीर्ति का समय भी यही (वि० स० १२६२) होना चाहिए ।

(२) पण्डित आशाधर जी ने अपने जिन यज्ञ कल्प में, जिसे प्रतिष्ठा-सारोद्धार भी कहते हैं और जो विक्रम स० १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है, अपनी एक प्रशस्ति दी है । इस प्रशस्ति में अपना विशिष्ट परिचय देते हुए एक पद्य में उन्होंने उल्लेखित किया है कि मदनकीर्ति यतिपति ने उन्हें 'प्रज्ञा-पुञ्ज' कहकर सम्बोधित किया था । वह पद्य इस प्रकार है —

> इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दित. प्रीत्या ।
> प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ।।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मदनकीर्ति यतिपति, पण्डित आशाधर जी के समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती हैं और विक्रम स० १२८५ के पूर्व वे अच्छी ख्याति पा चुके थे । और इसलिये यतिपति मुनियों के आचार्य माने जाते थे । अत. इस उल्लेख सेभी मदनकीर्ति का समय उपर्युक्त अर्थात् वि० स० १२८५ का आस-पास सिद्ध होता है ।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि विशालकीर्ति ने, जो मदनकीर्ति के साक्षात् गुरु थे, पण्डित आशाधर जी से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था और जिसका उल्लेख स्वयं पण्डित आशाधर जी ने अपने ग्रन्थो में किया है । अतः मदनकीर्ति प० आशाधर जी (वि० स० १२८५) के समसामयिक सुनिश्चित हैं ।

(३) शासन चतुस्त्रिंशिका में एक जगह (३४ वें पद्य में) मदनकीर्ति ने यह उल्लेख किया है कि आततायी म्लेच्छो ने भारत भूमि को रौंदते हुए जब मालव देश के मगलपुर नगर में जाकर वहाँ के श्री अभिनन्दन जिन की मूर्ति को भग्न कर दिया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये तो वह तत्काल जुड गई और सम्पूर्णावयव बन गई तथा उसका एक बड़ा अतिशय प्रकटित हुआ । यही जिनप्रभ सूरि ने (वि० स० १३६४–१३८९) भी अपने 'विविधतीर्थकल्प' के 'अवन्तिदेशस्थ-अभिनन्दनदेवकल्प' नामक कल्प में लिखा है । उसमें उन्होंने यह भी बतलाया है कि यह घटना मालवाधिपति जयसिंह देव के राज्यकाल से कुछ वर्ष पूर्व हो ली थी और जब उसने अभिनन्दन जिनके उक्त आश्चर्यकारी अतिशय को

१ देखो, प्रेमीजीकृत 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० १३६ ।

सुना तो वह उनकी पूजा के लिए गया और पूजा करके श्री अभिनन्दन जिनकी देखभाल करने वाले अभयकीर्ति, भानुकीर्ति आदि मठपति आचार्यों (भट्टारकों) के लिए देवपूजार्थ २४ हलकी खेती योग्य जमीन दी तथा १२ हल की जमीन देवपूजकों के वास्ते प्रदान की।[१]

इस उल्लेख में जिस मालवाधिपति जयसिंह देव की चर्चा की है वह द्वितीय जयसिंह देव जान पड़ता है, जिसे जैतुगिदेव भी कहते हैं और जिसका राज्य-समय वि० सं० १२९० के बाद और वि० सं० १३१४ तक बतलाया जाता है।[२] पण्डित आशाधर जी ने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, सागारधर्मामृत टीका और अनगारधर्मामृतटीका ये तीन ग्रन्थ क्रमशः वि० सं० १२९२, १२९६ और १३०० में इसीके राज्य-काल में बनाये हैं।[३] जिनयज्ञ कल्प की प्रशस्ति (पद्य ५) में पण्डित आशाधर जी ने यहाँ जानने योग्य बात यह लिखी है कि 'म्लेच्छपति साहिबुद्दीन ने जब सपादलक्ष (सवालाख) देश (नागौर-जोधपुर के आस-पास के प्रदेश) को ससैन्य आक्रान्त किया तो वे अपने सदाचार की हानि के भय से वहाँ से चले आये और मालवा की धारा नगरी में आ बसे। इस समय वहाँ विंध्यनरेश (वि० स० १२१७ से वि० स० १२४९) का राज्य था।' यहाँ पण्डित आशाधर जी ने जिस मुस्लिम बादशाह साहिबुद्दीन का उल्लेख किया है वह इतिहास-प्रसिद्ध शहाबुद्दीन गोरी है, जिसने वि० सं० १२४९ (ई० सन् ११९२) में गजनी से उठा कर भारत पर हमला किया था और दिल्ली को फतह किया था तथा जिसका १४ वर्ष तक राज्य रहा। असम्भव नहीं कि इसी आततायी बादशाह अथवा उसके सरदारों ने ससैन्य उक्त १४ वर्षों में किसी समय मालवा के उल्लिखित धन-धान्यादि से भरपूर मंगलपुर नगर पर धावा मारा हो और हीरा-जवाहरातादि के मिलने के दुर्लोभ अथवा धार्मिक विद्वेष से वहाँ के लोकविश्रुत श्री अभिनन्दन जिन के चैत्यालय और जिनबिम्ब को तोड़ा हो तथा उसीका उल्लेख मदनकीर्ति ने "म्लेच्छैः प्रतापागतै." शब्दों द्वारा किया हो। यदि यह ठीक हो तो यह कहा जा सकता है कि मदनकीर्ति ने इस शासनचतुस्त्रिंशिका को वि० स० १२४९ और वि० स० १२६३ या १३१४ के भीतर किसी समय रचा है और इसलिए उनका समय इन संवतों का मध्यकाल जानना चाहिए।

इस ऊहापोह से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मदनकीर्ति वि० सं० १२८५ के पण्डित आशाधर जी कृत जिनयज्ञ कल्प में उल्लिखित होने से उनके समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती विद्वान् हैं, और इसलिए उनका वि० सं० १२८५ के आस-पास का समय सुनिश्चित है।

स्थान—

पहले कहा जा चुका है कि मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे और वादीन्द्र विशालकीर्ति ने प० आशाधर जी से धारा में रहते हुए न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था और इसलिए उक्त दोनों विद्वान् विशालकीर्ति तथा मदनकीर्ति धारा में ही रहते थे। राजशेखर सूरि ने भी उन्हें

---

१ देखें, विविध तीर्थ कल्प पृ० ५८। २ देखें, जैन साहित्य और इतिहास पृ० १३४।
३ देखें, इन ग्रंथोंकी अन्तिम प्रशस्तियाँ।

उज्जयिनी के रहने वाले बतलाया है। अतः मदनकीर्ति का मुख्य स्थान उज्जयिनी (धारा) ही समझना चाहिए।

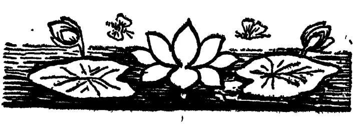
योग्यता और प्रभाव—

राजशेखर सूरि के कथनानुसार ये वाद-विद्या में बड़े निपुण थे। चतुर्दिशाओं के वादियों को जीत कर इन्होंने 'महाप्रामाणिक चूडामणि' की महनीय पदवी को प्राप्त किया था। ये उच्च तथा आशु कवि भी थे। कवित्व प्रतिभा इन्हें इतनी प्राप्त थी कि एक दिन में ५०० श्लोक रच डालते थे। विजयपुर के नरेश कुन्तिभोज को इन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा से चकित किया था और इससे वह बड़ा प्रभावित हुआ था। पण्डित आशाधर जी जैसे विद्वानों ने इन्हें 'यतिपति' के सम्मानास्पद विशेषण के साथ उल्लिखित किया है। इन बातों से इनकी योग्यता और प्रभाव का अच्छा परिचय मिलता है।

राजशेखर सूरि ने जो इनका चरित्र दिया है, सम्भव है, उसमें कुछ अतिशयोक्ति हो। पर ऐतिहासिक तथ्य का मूल्यांकन इतिहास-प्रेमी अवश्य करेंगे।

साहित्यिक-कार्य—

मुनि मदनकीर्ति की अब तक की खोज से एक ही रचना 'शासन-चतुस्त्रिंशिका' उपलब्ध हुई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी कोई ग्रन्थ रचा है या नहीं, यह अभी तक पता नहीं चला। किन्तु राजशेखर सूरि के उल्लेख से मालूम होता है कि उन्होंने विजयपुर-नरेश कुन्तिभोज के पूर्वजों के सम्बन्ध में एक विशाल परिचय-ग्रन्थ लिखा है और जो आज अनुपलब्ध है। यदि वास्तव में उनके द्वारा ऐसा कोई ग्रन्थ रचा गया है तो अन्वेषक विद्वानों को उसकी अवश्य खोज करनी चाहिए।



महाकवि स्वयम्भू

श्री राहुल सांकृत्यायन

प्रस्ताविक—

प्राकृत और अपभ्रंश संस्कृत से भिन्न भाषाएँ हैं, लेकिन भिन्न-भिन्न समय में इनके दोनो शब्दो के अर्थ भी भिन्न-भिन्न थे । महाभाष्यकार पतंजलि (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का मध्य) अपने समय की साधारण बोलचाल को अपभ्रंश कहते हैं, जो कि पाली तथा अशोक के अभिलेखों की भाषा रही होगी, अर्थात् जिसे हम प्राकृत भाषा कहते हैं, उससे भी पुरानी भाषा । लेकिन आज प्राकृत और अपभ्रंश बिलकुल स्पष्ट और अलग-अलग अस्तित्व रखनेवाली दो भाषाएँ समझी जाती हैं । एक का स्थान लेनेवाली दूसरी चीज,—जिनका सम्बन्ध आपस में औरस होता है,—अपने बीच बिलकुल सीमा-रेखा नहीं रखती है । इसीलिये ठीक से कोई समय बतलाना आसान नहीं है, जब कि प्राकृत भाषा समाप्त होती है और उसका स्थान उसकी पुत्री अपभ्रंश लेती है । कालिदास के समय की लोकभाषा अवश्य प्राकृत थी। पाँचवी शताब्दी में भी वह प्रचलित भाषा थी, लेकिन छठी शताब्दी के अन्त में पहुँचकर सन्देह होने लगता है । सातवीं सदी में बाणभट्ट के अनुसार भाषा-कवि होने लगे थे, जिनमें से एक कवि ईशान का बाण ने नाम भी दिया है । बाण के भाषाकवि अपभ्रंश के कवि ही रहे होंगे । लेकिन, उस समय की अपभ्रंश के काव्य अब नही मिलते । अपभ्रंश के सबसे पुराने कवि के रूप में चौरासी सिद्धो में सर्वज्येष्ठ सरहपा या सरोरुहपाद आते हैं, जिनका काल असदिग्ध रूप से पालवंशी राजा धर्मपाल का (७७०—८०६ ई०) है । स्वयम्भू भी इसी काल में हुए थे । अपने रामायण (पउमचरिउ) की बीसवी सन्धि में उन्होंने 'धुवराय रायवतइय" लिखा है । राष्ट्रकूटो में तीन धुवराय नाम के राजा हुए, जिनमें महान् विजेता धुवधारावर्ष ही यहाँ अभिप्रेत हो सकता है । धुवराय धर्मपाल का समकालीन और कन्नौज की शक्ति हथियाने में उसका प्रतिद्वंद्वी भी था । इस प्रकार स्वयम्भू आदिसिद्ध सरहपा के तरुण समकालीन माने जा सकते हैं, अर्थात्, ८ वी शताब्दी के अन्त होने के समय वह मौजूद थे ।

स्वयम्भू का स्थान—

अपभ्रंश का प्रथम महाकवि होने का श्रेय इस प्रकार स्वयम्भू को मिलता है । यह याद रखना चाहिये, कि उस समय अपभ्रंश भाषा आज कल के तमिलनाड और उसके पास की कुछ भूमि को

छोड़कर सारे भारत की शिष्ट भाषा थी। स्वयम्भू तेलगू और कन्नड़ भाषाओं की भूमि में रहते थे। अपभ्रंश कविता सिन्ध से ब्रह्मपुत्र और हिमालय तक ही नहीं, बल्कि सुदूर दक्षिण में गोदावरी और तुंगभद्रा के किनारे भी आदृत थी। अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी हिन्दी क्षेत्र की आज की अनेक साहित्यिक और असाहित्यिक भाषाएँ ही नही, बल्कि सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बगला और असमिया भी है। ये सभी अपभ्रश-साहित्य को अपना कहने का दावा कर सकती है। यद्यपि जब अपभ्रंश भाषा के रूपों को नजदीक से मिलाकर हम देखते हैं, तो वह अवधी से और उसकी पड़ोसी कन्नौजी (रूहेलखंडी) से ज्यादा मिलती है। दक्षिण पंचाल सारे अपभ्रंश काल में उत्तरी भारत का शासन और संस्कृति का केन्द्र था। इसलिए वहाँ की शिष्ट भाषा का इतना मान बढ़ना स्वाभाविक है।

सरहपा, शबरपा जैसे दो ही सिद्ध स्वयम्भू से पहले के अपभ्रंश के ऐसे कवि मालूम होते है, जिनकी कृतियाँ मूल रूप मे या तिब्बती अनुवाद में आज भी मिलती हैं।

दोनों ही सिद्ध संस्कृत के भारी पण्डित थे। यह वह समय था, जब कि कवि मर्यादा इसकी आज्ञा नही देती थी, कि कोई अपनी पण्डिताई दिखलाने के लिए भाषा में सस्कृत के शब्दों को ठूँसने की कोशिश करे। शुद्ध संस्कृत या तत्सम शब्दो का लेना सारे अपभ्रंशकाल में महापाप समझा जाता था। कह सकते है, कि जब से तत्सम शब्दों का लेने का रवाज हुआ, तभी से हिन्दी ब्रज, अवधी आदि आधुनिक भाषाओ या उनके साहित्य का आरम्भ हुआ। स्वयम्भू को देखने पर हमें केशवदास याद आने लगते हैं। जहाँ तक कि काव्य-कला के ज्ञान गाम्भीर्य का सम्बन्ध है; भरत, भामह, दंडी के अलंकारशास्त्रों का स्वयम्भू ने अच्छी तरह अवगाहन किया था। सस्कृत के उस समय तक मौजूद काव्यो को उन्होंने पूरी तौर से पढ़ा था। पिंगल के छन्दो पर ही उनका अधिकार नही था, बल्कि देशी छन्दशास्त्र के भी वह आचार्य थे। वाण की कादम्बरी और हर्षचरित का उनके ऊपर, प्रभाव था। हरिषेण के काव्य से भी वह सुपरिचित थे, जैसा कि स्वयम्भू ने स्वयं उसका नाम लेकर बतलाया है।

ग्रन्थ-परिचय—

स्वयम्भू के तीन ग्रंथ हमें उपलब्ध है। "पउमचरिउ" (पद्मचरित) यह रामायण का ही दूसरा नाम है, "रिट्ठणमिचरिउ" (अरिष्टनेमिचरित) महाभारत हरिवंशपुराण की कथा का रूपान्तर है और "स्वयम्भू-छन्द" छन्दशास्त्रपर उनका एक अपूर्ण ग्रंथ है। स्वयम्भू ने रामायण को तिरासवी सन्धि तक पहुँचाकर छोड़ दिया था। यद्यपि कथा के पूरा हो जाने से ग्रथ को अपूर्ण नही कहा जा सकता, लेकिन तो भी उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने सात सन्धियाँ लिखकर उसमें जोड़ दी। स्वयम्भू रामायण की सबसे पुरानी प्रति सवत् १५५१ ज्येष्ठ सुदी १० बुधवार को गोपाचल (ग्वालियर) में लिखकर समाप्त की गई थी। १५६४ ई० में लिखी यह प्रति गोस्वामी तुलसीदास के देहान्त १६२३ ई० (संवत् १६८० ई०) से ५६ वर्ष पहले लिखी गई थी। अभी अकबर के शासनकाल के आरम्भिक समय में भी स्वयम्भू रामायण के प्रेमी थे, तभी तो ग्वालियर में इसकी प्रति लिखी गई थी।

अपभ्रंश साहित्य हिन्दी के लिए संस्कृत से भी ज्यादा महत्त्व रखता है, क्योंकि संस्कृत और हिन्दी के बीच में पाली (प्राचीनतम प्राकृत), प्राकृत और अपभ्रंश की तीन पीढ़ियाँ पड़ती हैं, जब कि अपभ्रंश हिन्दी की जननी और हिन्दी उसकी औरस पुत्री है। केवल कविता के ख्याल से ही दोनों की इतनी घनिष्ठता अपना महत्त्व नहीं रखती, बल्कि छन्दों में भी दोनों बिलकुल एक हैं। दोहा–चौपाई प्राकृत में नहीं मिलते, न उससे पहले के काव्यो में उनका प्रयोग देखा जाता है। यह भी उल्लेखनीय बात है, कि गुजराती छोड़कर हिन्दी क्षेत्र के बाहर अपभ्रश की दूसरी उत्तराधिकारिणियाँ इन छन्दों को उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार नही करती। हिन्दी कविता के विकास के इतिहास को हम समझ नही सकेंगे, यदि अपभ्रंश का अब भी काफी परिमाण में मौजूदा काव्य-साहित्य हमारे सामने न हो। हमारे साहित्यिक ज्ञान की चतुरता और गभीरता जितनी ही बढ़ती जायेगी, उतना ही अधिक हम अपभ्रश-साहित्य के महत्त्व को समझेंगे।

अपभ्रंश का पद्य-साहित्य, जैन भडारों में शताब्दियों से सुरक्षित कृतियो के प्रकाश में आ जाने से, अब काफी विशाल रूप मे हमारे सामने है, लेकिन वही बात अपभ्रश गद्य के बारे में नही कही जा सकती। अब ऐसा जान पड़ता है कि गद्य-साहित्य भी इन्ही भडारो से हमे मिलेगा। व्रत-कथाओ के पढ़ने-सुनने का सभी धर्मों की तरह जैन नर-नारियों में भी प्रचार है। और हरेक व्रत के लिए ऐसी कथाएँ सुगम भाषा में आज भी प्रचलित हैं। अपभ्रश काल में इस तरह की कथाएँ अपभ्रश भाषा मे लिखकर पढी-सुनी जाती थी। जैन-भंडारो में एकाध कथा-पुस्तके मिली भी हैं,—न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्र शास्त्री ने ऐसी एक पुस्तक को मुझे एक समय दिखलाया था। आरा, जैसलमेर, पाटन, जैसे प्रख्यात और प्राचीन पुस्तक-भडारो में ही इनके मिलने की संभावना नही है, बल्कि हिन्दी क्षेत्र के प्रत्येक बड़े शहर मे जो छोटे-मोटे जैन पुस्तक भडार हैं, उनमे भी अपभ्रश में लिखी ये व्रत-कथाएँ मिल सकती हैं। कई जगहों में इन भडारो की जो ग्रथ-सूचियाँ बनी हैं, उनमें प्राकृत और अपभ्रश दोनो के ग्रथो को प्राकृत समझ लिया गया है। तत्सम शब्दो मे सर्वथा र्वाजत और तद्भव शब्दो में एक सो दीखनेवाली इन दोनो भाषाओ का भेद समझना सबके बस की बात नही है। वस्तुतः इन दोनो भाषाओ का भेद क्रिया, रूपो, विभक्तियों और निपातो में मिलता है। हिन्दी भाषा के विकास के इतिहास के लिए अत्यन्त आवश्यक अपभ्रश-गद्य की सामग्री की खोज के लिए हमें छोटे-मोटे जैन-भडारों मे प्राकृत समझी जानेवाली सभी पुस्तकों का फिर से अवलोकन करना होगा।

चित्रण की विशिष्टता—

महाकाव्य की महत्ता उसके पूर्ण चित्रण के कारण है। जहां उसमें प्रकृति का सुन्दर और सम्पूर्ण चित्रण होता है, वहां उसमें तत्कालीन समाज का भी विशाल चित्रपट तैयार किया जाता है। यदि हम ८ वीं सदी से १२ वीं सदी के समाज का पूर्ण साक्षात्कार करना चाहते हैं तो इसके लिए अपभ्रंश के महाकाव्यों को देखना अनिवार्य हो जायेगा। ८ वी शताब्दी के लिए इस विषय में स्वयम्भू के दोनों महाकाव्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। १० वीं शताब्दी के लिए यही काम महाकवि पुष्प-

दन्त के महाकाव्य करते हैं। हमारे यहां भी किसी समय ऐसे ऐतिहासिक कथाकार अवश्य होंगे, जो स्वयम्भू और पुष्पदन्त के महाकाव्यों में भरी सामग्री को इस्तेमाल करके उस समय के ऊपर सुन्दर उपन्यास और कहानियाँ लिखेंगे।

स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू स्वयं कवि थे यह हम बतला आये है। उनकी गृहिणी आदित्य देवी भी पण्डिता थीं, कवि नही तो काव्यरस लेने में अपने पति के समान ही थीं। उन्होने रामायण को अपने हाथ से लिखा था, यह द्वितीय अयोध्या कांड (रामायण की ४२ वी सन्धि की समाप्ति के समय के इस पद्य से मालूम होता है।

आइच्चएवि पडिमांवमाएं, आइच्च नामा ए।
बीअम उज्झा-कंड सयभु-धारिणीएं लहावियं।।

रामायण की तरह स्वयम्भू का महाभारत "रिट्ठणमिचरिउ" भी दोहा-चौपाई में है। उन्होंने आठ-आठ अर्धालियो के बाद एक-एक दोहा या दूसरा छन्द इस्तेमाल किया है। केवल दोहा-चौपाई (पज्झड़िया) में ही तुलसी-रामायण और स्वयम्भूरामायण में समानता नही है, बल्कि कितनी ही जगहो पर दोनो की उक्तियो में भी समानता मिलती है, लेकिन इसका यह मतलब नही, कि तुलसीदास ने स्वयम्भू के भावों को चुराया है। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस शुरू करते अपनी हीनता प्रकट करते हुए कहा है "कबि न होहुं नहि वचन-प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू" और स्वयम्भू भी उसी तरह कहते हैं।

"बुह-यण सयभु पइं विण्णवइ । महु सरिसउ अण्ण नाहि कुकइ।।
वायारणु क्याइ ण जाणियउ । णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ
णा णिसुणिउ पच महाय कब्बु । णउ भरहु ण लक्खुण छदु सब्बु।।
णउ बुज्झिउ पिंगल-पच्छारु । णउ भामह-दंडिय लंकारु ।।
वेवसाय तो वि णउ परिहरमि । वरि रयडा वुतु कब्बु करमि।।

छायानुवाद—

बुध-जन स्वयभू तो हि वीनवई । मोहि सरिसउ अन्य नाहि कुकवी।।
व्याकरण किछ्र ना जानियऊ । ना वृत्ति-सूत्र बक्खानियऊ।।
ना सुनेउ पांच महान् काव्य । ना भरत न लक्खन छन्द सर्व।।
ना बुझेउं पिंगल-प्रस्तारा । ना भामह दंडि अलंकारा।।
व्यवसाय तऊ ना परिहरऊं । वरु रयडा कहेऊ काव्य करऊं।।

स्वयम्भू का महत्त्व—

लेकिन, अपनी सारी हीनता प्रकट करने पर भी तुलसी की तरह ही स्वयम्भू अति महान कवि थे। संस्कृत काव्य-गगन में जो स्थान कालिदास का है, प्राकृत में जो स्थान हाल ने प्राप्त किया, हिन्दी में तुलसी जिस स्थान पर है, अपभ्रंश के सारे काल में स्वयम्भू वही स्थान रखते है। कवि माउरदेव (मयूरदेव) और पद्मिनी के सुपुत्र स्वयम्भू के जीवन के बारे में हम उसी तरह अन्धकार

में हैं, जिस तरह कालिदास और हाल के बारे में । तो भी, उनकी रामायण कवि-कर्म में अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है ।

गोस्वामी जी ने किष्किन्धाकाण्ड में पावस का वर्णन बड़ा सुन्दर किया है—

घन घमंड नभ गरजत घोरा । प्रिया हीन डरपत मन मोरा ।।

स्वयम्भू ने भी पावस के वर्णन में उसी तरह कमाल किया है । ग्रीष्म राजा के ऊपर पावस राजा की चढ़ाई के वर्णन में उनकी कुछ पंक्तियां हैं—

भ्रमर महाधनु गहि करे, मेघ गयंदे चढ़ेउ यसलुब्धा ।
ग्रीष्म नराधिप कहं ऊपर, पावस-राज कर दल सज्जा ।।१।।
जनु पावस-नरेन्द्र गल-गर्जेऊ । धूली-रज ग्रीष्महिं विसर्जेऊ ।।
जंपिय मेघवृन्द आ—लागेऊ । तड़ि करवाल प्रहारेहिं भागेऊ ।
जनु हि पराङ-मुख चलेऊ विशाला । उट्ठेउ हनहनत ऊष्णाला ।।
धग-धग-धग धगंत उद्-धायउ । हस-हस-हस-हसत संजायउ ।
ज्वल-ज्वल-ज्वल-ज्वलंत प्रचलता । ज्वालावलिम फुलिंग मलता ।
धुमावलि-ध्वज-दंड उठायेउ । वर-वादली खड्ग कड्ढायेउ ।
झड़-झड़-झड़-झड़न्त प्रहरन्ता । तरुवर-रिपु भट-ठट भज्जता ।
मेघ महागज-घट जिघटन्ता । जनु उष्णाला दीख भिडता ।
पावस-राव तबहि आयंता । जल-कल्लोल शाति प्रकटता ।
भ्रमर महद्धणु गहिय करे । मेह-गइन्दे यडिवि जस-लुद्धउ ।
उप्परि गिभं णराहिवहां । पाउस - राउणाई सण्णद्धउ ।।१।।
जे पाउस-णरिन्दु गल-गज्जिउ । धूली रउ गिंभेण विसज्जिउ ।।
गंपिणु मेह विंदि आलग्गउ । न तड़ि करवालु पहारे हि भग्गउ ।।
जं वि वरम्मुहु चलिउ विसालउ । उट्ठिउ हणु-हणतु उण्हालउ ।।
धग-धग-धग-धगंतु उद्धाइउ । हस-हस-हस-हसतु संयाइउ ।।
जल-जल-जल-जलन्तु पयलन्तउ । जालावलि-फुलितं मेल्लंतउ ।।
धूमावलि-धय-दंड मैप्पिणु । वर-वाउल्लि-खग्ग कड्ढेप्पिणु ।।
झड़-झड़-झड़-झड़न्तु पहरन्तउ । तरुअर-रिउ भड-थड-भज्जंतउ ।।
मेह-महग्गय-घड विहडंतउ । जं उण्डाहाउ दिट्ठ भिडतउ ।।
पाउस-राउ ताव संपतउ । जल-किल्लोल-सति पयडंतउ ।।

श्रेय और कर्त्तव्य—

स्वयम्भू अब हमारे अमर कवि हैं । उनकी कृतियाँ काल के गाल में जाते-जाते बचीं, यह जैन साहित्य प्रेमियों की कृपा के ही कारण । उनकी रामायण भारतीय विद्या भवन (बम्बई) से प्रकाशित हो रही है, महाभारत भी प्रकाशित होना चाहिये । मूल में इन काव्यरत्नों के प्रकाशित होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है, कि इनके संक्षिप्त केवल छायानुवाद प्रकाशित किये जायं, जिसमें कि अनेक हिन्दी कविता प्रेमी उससे लाभ उठा सके ।

कन्नड़-साहित्य में जैन-साहित्यकारों का स्थान

श्री अणाराव, सेडवाल

प्रस्ताविक—

कन्नड़ साहित्य की सार्वभौलिक चेतना का दिग्दर्शन उसके प्राचीन साहित्य में तरगित साहित्यिक मूल्याकनो से आवेष्टित विचारधाराओ की समृद्ध राशि के उपभोग में ही होता है। इसका प्राचीन साहित्य चिरनवीन-सा दीखता है। इसके प्राचीन साहित्य में गभीर चिन्तन, समुन्नत हार्दिक प्रसार की झलक मिलती है, साहित्यिक मनीषियो की अथक साधना का जाग्रत् रूप मिलता है। इस साहित्य की व्यापकता की परिधि की रेखाएँ कावेरी से गोदावरी के सुरम्य अचल को समेटती थी। कन्नड़ प्रदेश की धरती जैसे कन्नड़ साहित्य की धड़कनों से स्पन्दित थी, उसमें उगनेवाले पौधों में भावनाओं के फूल खिलते थे, जिसे देखकर कन्नड़ प्रदेश का प्रत्येक बेटा झूम उठता था, आत्मा डोलने लगती थी, मन गा उठता था। धरती और साहित्य के अपूर्व सामञ्जस्य की यह विकास रेखा सामाजिक चेतना को कितना बाँधती होगी, यह युग की साहित्यिक मान्यताएँ ही निर्धारित कर सकेंगी। कन्नड़ स्वाभाविक काव्य प्रयोग मे प्रवीण लोगो का देश था,[1] धरती के कण-कण में काव्य के उच्छ्वासों का मन्द सगीत उमडता था। अत. जिस साहित्य का प्राचीन इतिवृत्त इतना गौरवमय हो, जिसका स्वर्णिम अतीत विकास की चेतना में अगड़ाइयाँ ले रहा हो, उसका वर्त्तमान स्वरूप किसी साहित्य की उपादेयता को सशक्त बनाने के लिए मान्य और पूज्य है। जैन साहित्य, तीन महाकवियो और अनेक कवियो की काव्य रस धारा से तीन सौ वर्षों तक परिप्लावित हो कन्नड़ साहित्य की भाव-भूमि पर फूला-फला, उसकी छाया में साँस ली। यहाँ की मेदिनी वीर रस की सबल प्रेरणा से ओज और शौर्य की धारिका रही है। कन्नड़ साहित्य में क्षात्र युग कहलाने वाला सारा काल वीर रस से परिलुप्त है। गंगराष्ट्रकूट, पल्लव, चोलों में वीर रस की कविता धारा से साम्राज्याधिपत्य की भावना का सादर उद्रेक हुआ। इस तरह प्राचीन कन्नड़ साहित्य से युग की सामाजिक चेतना अनुप्राणित रही।

पूर्व-पीठिका—

कन्नड़ साहित्य का आरम्भकाल अति प्राचीन है। जैसा कि जैन कवियों का अनुमान है, इस साहित्य की उत्पत्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के मुख से हुई। इसका लिपि निर्धा-

१ "कुरितोवदेयं काव्य प्रयोग परिणत मतिगल्"

रण उसी ने किया । यह प्राचीनत्व कन्नड़ साहित्य के प्रारम्भ काल की अपेक्षा उसके बारे में हमारे अज्ञान से ज्यादा सम्बन्ध रखता है । अतः उस अज्ञात अपरिमित साहित्य की खोज में न भटक कर ज्ञात परिमित साहित्य पर ही दृष्टि का प्रक्षेप रखना युक्तिसंगत है ।

९ वी सदी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुग के कन्नड़ साहित्य मंदिर के वास्तुरचना क्रम से जैन साहित्य का उद्‌गम होता है । थोड़े ही दिनो में कवि-चक्रवर्ती पप ने कन्नड़ साहित्य के ऐसे भव्य मन्दिर का निर्माण किया मानो साहित्य के वास्तुरचना क्रम के समझाने का मूर्त्त स्वरूप ही हो । महाकवि पप के काव्य रम्य, मनोहर और सुन्दर कलाकृति ही नही बल्कि कन्नड़ साहित्य के तेज के प्रतीक हैं । निश्चय ही ऐसी कलाकृतियाँ शान्तप्रद, स्निग्ध, पवित्र और उदात्त वातावरण की अलौकिक देन है ।

कन्नड़ ग्रान्थिक साहित्य के मिलने के पहले कन्नड-साहित्य क्षेत्र कितना विस्तृत था, उसकी रूप-रेखा क्या थी, इस सम्बन्ध में विशद विचार एकत्रित करने पर ही आगे के लिए विषय-विवेचन पर थोड़ा प्रकाश पड़ेगा ।

'कविराज मार्ग' पुराने कन्नड़ साहित्य के बारे में प्रामाणिक कथन करता है । उसमें नृपतुग ने किसी हलंगन्नड़ (पुरानी कन्नड़) रामायण के कतिपय पद्यो का उदाहरण दिया है । इसके अतिरिक्त वह कहता है कि "मै तिरूल गन्नड़ में (परिष्कृत कन्नड़) लिख रहा हूँ" । इमसे यह स्पष्टतः उल्लेख मिलता है कि उसके पहले भी कन्नड़ साहित्य का अस्तित्व वर्त्तमान था जो हलगन्नड (पुराना कन्नड़) कहलाता था । पुष्ट प्रमाण की प्रतीति उसके काव्यगत लक्षणों के ज्ञान से भी होती है । इन प्राचीन काव्यों का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि ये देशीय काव्य के लक्षण हे.—

"विताणमुम् वेदंडेयुमेंदीगडिन नेगल्तेय कव्वदोल्"

अतः उसके द्वारा प्रस्तुत यह हलगन्नड़ काव्य प्रकार का मार्मिक विवेचन है । इतना ही नहीं उसने अपने श्री विजय कवीश्वर पण्डित, चन्द्र, लोकपाल[1] आदि कवियों का ज्ञातव्य उल्लेख भी किया है । गद्य लेखकों में उसके द्वारा लिखित निम्न नाम है—विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत[2] आदि । अतः इससे कन्नड़ साहित्य के पू॑ अस्तित्व का पूर्ण पता चलता है और कवियो और गद्य-लेखकों की प्रामाणिकता का योगदान तो इसमें है ही । कवि पम्प ने अपने पूर्वकालीन कवियो का उल्लेख करते हुए कहा है—

"श्रीमत् समन्तभद्र । स्वामिगलं जगत् प्रसिद्ध परिमेष्ठी"
स्वामिगल पूज्यपाद । स्वामिगल पदंगलीगे शाश्वत पदम् ।"

अर्थात् समन्तभद्र, कवि परिमेष्ठी और पूज्यपाद का स्मरण किया है । इन तीनों में समन्तभद्र ने मूड़बकहल्ली गौत्र में तपस्या की थी । पूज्यपाद का जन्म स्थान कर्नाटक का कोल्लागालपुर और

१ परम श्री विनय विजयकवीश्वर पंडित चंद्र, लोकपाला विगल ।
निरतिशय वस्तु विस्तर । विरचनेस्वतं तदाश्र काव्यवकंदु ।
२ विमलोद नागार्जुन । समेत जयबंधु दुर्विनीता दिगली ।
क्रमदोल नेग लिय गद्या । श्रमपदु गुरुता प्रतीतियंते टकोंडर् । (कविराज मार्ग)

इनका ननिहाल "मुदिगुरुपेंबग्राम" में था। हमारे इस कथन की पुष्टि देवचन्द्र के 'राजावलि कथा' से भी होती है। कवि परिमेष्ठी संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों के कन्नड़ टीकाकार हैं।

दुर्गसिंह (ई० स० ११४५) ने श्री विजयर कवि मार्ग का उल्लेख करते हुए कन्नड़ साहित्य की समृद्धता की ओर संकेत किया है।

पूज्यपाद ने "जैनेन्द्र व्याकरण" में बताया है—"मैंने छ प्रसिद्ध व्याकरणकर्त्ताओं के मार्ग का अनुसरण किया है।" उन छ व्यक्तियो में समन्तभद्र का भी नाम है। पंचम अध्याय में "अयो ह." इत्यादि सूत्र चतुष्टय को "समन्तभद्राचार्य मतेन भवति—तथा च उदाहृतम्" ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि समन्तभद्र का एक व्याकरण भी है। अकलंक भट्ट ने शाब्दिक न्यासकारो का वचन कहकर "यदाह भगवान् परमागम सूत्रकारोऽपि सद्द्रव्य लक्षणमिति" लिखा है। इससे भी स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्र का परमागम सूत्र संस्कृत में होगा। इसी का विजयन ने 'कविमार्ग' नाम से कन्नड़ में अनुवाद किया होगा। इसी 'कविमार्ग' को 'कविराज मार्ग' में बढ़ाकर नृपतुग ने परम सरस्वती तीर्थावतार' नाम दिया होगा। यदि हमारे इस तर्क की पुष्टि किन्हीं अन्य प्रमाणो से हो सके तो हम यह कह सकते हैं कि समन्तभद्र का कोई कन्नड़ व्याकरण भी रहा होगा।

हमारा यह दृढ विश्वास है कि संस्कृत के प्रसिद्ध जैन ग्रथ आदिपुराण और उत्तर पुराण जिन्हें सम्मिलित रूप में महापुराण कहा जाता है कन्नड़ कवि परिमेष्ठी के एक गद्य ग्रंथ के आधार पर लिखे गये हैं। स्वय जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण में कहा है:—

स पूज्य. कविभिर्लोके कवीना परमेश्वर.।
वागर्थ सग्रह कृत्स्नम् पुराणं य. समग्रहीत्।

हमारा यह कथन निर्मूल नही है बल्कि इसकी पुष्टि उभय भाषा चक्रवर्ती कवि हस्तिमल्ल के विक्रान्त कौरवीय नाटक की प्रशस्ति से भी होती है। कवि ने लिखा है:—

तच्छिष्य प्रवरो जातो जिनसेनः मुनीश्वरः।
यद्वाङ्मयम् पुरोरासीत् पुराणं प्रथमम् भुवि।

इस पद्य से जिनसेन का पुराण जैन संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम मालूम होता है। हमारा ख्याल है कि आठवीं सदी के पूर्व त्रिषष्टिशलाका पुरुषो का चरित्र जैनों द्वारा संस्कृत में नहीं लिखा गया था। इसीलिए हस्तिमल्ल ने इसे प्रथम महापुराण कहा है।

चामुण्डराय ने (सन् ९७८) कवि परिमेष्ठी की स्तुति करते हुए बताया कि इन्होंने त्रिशष्टिशलाका पुरुषों का चरित्र कन्नड़ में लिखा है। अतः हमारे उपर्युक्त कथन की सम्यक् सिद्धि हो जाती है कि संस्कृत साहित्य में जिनसेन का महापुराण ही प्रथम महापुराण है।

चरितपुराण दो लो दने । बरेदर बरेदिक्कीदर त्रिषष्टिशलाका ।।
पुरुषर पुराणमं कवि । परमेश्वरन्ते जसके नोंतरु मोल रे ।।

चामुण्डराय ने कवि परमेश्वर के जिस चरित्र पुराण के बारे में लिखा है वह पद्यकाव्य होगा । उसीको उसका प्रधान काव्य समझकर नृपतुग ने इन्हें कन्नड़ पद्यकार माना है ।

कविराजमार्ग में उल्लिखित विमल अभ्युदय जयबन्धु के अतिरिक्त नागार्जुन, दुर्विनीत, वर्द्धनदेव आदि कवि भी प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार हैं । नागार्जुन ने पूज्यपाद चरित्र, दुर्विनीत ने (४७८ ई० स०) किरातार्जुनीय की कन्नड़ टीका और वर्द्धनदेव ने ६६ हजार श्लोक प्रमाण तत्त्वार्थ महाशास्त्र का कन्नड़ व्याख्यान लिखा है । कई शिलालेख भी कन्नड़ भाषा में उपलब्ध हैं जिनका समय ई० ७ वी शताब्दी है, उन्हें भी हम कन्नड़ के खण्डकाव्य कह सकते हैं । उदाहरणार्थ एक पद्य उद्धृत किया जाता है:—

साधुगे साधु माधुर्यंगे माधुर्यम्
आदिप्प कलिगे कलियुग विपरीतन्
माधव नीतन् पेरनल्ल ।।

इस प्रकार आरम्भ से ही कन्नड़ साहित्य में जैन कवियो ने गद्य पद्य में महाकाव्य और खंडकाव्य रचे थे । काव्यो के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, छन्दशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का प्रणयन कन्नड़ भाषा में किया है ।

आदि-पंप—

कन्नड़ साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि पप है । इनका समय ई० स० ६४१ है । उन्होंने 'आदि पुराण' और 'भारत' ग्रंथो की रचना की है । ये दोनो ग्रंथ चम्पू काव्य हैं । उन्होंने स्वय अपने सम्बन्ध मे लिखा है—"मेरे विख्यात चिरनूतन, समुद्रवत् गभीर काव्य मेरे परवर्ती कवियो के लिए प्रमोदप्रद है ।" पंप के वशज ैदिक धर्मानुयायी थे । उसके पिता अभिरामदेव राय ने यह कह कर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था कि ब्राह्मण जाति के लिए भी कल्याणप्रद जैन धर्म स्वीकार करने योग्य है ।

पंप ने आदि पुराण में काव्य के अमृतानन्द के साथ धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण भी किया है। उन्होंने आरम्भ में ही उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है:—"नेगलद् आदि पुराण दोलमरिउदु काव्य धर्मम् धर्ममुमम्" अर्थात् काव्यधर्म और धर्म दोनों ही इस ग्रंथ से जाने जा सकते हैं । यद्यपि कवि पंप मे कल्पनाशक्ति का प्राचुर्य दिखलाई पड़ता है पर तीर्थंकर चरित्र तक ही कथा वस्तु सीमित रह जाने के कारण वे उन्मुक्त रूप से अपनी कल्पना का प्रयोग नही कर सके हैं । इसी लिए जहाँ तहाँ नीरस वर्णन भी है ।

कवि का दूसरा ग्रंथ विक्रमार्जुन विजय अर्थात् 'भारत' है। कवि ने इस ग्रंथ में काव्य तत्वों का निर्वाह अच्छी तरह से किया है। कल्पना की उड़ान और मनोरम दृश्यों का चित्रण प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। आख्यान में द्रौपदी को केवल अर्जुन की स्त्री ही माना गया है पंच पाण्डवों की नहीं। नारी के नखशिख निरूपण में तो कवि सस्कृत के कवियों से अधिक बढ़ चढ़ कर है। स ग्रंथ की प्रमुख विशेषता उस सामन्तकाल में भी नारी की महत्ता का प्रदर्शन करना है। कवि ने द्रौपदी को एक अबला, पराश्रिता के रूप में ही चित्रित नहीं किया है बल्कि उसे स्वय सत्ता-शालिनी बतलाया है। वह अर्जुन के लिए जीवन का बरदान है, उसके कार्यों को प्रगति देनेवाली दैविक प्रेरणा है और है जीवन की सच्ची सगिनी।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी पप के काव्य पूर्णत. सफल हैं।

ओड्डय्य (ई० स० ११७०)—

उन्होंने "कब्बिगर काव" की रचना की है। भाषा और विषय के क्षेत्र में ये क्रान्तिकारी कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य ग्रंथो को केवल धर्म विशेष के प्रचार के लिए नही लिखा, प्रत्युत काव्य-रस का आस्वादन लेने के लिए ही काव्य का सृजन किया है। यदि इतिवृत, वस्तु व्यापार वर्णन, संवाद और भावाभिव्यजन की दृष्टि से इनके काव्य का परीक्षण किया जाय तो निश्चय ही इनका काव्य खरा उतरेगा।

नयसेन—

१२ वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि नयसेन ने धर्मामृत, समय परीक्षा और धर्मपरीक्षा ग्रंथों की रचना की है। धर्मामृत इनका श्रावक धर्म का प्रसिद्ध ग्रथ है। इन्होंने धारवाड़ जिले के मूलगुन्दा नामक स्थान को अपने जन्म से सुशोभित किया था। उत्तरवर्ती कवियों ने इन्हें 'सुकविनिकरपिक-माकन्द' 'सुकवि जनमन सरोज राजहस', और 'वात्सल्य रत्नाकर' आदि विशेषणों से विभूषित किया है। इनके गुरु नरेन्द्र सेन थे। धर्मामृत में कवि ने स्वयं अपने समय के सम्बन्ध में लिखा है:—

> गिरिशिखिवायुमार्गसंख्ययो॑ लावगगमिन्दी वर्त्तिसुत्तिरे।
> षट्कालयमक्लतिय नन्दवत्सरो मवत्सर्व विवशशिरद्, भाद्रपदमास
> लमद् शुक्लपक्ष दल निरुभमप्य हस्तयुतार्कवारदोल्॥

इससे स्पष्ट है कवि का समय ई० स० ११२५ है।

भाषा शैली की दृष्टि से नयसेन ने सस्कृत-मिश्रित कन्नड़ का प्रयोग किया है। धार्मिकता के बन्धन में रहने के कारण कवि अपनी कल्पनाशक्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाया है।

जन्न—

कन्नड़ साहित्य में जन्न, रन्न, पोन्न इन रत्नत्रय कवियों से कौन अपरिचित है। जन्न ने स० ११७० से लेकर १२३५ के बीच अनेक ग्रंथों की रचना की है। वह ोयसल राजाओं का आस्थान

कवि था। इसे कवि चक्रवर्ती की उपाधि थी। पंप की तरह जन्न भी शूर-वीर और लेखनी का धनी था। उत्तरवर्ती कवियों ने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इसके 'यशोधरा चरित्र' और 'अनन्तनाथपुराण' प्रसिद्ध हैं। इतिवृत्त और कथा के मर्मस्थलों की विशेषता के कारण इनकी रचना चमत्कारपूर्ण है।

पौन्न, रन्न और कर्णपार्य कवियों ने भी कन्नड़ साहित्य में विकास के पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। चम्पू साहित्य के निर्माता तो जैन कवि ही है।

कर्णपार्य—

कर्णपार्य ने 'नेमिनाथ पुराण' (हरिवंश) की रचना की है। इसमें समुद्र, पहाड़, शहर, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वनक्रीडा, जलक्रीडा, रति, चिन्ता, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, युद्ध, जयप्राप्ति, इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया है। विप्रलंभ शृंगार के वर्णन में तो कवि ने अद्वितीयता प्रकट की है।

नेमिचन्द्र—

'अर्द्धनेमिपुराण' के रचयिता कवि नेमिचन्द्र भी १३ वी शताब्दी के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। उन्होंने संस्कृत-मिश्रित कन्नड़ में संस्कृत छन्द लेकर अपने काव्य का निर्माण किया है। चम्पक शार्दूल वृत्त में प्राय. समस्त ग्रंथ लिखा गया है। अनुप्रास की छटा तो इतनी अधिक दिखलाई पड़ती है जिससे इनके समकक्ष कन्नड़ का शायद ही कोई कवि आ सकेगा।

गुणवर्म—

इन्होंने पुष्पदन्त पुराण की रचना की है। यह ग्रथ इतिवृत्तात्मक होते हुए भी मर्मस्पर्शी भावनाओं से अछूता नही है। कवि ने अपना भाषा-विषयक पाण्डित्य तो दिखलाया ही है साथ ही साथ वर्णनात्मक शैली द्वारा विषय को भी नवीन रूप से प्रस्तुत किया है।

बन्धुवर्मा और रत्नाकर-वर्णी—

आध्यात्मिक साहित्य के निर्माताओं में उक्त दोनो कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि रत्नाकर वर्णी ने 'भरतेशवैभव', 'रत्नाकरशतक', 'अपराजितशतक', 'त्रैलोक्येश्वर शतक' आदि ग्रंथों की रचना की है। भरतेशवैभव का माधुर्य तो संस्कृत के गीतगोविन्द से भी बढ़कर के है। यह ग्रन्थ आज कन्नड़ प्रान्त में लोगों का कण्ठहार बना हुआ है। तुलसीदास के रामचरितमानस के समान इसके भी दो चार पद निरक्षर भट्टाचार्यों को भी याद हैं। संगीत की दृष्टि से इस ग्रंथ का अत्यधिक महत्व है। इस ग्रंथका रचनाकाल ई० सं० १५५१ है। महाकाव्य और गीत-काव्य का आनन्द इस एक ग्रंथ से ही लिया जा सकता है।

मंगिरस—

संगीत के धुरन्धर आचार्य मंगिरस ने नेमिजिनेशसंगीत काव्य की रचना की है। इस ग्रंथ में कवि ने संगीत की छटा का अद्भुत प्रदर्शन किया है। रागरागिनियाँ उनके चरणों पर लौटती है।

लक्षण-ग्रन्थ—

कन्नड़ जैन कवियों ने लक्ष्य ग्रंथों के साथ लक्षण ग्रंथों का भी निर्माण किया है । कन्नड साहित्य में उपलब्ध सबसे प्राचीन लक्षण ग्रथ 'कविराजमार्ग' ही है । इसमें व्याकरण, छद, अलकार, रस आदि सभी का वैज्ञानिक निरूपण है । ऐसा मालूम होता है कि दण्डी के काव्यादर्श का अनुकरण कवि ने किया है । इसके तीन खड है—दोषानुवर्णन, शब्दालंकार, और अर्थालकार । इस ग्रंथ से पता चलता है कि उस समय कन्नड़ में दो प्रकार की शैलियाँ थी—उत्तर कन्नड़ शैली और दक्षिण कन्नड़ शैली । अर्थालंकार प्रकरण में ३६ अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण भेद-प्रभेद सहित लिखे गये है । काव्य में शब्ददोष, पदार्थ दोष, वाक्य दोष, वाक्यार्थ दोष आदि का प्रामाणिक वैज्ञानिक विवेचन है । ऐसा मालूम होता है कि कवि ने काव्य के स्वरूप-निर्धारण में रस की अपेक्षा शब्द रचना को अधिक महत्ता दी है ।

नागवर्म का (९९० ई० स०) छन्दोंबुधि' उपलब्ध छंदशास्त्र में सबसे प्राचीन ग्रंथ है । यह संस्कृत के पिंगल के छदशास्त्र के आधार पर लिखा गया है । फिर भी अनुपूर्वी और वृत्त के नामो में पिंगल की अपेक्षा इसमें पर्याप्त अन्तर है । इसमें छः सधियां है—कन्नड़ मात्रिक छंद और सस्कृत छदो का विवेचन ही प्रधान रूप से किया गया है ।

शब्दकोषों में 'रत्नकन्द' (९९३ ई० सं०) सबसे प्राचीन ग्रथ है । यह पुराने कन्नड़ पदों का नवीन अर्थ व्यक्त करता है । द्वितीय नागवर्म (११४५ ई० सं०) ने 'वस्तुकोष' नामक एक कोष-ग्रंथ और लिखा, जिसमें संस्कृत पदों का अर्थ कन्नड़ पदों में बताया गया है । रीति पर भी नागवर्म ने प्रकाश डाला है । इन्होंने कहा है—"पद रचनातिशयम रीतिः" रीति की परिभाषा है और काव्यो में इसका रहना अत्यावश्यक है । काव्य में अलकार के अभाव में भी रीति के रहने से माधुर्य और सौन्दर्य की नियोजना हो जाती है । इन्ही नागवर्म का 'काव्यालोकन' कन्नड़ लक्षण ग्रथों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

कन्नड़ व्याकरण पर भी जैन रचयिताओ ने कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं । १२ वी सदी में नयसेन ने एक महत्वपूर्ण व्याकरण ग्रथ लिखा है पर आज यह उपलब्ध नही है । इस ग्रंथ का पता नागवर्म के भाषाभूषण के ७२ वें सूत्र 'दीर्घो नयसेनस्य" से लगता है । नागवर्म ने 'कर्नाटक भाषाभूषण' लिखकर कन्नड़ के व्याकरण को सुव्यवस्थित बना दिया । यद्यपि इस ग्रंथ के सूत्र और वृत्ति सस्कृत में है पर उदाहरणः अपने पूर्ववर्ती कन्नड़ कवियो से चुनकर लिये गये हैं, इसमें संज्ञा, संधि, विभक्ति, कारक, शब्द-रीति, समास, तद्धित, आख्यात नियम, अन्वय निरूपण और निपात निरूपण ये दस परिछेद है । कुल मिलाकर दो सौ अस्सी सूत्र है । व्याकरण ग्रंथों में केशवराज (११५० ई० स०) का 'शब्दमणिदर्पण' एक महत्वपूर्ण और बड़ा व्याकरण ग्रथ है । इसमें कन्दरूप से सूत्र लिखे गये है । व्याकरण नियमों के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण प्राचीन कवियों के गद्य-पद्य से दिये गये हैं । इस व्याकरण ग्रंथ ने कन्नड़ भाषा को सुव्यवस्थित बनाया है ।

नवरस पर 'उदयादित्य अलंकार' जिसमें संक्षेप में चन्द्रालोक की शैली पर रस अलंकार का विवेचन किया गया है एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है । इसमें पांच प्रकरण हैं और तीसरे रस प्रकरण

में रस का सविस्तर निरूपण है। रस पर कवि साल्व का 'रस रत्नाकर' एक सुप्रसिद्ध रस-ग्रंथ है। कन्नड़ साहित्य में स्वतंत्र रूप से रस का विवेचन करने में इससे बढ़कर अन्य कोई ग्रथ नही है। मनोरम उदाहरण और हाव-भाव आदि का सुन्दर विश्लेषण लक्ष्य और लक्षण शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

विविध-विषयक साहित्य—

जैन कवियों ने कन्नड़ साहित्य के जन्मकाल से ही उसके सवर्द्धन में पूर्ण सहयोग दिया है। उन्होंने केवल लक्ष्य, लक्षण ग्रंथो का ही निर्माण नही किया अपितु वैद्यक, विज्ञान, अर्थशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर भी पूरा प्रकाश डाल उनका कलेवर विस्तृत किया है। शिवमारदेव ने (८००ई०सं०) 'शिवमारमत' और 'हस्त्यायुर्वेद' शास्त्र लिखा है। १२ वी शताब्दी में देवेन्द्र मुनि ने बालग्रह चिकित्सा तथा अन्य भी कई आचार्यों की प्रामाणिक कृतिया इस विषय पर उपलब्ध है।

चन्द्रराज ने (१०७६ ई० स०) में 'मदन तिलक' नामक कामशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। यह कन्नड़ साहित्य का इस विषय का सबसे आदि ग्रथ है। जन्न ने (१२०६) में 'स्मरतंत्र' की रचना काम विषय पर की है।

ज्योतिष विषय पर श्रीधर का जतकतिलक' (ई० स० १०४६) प्रसिद्ध ग्रथ है। यह बेलवल देश के नरगुंद का रहनेवाला था। ज्योतिष विषय पर भी कन्नड़ मे यह आदि ग्रन्थ माना जाता है। जातक तिलक के पश्चात् चामुण्डराय का 'लोकोपकारक' ग्रथ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्व-पूर्ण माना जाता है।

सूपशास्त्र (पाकशास्त्र) नाम का जयबन्धु नन्दन का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस विषय पर अन्य जैन लेखकों की रचनाएँ उपलब्ध नही है।

गणित विषय पर कविराजादित्य के (११२० ई० स०) व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, क्षेत्ररत्न, लीलावती, चित्रहसुगे और जैनगणित सूत्र, प्रसिद्ध गणित ग्रथ है। व्यवहारगणित गद्या-पद्यात्मक है। सूत्र पद्य में और उदाहरण गद्य मे लिखे गये हैं।

उपसंहार—

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन साहित्यकारों ने कन्नड़ साहित्य की महती सेवा की है। कन्नड़ साहित्य की बहुमुखी अन्तश्चेतना को जैनसाहित्यकारों ने दिशा प्रदान की है, इसमें तो सन्देह कतई नही। क्या काव्य, क्या ज्योतिष, क्या गणित सभी क्षेत्रों को इन्होने अभिवृद्ध कर कन्नड़ साहित्य को उपयोगी और वैज्ञानिक आभरण सज्जा से आच्छन्न कर दिया है। सांस्कृतिक और आध्या-त्मिक निर्घोष के साथ जैन साहित्यकारों ने कन्नड़ साहित्य में नवीन विचारों, अनुमानों का चयन किया है। कन्नड़ साहित्य की सफलता और प्रसारिता के सारे उज्ज्वल रूपों का श्रेय जैन-साहित्यकारों को है।

जैन लोक-कथा साहित्य

श्रीमती मोहिनी शर्मा

जैन-धर्म की चेतना-भूमि—

जैन कथाएँ भारतीय लोक साहित्य की विशुद्ध प्रतीक हैं। यद्यपि उनमें धर्मभावना प्राधान्य है, उनमें एक न एक भाव ऐसा अवश्य छिपा है जो अप्रत्यक्ष रूप में धार्मिक परम्पराओं पर आधारित है, फिर भी लोक भावना से वे शून्य नहीं हैं।

'जिन' या अर्हंतों के अनुयायी जैनों का धर्म भी उसी काल में तथा भारत के उसी भाग में जन्मा, पनपा तथा विकास को प्राप्त हुआ जहा बौद्ध धर्म; पर उसका प्रचार एव प्रसार उतने विस्तृत दायरे में न हो सका जितने में बौद्धधर्म का। वैसे देखा जाय तो आज भी जैन धर्म के अनुयायी लाखों की सख्या में हैं (पिछली जनगणना १९५१ के अनुसार जैनियों की संख्या करीब २४ लाख है) और ये भारत के सबसे अधिक धनी व प्रभावशाली व्यक्तियों में से हैं। पर योरोप में भी अब जैनधर्म का काफी प्रचार हो चुका है तथा वहा के लोग इस ओर आकृष्ट हुए हैं। और आज कल तो जैन धर्म भी बौद्धधर्म के समान विश्वधर्म होने का दावा करने लगा है। जैन धर्म की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका द्वार सभी लोगों के लिए समान रूप से खुला हुआ है जैसा कि श्री होफ़ेक बुलर ने ठीक ही कहा है कि बिलकुल अपरिचित विदेशियों के साथ ही साथ म्लेच्छों का भी यह अपनी भुजाएँ फैलाकर सहर्ष आवाहन करता है। इतनी उदार नीति पर आधारित होने पर भी यह बौद्धधर्म के समान विकास को नहीं प्राप्त हो सका—शायद इसीलिए कि इसके सिद्धान्त और आदर्श जन सामान्य के लिए अति कठोर हैं।

वैसे तो जैन लोग २४ तीर्थंकरों को मानते हैं, पर प्रमुख रूप से अन्तिम दो तीर्थंकर २३ वें पार्श्वनाथ व २४ वें वर्द्धमान महावीर ही जनसामान्य के लिए अधिक परिचित हैं। यद्यपि यह निर्विवाद है कि वर्द्धमान सस्थापक न होकर सुधारक थे और उन्होंने पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों को ही परिष्कृत एवं परिमार्जित किया। महावीर की निर्वाण-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई ईसा पूर्व ५४५, कोई ५२७ और कोई ४६७ मानते हैं। महावीर की मृत्यु के बाद ई० पू० दूसरी शताब्दी में जैन सम्प्रदाय में धर्मभेद की दृष्टि से शाखाएँ बनना प्रारम्भ हुआ और ई० पू० पहली शताब्दी के प्रारम्भ में यह श्वेताम्बर व दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर लोग अपने देवताओं की प्रतिकृतियों को श्वेत वस्त्र पहिनाने लगे और दिगम्बर लोग पूर्ण-तया नग्न रखने लगे। ये दोनों ही मत व मान्यताएँ आज भी अक्षुण्ण रूप में जीवित है।

जैन धर्म का प्रमुख उद्देश्य भी अधिकांश भारतीय धर्मों के समान ही कर्म प्रवृत्तियो अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा दिलाना है। जहाँ तक हमें स्मरण है ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कहीं चर्चा नही है। पर जब वैदिक धर्म का प्रभाव लोक दृष्टि से उठ गया, पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने विद्वानो को विचार करने के लिए बाध्य किया और शायद तभी से पुनर्जन्म के प्रति लोगो की दृढ़ आस्था हुई। जैन कथाकोश में सग्रहीत कथाओं की मूल प्रेरणा भी यही पुनर्जन्म के प्रति आस्था है। इस जन्म में किए हुए कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है। मनुष्य योनि ही वह सर्वश्रेष्ठ स्थिति है जहा प्राणी अपने उत्तमोत्तम कार्यों द्वारा मुक्तिपद की राह में लग सकता है, आदि ये सब भावनाएँ ही जैन लोक कथा साहित्य की मूल आधार है। कर्मों के चक्कर से छूट जाना अर्थात् मुक्ति पाना ही जैन-धर्म की प्रेरणा है और यही प्रेरणा जैन लोक-कथाओ का प्राण कही जा सकती है। जैन कथा साहित्य का मर्म अच्छी तरह समझने के लिए पहले हमे जैन धर्म के कुछ सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। मुक्ति पद की प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म के समान ही जैन धर्म में भी तीन रत्न बतलाए गए है; वे है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चरित्र। इन्हे मुक्ति-मार्ग की तीन सीढ़िया कहा जाता है। यहां इन तीनो का सूक्ष्म विश्लेषण भी विषय विरोध होगा। अतः इस विषय को आगे बढ़ाने की अपेक्षा अब हम यही छोड़ेंगे। जैन लोग पुष्प आदि अष्ट द्रव्यो से अपने देवताओ का पूजन अर्चन करते है। उनकी प्रशसा व सम्मानसूचक प्रार्थनाएँ तथा भक्तिभाव से पूरित गीत गाते हैं और उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रतिवर्ष हजारो मील की तीर्थयात्राएँ करते हैं। इन्ही सब बातो के वर्णन से जैन साहित्य भरपूर है। साधु-साध्वियो के आचार विचार आदि का परिचय जैन साहित्य मे प्रचुर मात्रा में मिलता है। सबमे पहले जैन साहित्य प्राकृत में लिखा गया था पर शीघ्र ही इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि वह सस्कृत में लिखा जाना चाहिए। तत्कालीन परिस्थितियों का यदि अध्ययन किया जाए तो इसे एक स्वा-भाविक आवश्यकता ही कहना चाहिए। पर जैन लोग केवल अपने सिद्धान्तो को लिख कर ही सन्तुष्ट न हो सके। उन्होंने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणो से प्रतिद्वद्विता की। व्याकरण, ज्योतिष, सगीत, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने प्रगति की ओर कदम बढ़ाए। इन सब प्रवृ-त्तियों के मूल में उनका केवल एक ही ध्येय था। जन सामान्य को जैन धर्म की ओर आकृष्ट करना व उस पर उनकी आस्था दृढ़ करना और अपने उद्देश्य में वे सफल भी हुए। उनकी समय की कृतियां योरोपीय विज्ञान के लिए आज भी बड़े महत्व की है।[1]

जैन कथाओं की व्यापकता—

जैन कथा साहित्य में तपस्विनों, भक्तिनों तथा साध्वियों को बहुत ही कम स्थान मिला है और ऐसे प्रसंग भी शायद ही मिलें जहा इन्हें आदर या सम्मान का स्थान दिया गया हो। साध्वियों को

१ Buhler's Vortrag, p.p. 17 & 18.

केवल श्वेताम्बर साहित्य में ही स्थान प्राप्त है, दिगम्बर साहित्य से उनका कोई वास्ता नहीं। दिगम्बर शास्त्र के अनुसार तो स्त्रियां मुक्ति की अधिकारिणी ही नहीं। वे 'मोक्षमहल' में कदम भी नहीं रख सकतीं पर इस विषय में उनमें व श्वेताम्बरों में गहरा मतभेद है।

सुप्रसिद्ध युरोपीय विद्वान श्री सी० एच० टाने ने अपने ग्रंथ 'ट्रेजरी आफ स्टोरीज' की भूमिका में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैनों के 'कथाकोश' में संग्रहीत कथाओं व योरोपीय कथाओं में अत्यन्त निकट का साम्य है। उनके विचार से यह अधिक सम्भव है कि जिन योरोपीय कथाओं में यह साम्य मिलता है, उनमें से अधिकांश भारतीय कथा साहित्य (विशेषतः जैन कथा साहित्य) के आश्रित हों। प्रोफेसर मैक्समूलर, बेन्फे व रहीस डेविड्स ने अपने ग्रंथों में इस बात के काफी प्रमाण दिए हैं कि भारतीय बौद्ध कथाएँ लोक कंठों के माध्यम से परसिया से यूरोप गईं। नि.सन्देह इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बहुत सी कहानियाँ मध्ययुगीन भारत से यूरोप में गईं। यद्यपि इस बात में सन्देह है कि भारत में ही जन्मी, पनपी, या और कही। श्री एन्ड्रू लंग, जिन्होंने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है, का मत है कि यदि आवश्यकतानुरूप सीमित कर दिया जाए तो यह उधार लेने की प्रवृत्ति बुरी नही कही जा सकती। ये कहानिया निश्चित रूप से मध्ययुगीन भारत से बाहर गईं और मध्यकालीन युरोप व एशिया में अधिकता से पहुँची। लोककंठो के माध्यम से कथाओं के आवागमन के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। अधिकांशतः एक दूसरे के तत्वों में, घटनाओं में आपस में अदला बदली हुई। यह निश्चित है कि पाश्चात्य साहित्य पर लोककथाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है जिनने भारतीय साहित्य में अपना प्रमुख स्थान बना लिया था[1]। यह भी संभव प्रतीत होता है कि भारतीयो ने कुछ लोककथाएँ यूनानियों से उधार ली। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि भारतीयों ने काफी समय तक मुद्राशास्त्र, ज्योतिष और कुछ सीमा तक वास्तु और शिल्पकला तथा नाट्यकला की शिक्षा यूनानियों से ग्रहण की। 'कथासरित्सागर' के अंग्रेजी अनुवाद की टिप्पणियों में श्री सी० एच० टाने ने भारतीय व यूनानी उपन्यासो (कथा वृत्तान्तों) के सादृश्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

यहां एक प्रश्न यह भी उठना स्वाभाविक ही है कि जैन कहानियाँ इतने दूर दूर के प्रदेशो में कैसे पहुँची जब कि जैन धर्म के विस्तार के विषय में हम देखते हैं कि वह भारत तक ही सीमित रहा। इसके उत्तर में हम तो अपनी ओर से यही कहेंगे (और यह सच है) कि ये कहानियां जैनों द्वारा नही बल्कि बौद्धों द्वारा सुदूर प्रदेशों में ले जाई गईं क्योंकि जैन और बौद्ध दोनों ने ही ज्ञानोन्नति एवं प्रचार के उद्देश्य से पूर्वीय भारत की लोककथाओं का समुचित उपयोग किया। एक उदाहरण से हमारा यह कथन स्पष्ट हो जाएगा व उसे बल मिलेगा।

प्रामाणिक-चित्रण—

सुप्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान प्रोफेसर जैकोबी ने अपनी 'परिशिष्ट पर्व' की भूमिका में एक जैन कथा की रानी से सम्बन्धित निम्न अंश उद्धृत किया है जो दो प्रेमियों की प्राप्ति के लोभ में एक को भी न पा सकी —

---

१ 'Myth, Ritual & Religion' Vol. II, p. 313

"..................रानी और उसका प्रेमी, जो एक डाकू था, यात्रा को चल दिये और चलते चलते एक नदी के किनारे पहुँचे जिसमें बाढ आई हुई थी। डाकू ने रानी से कहा कि पहले तुम्हारे वस्त्राभूषणों को पहुँचा देना ठीक होगा, पश्चात तुम्हें ले चलूगा। लेकिन जब वह रानी के वस्त्राभूषणों को लेकर उस पार पहुँच गया तो उसने ऐसी धोखेबाज दुःशील स्त्री से छुटकारा पाना ही उचित समझा और उसे उसी किनारे पर एक नवजात शिशु के समान नग्न अवस्था में छोड़ कर चल दिया। ऐसी स्थिति में रानी को एक व्यंतर देव ने देखा जो पूर्वजन्म में महावत था व रानी के प्रेमियों में से एक था, और उसे बचाने का निश्चय किया। अतः वह अपने मुह में मास का एक टुकड़ा दबाए एक सियार के रूप में प्रगट हुआ। वह एक मछली को देख कर जो उछल कर पानी से बाहर आ गई थी, मास का टुकड़ा छोड उस पर झपटा। मछली जैसे तैसे प्रयत्न करके सियार की पहुँच में आने से पहले ही पानी में पहुँच गई और इसी समय आकाश में उडते हुए एक पक्षी ने नीचे आकर वह मास का टुकड़ा अपनी चोच में दबा लिया और उड़ गया। रानी ऐसा देखकर सियार की मूर्खता पर हँसी जिसने मछली को पाने की आशा में मछली के साथ ही साथ हाथ में आए हुए मास के टुकड़े को भी खो दिया। उसी समय सियार अपने असली रूप में प्रकट हुआ और कहा कि उसने (रानी ने) अपने पहले और दूसरे प्रेमियों के साथ ही साथ वस्त्राभूषण भी खो दिये। उसने उसे अपने पापों का प्रायश्चित करने और 'जिन' की शरण में जाने का उपदेश दिया। रानी ने उसकी बात मान ली और एक तपस्विनी बन गई।"

अब आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि यही कहानी चीन में एक लोक कथा के रूप में प्रचलित है। श्री स्टेनिसलास जूलियन ने 'अवदान' के चीनी से अंग्रेजी अनुवाद में यह कहानी दी है। इस कहानी का शीर्षक है 'दी विमन एण्ड दी फाक्स'। यही कथा फ्रांस में भी कुछ परिवर्तित रूप में प्रचलित है, जो इस प्रकार है—

"एक समय एक बड़ी ही धनवान औरत थी। उनके पास खूब सोना और चांदी था। वह अपने पति के अतिरिक्त एक और अन्य पुरुष से प्रेम करती थी। वह अपने प्रेमी के साथ भाग निकलने के लिए अपने पति को छोड़कर सोने व चाँदी के बहुमूल्य आभूषणादि लेकर चली। वे दोनों चलते चलते एक नदी के किनारे पहुँचे। प्रेमी ने उस स्त्री से कहा—"तुम पहले मुझे सभी बहुमूल्य जेवरात आदि दे दो ताकि मैं पहले उन्हें उस पार रख आऊँ। उन्हें उस पार रखकर मैं लौट आऊँगा और तब तुम्हें भी उस पार ले चलूगा। वह औरत इसी किनारे पर रही और उसने अपने सभी वस्त्राभूषण अपने प्रेमी को दे दिए पर फिर उसका प्रेमी कभी लौट कर नहीं आया। वह उसे हमेशा के लिए छोड़ कर चला गया। इसी समय उस स्त्रीने एक लोमड़ी को देखा जिसने एक बाज को पकड़ रखा था। लोमड़ी ने इसी बीच एक मछली देखी और उसे पाने की आशा में बाज को छोड़ दिया। पर वह लोमड़ी न तो मछली ही पा सकी और न बाज ही। क्योंकि उसके पंजे से छूटते ही बाज उड गया था। उस औरत ने लोमड़ी से कहा—तुमने बहुत बड़ी बेवकूफी की है। दोनों वस्तुओं को एक साथ पाने के लालच में तुमने दोनों को ही एक साथ

खो दिया। उत्तर में लोमड़ी ने कहा—"मुझसे भी अधिक बेवकूफ तो तुम हो[1]।" अंग्रेजी अनुवादक का कहना है कि यह कहानी (Fa-yoen-tuhculin)' नामक बौद्ध विश्वकोश से ली गई है। यह तो सभी जानते है कि उत्तरी बौद्धों से चीनियो ने बहुत कुछ उधार लिया पर यही कहानी फौसबाल द्वारा सम्पादित 'पाली-जातक' में भी मिलती है। उसमें यह कहानी 'चुल्लधनुग्गहा जातक' नाम से है। चुल्लधनुग्गहा जो कि इस कहानी का नायक है अपने तीरों से एक हाथी व ४६ डाकुओं को मारने के पश्चात् अपनी स्त्री के कपट-व्यवहार से डाकुओ के सरदार द्वारा मारा जाता है। क्योंकि उसकी स्त्री डाकू सरदार से प्रेम करती है। पर वह डाकू सरदार उसके पति को मारने के पश्चात् उसकी सारी सम्पत्ति जेवर आदि लेकर भाग जाता है। और वह बेचारी सब कुछ खोकर निराश्रित हो जाती है। तब सक्क (इन्द्र) अपने मुह में मांस लिए सियार के रूप में और मातलि तथा पचशिखा (इन्द्र के ही आदेश से) क्रमशः मछली व बाज के रूप में आते है। इसी प्रकार यह नाटक जैन कथा के समान ही चलता है। उसका परिणाम यह होता है कि स्त्री अपने आप में बड़ी शर्मिन्दा होती है और पश्चात्ताप करती है।

कथाओं की मौलिकता—

जो कुछ भी हो, पर हम इतना अवश्य कहेंगे कि लोक-कथाओं के अन्वेषको को इन जैन कथाओं का स्वागत अपनी खोजो के लिए एक महत्वपूर्ण देन के रूप में करना चाहिए। उन्हें इस बात का सन्देह अपने मन से निकाल देना चाहिए कि ये कथाएँ यूरोपीय कथाओ से प्रभावित है। जैन कथाएँ अपने आप में पूर्णत मौलिक है और विशुद्ध भारतीय हैं। इस विषय के प्रमाण में हम ऊपर बहुत कुछ लिख चुके है। हमारे इस कथन का आशय यह नही लेना चाहिए कि सभी जैन कथाएँ विशुद्ध एवं मौलिक है। कुछ कथाएँ मूल रूप से जैनेतर हैं और उन्हें अपनी बनाने के लिए उन पर जैन धर्म के उपदेशो का रग चढ़ा दिया गया है। कही कहीं तो कथा के पात्रो के नाम भी जैन कल्पनानुसार बदल दिए गए है। जैसे नल-दमयन्ती की सुप्रसिद्ध कथा का रूपान्तर भी जैन लोककथा के रूप में प्रचलित है। इसमें दयमन्ती को दवदन्ती के रूप में बदल दिया गया है। 'कथाकोश' में संग्रहीत इस कहानी के रूप से स्पष्ट पता चलता है कि सामाजिक व लौकिक कथाओं को धार्मिकता का बाना पहिनाकर जैनो ने जिस नए ढंग से उनका नया रूप प्रस्तुत किया है, वह प्रशसनीय है।

जैन साहित्यकार और बौद्ध—

जैन साहित्य मात्रा में विशाल है और मनोरंजन से परिपूर्ण है। केवल भारतीय ही नहीं यूरोपीय पुस्तकालयों में भी कई हस्तलिखित जैन ग्रंथ भरे पड़े है जो अभी तक अप्रकाशित हैं। विशाल जैन साहित्य में मात्र धर्मचर्चा नही है वरन् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक लौकिक, ललित कला आदि सभी विषयो पर जैन ग्रंथकारों ने समान और आधिकारिक रूप से अपनी लेखनी चलाई है। उन्होंने सिद्धान्त, तर्कशास्त्र और दर्शन आदि विषयों पर अपने स्वतत्र मत स्थापित किए व ग्रंथ भी

१ 'Les Avadans' tradiuts per Stanislas Julien, Vol II P. 11

लिखे । एक ओर जहां उन्होंने इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि की, दूसरी ओर ब्रह्म विज्ञान आदि पर भी सफलतापूर्वक ग्रंथ लिखे । उन्होंने संस्कृत के साथ ही प्राकृत के भी बहुत से कोषो और व्याकरणों की रचना की । गुजराती और परसियन भाषाओं में भी उन्होंने व्याकरण तैयार किए । अंकशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीति शास्त्र (दोनों वर्ग—राजनीति व सामान्य नीति) आदि पर भी उनके अनेकों ग्रंथ उपलब्ध हैं । राजकुमारों की शिक्षा के लिए जैन लेखकों ने अश्वकला, हस्तिकला, तीरतर्कशकला, कामशास्त्र आदि विषयों के ग्रंथ प्रणयन किए । सामान्य वर्ग के लिए जादू, ज्योतिष, शकुनशास्त्र आदि ऐसे विषयों पर रचनाऐं लिखीं जिनका भारतीय सामाजिक जीवन में आदिकाल से ही महत्त्व रहा है । इतना ही नही, उन्होने शिल्पकला, संगीतकला, स्वर्ण रजत आदि के गुणावगुण, रत्नो आदि पर महान ग्रन्थ लिखे । काव्य क्षेत्र में जैन कवि, जो सामान्यतः साधु होते थे, दरबारी ब्राह्मण कवियों से होड़ लेते थे । वे संस्कृत में नाटक, काव्य, चम्पू आदि बडी कुशलता से लिखते थे और अपने ग्रंथों में तद्विषयक नियमों का भी पूर्णता से पालन करते थे । उनके लिखित ग्रंथ आज भी काफी मात्रा में उपलब्ध हैं । आलोचनाशास्त्र पर भी उनकी कई महत्वपूर्ण कृतियां हैं ।

हिन्दू शासको के साथ ही साथ मुस्लिम शासकों के समय में भी जैन साधुओ का दरबारो में काफी मान रहा और उनकी कला की प्रशंसा होती रही । यहां एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि जहा जैनेतर कवि, विद्वान आदि राज्यमद के फेर में सामान्य जनता को भूल गए, जैन साधु कभी नही भूले । विशेषत. वैश्यवर्ग के साथ उनका सम्बन्ध अटूट रहा । जहा ब्राह्मणवर्ग ने अपने ग्रंथ विशेषतः राजदरबारों व राजकुमारों दरबारियों आदि के लिए लिखे जैन लेखकों ने सामान्य वर्ग की साहित्यिक आवश्यकताओं को पूरा किया—उनकी साहित्यिक रुचि जागृत की । उन्होने केवल सरल सस्कृत में ही ग्रंथो का भंडार नहीं भरा वरन् प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, गुजराती, कन्नड़ और राजस्थानीय आदि में भी ग्रंथ लिखे । वे साहित्य के एक बड़े ही विशाल एव विस्तृत क्षेत्र के स्रष्टा थे ।

जैन कथा साहित्य मात्रा में बहुत ही विशाल है । उसमें रोमास, वृत्तान्त जीव जन्तु लोक, परम्पराप्रचलित मनोरजक वर्णनात्मक आदि सभी प्रकार की कथाएँ प्रचुर मात्रा मे मिलती हैं । जनसाधारण में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जैन साधु कथाओं को सबसे सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होने इसी दृष्टि से उपरोक्त सभी भाषाओं में गद्य-पद्य दोनो में ही कहानी कला को चरम विकास की सीमा तक पहुँचाया । उनकी कथाएँ दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा में होती थी । कोई कोई कथाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थी पर अधिकाशत. कथाओ में बहुत सी गौण कथाएँ इस ढंग से मिली रहती थी कि कथा का क्रम नही टूटने पाता था और काफी लम्बे समय तक कथा चलती रहती थी (जैसे पंचतंत्र) ।

उनका कथा कहने का ढंग अन्यों की अपेक्षा कुछ विशेषतायुक्त है । कथा के प्रारम्भ में जैन साधु कोई प्रसिद्ध धर्मवाक्य या पद्यांश कहते हैं और फिर बाद में कथा कहना शुरू करते हैं । कथा की लम्बाई या छोटाई पर वे जरा भी ध्यान नहीं देते । उनकी कथाएँ बहुत सी रोमांटिक घटनाओं

(अधिकांश घटनाएँ एक दूसरे से गूंथी रहती हैं) से युक्त रहती है। कहानी के अन्त में वे पाठकों का परिचय एक केवली—त्रिकालदर्शी जैन साधु से कराते हैं जो कथा से संबद्ध नगर में आता है और कथा के पात्रों को सद्‌मार्ग पर आने का उपदेश देता है। केवली का उपदेश सुनकर कथा के पात्र पूछते है कि संसार में प्राणियों को दुःख क्यों सहने पड़ते हैं, दुखों से छुटकारा पाने का उपाय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में केवली जैन धर्म के प्रमुख तत्त्व कर्म का वर्णन करने लग जाता है कि प्राणी के पूर्वकृत कर्मों के फल रूप में ही उसे सुख या दुख की प्राप्ति होती है। अपने इस कथन का सम्बन्ध वह कहानी के पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं से स्पष्ट करता है।

इन धर्मोपदेशों का साहित्यिक रूप बौद्ध जातकों से सादृश्य रखता है पर जातकों की अपेक्षा वह कई दृष्टियों से श्रेष्ठ है। जातक का प्रारम्भ एक कथा से होता है जो बिलकुल ही स्वत्वहीन होती है। किसी भिक्षु के साथ कोई घटना घटती है। उसी समय बुद्ध आते हैं। अन्य भिक्षु उस पहले भिक्षु के साथ घटी घटनाओं के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न करते हैं और बुद्ध उत्तर में उस साधु के पूर्वजन्म की कथा कहते हैं। पूर्व जन्म की कथा ही जातकों की प्रधान कथा होती है जब कि जैन धर्मोपदेशों—जैन कथाओं में उपसंहार के रूप में उसका अस्तित्व रहता है। बोधिसत्त्व अथवा भविष्य में होने वाले बुद्ध स्वयं उस कथा के एक पात्र होते हैं और उस उत्तरदायित्व को पूर्णतया निभाते भी हैं और इस प्रकार पूरी कहानी एक शिक्षाप्रद उपदेशक कथा का रूप ले लेती है। जहां तक जातकों के मनोरंजक तत्त्वों का प्रश्न है, वे बौद्ध के अपने मौलिक नहीं है। वे तो उन्होंने भारत जैसे विस्तृत प्रदेश में फैली लोक कथाओं के विशाल भंडार से लिए हैं। प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् श्री जोहान्स हर्टेल का यह कथन ठीक ही है कि इन प्रसिद्ध कथाओं में से अधिकांश प्रवीणता, मनोरंजन और क्रीडा कौतुक से भरपूर हैं पर वे धर्मोपदेशक नहीं है। जो जातक उपदेशपरक एवं धर्मोपदेशक हैं भी तथा जिनके पात्र बोधिसत्त्व के पद के अधिकारी हैं, वे लोक-प्रचलित कथानकों के जोड़तोड़ कर अपने उद्देश्यानुकूल बनाए गए, उनके बदले हुए रूपान्तरमात्र हैं। और ऐसी अनेक जातक कथाएँ मौलिकता से हीन नीरस हो गई हैं; उनकी सारी आकर्षण शक्ति, उनका प्रभाव, उनकी कलाकुशलता विलुप्त हो गई हैं। बौद्धों ने अपने सिद्धान्त का समावेश बोधिसत्त्व का उदाहरण देकर कि किस प्रकार प्रत्येक प्राणी को बुद्ध के सिद्धान्तों में विश्वास कर उसी के अनुसार कर्ममार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए, इन कथाओं में सीधे ही किया है। और यदि लोक-प्रचलित कथा का जातक में बदले हुए रूप का उपसंहार इस प्रकार नहीं हो पाया तो फिर उन्होंने उस कथा का नाक-नक्श भी बदलकर उसे बिलकुल ही बेडौल कर दिया है। एक बौद्ध के लिए अर्थशास्त्र या राजनीतिक का अध्ययन पाप है, पर अब तो बहुत सी भारतीय लोककथाओं का समावेश इन शास्त्रों में हो गया है। बौद्धों ने भी अपने संग्रहों में बहुत सी इन नीति-कथाओं को भी शामिल कर लिया है। पर अपने धर्मसिद्धान्तों से बाध्य होकर उन्हें इन सिद्धान्तों में काफी फेरफार करना पड़ा है। कहीं कहीं तो उन्होंने इन कथाओं के कई महत्त्वपूर्ण अंशों को भी ऐसी बेतरतीब से बदला है कि मूल कथा का सारा रस ही जाता रहा है और इस प्रकार वे कथाएँ कहीं की भी न रही हैं[1]। यह कहना

१ इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—**Die, Erzahlungs literatur der Jaina, (Geist das Ostens–7,178 ff.) and 'Ein altindisches Narrenlriceh' (Ber.L. Kgl. Sachs, Gesellschaft der Wissenschaften, ph L.Kl 64 (1912), Heft.**

थोथी दलील ही नहीं है कि पंचतंत्र के अनेक पाठान्तरों में से एक भी बौद्धों के अपने मौलिक नही हैं, जब कि 'पंचाख्यान' या 'पंचाख्यानक' कहे जाने वाले जैनों के पाठान्तरों ने नीतिशास्त्र के इस पुराने कार्य को लोक में प्रसिद्ध कर दिया । यहां तक कि इन्डोचीन व इन्डोनेशिया में भी इनकी प्रसिद्धि हुई । इन सब देशों में संस्कृत व अन्य भाषाओं मे 'पंचाख्यान' इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि उसका मूल जैन रूप पूर्णतः भुला दिया गया । और तो और जैन लोग स्वय उसके अपने मूल रूप को भूल गए ।

बौद्ध कथाकारों ने अपने लाभ की दृष्टि से जनसामान्य की प्रबल वृत्ति की अद्भुत चमत्कारों, भयंकर दुर्घटनाओं तथा अतिपापी कार्यों से अधिक परिचित काराया है । उन्होने एक ही कथा मे बार-बार इस प्रकार की घटनाएँ वर्णित की है । उनमें मनोवैज्ञानिक उत्साह और हेतुत्त्व के कोई लक्षण एवं आचार नही मिलते । उनकी कथाए बौद्धों की विशेषताएँ हैं पर भारतीय विशिष्ट कथाएँ किसी भी रूप में नही ।

भारतीय कथाकला की विशेषताओं के रूप में हम जैन कथा वृत्तान्तों को ले सकते हैं । भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचार-विचारो एवं व्यवहारो के विषय में उनसे यथार्थ एव सविस्तार परिचय मिलता है । जैन कथा वृत्तान्त विशाल भारतीय साहित्य के एक प्रमुख अंग के रूप मे अपना महत्व प्रदर्शित करते हैं । वे केवल भारतीय लोककथाओ के क्षेत्र में ही नही, वरन् भारतीय सभ्यता व संस्कृति के इतिहास के क्षेत्र मे भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है ।

जैनों के कथा कहने के ढंग में बौद्धों के ढग से कई बातों में काफी अन्तर है । जैनो की कथा की मूल वस्तु भूत की न होकर वर्तमान से सम्बन्ध रखती है । वे अपने सिद्धान्तों का सीधा उपदेश नही देते, उनके कथानको से ही अप्रत्यक्ष रूप से उनका उपदेश प्रगट होता है । और एक सबसे बड़ा अन्तर जो है, वह यह कि उनकी कथाओं मे 'बोधिसत्त' के समान भविष्य के 'जिन' के रूप में कोई पात्र नही होता ।

जैन कथाओं की विशेषता—

अतः यह स्पष्ट ही है कि इन स्थितियों मे जैन कथाकार पूर्णत स्वतंत्र है । चूकि उन्हे पात्रों को ठोक-पीटकर अपने अनुकूल जैन सिद्धान्तों को मानने वाला नही बनाना पड़ता अतः पूर्व कथाओ का वर्णन करने में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रहती है । इसलिए भी कि ये कथाएँ उन्हे साहित्यिक या चली आती हुई परम्परा के रूप में प्राप्त हुई है । उनकी कथाओं के पात्र आदर्श हों या दुश्चरित्र, सुखी हो या दुखी, कथाकारों का इससे कोई तात्पर्य नहीं । क्योंकि आदर्शोपदेश जिसका प्रचार कथा का लक्ष्य होता है, कथा में वर्णित घटनाओं में नही वरन् उस भाष्य में रहता है जो 'केवली' कथा के अन्त में देता है । केवली बतलाता है कि कथा के पात्रों के जीवन में जितनी भी दुर्घटनाएँ घटी हैं, उन्हें जितनी भी विपत्तियों का सामना करना पड़ा है और जितनी भी शुभ घटनाएँ घटी हैं, वे उनके

उन शुभ कर्मों का परिणाम है जो कि उनके द्वारा पूर्व जन्म में किए गए। यह स्पष्ट ही है कि धर्मोपदेश देने के इस ढंग का उपयोग किसी भी कथा में अच्छी तरह व सफलतापूर्वक किया जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक कथा के पात्रो, जिनके जीवन की घटनाओं अथवा विविध कार्य-कलापों का उसमें वर्णन रहता है, के जीवन में अनेक उलट फेर हुआ ही करती है। सुख दुख दोनों ही के अनुभव उन्हें होते हैं। इस तथ्य का परिणाम यह हुआ है कि किसी भी जैन कथाकार साधु को अपने हाथ में आई किसी लोक कथा को बदलने का अथवा रूपान्तरित करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ा है और यही कारण है कि लोक साहित्य—लोक कथाओ के साधनों के रूप में बौद्धिक कथा ग्रंथो में आई हुई कथाओं की अपेक्षा जैन कथाएँ अधिक विश्वस्त एव यथार्थ हैं[1]।

पर इससे यह तात्पर्य कदापि नही लेना चाहिए कि जैन साधुओं ने पुरानी, लोकप्रचलित, परम्परा से चली आती हुई कथाओं को ही नया रूप दिया। उन्होंने मौलिक कथाओं की भी काफी विशाल मात्रा में सृष्टि की। उन्होंने नई मौलिक कथाएँ और औपन्यासिक वृत्तान्त धर्मोपदेश एव सिद्धान्त प्रचार की दृष्टि से लिखे। उनकी पाठशालाओं में साहित्यिक कथाएँ कहने की शिक्षा दी जाती थी। चारुचन्द्र के 'उत्तमकुमारचरित' के ५७२ वें दोहे से यह बात स्पष्ट प्रमाणित होती है—

श्री भक्तिलाभशिष्येन चारुचन्द्रेण गुम्फिता।
चरित्रसारगणिना शोधितेयं कथा मुदा ।।
बालत्वेऽपि कथा चेयमभ्यासार्थं कृताभया।
बालावस्थाकृतं सर्वं महता प्रीतये भवेत ।।

बौद्ध और जैन कथा साहित्य से भी पुराना साहित्य ब्राह्मणों का है।

प्राचीन भारता का प्रायः सारा वृत्तान्त साहित्य उपदेशपरक है। ब्राह्मणों ने अपनी धर्म एव उपदेशपरक कथाओं का उपयोग तीन शास्त्रों (धर्म-अर्थ-काम) में किया। वैदिक युग के बाद की समस्त कथाओ में धार्मिक या दार्शनिक उपदेश का निर्देश मिलता है। वे ब्राह्मणों व उपनिषदों की सुप्रचलित पौराणिक कथाएँ हैं। सभी प्रकार की धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक कथाओं का समावेश महाकाव्यो और पुराणो में हो गया है। आज कल भी इस विशाल साहित्य के "अंश" घरों में या धर्म सभाओ में लोगो (विशेषतः धर्मपरायण) द्वारा पढ़े जाते हैं। चूंकि ब्राह्मण धर्मोपदेशक नहीं होते, इन ब्राह्मणों की धर्मकथाओं को विकसित होने का कोई अवसर नही मिला। जब भारत की अपनी राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गई तो "अर्थकथाओं" का विकास भी रुक गया। यद्यपि महाभारत व अन्य ग्रंथों में उनके सुन्दर उदाहरण सुरक्षित हैं। पर राजनीतिक कथा-वृत्तान्त साहित्य को समझने के लिए हम 'तंत्राख्यायिक' और 'दशकुमारचरित' को सबसे अधिक प्रतिनिधि ग्रंथ के रूप में ले सकते हैं। 'तंत्राख्ययायिक' जिसका अनुवाद पहलवी भाषा में ५७० ई० में किया गया था, बाद में कई अनेक भाषाओं में अनुवादित हुआ और केवल पश्चिमी एशिया

१ On the literature of the Shevatambars of Gujrat by Johanesse Hertell. P.-I.

में ही उसका प्रसार नहीं हुआ वरन् उत्तरी अफ्रिका व यूरोप में, भी वह पहुँचा जहा वह सबसे अधिक कथा ग्रंथों में से एक माना गया । पर यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि भारत में अभी तक इस प्रसिद्ध ग्रंथ की कोई भी प्रति नही पाई जा सकी है । कश्मीर में कुछ हस्तलिखित प्रतिया अवश्य पाई गई है पर उनमें से एक भी पूर्ण नही है । कुछ विद्वानो की तो इसी कारण यह भी धारणा हो गई है कि 'तंत्राख्यायिक' का भारत में कोई प्रसार नही था । प्रोफेसर कोनाव ने अपनी पुस्तक 'इन्डीएन' में यह सिद्ध किया है कि 'तंत्राख्यायिक' दक्षिण में लिखा गया था । इसके प्रमाण में उन्होने कथामुख का भी उल्लेख किया है[1] । दण्डी का 'दशमुख चरित' तो कभी पूरा ही नही हुआ था[2]। बृहत्कथा ने जो कभी एक प्रसिद्ध ग्रथ था, भारत से अपना मूलरूप ही खो दिया । उसकी संस्कृत प्रतियां कश्मीर में सोमदेव और क्षेमेन्द्रदासव्यास तथा नेपाल मे बुधस्वामिन की मिली हैं ।

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट ही है कि मध्य युग से आज तक जैन और विशेषत गुजरात के श्वेताम्बर जैन साधु ही प्रमुख कथाकार थे । उनके साहित्य में ऐसी ऐसी विशेषताएँ अगाध मात्रा में मिलती हैं जो लोककथा साहित्य के अनुसधान कार्य में तत्पर विद्यार्थी के सामने एक नया क्षेत्र उपस्थित करती हैं । जो विद्वान भारतीय लोककथा साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि कोण से कार्य कर रहे है उनके लिए जैन लोक कथा साहित्य एक महत्वपूर्ण एव आवश्यक विषय है।

जैन कथा साहित्य की समस्याएँ—

जैन कथा साहित्य से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ भी इस प्रसंग में उपस्थित होती हैं जिनमे से एक दो पर संक्षेप में हम यहा विचार करेंगे ।

पहली समस्या, जो कहानियों के देशान्तरगमन से सम्बन्ध रखती है, साहित्यिक इतिहास व सभ्यता तथा साहित्य के इतिहास की सीमा मे आ जाती है । उस पर विचार करना भारतीय दृष्टिकोण से तो महत्वपूर्ण है ही पर अन्य देशों की दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण है । दूसरी समस्या भाषागत है । इस पर विचार करना केवल संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं की दृष्ठि से ही महत्वपूर्ण नही होगा वरन् भारतीय साहित्य के इतिहास पर भी उससे समुचित प्रकाश पडेगा ।

पहले हम कथाओं के देशान्तरगमन की समस्या को लेते हैं । जिन कथाग्रंथों के सम्बन्ध में यह सिद्ध किया जा सकता है कि वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत से यूरोप गए, उनमें से कुछ ये हैं.—बरलाम और जोसफ की कथा, कलीला और दिमना में समाविष्ट ग्रंथ (जैसे—तंत्राख्यायिक, महाभारत के ३ पर्व तथा कुछ अन्य कथाएँ जिनमें से एक मूल बौद्ध है) शुक सप्तति का जैन पठान्तर, सिन्तिपास का वृत्तान्त तथा जाफर के पुत्रों की जलयात्रा आदि । अन्तिम तीन ग्रंथों के मूल

१ 'Indien'—Professor Konow (Leipzig. u.) Berlin 1917. P. 92

२ 'Indische Erzahler' vol. 1-3—Johannec Hertel. Leipzig Haessel 1922

भारतीय रूपो का अभी तक पता नही लग सका है पर हमारा विश्वास है कि कभी न कभी अवश्य ही गुजरात के श्वेताम्बरों के साहित्य में उनके मूल रूप की प्राप्ति होगी । [1]

अन्य भारतीय व योरोपीय लोककथाओ (जिनमें आपस में साम्य है) के विषय में अभी किसी प्रकार का अन्तिम निर्णय नही किया जा सकता पर कुछ कथाओ (जैसे—'सुलेमान का न्याय') के विषय मे विद्वानो द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि सारी कथा जिन तत्त्वो, आधारो तथा वातावरण को लेकर लिखी गई है, वे पूर्णतः भारतीय है । वे केवल भारत में ही मिल सकते हैं । पर ऐसी कथाएँ बहुत ही कम है । अन्य सब कथाओ में तारतम्य एव साम्य स्थापित तथा किसी एक निश्चय पर पहुँचने का केवल एक ही उपाय है । वह यह कि किसी यूरोपीय कथा के परस्पर विरोधी सभी तप्त्वों का किसी भारतीय कथा के सभी परस्पयर विरोधी तत्त्वों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और इस अध्ययन के फलस्वरूप इस बात को सिद्ध किया जाय कि प्रत्येक परस्पर विरुद्धतत्त्व (जो कि अपने मूल रूप में नही होगा) भारत से योरोप गया । अथवा योरोप से भारत आया हो पर इन अनुसधानो के किये जाने के पहिले यह आवश्यक है कि जैन भण्डारो मे अभी तक जो कथाओ और कथाग्रथो का विशाल अम्बार अप्रकाशित रूप में छिपा पड़ा है, प्रामाणिक एव शुद्ध रूप में सटिपण्ण प्रकाशित किया जाय तथा उनके ऐसे प्रामाणिक अनुवाद कराए जाय जो लोक कथा साहित्य के उन विद्यार्थियो के लिए सविस्तर विश्लेषण कर सकें जो कि सभी भारतीय भाषाओ, भारतीय आचार-विचार । व्यवहार तथा रीति रिवाजों से परिचित नही है ।

चूकि कथाओ के देशान्तर गमन की समस्या अत्यन्त ही दुर्बोध एव गहन है, यह अत्यन्तावश्यक है कि जैन कथा साहित्य का प्रकाशन यथासंभव शीघ्र ही किया जाय । भारत केवल 'देनेवाला' ही नही 'लेनेवाला' भी रहा है । उदाहरणार्थ 'यूसुफ और जुलेखा' कश्मीरी कवि श्रीधर द्वारा १५ वी शती मे सस्कृत में अनुवादित), 'अनवर, सुहेली' (कलीला और दिमना की कथापर आधारित एक परसियन ग्रथ, पश्चात दूखनी, उर्दू, हिन्दी, बगला, तथा बाद में फ्रेंच अनुवाद से मलय और इसके बाद मलय से जापानी में अनुवादित), 'अरेबियन नाइट्स' 'ईसप फेबिल्स' (अनेक भारतीय भाषाओं में अनूदित) तथा अन्य विदेशी ग्रथो के नाम लिए जा सकते है जिनके भारतीय भाषाओं १६ वी तथा २० वी शताब्दी में अनुवाद किए गए ।

बहुत सी भारतीय कथाओं तथा कथाग्रथो का पुनर्देशीयान्तरगमन भी हुआ और बाद में "पूर्वंण देशान्तर गमन रूपों" के समान ही इन "पुनर्देशान्तरगमन रूपों" ने भी साहित्यिक रूप ग्रहण किया। मौखिकरूपान्तरों से भी हम इन्कार नही कर सकते । समय समय पर भारत पर विदेशियों के आक्रमण हुए, विजय प्राप्त होने पर अपने साथ आए अपने देश के लोगों के साथ वे यही जम गए और परिणाम स्वरूप लोककठों के माध्यम से बहुत सी लोककथाओं में देशानुकूल परिवर्तन हुआ, मौखिक आदान-प्रदान हुआ ।

१ एक प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'रत्नचूड़कथा' में सिन्तिपास का वृतान्त किया गया है ।

उपसंहार

जैन कथाकार साधु व्याकरण के पण्डित थे। बूलर ने अपने 'हेमचन्द्र' में लिखा है कि शासकों के दरबारों में जैन कवि ब्राह्मण कवियों से सफलतापूर्वक होड़ लेते थे। ऐसा बिलकुल ही असंभव होता यदि जैन कवि व कथाकार ब्राह्मण कवि या कथाकारों के बराबर अथवा उनसे उच्च योग्यता वाले न होते। जैन साधु कवियों को राजदरबारों में स्थान मिल सका तथा वे शासकों पर जैन धर्म का प्रभाव स्थापित कर सकें, इसका प्रमुख कारण उनकी साहित्यिक शिक्षा दीक्षा, योग्यता तथा काव्य की विविध शाखाओं का उनका गहन अध्ययन था। जार्ज बूलर ने 'हेमचन्द्र' में इसे काफी स्पष्ट किया है।

जहां तक हमें स्मरण है किसी भी देशी विदेशी विद्वान ने जैनों पर भाषा अथवा व्याकरणगत भूलों का दोष नहीं लगाया। जबकि बूलर ने विल्हण कालिदास और दण्डी तक के ग्रंथों में अनेकों व्याकरणगत त्रुटियों की ओर निर्देश किया है[१] बूलर और वेबर ने जैनों के संस्कृत ज्ञान की परिपूर्णता की ओर जो निर्देश किया है, उसका प्रमुख कारण यही है कि गुजरात में उस समय संस्कृत लोकभाषा थी। लिखने व बोलने दोनों में ही यह भाषा व्यवहृत होती थी। संस्कृत में लिखे गये जैनों के ग्रंथों के विशाल भंडार उनके संस्कृत पर पूर्ण अधिकार की पुष्टि करते हैं। १००० वर्षों तक गुजरात में जैनों का बोलबाला रहा, वे ही वहा के साहित्यिक व सांस्कृतिक प्रतिनिधि (उस समय के) थे और यही कारण है कि गुजराती संस्कृत का जितना ज्ञान हमें जैन साहित्य से उपलब्ध होता है, उतना अन्य से नहीं।

---

१ Notes on Page 6, 18 of the पूर्वपीठिका of the दशकुमार चरित by बूलर।



संस्कृत जैन साहित्य का विकास क्रम

श्री पं० पन्नालाल, साहित्याचार्य

प्रस्तावित

उपलब्ध जैन संस्कृत साहित्य के प्रथम पुरस्कर्ता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं। इन्होंने विक्रम की प्रथम शताब्दी में तत्वार्थसूत्र की रचना कर आगामी पीढ़ी के ग्रन्थ लेखकों को तत्वनिरूपण की एक नवीनतम शैली का प्रदर्शन किया। उनका युग दार्शनिक सूत्रयुग था। प्रायः सभी दर्शनों की उस समय सूत्र-रचना हुई है। तत्वार्थसूत्र के ऊपर अपरवर्ती पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि महर्षियों द्वारा महाभाष्य लिखे जाना उसकी महत्ता के प्रख्यापक है। इनके बाद जैन संस्कृत-साहित्य के निर्माताओं में श्वेताम्बराचार्य पादलिप्तसूरि का नाम आता है। आपका रचा हुआ 'निर्वाणकलिका' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। 'तरंगवतीकथा' भी आपका एक महत्वपूर्ण प्राकृतभाषा का ग्रन्थ सुना जाता है जो कि इस समय उपलब्ध नही है। आप तृतीय शताब्दी के विद्वान् माने गये हैं। इसी शताब्दी में आचार्य मानदेव ने 'शान्तिस्तव' की रचना की थी। यह 'शान्तिस्तव' श्वेताम्बर जैन-समाज में अधिक प्रसिद्ध है।

जैन साहित्य का उत्थान और विकास–

पादलिप्तसूरि के बाद जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप देने वाले श्री समन्तभद्र और श्री सिद्धसेन दिवाकर ये दो महान् दार्शनिक विद्वान् हुए। श्री सिद्धसेन दिवाकर की श्वेताम्बर समाज में और श्री समन्तभद्र की दि० जैन समाज में अनुपम प्रसिद्धि है। इनकी कृतियां इनके अगाध वैदुष्य की परिचायक हैं। आचार्य समन्तभद्र की मुख्य रचनाएँ 'आप्तमीमांसा', 'स्वयंभूस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन', 'स्तुतिविद्या', 'जीवसिद्धि', 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आदि हैं। आपका समय विक्रम की २–३ शताब्दी माना जाता है। श्री सिद्धसेन दिवाकर का सन्मतितर्क तथा संस्कृत द्वात्रिंशिकाएँ अपना खास महत्त्व रखती हैं। सन्मति-प्रकरण नामक प्राकृत दि० जैन ग्रन्थ के कर्ता सिद्धसेन दूसरे हैं। जिनका कि आदि पुराणकार ने स्मरण किया है, ऐसा जैनेतिहासज्ञ श्री मुख्तारजी का अभिप्राय है। आपका समय वि० ४–५ शती माना जाता है।

श्वेताम्बर साहित्य में एक 'द्वादशार चक्र' नामक दार्शनिक ग्रन्थ है जिसकी रचना वि० ५–६ शती में हुई मानी जाती है, उसके रचयिता श्री मल्लवादि आचार्य हैं। इस पर श्री सिंहगणि क्षमाश्रमण की १८००० श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका है।

वि० ६ वी शती में प्रसिद्ध दि० जैन विद्वान् पूज्यपाद हुए। इनका दूसरा नाम देवनन्दी भी था। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपकी तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामक सुन्दर और सरसटीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। जैनेन्द्र व्याकरण, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि आपकी रचनाओ से दि० जैन संस्कृत साहित्य बहुत ही अधिक गौरवान्वित हुआ है। ७ वी शती के प्रारम्भ में आचार्य मानतुङ्ग द्वारा 'आदि-नाथ स्तोत्र' रचा गया जो कि आज 'भक्ताम्मरस्तोत्र' के नाम से दोनो समाजो में अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र इतना अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि इस पर अनेको टीकाएँ तथा पादपूर्ति काव्य लिखे गये।

आठवीं शताब्दी में दो महान् विद्वान् हुए। दि० समाज मे श्री अकलंक स्वामी और श्वे० समाज में श्री हरिभद्रसूरि। अकलंक स्वामी ने बौद्ध दार्शनिक विद्वानों से टक्कर लेकर जैन-दर्शन की अद्भुत प्रतिष्ठा बढ़ाई। आपके रचित आप्तमीमासा पर अष्टशती टीका, तत्वार्थवार्तिक, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसग्रह एव सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ उपलब्ध है। आप अपने समय के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् थे। हरिभद्रसूरि के शास्त्रवार्ता समुच्चय, षट्दर्शनसमुच्चय, योगविंशिका आदि मौलिक ग्रन्थ तथा न्यायप्रवेशवृत्ति, तत्वार्थसूत्र वृत्ति, आदि टीकाएँ प्रसिद्ध है। दिगम्बराचार्य श्री रविषेणाचार्य ने इसी शताब्दी में पद्मचरित-पद्मपुराण की रचना की और उसके पूर्व जटासिंहनन्दी आचार्य ने वरागचरित नामक कथा-ग्रन्थ लिखा। वरागचरित दि० सम्प्रदाय मे सर्वप्रथम संस्कृत कथाग्रन्थ माना जाता है। यापनीयसघ के अपराजितसूरि जिनकी कि भगवती आराधना पर विजयोदया टीका है इसी आठवी शताब्दी मे हुए है।

९ वी शती में दिगम्बराचार्य श्री वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र बहुत ही प्रसिद्ध और बहु-श्रुत विद्वान् हुए। श्री वीरसेन स्वामी ने षड्खण्डागम सूत्र पर ७२००० श्लोक प्रमाण धवला टीका ८७३ वि० सं० में पूर्ण की। फिर कषायप्राभृत की २०००० प्रमाण जयधवलाटीका लिखी। दुर्भाग्यवश आयु बीच में ही समाप्त हो जाने से जयधवला टीका की पूर्ति आपके द्वारा नही हो सकी अतः उसका अवशिष्ट भाग ४०००० प्रमाण उनके बहुश्रुत शिष्य श्री जिनसेन स्वामी द्वारा ८९४ स० में पूर्ण हुआ। श्री जिनसेन स्वामी ने महापुराण तथा पार्श्वाभ्युदय की भी रचना की। आप भी महापुराण की रचना पूर्ण नही कर सके। १–४२ पर्व तथा ४३ वे पर्व के ३ श्लोक ही आप लिख सके। अवशिष्ट भाग तथा उत्तरपुराण की रचना उनके सुयोग्य शिष्य श्री गुणभद्राचार्य द्वारा हुई। गुणभद्र का आत्मानुशासन नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसके ३७२ श्लोकों में भवभ्रान्त पुरुषो को आत्मतत्त्व की हृदयग्राही देशना दी गई है।

इसी समय जिनसेन द्वितीय हुए जिन्होंने १२००० श्लोक प्रमाण हरिवंशपुराण वि० सं० ८४० में पूर्ण किया। आप पुन्नाटगण के आचार्य थे। ९ वीं शती में श्री विद्यानन्द स्वामी हुए जिन्होने तत्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिकभाष्य व आप्तमीमासा पर अष्टसहस्री टीका तथा प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा एवं युक्त्यनुशासन टीका आदि ग्रन्थ बनाये। आपके बाद जैन समाज में न्यायशास्त्र का इतना बहुश्रुत विद्वान् नही हुआ ऐसा जान पड़ता है। अनन्तवीर्य आचार्य ने सिद्धविनिश्चय की टीका लिखी जो दुर्बोध ग्रन्थियो को सुलझाने में अपना खास महत्व रखती है। शाकटायन व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति के रचयिता श्री शाकटायनाचार्य भी इसी शताब्दी में हुए है। ये यापनीय संघ के थे। आपका द्वितीय नाम पाल्यकीर्ति भी था।

१० वीं शती के प्रारम्भ में जयसिंहसूरि श्वेताम्बराचार्य ने धर्मोपदेशमाला की वृत्ति बनाई। वह शीलांकाचार्य भी इसी समय हुए जिन्होंने कि आचाराग और सूत्रकृतांग पर टीका लिखी है। उप-मितिभवप्रपञ्च की मनोहारिणी कथा की भी रचना इसी दसवी शताब्दी में हुई है। यह रचना श्री सिद्धर्षि महर्षि ने ६६२ सवत् में श्री मालनगर में पूर्ण की थी। सं० ६८६ में दिगम्बराचार्य श्री हरिषेण ने बृहत्कथाकोष नामक विशाल कथाग्रन्थ की रचना की है। जैनेन्द्रव्याकरण की शब्दार्णव टीका की रचना भी इसी शताब्दी में हुई मानी जाती है। टीका के रचयिता श्री गुणनन्दी आचार्य हैं। परीक्षा-मुख के रचयिता श्री माणिक्यनन्दी इसी शताब्दी के विद्वान् है। परीक्षामुख न्यायशास्त्र का सुन्दर-सरल सूत्रग्रन्थ है।

११ वी शती के प्रारम्भ में सोमदेवसूरि अद्वितीय प्रतिभा और राजनीति के विज्ञाता हुए हैं। आपके यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृत अद्वितीय ग्रन्थ है। यशस्तिलक चम्पू का शाब्दिक तथा आर्थिक विन्यास इतना सुन्दर है कि उसे पढ़ते-पढते कभी तृप्ति नही होती। नीतिवाक्यामृत नीतिशास्त्र का अलौकिक ग्रन्थ है, जो सूत्रमय है और प्राग्वर्ती नीतिशास्त्र-सागर का मन्थन कर उसमें से निकाला हुआ मानो अमृत ही है।

महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, कवि की नैसर्गिक वाग्धारा में बहने वाला अतिशय सुन्दर महाकाव्य है। महासेन का प्रद्युम्नचरित और आचार्य वीरनन्दी का चन्द्रप्रभचरित भी इसी ११ वी शती की श्लाघनीय रचनाएँ है। इसी शती के उत्तरार्ध मे अमितगतिनामक महान् आचार्य हुए जिनकी सरस लेखनी से सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, अमितगतिश्रावकाचार, पञ्चसग्रह मूलाराधना पर संस्कृत भाषा-नुवाद, आदि कर्मग्रन्थ निर्मित हुए। धनपाल का तिलकमञ्जरी नामक गद्यकाव्य इसी शती में निर्मित हुआ। दिगम्बराचार्य वादिराज मुनि के पार्श्वनाथचरित, न्यायविनिश्चय विवरण, यशोधरचरित, प्रमाण-निर्णय, एकीभावस्तोत्र, आदि कई ग्रन्थ इसी शती के अन्त भाग में अभिनिर्मित हुए है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार, प्रवचनसार, और पञ्चास्तिकाय पर गद्यात्मक टीकाओ के निर्माता तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय और तत्त्वार्थसार आदि मौलिक रचनाओं के प्रणयिता आचार्य प्रवर अमृत चन्द्रसूरि इसी शती के उत्तरार्ध के महाविद्वान् है। शुभचन्द्राचार्य जिनका ज्ञानार्णव यथार्थ में ज्ञान का अर्णव-सागर ही है, और जिनकी लेखनी गद्य-पद्य रचना में सदा अव्याहत गति रही है,इसी समय हुए हैं। माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्र पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक विवरण लिखनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्रभाचन्द्राचार्य इसी शताब्दी के विद्वान् है।

बाणभट्ट की कादम्बरी से टक्कर लेने वाली गद्यचिन्तामणि के रचयिता एवं क्षत्रचूड़ामणि काव्य में पद-पद पर नीतिपीयूष की वर्षा करने वाले वादीभसिंहसूरि बारहवीं शती के पूर्वभागवर्ती आचार्य हैं।

अत्यन्त प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् हेमचन्द्राचार्य ने भी इसी शताब्दी में अपनी अनुपम कृतियों से भारतीय संस्कृत साहित्य का भाण्डार भरा है। आपके त्रिषष्टिशला का पुरुषचरित, कुमारपालचरित,

प्रमाणमीमांसा, हेमशब्दानुशासन, काव्यानुशासन आदि अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आपकी भाषा में प्रवाह और सरसता है।

१३ वीं शती में दि० सम्प्रदाय में श्री पं० आशाधर जी एक अतिशय प्रतिभाशाली विद्वान् हो गये हैं। उनके द्वारा दिगम्बर संस्कृत साहित्य का भाण्डार बहुत अधिक भरा गया है। न्याय, व्याकरण, धर्म, साहित्य, आयुर्वेद आदि सभी विषयो में उनकी अक्षुण्ण गति थी। उनके मौलिक तथा टीका आदि सब मिलाकर अब तक १९–२० ग्रन्थों का पता चला है। इनके शिष्य श्री कवि अर्हद्दास जी थे जिन्होंने पुरुदेव चम्पू तथा मुनिसुव्रतकाव्य आदि गद्य-पद्य ग्रन्थो की रचना की है। उनके बाद दि० मेधावी पण्डित ने १६ वीं शताब्दी में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना की।

उपसंहार—

इसके बाद समय के प्रताप से संस्कृत साहित्य की रचना उत्तरोत्तर कम होती गई। परन्तु इस रचनाह्रास के समय भी दि० कविवर राजमल जी जो कि अकबर के समय हुए पञ्चाध्यायी, लाटी-संहिता, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, जम्बूचरित आदि अनुपम ग्रन्थ जैन संस्कृत साहित्य की गरिमा बढ़ाने के लिए अर्पित कर गये। यह उपलब्ध जैन संस्कृत साहित्य का संक्षिप्ततर विकासक्रम है।

जैन काव्य और पुराणों में शृंगार-रस

श्री पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम०ए०, शास्त्री

प्रस्तावना –

अलकार शास्त्र के बडे-बड़े आचार्यों ने सर्वसम्मति से शृगार और वीररस को ही काव्य के लिए प्रधान रस माना है। महाकाव्य के लिए तो दोनो में से एक रस का होना आवश्यक है। इसके अभाव मे कोई भी काव्य उच्चकोटि का काव्य नही माना जा सकता। यह दृष्टिकोण महाकवि कालिदास के पीछे और भी दृढ हो गया। और इनका अस्तित्व काव्य की श्रेष्ठता के लिए कसौटी बन गया। यही कारण है कि सस्कृत मे जितने भी काव्य और नाटक है वे सब अधिकांश में इन्ही दोनों रसो को आधारभूत बताते हैं।

जैन–नायक

जैन-काव्य और पुराणों के चरित्र नायक बड़े-बड़े महापुरुष अथवा तीर्थंकर होते है जिनका जन्म ससार के कल्याण के लिये होता है। जो संसार को हित का मार्ग निर्दिष्ट करते हैं, इसलिए ऐसे काव्यो में शृंगार अथवा वीर रस को प्रधानता देना बडा मुश्किल है। ऐसे काव्यो का उद्देश्य जनता को उत्तम मार्ग अथवा मोक्ष मार्ग प्रदर्शित करना होता है न कि सासारिक झगड़ों अथवा भोगों में फँसा कर कर्तव्य से च्युत करना। यही कारण है कि जैन काव्य प्रायः अपने चरित्रनायको के पूर्ण जीवन का ही वर्णन नहीं करते किन्तु उनके पूर्व भव तथा साथ में अन्य घटनाओं का भी वर्णन करते है। जैन काव्य और पुराण शिक्षाप्रधान होते हैं न कि कथा-प्रधान।

लेकिन यह बात भी नहीं है कि जैनकाव्यों और पुराणों में नायक के जीवन की उन्हीं घटनाओं का वर्णन किया जाता जो केवल शिक्षा-प्रधान ही हो, किन्तु गौण रूप से उनके बाह्य जीवन के सभी विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है। आदिपुराण, पाण्डवपुराण, विमलपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि प्रसिद्ध महापुराण तथा धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभचरित्र, नेमिनिर्वाण, पार्श्वनाथचरित्र, वरांगचरित्र, प्रद्युम्नचरित्र आदि महाकाव्य इस बात के द्योतक हैं। इन काव्य और पुराणों में नदी, पहाड़, वन, सागर, सन्ध्या, शहर, बाजार आदि की सुन्दरता का वर्णन ही नहीं किया गया है किन्तु विवाह, सौन्दर्य, भोग-विलास, आदि शृंगार से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर भी खुल करके लेखनी चलायी गयी है। इनका

वर्णन करने में सर्ग के सर्ग और अध्याय के अध्याय समाप्त हो गये हैं। जब हम इन वर्णनों को पढ़ते हैं तब मालूम पड़ता है कि लेखक वास्तव में साधु न होकर संसारी है। मेघदूत, शिशुपालवध, रघुवंश, नैषधचरित्र आदि महाकाव्यों में जो शृंगार-रस का वर्णन किया गया है तथा जहाँ नख-शिख तक वर्णन करने में ही कवि ने सर्ग के सर्ग पूरे कर दिये है उसी प्रकार जैन काव्यों के कवियों ने भी अपने काव्यों में इस प्रकार वर्णन करने में कही कही तो सर्ग के सर्ग समाप्त कर दिये हे। युवती के सौन्दर्य और वेशभूषा के वर्णन करने मे जैन महाकवि किसी से पीछे नही रहे यह बात आश्चर्य में डालने वाली है।

पुराणों में शृंगार-वर्णन—

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य राजकुमार वज्रजघ और उसकी श्रीमती की क्रीड़ाओं का कितना स्पष्ट वर्णन करते है, यह पढ़ने योग्य है :—

मद्रुपाणितले स्पर्शं रसगधौ मुखाबजे।
शब्दमालपिते तस्यास्तनी रूप निरूपयन्
सुचिर तर्पयामास सोऽक्षग्राममशेषत.।
सुखमैद्रियक मेप्सोर्ग. गति नति. परागिनः
काचीदाम महानाग सश्रद्धे नौ दुर्गमदे।
रमे तस्या करिस्याने महतीव निधानके॥
कचग्रहैर्मदीयोत्रिः कर्णोत्पल विताडितैं।
अभूत मणपकोपोस्या यूपून. मोत्यं सुखाय च॥

अर्थात् राजकुमार वज्रजघ श्रीमती की कोमल हथेली के स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय के सुख का अनुभव करता था। उसके मुखकमल से मधुरस और सुगधि का आस्वादन लेता हुआ रसना और घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करता था। उसके मधुर शब्दो को सुनकर कानों को तथा शरीर को देख कर आँखों को तृप्त करता था। इस प्रकार वह अपनी पाँचो इन्द्रियो को चिरकाल तक तृप्त करता रहा। करधनी रूपी महासर्प से घिरे हुए और इसलिए ही अन्य पुरुशो के द्वारा अप्राप्त ऐसे किसी बड़े खजाने के समान उसके कटि भाग पर भी वह क्रीड़ा करता था। अत्यन्त कोमल केशो को पकड़ने से तथा कोमल कर्ण-फूल रूपी कमलों की ताड़ना से श्रीमती को जो मणयकोप होता था उससे वज्रजंघ को बहुत ही सतोष और सुख होता था।

उक्त वर्णन से भी अधिक स्पष्ट वर्णन रविषेणाचार्य ने पद्मचरित (पद्मपुराण) के १६ वें सर्ग में किया है :—

अन्य केनापि वेगेन परायत्तो कृतात्मना।
गहीता दपिता गाढं पवनेनाब्जकोमला॥१॥
तपा तयो रतिः माप्ता दंपत्योर्वद्धिमुत्तमां।

काले तत्र हि यो भावो नं वाख्यातुं समर्थ्यते ॥२॥
तिष्ठ मुञ्च गृहाणेति नानाशब्दसमाकुलं ।
तयो युद्धमिवोदारं रतमासीत् सविभ्रम ॥३॥

अर्थात् —अपने आपको किसी विशेष शक्ति से पराधीन बनाकर वायु से प्रकम्पित कमल के समान कोमल अपनी स्त्री का गाढालिंगन कर लिया। इस प्रकार दोनों दम्पती के उस संभोगकाल में जो जो भाव हुए उनको कवि भी कहने में समर्थ नहीं है। ठहर, छोड़ो, पकड़ो आदि नाना प्रकार के शब्दों में व्याप्त उन दोनों पति-पत्नियों में युद्ध होता रहा।

सौन्दर्य-चित्रण—

यही नहीं है कि जैन महाकवियों तथा आचार्यों ने संभोग शृंगार का ही वर्णन किया हो किन्तु अनेक स्थलों पर नायिक और नायिकाओं के सौन्दर्य-वर्णन में जो कवित्व दिखलाया है वह भी किसी अन्य कवि से कम नहीं है। हरिवंशपुराण में जिनसेनाचार्य (द्वितीय) ने सत्यभामा के सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार किया यह देखिये :—

रतिमिव रतिमालो रूपतो रेवती स्वा
दुहितरमतिकांतां देहजां ज्यायमेऽस्वात् ।
अतिमुदित सुकेतुः सत्यभामा मभायाः,
स्वयमुदपदवरया गर्भजा केशवाय ॥१॥

इसी प्रकार महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के १७ वें सर्ग में राजकुमारी के सौन्दर्य का अनूठा वर्णन किया है :—

अहो समुन्मीलति धातुरेषा शिलाक्रियायाः परिणाम रेखा ।
जगद्वयं मन्मथ वैजयन्त्या यया जयत्येष मनुष्यलोकः ॥१॥
धनुर्लता भ्रूरिषवः कटाक्षाः स्तनौ च सर्वस्वनिधानकुम्भौ ।
सिंहासनं श्रेणिरतुल्यमस्याः किं किं न योग्यं स्मरपार्थिवस्य ॥२॥

अर्थात्—राजकुमारी का सौन्दर्य विधाता की निर्माणकुशलता की अन्तिम परिधि है, जिसने अपने कामबाणों से इस मनुष्यलोक को ही नहीं किन्तु दोनों लोकों को जीत लिया है। जिसके प्रत्येक अंग कामदेव के लिये अस्त्रों के समान है अर्थात् जिसके भौंहें धनुषबाण की डोरी है, कटाक्ष बाण हैं तथा स्तन सर्वस्व के भंडार कुम्भ के समान हैं।

प्रद्युम्नचरित्र में महाकवि महासेनाचार्य ने काव्य के चरित्रनायक के सौन्दर्य का वर्णन भी उत्कृष्ट रीति से किया है। प्रद्युम्न कामदेव है और वह प्रत्येक रमणी के चित्त को आकृष्ट करता है। सुन्दर युवतियाँ जिसे देखकर कामदेव को देखने का मनोरथ पूरा हुआ समझती हैं।

रतिकामयो युगमभ्युष्म परं
विषयीकृतं तदधुना आत्मवशा ।
दयितेयमत्र खलु पुष्पवती
सखि चाम्य निर्वृतिकरी भविता ।। ८।१०४।।

यही नहीं है कि जैनकवियों ने एक युवती अथवा युवक की सुन्दरता का अथवा उसके हाव-भावों का वर्णन किया हो किन्तु नगरी सौन्दर्य, बसन्त, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन भी उत्तम रीति से किया है ।

कुण्डनपुर में रात्रि को चन्द्रकांतमणियां चन्द्रमा की किरणों के संयोग से घरों के अग्रभाग में स्त्रियों के पसीने की तरह बहा करती थी । उसी प्रकार दिन में सूर्यकांत मणियों के संसर्ग से स्त्रियां महलों में विरक्त स्त्रियों के समान मालूम पड़ती थी ।

चन्द्रकांतकरस्पर्शाच्चंद्रकांत शिलाः निशि ।
द्रवंति यद् गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः ।।१।।
सूर्यकातकरासंगात् सूर्यकाताग्रकोटयः ।
स्फुरंति यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषितः ।।२।।

—हरिवंशपुराण

चन्द्रप्रभचरित्र में महाकवि वीरनन्दि ने तीसरे सर्ग में नगरवर्णन, ८ वें सर्ग के सम्पूर्ण भाग में बसन्तवर्णन, ६ वर्ग सर्ग में उपवनयात्रा, उपवनविहार और जलकेलि वर्णन किया है इसी प्रकार नेमि-निर्वाण काव्य के पाँच सर्ग बसन्त, जलक्रीड़ा, पर्वत, मधुपान और चन्द्रोदय आदि के वर्णन करने में ही समाप्त हो गये हैं ।

इस प्रकार जैनकाव्यों का कथानक श्रेष्ठ बन गया है । शृंगार और वीर-रस का पुट होने से काव्य विस्तृत आकार के ही नहीं हो गये हैं, किन्तु मध्यकालीन युग के अनुसार महाकाव्य की कसौटी पर भी रखे जा सकते हैं । महाकाव्यों के नायक जब सुख भोगने लगते हैं तब इतने अधिक आनन्द लूटते हैं कि उनके सामने इन्द्र के सुख भी फीके पड़ जाते हैं । इनकी जलक्रीड़ा, वनविहार सुख, आदि की क्रीड़ाएँ बड़े-बड़े सम्राटो के दिल में ईर्ष्या पैदा करने वाली हो जाती हैं । किन्तु जब संसार से उदासीन बन जाते हैं तब उनको पहिले भोगे हुए सभी भोग-विलास व्यर्थ और निकम्मी वस्तु मालूम देते हैं । और वे उनकी ओर अपना ध्यान भी आकृष्ट नही कर सकते । वे बिना किसीसे सम्मति लिये मोक्षरूपी लक्ष्मी को वरण करने के लिये तैयार हो जाते हैं । स्वयं संसार से छुटकारा प्राप्त करके दूसरे संसारी जीवों को संसार से पिण्ड छुड़ाने का उपदेश देते हैं ।

जैन-काव्यों की व्यापक-चेतना—

कहने का तात्पर्य है कि जैनकाव्य और पुराण सर्वांगीण हैं । विद्वानों की जो यह धारणा थी अथवा है कि जैन काव्यों में केवल वैराग्य के उपदेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा उनमें शृंगार और वीर आदि रसों का कहीं लेश भी नहीं है यह धारणा निर्मूल है । इस लेख से पाठक जान सकेंगे कि जैन काव्यों और पुराणों का विषय अन्य काव्यों की तरह कितना सर्वांगीण होता है ।

जैन-चम्पू

पं० श्री अमृतलाल, जैन-दर्शन-साहित्याचार्य

काव्य की श्रेष्ठता--

मनुष्य के अन्दर कल्पनाओं और विचारों की शाश्वत धारा का अनुभव है। उसकी कल्पना और विचार भाषा और ज्ञान की संतुलित प्रेरणा से मुखरित होते हैं। अपनी भावनाओं की विपुलराशि को मानव की चेतना कविता या काव्य के रूप में ग्रहण करती है। अपने द्वारा लिखित या व्यक्त कविता-धारा में वह अपने जीवन-तत्त्वों, सवर्ष और आनन्द की सामूहिक सौन्दर्य-सृष्टि को तरंगित देखता है। सौन्दर्य से प्रेरित उसकी अनुभूतियाँ अपनी व्याख्या खोजती हैं और इस रूप में कविता दो कदम और बढ़ जाती है। कविता में जीवन का सर्वाङ्गीन निरूपण होने लगता है, मनुष्य के मनोवेगो और कल्पनाओं में जीवन की व्याख्या होने लगती है। आगे चलकर विषय और प्रतिपादन की विविध रीतियाँ मानव-हृदय को स्पर्श करती हे और उनके रूप-सौष्ठव द्वारा आनन्द का उद्रेक होने लगता है। कविता सांसारिक पदार्थों को रागात्मक तथा आध्यात्मिक भावना से रंजित करके हमारे सम्मुख उपस्थित करने लगती है। वह कल्पना शक्ति से प्रस्तुत सत्ता को काल्पनिक सत्ता का और काल्पनिक सत्ता को वास्तविक सत्ता का रूप देने लगती है। कविता की धारा तल-अतल सभी को अनुप्राणित करती हुई मूल्यांकन की समाधि में लीन हो जाती है और तभी कविता या काव्य की श्रेष्ठता का विचारणीय प्रश्न सम्मुख आता है।

काव्य के प्रसार-तत्त्व की व्यापकता को निरख कर हम यही कह सकते हैं कि संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य-ज्ञान भलीभाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनन्द प्राप्त करें तथा उसके मर्म को समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य-रूप को पूरा-पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतर्वृत्तियों की समष्टि भी कहते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अन्तःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और इसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नष्ट अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जातिविशेष का मस्तिष्क या अन्तःकरण है जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना, और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसीकी

सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेन्द्रियों के सब संदेश बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते हैं वैसे ही काव्य के बिना—पूर्वसंचित ज्ञान-भांडार के बिना मानव-जीवन की कतई सार्थकता नहीं। अतः जीवन के सात्विक और बहुमुखी विकास के लिए काव्य की श्रेष्ठता अपरिहार्य है।

शास्त्रों की स्वर्णिम परम्परा के बीच काव्य भी शास्त्र हैं। और प्राचीन ग्रन्थों में इसकी संज्ञा काव्य-शास्त्र ही है। अन्य शास्त्र केवल एक विषय को लेकर चलते है, किन्तु अलकार शास्त्र के निर्देशानुसार काव्य नाना विषयों को साथ लेकर चलते है। इसीलिए काव्य-शास्त्र भी उपादेय समझे गये और उनके साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग हुआ। संवेदनशील और व्यापक जीवन की भूमिका का निर्माण शास्त्र करते है और काव्य-शास्त्र उनकी अव्यक्तता को मुखरित करता है।

काव्य के भेद—

काव्य का आनन्द उसकी समग्रता और सम्पूर्णता की उपलब्धि मे है। यह उसके भेदों के ज्ञान पर ही अवलबित है। काव्य के अन्तर्गत केवल उन्ही रचनाओ की गणना होती है जिनमें कवित्व का मूल-तत्व वर्तमान हों ऐसे रचनाएँ गद्य-पद्य दोनो मे हो सकती है। कुछ परम्परा के अनुयायी केवल पद्यात्मक रचनाओ को ही काव्य मानते है, परन्तु ऐसा करके वे आकार को, बाहरी ढाचे को प्रधान मान लेते है, आत्मा की—कविता के मूल तत्व की—उपेक्षा कर बैठते है। वास्तव में कविता के विशिष्ट गुणो से युक्त कथन को चाहे वह पद्य में हो चाहे गद्य में, काव्य कहना अधिक युक्तिपूर्ण है। परन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी है जो गद्य और पद्य दोनों में होती है और ऐसी ही रचनाओ को 'मिश्रकाव्य' या 'चम्पू' कहते है। ऐसे प्रयोजन की दृष्टि से काव्य के भेद दृश्य और श्रव्य और इनके भेद है पर संक्षेप में काव्य के तीन भेद ही हुए—पद्य, गद्य और मिश्र। वागभट्ट ने अपने काव्यानुशासन में इसके लिए सूत्र लिखा है—"तच्च पद्यगद्य मिश्र–भेदं स्त्रिधा" (अध्याय प्रथम पृष्ठ १५)। यहाँ 'तत्' पद का अर्थ काव्य है। 'मिश्र' से नाटक आदि तथा चम्पू को ग्रहण करना चाहिए। रसात्मक आनन्द की विविधता की अनुभूति चम्पू में ही सभव है और इससे मानव की अस्थिर भावना का एकांकी विकास होता है। काव्य को विशाल परिधि के भीतर चम्पू की क्यारियाँ सौन्दर्य के फूलो से अधिक लद जाती है। अतः चम्पू काव्य की आत्मा को अधिक चित्रात्मकता और प्रांजलता प्रदान करता है और इससे काव्य विशेष रूप में जीवन्त रहता है।

चम्पू का लक्षण—

सबसे पहले चम्पू का लक्षण आठवीं शताब्दी में महाकवि दण्डी ने किया है—'गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपिविद्यते' काव्यादर्श पृ० ८ श्लोक ३१। दण्डी के बाद हेमचन्द्र ने १२ वीं शताब्दी में और वाणभट्ट ने १४ वीं शताब्दी में अपने-अपने काव्यानुशासन में "गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासाचम्पूः" यह लक्षण किया है।

दण्डी के लक्षण में 'सांका' और 'सोच्छ्वास' पद नहीं हैं, उत्तरवर्ती दोनों आचार्यों के लक्षणों में हैं, इसका मुख्य कारण यह है कि दण्डी के सामने कोई चम्पू काव्य नहीं बना था। चम्पू काव्य सबसे पहले ई० सन् ९१५ में लिखा गया। इसका नाम है नलचम्पू। हेमचन्द्र और वाग्भट ने इसका 'दमयन्ती कथा के नाम से उल्लेख किया है। नलचम्पू का ही दूसरा नाम दमयन्ती कथा है, जो स्वयं उसके रच-यिता ने लिखा है। इस चम्पू में ७ उच्छ्वास हैं और प्रत्येक उच्छ्वास के अन्त में 'हरचरण सरोज' पद लिखा गया है। यही इसका 'अंक' है। यद्यपि हेमचन्द्र के सामने सोमदेव सूरि (ई० ९५९) का यश-स्तिलक भी था, किन्तु उन्होंने इसके अनुसार चम्पू का लक्षण नहीं बनाया। यशस्तिलक मे 'अंक' नहीं है और न उच्छ्वास। उच्छ्वास के स्थान में आश्वास है। बाद के विद्वानों ने सोमदेव का ही अनुगमन किया। फलत: किसी अन्य चम्पू में अंक नहीं। अधिकांश चम्पूओं में आश्वास हैं। कुछ में स्तवक भी हैं। इसीलिए विक्रम की चौदहवी शती के विद्वान् कविराज विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में—"गद्य-पद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते" षष्ठ परिच्छेद पृ० ३२६ पर यह लक्षण किया। यह लक्षण सभी चम्पुओं में घटित हो जाता है।

चम्पू का प्रचार—

यो कोई भी काव्य अन्य शास्त्रों की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर होता है; पर चम्पू की मधुरता सभी काव्यों से निराली होती है। महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धर चम्पू में लिखा है:—

> गद्यावलि: पद्य परम्परा च प्रत्येकमप्यावहतिप्रमोदम् ।
> हर्ष-प्रकर्षं तनुते मिलित्वा, द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ।। पृ० २

गद्य हो चाहे पद्य, दोनो आनन्द जनक होते हैं, किन्तु दोनो जब मिल जाते हैं तो वय:सन्धि में स्थित नवयुवती के समान बहुत अधिक आनन्द प्रदान करते हैं। यही कारण है कि जो बाद में अनेक चम्पू रचे गये—नलचम्पू (ई० ९१५) यशस्तिलक (ई० ९५९) चम्पू रामायण (ई० १०५०) जीवन्धर चम्पू (ई० १२००) चम्पूभारत (ई० १२००) पुरुदेव चम्पू (ई० १३००) भागवत चम्पू (ई० १३४०) आनन्द-वृन्दावन चम्पू (ई० १६ शतक) पारिजातहरण चम्पू (ई० १५९०) नीलकण्ठ चम्पू (ई० १६३७) विश्वगुणादर्शचम्पू (ई० १६४०) और गजेन्द्र चम्पू (ई० १८५०) आदि।

जैन चम्पू—

यशस्तिलक चम्पू, जीवन्धर चम्पू और पुरुदेव चम्पू ये तीन चम्पू ही अभी तक प्रकाशित हो सके हैं। इन तीनों के रचयिता दि० जैन थे। भाण्डारो में खोजने पर अभी और भी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के बनाये चम्पू उपलब्ध हो सकते हैं।

इनका विषय और आधार—

पहले चम्पू में राजा यशोधर, दूसरे में जीवन्धर और तीसरे में भगवान् आदिनाथ का वर्णन है। जैनेतर काव्य रामायण, महाभारत और १८ पुराणों के आधार से बनाये गये हैं और जैन-

काव्य जैन पुराणों के। उक्त चम्पुओं के आधार भी जैन पुराण हैं। दूसरे और तीसरे चम्पू का आधार जिनसेन का महापुराण है। जीवन्धर की कथा जिनसेन के पहले किसी भी दि० अथवा श्वेताम्बर ग्रन्थ में नहीं लिखो गयी। तीसरे चम्पू का तो मुख्य लक्ष्य यही था कि महापुराण का सार चम्पू सब में प्रस्तुत किया जाय।

इनकी विशेषता—

प्रथम चम्पू (यशस्तिलक) के रचयिता सोमदेव सूरि हैं। इन्होंने इस चम्पू के अन्त में अपना समय शक सं० ८८१ लिखा है। इनके गु महान् तार्किक थे। इन्होंने ६३ वादियों को शास्त्रार्थ में हराया था। गुरु के समान सोमदेव सूरि भी प्रमुख तार्किक थे। यह तृतीय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सामन्त चालुक्य वंश के द्वितीय अरिसिंह के सभापण्डित थे। इनके ग्रन्थों के अध्ययन से इस बात का स्पष्ट बोध हो जाता है कि ये बहुश्रुत विद्वान् थे। वेद, पुराण, धर्म, स्मृति, काव्य, दर्शन, आयुर्वेद, राजनीति, गज-शास्त्र, अश्वशास्त्र, नाटक और व्याकरण आदि के यह मर्मज्ञ थे। इसीलिए इनका चम्पू वर्तमान में उपलब्ध सभी चम्पुओं से उत्कृष्ट सिद्ध हुआ। इस चम्पू काव्य के बारे में स्वय कवि ने लिखा है:—

> असहायमनादर्शं रत्न रत्नाकरादिव।
> मत्तः काव्यमिदं जात सता हृदयमण्डनम् ॥१४॥ प्र० आ०

मेरा यह काव्य समुद्र से उत्पन्न रत्न के समान सज्जनो के हृदय का आभरण है। रत्न अपनी उत्पत्ति में दूसरे रत्न का सहारा नही लेता और न किसीको आदर्श मानकर ही उत्पन्न होता है। इसी तरह इस काव्य का जन्म भी असहाय–मौलिक और अनादर्श–बेजोड है। अनादर्श का एक अर्थ बिना टीका वाला भी है। यह अर्थ भी ठीक है; क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वय इसकी टीका नही की। इसकी टीका तो श्रुतसागर ने की है।

प्रस्तुत चम्पू काव्य में अनेक विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह सभी जैन और जैनेतर चम्पू काव्यों में श्रेष्ठ है। इस काव्य का गद्य कादम्बरी के समान है। गद्यकाव्य की रचना में बाण के बाद सोमदेव का ही नम्बर हो सकता है और पद्य रचना अत्यन्त सरल है इसलिए अश्वघोष महाकवि की रचना के बाद इसे दूसरा नम्बर मिल सकता है।

प्रस्तुत काव्य में जितने विषयों का वर्णन है उतने विषयों का वर्णन उपलब्ध किसी अन्य काव्य में नही है। प्रत्येक काव्य में एक निश्चित नायक रहता है। उसीका चरित चित्रित करना उसके रचयिता का मुख्य लक्ष्य रहता है। अन्य चम्पू काव्यों में अलंकारमयी भाषा में केवल नायक की कथा ही लिखी गयी है। विद्वान् संसार में नलचम्पू और भारतचम्पू का विशेष नाम है। नलचम्पू में राजा नल की कथा लिखी गयी है और भारतचम्पू मे महाभारत की। दोनों चम्पुओ में कहीं कही श्लेष का प्रयोग किया गया है इसीलिए इनका महत्त्व विशिष्ट समझा गया। किन्तु दोनों के श्लेष से यशस्तिलक का श्लेष कहीं श्रेष्ठ है। प्रस्तुत चम्पू में सोमदेव ने उन शब्दों का प्रयोग किया जो अन्य काव्यों में नहीं है। यशस्तिलक में सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जो कोषों में भी नहीं हैं। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ये बहुत महत्वपूर्ण हैं।

प्रसङ्ग पाकर सोमदेव ने पृ० २५ पर नृग, नल, नहुष, भरत, भगीरथ और भगदत्त, इन पौराणिक पराक्रमी नरेशों का उल्लेख किया है। इतने नाम एक साथ मुझे किसी जैनेतर काव्य में नहीं मिल सके। यह उल्लेख सोमदेव की पौराणिक योग्यता का द्योतक है।

एवं पृ० ११३ आश्वास ४ में कवि ने प्रसङ्गतः उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर इन महाकवियों का उल्लेख किया है। यह इनके महाकाव्यों के गहरे अध्ययन का परिचायक है। ये नाम भी किसी जैनेतर काव्य में एक साथ नही लिखे गये और न इतिहास में ही।

मोक्ष का स्वरूप लिखते समय पृ० २६९ आश्वास ६ में सैद्धान्तवैशेषिक, तार्किकवैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, साख्य दशबलशिष्य, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादी, शाक्यविशेष, कणाद, तथागत और ब्रह्माद्वैतवादी, इन दार्शनिको के मत का उल्लेख किया है। यह उल्लेख भी इनकी दार्शनिक विद्वत्ता का द्योतक है।

प्रसंगत· बीच बीच में ग्रन्थकार ने इस काव्य में नाटको के समान रचना की है—(प्रकाशम्) अम्ब ! न बालकेलिष्वपि मे कदाचित् प्रतिलोमतांगतासि। पृ० १४० आश्वास ४।

राजा (स्वगतम्) अहो महिलाना दुराग्रहनिखग्रहाणि परोपघाताग्रहाणि च भवन्ति प्रायेण चेष्टितानि। पृ० १३५ आश्वास ४ यह रचना ग्रन्थकार के नाटक के अध्ययन को सूचित करती है। ऐसी रचना अन्य किसी चम्पू में नही है।

सुभाषितों की दृष्टि से भी यह चम्पू श्रेष्ठ है। इसके अनेक सुभाषित तो सुभाषित ग्रन्थो में भी उद्धृत किये गये हैं। सुभाषितरत्नभाण्डागार के सामान्य नीतिप्रकरण में :—

> नि सारस्य पदार्थस्यप्रायेणाडम्बरो महान्।
> नहि स्वर्णे ध्वनिस्ताहम् यादक् कास्ये प्रजायते ॥११४॥ पृ० १६२

यह पद्य अज्ञात कवि के नाम से छपा है। यह पद्य काशस्तिलक पृ० १० का ३५ वें नम्बर का पद्य है। इसी तरह और भी अनेक पद्य है। यदि इस पुस्तक के सुभाषित संकलित किये जाँय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक बन सकती है।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि यह उपलब्ध सभी चम्पुओं से श्रेष्ठ है। यदि केवल कलेवर की दृष्टि से ही तुलना की जाय तो भी कोई चम्पू बाजी नही मार सकता।

बीच २ में आयी हुई राजनीति की चर्चा से भी प्रस्तुत चम्पू की शोभा बढ़ गयी है।
यदि केवल जैन काव्यों से ही इसकी तुलना की जाय तो इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

प्रस्तुत चम्पू की गद्यरचना तिलकमञ्जरी और गद्यचिन्तामणि से अच्छी है और पद्यरचना हरिचन्द्र को छोड़कर अन्य कवियों की रचना से।

विषय की दृष्टि से देखा जाय तब तो कोई भी काव्य इसकी समता की क्षमता नहीं रखता। द्वितीय आश्वास १०५ पद्य से लेकर १५७ श्लोक पर्यन्त कविने द्वादश (१२) अनुप्रेक्षाओं की बहुत ही रोचक रचना की है । यह इनकी रचना बिल्कुल मौलिक है। इनके पहले प्राकृत में ही इनकी (अनुप्रेक्षाओं की) रचना की गयी। इनके बाद तो अनेक विद्वानों ने संस्कृत में भावनाओं की रचना की है ।

श्रावकाचार की दृष्टि से देखा जाय तो समन्तभद्र के बाद इन्हीं के इस चम्पू में इतने विस्तार और मौलिकता से लिखा गया है । यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासों में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है । पाँचवें आश्वास के अन्त में सोमदेव ने लिखा है :—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधर नृपस्य ।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठित मुपासकाध्ययनम् ।।

अर्थात् इतने ग्रन्थ में मैंने राजा यशोधर का चरित लिखा, अब इसके आगे उपासकाध्ययन लिखूंगा । इनका यह प्रकरण भी बहुत महत्त्वशील है। आचार्य हेमचन्द्र और आशाधर आदि उत्तरवर्ती अनेक श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों में प्रमाण रूप से इसके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं । हंसदेव आदि अनेक धर्माचार्यों के सोमदेव ने प्रसगत: यशस्तिलक में नाम लिखे है, जिनके अभी तक कोई ग्रन्थ नही मिल सके ।

जैन-मुनियों की तपस्या का वर्णन भी प्रस्तुत चम्पू मे अत्यन्त सुन्दर ढग से किया गया है। यह भी इसकी खास विशेषता है । यद्यपि सभी काव्यो में किसी न किसी प्रकरण में साधु-महात्माओ का वर्णन होता है, किन्तु यशस्तिलक का ढंग ही अलग है ।

पृ० ५५ से ७६ तक जैनाचार्य सुदत्त की तपस्या का अत्यन्त ही रोचक वर्णन किया है । शीत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में वह खुले मैदान में खडे रहते थे । इस प्रसंग मे ऋतुओ का वर्णन भी अनुसंगत हो गया । इस ढंग का वर्णन किसी अन्य जैन-ग्रन्थो में मौजूद नही है ।

ग्रन्थ में बीच बीच में रसों का प्रयोग भी सुन्दर तरीके से किया गया है । छन्दो की सिद्धि भी कवि को खूब थी । चतुष्पदी और घत्ता आदि छन्दों का प्रयोग मेरी दृष्टि में अन्य किसी जैन या जैनेतर काव्य में नही आया । ज्यो ज्यों इस पुस्तक के पृष्ठ पलटते हैं त्यों त्यो इसकी आश्चर्यकारिणी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं । इसलिए यह सभी जैन चम्पू काव्यों में भी मूर्धन्य है ।

आचार्य सोमदेव ने अपने चम्पू में गद्य भाग में ओज गुण और पद्यभाग में प्रसाद गुण को स्थान दिया है एवं गद्यांश में गौडीया रीति और पद्यांश में वैदर्भी रीति को अपनाया है । कहीं-कहीं इसमें विपर्यास भी दिखाई पड़ता है । इसका आनन्दवर्द्धन और विषय का औचित्य कारण है ।

जीवन्धर-चम्पू

जीवन्धर चम्पू यशस्तिलक के बाद की रचना है । इसमें महाकवि हरिचन्द्र ने–जो कायस्थ थे—जीवन्धर की रोचक कथा ११ लम्बों में लिखी है । यह कथा प्रथमतः महापुराण में पद्यों में लिखी मिलती है । बाद में वादीभसिंह द्वारा क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणि में क्रमशः पद्य और गद्य रूप में लिखी गयी । इनके बाद में महाकवि हरिचन्द्र ने इसी कथा को चम्पू के रूप में लिखा । इस चम्पू में वह बात तो नहीं है जो यशस्तिलक में है किन्तु फिर भी इसकी रचना सरलता और सरसता की दृष्टि से प्रशसनीय है । इसमें अलकारों की विच्छित्ति विशेष रूप से हृदय को आकृष्ट करती है । पद्यों की अपेक्षा गद्य की रचना अधिक पाण्डित्यपूर्ण है, इसीलिए अनेक विद्वानो ने इसके रचयिता को बाण द्वारा हर्षचरित में प्रशसित भट्टारकहरिचन्द्र समझा ।

इनकी गद्य रचना देखिये–

यश्च किल सक्रन्दन इवानन्दित सुमनोगणः, अन्तक इव महिषी समधिष्ठितः, वरुण इवाशान्त रक्षणः......... । पृष्ठ ४ इस गद्यांश में कवि ने पूर्णोपमालंकार को कितने सरल ढग से रखा है । यह अलकारशास्त्र के मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं । यद्यपि यहाँ श्लेष भी है पर विश्वनाथ कविराजके कथनानुसार यहाँ श्लेष मुखेन व्यवहार न होकर पूर्णोपमा का ही व्यवहार होगा ।

यस्मिन्महीमण्डलं शासति मदमालिन्य योगो मत्तदन्तावलेषु, परागः कुसुम निकरेषु, नीचसेवना निम्नगासु, आर्तवत्व फलितवनराजिषु........ । पृष्ठ ५

यहाँ परिसख्यालंकार अत्यन्त ही सरल ढंग से आ गया है ।

यस्य च वदनतो कोपकुटिलितभ्रुकुटिघटितेऽशरणतयावनं प्रतिधावमानानां प्रतिपक्षपार्थिवानां वृक्षराजिरपि वातान्दोलित शाखाहस्तेनपतन्तिविरुतेन च राजविरोधिनोऽत्र न प्रवेष्टव्या इति निषेधं कुर्वाणा तामतिक्रामत्सु तेषु राजापराधभयेनेव प्रवातकम्पमाना बिशङ्कटकण्टकेन केशेषु कर्षतीति शंकामंकूरयामास । यस्य प्रतिपक्ष लोलाक्षीणां काननवीथिकावम्बिनीशम्पायमान तनुसम्पदा वदनेषु वारिजभ्रान्त्या पपात हंसमाला ता कराङ्गुलीभिर्निवारमन्तीना तासा करपल्लवानि चकर्षुः कीर शावकाः' हा हेति प्रलपन्तीनां कोकिल-भ्रान्ति भाविता शिरस्सु कुट्टायित कुर्वन्तिस्मकरटाः, ततश्चलित वेणीनामेणाक्षीणां नाग भ्रान्त्या कर्षन्तिस्म वेणी मयूराः, ततो दीर्घ निश्वासमातन्वतीनां तद्गन्धलुब्ध मुग्धमधुकरा मदान्धाः समापतन्तः पक्षवन्तोऽपि नासाचम्पक न निवृत्ता बभूवुः गुरुतरनितम्ब कुचकुम्भभारानताला वेधसा स्तनकलशसृष्ट काठिन्यं पाद-पद्मेषु वाञ्छन्तीनां धावनोद्युक्तमनसां चलित पादयुगलप्रसृतनखचन्द्र चन्द्रिकासु सम्मिलिताश्चकोरा उपरुन्ध-न्तिस्म मार्गम्, ततो भुवि निपत्य लुठन्तीना सुवर्णसवर्णे मुरोजयुगलं पक्वतालफलभ्रान्त्या कदर्थयन्ति वानरा इति राजविरोधिनामरण्यमपित शरण्यम् । पृ० ६

इस गद्य में भ्रान्ति मदलंकार की योजना बहुत ही विद्वत्ता के साथ की गयी है । और यहाँ करुणरस का परिपोष भी दर्शनीय है । इस ढंग का गद्य उपलब्ध सस्कृतसाहित्य में मेरी दृष्टि में कहीं नहीं आया ।

पुरुदेव-चम्पू—

पुरुदव चम्पू महाकवि अर्हद्दास ने लिखा है। इस चम्पू में भगवान् आदिनाथ का चरित लिखा गया है। इसकी और सब बातें अन्य चम्पुओं के समान ही है। किन्तु इसमें अलंकारों की छटा अन्य चम्पू काव्यों से कहीं अधिक है। अर्थालंकार की अपेक्षा शब्दालंकार पर कवि ने ज्यादा जोर दिया है। कवि ने इस चम्पू की प्रत्येक लाइन में अलंकारमयी भाषा का प्रयोग किया है। यह बात अन्य चम्पुओं में नही है।

उदाहरण देखिये—

द्विविधाः सुदशोभान्ति, यत्र मुक्तोपमाः स्थिताः।
राजहंसाश्च सरसां, तरङ्गविभवाश्रिता. ॥१६॥ पृ० ७

यहाँ श्लेष देखिये।

यस्य प्रतापतपनेन विलीयमाने, लेखाचले रजतलिप्तधराधरे च।
यत्कीर्तिशीतल सुपर्वनदीतरङ्गं रङ्गीकृतौसवदितो स्थिरतामयाताम् ॥२१॥पृ० ८

यहाँ अतिशयोक्ति देखिये :—

विरोधाभास—

यस्याः किल मृदुलपदयुगलं गमनकलातिरस्कृत हंसकमपि विश्वस्तलालितहंसकम्, विद्रुमशोभाञ्चितमपि पल्लविता शोकद्रुमशोभाञ्चितम् ...... । पृ० ८–९ ।

रूपक—

तद्वक्त्राब्ज रुचिप्रवाह जलधौ श्रीकुन्तलालीमिल–
न्द्वैबाले भ्रकुटीतरङ्गतरले बिम्बोष्ठ सद्विद्रुमे।
दन्तोदञ्चितमौक्तिके समतनोन्निष्कम्पमीनश्रिय
नेत्रद्वन्द्वनिमेषरहित निःसीमकान्त्युज्ज्वलम् ॥६४॥ पृ० २४

ससन्देह—

किमेष सुरनायकः किमु सुमोल्लसत्सायकः
किमाहिततनुर्मधुः किमुत भूमिमाप्तो विधुः।
इतिक्षितिपतिः पुरी सुकुचकुम्भबिम्बाधरी–
गणेन परिशंकितो गृहमगाद्गजैर्मण्डितः ॥२०॥ पृ० ६४

असङ्गति—

जयाश्रिया यत्रवृते रणाग्रे विवाहशोभामरिभूमिपालः।
लेभे तदानीं रिपुसैन्यवर्गाश्चित्रं चिरं नन्दनसौख्यमापुः ॥६१॥ पृ० ७८

शङ्खलायमक—

तस्याः किल कुम्भीन्द्रकुम्भसन्निभः कुचकुम्भनिम्बः, बिम्बसहोदरोऽधरोऽधरोधरतुलितं नितम्बबलयं, बलयाञ्चितं करकिसलयं, सलयमधुरा गानकला..... ।

कवि ने आरम्भ से अन्त तक इसी प्रकार अलंकारमयी भाषा में लिखा है। इस दृष्टि से यह चम्पू भी सभी जैन और जैनेतर चम्पुओं में श्रेष्ठ है।

जैन व्याकरण का तुलनात्मक-अध्ययन

श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी' साहित्य-व्याकरणाचार्य

"व्याक्रियन्ते, व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन" इस व्युत्पत्ति द्वारा व्याकरण शब्द की निष्पत्ति कही गयी है। 'वि' 'आ' उपसर्ग 'कृ' धातु एवं ल्युट् प्रत्यय के योग से यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है जिसके द्वारा शब्द बनें, वह शास्त्र। इसीलिए व्याकरण को शब्दशास्त्र भी कहा गया है। आजकल महर्षि पाणिनि सस्कृत व्याकरण के प्रचलित आचार्य माने जाते हैं। उन्हींके नाम से संस्कृत व्याकरण 'पाणिनीय व्याकरण'—नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

महर्षि पाणिनि का स्थितिकाल 'लघुत्रिमुनि' के आधार पर ईसा से तीन चार शताब्दी पूर्व प्रमाणित होता है। पाणिनि ने आठ अध्यायों में व्याकरण के सूत्रों की रचना की है, जिसे हम 'अष्टाध्यायी' के रूप में जानते हैं। अष्टाध्यायी के, उन सूत्रों का, जो नव्य व्याकरण की आधार-शिला है, काफी प्रचार हुआ। फलत. उसीके आधार पर 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' की सृष्टि हुई तथा उस पर अन्यान्य और कितनी ही टीका-टिप्पणियाँ प्रस्तुत हुईं, जो व्याकरण-महासागर की असंख्य उद्दाम उर्मियों के समान लहरा रही हैं।

पाणिनीय व्याकरण के मूल तत्त्व हैं, माहेश्वर सूत्र जो निम्नलिखित प्रकार से चौदह सख्याओं में विभक्त हैं :—

"अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ ।३। ऐ औच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४।"

इन सूत्रों के आधार पर रचित पाणिनीय व्याकरण शब्दशास्त्र की परम्परा का परवर्ती प्रयास है, इसे निर्विवाद मान लेने में किसीको आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि, इससे पूर्ववर्ती और भी सात व्याकरणों का पता चलता है। उन व्याकरणों के नाम भी उनके आचार्यों के नाम के साथ ही आते हैं। भास्कराचार्य-कृत 'लीलावती' के अन्त में एक श्लोक भी मिलता है, जिससे इस व्याकरण के साथ इतर सात व्याकरणों का पता चलता है :—

'अष्टौ व्याकरणानि षट् च भिषजां व्याचष्टतः संहिताः,
षट् तर्कान् गणितानि पञ्च चतुरो वेदानधीतेस्म यः।

रत्नानां त्रितयं द्वयं च बुबुधे मीमांसयोरन्तरम्,
सद्ब्रह्मैक मगाधबोध-महिमा सोऽस्याः कविर्भास्करः ।

श्री भास्कराचार्य-प्रणीत इस श्लोक के अध्ययन से सहज ही आठों व्याकरणों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिसका समाधान मिलता है 'कविकल्पद्रुम' के धातुपाठ में बोपदेव के निम्नलिखित श्लोक द्वारा :—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्ना पिशली शाकटायनः,
पाणिन्यमर जैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः ।

उल्लिखित श्लोक द्वारा इन्द्रादि आठ व्याकरणाचार्यों के नाम हमारे सामने अनायास ही आ जाते हैं । पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपलब्ध सूत्रों द्वारा भी पाणिनि से पूर्व कितने ही वैयाकरणो का पता चलता है । देखिए :—

१. व्योर्लघु प्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१०
—शाकटायनाचार्य

२. इ ३ चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३०
—चाक्रवर्मण

३. वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२
—आपिशलि

४. लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९
—शाकल्य

५. अवङ् स्फोटायनस्य
—स्फोटायन

इस प्रकार पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों का उल्लेख करते हुए उनका पूर्व-अस्तित्व प्रमाणित किया है । किन्तु, पाणिनि पर विशेष आभार है श्री शाकटायनाचार्य का, जिनके मतो को अधिकांश रूप में उन्होंने अपनाया है । उदाहरणार्थ श्री शाकटायनाचार्य के 'आद्विषो अेर्जुस् वा' सूत्र का ही विषयानुवाद पाणिनि के 'लङ शाकटायनस्यैव' सूत्र के द्वारा किया गया प्रतीत होता है । इसी प्रकार कही-कही विषयानुवाद के रूप में तथा कहीं-कही उनके अविकल रूप को ही अपनाने में महर्षि ने संकोच नहीं किया है । यही कारण है कि शाकटायनाचार्य के व्याकरण की पूर्णता पर यक्षवर्माचार्य को इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने अपने उस विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए निम्नलिखित श्लोक लिखते समय अतिशयोक्ति-अलंकार की ओर ध्यान ही नही दिया । श्लोकः—

"इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्,
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।"

सचमुच महामुनि शाकटायनाचार्य बहुत बड़े वैयाकरण हो गये हैं। उनका बनाया हुआ शब्दानुशासन ग्रन्थ जैन व्याकरण का पारिजात है। उक्त ग्रन्थ चार अध्यायों में समाप्त हुआ है तथा सके सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादिपाठ ऐसे पाँचों ही पाठ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। पाणिनि ने इनके उणादि पाठ को तो उसी रूप में अपना लिया है।

पतञ्जलि महाराज ने भी 'उणादि बहुलम्' सूत्र की ाष्य-रचना करते समय शाकटायन का नाम लेकर उनकी कृतज्ञता प्रकट की है :—

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्,
वैयाकरणाना च शाकटायन आह धातुजं नाम इति।"

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में तथा यास्काचार्य के निरुक्त में भी इन्हीं शाकटायनाचार्य का नाम मिलता है। इस प्रकार हम देखते है कि पाणिनि की अपेक्षा वैयाकरण के नाते महामुनि शाकटायनाचार्य को वस्तुतः अधिक गौरव प्राप्त है।

श्री शाकटायनाचार्य भी जैन ही थे। अतः इनका बनाया व्याकरण भी जैन-व्याकरण ही है। किन्तु, इनके अलावे भी और कितने ही जैन आचार्य हो गए हे, जिनके व्याकरण कई दृष्टियों से बड़े ही वैज्ञानिक प्रमाणित हो रहे हे। उन व्याकरणो में श्री जैनेन्द्र रचित 'जैन व्याकरण' का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जा सकता है।

श्री शाकटायन के शब्दानुशासन में जैसे पाणिनि के चौदह सूत्रों की जगह तेरह ही सूत्र पढ़े गए है, उसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण में भी 'अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' प्रायः सर्वत्र पुत्रोत्सव मनाया गया है। यहाँ शाकटायन के सूत्रों का लाघव देखिए :—

"अइउण् ।१। ऋक्‌ए ओङ ।३। ऐ औच् ।४। हयवरलज् ।५। ञमङणनम् ।६। जबग डदश् ।७। अभघढधष् ।८। खफछठथट् ।९। चटतव् ।१०। कपय् ।११। शषसमंअः । कपर् ।१२। हल् ।१३।"

ये हुए पाणिनि के चौदह सूत्रों की जगह शाकटायन के तेरह सूत्र। किन्तु इन तेरह सूत्रों की कल्पना में वह विशेषता नही, जो 'ऋ ल क्' की जगह 'ऋक्'–विधान में निहित है। निश्चय ही महामुनि ने 'ऋ लृ वर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् पर ध्यान देते हुए लाघव की यह दूरदर्शिता प्रदर्शित कर बाजी मार ली है। वस्तुतः पाणिनि के 'ऋ लृ क्' में उसे 'आम्नाय समाम्नाय' कह कर 'लृ' की अधिकता को संतोष के साथ स्वीकार करना वैज्ञानिक दुर्बलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

लाघव का यह स्वरूप जैनेन्द्र-व्याकरण में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। यहाँ जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों की पाणिनीय सूत्रों के साथ तुलनात्मक समीक्षा कीजिए :—

तुलना

जैनेन्द्र व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
१. लः कर्मणि च भावे चाचेः	१. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः
२. हलोऽन्तराः स्फः	२. हलोन्तराः संयोगः
३. ईदूदेद् द्विर्दिः	३. ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्
४. भूवादयो धुः	४. भूवादयो धातवः
५. परिव्यवक्रियः	५. परिव्यवेभ्यः क्रियः
६. विपराजेः	६. विपराभ्यां जेः
७. निविशः	७. नेर्विशः
८. व्याङश्च रमः	८. व्याङ्परिभ्यो रमः
९. विशेषणं विशेष्येणेति	९. विशेषण विशेष्येणम् बहुलम् ।
१०. पतिः से	१०. पतिः समास एव
११. दूरान्तिकार्थैः स्ता च	११. दूरान्तिकार्थैस्तृतीया
१२. दिवादेः श्यः	१२. दिवादिभ्यः श्यन्
१३. सर्वादि सर्वनाम	१३. सर्वादीनि सर्वनामानि
१४. प्रादिः	१४. प्रादयः

दोनों वैयाकरणों के उपरिलिखित इन सूत्रों को देखने से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनीय सूत्रों की अपेक्षा जैनेन्द्र के सूत्रों में लाघव है। इस तरह सूक्ष्मता ही यदि सूत्र की सिद्ध परिभाषा हो सकती है तो निश्चय ही इस दृष्टि से जैनेन्द्र के सूत्र पाणिनि के सूत्रों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक हैं।

इतना ही नहीं, बल्कि पाणिनि के सूत्रों का अधिकांश जैनेन्द्र के सूत्रों का तद्रूप ही प्रतीत होता है।

जैनेन्द्र-सूत्रों से पाणिनीय-सूत्रों की समरूपता :—

जैनेन्द्र व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
१. स्थानेऽन्तरतमः	१. स्थानेऽन्तरतमः
२. स्वरितेनाऽधिकारः	२. स्वरितेनाऽधिकारः
३. न गतिहिंसार्थेभ्यः	३. न गतिहिंसार्थेभ्यः
४. आङोयमहनः	४. आङोयमहनः
५. धारेरुत्तमर्णः	५. धारेरुत्तमर्णः
६. साधकतमं करणम्	६. साधकतमं करणम्
७. अभिनिविशश्च	७. अभिनिविशश्च
८. अकथितञ्च	८. अकथितञ्च
९. स्वतन्त्रः कर्त्ता	९. स्वतन्त्रः कर्त्ता

१०. समर्थः पदविधिः	१०. समर्थः पदविधिः
११. नदीभिश्च	११. नदीभिश्च
१२. मयूरव्यंसकादयश्च	१२. मयूरव्यंसकादयश्च
१३. याजकादिभिश्च	१३. याजकादिभिश्च
१४. चार्थे द्वन्द्वः	१४. चार्थे द्वन्द्वः
१५. अल्पाच्तरम्	१५ अल्पाच्तरम्
१६. कर्तृकर्मणो:कृतिः	१६. कर्तृकर्मणोः कृतिः
१७. वदः सुपिक्यम् च	१७. वदः सुपिक्यम् च
१८. चरेष्ट.	१८. चरेष्टः
१९. अनद्यतने लङ्	१९. अनद्यतने लङ्
२०. परोक्षे लिट्	२०. परोक्षे लिट्
२१. अनद्यतने लट्	२१ .अनद्यतने लट्
२२. थासः से	२२. थासः से
२३ आमेतः	२३. आमेतः
२४. झेर्जुस्	२४. झेर्जुस्
२५. लिङाशिषि	२५. लिङाशिषि
२६. किदाशिषि	२६. किदाशिषि
२७. लिङ सीयुट्	२७. लिङः सीयुट्
२८. लोटो लङ्वत्	२८ लोटो लङ्वत्

इस प्रकार इन सूत्रों की समरूपता देख कर जैनेन्द्र से पाणिनि के प्रभावित होने के सम्बन्ध में सन्देह का स्थान नही रह जाता ।

लाघव की दृष्टि से पाणिनि की संज्ञाओं की अपेक्षा जैनेन्द्र की संज्ञाओं में भी विशेषता निहित है । यह भी एक कारण है जिससे जैनेन्द्र को अपने सूत्रों में लघुता लाने की पर्याप्त सुविधा रही । देखिएः–

जैनेन्द्र की सज्ञाएँ	पाणिनिकी संज्ञाएँ
अगः	आर्द्धधातुकम्
अप्	चतुर्थीविभक्तिः
इप्	द्वितीया विभक्तिः
ईप्	सप्तमी विभक्तिः
उङ	उपधा
उच्	हलुः
ऐच्	वृद्धिः
का	पञ्चमी विभक्तिः
किः	संबुद्धिः

स	लोपः
खुः	सञ्ज्ञा
गः	सार्वधातुकम्
गिः	उपसर्गः
गुः	अंगम्
घिः	लघुः
ङः	अनुनासिकम्
ङिः	भावकर्म
चः	अभ्यासः
छिः	अव्ययम्
ञः	कर्मव्यतिहारः
ता	षष्ठी विभक्तिः
तिः	गतिः
त्यः	प्रत्ययः
थः	अभ्यस्तम्
दः	आत्मनेपदम्
दिः	प्रगृह्यम्
दीः	दीर्घम्
दुः	वृद्धम्
द्यु	उत्तरपदम्
घम्	सर्वनाम स्थानम्
धिः	अकर्मकम्
धुः	धातु.
निः	निपातः
नप्	नपुंसकलिङ्गम्
न्यक्	उपसर्जनम्
पः	प्लुतः
प्रः	ह्रस्वः
बम्	बहुव्रीहिः
बोध्यम्	संबोधनम्
भा	तृतीया विभक्तिः
मम्	परस्मैपदम्
मुः	नदी
मृत्	प्रातिपदिकम्
यः	कर्मधारयः

र:	द्विगु:
रु:	गुरु:
वा	प्रथमा विभक्ति:
वाक्	उपपदम्
व्य:	कृत्य:
षम्	तत्पुरुष:
स:	समास:
सत्	वर्त्तमानम्
स्फ.	संयोग:
स्वम्	सवर्णम्
स्नि:	सर्वनाम
स्प.	संख्या
ह:	अव्ययीभाव:
हृद्	तद्धित:
ह्लादि:	जुहोत्यादि:

इसी प्रकार एकान्तवाद को प्रथमता देते हुए पाणिनि ने जहाँ 'रामा:' जैसे बहुवचन के प्रयोगो की सिद्धि के प्रसंग में अनेक की जगह एक को शेष करने के निमित्त, 'सरूपाणामेकशेष:' सूत्र की रचना कर प्रक्रिया को अनेक की विडम्बना में उलझा दिया है वहाँ पूज्यपाद जैनेन्द्र ने 'सिद्धिरने-कान्तात्' सूत्र रच कर अनेकान्त की प्रतिष्ठा द्वारा इस समस्या को अत्यन्त सुगम बना दिया है।

वस्तुत: शब्द-सृष्टि-प्रक्रिया को सुगम बनाने से ही कोई भी व्याकरण वैज्ञानिकता के उच्च आसन पर समासीन होने की क्षमता प्राप्त करने में अग्रणी हो सकता है। इस दृष्टि से यदि जैन-व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही जैनेन्द्र व्याकरण की महत्ता सर्वमान्य होकर रहेगी।



हिन्दी की जननी—अपभ्रंश

प्रो० श्री ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०

भूमिका—

भारत को स्वाधीनता प्राप्त होने के उपरान्त बहुभाग भारतवासियों की लोकभाषा होने के कारण 'हिन्दी' को सर्वतन्त्र स्वतंत्र भारतीय जनतन्त्र की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है, जो उचित ही है। हिन्दी की इस पदोन्नति का एक परिणाम यह हुआ कि इसके साहित्य, इतिहास एवं भाषा-विज्ञान के गभीर अध्ययन, अन्वेषण, शोध-खोज की ओर विद्वत्समाज और विद्या-केन्द्रो का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित होने लगा। पहले जो कार्य इने-गिने हिन्दी-प्रेमी साहित्यिक अपने ही बलबूते पर स्वान्तः सुखाय कर रहे थे वह अब बड़े पैमाने पर, सुव्यवस्थित, नियमित एव सामूहिक संगठित रूप में होने लगा। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी के स्वतन्त्र सुसगठित विभाग स्थापित हो गये है। नीचे से ऊपर तक सभी कक्षाओं के पाठ्य क्रमो मे हिन्दी को प्रधान पाठ्य विषय बना दिया गया, अन्य विभिन्न विषयों की शिक्षा का जो माध्यम पहले अंग्रेजी थी उसका स्थान अब हिन्दी लेती जा रही है। अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ, व्यक्तिगत सस्थाएँ तथा राज्यो के विविध विभाग हिन्दी के प्रचार प्रसार, और निर्माण में यथाशक्य योग एवं प्रोत्साहन दे रहे हैं। अतः हिन्दी भाषा से सम्बन्धित सभी विषय अध्ययनशील होते जा रहे हैं। उसका कोई भी रूप या अंक उपेक्षणीय नहीं रहता जाता।

ऐसी स्थिति में, हिन्दी में भारत की लोकभाषा होने की क्षमता कैसे और क्यों आई, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो जाता है। और इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से ही प्राप्त हो सकता है कि 'हिन्दी का उद्गम कब, कैसे, क्यों और कहाँ से अर्थात् किस भाषा से हुआ और वह किस प्रकार अपने प्रारम्भिक रूप से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुई ? दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि हिन्दी की साक्षात् जननी कौन भाषा थी यह जाने बिना और इसका सम्यक् अध्ययन किये बिना हिन्दी के स्वरूप-उद्‌गम और विकास का समुचित ज्ञान होना दुष्कर ही नहीं है, वह ज्ञान अधूरा और भ्रामक भी होगा।

वर्तमान शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी भाषा के इतिहास पर—आधुनिक ढंग से—सर्व प्रथम लेखनी चलाने वाले मिश्रबन्धु आदि विद्वानों की यह धारणा थी कि 'हिन्दी की उत्पत्ति १३–१४

वीं शती में हुई और इसका सर्व प्रथम-रूप वीर गाथा काल के रासा साहित्य में उपलब्ध होता है, संभवतया तत्कालीन कतिपय प्राकृतों में से उस काल में इसका विकास हुआ।' यह एक संक्षिप्त सी, अस्पष्ट और अनिश्चित धारणा थी। यद्यपि सन् १९१६ में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सप्तम अधिवेशन में ही पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने लिखित भाषण में यह सुझाव प्रस्तुत कर दिया था कि हिन्दी की जननी अपभ्रंश ही प्रतीत होती है क्योंकि उसका आदि रूप अपभ्रंश के साथ ही सबसे अधिक मिलता जुलता है, साथ ही यह भी कि इस अपभ्रंश के कितने ही ग्रंथ जो उस समय तक उपलब्ध हुए थे, वे जैन विद्वानों की ही रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश की अवहेलना—

इस महत्त्वपूर्ण सूचना के बावजूद भी हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी के इतिहासकारों का ध्यान अपभ्रंश की ओर आकृष्ट न हुआ। हिन्दी के उद्गम के सम्बन्ध में बहुत पीछे तक वे उसी पुरानी धारणा का ही पृष्ठपोषण करते चले गये। तथापि कुछ पुरातत्त्वज्ञों और प्राचीन भाषाविदों ने इस नव ज्ञात भाषा में दिलचस्पी लेने प्रारम्भ कर दी। रा० ब० डा० हीरालाल, डा० वैद्य, शहीदुल्ला, प्रो० हीरालाल, महा पडित राहुल साकृत्यायन आदि विद्वानों की सतत खोज एवं परिश्रम के फलस्वरूप अपभ्रंश भी एक अध्ययनीय विषय बन गई, उसके सैकड़ों ग्रंथ प्रकाश में आ गये—पचासों मुद्रित, सम्पादित एवं प्रकाशित भी हो गये। अपभ्रंश का जो विपुल साहित्य सामने आ रहा है उसमें बौद्धधर्म की सहजयानशाखा के तान्त्रिक सिद्धों सरहपा आदि की भी कुछ रचनाएँ हैं, अन्य सम्प्रदायों के भी ग्रंथ हैं किन्तु उसका बहुभाग अब भी जैनों की ही रचना है।

जैन-अपभ्रंश साहित्य का विकास—

छठी सातवीं शताब्दी के लगभग होने वाले 'परमात्म प्रकाश' 'दोहासार', आदि ग्रंथों के रचयिता दिगम्बर सन्त जो इन्दुदेव संभवतया सर्वप्रथम जैन विद्वान थे जिन्होने अपभ्रंश भाषा में ग्रंथ प्रणयन किया। उनके पश्चात् चतुर्मुख आदि कई जैन अपभ्रंश कवियों के नामोल्लेख मिलते हैं। ८—९ वीं शताब्दी में रामायण, हरिवंश आदि कई महाकाव्यों के रचयिता जैन महाकवि स्वयम्भू अपभ्रंश भाषा के सर्व महान महाकवि हुए जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा महापण्डित राहुल साकृत्यायन प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वानों ने की है और उत्तरकालीन काव्यप्रवृत्ति पर उनका भारी प्रभुत्व स्वीकार किया है। स्वयम्भू के सुपुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू भी अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि हैं और १० वीं शती में महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश भाषा में महापुराण नामक महाकाव्य की रचना करके अपना नाम अमर कर दिया। इन्हीं शताब्दियों में जैन कवि देवसेन, महेश्वर सूरि, पद्मकीर्ति, धनपाल धक्कड़, हरिषेण, नयनन्दि धवल, बोद, श्रीचन्द आदि ने अपनी काव्य कृतियों से अपभ्रंश भाषा को समलंकृत किया। तदुपरान्त श्रीधर, कनकामर, धाहिल, यशःकीर्ति आदि कवियों ने इस भाषा में सुन्दर रचनाएँ प्रदान कीं, आचार्य हेमचन्द्र ने इस भाषा का स्वतन्त्र व्याकरण ही रच डाला। नरसेन, सिंह, धनपाल, माणिक्कराज, यशःकीर्ति और रइधू मध्यकाल के प्रसिद्ध अपभ्रंश साहित्यकार हुए। उनमें रइधू

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी अकेले की लगभग २५ रचनाएँ उपलब्ध है। वि० सं० १७०० में रचित पं० भगवतीदास कृत 'मृगांकलेखा चरित्र' संभवतया अपभ्रंश भाषा की अन्तिम जैन रचना है।

इस प्रकार सातवीं से १७ वीं शताब्दी पर्यन्त लगभग एक सहस्र वर्ष तक अपभ्रंश जैन साहित्य का मंजुल प्रवाह सतत प्रवाहित होता रहा। १२ वीं शताब्दी उसका मध्याह्न काल था, उस समय तक यह एक समृद्ध एवं प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो चुकी थी—यहाँ तक कि इसके स्वतन्त्र व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोष की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। साथ ही बोल-चाल की भाषा इस साहित्यिक अपभ्रंश से अपभ्रष्ट होकर अपनी सहज गति से विकसित होती हुई अपनी जननी से कुछ दूर जा पड़ी थी—अब वह एक नवीन नाम पाकर प्राचीन हिन्दी के रूप में उदित हो रही थी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन आर्य भाषाओं में तत्कालीन अपभ्रंश ही आद्य हिन्दी के निकटतम है। प्रो० हीरालाल जी के अनुसार अपभ्रंश की जो तीन विशेषताएँ हैं अर्थात् संस्कृत धातुओं से सिद्ध न होनेवाले अनेक देशी शब्दों का प्रयोग, शब्दों के आकरण रूपों में यथा कारक और क्रिया रचना में विशेषता, और नये नये छन्दों का प्रादुर्भाव तथा तुकबन्दी का प्रभाव—वे सब प्राचीन हिन्दी में भी पाई जाती हैं। जिस लोकभाषा की प्रशंसा मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर ने 'देसिल बचना सब जन मिट्ठा' तथा संत कबीर ने 'भासा बहता नीर' कहकर की थी और लोक-व्यवहार में संस्कृत, प्राकृत आदि से जिसे श्रेष्ठ कहा था, वह हिन्दी की जननी अपभ्रंश ही थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'अपभ्रंश' का सर्व प्रथम उल्लेख पातञ्जलि महाभाष्य (ई० पू० २री शती) में मिलता है। विमल सूरि के पउमचरिउ (१ली शती ईस्वी) का प्राकृत में भी कहीं कहीं अपभ्रंश के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि (२–३ री शती ई०) देशीभाषा या विभ्रष्ट के नाम से अपभ्रंश का उल्लेख करते हैं। वल्लभी गुहसेन के ताम्रपट (५५६–५६८ ई०) में संस्कृत एवं प्राकृत से भिन्न प्रबन्ध रचना के लिए समपयुक्त स्वतन्त्र भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख हुआ है। कविचण्ड ने (३री अथवा छठी शती ई०) अपने प्राकृत व्याकरण में, ६ठी शताब्दी में भामह ने तथा कवि दण्डी ने अपने 'काव्यादर्शन' में एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में, जिसमें कि गद्य पद्य मयी साहित्यिक रचनाएँ होती थीं, 'अपभ्रंश का वर्णन किया है। इसी प्रकार रुद्रट (६ वी शती) ने काव्यालंकार में, नाम सिन्धु (११ वी शती) ने उक्त ग्रंथ की वृत्ति में, और कवि राजशेखर (१०–१२वीं शती) ने अपने काव्यादर्श में एक प्रतिष्ठित प्रौढ़ साहित्यिक भाषा के रूप में उसका उल्लेख किया है। राजशेखर ने यहां तक लिखा है कि राजसभाओं में संस्कृत प्राकृत के कवियों की भांति ही अपभ्रंश कवियों को भी सम्मानित स्थान प्राप्त होता था। १२ शताब्दी तक इस भाषा के साहित्यिक लक्षण बंध चुके थे। इसके व्याकरण, छन्दशास्त्र और शेष कोष भी निर्मित हो चुके थे, यह निम्नवर्गों की ही नहीं मध्यम एवं शिष्ट वर्गों की जन भाषा बन चुकी थी।

महत्त्व—

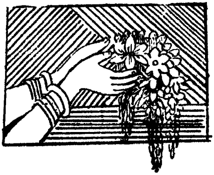
जिस प्रकार १२–१३ वीं शती में अपभ्रंश के सर्वथा साहित्यिक भाषा बनते जाने पर उसके लोक-प्रचलित बोल-चाल के रूप से हिन्दी का उदय हुआ, उसी प्रकार ईस्वी सन् की ४–५ वीं

शती में पूर्वकालीन लोकभाषा प्राकृत को वैसा ही साहित्यिक रूप प्राप्त हो जाने के कारण उसका तत्कालीन बोलचाल का रूप अपभ्रंश कहलाने लगा था । इस भाषा को विभ्रष्ट संस्कृत, अपभ्रष्ट प्राकृत, अपभ्रंश, आभीरों की भाषा, भूत भाषा, नागभाषा, पाताल लोक की भाषा, देसिय भाषा, भाषा या भाखा आदि विभिन्न नाम दिये गये, जो किसी न किसी अपेक्षा सकारण थे, किन्तु इसका सर्व-प्रसिद्ध नाम अपभ्रंश ही रहा और आज इसी नाम से इसका अध्ययन किया जाता है ।

हिन्दी की इस वास्तविक जननी अपभ्रंश के निर्माण, प्रचार और प्रसार का अधिकांश श्रेय जैन साहित्यकारों को है और कुछ अंश में बौद्ध सिद्धों तथा हिन्दू जोगियों और सन्तों को भी है । तीर्थंकरों के इस जैन धर्म की यह एक बड़ी विशेषता रही है कि इसने अपने उपदेशों का माध्यम सदैव सर्वाधिक प्रचलित लोकभाषा को बनाया । स्वयं भगवान् महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधी में अपना उपदेशामृत दिया । उनकी शिष्य-परम्परा में होने वाले जैनाचार्यों ने चाहे वे उत्तरी भारत के रहे, या दक्षिणी, पूर्वी, अथवा पश्चिमी भारत के महावीर निर्वाण के लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष तक प्राकृत भाषा मे ही अधिकतर ग्रंथ रचनाएँ की । किन्तु वीर निर्वाण के एक सहस्र वर्ष बाद ही उक्त प्राकृत से भिन्न होकर जब जन भाषा के रूप में अपभ्रंश का उदय होने लगा तो जैन सन्तों और कवियों ने तुरन्त उसे ही अपने साहित्य सृजन का माध्यम चुन लिया और लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त उसमें भी विपुल रचना की । अन्त में जब जन भाषा के रूप में अपभ्रंश का स्थान हिन्दी लेने लगी तो जैन विद्वानों का ध्यान तुरन्त उसकी ओर आकर्षित हुआ और हिन्दी के उदयकाल से वर्तमान पर्यन्त कोई शताब्दी ऐसी नहीं गई जिसमें लेखकों ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों से हिन्दी के भंडार को भरने में योगदान न दिया हो ।

उपसंहार—

अस्तु, लोकभाषा एव राष्ट्रभाषा हिन्दी के उद्गम एवं विकास का सम्यक् अध्ययन करने के लिए जैन हिन्दी साहित्य का ही नहीं वरन् हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के जैन साहित्य का भी समुचित अध्ययन आवश्यक है इस बात में कोई सन्देह नहीं ।



ग्रीकपूर्व जैन-ज्योतिष विचार-धारा

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना—

जैनाचार्यों ने ई० स० की कई शताब्दियों के पूर्व ही ज्योतिष विषय पर लिखना आरम्भ किया था। इनके सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ग्रीक ज्योतिष का बिलकुल भी प्रभाव नहीं है। इन ग्रंथों में प्रतिपादित ज्योतिष सिद्धान्त मौलिक हैं तथा कथन करने की प्रणाली भी अपनी निजी है। श्री श्याम शास्त्री ने अपनी वेदांग ज्योतिष की प्रस्तावना में जैन ज्योतिष की ई० पूर्व कालीन महत्ता को स्वीकार करते हुए बताया है कि जैन ज्योतिष ब्राह्मण ग्रंथों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। सूर्यप्रज्ञप्ति का युगमान वेदांग की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन जैन-ज्योतिष ग्रंथों का आलोडन किया जाय तो अवगत होगा कि ग्रीक ज्योतिष के सिद्धान्तों से भिन्न मौलिक रूप में मासगणना, युगगणना तथा लग्न आदि का निरूपण किया गया है।

ग्रीक और भारतीय ज्योतिष—

निष्पक्ष अन्वेषक विद्वानों ने इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है कि प्रथम आर्यभट्ट से लेकर बराहमिहिर तक भारतीय आचार्यों के ज्योतिष सिद्धान्तों पर ग्रीक ज्योतिष का प्रभाव है। इसी कारण कतिपय मान्य विद्वानों ने भारतीय ज्योतिष को ग्रीक ज्योतिष से पूर्ण प्रभावित माना है। प्रमाण में होरा, हिबुक, द्रेष्काण, कंटक, मुन्था, यमया, मणउ आदि शब्दों को उद्धृत करते हैं। भारतीय ज्योतिष में इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। राशि तथा चान्द्रमास और नक्षत्रांत लग्न की गणना भी ग्रीक ज्योतिष के प्रभाव से आयी है। यों तो दोनों ही ज्योतिषों के मूल सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं तथा ग्रहों के स्थान निर्धारण और काल निरूपण की प्रणाली भी बिलकुल भिन्न है।

सूर्यप्रज्ञप्ति के सिद्धान्तों की मौलिकता—

ई० सं० से दो सौ वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इसमें पंचवर्षात्मक युग मानकर तिथि नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान् महावीर की शासनतिथि श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से जब कि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर रहता है; युगारम्भ माना गया है। दिनमान का निरू-

पण करते हुए लिखा है—"सव्वे आदि क्वरस्स संवच्छरस्स सई अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवति। सई अट्ठारस मुहुत्ता राती भवति सइंदुवालि समुहुते दिवसे भवति सइंदुवाल समुहुत्ता राती भवति। पढ मे छम्मासे अत्थि अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति। दोच्च छम्मासे अट्ठारसमुहुते दिवसे णत्थि अट्ठारस मुहुत्ता राती अत्थि दुवालसमुहुत्ते दिवसे पठमे छम्मासे दोच्चे छम्मासे णत्थि"।

अर्थात्—उत्तरायण में सूर्य लवण समुद्र के बाहरी मार्ग से जम्बूद्वीप की ओर आता है और इस मार्ग के प्रारम्भ में सूर्य की चाल सिंहगति, भीतर जम्बूद्वीप के आते-आते क्रमशः मन्द होती हुई गज गति को प्राप्त हो जाती है। इस कारण उत्तरायण के आरम्भ में बारह मुहूर्त्त—२४ घटी का दिन होता है, किन्तु उत्तरायण की समाप्ति पर्यन्त गति के मन्द हो जाने से १८ मुहूर्त्त—३६ घटे का दिन होने लगता है और रात १२ मुहूर्त्त की—९ घंटा ३६ मिनट की होने लगती है। इसी प्रकार दक्षिणायन के प्रारम्भ में सूर्य जम्बूद्वीप के भीतरी मार्ग से बाहर की ओर—लवण समुद्र की ओर मन्द गति से चलता हुआ शीघ्र गति को प्राप्त होता है जिससे दक्षिणायन के आरम्भ में १८ मुहूर्त्त—१४ घटा २५ मिनट का दिन और १२ मुहूर्त्त की रात होती है, परन्तु दक्षिणायन के अन्त में शीघ्र गति होने के कारण सूर्य अपने रास्ते को शीघ्र तय करता है जिससे १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है। मध्य में दिन मान लाने के लिए अनुपात से १८–१२= ६ मु० अ०, $\frac{६}{१८३}=\frac{२}{६१}$ मु० की प्रति दिन के दिनमान में उत्तरायण में वृद्धि और दक्षिणायन में हानि होती है।

यह दिनमान सब जगह एक समान नही होता क्योंकि हमारे निवास रूपी पृथ्वी, जो कि जम्बूद्वीप का एक भाग है समतल नही है। यद्यपि जैन पुराणों और कर्णानुयोग में जम्बू द्वीप को समतल माना गया है पर सूर्यप्रज्ञप्ति में पृथ्वी के बीच में हिमवान, महाहिमवान, निषधनील, रुक्मि और शिखरिणी इन छ पर्वतो के आ जाने से यह कही ऊँची और कही नीची हो गयी है अतः ऊँचाई और नीचाई अर्थात् अक्षांश और देशान्तर के कारण दिनमान में अन्तर पड़ जाता है। सूर्य-प्रज्ञप्ति में छायासाधन तथा पचवर्षात्मक युग के नाक्षत्र आदि के प्रमाण वर्त्तमान या ग्रीक मानों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। सूर्यप्रज्ञप्ति में पचवर्षात्मक युग में चन्द्रमा के ६७ भगण तथा सूर्य के ६२ भगण होते हैं। पूर्णिमा के दिन सूर्य से चन्द्रमा ४०९ मुहूर्त्त ४३ वस्ति प्रमाण अन्तर पर रहता है। जिस समय युगारम्भ होता है उस समय श्रवण नक्षत्र २७८ डिग्री पर और चित्रा नक्षत्र १८० डिग्री पर रहता है। अभिजित् का आगमन प्रायः सर्वदा ही आषाढ़ी पूर्णिमा के अन्तिम भाग या श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के पूर्वभाग में होता है। पांच वर्षों के नाक्षत्र आदि वर्षों के दिनों का प्रमाण निम्न प्रकार है :—

(१) नाक्षत्र वर्ष—३२७ $\frac{५१}{६७}$ दिन

(२) चान्द्रवर्ष—३५४ $\frac{१२}{६२}$ दिन

(३) ऋतुवर्ष—३६० दिन

(४) अभिवर्द्धन वर्ष—३८३ $\frac{४४}{६२}$ दिन

(५) सूर्य वर्ष—३६६ दिन

कुल पंच वर्षों का योग १७९१ दिन १९ मुहूर्त्त और ५७ वस्ति है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाय तो सूर्यप्रज्ञप्ति में निम्न सिद्धान्तों का मौलिक रूप से प्रतिपादन हुआ है जिनकी ग्रीक ज्योतिष से कोई समता ही नहीं ।

(१) ग्रीक ज्योतिष में पंचवर्षात्मक युग का मान १७६७ दिन माना गया है, जब कि सूर्य प्रज्ञप्ति में १७९१ से कुछ अधिक मान आया है ।

(२) ग्रीक ज्योतिष में छाया का साधन मध्याह्न की छाया पर से किया गया है पर सूर्यप्रज्ञप्ति में पूर्वाह्न कालीन छाया को लेकर ही गणित-क्रिया की गई है । सूर्यप्रज्ञप्ति में मध्याह्न कालीन छाया का नाम पौरुषी बतलाया गया है । लिखा है कि २४ अंगुल प्रमाण शंकु या सुई की छाया मध्याह्न में गर्मी के उस दिन जब कि सूर्य भूमध्यरेखा से अति दूर होता है, ८ अंगुल हो जाती है अर्थात् प्रत्येक महीने में ४ अंगुल के हिसाब से यह छाया क्रमशः बढ़ती और घटती रहती है ।

(३) ग्रीक ज्योतिष में तिथि नक्षत्रादि का मान सौर्य वर्ष प्रणाली के आधार पर निकाला जाता है और पंचांग का निर्माण आज भी इसी प्रणाली पर होता है । किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में पचाग का निर्माण नक्षत्र वर्ष के आधार पर किया गया है । सूर्यप्रज्ञप्ति में समय की शुद्धि नक्षत्र पर से ही ग्रहण की गई है ।

(४) युगारम्भ और अयनारम्भ भी सूर्यप्रज्ञप्ति के ग्रीक ज्योतिष से बिलकुल भिन्न है । मास गणना, अमान्त न लेकर पूर्णिमान्त ली गई है । अतः सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सूर्यप्रज्ञप्ति के ज्योतिष सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष से बिलकुल भिन्न और मौलिक है तथा ई० सं० से कम से कम ३०० वर्ष पूर्व के हैं ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति और ज्योतिष करण्डक–

इन ग्रंथो का विषय प्राय. सूर्यप्रज्ञप्ति से मिलता है । परन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति में कीलक छाया और पुरुष छायाओं का पृथक् पृथक् निरूपण है । इस ग्रथ में २५ वस्तुओं की छायाओं का विस्तृत वर्णन है । इस ग्रंथ में चन्द्रमा की १६ तिथियों में समचतुरस्र विषमचतुरस्र, आदि विभिन्न आकारों का खडन कर समचतुरस्र गोलाकार का वर्णन किया है । इसका कारण यह है कि सुषम सुषमा काल के आदि में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन जम्बू द्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व दक्षिण कोण—अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर—वायव्य कोण में चला था । इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर—ईशान कोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम दक्षिण—नैर्ऋत्य कोण में चला; अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुरस्र संस्थान था । पर उदय होते समय ये ग्रह वर्त्तुलाकार निकले । अतः चन्द्र और सूर्य का आकार अर्द्धकपीठ—अर्द्ध समचतुरस्र गोल बताया है । छाया पर से दिन मान का साधन करते हुए बताया है:—

ता अवड्ड पोरिसिणं छाया दिवसस्स किंगते वा सेसे वा ता ति भागे गए वा ता सेसे वा, पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा जाव चउ भाग गए वा सेसे वा, ता दिवड्ढ पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा, ता पंच भाग गए वा सेसे वा एवं अवदड्ढ पोरिसिणं छाया पुच्छा दिवसस्स भागं छोट्टुवा गरणं जाव ता अणुलट्ठि पोरिसिणं छाया दिवसस्य कि गए वा सेसे वा ता एक्कूण वीस

सतं भागे वा सेसे वा सातिरेग अगुणसट्ठि पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा ताणं किं गए किंचि विगए वा सेसे वा । चं० प्र० ६५

अर्थात्—जब अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिये । यहां विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोहपर के बाद अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो तो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिये । पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग—⅘ भाग अवशेष दिन समझना चाहिये । इसी प्रकार दोपहर के बाद की छाया में विपरीत दिनमान जानना चाहिये । इस ग्रंथ में गोल, त्रिकोण, लम्बी, चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का ज्ञान किया गया है ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा के साथ तीन मुहूर्त तक योग करने वाले श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगसिर, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढ़ा ये पन्द्रह नक्षत्र, ४५ मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले पूर्वा भाद्रपद, रोहिणी, पुनर्वसु उत्तराफाल्गुनी, विशाखा और उत्तराषाढा ये छ नक्षत्र है एवं पन्द्रह मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले शतभिशा, भरणी,, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा ये छः नक्षत्र बताये गये हैं ।

ज्योतिष करण्डक में यो तो अनेक विशेषताएँ है पर नक्षत्र लग्न सम्बन्धी विशेषता विशेष उल्लेख-योग्य है । इस ग्रंथ में लग्न निरूपण की यह प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है:—

लग्गं च दक्खिणायविसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे ।
लग्ग साई विसुयेपु पंचसु वि दक्खिणे अयणे ॥

अर्थात् अस्सा यानी अश्विनी और साई-स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये है । यहां विशिष्ट अवस्था की राशि के समान विशिष्ट अवस्था के नक्षत्रों को लग्न माना है ।

तुलना—

ग्रीक ज्योतिष और चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा ज्योतिषकरण्डक के सिद्धान्तों की तुलना करने से निम्न निष्कर्ष निकलती हैं ।

(१) ज्योतिषकरण्डक की लग्न प्रणाली जिसका आधार नक्षत्र मान है ग्रीक प्रणाली से बिलकुल भिन्न है । ग्रीक ज्योतिष में लग्न का मान राश्य अंश कलात्मक रूप से माना गया है । यदि गहराई

से ज्योतिषकरण्डक का अवगाहन किया जाय तो नक्षत्रों की आकृतियाँ उनकी ताराओं की संख्या ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है ।

(२) चन्द्रप्रज्ञप्ति में प्रतिपादित छाया पर से दिनमान साधन की प्रक्रिया ग्रीक ज्योतिष से तो भिन्न है ही पर यह समग्र भारतीय ज्योतिष में प्राचीनता की दृष्टि से एक मौलिक प्रणाली है । इस प्रणाली का विस्तृत विकसित रूप ही द्युज्या, त्रिज्या, कुज्या के रूप में सिद्धान्त ज्योतिष में आया है । ग्रह-गणित के जिन बीज सूत्रों का उल्लेख इस ग्रथ में किया गया है उनका निरूपण ग्रीक ज्योतिष में कम से कम २०० वर्ष बाद हुआ है । नक्षत्रात पूर्णिमा का निरूपण ग्रीक ज्योतिष में ई० स० की पहली-दूसरी शताब्दी में हुआ है । आज कल भी ग्रीक पंचांग सूर्य नक्षत्र के आधार पर ही पूर्णिमा तथा अमावस्या का प्रतिपादन करते हैं पर चन्द्र प्रज्ञप्ति में चान्द्र नक्षत्रों के उपभोग और मुहूर्त्तों के प्रमाणानुसार ही पूर्णिमा और अमावस्या की सिद्धि की गयी है । पंचवर्षात्मक युग पर से समय शुद्धि के निमित्त पचाग तैयार करना और उनके स्थूल मानों द्वारा समय शुद्धि का कथन करना चन्द्रप्रज्ञप्ति और ज्योतिषकरण्डक का प्रधान वर्ण्य विषय है । अत. प्रत्येक गणित में सूर्य की प्रधानता न कर चन्द्रमा को ही प्राधान्य दिया गया है । पर ग्रीक ज्योतिष में यह बात नही ।

(३) ग्रहों की वीथियों का निरूपण केवल उक्त प्राचीन ग्रथो में ही मिलता है ग्रीक ज्योतिष में नहीं । नाड़ी वृत्त, खमंडल, आदि का उपयोग ग्रीक ज्योतिष में अवश्य किया गया है पर यह प्रणाली ग्रहवीथियों से बिलकुल भिन्न है । हाँ, ग्रह वीथियों का विकसित रूप प्रचलित भचक्र को माना जा सकता है ।

इस प्रकार ई० स० से कई शताब्दी पूर्व जैन आचार्यों की एक मौलिक ज्योतिष विचार-धारा थी जो कि ग्रीक ज्योतिष से सर्वथा भिन्न है ।



जैन-धर्म और नैतिक कहानियाँ

श्री बच्चा

जैन-कथा-साहित्य का विकास—

जैन धर्म को प्रचारित और प्रसारित करने के हेतु जैनाचार्यों ने अपूर्व, प्रेरणाप्रद और प्रांजल नैतिक कथाओं की एक सारगर्भित परम्परा का उद्घाटन किया है। जैन धर्म के कथाग्रथों में ऐसे अनेक चिर-गूढ़ संवेदनशील आख्यान उपलब्ध हैं जो ऐतिहासिक तथ्यों की प्रतीति के साथ बर्बरता को निर्भय घाटी पर निरुपाय लुढ़कती मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने में समक्ष हैं। यद्यपि ये कथा-ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में होने के कारण विद्वानों के समक्ष आये ही नहीं है और जो राजस्थानी भाषा और पुरानी हिन्दी के माध्यम द्वारा आये भी हैं उनसे सर्व साधारण को लाभ नहीं हो सकता। जैन कथाओं में यद्यपि वर्णनात्मक शैली का सर्वत्र निर्वाह किया गया है फिर भी उनमें भावनाओं का उत्थान-पतन, जीवन का क्रमिक विकास एवं मानवता का उच्च सन्देश विद्यमान है। विश्व-विख्यात अन्वेषक विद्वान डा० हरमन जैकोबी ने जैन कथानक साहित्य की महत्ता का जीता-जागता दिग्दर्शन कराया है। जैन कथा साहित्य की श्रृंखला का निर्माण धार्मिक और लोककथाओं के क्षेत्र से होता है। डा० जैकोबी इनके उद्भव का उल्लेख करते हैं "कथानक साहित्य का उद्भव ईसा के एक शताब्दी बाद के उत्तरार्द्ध में माना जाना चाहिये। इसका अन्त हर्षवर्द्धन के समय ७५० A. D. से सूचित किया जाता है।

यद्यपि पर्याप्त सामग्री और विस्तृत अनुशीलन मेरे समक्ष नहीं है फिर भी यशस्तिलक, बृहत् कथा कोष, पुण्यास्रव कथा कोष तथा कतिपय पुराण ही मेरे समक्ष हैं। अतः इन्हीं ग्रंथों के आधार पर कथाओं की नैतिक प्रेरणा के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जायगा।

साधारणतः 'यशस्तिलक' में सोमदेव द्वारा संयुक्त की गयी कथाएँ १० वी शताब्दी के पूर्व की तो मानी ही जानी चाहियें। इन कहानियों में सोमदेव की मौलिकता का कोई रूप नहीं है सिर्फ उनकी अलंकृत और सौष्ठव गद्य शैली ही इन नैतिक कहानियों की नवीनता की पोषिका है। उनकी अदम्य प्रतिभा इतनी प्राचीन कहानियों को एक साथ रखने और उनके द्वारा जैन धर्म की शिक्षाओं को प्रसारित करने में ही है। अणुवृत्तों को चित्रित करने वाली बहुत सी कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में वर्णित की जा सकती हैं। उनका साहित्यिक झुकाव रोमांच हैं क्षेत्र में एक तरह की स्वतंत्र कथा-पुस्तकों के निर्माण द्वारा अभिवृद्ध है।

नैतिक कहानियों की यह धारा विविध धर्म सिद्धान्तों, नैतिक संभावनाओं का साकार निरूपण करती हुई मानवता की उज्ज्वल दीवार से टकराती है। कहानियों के माध्यम से जिस उपदेश की धारा विस्तृत होती है वह मानस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड़ जाती है और मानव वैसा आचरण करने को आतुर हो जाता है। घटनाओं में क्रमिक उत्थान-पतन का सयोग इस प्रकार होता है कि पाठकों की उत्सुकता सर्वत्र जीवन्त रहती है और आनन्द की रसमयी धारा का उद्रेक होता रहता है। सरल, सुबोध और सुगम्य वर्णनात्मक शैली कथाओं में चार चांद लगाती है और इनकी उपदेशात्मकता को विशेष प्रेरणाप्रद बनाती है।

कथाओं का निरूपण : यशस्तिलक—

धर्म अभ्यास की सफलता इच्छा-शक्ति के समुचित नियन्त्रणपर ही अवलम्बित है, यह निर्विवाद सत्य है। इस सिद्धान्त वाक्य को अतुल प्रतिभा का सयोग दे काफी प्रौढ़ प्रतिपादन दिया जा सकता है पर इसी बात की पुष्टि यह जैन कथा कितने सुरुचिपूर्ण और मार्मिक ढंग से करती है जो मानस में स्निग्ध ओज और प्रेरणात्मक पुलक का सचार कर जाती है। एक समय की बात है कि भूमितिलक के राजा ने धन्वन्तरी और विश्वनुलोभ नामक दो मित्रो को देश निष्कासित कर दिया। वे हस्तिनापुर पहुँचे। यहा धनवन्तरी ने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली और जैन अनुशासन के अनुसार ध्यानावस्थित रहने लगा। विश्वानुलोभ ने ब्राह्मणमत का अनुसरण किया और तपस्वी बन गया। मृत्यु के बाद वे देवता के रूप में क्रमश अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ के नाम से पुनः अवितरित हुए। एक दिन विश्वानुलोभ जमदग्नि, मतग और कपिंजलि जैसे वैदिक ऋषियों के उच्चादर्शों का दभ भरने लगा। दोनों ने धरती पर उतर इस सत्यता की जाच करने की ठानी। वहां बद्रिकाश्रम में उन्होने जमदग्नि ऋषि को अलौकिक ध्यान में लवलीन देखा। तपस्या से उनके शरीर पर मुगियों का झुरमुट लगा हुआ था, शरीर पर रेंगने वाले अनेक कीडे मकोडो का अम्बार लगा हुआ था। उनको देखकर दोनो देवताओं ने एक जोड़े पक्षियो का रूप धर लिया और उनकी दाढी के परिपार्श्व में बैठकर एक दूसरे से बात करने लगे। एक पक्षी ने अपने दूसरे साथी से कहा कि मुझको पक्षियों के राजा गरुड़ की शादी में जाना होगा लेकिन मैं तुरत लौट आऊँगा। अगर मैं झूठ बोलता हूँ तो मेरा पाप भी इस ऋषि के पापाचार से कम बडा न होगा। इन शब्दों को सुनकर जमदग्नि ने क्रोधातुर हो दड देनेकी भावना से दाढ़ी को नोच कर फेंक दिया। लेकिन वे उड़कर पास के वृक्ष पर बैठ गये। ऋषि ने तुरत पक्षी के आवरण में देवताओं को पहचान लिया और आदरपूर्वक अपने पाप के बारे में पूछा। पक्षियो ने दो प्रभावक श्लोक उच्चरित किये कि उनको सतान उत्पन्न कर ही विश्व से विरक्ति करनी चाहिये। इस क्षेत्र में ऋषि धर्म ग्रथों की अवहेलना का दोषी है अतः उसको विवाह कर बच्चे पैदा करना चाहिये। इसको सुनकर जमदग्नि ने कहा—"यह बिलकुल आसान है।" उपरान्त आकर अपने चाचा, बनारस के राजा की लड़की रेणुका से शादी कर ली और समय के प्रवाह में परशुराम के पिता बने।

जमदग्नि की इस निर्बल प्रकृति से जैन साधुओं की दृढ़ विश्वास-भावना और प्रतिज्ञा की तुलना की जाती है। दोनों पक्षी मगध चले गये और वहां चतुर्दशी की अंधेरी रात में जिनदत्त को मिट्टी की वेदिका पर स्वाध्याय में लवलीन देखा। उन्होंने उसे ध्यान तोड़ने की आज्ञा दी और प्रकृति के भीषण प्रहारों जैसे घनघोर वर्षा, गर्जन और तूफान का प्रयोग कर उनको विचलित करने की असफल चेष्टा की। कई तरह के वरदानों का भी प्रलोभन दिया जिससे वे अपनी साधना से विरत हो जाय। तो भी जिनदत्त अचल रहे। दोनों देवताओं ने प्रशंसा के अनेक शब्द उनकी अदम्य साहसिकता और प्रबल प्रतिज्ञा के लिये कहे। उन्होंने उनको वायु के द्वारा गमन करने का एक सिद्धान्त भी निर्देशित किया। जिनदत्त ने उसका उपयोग सुमेरु पर जैन तीर्थों का पर्यटन करने में कर इस सिद्धान्त को अपने शिष्य धरसेन को सौंप दिया।

दृढ़ प्रतिज्ञ जिनदत्त के पास से दोनो पक्षियों ने अपनी चाल को एक जैन धर्म की दीक्षा लिये हुए नव धर्मावलम्बी पर खेलना निश्चित किया। अपने दीक्षा-ग्रहण के दिन ही उन्होने मिथिला के राजा पद्मरथ को तीर्थंकर वासुपूज्य की आराधना करते जाते देखा। उन्होंने उसे शीघ्र बाघ आदि के भेष में भयकर दृश्यो से भयभीत करना प्रारम्भ कर दिया। उसके हृदय में भय का उद्रेक करने मे असफल देख उन्होंने उसे एक कीचड़ के सुविस्तृत फैलाव में ढकेल दिया। राजकुमार ने डूबते-डूबते सिर्फ कहा "प्रभु वासुपूज्य की वन्दना।" दोनो देवताओं ने पद्मरथ के साहस की समुचित सराहना की और उसको निकाल, ओझल हो गये।

इस कहानी के आगे भी धर्म में तरंगित दृढता और दृढ़ संकल्प की भावना का विशद रूप से चित्रित हुआ है। धरसेन जिनदत्त से वायु-गमन का सिद्धान्त उपलब्ध कर श्मसान घाट की रात्रिकालीन भयकरता के बीच उसके व्यवहारिक उपयोग के लिए आवश्यक, शंकायुक्त गुप्त उपचार करने लगा। इस कहानी का विस्तृत वर्णन तो अज्ञात है पर प्रधान रूप यही रहा होगा कि उस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए जमीन पर गाड़े गये असख्य तीरों पर चढ़कर एक वट वृक्ष पर लटकते रस्से को पकड़ना होगा। इस अद्भुत सिद्धान्त को उच्चरित करते हुए उसने चढ़ना प्रारम्भ किया। इसी बीच ललित नामक एक राजा का अयोग्य लड़का जिसने चौर-वृत्ति अपनायी थी अपनी पत्नी के लिए कुशाग्रपुर के राजा की महारानी का सुप्रसिद्ध हार चुराकर वहां आया। वह अपने कार्य में सफल हो गया पर अपने को पुलिस की दृष्टि से वंचित न कर सका। वह हार अधेरे मे चमकता था जिसके फलस्वरूप पुलिस ने उसका पीछा किया। अतः उसने हार को अंधेरे में फेंक दिया और शहर की गलियो को पार करता हुआ धरसेन के पास पहुँचा। धरसेन को रस्सो पकड़ने में हिचकिचाहते देख उसने इसके बारे में पूछा और पवित्र सिद्धान्त को हृदयंगम कर निर्भिकता-पूर्वक रस्सी पकड़कर सभी तीरों को काट डाला। इस तरह अपनी अद्वितीय साहसिकता के फलस्वरूप धरसेन द्वारा इच्छित सिद्धान्त का उसने अनुष्ठान कर लिया। वह बाद में चलकर जैनमुनि हो गया और उसने कैलाश पर्वत पर अपनी तपस्या का अनुष्ठान किया।

इस तरह इन उपर्युक्त उद्धत कहानियों में एक अपूर्व प्राण-शक्ति, कर्म-सृष्टि की उपादेयता, आध्यात्मिक मस्तिष्क की स्निग्धता का संयोग है। धर्म-सिद्धान्त की सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाईयों पर भी विशाल

और प्रकाण्ड आस्था का आरोप निश्चय ही कहानियों की उपदेशात्मकता को गतिशील और स्थायी बनाने में तन्मय है। इनसे मानव के नैतिक उत्थान के साथ अलौकिक आनन्द प्रसार की समृद्धि उपलब्ध हो तो कोई आश्चर्य नहीं। एक शांत वातावरण में कहानियों में सब कुछ कह दिया गया है जो पावन है, प्रज्ज्वल है, परोपकारी है, पतन के बीच उत्थान है। मनोवैज्ञानिक प्रभाव से अभिसिक्त इनकी नैतिक विकासधारा में जीवन की सर्वांगीण प्रतिष्ठा की झलक है और है प्रोज्ज्वल ज्ञान दीपिका की छाया में जीवन की एकाकी साधना का उत्कर्ष। साधनामय जीवन का अनुष्ठान इन कहानियों की ओजस्विता के आलोक में दृष्टिगत होगा। इसी प्रकार "यशस्तिलक" में समस्त वर्णित कहानियों में नैतिक प्रभाव का रूप है।

धर्मामृत—

दूसरी प्रस्तुत कथा-पुस्तक धर्मामृत है।[1] इस पुस्तक में अन्य कथापुस्तकों की अपेक्षा कहानियो के माध्यम से अधिक कार्यसिद्धि हुई है। इसकी कहानियो में विभिन्न अंगों और व्रतो की महत्ता का उल्लेख है। ऐसे सारगर्भित विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण अद्वितीय प्रतिभा का कार्य है और वह भी कहानियो द्वारा। कहानियों की अभिव्यंजनात्मक पद्धति में इन अगों और व्रतो की व्यावहारिकता का साकार निरूपण हो जाता है। जैन धर्म में अंगों और व्रतों का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इस महत्त्व के चित्र को साधारण जनता के हृदय तक पहुँचानेमें कहानियो का आधार अतिश्लाघनीय है। इन कहानियो से जैनधर्म की महत्ता पराकाष्ठा पर चली गयी है। जैनधर्म में तरंगित आदर्शों, सिद्धान्तों, धार्मिक आख्यानों का इतने सरल ढंग से प्रतिपादन करना वास्तव में मानवता का महान् कल्याण करना है। लोक कल्याण की यह भावना शाश्वत है, विश्वजनीन है, अपरिमेय है, अलौकिक है। इन कहानियों में सर्वत्र परिव्याप्त चिन्तन-धारा का वेग शांतिप्रदायक है, मृद मंगलकारी है।

साहित्य की दृष्टि से भी उनकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता। इनमें कथानक का उत्थान कथोपकथन की 'नैतिक शैली' घटनाओं का क्रमिक विकास आदि का सर्वत्र बाहुल्य है। इनमें जन-साहित्य का अपना स्वर बोलता है, जन-कहानी की अपनी कहानी निरूपित है। साहित्य भी आदमी का नैतिक और चारित्रिक विकास कर सकता है यह ये कहानियां प्रत्यक्ष सिद्ध कर देती हैं। निश्चय साहित्य का शाश्वत रूप इन कहानियों में फूटा पड़ा है। इन कहानियो की सबसे बड़ी विशेषता है कि इनमें स्वतन्त्र धार्मिक अनुष्ठानों का सहारा लिया गया, आत्म-कल्याण, लोक-कल्याण दोनों की शिखाएं इनमें प्रज्वलित हैं। कहानियों की चेतना में शौर्य है, शान है।

धर्मामृत की कहानियों के पात्र अति थोड़े हैं। साधारणतः दो आदमियों की बातचीत से कहानी आगे बढ़ती हैं। बातचीत के प्रसंग में ही अन्य कहानी फूट चलती है। अगों में निःशंकित अंग,

---

१ अनुवादकर्ता देशभूषण महाराज

निःकांक्षित अंग, अमूढ़ दृष्टि अंग, उपगूहन अंग और वात्सल्य अंग आदि से सम्बन्धित कहानियों में भावना का अधिक उत्कर्ष है, नैतिक प्रवृत्ति की अधिक व्यंजना है ।

वात्सल्य अंग की कहानी प्रौढ़ और उदात्त है । गौतम स्वामी से राजा श्रेणिक प्रश्न करते हैं—"प्रभो वात्सल्य अग का स्वरूप क्या है, और उसके धारणा करने वाले को क्या फल मिलता है ?

गौतम स्वामी—"राजन् ! साधर्मी भाई के साथ स्नेह करना, उसके कष्ट और संकटों को दूर करने का प्रयत्न करना वात्सल्य अंग है ।" इसके बाद गौतम भगवान् वात्सल्य अग की कहानी कहते हैं । कुरुजागल के राजा महायज्ञ इसके पात्र बने और इस अंग का सम्पूर्ण विवेचन हो गया। कहानी की इतनी सरल पद्धति कहीं भी प्राप्य नहीं ।

उपसंहार—

इसी प्रकार व्रतों की आवश्यकता, उनका प्रयोग, उनकी उपयोगिता आदि पर अनेकों कहानियां हैं जो जीवन को समुस्थित करने में संलग्न हैं । इन कहानियों के सतत चिन्तन और मनन से एक विशाल नैतिक पुरुष का निर्माण हो सकता है, जो अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाखों मानवीय पुतलों का उद्धार कर सकता है । इनकी नैतिक प्रेरणा में एक अजीब आध्यात्मिकता और पवित्रता का सामञ्जस्य है । जैन धर्म की व्यापक चेतना से स्पन्दित इन नैतिक कहानियों में जीवन का नैतिक उत्थान अवश्य समाहित है । जैन धर्म को विस्तृत करने में इन कहानियों से विशेष सहायता मिल सकती है ।



नारी :

अतीत,

प्रगति और परम्परा

श्रमण संस्कृति में नारी

श्री पं० परमानन्द जैन शास्त्री

श्रमण संस्कृति में नारी का स्थान—

श्रमण संस्कृति में भारतीय नारी का आत्मगौरव लोक में आज भी उद्दीपित है, वह अपने धर्म और कर्तव्यनिष्ठा के लिए जीती है। नारी का भविष्य उज्ज्वल है, वह नर की जननी है और मातृत्व के आदर्श गौरव को प्राप्त है। वैदिक परम्परा में नारी का जीवन कुछ गौरवपूर्ण नहीं रहा, और न उसे धर्मसाधना द्वारा आत्म-विकास करने का कोई साधन अथवा अधिकार ही दिया गया, वह तो केवल भोगोपभोग की वस्तु एवं पुत्र जनने की मशीनमात्र रह गई थी। उसका मनोबल और आत्मबल पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा हुआ होने के कारण कुंठित हो गया था। वह अबला एवं असहाय जैसे शब्दों द्वारा उल्लेखित की जाती थी और पुरुषों द्वारा पद-पद पर अपमानित की जाती थी। उस समय जनता—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' की नीति को भूल चुकी थी। वेदमन्त्र का पाठ अथवा उच्चारण करना भी उन्हें गुनाह एवं अपराध माना जाता था। जाति-बन्धन और रीति-रिवाज भी उनके उत्थान में कोई सहायक नहीं थे, बल्कि वे उन्हें और भी पतित करने में सहायक हो जाते थे। वैदिक संस्कृति की इस संकीर्ण मनोवृत्ति वाली धारा के प्रवाह का परिणाम उस समय की श्रमण संस्कृति और उनके धर्मानुयायियों पर भी पड़ा। फलत: उस धर्म के अनुयायियों ने भी पुराणादि ग्रन्थों में नारी की निन्दा की, उसे 'विषवेल', 'नरक पद्धति' तथा मोक्षमार्ग में बाधक बतलाया। फिर भी, श्रमण संस्कृति में नारी के धर्म-साधना का—धर्म के अनुष्ठान द्वारा आत्म-साधना का—कोई अधिकार नहीं छीना गया, वे उपचार महाव्रतादि के अनुष्ठान द्वारा 'आर्यिका' जैसे महत्तर पद का पालन करती हुई अपने नारी-जीवन को सफल बनाती रही हैं।

तुलनात्मक अध्ययन—

वैदिक संस्कृति की तरह बौद्ध परम्परा में भी स्त्री का कोई धार्मिक स्थान नहीं था। आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के संघ में लाखों स्त्रियों को दीक्षित देखकर, और उनके द्वारा श्राविका, क्षुल्लिका और आर्यिका के व्रतों के अनुष्ठान द्वारा होनेवाली धार्मिक उदारता को देखकर, गौतम बुद्ध के शिष्य आनन्द से न रहा गया, उसने बुद्ध से कहा कि आप अपने संघ में स्त्रियों को दीक्षित क्यों नहीं करते, तब बुद्ध ने कहा कि कौन झगड़ा मोल ले।

उस समय वैदिक संस्कृति का बोलबाला था। उसके खिलाफ प्रवृत्ति करना साधारण कार्य नहीं था। इससे स्पष्ट है कि उस समय वैदिक सस्कृति के प्राबल्य के कारण बुद्ध भी स्त्रियों को अपने संघ में दीक्षित करने में संकोच करते थे। परन्तु महावीर ने उसे कार्य रूप में परिणत कर नारी का समुद्धार ही नहीं किया, प्रत्युत एक आदर्श मार्ग को भी जन्म दिया। पश्चात् आनन्द की प्रेरणा स्वरूप बुद्ध ने भी स्त्रियों को दीक्षित करना शुरू कर दिया। ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रमण सस्कृति में आंशिक रूप से नारी का प्रभुत्व बराबर कायम रहा। फिर भी नारी ने उस काल में भी अपने आदर्श जीवन की महत्ता को नष्ट नहीं होने दिया; किन्तु अपनी आन को बराबर कायम रखते हुए उसे और भी समुज्ज्वल बनाने का यत्न किया।

सीता का आदर्श—

जिस तरह पुरुषों में सेठ सुदर्शन ने ब्रह्मचर्यव्रत के अनुष्ठान द्वारा उसकी महत्ता को गौरवान्वित किया; ठीक उसी तरह एक अकेली भारतीय सीता ने अपने सतीत्व-संरक्षण का जो कठोरतम परिचय दिया उससे उसने केवल स्त्री-जाति के कलक को ही नही धोया; प्रत्युत भारतीय नारी के अवनत मस्तक को सदा के लिए उन्नत बना दिया। जब रामचन्द्र ने सीता से अग्निकुण्ड में प्रवेश करने की कठोर आज्ञा द्वारा अपने सतीत्व का परिचय देने के लिए कहा, तब सीता ने समस्त जनसमूह के समक्ष यह प्रतिज्ञा की, कि यदि मैंने मन से, वचन से और काय से रघु को छोड़कर स्वप्न में भी किसी अन्य पुरुष का चिन्तन किया हो तो मेरा यह शरीर अग्नि में भस्म हो जाय, अन्यथा नहीं, इतना कह कर सीता उस अग्निकुण्ड की भीषण ज्वाला में कूद पड़ी और सती साध्वी होने के कारण वह उसमें से खरी निकली[1]। लोकापवाद का वह कलंक जो जबर्दस्ती उसके शिर मढ़ा गया था वह सदा के लिए दूर हो गया और सीता ने फिर ससार के इन ऐहिक भोग-विलासो को हेय समझ कर, रामचन्द्र की अभ्यर्थना और पुत्रादि के मोहजाल को उसी समय छोड़कर पृथ्वीमती आर्यिका के निकट आर्यिका के व्रत ले लिये और अपने केशों को भी दुखदायी समझ कर उनका भी लोच कर डाला[2] तथा कठिन तपश्चर्या द्वारा उस स्त्री पर्याय का भी विनाश कर स्वर्गलोक में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

---

१. सर्वं प्राणिहिताऽऽचार्यचरणौ च मनस्विनी ।
प्रणम्योदार गंभीरा विनीता जानकी जगौ ।।
कर्मणा मनसा वाचा, रामं मुक्त्वा परं नरम् ।
समुद्वहामि न स्वप्नेऽप्यन्यं सत्यमिदं मम ।।
यद्येतदनृतं वच्मि, तदा मामेष पावकः ।
भस्मसाद्भावमप्राप्तामपि प्रापयतु क्षणात् ।।
—पद्मचरित १०५, २४–२६

२. इत्युक्त्वाऽभिनवाशोकपल्लवोपमपाणिना ।
मूर्द्धजान् स्वयमुद्धृत्य पद्मायाऽर्पयत्स्पृहा ।।६७।।
इन्द्रनीलद्युतिच्छायान् सुकुमारान्मनोहरान् ।
केशान्वीक्ष्य ययौ मोहं रामोऽपतच्च भूतले ।।७७।।

भारतीय श्रमण-परम्परा में केवल भगवान् महावीर ने नारी को अपने संघ में दीक्षित कर आत्म-साधना का अधिकार दिया हो, यही नही, किन्तु जैनधर्म के अन्य २३ तीर्थंकरों ने भी अपने अपने सघ में ऐसा ही किया है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रमण संस्कृति ने पुरुषों की भांति ही स्त्रियों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा की—उनके आदर्श को भी कायम रहने दिया, इतना ही नहीं किन्तु उनके नैतिक जीवन के स्तर को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। भारत में गाधी-युग में गाँधीजी के प्रयत्न से नारी के अधिकारों की रक्षा हुई है। उहोने जो मार्ग दिखाया उससे नारी-जीवन में उत्साह की एक लहर आ गई है, और नारियाँ अपने उत्तरदायित्व को भी समझने लगी है। फिर भी वैदिक सस्कृति में धर्मसेवन का अधिकार नही मिला।

नारियों के कुछ कार्यों का दिग्दर्शन—

भारतीय इतिहास को देखने से इस बात का पता चलता है कि पूर्वकालीन नारी कितनी विदुषी, धर्मात्मा, और कर्तव्यपरायणा होती थी। वह आजकल की नारी के समान अबला या कायर नही होती थी, किन्तु निर्भय, वीरागना और अपने सतीत्व के संरक्षण में सावधान होती थी जिनके अनेक उद्धरण पुराण ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं। यह सभी जानते है कि नारी में सेवा करने की अपूर्व क्षमता होती है। पतिव्रता नारी केवल पति के सुख-दु.ख मे ही शामिल नही रहती है, किन्तु वह विवेक और धैर्य से कार्य करना भी जानती है। पुराणों में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते है जिनमें स्त्री ने पति की सेवा करते हुए उसके कार्यों में, और राज्य के संरक्षण में तथा युद्ध में सहायता की है—अवसर आने पर शत्रु के दाँत खट्टे किये है।† और पति के वियोग मे अपने राज्यकार्य की सभाल यत्न के साथ की है। इससे नारी की कर्तव्यनिष्ठा का भी बोध होता है। नारी जहाँ कर्तव्यनिष्ठ रही है वहाँ वह धर्मनिष्ठ भी रही है। धर्म-कर्म और व्रतानुष्ठान मे नारी कभी पीछे नही रही है। अनेक शिला-लेखो में भारतीय जैन-नारियो द्वारा बनवाए जानेवाले अनेक विशाल गगनचुम्बी मन्दिरो के निर्माण

यावदाश्वासनं तस्य प्रारब्धं चंदनादिना।
पृथ्वीमत्यार्यया तावद्दीक्षिता जनकात्मजा ॥७८॥
ततो दिव्यानुभावेन सा विघ्नपरिवर्जिता।
संवृत्ता श्रमणा साध्वी वस्त्रमात्रपरिग्रहा ॥७९॥

—पद्मचरित प० १०५

† चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख नं० ६१ (१३९) में, जो 'वीरगलु' के नाम से प्रसिद्ध हं उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणि के वीरयोद्धा 'बद्देग' (विद्याधर) और उसकी पत्नी सावियब्बे का परिचय दिया हुआ है, जो अपने पति के साथ 'बागेयूर' के युद्ध में गई थी और वहाँ शत्रु से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुई थी। लेख के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण है उसमें वह घोड़े पर सवार है और हाथ में तलवार लिये हुए हाथी पर सवार हुए किसी वीर पुरुष का सामना कर रही है। सावियब्बे रूपवती और धर्म-निष्ठ थी, जिनेन्द्रभक्ति में तत्पर थी। लेख में उसे रेवती, सीता और अरुन्धती के सदृश बतलाया गया है।

और उनकी पूजादि के लिये स्वयं दान दिये और दिलवाये थे। अनेक गुफाओं का भी निर्माण कराया था, जिनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

१. कलिंगाधिपति राजा खारवेल की पट्टरानी ने कुमारी पर्वत पर एक गुफा बनवाई थी, जिस पर आज भी निम्न लेख अंकित है और जो रानी गुफा के नाम से उल्लेखित की जाती है :—

१. "अरहंत पसादाय (म्) कालिंगा (न) म् समणानम् लेनं कारितं राजिनो ल (।) लाक (स)
२. हथिस हंस-पपोतस धुना कलिंग—च (का) र वे ल स
३. अगमहीषी या का लेणं ।"

२. चतुर्थ रट्टराजा शान्तिवर्मा, जो पृथ्वीराम के समान ही जैनधर्म के उपासक थे; इनकी रानी चांदकब्बे भी जिनधर्म की परम उपासिका थी, शान्तिवर्मा ने सन् ९८१ (वि० स० १०३८) में सोन्दत्ति में जिन-मन्दिर का निर्माण कराया था और १५० महत्तर भूमि राजा ने और उतनी ही भूमि रानी चांदकब्बे ने बाहुबलीदेव को प्रदान की थी, जो व्याकरणाचार्य थे।

—देखो, सोन्दत्ति लेख नं० १६०।

३. विष्णुवर्द्धन की भार्या शान्तलदेवी नें सन् ११२३ (वि० स० १२३०) में गधवारण वस्ति बनवाई। यह मारसिंह और माचिकब्बे की पुत्री थी और जिनधर्म में सुदृढ़ और गान-नृत्य विद्या में अत्यन्त चतुर थी।

४. सोदे के राजा की रानी ने, कारणवश पति के धर्म-परिवर्तन कर लेने के बाद भी पति की असाध्य बीमारी के दूर होने तथा अपने सौभाग्य के अक्षुण्ण बने रहने पर अपने नासिकाभूषण (नथ) को, जो मोतियों का बना हुआ था, बेच कर एक जैन-मन्दिर बनवाया था और सामने एक तालाब भी जो इस समय 'मुत्तनकेरे' के नाम से प्रसिद्ध है।

५. आहवमल्ल राजा के सेनापति मल्लप की पुत्री अतिमब्बे ने, जो जैन-धर्म की विशेष श्रद्धालु और दानशीला थी, उसने चांदी सोने की हजारो जिन प्रतिमाएँ स्थापित की और लाखो रुपये का दान किया था।

६. "होयसल नरेश बल्लाल, बल्लाल द्वितीय के मंत्री चन्द्रमौलि वेदानुयायी ब्राह्मण थे। परन्तु उनकी पत्नी 'आचियक्क' जिनधर्म परायणा थी और वीरोचित क्षात्रधर्म में निष्ठ थी, उसने बेलगोल में पार्श्वनाथ वस्ति का निर्माण कराया था।"

—देखो, श्रवणबेलगोल लेख नं० ४१४

जबलपुर में 'पिसनहारी की मड़िया' के नाम से एक जैनमन्दिर प्रसिद्ध है जिसे एक महिला ने आटा पीस-पीस कर बड़े भारी परिश्रम से पैसा जोड़कर भक्तिवश अपने द्रव्य को सत्कार्य में लगाया

था। आज भी अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ तथा धर्मशालाएँ अनेक नारियों के द्वारा बनवाई गई हैं, जिनका उल्लेख लेखवृद्धि के भय से नहीं किया है।

नारियों में धर्माचरण और उनके सन्यास लेने के कुछ उल्लेख—

नारी को तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और अन्य अनेक पुण्यात्मा महापुरुषों के उत्पन्न करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्होंने संसार के दुःखी जीवों के दुःखों को दूर करने के लिए भोग-विलास और राज्यादि विभूतियों को छोड़कर आत्म-साधना द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अनेक स्त्रियों ने आर्यिकाओं के व्रतों को धारण कर आत्म-साधना की उस कठोर तपश्चर्या को अपनाया है और आत्मानुष्ठान करते हुए मन और इन्द्रियों को वश में करने का भी प्रयत्न किया है। साथ ही, आगत उपसर्ग परीषहों को भी समभाव से सहन किया है और अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा। उन धर्म-साधिका नारियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

१. भगवान् महावीर के शासन में जीवधर स्वामी की आठों पत्नियों ने, जो विभिन्न देशों के राजाओं की राजपुत्रियाँ थी, पति के दीक्षा लेने पर आर्यिका के व्रत ग्रहण किये थे।

२. वीर-शासन में जम्बूस्वामी अपनी तात्कालिक परिणाई हुई आठो स्त्रियों के हृदयों पर विजय कर प्रातःकाल दीक्षित हो गए। तब उनकी उन स्त्रियों ने भी जैनदीक्षा धारण की।

३. चन्दनासती ने, जो वैशाली गणतंत्र के राजा चेटक की पुत्री थी, आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, भगवान् महावीर से दीक्षित होकर आर्यिका के व्रतों का अनुष्ठान करती हुई महावीर के तीर्थ में छत्तीस हजार आर्यिकाओं में गणिनी का पद प्राप्त किया था।

४. मयूर ग्राम संघ की आर्यिका दमितामती ने कटवप्र गिरि पर समाधिमरण किया।

५. नविलूरघ की अनतमती-गन्ति ने द्वादशतपों का यथाविधि अनुष्ठान करते हुए अन्त में कटवप्र पर्वत पर स्वर्गलोक का सुख प्राप्त किया।

६. दण्डनायक गङ्गराज की धर्मपत्नी लक्ष्मीमती ने, जो सती, साध्वी, धर्मनिष्ठा और दानशीला थी, और मूल संघ देशीगण पुस्तकगच्छ के शुभचन्द्राचार्य की शिष्या थी, उसने शक सं० १०४४ (वि० सं० ११७९) में सन्यासविधि से देहोत्सर्ग किया था।

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण शिलालेखों और पुराण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिन सब का संकलन करने से एक पुस्तक का सहज ही निर्माण हो सकता है। अस्तु, यहाँ लेख-वृद्धि के भय से उन सभी को छोड़ा जाता है।

ग्रंथ रचना—

अनेक नारियाँ विदुषी होने के साथ-साथ लेखिका और कवयित्री भी हुई है। आज भी अनेक नारियाँ विदुषी लेखिका तथा कवयित्री हैं, जिनकी रचना भावपूर्ण होती है। भारतीय जैन श्रमण

परम्परा में ऐसी पुरातन नारियाँ संभवतः कम ही हुई हैं जिन्होंने निर्भयता से पुरुषों के समान नारी जाति के हित की दृष्टि से किसी धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र का निर्माण किया हो, इस प्रकार का कोई प्रामाणिक उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया।

हाँ, जैन-नारियो के द्वारा रची हुई दो रचनाएँ मेरे देखने में अवश्य आई है, जिनसे ज्ञात होता है कि वे भी प्राकृत, संस्कृत और गुजराती भाषा की जानकार थी। इतना ही नही किन्तु गुजराती भाषा में कविता भी कर लेती थी। ये दोनों रचनाएँ दो विदुषी आर्यिकाओं के द्वारा रची गई हैं।

उनमें से प्रथम कृति तो एक टिप्पण ग्रन्थ है, जो अभिमानमेरु महाकवि पुष्पदन्त कृत 'जसहरचरिउ' नामक ग्रन्थ का सस्कृत टिप्पण है, जिसकी पत्र सख्या १६ है और जिसकी खडित प्रति देहली के पचायती मन्दिर के शास्त्र भडार में मौजूद है। जिसमें २ से ११ और १६ वाँ पत्र अवशिष्ट है, शेष मध्य के ७ पत्र नही है। सभवत. वे उस दुर्घटना के शिकार हुए हों, जिसमें देहली के शास्त्र-भंडारों के हस्तलिखित ग्रन्थो के त्रुटित पत्रो को बोरी मे भरवा कर कलकत्ता के समुद्र में कुछ वर्ष हुए गिरवा दिया गया था। इसी तरह पुरातन खंडित मूर्तियो को भी देहली के जैनसमाज ने अवज्ञा के भय से अग्रेजों के राज्य में बम्बई के समुद्र में प्रवाहित कर दिया था, जिन पर सुनते है कितने ही लेख भी अंकित थे। खेद है! समाज के इस प्रकार के अज्ञात प्रयत्न से नही मालूम कितनी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री विलुप्त हो गई है। आशा है दिल्ली समाज आगे इस प्रकार की प्रवृत्ति न होने देगा।

यशोधरचरित-टिप्पणी की यह प्रति सं० १५६६ मगसिरवदी १० भी बुधवार को लिखी गई है। टिप्पण के अन्त में निम्न पुष्पिका वाक्य लिखा हुआ है—"इति श्री पुष्पदन्त यशोधर काव्य को लिखो अजिका श्री रणमति कृत सम्पूर्णम्"। टिप्पण के इस पुष्पिका वाक्य से टिप्पणग्रन्थ की रचयित्री 'रणमति' आर्यिका है और उसकी रचना स० १५६६ से पूर्व हुई है, कितने पूर्व हुई है। इसके जानने का अभी कोई साधन नही है।

टिप्पण का प्रारभिक नमूना इस प्रकार है:—

"वल्लहो—वल्लभ इति नामान्तरं कृष्णराजदेवस्य। पज्जत्तउ—पर्याप्तमलमिति यावत्। दुक्किय पहाए—दुः कृतस्य प्रथम प्रख्यापनं विस्तरण वा। दु. कृत मार्गोवा। लहुमोक्ष—देशतः कर्मक्षयं लब्ध्विति शीघ्रं पर्यायो वा। पंचमु पंचसु पंचसु—भरतैरावतविदेहाभिधानासु प्रत्येकं पंचप्रकारतया पंचसुदशसुकर्मभूमिषु। दयासहीमु-धर्मोदया सख्यं। ईव इव—दया सहितासु वा। धुउ पंचसु—विदेह भूमिषु पचसु ध्रुवो धर्म्मसूत्रैक एव चतुर्थः कालः समयः। दससु—पंच-भरत पंचैरावतेषु। कालावेख्खवए—वर्तमान (ना) सर्प्पिणी कालापेक्षया। पुनः देवसामि—प्रधानामराणां त्व स्वामी। वत्ताणुट्ठाणें—कृषि पशुपालन वाणिज्या च वार्ता। खत्तधनु-क्षत्रदडनीति। परमपत्तु—परमा उत्कृष्टा गणेन्द्रा० वृषभसेनादयस्तेषा परम पूज्यः।।"

दूसरी कृति समकितरास है, जो हिन्दी गुजराती मिश्रित काव्य-रचना है। इस ग्रन्थ की पत्र-संख्या ८६ है, और यह ग्रन्थ ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवन झालरापाटन के शास्त्र-भंडार में

सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में सम्यक्त्वोत्पादक आठ कथाएँ दी हुई हैं, और प्रसंगवश अनेक अवांतर कथाएँ भी यथास्थान दी गई हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ संस्कृत सम्यक्त्व कौमुदी का गुजराती पद्यानुवाद है। इसकी रचयित्री आर्या रत्नमती है। ग्रन्थ में उन्होंने जो अपनी गुरु-परम्परा दी है वह इस प्रकार है :—

मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय सरस्वति गच्छ में भट्टारक पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लि भूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, आर्या चन्द्रमती, विमलमती और रत्नमती । ‡

ग्रन्थ का आदि मंगल इस प्रकार है :—

वीर जिनवर वीर जिनवर नमूं ते सार। तीर्थंकर चोवीसवें।
मनुवांछित फलबहु दान दातार। निरमल सारदा स्वामिणीवली तवूं।
लक्ष्मीचन्द्र वीरचंद्र मनोहर। ज्ञानभूषण पाय प्रणमिनि।
रत्नमती कहि चंग, रास करूं अति रूवडो। श्री समकिततणु मनिरंगि ॥१॥

भासरासनी—

चउवीस जिनवर पायनमीए, सारदा तणिय पसायनु।
मूलसंघ महिमानिलुए, भारतीगच्छ सिणगारनु ॥१॥
कुंदकुंदाचारि जि कुलिइंए, पद्मनंदीशुभ भावनु।
देवेन्द्र कीरति गुरुगुण निलुए, श्री विद्यानंदि महंतनु ॥२॥
श्री मल्लिभूषण महिमा निलुए, श्री लक्ष्मीचंद्र गुणवंतनु ॥३॥
वीरचन्द्र विद्या निलुए, श्री ज्ञानभूषण ज्ञानवंतनु ॥३॥
गंभीरार्णव समुए, मेरु सारिखु धीरनु।
दयाराणी जि भिम निवसए, ज्ञानतणु दातारनु ॥४॥

अंतिमभाग.—

शांती जिनवर शांती जिनवर नमिय ते पाय।
रास कहुं सम्यक्ततणु सारदातणिय पसाय मनोहर।

---

‡ इस गुरु परम्परा में भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति सूरत की गद्दी के भट्टारक थे। विद्यानंदि सं० १५१८ में उस पट्ट पर विराजमान हुए थे। मल्लिभूषण सागवाडा मालवा की गद्दी के भट्टारक थे। लक्ष्मीचन्द्र वीरचन्द्र भी मालवा या सागवाडा के आस-पास भट्टारक पद पर आसीन रहे हैं। ये ज्ञानभूषण तत्त्वज्ञान तरंगिणी के कर्ता से भिन्न हैं। क्योंकि यह भ० वीरचन्द्र के शिष्य थे। और तत्त्वज्ञानतरंगिणी के कर्ता भ० भुवनकीर्ति के शिष्य थे।

कुंदकुंदाचारिजिकुलि पद्मनंदि गुरु जाणि ।
देविंद कीरति तेह पट्टहुव वादीसिरोमणि वाखाणि ॥
दूहा— विद्यानन्द तस पट्ट हुवनिर्मल्लिभूषणमहंत ।
लक्ष्मीचंद्र तेह पट्टीसिणु यतिय सरोमणि संत ॥
वीरचन्द्र पाटिज्ञान भूषण नमीनि । चंद्रमती बाइ नमी पाय ।
रत्नमती थोपिए रास कर विमलमती कहिण थकी सार ॥
इति सम्यक्तरास समाप्तः । आर्यरत्नमती कृत ॥
भ० पूंजारावजी पठनार्थं (श्रीरस्तु) ।

आर्या रत्नमती ने अपना यह रास अथवा रासा आर्या विमलमती की प्रेरणा से रचा था । आर्या रत्नमती की गुरुआणी आर्या चन्द्रमती थी । यह ग्रन्थ विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्यकाल की रचना जान पड़ती है; क्योंकि रत्नमती की उक्त गुरु-परम्परा में निहित विमलमती वह विमलश्री जान पड़ती है, जिनकी शिष्या विनयश्री भ० लक्ष्मीचन्द्र के द्वारा दीक्षित थी, जिन्होंने पं० आशाधरकृत महा-अभिषेक पाठकी ब्रह्मश्रुत सागरकृत टीका उक्त भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मज्ञानसागर को स० १५५२ में लिखकर प्रदान की थी । इस उल्लेख पर से भी आर्या रत्नमती विक्रम की १६ वी शती के मध्य की जान पड़ती हैं ।

अनेक विदुषी नारियों ने केवल अपना ही उत्थान नहीं किया, अपने पति को भी जैन-धर्म की पावन शरण में ही नही लाईं; प्रत्युत उन्हें जैनधर्म का परम आस्तिक बनाया है और अपनी सन्तान को भी सुशिक्षित एवं आदर्श बनाने का प्रयत्न किया है । उदाहरण के लिये अपने पति मगधदेश के राजा श्रेणिक (विम्बसार) को भारतीय प्रथम गणतंत्र के अधिनायक लिच्छविवंशी राजा चेटक की सुपुत्री चेलना ने बौद्धधर्म से पराङ्मुख कर जैनधर्म का श्रद्धालु बनाया है जिसके अभय कुमार और वारिषेण जैसे पुत्ररत्न हुए, जिन्होंने सांसारिक सुख और वैभव का परित्याग कर आत्म-साधना की कठोर तपश्चर्या का अवलम्बन किया था ।

इस तरह नारी ने श्रमण संस्कृति में अपना आदर्श जीवन बिताने का यत्न किया है । उसने पुरुषों की भांति आत्मसाधन और धर्मसाधन में सदा आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है । नारी में जिनेन्द्र भक्ति के साथ श्रुतभक्ति में भी तत्परता देखी जाती है, वे श्रुत का स्वय अभ्यास करती थीं, समय-समय पर ग्रन्थ स्वयं लिखतीं और दूसरों से लिखा-लिखा कर अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ, साधुओ, विद्वानों और तत्कालीन भट्टारकों तथा आर्यिकाओं को प्रदान करती थीं, इस विषय के सैकड़ों उद्धरण हैं, उन सब को न देकर यहाँ सिर्फ ५–६ उद्धरण ही नीचे दिये जाते हैं :—

१. संवत् १४६७ में काष्ठा संघ के आचार्य अमरकीर्ति द्वारा रचित 'षट्कर्मोपदेश' नामक ग्रन्थ की १ प्रति ग्वालियर के तंवर या तोमरवंशी राजा वीरमदेव के राज्य में अग्रवाल साहू जैतू की धर्मपत्नी सरे ने लिखाकर आर्यिका जैतश्री की शिष्यणी आर्यिकाबाई विमलश्री को समर्पित की थी ।

२. संवत् १४८५ में अग्रवालवंशी साहू वच्छराज की सतीसाध्वी पत्नी 'पाल्हे' ने अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ द्रव्यसंग्रह की ब्रह्मदेवकृत वृत्ति लिखाकर प्रदान की ।

३. संवत् १५९५ में खंडेलवालवंशी साह छीतरमल की पत्नी राजाही ने अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथ लिखाकर मुनिदेवनन्दि को प्रदान किया ।

४. संवत् १५३३ में धनश्री ने पद्मनन्द्याचार्य की 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' प्राकृत लिखाकर पं० मेधावी को प्रदान की थी ।

५. संवत् १५६० में माणिक बाई हूमड़ ने, जो व्रतधारिणी थी, गोम्मटसार पंजिका लिखाकर लघु-विशाल कीर्ति को भेंट स्वरूप प्रदान की थी ।

६. सं० १६६८ में हूबड़ज्ञातीयबाई तडनायक ने भ० सकलकीर्ति के 'वर्धमान पुराण' को भ० सकल-चन्द्र से दीक्षित बाई हीरो से लिखाकर भ० सकलचन्द्र को प्रदान किया था ।

उपसंहार—

आशा है, पाठक इस लेख की संक्षिप्त सामग्री पर से नारी की महत्ता का अवलोकन करेंगे, उसे उचित सम्मान के साथ उसकी निर्बलता को दूर करने का यत्न करेंगे और श्रमण संस्कृति में नारी की महत्ता का मूल्यांकन करके नारी-जाति को ऊँचा उठाने के अपने कर्तव्य का पालन करेंगे ।



जिनसेन की नारी

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावित—

कवि या कलाकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। वह जिस युग में रहकर अपने साहित्य का निर्माण करता है, उस युग की छाप उसके साहित्य पर अवश्य पड़ती है; फलतः हम किसी भी महान् साहित्यकार की रचना में उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजो का सम्यक्तया अवलोकन कर सकते हैं। यही कारण है कि किसी भी विशेष युग का साहित्य उस युग के इतिहास निर्माण का सुन्दर उपकरण होता है। आज से ११११० वर्ष पहले जिनसेन नामक एक प्रख्यात जैनाचार्य ने आदिपुराण नामक पुराण ग्रन्थ की रचना की है। इस पुराण में धर्म, दर्शन, कथा, इतिहास आदि के साथ उस समय की नारी के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि विविध क्षेत्रों की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। यद्यपि उस युग में भी नारी जाति पर पुरुष जाति वैयक्तिक एव सामाजिक रूप से अनुचित लाभ उठाती थी, पर नारी की स्थिति आज से कहीं अच्छी और सम्मानपूर्ण थी। नारी मात्र भोगैषणा की पूर्ति का साधन नहीं थी, उसे भी स्वतत्र रूप से विकसित और पल्लवित होने की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त थी। वह स्वयं अपने भाग्य की विधायिका थी। वह जीवन में पुरुष की अनुगामिनी बनती थी, दासी नहीं। उसका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व था, पुरुष के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व उसे मिला देना नही पड़ता था। आज की तरह उस समय की नारी को घूघट डालकर पर्दे में बन्द नही होना पड़ता था। यहाँ पर्याप्त प्रमाण देकर आचार्य जिनसेन ने नारी की जिस स्थिति का निरूपण किया है, उस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

कन्या की स्थिति—

जिनसेन ने कन्या को माँ-बाप का अभिशाप नहीं माना[1]। बल्कि बताया है कि समाज में कन्या की स्थिति आज से कहीं अच्छी थी। यद्यपि जिनसेन की रचना से यह ध्वनित होता है कि उस समय के समाज में कन्या की महत्ता पुत्र की अपेक्षा कम ही थी फिर भी कन्या परिवार के लिए मंगल मानी जाती थी इस कथन की सिद्धि के लिये हमारे पास निम्न प्रमाण हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक आचार्यों की अपेक्षा जिनसेन ने कन्या को परिवार के लिये गौरवस्वरूप बताया है।

१—पितरौ तां प्रपश्यन्तौ नितरां प्रीतिमापतुः।
कलामिव सुधासूतेः जनतानन्दकारिणीम्। —आदिपुराण पर्व ६, श्लोक ८३

(१) जब कि मनुस्मति आदि ग्रन्थों में षोड़श संस्कारों में पुंसवन संस्कार को महत्ता दी गई है वहाँ जिनसेन ने इस संस्कार की गणना ही नहीं की । इससे स्पष्ट है कि जिनसेन की दृष्टि में कन्या और पुत्र दोनों तुल्य थे । आदिपुराण (३८ पर्व श्लोक ७६) में बताया गया है—

पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यर्हदिज्यया ।
सन्तानार्थं विना रागात् दम्पतिभ्यां न्यवेयताम् ।।

इस प्रकरण में गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रमोद, नाम कर्म, बहिर्यान, निषद्या, अन्न प्राशन, व्युष्टि, चौल, लिपि-संख्यान संस्कारों का उल्लेख किया है ।

(२) कन्याओं का लालन-पालन एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी पुत्रों के समान ही होती थी । भगवान् ऋषभदेव अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की पुत्रियों को शिक्षा देने के लिये प्रेरित करते हुए कहते है–

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ।।
—(१६ पर्व श्लो० ९८२)

तद् विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम् ।
तत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना ।।
(पर्व १६ श्लो० १०२)

इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके ।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ।।
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम् ।
उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ।।
(प० १६––१०३, १०४)

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों की अपेक्षा कन्याओं की शिक्षा का पहले प्रबन्ध किया था । अंक विद्या और अक्षर विद्या में ब्राह्मी और सुन्दरी ने पूर्णतया पाण्डित्य प्राप्त किया था ।

(३) विवाह के अवसर पर वर-वरण की स्वतंत्रता कन्याओं को प्राप्त थी । आदिपुराण में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे सिद्ध है कि स्वयम्वरो में कन्याएँ प्रस्तुत होकर स्वेच्छानुसार वर का वरण करती थी ।

ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि कन्याएँ आजीवन अविवाहिता रहकर समाज की सेवा करती हुई अपना आत्मकल्याण करती थीं । ब्राह्मी और सुन्दरी ने कौमार्य अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया था । उस समय समाज में कन्या का विवाहिता हो जाना आवश्यक नहीं था । राजपरिवारों

के अतिरिक्त जनसाधारण में भी कन्या की स्थिति आज से कहीं अच्छी थी। कन्याएँ वयस्क होकर स्वेच्छानुसार अपने पिता की सम्पत्ति में से दानादिक के कार्य करती थी। आदिपुराण (पर्व ४३, श्लोक १७४, १७५) में बताया गया है कि सुलोचना ने कौमार्य अवस्था में ही बहुत-सी रत्नमयी प्रतिमाओं का निर्माण कराया और उन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराके बृहत् पूजनाभिषेक किया।

(४) कन्या का पैतृक सम्पत्ति में तो अधिकार था ही पर वह आजीविका के लिये स्वयं भी अर्जन कर सकती थी। आजीविका अर्जन के लिये उन्हें मूर्तिकला, चित्रकला के साथ ऐसी कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी जिससे वे अपने भरण-पोषण के योग्य अर्जन कर सकती थी। पिता पुत्री से उसके विवाह के अवसर पर तो सम्मति लेता ही था पर आजीविका अर्जन के साधनों पर भी उससे सम्मति लेता था। आदिपुराण के ७ वें पर्व में बताया है कि वज्रदन्त चक्रवर्ती अपनी कन्या श्रीमती को बुलाकर उसे नाना प्रकार से समझाता हुआ कलाओं के सम्बन्ध में चर्चा करता है।

गृहिणी की स्थिति—

विवाह के अनन्तर वधू गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो गृहिणी पद प्राप्त करती थी। विवाह भी साधारणतया किसी पवित्र स्थान में होता था।

पुण्याश्रमे क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः।
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सव.।।

(पर्व ३८, श्लोक १२९)

अर्थात् तीर्थस्थान में या सिद्ध प्रतिमा के सम्मुख विवाहोत्सव सम्पन्न किया जाता था। विवाह की दीक्षा में नियुक्त वरवधू देव और अग्नि की साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते थे फिर अपने योग्य किसी देश में प्रयाण कर अथवा तीर्थभूमि में जाकर प्रतिज्ञाबद्ध हो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे। दहेज आदि की प्रथा समाज में बिलकुल नही थी। हाँ, एक बात अवश्य थी कि विवाह करने में कभी २ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। विवाहिता स्त्री अपने परिवार की सब तरह से व्यवस्था करती थी। उस समय विवाह वासना की पूर्ति का साधन नही था किन्तु सतति उत्पत्ति के लिये विवाह आवश्यक माना जाता था।

प्रजा सन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसन्ततिः।
मनुष्व मानवं धर्म ततो देवेममच्युत।।
देवेम गृहिणा धर्मं विद्धि दारापरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम्।।

(पर्व १५, श्लोक ६३-६४)

(१) विवाहिता स्त्रियों की वेश-भूषा अनेक प्रकार की थी। राजपरिवार एवं धनिक परिवारों की महिलाएँ मणिमाणिक्य, स्वर्ण, रजत के नूपुर, करधनी, कर्णफूल एवं हार को धारण करती थी। मनोविनोद

के लिये फूलों के आभूषण और मालाएँ भी धारण करती थीं। रेशमी वस्त्र तथा महीन सूती वस्त्र, को भी धारण करती थीं। साधारण परिवारों में फूलो के आभूषणों के साथ साथ कम कीमत के धातुओं के आभूषण भी पहने जाते थे। प्रकृति की गोद में प्रधान रूप से विचरण करने के कारण फूलपत्तियों से उस समय नारियों को अधिक प्रेम था [1]।

(२) पुरुष एक से अधिक विवाह करता था तथा अन्तःपुरों में सपत्नियों में प्रायः कलह होता रहता था जिससे कभी कभी घरेलू जीवन दुःखमय बन जाता था। बहु विवाह की प्रथा के कारण राजपरिवारों में स्त्रियों को कष्ट का सामना करना पड़ता था। यद्यपि सामान्य परिवारों में बहु विवाह की प्रथा नहीं थी केवल धनिक परिवारों में ही बहु विवाह होते थे।

(३) विवाहित स्त्री को भी घूमने फिरने की पूर्ण स्वतंत्रता थी [2]। विवाहिता स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ तो वन-विहार करती ही थी पर कभी कभी एकाकी भी वन विहार के लिए जाती थीं।

(४) पति से ही स्त्री की शोभा नहीं थी, बल्कि पति भी स्त्री से शोभित होता था। आदि-पुराण चतुर्थ पर्व के १३२ वें श्लोक में बताया है कि मनोहर रानी अपने पति अतिबल के लिए हास्यरूपी पुष्प से शोभायमान लता के समान प्रिय थी और जिनवाणी के समान हित चाहने वाली और यश को बढ़ाने वाली थी। पर्व ६, श्लोक ५९ में बताया गया है —

स तया कल्पवल्लेव सुरागोऽलङ्कृतो नृपः।

(५) गृहस्थ-जीवन में पति-पत्नियों में कलह भी होता था। स्त्रियाँ प्रायः रूठ जाया करती थी। पतियों द्वारा स्त्रियों के मनाये जाने का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

प्रणयकोपविजिह्मगुखीर्वधूः अनुनयन्ति सदाऽत्र नभश्चराः॥
इह मृणालनियोजितबन्धनैरिह वतससरोरुहताडनैः।
इह मुखासवसेचनकैः प्रियान् विमुखयन्ति रते कुपिताः स्त्रियः॥
(पर्व १९, श्लोक ९४-९५)

(६) स्त्रियाँ व्रत उपवास अत्यधिक करती थी। आरम्भ में ही बड़े २ व्रतों को किया करती थीं। पचकल्याणकव्रत, सोलहकारण व्रत, जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति व्रत के करने की अधिक प्रथा थी। आदि पुराण के छठवें पर्व में बताया गया है कि मनस्विनी स्वयप्रभा ने अनेक व्रतोपवास किये। उस समय नारियाँ आर्यिका और क्षुल्लिका को पदवी धारण करती थी तथा वे सदा इसके लिए उत्सुक

१—प्रसूनरचिताकल्पावतंसीकृतपल्लवाः। कुसुमावचये सक्ताः सञ्चरन्तीरितस्ततः॥
लसद्दुकूलवसनैः विपुलैर्जघनस्थलैः। सकाञ्चीबंधनैः कान्तानुपकारालयामितैः॥ आदि
पर्व १८ श्लो० २०४, १९५, १९६

२—खेचरीजनसंचारसंक्रान्तपदयावकैः। रक्ताम्बुजोपहारश्रीर्यत्र नित्यं वितन्यते॥—पर्व ४ श्लो० ८६

रहती थीं कि कब उन्हें आत्मकल्याण करने का अवसर प्राप्त हो। ४६ वें पर्व के ७६ वें श्लोक में बताया गया है कि प्रियदत्ता ने विपुलमति नाम के चारण ऋद्धिधारी मुनिको नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया और मुनि से पूछा कि प्रभो मेरे तप का समय समीप है या नहीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय सांसारिक भोगों की अपेक्षा आत्मकल्याण को स्त्रियां अधिक महत्ता देती थी और परिवार में धर्मात्मा विदुषी महिलाओं का अधिक सम्मान होता था।

(७) दुराचारिणी स्त्रियों को समाज में निंद्य दृष्टि से देखा जाता था तथा पाप के फलस्वरूप उनका समाज से निष्कासन भी होता था। ४७ वें पर्व में बताया गया है कि समुद्रदत्त की स्त्री सर्वदयिता को उसके ज्येष्ठ सागरदत्त ने भ्रमवश घर से निकाल दिया था और उसके पुत्र को कुल का कलंक समझ भृत्य द्वारा अन्यत्र भिजवा दिया था।

(८) स्त्रियों का अपमान समाज में महान् अपराध माना जाता था। सभी स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। कोई भी उनका अपमान नहीं कर सकता था। पति अपने बाहुबल से स्त्री के भरण पोषण के साथ उसका संरक्षण भी करता था। तेतालीसवें पर्व के ९९ वें श्लोक में बताया गया है:—

न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम्।

यह तो चर्चा हुई स्त्रियों की महत्ता के सम्बन्ध में, पर कुछ प्रमाण ऐसे भी उपलब्ध होते है जिनसे प्रतीत होता है कि जिनसेन के समय में नारी परिग्रह के तुल्य मानी जाने लगी थी। इसी कारण सातवें पर्व के १९६, १९७ वें श्लोक में नारी की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हुए बलपूर्वक विवाह करने की बात कही गई है।

अथवैतत् खलूक्त्वा य सर्वथाऽर्हति कन्यकाम्।
हसन्त्याश्च रुदन्त्याश्च प्राघूर्णक इति श्रुतेः॥

स्त्रियों के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए (पर्व ४३, श्लोक १०५—११३) में बताया गया है कि स्त्रियाँ स्वभावतः चंचल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी होती है। पुरुषों को स्त्रियों की बातों पर विश्वास न कर विचारपूर्वक कार्य करना चाहिये। वासना के आवेश में आकर नारियाँ धर्म का परित्याग कर देती हैं।

एक और सबसे बड़े मजे की बात तो यह है कि स्त्रियों को भी पुरुषों की शक्ति पर विश्वास नहीं है। ६ वें पर्व के १९९ वें श्लोक में बताया गया है कि स्त्री ही स्त्री का विपत्ति से उद्धार कर सकती है—

स्त्रीणां विपत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलम्बनम्।

इससे यह भी ध्वनित होता है कि उस समय स्त्रियों में सहयोग और सहकारिता की भावना अत्यधिक थी। नारी को नारी के ऊपर अटूट विश्वास था इसलिए नारी अपनी सहायता के लिए पुरुषों की अपेक्षा नहीं करती थी।

वेश्याओं की स्थिति के सम्बन्ध में भी जिनसेन ने पूरा प्रकाश डाला है। वेश्याएँ मद्यपान करती थीं तथा समाज में उनकी स्थिति आज से कहीं अच्छी थी। मांगलिक अवसरों पर तथा धार्मिक अवसरों पर वेश्याएँ बुलाई जाती थीं। इनकी गणना शुभशकुन के रूप में की गई है अभि-शाप के रूप में नहीं। जब भगवान् ऋषभदेव दीक्षा के लिए चलने लगे तो एक ओर दिक्कुमारी देवियां मंगल द्रव्य लेकर खड़ी थीं तो दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारांगनाएँ मंगल द्रव्य लेकर प्रस्तुत थीं।

एकतो मंगलद्रव्यधारिण्यो दिक्कुमारिकाः।
अन्यत. कृतनेपथ्या वारमुख्या वरश्रियः ॥

भगवान् के निष्क्रमण कल्याण के अवसरपर—

सलीलपदविन्यासमन्येता वारयोषिताम्।
(पर्व १७, श्लोक ८६)

जन्म और विवाह के अवसर पर भी वेश्याओं द्वारा मंगल गीत गाये जाने की प्रथा का उल्लेख है। सातवें पर्व के २४३, २४४ वें श्लोक में "मंगलोद्गानमातेनुः वारबध्वः कलं तदा" से सिद्ध है कि महोत्सवों में वारांगनाओं का आना आवश्यक सा था। मुझे तो ऐसा प्रतीत है कि ये धार्मिक महोत्सवो पर सम्मिलित होने वाली वारांगनाएँ देवदासियाँ ही हैं। यह जिनसेनाचार्य का साहस है कि उन्होंने देवदासियों को खुले रूप से वारांगना घोषित किया क्योंकि इसी ग्रंथ में वेश्याओं का एक दूसरा चित्र भी मिलता है जिसमें उन्हें त्याज्य एव निन्द्य बताया गया है। अतः स्पष्ट है कि समाज में दो प्रकार की वेश्याओं की स्थिति थी। प्रथम वे जो केवल नृत्य, गायन आदि का कार्य करती थी और जो धार्मिक अथवा मांगलिक अवसरों पर बुलाई जाती थीं और द्वितीय वे वेश्याएँ थी जो धन के लिए अपने शील को बेचती थी। अतः प्रथम प्रकार की वेश्याएँ उस समय की देवदासियों से भिन्न अन्य नहीं हैं।

उस समय स्त्रियों में मद्यपान का भी प्रचार था। जो स्त्रियां मद्यपान नहीं करती थी वे श्राविका मानी जाती थीं। ४४ वें पर्व के २९० वें श्लोक में बताया है—

दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकम्।

इसी पर्व के २८९ वें श्लोक में बताया गया है कि मद्य के समान सम्मान और धर्म को नष्ट करने वाला और कोई पदार्थ नहीं है। यही सोचकर ईर्ष्यालु, कलहकारिणी, सपत्नियोंने अपनी सहवा-सिनियों को खूब मद्य पिलाया। कुछ स्त्रियाँ तो वासना को उत्तेजित करने के लिए मद्यपान किया करती थीं।

वृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना।
कलहान्तरिता काश्चित्सखीभिरतिपायिताः ॥
मधु द्विगुणितस्वादु पीतं कान्तकरार्पितम् ॥ (पर्व ४४, श्लोक २८९)

जननी की स्थिति —

जननी रूप नारी को जिनसेन ने बड़े आदर की दृष्टि से देखा है। इन्द्राणी ने जननी रूप में मरुदेवी की स्तुति की है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि जननी रूप नारी प्रत्येक नरनारी द्वारा वन्दनीय है। १५ वें पर्व के १३१ वें श्लोक में बताया गया है कि "गर्भवती स्त्री का समाज में विशेष ध्यान रक्खा जाता है। उसके दोहद को पूर्ण करना प्रत्येक पति का परम कर्त्तव्य है।" आचार्य ने कहा है:—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सपुण्या यशस्विनी ।।
प्रजासन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसंतति.।
मनुष्व मानव धर्मं ततो देवेममच्युत ।।
देवेमं गृहिणा धर्मं विद्धि दारापरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्न. कार्यो हि गृहमेधिनाम् ।।

इससे स्पष्ट है कि सन्तति को जन्म देने वाली माता सर्वथा वन्द्य और पूजनीय थी।

मां को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर सब से अधिक प्रसन्नता होती थी जैसा कि आज भी देखा जाता है। १५ वें पर्व के ७३ वें श्लोक में बताया है—"दारकर्मणि पुत्राणा प्रीत्युत्कर्षो हि योषिताम्"। अत: सिद्ध है कि मां को नवीन पुत्रवधू के प्राप्त होने में सबसे अधिक प्रसन्नता होती है। ७ वें पर्व के २०५ वें श्लोक में बताया है कि वसुन्धरा को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर परम हर्ष हुआ। उसका रोम रोम हर्ष विभोर हो उठा। अत. स्पष्ट है कि जननी गृहस्वामिनी के उत्तरदायित्व पूर्ण पद का निर्वाह करती हुई नवीन बधू के स्वागत के लिए सदा उत्सुक रहती है। सन्तान की प्राप्ति से माता को जितनी प्रसन्नता होती है उससे कही बढ़कर बधू के आने में। भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी को अपने पुत्र की बधू प्राप्ति के लिए अत्यधिक उत्सुकता थी। वृद्धा जननी की एक झलक हमें उस समय मिलती है जब देखते है कि नवीन बधू के आते ही वह उसे अपना उत्तरदायित्वपूर्ण पद सौंप देती है और स्वय धर्म साधन में लग जाती है। गृहस्थी के समस्त मोह जाल से छुटकारा पाकर वह जिनदीक्षा ग्रहण करती है। ८ वें पर्व के ८६ वें श्लोक में बताया है —

"तदेव ननु पाण्डित्यं यत्संसारात् समुद्धरेत्" का चिन्तन कर पण्डिता ने वज्रदन्त चक्रवर्ती के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

विधवा की स्थिति—

जिनसेनाचार्य ने विधवा नारी की स्थिति के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नहीं डाला है। कुछ ही ऐसे स्थल है जिनसे विधवा नारी की सामाजिक और धार्मिक स्थिति का पता लगता है। समाज में उस समय विधवा नारी को अपशकुन नहीं समझा जाता था, उसे समाज आदर और सम्मान की

दृष्टि से देखता था । विधवाएँ भी धर्म साधन में अपना अवशेष जीवन व्यतीत करती थीं, तथा व्रतोपवास द्वारा अपना आत्मशोधन कर स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त होती थीं । आचार्य ने ६ वें पर्व के ५४—५५ वें श्लोक में ललितागदेव की मृत्यु के अनन्तर स्वयंप्रभा की चर्चा एवं कार्य-कलापों का चित्रण कर विधवा नारी के कार्यक्रम का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर दिया है । बताया गया है कि ललितांग की मृत्यु के पश्चात् स्वयंप्रभा संसार के भोगों से विरक्त हो आत्मशोधन करने लगी । यह मनस्विनी भव्य जीवों के समान ६ महीने तक जिन पूजा में उद्यत रही तदनन्तर सौमनस बन सम्बन्धी पूर्व दिशा के जिनमन्दिरों में चैत्यवृक्ष के नीचे पचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधि-मरण धारण किया ।

षण्मासान् जिनपूजायामुद्यताऽभून्मनस्विनी ।।
ततः सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमन्दिरे ।
मूले चैत्यतरोः सम्यक् स्मरन्ती गुरुपंचकम् ।
समाधिना कृतप्राणत्यागा प्राच्योष्ट सा दिवः । सं० ६ श्लो० ५५-५७

इससे स्पष्ट है कि पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री अपना धर्ममय जीवन व्यतीत करती थी । वह लोकैषणा और धनैषणा से रहित होकर समाज की सेवा करते हुए जीवनयापन करती थी ।

इस प्रकार जिनसेन ने नारी के सभी पहलुओं पर विचार किया है । उन्होंने अपने समय के नारी समाज का एक सुन्दर और स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है ।



प्राचीन मथुरा की जैन-कला में स्त्रियों का भाग

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०

मथुरा-कला में नारी की सर्व-मान्यता—

मथुरा तथा उसके समीपस्थ प्रदेश से अब तक जैन धर्म से सम्बन्धित कई सहस्र प्राचीन अवशेष प्राप्त हो चुके हैं और भविष्य में भी न जाने कितने प्राप्त होते रहेंगे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से कई शताब्दी पूर्व से लेकर ई० १२ वी शताब्दी तक मथुरा जैन धर्म का एक महान् केन्द्र रहा। इस दीर्घ काल मे यहा जैन कला अनेक रूपो में विकसित हुई। मथुरा से अद्यावधि उपलब्ध जैन कलाकृतिया भारत के धार्मिक एव कलात्मक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ये कृतिया विविध भाति के आयागपट्टों, तोरणों, वेदिकास्तम्भो, सिरदलो, द्वारस्तम्भो, तीर्थंकर-प्रतिमाओ आदि के रूप में मिली है। कुषाण काल (ई० प्रथम से तृतीय शताब्दी) के अवशेषो की सख्या सबसे अधिक है और वे अधिकाश में वर्तमान मथुरा नगर के दक्षिण पश्चिम में स्थित कंकाली टीला (जिसे 'जैनी टोला' भी कहते है) से प्राप्त हुए है, जो कई शताब्दियों तक मथुरा मे जैनधर्म का सबसे बड़ा केन्द्र रहा।

इन अवशेषो में से बहुत ऐसे है जिन पर तत्कालीन ब्राह्मी लिपि एवं मिश्रित सस्कृत-प्राकृत भाषा में अभिलेख मिले है, जिनके द्वारा उनके निर्माण समय एवं निर्माताओ के नाम आदि का पता चलता है। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जिन शिलापट्टो या मूर्तियो पर वे उत्कीर्ण है उनके बनवाने एव प्रतिष्ठापित कराने वाली अधिकाश में स्त्रियां थी, पुरुष बहुत कम। ये स्त्रियां प्राय: गृहस्थ श्राविकाएँ थी, जो आर्या भिक्षुणियों के उपदेश से विभिन्न धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त होती थी। हम अपनी इन पूर्वज महिलाओं के बड़े ऋणी हैं जो सैकड़ो कला-कृतियों का निर्माण करा कर उन्हें आगे आने वाली सन्तति के लिए छोड़ कर अपने नाम अमर कर गई है। ये कलाकृतियां हमारी बहुमूल्य थाती है और जबतक वे रहेंगी तब तक उन उदारचेता नारियो की मधुर स्मृति जागृत किये रहेंगी।

इन अभिलिखित अवशेषों के द्वारा प्राचीन भारतीय समाज के प्रेम-पूर्ण कौटुम्बिक जीवन की सुन्दर झांकी मिलती है। एक गृहिणी अपने धार्मिक कृत्य से प्राप्त होनेवाले पुण्य को अपने तक ही सीमित न रख कर उसे अपने सास-ससुर, माता-पिता, पति, पुत्र, भगिनी, भाई और पौत्रादि के लिए अर्पित

करती हैं। इतना ही नहीं अपितु वह नारी अपने धार्मिक कार्य में संसार के प्राणिमात्र के हित एवं सुख की अभिलाषा करती है। अधिकांश अभिलेखों में 'सर्वसत्त्वानां हितसुखाय' की इस भावना का दर्शन मिलता है, जो 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का एक जीता-जागता उदाहरण है।

नारी : आर्या और श्राविका—

उपर्युक्त अभिलेखों में दो प्रकार की स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं—एक तो भिक्षुणियों के, जिनके लिए प्राय. 'आर्या' शब्द का प्रयोग मिलता है, और दूसरे कुटुम्बिनी स्त्रियों ('श्राविकाओं') के, जो आर्याओं के उपदेश या प्रेरणा से मूर्तियों आदि का निर्माण एवं उनकी प्रतिष्ठापना करातीं थीं। अधिकांश गृहिणियो की उपदेशिकाएँ भिक्षुणियाँ (आर्या) ही मिलती हैं, भिक्षु बहुत कम। ये भिक्षुणियाँ प्राय. स्त्रियो को ही धार्मिक उपदेश दिया करती थीं; पुरुषों के उपदेशक पुरुष (वाचक, आर्य) होते थे।

दान दात्रियों के नाम एवं उनके परिवार वालों को नामों के साथ-साथ उन उपदेशिकाओं के नाम (उनकी गुरु परम्परा के साथ) मिलते हैं जिनकी प्रेरणा से ये दान दिये जाते थे। साथ ही सम्बन्धित गण, कुल तथा शाखा आदि के नाम भी इन अभिलेखों में मिलते हैं। इस प्रकार ये लेख प्राचीन सामाजिक एवं धार्मिक विकास को जानने के लिए बड़े महत्वपूर्ण हैं। उदार तथा व्यापक जैन धर्म मे सभी वर्गों के लिए समान अधिकार होने के कारण हम सब प्रकार के लोगों को धार्मिक कृतियों में भाग लेते हुए पाते हैं। मथुरा के अभिलेखो में निम्नवर्ग के जिन अनेक समुदायो के उल्लेख मिलते हैं उनमें कारुक (पत्थर काटने वाले), गधिक (इतर, तेल आदि बेचने वाले), मणिकार (सुनार) लोहिककार, (लुहार), आतयिक (छाता बनाने वाले ?), पातारिक (मल्लाह), नर्तक (नट) तथा वेश्याएँ उल्लेखनीय हैं। इन वर्गों के स्त्री-पुरुष पूरी स्वतंत्रता के साथ विभिन्न धार्मिक कृत्यो को सम्पादित करते हुए पाये जाते हैं और अपने नाम लेखो में उत्कीर्ण कराते हैं। लवण शोभिका नामक गणिका की पुत्री वसु ने अर्हत्-पूजा के लिए एक देवकुल, आयागसभा, कुड तथा शिलापट्ट का निर्माण कराया, जिसकी स्मृति वह एक सुन्दर आयागपट्ट पर छोड़ गई है। इसी प्रकार फल्गुयश नर्तक की स्त्री के द्वारा बनवाया हुआ आयागपट्ट कला की एक अत्यन्त आकर्षक कृति है।

आर्याओ के नाम, जिनकी निर्वर्तना या प्रेरणा से श्राविकाएँ दान करती थी, सादिता, वसुला, जिनदासी, श्यामा, धर्मार्था, दत्ता, धान्यश्रिया आदि मिले हैं। जैसा कहा जा चुका है, ये कुटुम्बिनी स्त्रियों को सन्मार्ग का उपदेश करती थी। गृहस्थाओं में धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करने में इन तपस्विनियों का बहुत बड़ा हाथ था। उनके प्रभावपूर्ण उपदेशो से कितनी ही नारिया अपने कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करतो थी।

मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर-प्रतिमाओं की चरण-चौकी पर प्रायः हाथ जोड़े हुए या पूजा-सामग्री लिए अनेक स्त्रियों के चित्रण मिलते हैं। कहीं कहीं मध्य में स्थित धर्मचक्र के एक ओर पंक्ति में खड़े पुरुष और दूसरी ओर दूसरी पंक्ति में खड़ी हुई स्त्रियां मिलती हैं। इन मूर्तियों से उनकी वेश-

भूषा का भी पता चलता है। ये मूर्तियाँ दान देने वाली महिला एवं उसके परिजनों की हैं। परन्तु इन्हें देखकर प्रायः यह बताना कठिन होता है कि इनमें से मुख्य (दानदात्री श्राविका) की मूर्ति कौन सी है, क्योंकि यह निश्चित नहीं कि वह पक्ति के आगे, पीछे या बीच में खड़ी हो। अभिलेख में भी ऐसा कोई संकेत नहीं पाया जाता।

प्राप्त अवशेषों में चमकती-नारियाँ—

हम इन उदारचेता नारियों में से कुछ की चर्चा नीचे करेंगे, जिनके नाम सौभाग्य से मथुरा के शिलालेखों पर बच गये है। ये शिलालेख इन महिलाओं के द्वारा बनवाए हुए अपने अपने आयाग-पट्टों, विविध स्तम्भों, तोरणों एवं प्रतिमाओ की चरण-चौकिओं पर उत्कीर्ण कराये गये। ये अव-शेष इस समय अधिकाश मे लखनऊ तथा मथुरा में संग्रहालयों में सुरक्षित है।

१. **अचला**—यह भद्रयश की वधू तथा भद्रनन्दि की भार्या थी। इसने अर्हत-पूजा के लिए एक विशाल आयागपट्ट का निर्माण कराया जिसके बीच में चारों ओर नन्दिपट्टो से आवेष्टित ध्यान-मुद्रा में जिन-प्रतिमा और चारों किनारो पर विविध प्रशस्त चिन्ह उत्कीर्ण कराये। (ए० इ०, २,२०७, सं० ३२; स्मिथ —जै० स्तू०, पृ० १८, फ० ११।

२. **अमोहिनी**—हारीती-पुत्र पाल की पत्नी कौत्स गोत्र वाली, श्रमणों की श्राविका अमोहिनी ने राजा शोडास (सुदाम) के राज्य काल (ई० पू० प्रथम शताब्दी) में आर्यवती का चौकोर शिलापट्ट प्रतिष्ठापित किया। लेख में अमोहिनी के तीन पुत्रों के नाम पालघोष, प्रौष्ठघोष तथा धनघोष दिये हुए है। (ए० इं०, २,१९९, सं० २) शिलापट्ट पर बीच में अभयमुद्रा मे खड़ी हुई देवी आर्यवती प्रदर्शित हैं। उनके अगल बगल छत्र, चौरी तथा माला लिए हुए परिचारिका स्त्रिया खड़ी है।

३. **आर्यजया**—कुषाण सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल में सं० ७ (८५ ई०) में आर्यवृद्धि श्री के शिष्य वाचक आर्य सन्धि की भगिनी आर्यजया ने तीर्थंकर प्रतिमा का निर्माण कराया। (ए० इं० १, ३९१, स० १९)।

४. **ओखरिका**—स० ८४ (१६२ ई०) में दमित्र और दत्ता की पुत्री कुटुम्बिनी ओखरिका ने कोट्टियगण के सत्यसेन,................., तथा धरवृद्धि की प्रेरणा से वर्धमान प्रतिमा का दान किया, (ए० इं० १९, ६७ स० ४)।

५ **कुमारमित्रा**—सं० १५ (९३ ई०) में श्रेष्ठी (सेठ) वेणी की पत्नी, भट्टिसेन की माता कुमारमित्रा ने आर्या वसुला के उपदेश से सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना की। यह वसुला आर्या-संगमिका (आर्य जयभूति की शिष्या) की शिष्या थी। (ए० इं० १,३८२, सं० २; (स्मिथ—फ० ९०, सं० १)।

६. **कुमारमित्रा**—यह तस्विनी आचार्य बलदिन्न (बलदत्त) की शिष्या थी । इसके पुत्र गंधिक कुमारभट्ट ने अपनी 'संशित, मखित, बोधित' (विचारशील, तपःपूत तथा ज्ञानी) माता कुमारमित्रा की प्रेरणा से सं० ३५ (११३ ई०) में वर्धमान प्रतिमा का दान किया । लेख से ज्ञात होता है कि यह कुमार मित्रा संन्यासिनी थी, अतः ऊपर वेणी की पत्नी जिस कुमारमित्रा का उल्लेख हुआ है उससे इसे पृथक् समझना चाहिये । इन दोनों के समय में भी कुछ अन्तर है ।

यहां एक संन्यस्ता स्त्री के पुत्र का होना असंगत सा लगता है, परन्तु वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि पहले कुमारमित्रा एक गृहस्थ स्त्री थी । पुत्रोत्पत्ति के बाद संभवतः उसे वैधव्य का दुःख भोगना पड़ा और तब उसने संन्यास ले लिया । संन्यासिनी की दशा में उसने अपने पुत्र को जो अब गृहस्थ धर्म का पालन कर रहा होगा, उपदेश दिया । जैसा ऊपर कह चुके हैं, मथुरा के अभिलेखों में प्रायः पुरुषों की स्त्री उपदेशिकाएँ नहीं मिलती हैं । परन्तु प्रस्तुत लेख में इसका अपवाद है । (ए० ०१,३८५, सं० ७) (**चित्र ९**)

७. **कौशिकी**—यह सिंहक नामक वणिक की पत्नी थी । इसके पुत्र सिंहनादिक ने अर्हत्-पूजा के लिए एक अत्यन्त सुन्दर आयागपट्ट की स्थापना की, जो बनावट में अचला के आयागपट्ट (स० १) से बहुत कुछ मिलता जुलता है परन्तु उसकी अपेक्षा अधिक कलापूर्ण एवं भव्य है । (ए० ई०, २,२०७, स० ३०, स्मिथ, पृ० १४, फ० ७)

८. **खुडा (खुड्डा)**—कनिष्क के राज्य काल में स० ५ (८३ ई०) में देवपाल श्रेष्ठी की पुत्री तथा सेन श्रेष्ठी की स्त्री खुडा ने वर्धमान प्रतिमा का दान किया । (ए० इं० १,३८२, सं० १) (**चित्र ६**)

९ **गुल्हा (गूढ़ा)**—यह वर्मा की पुत्री तथा जयदास की पत्नी थी । इसने आर्य ज्येष्ठ हस्ति की शिष्या आर्या शामा (श्यामा) की प्रेरणा से भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का दान किया । (ए० इं० १,३८९, स० १४)

१०. **गृहरक्षिता**—कनिष्क के वर्ष १७ (९५ ई०) मे जिन प्रतिमा का दान किया । (हाल मे प्राप्त नवीन लेख, मथुरा स० अ० सं० ३३८५)

११. **गृहश्री**—सं० ३१ (१०९ ई०) में बुद्धि की पुत्री तथा देविल की पत्नी गृहश्री ने आर्य गोदास की प्रेरणा से जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की । (ए० इ० २,२०२, स० १५)

१२. **गृहश्री**—स० ८१ (१५९ ई०) में दत्ता की निर्वर्तना से इस महिला ने जिन-प्रतिमा का दान किया । (ए० इं० २,२०४ सं० २१) (**चित्र १०**)

१३. **जयदेवी**—सं० ८२ (१६० ई०) में वर्तमान प्रतिमा का दान किया । (नवीन अभिलेख, मथुरा सग्र० सं० ३२०८) (**चित्र २**)

१४. **जया**—यह नवहस्ति की पुत्री ग्रहसेन की बधू तथा शिवसेन, देवसेन और शिवदेव की माता थी । इसने एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की स्थापना कराई । (ए० इ० २,२०८ सं० ३४) (**चित्र ११**)

१५. जितमित्रा—यह ऋतुनन्दी की पुत्री तथा गंधिक बुद्धि की धर्मपत्नी थी। इसने आर्य नन्दिक की प्रेरणा से सं० ३२ (११० ई०) में एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की। (ए० इं० २,२०३, सं० १६) (चित्र ७)

१६. जिनदासी—महाराज वासुदेव के राज्यकाल में स० ८३ (१६१ ई०) सेन की पुत्री, दत्त की बधू तथा एक गंधिक की स्त्री जिमदासी ने तीर्थ कर प्रतिमा का दान किया। (फोगल कै०, पृ० ६६, सं० बो० २)

१७. जीवनन्दा—जिन प्रतिमा का दान किया (ए० इं० २,२०१, सं० १०)

१८. दिना (दत्ता)—इस श्राविका के पति का नाम मतिल, पुत्रों के नाम जयपाल, देवदास, नागदत्त और पुत्री का नाम नागदत्ता लिखा है। सं० २० (९८ ई०) में दिना ने आर्य सर्वसिंह के आदेश से एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की। (ए० इं०, १,३९५, स० २८)

१९. दिना (दत्ता)—हुविष्क के राज्य काल स० ४०(११८ ई०) में कुटुम्बिनी दिना (दत्ता) ने ऋषभदेव की प्रतिमा का दान किया। (ए० १,३८६, सं० ८)

२०. दिना (दत्ता)—स० ७९ (१५७ ई०) में इस श्राविका ने मुनिसुव्रत की प्रतिमा को 'देवनिर्मित बोद्ध स्तूप' में प्रनिष्ठापित किया। डा० ब्यूलर, (ए० इ०, २,२०४, सं० २०), स्मिथ (जै० स्तू०,पृ० १२—१३, फ० ६), आदि विद्वान 'मुनिसुव्रत' की जगह 'णन्दि (आ) वर्तम' पढते हैं, परन्तु 'मुनिसुव्रत' पाठ ठीक जान पडता है (देखिए 'वीर अभिनन्दन ग्रथ,' ....) । 'बोद्ध' शब्द संभवत. 'वृद्ध' (पुराने) के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्वितीय श० ई० के लोगो को ककाली टीले पर स्थित यह स्तूप, जो उस समय से कई शताब्दी पूर्व निर्मित हुआ था, इतना प्राचीन ए आश्चर्यजनक कला वाला लग रहा था, कि उन्होने उसका नाम 'देव निर्मित बोद्ध स्तूप' (देवताओ के द्वारा बनाया गया प्राचीन स्तूप) रख दिया।

२१. दिना (दत्ता)—यह अजनन्दिन की पुत्री तथा वृद्धि शिव की बधू थी। इसने एक जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इं०, २.२०८, सं० ३३)

२२. धर्मघोषा—भदंत जयसेन की अन्तेवासिनी (शिष्या) धमघोषा (धर्मघोषा) ने एक प्रासाद का दान किया। (ए० इं०, २,१९९, सं० ४)

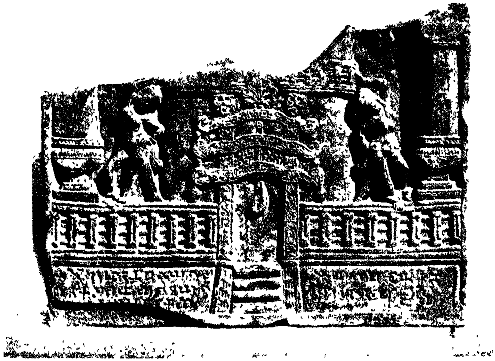
२३. धर्मसोमा—यह एक सार्थवाह (व्यापारी) की पत्नी थी। लेख में इसे 'सर्तवाहिनी' (सार्थवाहिनो) कहा गया है। इह महिला ने वाचक आर्य मातृदत्त की प्रेरणा से सं० २२ (१०० ई०) में जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इं०, १,३९५, सं० २९) (चित्र १२)

२४. पूसा (पुष्या)—मोगली के पुत्र पुफक (पुष्यक) की भार्या पूसा (पुष्या) ने एक आयागपट्ट का निर्माण कराया। (फोगल—कै०, प० १८६, सं० क्यू० ३) (चित्र १३)

२५. बलहस्तिनी—'श्रमणश्राविका' बलहस्तिनी ने एक बड़ा तोरण (९' २"—१') प्रतिष्ठापित किया। (ए० इं० १,३९०, सं० १७) (चित्र १४)



चित्र २ जयदेवी के द्वारा बनवाई हुई वर्द्धमान प्रतिमा की चरण-चौकी (दे० म० १३)



चित्र ३ फग्गुयश नर्तकी की भार्या शिवयशा के द्वारा बनवाया हुआ आयागपट्ट (दे० म० ३६)



चित्र ४ वासिकी शिवमित्रा के द्वारा प्रतिष्ठापित आयागपट्ट का टुकड़ा (दे० म० २५)



चित्र ३ जिनमित्रा द्वारा स्थापित सर्वतोभद्रिका प्रतिमा (दे० म० १५)



चित्र २ ई० पू० प्रथम शताब्दी में अमोहिनी के द्वारा प्रतिष्ठापित आर्यवती का साकार शिलापट्ट (दे० म० २)

२६, बोधिनन्दी—ग्रहहस्ति की प्रिय पुत्री बोधिनंदी ने वस्त के शिष्य गहप्रकिव के निर्देश से सं० २६ (१०८ ई०) में भगवान वर्धमान की एक बड़ी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इं० १,३८५ सं० ६)

२७. मासिगा—सं० १८ (९६ ई०) में जय की माता मासिगाने सर्वतोभद्रिका प्रतिमा का दान किया। (ए० इं०, २,२०२, सं० १३)

२८. मित्रश्री—सं० १८ (९६ ई०) में अरिष्टनेमि की प्रतिमा का दान किया। (ए० इं०, २,३०२, स० १४)

२९. मित्रा—यह मणिकार जयभट्टि की पुत्री थी और लोहवाणिज (लोहे का व्यवसाय करनेवाले) फल्गुदेव को ब्याही थी। सं० २० (९८ ई०) में इस महिला ने कोट्टियगण के अन्तर्गत ब्रह्मदासिक कुल एवं उच्चनगरी शाखा के श्रीगृह सभोग और बृहन्तवाचक गणि के आर्य सिंह की प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इं०, १,३८३, सं० ४)

३०. यशा—यह शर्वत्रात की पौत्री तथा बन्धुक की पत्नी थी। इसने धन्यपाल की शिष्या धन्य-श्रिया के अनुरोध से स० ४८ (१२६ ई०) में संभवनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया। (ए० इ०, १०,११२, सं० ५)

३१ रयगिनी (राजगणी)—यह जयभट्ट की कुटुम्बिनी थी। सं० २५ (१०३ ई०) में इसने एक जिन प्रतिमा का दान दिया। (ए० इ० १,३८४, सं० ५)

३२. वसु—यह लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री थी। इसके द्वारा बनवाए हुए आयाग-पट्ट (मथुरा संग्रहालय, सं० क्यू० २) पर निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण लेख उत्कीर्ण है—

'नमो अरहतो वर्धमानस। आराये गणिकाये लोणशोभिकाये धितु शमणसाविकाये नादाये गणि-काये वसुये आरहातो देविकुल आयागसभा प्रपा शिलापटो पतिस्थापितो निगथाना अरहतायतने सहा मात-रे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अरहतपूजाये'।

(अर्हंत वर्धमान को नमस्कार। बड़ी गणिका लोणशोभिका (लवण शोभिका) की पुत्री श्रमणों की श्राविका सुन्दरी गणिका वसु ने निर्ग्रंथ अर्हतो के स्थानपर अपनी माता, बहिन, पुत्री, पुत्र तथा सब परिजनों के साथ अर्हंत पूजा के निमित्त एक देव कुल, आयागसभा, एक कुंड शिलापट्ट (आयागपट्ट) प्रतिष्ठापित किया)। (स्मिथ जै० प० ५१, फ० १०३; फोगल—कै०, प० १८४—८६)। अभिलिखित शिलापट्ट (चित्र पर एक स्तूप बना हुआ है, जिसको पूजा करते हुए मुनि तथा देव दिखाये गये हैं। स्तूप में प्रवेश करने के लिए नीचे सीढ़िया और उनके ऊपर एक सुन्दर तोरण-द्वार चित्रित हैं, जिसके चारों ओर वेदिका का परिवेष्टनी वाड़ा) है। ऊपर भी प्रदक्षिणा पथ के सूचक दो ऐसे ही बाडे दिखाये गये हैं। तोरण के दोनों ओर अत्यन्त आकर्षक मुद्रा में खड़ी हुई एक-एक युवती प्रदर्शित हैं। आयागपट्ट के नीचे सीढ़ियों की एक ओर एक पुरुष और दूसरी ओर एक स्त्री दिखाई गई है। ये चारों मूर्तियां संभवतः वसु और उसके परिजनों की है। इस आयागपट्ट का समय ई० प्रथम शताब्दी है। तत्कालीन जैन स्तूपों की शैली का पता इस पर चित्रित स्तूप से

लगाया जा सकता है। डा० ब्यूलर का अनुमान था कि लघु स्तूपों (Miniature Stupas) की पूजा का प्रचलन बौद्धों और जैनों में ई० आठवीं शताब्दी के पूर्व नहीं था (देखिए 'ए लीजेंड आफ दि जैन स्तूप ऐट मथुरा' ए० १३), परन्तु इस स्तूप को देखते हुए जो ई० प्रथम श० का है, उक्त मत युक्तिसगत नही कहा जा सकता। इस लघु स्तूप के अतिरिक्त से ही अन्य स्तूप मथुरा से प्राप्त दूसरे आयागपट्टों, वेदिका स्तम्भों, सिरदलों आदि पर मिले हैं, जो कुषाणकाल या उससे पूर्व के हैं। इनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि बड़े स्तूपों की पूजा तो प्रचलित थी ही उनकी प्रतिकृतियां भी विभिन्न शिलापट्टों एवं प्रतिमाओं पर पूजा के लिए अंकित की जाती थीं। (चित्र ५)

३३. विजयश्री—यह राज्यवसु की पत्नी, देविल की माता तथा विष्णुभव की दादी थी। सं० ५० (१२८ ई०) में एक मास का उपवास करने के बाद इसने वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की। (ए० इं० २,२०६, सं० ३६) (चित्र १६)

३४. श्यामाढ्या—यह भट्टिभव की पुत्री तथा प्रातारिक (मल्लाह) ग्रहमित्रपालित की भार्या थी। गु० सं० ११३ (४३२ ई०) में परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमार गुप्त के राज्यकाल में इस महिला ने कोट्टियगण की विद्याधरी शाखा के दतिलाचार्य के अनुरोध से एक जिन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इं०, २,२१०, सं० ३९) (चित्र १७)

३५. शिवमित्रा—कौशिकी शिमित्रा (शिवमित्रा) गोतिपुत्र (गोप्तीपुत्र) की पत्नी थी। लेख में यह गोतिपुत्र पोठय तथा शक लोगों के संहार करने वाला कहा गया है। शिवमित्रा ने एक सुन्दर आयागपट्ट की प्रतिष्ठापना की, जिसका इस समय आधे से भी कम एक टुकड़ा बचा है (लखनऊ संग्र० सं० जे० २५६)। इस पर मत्स्य युक्त सरोवर में पुष्पित एवं मुकुलित कमलों की सुन्दर बेल चित्रित है। (ए० इं० १,३९६, सं० ३३, स्मिथ—जै० स्तू० फ० १३) (चित्र सं० ४)

३६. शिवयशा—यह फल्गुयश नर्तक (नट) की भार्या थी। और इसने एक अत्यन्त कलापूर्ण आयागपट्ट लखनऊ संग्र० जे० २५५) का दान किया। (चित्र सं० ३)। इस आयागपट्ट पर बीच में वेदिकायुक्त एक सुन्दर तोरण चित्रित है, जिसके अगल-बगल विभिन्न आभूषणों से अलंकृत आकर्षक त्रिभंगी मुद्रा में दो सुन्दरियां प्रदर्शित हैं। यह कुषाणकालीन जैन कला का एक ज्वलन्त उदाहरण है और तत्कालीन समाज की कलात्मक अभिरुचि का द्योतक है। (ए० इं० २,२००, सं० ५; स्मिथ—जै० स्तू०, फ० १२)

३७. सिंहदत्ता—यह ग्रामिक (गांव के मुखिया) जयदेव की बधू तथा ग्रामिक जयनाग की कुटुम्बिनी (स्त्री) थी। सं० ४० (११८ ई०) में इसने अक्का के उपदेश से एक शिलास्तम्भ तथा एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा का दान किया। (ए० इं०, १,३८७—८८ सं० ११)

३८. सोमा—वि० सं० १०७१ (११२८ ई०) में वणिक उसराक की भार्या सोमा ने पार्श्वनाथ की प्रतिमा का दान किया (मथुरा संग्र० इं० २८७४।२)

३९. स्थिरा—लेख में इस महिला के माता-पिता का नाम देवी और वरणहस्ति, श्वसुर का जयदेव, सास का मोषिनी और पति का नाम कुठ कसुथ दिया हुआ है। इसके द्वारा वाचक आर्य-क्षेरक के अनुरोधसे सर्वतोभद्रिका प्रतिमा स्थापित की गई। (ए० इं० २,२०९, सं० ३७) (चित्र १८)

अब उन दानदात्री स्त्रियों की चर्चा की जायगी जिनमें से अधिकांश के नाम दुर्भाग्य से लेखों में टूट गये हैं। उनके पिता, पति, पुत्रादि के नामो से जो लेखों में सुरक्षित हैं। उनके सम्बन्ध का पता चलता है।

४०. देव की पुत्री—सं० ९३ (७९१ ई०) में नन्दि के अनुरोध से इस महिला ने, जो हैरण्यक (सुनार) देव की पुत्री थी, महावीर-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इं० २,२०५ सं०२३)

४१. बलहस्ति की पत्नी—इसके पिता का नाम ग्रहदत्त दिया हुआ है। धर्मार्थी नामक श्रमण के उपदेश से इसने एक शिलापट्ट का दान किया, जिस पर स्तूप पूजा का दृश्य अंकित है। (ए० इं० १, पृ० ३९२, सं० २२)

४२. धर्ममित्र की वधू—इस वनिता ने एक जिन प्रतिमा का निर्माण कराया (फोगल—कैटा० पृ० ७०, सं० बी० १७)

४३. धर्मवृद्धि की भार्या—इसके श्वसुर का नाम बुद्धि दिया हुआ है। इस महिला के द्वारा सं० ४५ (१२३ ई०) में एक जिन प्रतिमा का निर्माण कराया गया। (ए० इं० १,३८७, सं० १०)

४४. पुष्य की वधू, तथा पुष्यदत्त की माता—इसने सं० ४७ (१२५ ई०) में वाचक सेन की निर्वर्तना (अनुरोध) से जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इं० १,३९६, सं० ३०)

४५. प्रिय की पत्नी—इसके पिता का नाम दास दिया है। सं० ८६ (१६४ ई०) में इस महिला ने आर्या संगमिका की शिष्या आर्या वसुला के उपदेश से एक जिन प्रतिमा का दान किया। इसी वसुला का उल्लेख ऊपर सं० ५ में भी आया है। सं० १५ (९३ ई०) में इसीने कुमारमित्रा को भी उपदेश दिया था। इन दोनो लेखों के समय में ७१ वर्षों का अन्तर होने से अनुमान होता है कि वसुला दीर्घ आयु वाली श्रमणा थी। कुमारमित्रा को उपदेश देने के समय यदि वसुला की आयु २५ वर्ष की भी मान ली जाय तो प्रिय की पत्नी को उपदेश देने के समय वह ९६ वर्ष की रही होगी। यह आयु उस काल में, जब कि अधिकांश लोग शतायु होते रहे होंगे, एक तपस्विनी के लिए असंभावित नहीं कही जा सकती। कुमारमित्रा वाले लेख में आर्या संगमिका के गुरु आर्य जयभूति का भी नाम दिया हुआ है, जो प्रस्तुत लेख में नहीं है। (ए० इं० १,३३८ सं० १२)

४६. **जठवत्त की बधू**—कुमारदत्त की प्रेरणा से इसने वासुदेव के राज्य काल सं० ८४ (१६२ ई०) में ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित की । (फोगल—कै०, पृ० ६७, सं० बी ४)

४७. **मवनक की कुटुम्बिनी**—नागनन्दि हरि और ऋद्धिल के अनुरोध से इस महिला के द्वारा एक जिन प्रतिमा का दान किया गया । (ज० यू० पी० हि० सो०, जुलाई, १९३७, पृ० ३, सं० ४)

४८. **लवदास की भार्या**—'माथुरक' (मथुरा-निवासी) लवदास की भार्या ने अर्हत महावीर के सम्मान में एक कलापूर्ण आयागपट्ट प्रतिष्ठापित कराया । (ए० इ०, २,२००, सं० ८; स्मिथ—जै० स्तूप०, पृ० १५, फ० ८) ।

इस आयागपट्ट (अब लखनऊ संग्र० सं० जे २४८) के मध्य में सोलह आराओं वाला एक धर्म-चक्र है । उसके चारों ओर एक वृत्त में १६ नन्दिपद चिन्ह हैं । इसके ऊपर वृत्त के अन्दर हाथों में फूल माला लिए हुए ८ दिक्पालिकाओं का बड़ा आकर्षक चित्रण है । इस वत्त के ऊपर वाले घेरे में कमलमाला का सुन्दर प्रदर्शन है । आयागपट्ट के चारो किनारे ५ भागो में विभक्त किये गये हैं, जिनमें स्वस्तिक, नन्दि पद, श्रीवत्स आदि चिन्ह तथा सिंहाकृति नर-नारी चित्रित हैं ।

४९. **शिवघोषक की भार्या**—इसके द्वारा भी एक आयागपट्ट का निर्माण कराया गया । (ए० इं० २,२०७, सं० ३१, स्मिथ जै० स्तूप०, पृ० १७, फ० १०) । इस आयागपट्ट (लख० संग्र०, सं० जे० ६८६) का नीचे का कुछ भाग खराब हो गया है, तो भी यह कला की सुन्दर कृति है । इसका निर्माण कुशाण काल के पहले हुआ । बीच में भगवान पार्श्वनाथ ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं, उनके चारो ओर नन्दिपद बने हैं । ऊपर कमल तथा अगूर की सुन्दर बेलें उत्कीर्ण हैं ।

५०. **सुचिल की धर्म पत्नी**—इसने सं० १९ (९७ ई०) में भगवान शातिनाथ की प्रतिमा का दान किया । (ए० इं०, १,३८२—३, स० ३)

निर्देश—ऊपर उन ग्रंथों का हवाला संक्षिप्त रूप में दे दिया गया है । जिनमें उपर्युक्त अभिलेख एवं शिलापट आदि प्रकाशित हुए हैं । इन संक्षिप्त रूपों का निर्देश इस प्रकार समझना चाहियें— ए० इं०—एपिग्राफिया इंडिका; आगे की संख्या क्रमशः जिल्द तथा पृष्ठ को सूचित करती है । सं० से अभिप्राय लेख की संख्या से है ।

स्मिथ—जै० स्तू०—दिन जैन स्तूप एण्ड अदर ऐंटिक्विटीज आफ मथुरा—विसेंट स्मिथ द्वारा । प्रकाशित इलाहाबाद, १९०१ ई० ।

फोगल—कै०—कैटलाग आफ दि मथुरा म्युजियम—जे० पी० एच० फोगल द्वारा । प्रका० इलाहाबाद, १९१० ई० ।

ज० यू० पी० हि० सो०—जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ ।

फ०— फलक (प्लेट)

संग्र०— संग्रहालय ।

नारी का आदर्श

प्रो० विमलदास कौन्देय, एम० ए०, न्यायतीर्थ, शास्त्री

भूमिका—

नारी अनादि काल की पहेली है। इसको हल करने का प्रयत्न भी उतना ही प्राचीन है। फिर भी विश्व के रङ्गस्थल पर नारी ने जो अभिनय दिखलाया है उसके ऊपर विचारकों ने अनेक विधियों से चिन्तन किया है। यही कारण है कि हमें नारी के विविध वर्णन मिलते हैं। कोई नारी का प्रशंसक है तो कोई नारी का अप्रशंसक। नारियों का कहना है कि यह चित्रण तो पुरुषों का है यदि नारियों के हाथ में सत्ता होती तो वे भी पुरुषों के विषय में उसी प्रकार की विविध विचारधाराएँ उपस्थित करती, जैसा कि उन्होंने उनके विषय में किया है। अस्तु, यह तो अवस्थिति पक्ष प्रतिपक्ष को लिये हुए है। तात्त्विकों ने वास्तव में, नारी को स्वतंत्र मान कर उसके ऊपर अपने स्वतत्र विचार प्रकट किये हैं।

माँरूपी-नारी—

कुछ दार्शनिक लोग जो 'माँ' के आदर्श को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं वे इसको 'महाशक्ति, महामाया, महामोहा, आदि रूपों में विश्व की जननी मानते हैं और उसको वैसा समझ कर उसकी उसी प्रकार की प्रतिष्ठा करते हैं और आराधना करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह सिद्धान्त सर्वथा निर्मूल नहीं है। शक्ति और शक्तिमान् के ऊपर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें शक्ति की स्थिति गुण के रूप में माननी होगी। जिस प्रकार गुण गुणी से पृथक् नहीं माना जा सकता उसी प्रकार शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं मानी जा सकती। यही रूप भगवान् और भगवती का है। आदम और हव्वा की कल्पना इसी भाव को लेकर हुई है। ईश्वरवाद में इसके लिये पूर्ण स्थान है जब पुरुष की सृष्टि हुई तो उसके साथ-साथ नारी की भी सृष्टि होनी आवश्यक थी। लक्ष्मी नारायण, सीता राम, अर्धनारीश्वर और उमा इसी प्रकार की कल्पनाएँ हैं। भारतवर्ष में तो नारी तीर्थ भी हैं। बंगाल में 'माँ' का सम्प्रदाय इस बात का द्योतक है कि शक्ति तत्त्व प्रधान तत्त्व है। वे लोग शक्ति तत्त्व को आदि तत्त्व मान कर शक्तिमान् को उसका कार्य मानते हैं और उसकी प्रतिष्ठापना करते हैं। काली, दुर्गा, तारा, सरस्वती, लक्ष्मी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, धृति, आदि देवियों की कल्पना भी इसी प्रकार के विचारों को लिये हुए हैं। इस प्रकार के शक्ति तत्त्व को अनाद्यनन्त मानकर जो दार्शनिक भावना उत्पन्न हुई है और उसको जो नारी का रूप दिया गया है वह एक प्रकार का विचारवाद है। विचारवाद में बाह्य लिंग-भेद को

विचारकोटि में न लाकर इस प्रकार के भावात्मक सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं। जैन-सिद्धान्त में भी यदि कोई अनन्त चतुष्टय को अंतरंग लक्ष्मी या शक्ति मान कर उससे उपयुक्त आत्मा को परमात्मा मान कर इस प्रकार का सिद्धान्त कायम करे तो वहाँ भी गुण गुणी के सिद्धान्त की तरह शक्ति और शक्तिमान् का आदर्श बन सकता है। मेरा विचार है इस प्रकार के सिद्धान्त द्रव्य और भाषागत लिंगभेद से उत्पन्न होते हैं और वे किसी न किसी प्रकार घटित होकर तात्त्विक रूप धारण करते हैं। जैन-सिद्धान्त में द्रव्य स्त्री और भाव स्त्री को लेकर काफी चर्चा की गई है। स्त्री को मुक्ति हो सकती है या नहीं— इस पर श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में एक सिद्धान्त ही उपस्थित हो गया है जो उनके महान भेद का कारण बताया जाता है। यह है दार्शनिक जगत् की बात, किन्तु हमें तो यथार्थ द्रष्टा के दृष्टि-बिन्दु से नारी पर विचार करना है और देखना है कि आखिर यह है क्या?

नारी-विश्लेषण—

यथार्थवादी के सिद्धान्त मे नारी एक जीव है जो मनुष्य जाति से सम्बन्ध रखता है। वह नर से कितने ही अंशो में भिन्न है। यद्यपि नारी और नर मे बहुत अंशो में समानता भी है किन्तु भेद भी कम नहीं है। शरीर की आकृति को लेकर विचार किया जाय तो हमें प्रतीत होगा कि स्त्री के शरीर में बहुत-सी ऐसी आकृतियाँ हैं जो मनुष्यो से भिन्न हैं। सबसे बड़ा भेद तो यह है कि स्त्री जननी है और पुरुष जनक है। स्त्री अबला है। पुरुष सबल है। भारत के विभाजन के समय स्त्रियों की समस्या जो स्त्रियाँ पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में रह गई थी या उनको रख लिया गया था— बड़ी विलक्षण थी। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि स्त्री अबला है और उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब पुरुष कर सकें। अन्यथा वह अपने आपको अवस्थानुकूल परिवर्तित कर पराश्रित ही अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती है। प्रकृति ने उसको सिवाय 'आत्मघात' के और कोई बल प्रदान नही किया है जिससे वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को सार्थक बना सके। इस विचार से इतना तो अवश्य है कि नारी नर से भिन्न है और उसका विचार भी उसी प्रकार से होना चाहिये।

नारी का प्रेरणात्मक रूप—

जैन-दर्शन में आत्मानन्त्य के सिद्धान्त ने प्रत्येक जीव को अनन्त गुणों या शक्तियों का समूह माना है और वे स्वतन्त्र हैं। सबके एक होने पर तो विकास या उन्नति की चर्चा करना ही व्यर्थ होता है। विकास और उन्नति दोनों व्यक्तिगत हैं। समूह में तो विकास और अविकास, उन्नति और अनुन्नति साथ साथ चलते हैं। जहाँ तक स्त्री या नारी का सम्बन्ध है वह भी अपना विकास या उन्नति कर सकती है। किन्तु यह देखना है कि नारी कहाँ तक विकास कर सकती है? नारी मनुष्य कोटि का प्राणी होकर भी विकास में मनुष्य या नर के पद को पा सकती है या नहीं—यह विवादास्पद विषय है। किन्तु यदि अध्यात्म या मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि नर का क्षेत्र नारी के क्षेत्र से विस्तृत और विशाल है। अनुभव और परीक्षण ने इस सिद्धान्त को स्थिर बना दिया है कि विकास में नारी नर से कुछ पीछे है। मनोवैज्ञानिकों ने तो स्त्रियों के मस्तिष्क की लघुता परि-माण कृत स्वीकृत की है और उसका विकास भी उतना ही बतलाया है जितना सम्भव है। शरीर विज्ञान

भी नारी को मनुष्य के समान सुदृढ़ और सहनयुक्त नहीं स्वीकार करता। व्यवहार और नैतिक शास्त्र की दृष्टि में स्त्री-स्वभाव में बहुत सी कमियाँ हैं जो पूरी नहीं हो सकतीं। इन कमियों के दिग्दर्शन से भारतीय और विदेशीय शास्त्र भरे पड़े हैं। "Trailty thy name is woman" दुर्बलता तेरा नाम नारी है। इस वाक्य में स्त्री-स्वभाव का तमाम रहस्य भरा है। यहाँ दुर्बलता शारीरिक भी है और मानसिक भी। अतीत का नारी-इतिहास इसी प्रकार की धारणा का अनुभावक है। इन सब बातों के होते हुए हमें नारी का आदर्श भी दीखता है जो कुछ स्त्रियों ने विश्व के समक्ष उपस्थित किया है। कौन-सा मनुष्य है जो आज सीता, राजीमती, सुलोचना, त्रिशला, मरुदेवी, वामा, वनमाला, मदोदरी आदि स्त्रियो के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट न करता हो और उन्हें आदर्श स्त्री न समझता हो। इनमें वह क्या बात थी जो आज तक उनके गौरव को ऊँचा बढ़ाए हुए है। प्रस्तुत लेख में हमें यही विचार करना है।

सबसे प्रथम नारी मनुष्य के सामने 'माँ' के रूप में उपस्थित होती है। सब गुणों में, मेरे विचार से, नारी मे एक मातृत्व गुण ही ऐसा गुण है जिससे वह अपना गौरव सदा काल कायम रख सकती है। आचार्य मानतुङ्ग ने नारी के लिये लिखा है:—

स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानुसहस्ररश्मिम्
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

"ससार में सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रो को पैदा करती है किन्तु, भगवान्! आप सदृश पुत्र को पैदा करने वाली कोई विलक्षण ही स्त्री होती है। सूर्य की हजारों किरणों को सब दिशाएँ धारण करती हैं किन्तु स्फुटायमान किरणो से युक्त सूर्य को पैदा करने वाली पूर्व दिशा ही है।"

मानतुग आचार्य की भक्तामर स्तोत्र में यह कल्पना मातृत्व के गौरव को सर्वोच्च बतलाने वाली है। विश्व के रगमच के खिलाड़ी स्त्री और पुरुष अपने प्रेम के प्रतीक पुत्र को पैदा करते है उसमें 'माँ' का स्थान जननी के रूप में हैं। वह पुत्र के हितकारिणी के रूप में उपस्थित होकर उसको जन्म देकर उसका रक्षण करती है। सम्भव है जन्म मे उसे कष्ट होता हो किन्तु उसके पश्चात् जो वात्सल्य का समुद्र उसके हृदय में उमड़ता है उसकी अगाधता का अनुमान कोई नही कर सकता। माता मनुष्य जीवन में सबसे अधिक हिस्सा रखती है। किसी २ ने तो यहाँ तक कहा है कि जो "पालने पर शासन करती है वह विश्व पर शासन करती है।" जननी के गौरव की गाथा सबने गाई है। माता अपने शिशु के लिये क्या-क्या करती है यह वही जानती है जिसे बचपन में मातृसुख का पूर्ण लाभ लिया हो। माँ की ममता, माँ का दुलार, माँ का प्रेम कवियों का विशेष विषय रहा है और उस पर सबने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। किसी कवि की उक्ति है "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह अक्षरशः सत्य है। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि यदि किसी देश, जाति, मनुष्य का उद्धार करना

है तो मातृत्व का आदर्श उपस्थित करो। माताओं के पालने के उपदेश मनुष्य के जीवन में कितने कार्यकारी होते हैं यह बहुतो के आत्म-जीवन से स्पष्ट है। जीवन्धर को महापुरुष बनाने वाली उसकी माँ ही थी। नेपोलियन और हिटलर की माताओं ने उनके जीवन को आदर्श बनाने में कितना पार्ट खेला है यह प्रत्येक इतिहासज्ञ जानता है। मनुष्य जीवन-निर्माण में माता के जीवन का अत्यधिक सम्बन्ध है, इसीलिये मातृत्व के आदर्श की आवश्यकता है।

पत्नी-नारी—

दूसरे पहलू से नारी हमारे जीवन में स्त्री के रूप में अर्थात् पत्नी के रूप में आती है। यही एक सम्बन्ध ऐसा है जो सबसे अधिक विचारणीय है, वास्तव में ससार की सृष्टि शुरू ही यहाँ से होती है। अब तक अर्थात् विवाह के पूर्व नर और नारी दोनो विभिन्न जगतो से सम्बन्ध रखते हैं। इस समय नारी कन्या के रूप में रहती है। कन्या एक पवित्र भूमि या देवी है। जिसका आदर प्रत्येक पुरुष और स्त्री के हृदय में होना अत्यन्त आवश्यक है। कन्या–शिक्षण एक राष्ट्रीय और आध्यात्मिक आवश्यकता है जिसके लिये देश के अभिभावको को सजग होना चाहिये कन्या की शिक्षा का कार्य बालको की शिक्षा से अधिकतर महत्त्व का है। लेकिन इस पर अभी तक समुचित विचार नही किया गया है। स्कूल और कालिजो की शिक्षा ने नारी जगत् में जो विशृंखलता पैदा की है उसे देख कर समझदार मनुष्य शिक्षित स्त्रियो से घृणा करने लगे हैं। कितने ही तो आधुनिक ढंग से पठित कन्याओं से विवाह करना ही पसद नही करते—और उसके फलरूप कितनी ही स्त्रियो को आजन्म अविवाहित रहना होता है।

जीवन का ध्येय है ससार को सुन्दर और सुखद बनाना तथा आदर्श गृहस्थ और गृहिणी बनना। इस आदर्श की पूर्ति में वर्तमान युग की नव-शिक्षा-दीक्षित कन्या कहाँ तक सहायक होती है उसके आँकड़े अपर्याप्त हैं। वास्तव में स्त्री एक प्रकार का फूल है वह जहाँ रहती है उस प्रदेश को सुगन्धित करती है। यदि वह गध पैदा करने लगे तो वह जीवन नरक बन जाता है। विवाह के सबध में स्वयं वरण की प्रथा जोर पकड़ रही है। मेरी समझ मे नही आता कुछ दिनों के परिचय में जीवन सम्बन्धी गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझ सकती हैं। जहाँ तक मेरा विचार है इसका कार्य गुरुजनो और समाज के अधीन ही रहना ठीक है। उनके आशीर्वाद के साथ जो सम्बन्ध होता है वह सुखद ही होता है। छूट तो सभी नियमों में होती है लेकिन इससे उनकी नियमता नष्ट नही होती। किन्तु सार्थकता सिद्ध होती है।

नारी समाज का आधार है। नारी और नर दोनो एक रथ के पहिए हैं। एक के बिना दूसरे का निर्वाह नही। इसीलिये दोनो का अविनाभाव सम्बन्ध बतलाया है। गृहस्थ जीवन नारी के बिना चल नही सकता। कहानी है "गृहं हि गृहिणीमाहु. न कुड्यकट सहितम्।" गृहिणी का नाम ही घर है कूड़े-करकट के ढेर का नाम घर नहीं। सत् गृहिणी देश, कुल, जाति और मनुष्य का भूषण है। गृह-प्रेम का आदर्श भारत का मुख्य आदर्श रहा है। आज भी भारत के सद्गृहस्थ अपनी गृहस्थी के जीवन के आदर्श से अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। समाज-जीवन में स्त्री का स्थान मनुष्य से कदापि

कम स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में नारी और नर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ कमियां पुरुष में है जिन्हें नारी पूर्ण करती है और कुछ कमियाँ स्त्री में हैं जिन्हें पुरुष पूर्ण करता है। किन्तु यह अवश्य जानना चाहिये कि दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं यदि इसमें सर्वथा समानता का भाव लाने का प्रयत्न किया जायगा तो भारत का जो आदर्श जीवन है वह नष्ट हो जायगा। न उसमें मनुष्य को ही शान्ति मिलेगी और न स्त्रियों को ही—बल्कि स्त्रियों के अधःपतन की अधिक सम्भावना है।

नारी का सहयोग—

नारी को योग्य पति का मिलना उसके जीवन की समस्या का हल है। उसमें कमी रहने से गृहस्थ जीवन कष्टमय हो जाता है। गृहस्थ जीवन सन्तोषमय जीवन है। उसमें संयम का पालन और इच्छाओं का निरोध करना पड़ता है। इस निरोध में ही शान्ति और सुख है। अपनी अवस्था, कुल, धर्म, आदि की मर्यादा का अनुभवन करते हुए ही मर्यादित जीवन व्यतीत करना नारी का आदर्श होना चाहिये। अशान्त नारी अपना ही जीवन दुखमय नही बनाती, किन्तु वह समग्र कुल को अशान्त कर समग्र वातावरण को क्षुब्ध करती है। विवाह समय की सप्तपदी जो दोनो को ग्रहण करनी पड़ती है वह उनके जीवन को सुसगठित बनाने में अत्यधिक कार्य करती है। कन्या का विवाह वयस्क अवस्था मे ही होना उचित है जिससे वह अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह समझ सके। दायित्व से अपरिपूर्ण जीवन भारमय होता है। इसलिए इस पर विचार करके ही समझदार आदमियों ने बाल-विवाह आदि को अनुत्तरदायी कहा है और न वैसा होना ही चाहिये।

नारी-चरित्र की महत्ता—

स्त्री, शान्ति, शक्ति, स्नेह, धैर्य, क्षमा, त्याग, सौंदर्य, माधुर्य आदि गुणों की प्रतीक है। वह गृह की लक्ष्मी है। लोगो ने उसे जीवनसगिनी बतलाया है। वह राष्ट्र सेविका और विश्व की देवी है। घर का प्रबन्ध सारा उस पर निर्भर है। उत्तम, मध्यम, अधम अतिथियो की सेवा, सुश्रूषा उसके आधीन है। शिशु-पालन उनका मुख्य जीवन का ध्येय है। स्त्री रूप नारी ही जगत् रक्षिणी कहलाती है। बहुत से लोग उसे रसोईघर की रानी या सन्तान पैदा करने की मशीन समझते है। और उसका विशेष आदर नही करते। यह उनकी भूल है। नारी का यह अपमान है। उनके गृह में इस प्रकार नारी का निरादर शोभा नही पाता। वहाँ देवताओं का निवास तो कदापि नही रह सकता। जहाँ हम नारी का आदर चाहते है वहाँ हम उनके द्वारा दूसरों को भी आदरित करवाना चाहते हैं। प्रत्येक नारी का कर्तव्य है वह अपनी सास, ससुर, देवर, जिठानी, ननद आदि के साथ सद्व्यवहार करे। अन्यथा वह अपयश का भाजन बनती है। वास्तव में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि विवाहिता नारी का जीवन कितना दायित्वपूर्ण है उसके दायित्व की सीमा बहुत विस्तृत है। भारत की सन्नारी सीता की तरह सब प्रकार के आदर्शों को निभाने का प्रयत्न करती है। हम चाहते हैं हमारी गृहस्थिनी हमारे सामने देवी के रूप में उपस्थित हो, वह तितली न बने। हमारा विचार है कि भारत के स्वतन्त्रता के साथ-साथ विदेशी असर के कम होने के कारण उनके तितलीपन में अवश्य कमी होगी और वह अपने कर्तव्य को पहचानेगी। पश्चिम का अनुकरण नारियों के जीवन का दुःख का कारण ही सिद्ध हुआ है। हमारा विश्वास है हमारी पत्नियाँ अपने स्वरूप को समझेंगी और बाहरी नकल से अपनी रक्षा करेंगी।

पुत्री-नारी—

तीसरा रूप नारी का हमारे सामने कन्या का है। जब मनुष्य के विवाह के उपरान्त कन्या का जन्म होता है तब मनुष्य अनुभव करता है कि स्त्री वस्तु क्या होती है बहुत से मनुष्य कन्या के जन्म के पश्चात् अपनी स्वच्छन्दता को भूल जाते हैं और उनकी स्त्रीजाति में श्रद्धा बनने लगती है। उनके सामने भी अपनी कन्या का योग्य पति के लिये दान देने का प्रश्न उपस्थित होता है। कन्या, नारी के निर्माण का समय है। इस समय वह जिस प्रकार की बनना चाहे बन सकती है। इस वक्त का बहुत कुछ भार तो माता पर रहता है और कुछ पिता पर भी। माता कन्या को चाहे जिस रूप में ढाल सकती है। बहुत सी स्त्रियों का जो दुखमय जीवन बन जाता है उसमें उनकी माताएँ अधिक जिम्मेदार हैं। कहते हैं कि 'पुत्र पिता के भाग्य से जीता है और कन्या माता के भाग्य से जीती है।' सत्कन्या उभय कुलवर्धिनी होती है। वास्तव में अच्छी कन्या अपने माँ-बाप के नाम को उज्वल करती है, बाद में अपने पति के घर पहुँच कर उसका घर समुज्वल करती है। कन्या के शिक्षण की समस्या बड़ी विचित्र है इस दिशा में श्रीमती चन्दाबाई जी ने—जिनके लिये अभिनन्दन-ग्रन्थ पेश किया जा रहा है, एक आदर्श उपस्थित किया है, वह सबके लिए आदर्श है। वास्तव में कन्याओं का शिक्षण उसी आदर्श के अनुसार होना चाहिये। उनका बाला-विश्राम आधुनिक ढंग का न होकर वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षण का आदर्श उपस्थित करता है। उनकी सेवाएँ इस दिशा में केवल जैन-समाज के लिये ही नहीं किन्तु समस्त भारत के लिये उपादेय है। कन्या का लालन, पालन, शिक्षण सर्वदा एक शुद्ध वातावरण में होना चाहिये। और उसको भविष्य में महान पुरुषों की जननी की कल्पना की सम्भावना करके उनके प्रति जो कुछ किया जाय वह थोडा है। भगवान ऋषभ ने स्वयं अपनी कन्याओं का लालन, पालन, शिक्षण अपने हाथों ही किया था। भगवान ने ब्राह्मी को समस्त लिपियों का ज्ञान कराके समग्र लौकिक और पारलौकिक ज्ञान दिया था तथा सुन्दरी को ललित कलाओं की शिक्षा देकर कला की प्रतिष्ठापना की थी और वे ही कन्याएँ आदर्श ब्रह्मचारिणी रह कर जगत् के लिए महान् आदर्श उपस्थित कर गई हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थ मार्ग है जिसका अवलम्बन कर कन्या 'वीरसू' बन सकती है।

विधवा—

चौथा रूप हमारे सामने 'विधवा' का है। विधवा वह स्त्री है जिसका पति असमय में उसे छोड़ कर संसार से उठ जाय। लोगों ने विधवा के आदर्श को समझने में बड़ी गलतियाँ की हैं। एक समय था जब वे पति के साथ जिन्दी जला दी जाती थी। धन्य है लार्ड वेन्टिङ्क को कि वह इस कुप्रथा को नष्ट कर गया और भारत के कलंक को मिटा गया। स्वामी समन्तभद्र ने भी अग्निपात को लोक-मूढ़ता बता कर बुरा बतलाया था। आज विधवा को जिन्दा तो नहीं जलाया जाता। किन्तु और रूप में उसे अनेक कष्ट दिये जाते हैं। गृहस्थी के लोग उसे अशुभ, पापिनी व्यर्थ समझने में तो झिझकते ही नहीं। किन्तु कुछ अधर्माचारी उनके पुनर्विवाह की योजना करने के लिये नहीं हिचकते। मैं अभी तक विधवा के विवाह की समस्या नहीं समझ सका हूँ। विवाह तो कन्या का होता है। विधवा का कैसा विवाह? यह तो विडम्बना है। इससे तो विधवा को एक प्रकार का कष्ट पहुँचाना है। लम्पटी स्त्री का कोई विचार नहीं। वह जिस प्रकार की व्यवस्था कर ले उसके लिये कोई रुकावट नहीं है किन्तु धार्मिक दृष्टि से विधवा का विवाह उसके जीवन को आदर्श से पतित करना है। भारतीय स्त्री

एक पति को छोड़ कर अन्य में पतिभाव कर ही नहीं सकती। वर्ना राजुल को क्या कमी थी? सीता को रावण के घर क्या दुख था? मनोरमा को शील की क्या आवश्यकता थी? जैन-नारी किसी भी अवस्था में अन्य पति का विचार नही कर सकती। इसके विपरीत चिन्तन करना पाप ही नहीं है बल्कि नारीत्व का अपमान करना है। मातृत्व के प्रति अश्रद्धा करना है, और स्वयं अपने को गिराना है। विधवा तीव्र कर्म की शिकार होती है। तीव्र कर्मों के उदय होने पर रामचन्द्र और पांडवों की तरह उनको सहन करना ही धर्म है। सांसारिक सुख दस बीस वर्ष तक इन्द्रिय तृप्ति कर सकते है। किन्तु आत्मपतन भव-भव को बिगाड़ता है। ऐसा विचार कर ही विधवा को अर्हन्त, साधु, चैत्य, स्वाध्याय आदि की भक्ति में सन्तोषपूर्वक मन लगाकर समय को बिताना चाहिये। इसीमें आत्मा की उन्नति है। इसीमें कुल की मर्यादा है। इसीमें समाज का आदर्श है। इस प्रकार धर्म से जीवन बिताने वाली विधवा समाज का, देश का, कुल का गौरव है। उसके सामने प्रत्येक व्यक्ति को नत-मस्तक होना पड़ता है। जैन-नारी का आदर्श इसी प्रकार का है।

इस तरह इस लेख में नारी के चार रूपों पर विचार किया गया है। यद्यपि नारी का विचार अनेक दृष्टिविन्दुओं से किया जा सकता है, किन्तु यह विचार संसार की दृष्टि से किया गया है। जहाँ तक पारमार्थिक दृष्टि का विचार है हम तो नारी को अर्जिका के रूप में देखना चाहते हैं जब वह कर्म क्षपण में लगती है। नारी की चरम उन्नति अर्जिका के रूप को धारण करने में है। भगवान महावीर ने चतुर्विध संघ में श्राविकाओं के बाद अर्जिका का आदर्श उपस्थित किया है। सीता अर्जिका बन कर ही १६ वें स्वर्ग को प्राप्त हुई। लिंगच्छेद बिना तपस्या के नही हो सकता। नारी का कर्तव्य है कि वह लिंगभेद करके पुरुष रूप बन कर आर्हन्त्य पदवी को प्राप्त कर अपने परमपद—सिद्धपद को प्राप्त करे। व्यवहार जगत् में भी पारमार्थिक जीवन के अभाव में नारी ने बड़े कार्य किये हैं। जैन-नारी ही नहीं, अन्य नारियाँ भी अपनी वीरता, शौर्य, तपस्या और धर्म के लिये लोकप्रसिद्ध हैं। झांसी की लक्ष्मीबाई, मीरा, जोन आफ आर्क आदि अनेक ऐसी स्त्रियाँ है जिन्होंने जीवन-क्षेत्र में लोकोपकारी कार्य किये हैं। दक्षिण के इतिहास में जैन-नारियों ने युद्ध तक लड़े हैं और नारी-जगत् का गौरव बढ़ाया है। हम चाहते हैं हमारी नारियाँ हमारे लिये आदर्श बनें और हम उन्हें सर्वदा कन्या, बहिन, स्त्री, माता के रूप मे आदर करते रहें। नारी जगत् का बीज है। बीज की रक्षा करना, उसको आदर्श रूप मे रखना मनुष्य का ध्येय होना चाहिये। मुझे आश्चर्य है "एक सीता शील की रक्षा के लिये भारत ने क्या क्या किया और आज हजारों स्त्रियों की दुर्दशा हुई और भारतीय नेता सब कुछ होता हुआ देखते रहे।" यह था हमारा पतन। 'नारी की प्रतिष्ठा से जगत की प्रतिष्ठा है' यह मंत्र हमें सदा याद रखना चाहिये।

सीता का आदर्श

श्री शान्ति देवी न्यायतीर्थ

सीता चरित्र का आदर्श–

महान् व्यक्ति आपत्तियों से भयातुर नहीं होते, बल्कि धैर्य और प्रसन्नता से उनका स्वागत करते हैं। यही कारण है कि शुद्ध किये हुए संखिया की भांति वे अपने विष रूप प्रभाव का परित्याग कर उन्हें गुण रूप औषधि प्रदान करते है। सती सीता के जीवन में भी हम इसी नियम को पाते हैं। गर्भिणी सीता के व्यक्तित्व में राम द्वारा परित्यक्त किये जाने पर भी वन-विहार ने चार चाँद लगा दिये हैं। सच तो यह है कि राम की प्रसिद्धि में सीता की सहिष्णुता ही कारण है। यदि राम चरित से सीता का कथानक पृथक् कर दिया जाये तो वह न केवल भद्दा हो जायेगा, बल्कि निष्प्राण भी। सीता ने अपने त्याग, साहस और विवेक से भारतीय हो नहीं, बल्कि विश्व की नारियों के समक्ष पुनीत आदर्श उपस्थित किया है। विपत्ति काल में दुर्जनो के बीच पति का संग न त्यागना, निशाचरों के चगुल में फँसने पर भी अपने सतीत्व को अक्षुण्ण रखना, पति द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर भी पातिव्रत धर्म को समुज्ज्वल रखने के लिए राम के प्रति किसी प्रकार भी अन्यथा विचार न लाना—कितना महान् आदर्श है। सीता के आदर्श की महत्ता संसार द्वारा सीताराम का पाठ स्पष्ट है। जिस नारी को दीन-हीन, और अबला कहते हैं, क्या सती सीता का नाम राम से पूर्व स्मरण करना इसका प्रतिपक्षी नहीं है? राम के आदेशानुसार भयंकर वन में सेनापति द्वारा पहुँचाये जाने पर विवेकशील सीता वीरतापूर्वक कहती है—

अवलम्ब्य परं धैर्यं महापुरुष सर्वथा।
सदा रक्ष प्रजां सम्यक् पितेव न्यायवत्सलः॥

अर्थात्—हे पुरुषोत्तम! मेरे वियोगजन्य खेद का परित्याग कर धैर्य के साथ प्रजा का सम्यक् प्रकारेण पालन करना। इतना ही नहीं, प्रजावत्सल सीता मातृत्व स्नेह का परिचय देने के साथ ही अपनी विवेक बुद्धि और धर्मनिष्ठा का निदर्शन भी नारी जाति के सम्मुख उपस्थित करती है—

संसाराद् दुःखनिर्घोरान्मुच्यते येन देहिनः।
भव्यास्तद्दर्शनं सम्यगाराधयितुमर्हसि॥
साम्राज्यादपि पद्माभः तदेव बहु मन्यते।
नश्यत्येव पुनाराज्यं दर्शनं स्थिरसौख्यदम्॥

अर्थात् हे पद्माभ पद्म ! जिस प्रकार आपने लोकनिन्दा के भय से विवेचन किये बिना मेरा परित्याग किया है, उस प्रकार विनश्वर राज्य से बढ़ कर अविनश्वर सुख को प्रदान करने वाले सम्यक्त्व धर्म को, दुष्टों द्वारा निन्दा किये जाने पर न छोड़ देना ।

विशाल-हृदय की झाँकी—

अन्य सामान्य नारियों की भाँति सीता अपने ज्ञान, कर्त्तव्य और चेतना का परित्याग नहीं करती । कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलते हुए, बीहड़ वन-प्रदेश में निवास करते हुए, भयंकर जानवरों के मध्य निवास करते हुए, बिजली की कड़क और बादल की गरज के बीच अकेली रहने पर भी सीता के जीवन में क्षोभ के स्थान पर मधुर मुस्कान, घबराहट की जगह तत्परता, खेद के स्थान पर उल्लास और विषाद की पृष्ठभूमि पर प्रसन्नता का दर्शन करते हैं । राज्यनीति में संलग्न राम के लिए सेनापति द्वारा समयानुकुल संदेश भेजती है, जो उसकी राजनीति के परिज्ञान का द्योतक है—मनुष्य स्वभावतः मोहाभिभूत हो अपने हेयोपादेय का ज्ञान नहीं कर पाता । सीता के जीवन में हम इससे विपरीत वस्तु पाते हैं । वह स्वयं तो सचेष्ट रहती ही है, राम को भी कर्त्तव्यनिष्ठ, सत्यपालक, और जीवनोद्धारक संदेश प्रेषित करती है—

सेनापते ! त्वया वाच्यो, रामो मद्वचनादिदम् ।
यथा मत्त्यागजः कार्यो न विषादस्त्वया प्रभो ।।

"हे सेनापते ! राम से प्रार्थना करना कि मेरे त्याग का किसी प्रकार विषाद न करें । क्योंकि विषाद मनुष्य को किकर्त्तव्य विमूढ कर देने वाला है । इस प्रकार की विपत्तियों के मध्य सीता का उद्देश्य, पावन विचार और पुनीत संदेश किसके लिए ग्राह्य नहीं होगा ? ऐसा कौन होगा जो इस सती के चरणों में नत हो अपने को धन्य न समझेगा ? विपत्तिकाल में दिये गये इस मार्मिक और दिव्य संदेश ने ही सीता को सतीशिरोमणि और वीरागनाओं में अग्रणी पद प्रदान किया है ।

सीता की अग्नि-परीक्षा—

सीता के आदर्श, महत्ता, सहिष्णुता और क्षमता का ज्वलंत निदर्शन उस स्थल पर मिलता है, जब कि सभामंडल द्वारा, वह राम की राज्य सभा के मध्य लायी जाती है । प्रेमाभिभूत होने पर भी मर्यादापुरुषोत्तम राम सीता का आगमन बरदाश्त नहीं करते, बल्कि कटु और अपमान सूचक शब्दों द्वारा उसकी भर्त्सना करते हैं—

ततोऽभ्यधायि रामेण, सीते तिष्ठसि किं पुरः ।
अपसर्प न शक्तोऽस्मि भवतीं क्षणमीक्षितुम् ।।

"सीते ! दूर हो, मेरे समक्ष से । मैं तुझे क्षणभर के लिए भी देखना नहीं चाहता ।"

पाठक स्वयं हृदय पर हाथ रख कर सोच सकते हैं कि वर्षों के बाद वियोग की काली घटाओं के विच्छिन्न होने पर स्वच्छ आलोक की प्राप्ति होकर द्वितीय क्षण पर पुनः काली घटा घिर जायें तो हृदयांगण की क्या दशा हो सकती है। पर, सीता इस भीषण समय में भी विचलित नहीं होती, सामान्य नारी की भाँति आठ-आठ आँसू नहीं रोती, प्रेमाधिक्य से पागल नहीं होती, अज्ञानी की भाँति सिर पीट गालियाँ नहीं बकती, बल्कि न्याय और युक्तिपूर्ण वचनो द्वारा सहज ही राम के हृदय में तूफान पैदा कर देती है, विवेक ज्योति जाग्रत कर उनकी भूल को उनके समक्ष नग्न रूप में प्रस्तुत कर देती है, नम्रता और विनय से अभिभूत सीता उनके मायाचार, अज्ञान और अदूरदर्शिता पर विजय प्राप्त करती है। फलतः राम स्वयं लज्जित हो मूक बन जाते हैं। यही नहीं, अपना अपराध स्वीकार करते हुए राम कहते हैं :—

"रामो जगाद जानामि, देवि शीलं तवानघम्।
मदनुव्रततां चोच्चैर्भावस्य च विशुद्धताम्॥
परीवादमिमं किन्तु प्राप्ताऽसि प्रकटं परम्।
स्वभावकुटिलस्वान्तामेताम् प्रत्यायय स्वयम्॥

अर्थात्—"राम कहते हैं मैंने तुम्हारे अटल सतीत्व, विशाल और विशुद्ध आचरण को जानते हुए भी प्रजा की कुटिलता द्वारा अपवाद किये जाने पर उसे विश्वास कराने के अर्थ तुम्हारा परित्याग किया है।"

उपर्युक्त वचनों को सुन सीता गद्‌गद हो जाती है, हर्षोल्लास से उसका चेहरा चमक उठता है और तत्काल बुद्धि का सदुपयोग कर राम के समक्ष करबद्ध हो कह उठती है—"नाथ, मै अपने शील को परीक्षा देने के लिए हर प्रकार से तैयार हूँ। आप कहें अग्नि में प्रवेश करूँ, आशीविष-सर्प के मुख में हाथ डालूँ, विषपान करूँ, अथवा अन्य भयकर से भयंकर कार्य करूँ।" राम क्षण पर्यन्त मौनमवलम्ब्य अग्नि प्रवेश की आज्ञा देते है, सीता सहर्ष स्वीकार कर लेती है।

अग्निकुंड में प्रज्वलित शिखा से दिग्-दिगत स्वर्णिम हो गये थे। लौ गगनचुम्बी हो विकराल रूप धारण कर बैठी थी। यहाँ तक कि स्वय राम भी अपनी कठोर आज्ञा पर अनुताप कर रहे थे, मन ही मन। क्या सीता के मन में भी भय का सचार हुआ था? नही, उसे तो आज अपनी गौरवपताका फहरानी थी, अपने नाम को अमरत्व प्रदान करना था, सतीत्व का चमत्कार दिखा विश्व की नारी को अमर संदेश देना था? भला ऐसे पावन अवसर पर खेद कैसा। अपने इष्टदेव का स्मरण करते हुए सीता कहती है :—

कर्मणा, मनसा वाचा रामं मुक्त्वा परं नरम्।
समुद्वहामि न स्वप्नेऽप्यन्यं सत्यमिदं मम॥

यद्येतदनृतं वच्मि तदा मामेव पावकः ।
भस्मसात्कुरुतमप्राप्तामपि प्रापयतु क्षणात् ।।

इसी भाव को अन्य कवि ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि ।
तदिह दह शरीरं पावके मामकीनं
सुकृत-विकृतभीते देव साक्षी त्वमेव ।।

अर्थात्—हे अग्नि देवते ! यदि मैंने मनसा, वाचा, कर्मणा से श्री रघुवीर के अतिरिक्त अन्य पुरुष को स्वप्न में भी पति रूप में देखा हो तो तू क्षण भर में मेरे भौतिक शरीर को भस्मसात् कर देना ।"

उमंग और उल्लास से उस प्रचंड अग्निकुंड में प्रवेश करने के अनन्तर क्या हुआ यह संसार-विदित है । उसके मध्य किसी प्रकार का संदेह या अत्युक्ति को स्थान नहीं ।

वस्तुतः सीता एक आदर्श नारी है, जिसकी पुनीत स्मृतिमात्र से प्रत्येक नारी अपने चरित्र-निर्माण, धर्माचरण, उच्चविचार और कर्त्तव्यपरायणवृत्ति को सुदृढ़ और प्रांजल कर जीवन को सुखी-संपन्न बनाने में समर्थ हो सकती है ।

उपसंहार—

सीता ने एक-से-एक भयंकर परिस्थिति का साहसपूर्वक सामना कर अदमनीय उत्साह और पराक्रम का परिचय दिया है । एक पवित्र और महत्त्वपूर्ण, अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है । अपने नैतिक जीवन का विकास उसने जिस रूप में किया है, वह नारी समाज के लिए अत्यन्त ग्राह्य, चिरस्मरणीय और महान् बनाने वाला है । वस्तुतः सीता का आदर्श अलौकिक, आश्चर्यान्वित करने वाला और परम उपादेय है । यह आदर्श न केवल व्यावहारिक जीवन में ही अमर ज्योति जगाने वाला है, अपितु अध्यात्म जीवन को भी समुज्ज्वल बनाने में रामबाण से कम नहीं ।



नारी और धर्म

प्रो० श्री ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०, एल०-एल० बी०

भूमिका—

नर और नारी—स्त्री और पुरुष, दोनों मिलकर ही मानव-समाज की सृष्टि करते हैं। वे दोनों ही उक्त समाज के सहज प्राकृतिक, अनिवार्य एवं अभिन्न अंग हैं। एक दूसरे का पूरक है, और दोनों का ही अस्तित्व परस्पर निर्भर है। दोनों ही, मनस्वी होने के कारण प्राणीमात्र में समान रूप से सर्व-श्रेष्ठ कहलाते हैं।

पुरुष और नारी में संघर्ष—

किन्तु साथ ही, मनुष्य जाति के जीवन और इतिहास पर विशेषतया स्त्री-पुरुष संबंध पर दृष्टिपात करने से यह बात भी सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के कौटुम्बिक, सामाजिक, राज-नैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध क्षेत्रों में प्रायः सर्वत्र तथा सर्वकालों में अधिकांशत. पुरुषवर्ग का ही प्राधान्य, नेतृत्व एवं प्रभुत्व रहता रहा है। इस बात का सर्वमान्य कारण भी सामान्यत पुरुष जाति के शारीरिक एवं मानसिक शक्ति-संगठन का स्त्री-जाति की अपेक्षा श्रेष्ठतर होना स्वीकार किया जाता है। इस स्वाभाविक भौतिक विषमता के फलस्वरूप जहाँ पुरुष के आत्मविश्वास में महती वृद्धि हुई, उसकी उद्यमशीलता और कार्यक्षमता को प्रोत्साहन मिला तथा उसका उत्तरदायित्व बढ़ा, वहाँ दूसरी ओर उसने अपनी वैयक्तिक, तथा जब-जब भी अवसर मिला अपनी सामूहिक शक्तिविशेष का भर-सक अनुचित लाभ भी उठाया और स्त्रीजाति पर मनमाने अन्याय एवं अत्याचार किये। स्वतन्त्रता-सम्बन्धी उसके विभिन्न जन्मसिद्ध अधिकारों का अपहरण किया, उसके मस्तिष्क में यह बात ठूसने का अथक प्रयत्न किया कि वह पुरुष की अपेक्षा हीन है, उसका स्थान गौण है, उसका कार्य एवं अधिकार क्षेत्र परिमित है, वह पुरुष के अधीन है, उसकी आश्रित है, अपनी रक्षा एवं भरण-पोषण के लिये उस पर अवलम्बित है, पुरुष की निष्काम सेवा उसका प्रधान कर्त्तव्य है, वह उसकी विषय-तृप्ति-ऐहिक सुखभोग की एक सामग्री है, उसकी मार्गणा की पूर्ति का साधनमात्र है। उसका अपना निजी स्वतन्त्र व्यक्तित्व और अस्तित्व तो कोई है ही नहीं, जो कुछ यदि है भी तो वह पुरुष के ही व्यक्तित्व एवं अस्तित्व में लीन हो जाने के लिये है। उसे इस जीवन में पुरुष की अनुगामिनी ही नहीं जीवन के अन्त में उसकी सहगामिनी बनने के लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिये। वह उसका पति, पथ-प्रदर्शक और स्वामी ही नहीं, नाथ, प्रभु और साक्षात् भगवान् जो है!

नारी का आधार : धर्म—

पुरुष की नारीविषयक इस जघन्य स्वार्थपरता में उसका सबसे बड़ा सहायक रहा है धर्म ! मानवी सभ्यता के प्रारम्भकाल से ही मनुष्य के जीवन में धार्मिक विश्वास का प्रमुख स्थान रहता आया है । और तनिक असावधानी का निमित्त अथवा समय और परिस्थितियों की तनिक-सी भी अनुकूलता मिलते ही मनुष्य समाज के लिये श्रेयस्कर ये निर्दोष धार्मिक विश्वास द्रुतवेग से धर्मान्धता एवं अन्धविश्वासो में परिणत होने लगते हैं । जब-जब जातिविशेष के दुर्भाग्य से सयोगवश अथवा किन्हीं राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि कारणों से उक्त जाति में मनीषियों और बुद्धिमानों का अभाव, ज्ञान और विवेक की शिथिलता, तज्जन्य अज्ञान, अविवेक, रूढ़िवादिता एव वहमों का प्रभाव बढ़ जाता है तो उस जाति के नैतिक पतन के साथ ही उसके धर्म के गौण एव बाह्य क्रियाकाण्डो तथा ढोंगों का प्राबल्य भी विशेष होता जाता है । विवेकहीन, विषय एव अर्थ के लोलुप, स्वार्थरत, धर्मान्ध और कट्टर धर्मगुरु तथा धर्मात्मा कहलाने वाले समाज के बहुधा स्वयभूत अथवा धन और के बल से बने मुखिया समाज का मनमाना नियन्त्रण और शासन करने लगते हैं । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे अपनी टाग अडाते हैं और अनधिकार चेष्टाएँ करते हैं । उनके आदेश ही धर्माज्ञा होती हे, वे जो व्यवस्था दे देते हैं उसको कोई अपील नही । धर्म के वास्तविक कल्याणकारी तत्त्वो एव मूल सिद्धान्तों की वे तनिक भी पर्वाह नही करते, जान-बूझकर बहुधा उनकी अवहेलना ही करते हे, और दुर्बल समाज मानसिक पराधीनता की बेडियो में भी जकड जाता है ।

योरोपीय दृष्टिकोण—

स्त्रीजाति पुरुषों की अपेक्षा अधिक भावप्रवण होने तथा शताब्दियों से वृद्धिगत कुसंस्कारों की कृपा से अपने आप मे हीनता का दृढ विश्वास (inferiority complex) होने के कारण, अपने ही लिये अधिक अपमानजनक, कष्टकर, अनुचित एव अकल्याणकारी ऐसी उन धर्मगुरुओं की आज्ञाओ और आदेशो को श्रद्धापूर्वक, बिना चूँचपड़ किये शिरोधार्य करने में सबसे अधिक उत्साह दिखाती हैं । इसीलिए एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है कि—

"Clergy have been the worst enemies of women, women are their best friends" अर्थात् 'धर्मगुरु स्त्रियों के सबसे बड़े शत्रु रहे हैं और स्त्रियाँ ही उनकी सबसे बड़ी मित्र हैं ।" अस्तु, किसी भी असभ्य, अर्धसभ्य अथवा सभ्य पाश्चात्य या पौर्वात्य, प्राचीन या अर्वाचीन मनुष्य समाज का इतिहास क्यो न उठा कर देखें, और किसी भी धर्मविशेष से उसका सम्बन्ध क्यों न रहा हो, अल्पाधिक काल तक उनमें से प्रत्येक समाज के पुरुषवर्ग ने और उनके उपयुक्त प्रकार के धर्मगुरुओं ने स्त्रीजाति के प्रति तीव्र असहिष्णुता का परिचय दिया है । उन सबने ही अपने-अपने धर्मशास्त्रों की आड़ लेकर नारी के प्रति अपना विद्वेष प्रकट किया है, उस पर अपना दमनचक्र चलाया है और उस पर पुरुष जाति का सर्वाधिकार चरितार्थ किया है ।

ईसाइयों की बाइबिल में नारी को सारी बुराइयों की जड़ (root of all evils) कहा है और ईसाई धर्मयाजकों ने उसे शैतान का दरवाजा कह कर घोषित किया (Thou art the

devils gate) । छठी शताब्दी ईस्वी में ईसाई धर्मसंघ ने यह निर्णय कर दिया था कि स्त्रियों में आत्मा ही नहीं होती, अतः उनके लिये किसी प्रकार के आत्मोद्धार का प्रसंग ही नहीं ।

मुस्लिम दृष्टि—

इस्लाम धर्म के पवित्र ग्रन्थ कुरान में स्त्रियों का ठीक २ क्या स्थान है यह समझना तनिक कठिन है। हार्नबेक और रिकाट (Hornbeck, Ricaut) आदि ग्रन्थकारों का तो कहना है कि मुसलमान भी नारी में आत्मा का अभाव मानते हैं और उसे पशुओं के तुल्य समझते हैं । वे बहुविवाह (बहुपत्नीत्व) धर्मसम्मत मानते हैं, और परदे की प्रथा का श्रेय भी मुसलमानी सभ्यता को है ।

वैदिक-धर्म में नारी—

उत्तरकालीन वैदिक धर्म में स्त्रियों को धर्मशास्त्र सुनने तक का अधिकार नहीं दिया गया (त्रयी न श्रुतिगोचरा) और हिन्दू धर्म एवं समाज के नियन्ता, मनु महाराज ने तो स्पष्ट घोषित कर दिया कि 'स्त्रियों की सृष्टि जनने तथा मानव सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही हुई है—

'जननार्थं स्त्रिय. सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवा. —मनु स्मृ०–९६,
तथा–उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्ष स्त्रीनिबन्धनम् ।। मनु ९–२७)

इतना ही नहीं, साध्वी स्त्रियों के लिए दुश्शील कामान्ध एवं गुणहीन पति को भी देवता के समान निरन्तर सेवा करने का अनिवार्य विधान कर दिया—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ।।—मनु ५–२१५४

नीतिकारों ने यह कहकर कि 'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवा न जानन्ति कुतो मनुष्या.' नारीचरित्र को इतना कुटिल, सन्दिग्ध रहस्यमय एवं अगम्य बना डाला कि मनुष्यों की तो बात ही क्या देवता भी उसे जानने समझने में असमर्थ हैं । वेदान्त के प्रचारक पूर्वमध्यकालीन हिन्दू धर्माध्यक्ष शंकराचार्य और आगे बढ़े और उन्होंने नारी को नरक का साक्षात् द्वार ही घोषित कर दिया (द्वार किमेकं नरकस्य? नारी)। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के साथ माता जानकी के भी अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदास भी यह कहे बिना न रह सके कि—

'वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।
ऐसेहु पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।'
"एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा ।"

बौद्ध-दृष्टिकोण —

जहाँ तक बौद्धधर्म का सम्बन्ध है, बौद्ध विद्वान सुमन वात्स्यायन के अनुसार बुद्धकालीन समाज की दृष्टि में स्त्रियाँ इतनी हेय और नीच समझी जाती थीं कि जब बुद्ध की मौसी तथा उनका मातृवत्

पालन-पोषण करने वाली प्रजापति गौतमी के नेतृत्व में स्त्रियों ने संघ में शामिल होने के लिए बुद्ध से सर्वप्रथम प्रार्थना की तो उन्होंने इसमें आना-कानी की। इसे स्त्रियों के प्रति महात्मा बुद्ध की दुर्भावना ही समझा जाता है। उन्होंने स्त्रियों को गृहस्थी में रहकर ही ब्रह्मचर्य और निर्मल जीवन द्वारा अन्तिम फल पाने के लिये उत्साहित किया, बाद को जब परिस्थितियों से विवश होकर उन्होंने भिक्षुणी संघ बनाने का आदेश भी दिया तो उसके नियमों में भिक्षुसंघ से भेद भी कर दिये और उन पर कड़ा अनुशासन लगा दिया, जिसे देश, काल और परिस्थितियों की दृष्टि से आवश्यक बताया जाता है। बुद्ध ने भी स्त्रियों की निन्दा ही की है और पुरुषों को उनसे सचेत रहने का उपदेश दिया है। वास्तव में श्रीमती सत्यवती मल्लिक के शब्दों में "जातक ग्रन्थों एव अन्य बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर नारी के प्रति सर्वथा अवाछनीय मनोवृत्ति का उल्लेख है।" बौद्ध-प्रधान चीन देश की स्त्रियों की दुर्दशा की कोई सीमा नही है, और उन्ही जैसी अवस्था जापान की स्त्रीजाति की भी थी, किन्तु जापान अपनी स्त्रियों का स्थान उसी दिन से उन्नत कर सका जिस दिन से अपनी सामाजिक रीति-नीति के अच्छे-बुरे का विचार वह धर्म और धर्मव्यवसायियों के चगुल से बाहर निकलकर कर सका।

जैन दृष्टि—

जैन धार्मिक साहित्य की भी, चाहे वह श्वेताम्बर हो अथवा दिगम्बर, प्रायः ऐसी ही दशा है। श्वेताम्बर आगम साहित्य के प्राचीन प्रतिष्ठित उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर लिखा है कि 'स्त्रियां राक्षसनियां, जिनकी छाती पर दो मासपिण्ड उगे रहते हैं, जो हमेशा अपने विचारो को बदलती रहती है और जो मनुष्य को ललचाकर उसे गुलाम बनाती है।' इस सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं। पाँचवें अङ्गसूत्र भगवती (शतक ३–७) के देवानन्द प्रसंग में चीनाशुक, चिलात और पारसीक देश की दासियों का, ज्ञाताधर्म कथाङ्ग के मेघकुमार प्रसंग में १७ विभिन्न देशों की दासियो का तथा उइवाई सूत्र में भी अनेक देशो की दासियों का उल्लेख हैं जो कि आर्य देशवासी पुरुषों के लिये न्यायतः उपभोग्य सामग्री समझी जाती थीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि जैन साहित्य में नारी का उज्ज्वल रूप भी मिलता है।

इसी भाँति दिगम्बर साहित्य भी स्त्री-निन्दा परक कथनों से अछूता नहीं है, विशेषकर मध्यकालीन पुराण-चारित्र-साहित्य में ऐसे कथन बहुलता से उपलब्ध होते हैं।

सर्व-मान्यता—

अस्तु, संसार के प्रत्येक देश, जाति, धर्म, सस्कृति और सभ्यता के इतिहास एवं उसकी वर्तमान वस्तुस्थिति पर से ऐसे अनगिनत उदाहरण दिये जा सकते है जिनसे कि उसमें स्त्रीजाति पर पुरुष-जाति के अन्याय और अत्याचार का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। क्या प्राचीन भारत, चीन, मिस्र, काबुल, यूनान और रोम, क्या अर्वाचीन यूरोप और अमरीका, अथवा क्या एशिया, अफ्रिका, अमरीका एवं पूर्वी पश्चिमी द्वीपसमूहों की अर्धसभ्य, असभ्य जातियां सभी ने धर्म से, कानून से अथवा रिवाज से, न्यूनाधिक रूप में नारी को पुरुष की सम्पत्ति, उसके स्वत्वाधिकार की वस्तु और उपभोग की सामग्री समझा है। और कोई भी धर्म इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसके किसी भी धर्मगुरु द्वारा अथवा उसके किसी भी धर्मग्रन्थ में कभी भी स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हीन नहीं समझा गया, उनकी उपेक्षा और निन्दा नहीं की गई, उन पर पुरुषों का आधिकार और श्रेष्ठत्व सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

मतभेद—

तथापि प्रायः देखने में आता है कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्मों की निन्दा इस बात को लेकर करते हैं कि उनमें स्त्रीजाति के साथ अन्याय किया गया है। ईसाई, हिन्दू और मुसलमानों को, मुसलमान हिन्दुओं को, हिन्दू बौद्ध और जैनों को, बौद्ध जैनों और हिन्दुओं को और स्वयं जैनों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बरों को इसी बात के लिये लाञ्छित करने का प्रयत्न करते है, और अपने २ मत में नारीविषयक उदारता विशेष होने के कारण उसका श्रेष्ठत्व सिद्ध करना चाहते है।

विरोधाभास—

इसमें भी सन्देह नही कि जहाँ नारी को अपमानित, लाञ्छित और पीड़ित करने में पुरुष ने कोई कसर नही छोड़ी वहाँ यदाकदा उसके आँसू पोछने के लिये उसकी प्रशंसा भी कर दी। उसके बिना पुरुष का काम जो नही चल सकता! विशेष कर काम के वशीभूत होने पर तो नारी के बिना पुरुष को अपने प्राण तक रखने कठिन हो जाते है, उसकी सौन्दर्यानुभूति का प्रमुख केन्द्र, विषय-वासना की तृप्ति का प्रधान साधन, कल्पना और कला के लिये सबसे अधिक प्रेरक शक्ति, उसकी सन्तान को जन्म देने वाली व पालन पोषण करने वाली, तथा उसकी गृहस्थी का भार सभालने वाली—वही तो एकमात्र प्राणी है। व्यक्तिगत रूप से तो पुरुष का ससार ही नारी है। उसको सन्तुष्ट रखना भी आवश्यक है।

नारी का स्थान—

अस्तु इसमें आश्चर्य ही क्या जो स्त्री को शैतान का दरवाजा कहने वाली और उसमे आत्मा का ही अभाव मानने वाली पश्चिमी सभ्यता ने उसे पुरुष का श्रेष्ठतर अर्धाङ्ग (better half) घोषित किया, सामाजिक जीवन में उसे प्रथम सम्मान प्रदान किया। नारी ने भी समय का उचित लाभ उठा कर पुरुष की बराबरी का दावा किया और उसके जैसे ही स्वातन्त्र्य अधिकारो को प्राप्त करने के लिए आन्दोलन शुरु कर दिया—उसे आशातीत सफलता भी मिल रही है। इस्लाम में भी धार्मिक कानून की दृष्टि से पुत्री को पुत्र के समान ही पिता का दाय भाग प्राप्त होने का विधान स्वीकार कर लिया, पति भी पत्नी का परित्याग करे तो बिना आर्थिक हानि उठाये नही कर सकता। हिन्दूधर्म में तो नारी को बन्धनों में जकड़ने वाले स्मृतिकारो ने ही स्वयं यह कह दिया कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:"—जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है उस घर में देवताओं का निवास रहता है। जहाँ इनका अनादर होता वहाँ अकल्याण होता है। जिस कुल में स्त्रियाँ शोक करती है, क्लेशित रहती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, और जहाँ वे प्रसन्न रहती हैं वह कुल निश्चय से वृद्धि को प्राप्त होता है' इत्यादि।

कम-से-कम मातृरूप में तो नारी की पूजा वन्दना करने में भारतीय मनीषी सदैव सन्नद्ध रहे हैं:—

जननी परमाराध्या जननी परमा गतिः।
जननी देवता साक्षात् जननी परमो गुरुः ॥

या कर्त्री परयात्री च जननी जीवनस्य नः ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।।

एक विद्वान् के अनुसार "स्त्री का सर्वश्रेष्ठ रूप माता है और सच मानो इससे मधुर, इससे सुखकर शब्द, इससे सुन्दर रूप सृष्टि और ससार में कोई दूसरा नही । ससार का समस्त त्याग, समस्त प्रेम, सर्वश्रेष्ठ सेवा, सर्वोत्तम उदारता एक माता शब्द में छिपी पडी है ।" महात्मा गांधी ने लिखा था कि 'अगर स्त्रियाँ ईश्वर की क्षुद्र हल्के दर्जे की रचनाओ में से हे तो आप जो उनके गर्भ से पैदा हुए हैं अवश्य ही क्षुद्र हैं ।' बौद्धधर्म में अनेक नारीरत्न भी उत्पन्न हुए और संघ में उनका समादर भी हुआ । इसी भाँति जैन-सस्कृति में भी सामान्यत. नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा गया । यदि ऐसा न होता तो जिन कर्म-प्राण एव धर्मप्राण अद्वितीय नारीरत्नो के चरित्रो से जो जैन साहित्य और इतिहास भरा पड़ा है, और आज भी जिनका अभाव नहीं है, वह कभी न होता ।

जैन-धर्म में नारी की विशेषता—

इसमें सन्देह नही कि भारतीय सस्कृति और साधना प्रधानतः निवृत्यात्मक एव अपरिग्रहमूलक है, विशेषकर जैनधर्म तो इस विषय में सबसे आगे है । और स्त्री प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रतिरूप, ससार में आकर्षण की सर्वप्रधान वस्तु है, अत. भारतीय धर्मसाधना में उसका दर्जा पुरुष से अवश्य ही, अपनी उन प्राकृतिक अक्षमताओ एव विशेषताओ के कारण कुछ नीचा पड़ गया है । किन्तु साथ ही जैनधर्माचार्यों ने यह भी स्पष्ट घोषित कर दिया कि "जो दोष स्त्रियो में गिनाये गये हैं उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो उसे वे भयानक दीखेंगे और उसका चित्त उनसे लौटेगा ही । किन्तु नीच स्त्रियो में जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषो में भी रहते हैं । इतना ही नही, स्त्रियो की अपेक्षा उनकी अन्नादिको से उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहने से उनमें स्त्रियो से भी अधिक दोष रहते हैं । शील का रक्षण करने-वाले पुरुषो को स्त्री जैसे निदनीय एव त्याज्य है उसी प्रकार शील का रक्षण करने वाली स्त्रियों को भी पुरुष निदनीय एव त्याज्य हैं । ससार, शरीर भोगो से विरक्त मुनियो के द्वारा स्त्रियाँ निंदनीय मानी गई है, तथापि जगत में कितनी ही स्त्रियाँ गुणातिशय से शोभायुक्त होने के कारण मुनियो के द्वारा भी स्तुति के योग्य हुई है, उनका यश जगत में फैला है, ऐसी स्त्रियाँ मनुष्यलोक में देवता के समान पूज्य हुई हैं, देव उनको नमस्कार करते हैं ।" (–शिवार्य भ० आराधना) और यह कि 'नारी गुणवती धत्ते स्त्रीसृष्टिरग्रिम पदम्' (जिनसेन)—गुणवती नारी ससार में प्रमुख स्थान प्राप्त करती है । इत्यादि अनेक उदाहरणो से नारी सम्बन्धी जैनधर्म और जैनाचार्यों की नीति एव विचार स्पष्ट हो जाते हैं, और वे किसी भी अन्य धर्म अथवा सस्कृति की अपेक्षा श्रेष्ठतर कहे जा सकते हैं ।

उपसंहार—

तथापि यह तथ्य निर्विवाद है कि पुरुष जाति ने धर्म जैसी पवित्र और सर्वकल्याणकारी वस्तु के नाम पर भी नारीजाति के साथ अन्याय किये हैं । वास्तव में, बंगीय साहित्य महारथी स्व० शरत् बाबू के अनुसार—"समाज में नारी का स्थान नीचे गिरने से नर और नारी दोनों का ही अनिष्ट होता है

ग्रौर इस ग्रनिष्ट का ग्रनुसरण करने से समाज में नारी का जो स्थान निर्दिष्ट हो सकता है, उसे समझना भी कोई कठिन काम नही है। समाज का ग्रर्थ है नर ग्रौर नारी, उसका ग्रर्थ न तो केवल नर ही है ग्रौर न केवल नारी ही।" तथा "सुसभ्य मनुष्य की स्वस्थ" सयत तथा शुभबुद्धि नारी को जो ग्रधिकार ग्रर्पित करने के लिये कहती है वही मनुष्य की सामाजिक नीति है, ग्रौर इसीसे समाज का कल्याण होता है। समाज का कल्याण इस बात से नही होता कि किसी जाति की धर्मपुस्तक में क्या लिखा है ग्रौर क्या नही लिखा है।" (—नारीर मूल्य) एक ग्रंग्रेज विद्वान का कथन है कि—

"Perhaps in no way is the moral progress of mankind more clearly shown than by contrasting the position of women among savages with their position among the most advanced of the civilized."

ग्रर्थात् ग्रसभ्य लोगों मे स्त्रियो की जो ग्रवस्था है तथा सभ्य समाज के सर्वाधिक उन्नत लोगों में उनकी जो स्थिति है, उसकी तुलना करने से ही मानवजाति की नैतिक उन्नति का जितना स्पष्ट ग्रौर ग्रच्छा पता चलता है उतना शायद किसी ग्रन्य प्रकार से नही हो सकता। ग्रस्तु, मानव की सभ्यता, सस्कृति ग्रौर विवेक की कसौटी स्त्रीजाति के प्रति उसका व्यवहार ग्रौर परिणामस्वरूप स्त्रीजाति की सुदशा है।



श्रद्धा और नारी

श्री पं० चैनसुखदास रावका, शास्त्री

ज्ञान और आचार को यदि श्रद्धा का बल न मिले तो वे फलप्रसवी नही हो सकते । अतः जरूरत है कि इनको श्रद्धा का सहारा हो; नही तो सारा ज्ञान और सारा आचरण न केवल निरर्थक सिद्ध होगा अपितु हलाहल भी बन जायगा । इसलिए श्रद्धा, ज्ञान और आचरण एक दूसरे के पूरक बन कर ही मनुष्य को मुक्ति दिला सकते हैं । श्रद्धा मूल है और ज्ञान एव आचरण उसके दूसरे अंग ।

श्रद्धा का स्वरूप रचनात्मक है, निर्माण उसीसे होता है । ज्ञान और आचरण में श्रद्धा न हो तो निर्माण एकदम असंभव है । इससे श्रद्धा की महत्ता समझी जा सकती है ।

श्रद्धा का स्वरूप समझे बिना हम नारी का वास्तविक रूप नही समझ सकते, इसीलिए यह विवेचन है । नारी श्रद्धामय होती है । श्रद्धा ही उसे सती, साध्वी एव पतिव्रता बनाती है । श्रद्धा के बिना मातृत्व प्राप्त नही हो सकता । नारी अपने सम्पूर्ण धर्मों को श्रद्धा के महान् आधार पर स्थिर रखकर अपने को धन्य समझती है । नारी की श्रद्धा जब विकसित होती है, तब सेवा, दया, करुणा, अनु-कंपा आदि नाना रूपो मे वह प्रस्फुटित होती है । श्रद्धा का बल ही नारी को—उसकी भयकर विपत्तियों मे भी स्थिर रखता है । उसे विचलित नही होने देता । सीता राक्षस राजा रावण की लका में बिलकुल एकाकिनी और असहाय होकर भी श्रद्धा का संबल पाकर जीवित रही थी और रावण की नाना विध विभीषिकाएँ भी उसे भयभीत न कर सकी थी । ससार के प्राचीन साहित्य में नारी का जो चित्रण बलिदानो से सम्बन्धित है वह, उसकी श्रद्धामयता को पाठक के सामने स्पष्ट रूप से लाकर उपस्थित कर देता है । नारी की इस महत्ता के विवेचन मे किसी को यह ख्याल करने की आवश्यकता ही नही है, यह सब पुरुष को तुच्छ सिद्ध करने के लिए है । यह हमें निर्विवाद मान लेना चाहिये कि नारी पुरुष की तुलना में अधिक श्रद्धामय है । यदि ऐसा न होता तो वह कभी घर नही बसा सकती । श्रद्धा उसमें कलामयता पैदा करती है और उसीसे सारे गार्हस्थ्य का निर्माण होता है । वह कम से कम साधनो और उपकरणों से अपने आप को पूरा अनुभव करने की आदत अपने में सुरक्षित रखती है और विधाता जैसी भी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसके लिए उपस्थित करता है उन्हें बड़े संतोष के साथ सहती है । बच्चे को नौ माह तक पेट में रखने और उत्पन्न होने के बाद कई वर्षों तक उसके लालन में जो कष्ट, वेदनाएँ और यातनाएँ नारी को सहनी पडती है, पुरुष वंध्या की तरह उन्हें कभी अनुभव में ही नही ला सकता । नारी ऐसे भीषण कष्टों को—जिनके कारण कभी-कभी वह मृत्यु का आलिंगन करने के लिए भी मजबूर होती है—अपने संतान के लिए बड़ी शांति से सह लेती है । श्रद्धा का सहारा नारी को न हो तो वह उच्छृंखल हो जायगी और ऐसे किसी भी उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में उपेक्षा दिखलावेगी । श्रद्धा नारी का आत्मा है । श्रद्धाहीन होकर न वे स्वयं जीवित रह सकती है और न दूसरों को ही जिन्दा रख सकती है । ऐसी श्रद्धावती नारियाँ ही वास्तव में पूजा के योग्य है और उन्ही के लिए—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः—की सूक्ति चरितार्थ होती है ।

दानचिंतामणि अत्तिमब्बे

श्री विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूड़बिद्री

परिचय—

ई० सन् १० वीं शताब्दी के अंतिम चरण की बात है। यह विश्वविख्यात राष्ट्रकूट साम्राज्य को तहस-नहस कर चालुक्य साम्राज्य को स्थापित करनेवाले आहवमल्लदेव का शासनकाल था। इस समय 'आहवमल्लभुजादड', 'विवेकबृहस्पति' आदि बहुमूल्य उपाधियों से विभूषित महामंत्री धल्लप का बडा लड़का, 'ओरटरमल्ल' नागदेव पूज्य पिता की ही तरह स्वामिसेवाधुरधर हो अनेक युद्धों में विजय पाकर उत्तरदायित्वपूर्ण आहवमल्ल के सेनापति पद को बड़ी योग्यता से निभा रहा था। सेनापति नागदेव को अत्तिमब्बे एवं गुडमब्बे नामक दो सहोदरियाँ सुयोग्य पत्नियाँ थी। इनमें से सिर्फ अत्तिमब्बे को अण्णिगदेव नामक एक लडका था। यहाँ तक तो चरित्रनायकी अत्तिमब्बे के पतिवंश का संक्षिप्त परिचय हुआ। अब विज्ञ पाठक इसके पितृवंश का परिचय भी थोड़ा-सा अवश्य पा लें। क्योंकि पितृवंश भी वैभव में किसी भी दृष्टि में कम नहीं था।

अत्तिमब्बे का पितामह वेंगिमडलातर्गत कम्मेनाडु के पुंगनूर निवासी कौंडिन्य-गोत्रीय 'द्विजाग्रणी' नागमय्य था। नागमय्य के दो लड़के थे। एक का नाम मल्लपय्यय और दूसरे का नाम पुन्नमय्यय। इनमें विद्यानिधान, मातृभक्त मल्लपय्यय कवियों का पोषक और स्वयं ज्योतिषविशारद था, साथ ही साथ बड़ा शूर भी। छोटा भाई पुन्नमय्य अनन्य जिनभक्त तो था ही, साथ ही साथ अपने बडे भाई पर भी इसे बड़ी भक्ति थी। कावेरी तीर की एक लड़ाई में शत्रुओं को काट कर अन्त में इसने वीरस्वर्ग को प्राप्त किया था। सहोदरियों ने (अत्तिमब्बे और गुडमब्बे) भी कविचक्रवर्ती महाकवि पोन्न से 'पुराण-चूड़ामणि' नामक विश्रुत शांतिपुराण को रचवाया है। महाकवि ने अपनी इस अमरकृति में स्वपोषिकाएँ तथा उनके पवित्र वंश के परिचय को विशद रूप से अंकित किया है। बल्कि महाकवि रन्न ने अपने अजित-नाथ-पुराण में इस वंशपरिचय को और बढ़ाकर लिखा है। मुख्यतः अत्तिमब्बे के उभय कुलवाले जैन ब्राह्मण, वंशपारपर्य से चालुक्य राजाओं की सेवा के लिये दीक्षाबद्ध ; शस्त्र धारण कर सेना को समुचित मार्ग बतलाते हुए समय आने पर स्वामी के लिये अपने प्राणों तक दे डालने वाले, शास्त्र में पारगत हो, अन्यान्य विद्वानों एवं कवियों के पोषक; परम जिनभक्त और धर्मप्रेमी थे। चरित्रनायकी अत्तिमब्बे और इसकी बहन गुडमब्बे ये दोनों मल्लपय्य तथा अप्पकब्बे की सुपुत्रियाँ थी।

अब पाठक प्रस्तुत विषय पर आ जायें। यद्यपि सेनापति नागदेव का गृहस्थाश्रम सुखमय कट रहा था; परन्तु निर्दयी विधि को यह सहन नहीं हुआ। फलतः बीच में ही नागदेव स्वर्गवासी हुआ ! इतने

में छोटी बहन गुंडमब्बे श्रद्धेय पतिदेव की देह के साथ सती हो गई। पर, बड़ी बहन अत्तिमब्बे जैन-सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध इस कदाचरण से असम्मत हो अपने एकमात्र कुलदीपक, प्रियपुत्र अण्णिगदेव की रक्षा करती हुई गृहस्थाश्रम में ही रह कर, जैन धर्मप्रतिपादित श्रावकीय कुल व्रतों को यथाशक्ति निरतिचार एवं निरंतराय आजीवन पालती रही। यद्यपि चरित्रनायकी हमारी अत्तिमब्बे आमरण जैनश्राविका ही रही; फिर भी कठिन से कठिन व्रतो के द्वारा इसने अपने काय को इतना कृश कर लिया था कि कविचक्रवर्ती महाकवि रन्न के शब्दो में इसमे अतनुविरोध (कामपराङमुखता) तथा तनुविरोध (देहदंडन) ये दोनो गुण एक काल में नजर आते थे।

अजितनाथ पुराण का विवरण—

महाकवि रन्न ने अपनी अमरकृति अजितनाथ-पुराण की रचना ई० सन् ९९३ में दानचिंतामणि के आश्रय में ही की थी। अजितनाथपुराण के प्रारंभिक एवं अंतिम आश्वासों में महाकवि ने अत्तिमब्बे के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि इस वर्णन में परंपरागत कविपद्धति की तरह अतिशयोक्तियाँ अवश्य है; फिर भी अत्तिमब्बे के उदार दानगुण, अचल धर्मप्रेम, निरतिचार शीलव्रत और अकलंक सदाचार आदि विशिष्ट गुण रन्न के द्वारा जो कहे गये हैं वे वस्तुत. दानचिन्तामणि में मौजूद थे। महाकवि को अत्तिमब्बे पर बड़ी श्रद्धा थी। यही कारण है कि इसने अपनी पुत्री का नाम अत्तिमब्बे रखा था। इस नामकरण में भक्ति के साथ-साथ कृतज्ञता भी छिपी हुई है। तपस्विनीतुल्या अपनी आश्रयदात्री की स्तुतिमानिका में कविचक्रवर्ती के द्वारा भक्तिपूर्वक प्रयुक्त 'जिनपद भक्ते', 'जगत्त्रयजनवंदिते', 'भूतिलकपवित्रे', "चक्रवर्तिपूजिते', 'जिनशासनरुचि' (श्रद्धे), 'जिनधर्मपताके', 'जनकल्पलते', 'महासति', 'उत्तमगोत्रोद्भवे', 'सद्वृत्ते', 'विनेयचूडामणि', 'शीलालकृते', और 'गुणमालालकृते' आदि गौरवपूर्ण शब्द अवश्य विचारणीय हैं। अजितनाथपुराण में महाकवि ने लिखा है कि सेनापति[1] अण्णिगदेव की पूज्य मातेश्वरी ने अपने शरीर को उपवास के द्वारा और धन को दान के द्वारा कृश किया है। बल्कि अत्तिमब्बे को जिनजननीतुल्या बताकर यह सती जिस प्रदेश में विद्यमान हो वहाँ पर अग्नि विष आदि से भय नही है और यथेष्ट वर्षा तथा फसल के द्वारा उस प्रदेश का पूर्ण कल्याण होता है यों कवि ने दानचिंतामणि पर की अपनी अव्याज श्रद्धा को स्पष्ट व्यक्त किया है।[2]

कविचक्रवर्ती रन्न ने अत्तिमब्बे की निर्मल कीर्ति के लिये श्वेतपुष्प, गगाजल, मुनिराज अजितसेन की गुणावली और कोपण तीर्थ की उपमा दी है[3]। आचार्य अजितसेन महाकवि के पूज्यगुरु और कोपण तीर्थ वर्तमान हैदराबाद में विद्यमान जैनों का एक सुप्राचीन पवित्र तीर्थ है जिसको आजकल कोप्पल कहते हैं। एक जमाने में यह स्थान श्रवणबेलगोल की ही तरह जैनों का बड़ा ही पुनीत तीर्थ रहा। इस समय यह एक सामान्य गाँव है जिसकी कोई कदर नही है।

---

१ पूज्य पिता की तरह यह भी चक्रवर्ती का सफल सेना नायक था।

२ 'अजितनाथ पुराण' आश्वास १

३ 'अजितनाथ पुराण' आश्वास १२

चिंतामणि का प्रताप—

महाकवि रन्न अजितनाथ-पुराण में कहता है कि दानधर्म में बूतुग, नोलंबांतक, चावुंडर और शंकरगंड आदि एक से एक बड़े अनेक महाव्यक्ति मौजूद थे ; किन्तु खेद है कि इस समय वे संसार में नही रहे । आजकल उन सबों का महान् भार वहन करनेवाली एकाकी अत्तिमब्बे है, इसलिए यह सबसे बड़ी है [1] । इस प्रकार चरित्रनायकी की मुक्तकंठ से प्रशंसा करता हुआ अंत में इस बुरे काल में भी अपने काव्य की प्रशंसा करने वाली अत्तिमब्बे पर महाकवि ने अपनी सहज कृतज्ञता स्पष्ट प्रकट की है ।

दानचिंतामणि के गुणों की महत्ता कविचक्रवर्ती रन्न के द्वारा अजितनाथ-पुराण के रचवाने से ही व्यक्त नही होती । इसने 'मणिकनकखचित' दो एक नही, १५०० जिन-प्रतिमाएँ विधिवत् बनवा कर सहर्ष दान दी थी । बल्कि प्रत्येक प्रतिमा के लिये एक-एक चित्ताकर्षक, बहुमूल्य मणिघंटा, दीपमाला, रत्नतोरण तथा वितान (चदवा) भी । महाकवि रन्न ने अत्तिमब्बे के इस धर्मानुराग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । वस्तुतः दानचिंतामणि का यह दान सामान्य दान नही है; किन्तु महा-दान है । इसकी महत्ता का उज्ज्वल साक्षी-स्वरूप एक उदाहरण और दिया जाता है । श्रवणबेलगोल में वीरमार्तंड चावुडराय के द्वारा श्री गोम्मटेश्वर की प्रतिमा को स्थापित हु अधिक काल नही हुआ था । शीघ्र ही उसकी महिमा तथा ख्याति देशभर में अवश्य फैली होगी । ऐसी दशा में अत्तिमब्बे सदृश अनन्य जिनभक्ता को उक्त अलौकिक प्रतिमा के दर्शन की महती आकांक्षा का उदय होना सर्वथा स्वाभाविक था । फलतः इसने यह कठिन नियम ले लिया कि मूर्ति के दर्शन के उपरांत ही मै अन्न लूँगी । मूर्ति के दर्शनार्थ अत्तिमब्बे को उत्तरीय चालुक्य राजधानी से दक्षिण के श्रवणबेलगोल में आना पडा । वहाँ पर्वत पर चढ़कर श्री गोम्मटेश्वर की दिव्यमूर्ति के सामने जब दानचिंतामणि खड़ी हुई तब अकाल में ही मानों जिनभक्ता के मार्गायास-निवारणार्थ यथेष्ट वृष्टि हुई । इस पर महाकवि रन्न कहता है कि यह कोई आश्चर्य की बात नही है । क्योंकि भक्तों के पुण्यकार्यों से प्रसन्न हो देव क्या पुष्पवृष्टि नहीं किया करते हैं । बहुत कुछ सभव है कि अत्तिमब्बे के परिवार में महाकवि भी सम्मिलित रहकर इस घटना को स्वय देखकर ही उसने अपनी कृति में इसका उल्लेख किया हो ।

साहित्य-अभियान—

दानचिंतामणि अत्तिमब्बे ने नूतन काव्यों की रचना की ओर ही लक्ष्य नही दिया था, बल्कि पिछले काव्यो की रक्षा की ओर भी । मुद्रणालयो के अभाव के कारण उस जमाने में प्रत्येक ग्रन्थ की प्रत्येक प्रति को हाथ से लिखना–लिखवाना पड़ता था ! ऐसी दशा में यह लिखने की आवश्यकता नही है कि जिस ग्रन्थ की प्रतियाँ अधिक तैयार होती थी उक्त ग्रन्थ का प्रचार उतना ही अधिक हुआ करता था । प्रति करने अथवा कराने वालों के अभाव में उस समय महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ही क्यों न हो सदा के लिये संसार से उठ जाता था और उसके अमर रचयिता की धवलकीर्ति हमेशा के लिये लुप्त हो जाती थी । इसके लिये एक-दो नहीं, सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं । कविचक्रवर्ती महाकवि

---

१ 'अजितनाथ पुराण' आश्वास १२; पद्य ८.

पोन्न-कृत शांतिपुराण की भी यही दुर्दशा होनेवाली थी । अत्तिमब्बे के काल में इसकी प्रतियाँ बहुत कम रह गयी थीं । उस पर अत्तिमब्बे ने सोचा कि अपने पूज्य पिता का धर्म उनके स्वर्गारोहण के थोड़े ही काल के बाद अपने ही समक्ष लुप्त होना ठीक नहीं है, इस शुभ विचार से इसने शांतिपुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार कराकर कर्णाटक में सर्वत्र इसका प्रचार किया । यह बात शांतिपुराण की अन्यतम प्रति के अंतिम पद्यों से विदित होती है [१] ।

हमारे देश में आजकल हमें पूर्व के ख्यातिप्राप्त अनेक महापुरुषों के सिर्फ शुभनाम मात्र मिलते हैं, उनकी महत्त्वपूर्ण आदर्श जीवन-घटनाएँ नहीं मिलतीं । ऐसी दशा में महाकवि रन्न की कृपा से दानचिंतामणि अत्तिमब्बे की पवित्र संक्षिप्त जीवनी महाकवि के अमर काव्य में उपलब्ध होना वस्तुतः हम लोगों का भाग्य है । साथ ही साथ सर्वतोमुखी महादान से प्राप्त अत्तिमब्बे की दानचिंतामणि यह उपाधि भी सर्वथा अन्वर्थक है ।

शिला-लेखों में चिन्तामणि—

इस प्रकार केवल साहित्य में ही नहीं, शिलालेखों में भी दानचिंतामणि की महिमा विशेष रूप से अंकित है । धारवाड जिलातर्गत गदग तालुक के लक्कुंडि नामक ग्राम में वर्तमान जैन मंदिर के कतिपय प्राचीन शिलालेख इधर बम्बई-कर्णाटक शासन-संग्रह के भाग में प्रकाशित हुए हैं [२] । इन शिलालेखों में ५२ तथा ५३ नंबरवाले शिलालेखों का सम्बन्ध हमारी अत्तिमब्बे के साथ है । यहाँ पर उक्त शिलालेखों के बारे में कुछ भी ऊहापोह किये बिना इन लेखों में दानचिंतामणि की जो महिमा अंकित है उसे यहाँ पर उल्लेख कर देना ही एकमात्र मेरा अभीष्ट है । यद्यपि ऊपर दो लेखों का संकेत किया गया है, फिर भी इन दोनों को एक ही समझना अनुचित होगा । क्योंकि ५२ नम्बरवाला लेख ५३ नं० वाले लेख का ही परिष्कृत एवं परिवर्धित रूप है । बहुत कुछ संभव है कि ५३ नम्बर वाला लेख कारण-वश जब नष्ट होने लगा तब दात्री की कीर्ति रक्षा के हेतु ५२ नंबर वाला लेख फिर लिखवाया गया । यों तो यह लेख दानचिंतामणि अत्तिमब्बे के द्वारा पूर्वोक्त लक्कुंडि के जिनालय के लिये पूजादिनिमित्त प्रदत्त भूदान आदि का सूचक है; तथापि इसका बहुभाग अत्तिमब्बे के विशिष्ट प्रभाव के वर्णन में ही भरा पड़ा है ।

अस्तु, लेख में कवि ने अत्तिमब्बे को पुराण-प्रसिद्ध मरुदेवी, विजयसेना आदि की तुल्या बता कर १५०० पवित्र जिन प्रतिमाओं की निर्मापिका के रूप में सादर स्मरण किया है । साथ ही साथ श्रवणबेलगोल की अकालवृष्टि का उल्लेख अजितनाथ-पुराण की तरह यहाँ पर भी इसने किया है । शासन में प्रशंसित दानचिंतामणि की महिमाओं में कुछ निम्न प्रकार है :—

"राजा के कहने पर पवित्र जिनप्रतिमा को मस्तक पर धारण करके दानचिंतामणि जब निर्भर गोदावरी में उतरी तब इसकी महिमा से नदी का प्रवाह एकदम रुक गया ।"

१ मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित 'शांतिपुराण' की प्रस्तावना देखें ।

२ S. I. I. XI-1: Bombay Karnatak Inscriptions. Volume I-Part I.

"मदोन्मत्त हाथी बंधन तोड़कर जब स्वेच्छापूर्वक क्रोध से इधर-उधर दौड़ने लगा तब दान-चिंतामणि को निर्भीक पाकर हाथी ने इसके चरणों में भक्ति से सिर झुकाया।"

"पूज्य जिन-प्रतिमा हाथ से छूट कर जब नदी में गिर पड़ी, तब दानचिंतामणि ने यह कठिन व्रत ले लिया कि जब तक प्रतिमा न मिलेगी तब तक मैं आहार ही न लूँगी। तब इसकी महिमा से आठ ही रोज में उक्त जिन-प्रतिमा इसे मिल गई।"

"प्रलयाग्नि की तरह आग ने जब सेना को चारों ओर से घेर लिया तब दानचिंतामणि ने पवित्र जिन-गंधोदक के द्वारा उस भयंकर आग को शान्त कर दिया।"

"दोनों सवतियाँ एक साथ चढ़ने पर दानचिंतामणि को दूसरी ने धोखे से नदी पर जब ढकेल दिया तब उस अगाध जल में यह निर्भय इधर-उधर चलने लगी। इस महिमा को देख कर सवति ने भय से अत्तिमब्बे के चरणों पर सिर झुकाया।" आदि।

शासन में कवि ने 'गुणदंककार्त्ति', 'कटकपावित्रे', 'दानचिंतामणि' आदि अत्तिमब्बे की उपाधियों को विस्तार से वर्णन किया है। वस्तुत. दानचिंतामणि अत्तिमब्बे एक आदर्श जैन महिला है जिसका अनुकरण करना भारत की प्रत्येक महिला को–किसी भी धर्म की हो—विशेष लाभप्रद है।

प्राचीन जैन-कवियों की दृष्टि में नारी

श्री प्रो० श्रीचन्द्र जैन, एम० ए०

नारी-वन्दन—

नारी ! तू स्वयं एक रहस्य है और तेरी जीवन-गाथा भी रहस्यात्मक है । तू गरिमामयी बनी ! और तू ही इस जगत की संरक्षिका के रूप में समादृत हुई । समय के कुछ परिवर्तनों के साथ ही तेरा स्वरूप परिवर्तित हुआ ! तू वन्दिनी होकर विलास की पुतली मानी गई । तेरा पावन स्वरूप विस्मृत हुआ और तू रसिको के लिए नाना भाव विभाव हाव कुशला के रूप में चित्रित की गई ! विलासी मानव ने तुझे आमोद-परिपूरित मानकर लीला लोल कटाक्षपात निपुणा तथा भ्रू-भंगिमा पण्डिता के विशेषणो से समलकृत किया । तेरे अखिल स्वरूप को यह मनुष्य जानने में असमर्थ ही रहा ।

श्रद्धा, ममता तथा सौन्दर्य की साकार प्रतिमा नारी ने जितना कठिन संघर्ष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये इस जगती तल पर लड़ा उतना किसी ने भी नही । सहनशीलता की प्रतिमूर्ति इस बंदिनी ने अत्याचार सहा, अनाचार स्वीकार किया, तथा नरक यातनाओ को भी सहर्ष अंगीकार किया, लेकिन अपने व्यक्तित्व को न मिटने दिया ! जननी, सखी तथा प्यारी की त्रिवेणी नारी ने नत-मस्तक होकर सर्पिणी, बाघिनी, पैनी छुरी, विष की बेलि आदि अपशब्दों को सुना—युगों तक सुना लेकिन प्रतिकार की भावना इसमें प्रस्फुटित न हुई । धरणी के समान गभीर ही बनी रही ! इसने इस अवज्ञा में सदैव भविष्य के सुनहले स्वप्नो के दर्शन किये जो आज साकार बन कर उसके कथित मानस को सान्त्वना दे रहे है ।

कवि की नारी—

आज के कवि ने तेरे स्वरूप को पहिचाना ! तेरी महत्ता को आदर से स्वीकार किया और तुझे मुक्त करने के लिये सबल वाणी में वह कहने लगा :—

"मुक्त करो नारी को मानव,
चिरबंदिनी नारी को,
युग युग की बर्बर कारा से
जननि सखी प्यारी को,
(पंत—युगवाणी)

महाकवि 'प्रसाद' ने इस परमतेजस्विनी नारी को देखिये किन पूत भावनाओं से अर्चित किया है :—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूषस्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में। (कामायनी पृ० ११४)

जैन कवियों की दृष्टि में नारी—

इस प्रकार राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ नारी का भी स्वरूप परिवर्तित हुआ लेकिन, प्राचीन जैन कवियों की दृष्टि में नारी सदैव एक-सी ही रही! और उन्होंने उसके विलासमयी रूप को ही देखा। उस एकांगी भावना का परिणाम यह हुआ कि हमारे ये जैन कवि उसे (नारी) सदैव अवगुणों की खान, मायामयी, आध्यात्मिक मार्ग की बाधा तथा माया का प्रतीक मानते रहे। हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल में भी नारी के प्रति ये ही भावनाएँ कवियों के हृदय में निरन्तर स्थित रहीं—निम्नस्थ उद्धरण इस कथन की पुष्टि में पर्याप्त हैं :—

"नारी की झांई परत, अंधा होत भुजंग।
कबीर कहो तिनका क्या हाल है, जो नित नारी संग।" (कबीरदास)

'नारी नागिन एक सुभाऊ' (कबीर)

"अधम तें अधम अधम अतिनारी।" (रामचरित मानस)

"नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं,
अवगुन आठ सदा उर रहहीं।" (रामचरित मानस)

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।(रामचरित मानस–अरण्यकाण्ड)

'अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि' (,, ,, ,,)

'सुन्दर' कहत नारी नरक को कुंड यह,
नरक में जाय परैं सो नरक पाती है।—(सुन्दर दासजी)

संकीर्ण दृष्टि और विमुखता—

जैन साहित्य वैराग्यमूलक तथा वीतराग-भावना से परिपूर्ण है अतः जैन कवियों ने नारी को हेय ही माना है और उसके संपर्क को घातक बताया है। जैन कवियों की नारी-विषयक यह भावना इस बात की द्योतक है कि वे नारी के केवल एक रूप "कामिनी" को ही देख सके। निश्चयतः उनकी यह धारणा सर्वांगीण नहीं कही जा सकती है।

आइए, कुछ प्राचीन जैन कवियों की नारी विषयक भावनाओं का अध्ययन कीजिये ।

महाकवि भूधरदास जी नारी के शरीर को भयंकर बन बताते हुए मन-पथिक को समझाते हैं :—

"मन मूरख पथी, उस मारग मति जाय रे । टेक
कामिनि तन कातार जहाँ है, कुच परवत दुखदाय रे । मन मूरख० ।।१।।
काम किरात बसैं तिह थानक, सरबस लेत छिनाय रे ।
खाय खता कीचक से बैठे, अरु रावन राय रे । मन मूरख० ।।२।।
और अनेक लुटे इस पैंडे, वरनैं कौन बढ़ाय रे ।
बरजत हों बरज्यौ रह भाई, जानि दगा मति खाय रे । मन मूरख० ।।३।।
सुगुरुदयाल दया करि 'भूधर' सीख कहत समझाय रे ।
आगैं जो भावैं र्करि सोई, दीनी बात जताय रे ।। मन मूरख० ।।४।।

नारी को अवगुणों की खान बताते हुए, श्री भूधर दास जी भगवद्भजन के लिये प्राणी मात्र को प्रोत्साहित करते हैं .—

और सब थोथी बातें, भज लै श्री भगवान—टेक.
जिस उर अन्तर बसत निरन्तर,
नारी औगुन खान ।
तहाँ कहाँ साहिब का बासा दो खांडे इक म्यान ।........

(देखिए जैनपद संग्रह, तृतीय भाग, पृष्ठ २९)

एक पद में 'जगत जन जूवा हारि चले' की भावना को प्रकट करते हुए सुकवि भूधर नारी—कामिनी को कौड़ी बताते हैं । —देखिए

जगत जन जूवा हारि चले ।। टेक.
काम कुटिल सँग बाजी माँड़ी, उनकरि कपट छले ।। जगत जग०।।१।।
चार कषायमयी जहँ चौपरि, पांसे जोग रले ।
इस सरवस उत कामिनी कौड़ी, इह विधि झटक चले । जगत०।।२।।

—जैनपद संग्रह—तृतीय भाग. पृ० ४०

कविवर बुधजन जी नारी को अविश्वसनीय मानते हुए कहते हैं कि :—

'नारिन का विसवास नहि, औगुन प्रगट निहार ।
रानी राची कूबरैं, लियौ जसोधर मार ।

(देखिए—बुधजन-सतसई—पृ० ६४).

हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ कवि केशवदास को कौन नहीं जानता ? आपका 'रसिक प्रिया' नामक ग्रन्थ हिन्दी विद्वानों की दृष्टि में उच्चकोटि का है। जैन कवि भगवानदास जी ने इस काव्य-ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए लिखा है :—

बड़ी नीति लघुनीति करत है वाय सरत बदबोय भरी ।
फोड़ा आदि फुनगुनी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी ।
शोणित हाड़ मासमय मूरत, तापर रीझत घरी-घरी ।
ऐसी नारि निरख कर केशव रसिकप्रिया तुम कहा करी ।

(देखिए—हि० जैन. सा. का संक्षिप्त इतिहास पृ० १४५–१४६)

इस पद्य में नारी की रूप-रेखा भी स्पष्ट है।
कवि द्यानत जी दश लक्षणधर्म पूजा में नारी की 'विष वेलि से' तुलना करते हुए लिखते हैं :—

"कूरे तिया के अशुचि तन में, काम रोगी रति करैं ।
बहु मृतक सड़हिं मसान माही, काक ज्यों चौंचें भरैं ।
ससार में विषवेल नारी तजि गए जोगीश्वरा ।
'द्यानत' धरम दश पैडि चढ़िके शिव महल में पग धरा ।"

यह कहना अनुचित न होगा कि स्त्री का यह चित्रण अधूरा है। नारी का दुर्भाग्य है कि जैन-कवि उसके सपूर्ण रूप को न देख सके। मनुष्य ने उसे अपनी सहचरी तो बनाया लेकिन वह उसे कुछ भी सुविधाएँ न दे सका। उसने सदैव अपनी उस अर्द्धांगिनी को अविश्वास और शंका की दृष्टि से ही देखा ! पञ्चवटी में हमारे राष्ट्रकवि गुप्तजी ने नारी की दयनीय अवस्था पर जो भाव प्रकट किए हैं वे प्रत्येक विवेकशील मनुष्य के लिए विचारणीय हैं :—

"नरकृत शास्त्रों के सब बंधन,
हैं नारी ही को लेकर ।
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर ।।

× × ×

अविश्वास हा अविश्वास ही,
नारी के प्रति नर का ।
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं,
स्वामी है वह घर का ।

महाकवि 'प्रसाद' का नारी विषयक दृष्टिकोण महापवित्र है और प्राचीन विचारधारा वाले विचारकों को चुनौती है :—

"तुम अजस्र वर्षा सुहाग की,
और स्नेह की मधु रजनी ।
चिर अतृप्त जीवन यदि था,
तो तुम संतोष बनी थी ।
× × ×
जिसे तुम समझे थे अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल ।
ईश का यह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल ।। (कामायनी)

चिर-गति-शील-नारी—

इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी हैं कि नारी ने सामाजिक, धार्मिक, तथा राजनीतिक परिवर्तनों में अदम्य साहस तथा आदर्श त्याग के पुनीत कार्य किये हैं । स्वयं बंधनों में रह कर इस तेजोमयी नारी ने अनेक राष्ट्रों को स्वतन्त्र किया है । काव्य-क्षेत्र में इसकी प्रतिभा सर्वथा प्रशसित रही । "अनुलक्ष्मी, असुलधी, अवती सुन्दरी, माधवी आदि प्राकृत भाषा की मुख्य कवयित्रियाँ हैं । इनके द्वारा रचित सोलह श्लोकों की काव्यधारा एवं वैदिक सस्कृत काल की स्त्रियों की भाँति ही जीवनदायिनी, प्रेमसगीत, आनन्द व्यथा, आशा-निराशा और उमग से ओतप्रोत है ।" (देखिए—भारतीय नारी की बौद्धिक देन—लेखिका श्री सत्यवती मल्लिक, प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ पृष्ठ—६७०)

"सान्तर राजकुमारी, पम्पादेवी, लक्ष्मीमती (जैन सेनापति गगराज की पत्नी), महिबलदेवी (राजा कीर्तिपाल की पत्नी) आदि अनेक ऐसी जैन देवियाँ हैं—जिनकी धर्म-साधना तथा धर्मप्रभावना अनुकरणीय है ।" (देखिए धर्मसेविका प्राचीन जैन देवियाँ—ले० पूज्य ब्र० चन्दाबाई जैन—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ६८४)

भविष्य-कामना—

आधुनिक समय चेतना का युग है । आशा है अब प्रगतिशील जैन कवियों की नारी-भावना में आदर्शवादिता, उदारता तथा पावनता के दर्शन होंगे ।

हिन्दी कविता में नारी का योग

श्री शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०, साहित्य रत्न

प्रस्ताविक—

हिन्दी साहित्य की समृद्धि और विकास में नारियों का हाथ कम नही । प्राचीन काल से अब तक सदैव नारी-जाति का सहयोग साहित्य को मिलता रहा है । भक्तिकाल की कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत मीराबाई का नाम कौन नही जानता ? "ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थी । इनका जन्म संवत् १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था ।..........विवाह के उपरान्त थोडे ही दिनो में इनके पति का परलोकवास हो गया[१] ।'

मीरा—

मीराबाई आरम्भ से ही कृष्णभक्त थी और यह भक्ति दिनानुदिन बढ़ती गयी । भक्तमडली के बीच मन्दिरों में भगवान् कृष्ण का कीर्त्तन करना इन्हें विशेष प्रिय था । लेकिन यह सब इनके परिवार वालो को नही भाता था और फलत: वे इनसे रुष्ट रहा करते थे । फिर भी श्रीकृष्ण में इनकी आसक्ति इतनी पक्की थी कि मन्दिरों में जाकर नाचना-गाना और भगवान का कीर्त्तन करना इन्होंने नहीं छोड़ा । सत्य के मार्ग से सत्य-निष्ठ हृदय कब डिग सकता है ? परिवारवालों ने इन्हें विष का प्याला भी पिलाने का प्रयत्न किया । कहा जाता है भगवान का प्रसाद समझकर इन्होने विष भी पी लिया लेकिन उसका इनपर कोई प्रभाव नही हुआ !! परिवारवालो के कुव्यवहार से क्षुब्ध हो ये घर से निकल पड़ीं और द्वारका, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानो में घूमघूमकर कीर्त्तन करने लगीं । जहां जातीं वही जनता की पूजा-भावना इन्हें अनायास मिल जाती । इनके दिव्य व्यक्तित्व का असर ही कुछ ऐसा होता !

मीराबाई भगवान् कृष्ण की आराधिका थी और नकी भक्ति माधुर्य-भाव की थी ! भगवान् उनके पति और वे भगवान् की प्रेयसी थी ! इनकी दृष्टि में केवल भगवान ही पुरुष थे और शेष सभी नर-नारी स्त्री ! अत: पुरुषों के सामने लज्जा या सकोच का सवाल ही नहीं उठता था ।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ २२१ (१९९७ संस्करण)

मीरा—

मीरा के काव्य में रहस्यवाद के कुछ छीटें अवश्य हैं, लेकिन विशुद्ध भावात्मक रहस्यवादी कवयित्री इन्हें नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि भावात्मक रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म की उपासना होती है। लेकिन मीरा के प्रियतम सगुण थे—सगुण कृष्ण की भक्ति ही मीरा के काव्य का उपादान है। हाँ, जहाँ हठयोग की कुछ बातें आ गई हैं, जो सत्संग के फलस्वरूप सुनी सुनाई बातों के आधार पर ही हैं, वहां अवश्य साधनात्मक रहस्यवाद की छाया है।

भगवत् प्रेम—

मीरा के भगवत्प्रेम के प्रकार का निश्चय इस उदाहरण द्वारा होता है—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥

उपर्युक्त पदों द्वारा इस बात का प्रमाण मिलता है कि (१) मीरा की उपासना माधुर्य-भाव की थी, भगवान् से उनका सम्बन्ध पति-पत्नी भाव से था, और (२) उनके प्रियतम सगुण (कृष्ण) थे, निर्गुण ब्रह्म नही।

मीरा ने छोटे-छोटे गीतो के रूपों में —प्रगीत मुक्तक के रुप में आत्माभिव्यक्ति की है। ये गीत आत्मनिष्ठ भावना तथा तीव्रतम भावानुभूति से समन्वित होने के कारण आदर्श गीतिकाव्य के कोष में सन्निविष्ट किए जा सकते हैं।

भाषा—

मीरा की भाषा में राजस्थानी और ब्रजभाषा का मिश्रण है। भाषा के परिमार्जन का उतना यास नही है जितनी प्रेम की तल्लीनता की अभिव्यक्ति है। 'इनके बनाए चार ग्रंथ कहे जाते हैं—'नरसीजी का मायरा, गीतगोविन्द टीका, राग गोविन्द, राग सोरठ के पद'।

सहजोबाई का स्थान—

भक्तिकाल में मीरा के अतिरिक्त दूसरी कवयित्री सहजोबाई हुई। ये सन्त काव्य के अन्तर्गत आती हैं। इनकी रचनाएँ सधुक्कड़ी बोली में हुई। कबीर, दादू, मलूक, शिवदयाल आदि की परम्परा के सिद्धान्त और भाषा इनकी रचनाओं के उपादान हैं। निर्गुण ब्रह्म की उपासना इनकी प्रधान विशेषता है।

रीति काल की संकीर्णता—

रीतिकाल में नारी के अंग-प्रत्यंग का सौंदर्य चित्रण, अलंकार-विधान आदि काव्य के प्रधान विषय थे। यह हिन्दी साहित्य का अंधकार-युग-सा था। अतएव इस युग की धारा में योग देना नारी

की महिमा और मर्यादा के अनुकूल नहीं होता । अतः भक्तिकाल के बाद आधुनिक काल में ही हम काव्य क्षेत्र में नारियों के दर्शन करते हैं ।

आधुनिक काल की नारी-कवयित्रियों में सर्वश्री महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामेश्वरी देवी 'चकोरी', चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । इनमें भी प्रथम ो विशेष लोकप्रिय हैं ।

महादेवी वर्मा—

श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

१. नीहार २. रश्मि ३. नीरजा ४. सांध्यगीत ५. यामा ६. आधुनिक कवि ७. दीपशिखा

वर्माजी रहस्यवाद की एकमात्र आधुनिक कवयित्री हैं ;। मीरा के ही समान इन्होंने भी परमात्मा की उपासना माधुर्य भाव से की है । इन्होंने भी परमात्मा को प्रियतम और अपनी आत्मा को प्रेमिका मानकर कविता की है । लेकिन अन्तर यह है कि मीरा के प्रियतम सगुण हैं, महादेवी के निर्गुण । असीम अनन्त ब्रह्म के प्रति प्रणय-निवेदन के कारण महादेवी का काव्यमाधुर्य भाव भरित भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत है ।

महादेवी की कविता—

मीरा के समान ही महादेवी ने भी प्रगीत मुक्तकों में रचना की है । महादेवी की कविताओं में भी आत्मनिष्ठ भावना का प्राधान्य है, एक गीत में एक भाव की अभिव्यक्ति है, और भावना का चरमोत्कर्ष है । अतः गीतिकाव्य की दृष्टि से इनका काव्य भी श्रेष्ठ है । मीरा से अन्तर यह है कि मीरा के काव्य में उल्लास है, महादेवी के काव्य में प्रधानतः करुणा । दूसरा और सबसे बड़ा अन्तर है अभिव्यंजना-प्रणाली को लेकर । महादेवी की भाषा परिष्कृत परिमार्जित है । उसमें अलंकार विधान, छन्द योजना तथा रसव्यंजना की बारीकियों का ध्यान रखा गया है । शब्द-चयन में सचेत सावधानी दृष्टिगत है । एक एक शब्द सप्राण, सप्रयोजन है । कोमल-कान्त पदों के अन्दर हृदय की करुण भावुकता की अभिव्यक्ति महादेवी के काव्य में बड़ी सुन्दर हुई है । एक उदाहरण देखिए—

क्या पूजा, क्या अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर
मेरा लघुतम जीवन रे !
.. ..
प्रिय प्रिय जपते अधर,
देता पलकों का नर्तन रे ! (दीपशिखा)

महादेवी की प्रकृति—

महादेवी के काव्य में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति का अनेक रूपों में उपयोग कवयित्री ने किया है। लेकिन सर्वत्र प्रकृति चेतनावान् प्राणवान, सजीव हैं। मानों वह किसी विराट् सर्वव्यापी चेतन सत्ता का अंगभूत, अथवा उसकी साकार अभिव्यक्ति है। कहीं प्रकृति एक विराट् अप्सरी के रूप में चित्रित है—

लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर !
आलोकतिमिर सिर असित चीर,
सागर गर्जन रुनझुन मंजीर,
उड़ता झंझा में अलक जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि-स्वर !
रविशशि तेरे अवतंस लोल,
सीमत जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद निकर !
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर !
(नीरजा)

कहीं प्रकृति में अपने वैयक्तिक जीवन का निक्षेप है—

प्रिय सांध्यगगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुंधला विराग,
प्रिय, अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन !
(साध्यगीत)

कहीं प्रकृति दूती के रूप में कहीं नायिका की रंगशाला बनकर आई है—

जाने किस जीवन गी सुधि ले,
लहराती आती मधु-बयार !
तारक लोचन से सींच सींच
नभ करता रज को विरज आज।
बरसता पथ में हर सिंगार
केशर से चर्चित सुमन लाज !
कण्टकित रसालों पर उठता है

पागल पिक मुझको पुकार !
लहराती आती मधु-बयार !
('साध्यगीत')

इस प्रकार प्रकृति का अनेक रूपों में चित्रण महादेवी ने किया है

सुभद्रा कुमारी चौहान—

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान भी नवयुग की कवयित्रियों में अग्रगण्य है। महादेवी के समान इनके काव्य का सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा से नहीं है, वरन् राष्ट्रीय संग्राम तथा पाविारिक प्रेम से है। परिवार और समाज इनकी कविताओं के विषय है। 'मुकुल' इनकी रचनाओं का संग्रह है। 'बालिका का परिचय' पारिवारिक प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाली कविता है। 'झांसी की रानी' 'जलिया-वाला बाग में वसन्त' आदि कविताओं की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन है। सुभद्रा ने केवल काव्य में ही राष्ट्र-प्रेम को वाणी नही की, वरन् व्यक्तिगत जीवन में भी उसकी अवतारणा की। इसी हेतु उनके काव्य में भावात्मक सच्चाई (Emotional Sincere) के तत्त्व वर्त्तमान है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी !
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी'।
चमक उठी सन सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुह,
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो
झांसी वाली रानी थी।

उपसंहार—

यहाँ स्थानाभाव से कुछ प्रमुख कवयित्रियों का ही आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। लेकिन इनके अतिरिक्त भी बहुत सी स्त्री लेखिकाओं और कवयित्रियों ने हिन्दी काव्य-भाण्डार को सुशोभित किया है जिनका महत्त्व कम नहीं।

कला-जगत को भारतीय नारी की देन

श्रीमती विद्याविभा एम० ए०

प्रस्तावना—

कला किसी भी देश की संस्कृति की प्रतीक है और नारी उसकी संरक्षिका। भारतीय नारी ने अपने वैभव से कला-जगत् को बहुत सम्पन्न बनाया है। न जाने उसने अपने किन-किन रूपों में कवि, लेखक और चित्रकार को प्रेरणा दी है। खेतों में अनाज काटती हुई कृषक-बालाएँ बड़ी भली प्रतीत होती हैं। उस समय वे जो गीत गाती हैं वे खेत और खलिहानों के गीत होते हैं। उपयोगिता और मनोरंजन का कैसा सुन्दर सामञ्जस्य है! रात्रि को घर के कामों से फुरसत पाकर वे एक जगह एकत्रित होकर नृत्य करती हैं। यह उनका सामूहिक नृत्य होता है। गुजरात के गर्बानृत्य का इसी प्रकार आविर्भाव हुआ। इसमें स्त्रियाँ रंग-बिरंगे लहँगे और ओढ़ने पहन घेरा बाँध ताली बजा कर गाती और नाचती हैं। अब तो यह नृत्य दीपक और डंडियों तथा गोप से भी होने लगा है। इसी प्रकार राजस्थान में भीलों का नृत्य प्रसिद्ध है। इसमें स्त्री और पुरुषों की मिली-जुली संख्या होती है। पुरुषों के हाथ में तीर कमान और स्त्रियों के हाथ में अनाज काटने का हँसिया होता है। वे दोनों ओर पंक्ति बना कर खड़े हो जाते हैं और अपने लोकगीत गाते हुए नाचते हैं। उसमें पुरुष अपने शिकार के अनुभव सुनाते हैं और स्त्रियाँ अपने खेत की बातें बताती हैं। इनमें प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा मनोहर वर्णन होता है। राजस्थान में पनघट से पानी के घड़े सिर पर उठा कर लाने वाली रमणियाँ भी अनेक भावुक हृदयों का आलम्बन बन गई हैं। महाकवि बिहारी तो अपने हृदय में गड़ी उनकी चितवन को लाख भुलाने पर भी नहीं भूल सके हैं और नायिका भेद वर्णन करने वालों ने तो उनमें न जाने कितनी नायिकाओं के दर्शन किये हैं।

कला क्षेत्र में देन—

भारतीय नारी ने प्रेरणा देने के साथ-साथ कला जगत् को अपना सक्रिय सहयोग भी दिया है। भारतीय नृत्यकला की दो प्रमुख प्रणालियों, मनीपुरी और भारत नाट्यम् की जन्मदाता महिलाएँ ही तो हैं। मनीपुर भारत और ब्रह्मा की सीमा पर एक राज्य रहा है। यहाँ शारद्पूर्णिमा की रात को युवतियाँ युवकों के साथ कृष्णलीला के गीत गाकर सामूहिक नृत्य किया करती थीं। उनकी शीशों से जड़ी हुई पोशाक चाँदनी में चमाचमा उठती थी। अब तो यह नृत्य अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है। नारी की प्रमुखता के कारण यह नृत्य कोमलता से भरा हुआ है। इसमें स्त्रियाँ गहरे रंग का लँहगा पहनती हैं जिन पर शीशों का काम होता है। तंग मखमली जड़ाऊ चोली और एक सफेद मलमल का घुटनों तक लँहगा

जिसका किनारा सुनहरा होता है। सिर पर एक नुकीली टोपी जिस पर से सफेद बारीक कंधों तक चुन्नी डाली जाती है। पोशाक के साथ कमरपट्टा और आभूषण भी होते हैं। यह वेष-भूषा अत्यन्त चित्ताकर्षक प्रतीत होती है।

भारतनाट्यम् भी दक्षिण में स्त्रियों की देवदासी प्रथा के कारण प्रचलित हुआ। माता-पिता जब कृष्ण के प्रेममय स्वरूप पर मुग्ध होकर अपनी कन्याओं को मंदिर की मूर्ति पर चढ़ा देते तो उसका विवाह देवता से हो जाता था। वे देवदासियाँ कहलाती थी। अपने देवता को प्रसन्न करने के लिये वे अनक हाव-भाव प्रदर्शित करती। यही नृत्य के रूप में विकसित होकर भारतनाट्यम् हुआ। भारत में बाला, सरस्वती, रुक्मिणी देवी, तारा चौधरी और राधा श्रीराम भारतनाट्यम् के लिये प्रसिद्ध हैं।

चित्र कला में नारी—

यहीं क्यों, चित्रकला में भी हमारी बहनें काफी दिलचस्पी लेती रही हैं। त्योहारों के अवसर पर तो यह एक आवश्यकता बन गई है। होली, दिवाली पर देहातो में स्त्रियाँ घर लीप-पोत कर आँगन और चबूतरों पर 'मांडने मांडती' हैं, 'चौक पूरती' हैं, 'रागोली' करती हैं और 'अल्पना' बनाती हैं। यह काम बड़ा कलात्मक होता है। दक्षिण भारत में तो प्रतिदिन बाहर का द्वारा धोकर प्रात.काल सुहागिन स्त्री हल्दी कुंकुंम से चौक पूरती है। नागपंचमी जैसे त्योहारों को दीवार पर सुन्दर-सुन्दर रग-विरगे नाग बनाती हैं। शीशो के टुकड़ों से दीवार पर कितने सुन्दर फूल-पत्ते बनाती हैं। वे जो कढ़ाई का काम करती हैं उसमें भी बड़ी कलापूर्णता से काम लेती हैं। दिवाली पर लक्ष्मीपूजा के लिये कागज का किला बनाया जाता है। उसे स्त्रियाँ ही बनाती हैं। उसमें बुर्जें, संतरी-घर, कमरे आँगन सब कुशलता से बना कर वे अपनी स्थापत्य-कला के ज्ञान का परिचय देती हैं। राजस्थान में तो मूर्तियाँ बनाने तक में स्त्रियाँ पुरुषों का हाथ बँटाने लगी हैं।

आज की प्रगति—

यह तो हुई हमारी प्राचीन परम्परा को अपनाने वाली महिलाओं की बात। आजकल की प्रगतिशील नारियाँ तो कला के क्षेत्र में तीव्र गति से आगे बढ़ रही हैं। वे पुरुष के विज्ञान भरे जीवन में कला की कोमलता उड़ेल कर देश को सत्य, शिव और सुन्दर बनाना चाहती हैं।



वैज्ञानिक क्षेत्र में महिलाओं की देन

सुश्री कुमारी रेणुका चक्रवर्ती विदुषी

नारी की विकसित चेतना—

महिलाओ के विषय में अभी भी लोगों की भ्रान्त धारणाएँ हैं। आजकल के शिक्षित वर्ग में भी ऐसे व्यक्ति देखने को मिल सकते हैं जो उन्हें अपनी इच्छापूर्ति का साधन और पैर की जूती से कम नहीं समझते। उनकी यह धारणा सर्वथा मिथ्या ही है। महिलाएँ किसी भी क्षेत्र में कभी भी पीछे नही रह सकती यदि उन्हें पर्याप्त अवसर दिया जाय। आज की नारी प्रत्येक क्षेत्र में स्वावलम्बी बनने की ओर तत्पर है जो एक सीमा तक उचित ही है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रो में पुरुषो के समान ही स्त्रियाँ भी अग्रणी रही हैं व रहेंगी, इसमें कोई सन्देह नही।

वैज्ञानिक-कार्य-उत्कर्ष—

आपने महिला आविष्कारकों के विषय में बहुत ही कम सुना होगा। और शायद इसीलिए आप यह भी सोचते होंगे कि इस क्षेत्र में महिलाएँ पुरुषों की बराबरी नही कर सकती। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो मैं तो यही कहूँगी कि आपकी यह धारणा गलत है। अपने दैनिक जीवन में हमें नित्यप्रति जिन छोटी छोटी चीजो का आश्रय लेना पड़ता है और जिनके बिना हमारा काम नही चल सकता, उनमें अधिकाश महिला-आविष्कारकों की ही देन है।

हमारी, आपकी तथा शिक्षितों की बात तो जाने दीजिए; अधिकांश कृषिकर्मी भी इस बात से अनभिज्ञ होंगे कि आलू निकालने के यंत्र का आविष्कार सबसे पहले फ्रांस की एक महिला वैज्ञानिक मैडम जिलेट द्वारा किया गया था। फसल काटने के यत्र का आविष्कार भी सबसे पहिले सन् १८५० में वॅलिंगटन की एक महिला आविष्कारक एलिजाबेथ स्मिथ द्वारा किया गया था। बिजली से चलने वाली डोंगियों (जो कि पाश्चात्य देशों में काफी प्रचलित हैं) का आविष्कार भी मैडम डशेफर ने किया था। धूम्रपान के लिए उच्चवर्ग के लोग जिस पाइप का उपयोग करते हैं उसका आविष्कार मैडम बिलोट ने किया था। इस पाइप की डिजाइन आदि की रूपरेखा सोचने में उन्हें काफी समय तक बड़ा परेशान होना पड़ा था। इस पाइप में एक विशेषता यह है कि निकोटिन (तम्बाकू का विष) अन्दर नहीं पहुँचने पाता। उपर्युक्त आविष्कारों के सम्बन्ध में एक विशेष बात ध्यान में रखने की यह है कि ये यद्यपि हैं तो महिलाओं द्वारा किये गये पर उपयोगी हैं पुरुषों के लिए।

कल्पनात्मक आविष्कारों के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं। इस क्षेत्र में महिलाओं ने बड़े ही साहस व निर्भयता का परिचय दिया है। उनके द्वारा किये गये बहुत-से छोटे-छोटे आविष्कार तो ऐसे हैं जो इतिहास में भुलाये जा चुके हैं और अब किसी के द्वारा कभी याद नहीं किए जायेंगे। उदाहरणार्थ कुमारी आरबॅक ने एक ऐसे कघे का आविष्कार किया जिसके 'दाँतों' से तैल अपने आप निकलता था तथा उसके 'दाँत' सिर को कभी किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचाते थे। अमेरिका की एक महिला श्रीमती बॅसोट ने सन् १८६० में बच्चों के कानों के लिए एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया जो उनके कानों को आवश्यकता से अधिक बढ़ने नहीं देता था। उसी वर्ष मैडम हैनरिट प्लम ने रेलवे इंजिनों के लिए एक विशेष प्रकार के 'वेन्टीलेटर' (वायु का सचालन करने तथा मलिन वायु हटाने का साधन) का आविष्कार किया जो बाद में घरेलू उपयोग में आने लगा।

२०वीं सदी की वैज्ञानिक नारी—

२० वीं सदी में गृहसज्जा व सौन्दर्य-प्रसाधन के क्षेत्र में भी बहुत-से आविष्कार किए गए। १९२४ में मैडम बोहेन ने फलों को ताजे बनाये रखने के लिए पात्र तथा मेडम वेलेन्टिन ने टूथब्रुश का आविष्कार किया। एक जर्मन महिला मैलेबोल्फ ने दाँत साफ करने के लिए एक विशेष उपकरण का आविष्कार किया।

सन् १९०९ में एक अमेरिकन महिला इडानटिन ने वस्तुओं के यातायात के लिए एक विशेष प्रकार के बाक्सों का आविष्कार किया जिनमें रखने से फलादि बिगड़ते नहीं थे। सन् १९३० में श्रीमती बोल्टन कड़ाही व खाना पकाने के एक विशेष बर्तन के आविष्कार के लिए प्रसिद्ध हुई।

अभी कुछ वर्षों पहले की बात है, मैडम डि मेन्टेनन ने राजा लूई चौदहवें के मंत्री कोलबर्ट के द्वारा आविष्कृत बिजली के चूल्हे में काफी एव आवश्यक सुधार किए। ये सब तो छोटे-छोटे से आविष्कार हैं जिन्हें आज लोग भुला चुके हैं और जो अब शायद ही फिर कभी याद किए जायं पर इनके अतिरिक्त कुछ और भी बड़े बड़े आविष्कार हैं जिनके कारण उनके आविष्कारकों का नाम आज विश्व में प्रसिद्ध है और जो अत्यन्त ही महत्त्व के आविष्कार हैं। प्राचीन मिस्र में महिलाओं ने बहुत ही ऐसी औषधियों का आविष्कार किया था जो व्याधियों से मुक्त करने में अचूक थीं। मिस्र में उनकी गाथाएँ आज भी गाई जाती हैं। बेबलीन में रानी सेमीरा मिस ने सिंचाई के लिए नहरों, टाइल्स व सेना के लिए रथों का आविष्कार किया था। इतिहासकारों ने यह भी स्वीकार किया है कि राजा विक्चेह की रानी ने ही सबसे पहले हवा द्वारा भेजने की विधि की कल्पना की थी। आजकल दर्जी लोग सुई की नोक की चोट से बचने के लिए उँगली में जो टोपी पहिनते हैं, उसकी आविष्कारक एक डच महिला मिरफ्रेना वान बेन्सहोटन थी। 'केमेनबर्ट पनीर' जिसका आज अंग्रेजी पढ़े लिखे बाबू लोग, अधिक उपयोग करने लगे है, की आविष्कारक मेरी हेटेल एक फ्रेंच महिला थी। सन् १८२५ में सबसे पहिले माचिस का आविष्कार एक जर्मन महिला फ्राऊ-मर्केल द्वारा किया गया था। आवाज न करनेवाले टाइप राइटर के आविष्कार की योजना, सबसे पहले रूमानियाँ की रानी एलिजाबेथ ने सन् १८११ में बनाई थी।

अभी तक की सबसे अधिक प्रसिद्ध महिला वैज्ञानिकोंमें मैडम क्यूरी हैं जिन्होंने लगभग सन् १६०० में रेडियम का आविष्कार किया । उनके इस आविष्कार को सारा संसार अच्छी तरह जानता है अतः कुछ कहना व्यर्थ ही है ।

अभी हाल की महिला वैज्ञानिको में दो फ्रेंच महिलाऐं आती हैं जिन्होंने गाढ़े बैंगनी रंग की किरणो द्वारा एक विशेष प्रकार की मच्छड़ भगाने की औषधि का आविष्कार किया । अभी वे अपने इस प्रयोग को और भी आगे बढ़ाने में तत्पर हैं । यदि ये अपने इस प्रयोग में सफल हुईं तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ससार में उनकी काफी अधिक ख्याति होगी और वे पिछली महिला आविष्कारकों के समान जल्द ही न भुलाई जा सकेंगी ।

नारी की असमर्थता—

महिलाओ को दैनिक कार्यक्रम से अवकाश कम मिलता है । यही कारण है कि आविष्कारों के क्षेत्र में बहुत कम महिलाओं का नाम सुनाई देता है । यदि उन्हें भी पुरुषों के ही समान पर्याप्त अवकाश मिले तो कोई आश्चर्य नही कि वे उनसे भी आगे बढ़ निकलें व महत्वपूर्ण आविष्कार कर डालें ।



गृह-लक्ष्मियाँ

श्री पं० नाथूलाल जैन, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ, शास्त्री

विश्लेषण—

गृह ईंट, चूना, मिट्टी-पत्थर आदि अचेतन वस्तुओं से बना हुआ नहीं कहलाता, किन्तु गृह गृहिणी को कहा जाता है। जहां सुयोग्य स्त्री होती है, वास्तव में घर वही है।

किसी भी सन्तान का निर्माण, चाहे वह पुत्र हो या पुत्री, उसके गर्भावस्था में आने से ही प्रारम्भ हो जाता है। माता और पिता के पवित्र विचार और नियमित कार्य-प्रणाली के अनुसार गर्भ में पुत्र या पुत्री का आगमन और उसका निर्माण होता है। केवल शरीर का ही निर्माण नही होता, बल्कि जीवन का निर्माण भी होता है। उस सन्तान के मन और आत्मा पर सस्कार भी तभी से पड़ना शुरू हो जाते हैं। सन्तान के पैदा होने पर भी माता और पिता द्वारा उसका पालन पोषण जिस प्रकार किया जायगा वैसी ही सन्तान बनेगी।

भारतवर्ष में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का पैदा होना हर्ष का विषय नहीं माना जाता और उसका पालन और शिक्षण भी पुत्र के समान अधिक ध्यानपूर्वक नही कराया जाता। यही कारण है कि भारतवर्ष में आज नारीजाति की स्थिति शोचनीय हो रही है। यहाँ स्त्रियो का तीन प्रतिशत शिक्षित होना कितनी लज्जा की बात है। बिना शिक्षा के गृहकार्य में कुशलता और विचारशीलता का आना संभव नहीं। अशिक्षित स्त्री अपनी सन्तान को सुयोग्य एवं सुसस्कृत बनाने में समर्थ नहीं हो सकती। पुत्री के प्रति उपेक्षा और उसके कारण अपने भाग्य को कोसते रहने के परिणाम से केवल उस पुत्री के लिए बुरा नही होता है, वरन् वह जिस घर में जाती है वह घर भी दु:खी होता है। शरीर, मन और आत्मा पर सस्कार प्रारंभ से ही डाले जाते हैं। धीरे-धीरे ही विकास होता है। प्रारंभ से ही दुर्बल संस्कार आगे जाकर विकास को रोक देते हैं। इसी के फलस्वरूप स्त्रियों में कायरता, हीनता और असहाय दशा का भान हुआ करता है। यह भान ही उन्हें अवसर पर संकट में डाल दिया करता है।

प्रेरणा-प्रद नारी—

पुत्रियों में साहस, वीरता, और निर्भयता के भाव उनकी मातायें ही अधिकतर भर सकती हैं। अत: माता बनने के लिए पहले शिक्षित और साहसी एवं वीर हृदय बनना आवश्यक है। पुत्र के

सुशिक्षित होने की अपेक्षा पुत्री का सुशिक्षित होना जरूरी है। माता बच्चों की पहली और प्रम पाठशाला है, जहां अधिक समय तक बच्चों का संस्कार ढलता है।

अपनी पुत्री को इस प्रकार सुसंस्कृत और गृहसचालन सम्बन्धी योग्यता से सम्पन्न बना कर माता पिता सुयोग्य वर के साथ उसका पाणिग्रहण सस्कार कर देते हैं। यह माता पिता का साधारण त्याग नहीं है। एक सुयोग्य कन्या को प्रदान करना धर्म, अर्थ, और काम का प्रदान करना है। यदि माता पिता यह विचार लें कि हमारी पुत्री हमारे पास रहने वाली नहीं है, वह तो पर घर की मेहमान है, हमें उसके लिए अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है, तो इस क्षुद्र विचार के साथ उन्हें यह भी सोचना होगा कि उनके पुत्र के विवाह में भी पर घर की कन्या ही आयगी और उसके माता पिता यदि उस कन्या को मूर्ख और सस्कार हीन रखकर विवाहित कर दें तो उन्हें कैसा बुरा मालूम होगा! ऐसी पुत्रबधू से क्या घर सुखी बन सकता है? इसलिए जैसा हम दूसरों से चाहते है वैसा ही हमें दूसरों के प्रति भी कर्तव्य निभाना होगा। यही उदारता अथवा अहिंसा का परिचालन हमें और दूसरों को सुखी बना सकता है। गृह की शोभा सुयोग्य गृहिणी से होती है और सुयोग्य गृहिणी के निर्माण का उत्तरदायित्व उसके पालको पर निर्भर है। जिस घर में सुशील, सदाचारिणी और गृहकार्य-कुशल पत्नी है वह घर स्वर्ग के समान बन जाता है। वहाँ सुख, सम्पदा, और शाति आदि सभी गुण निवास करने लग जाते है।

सुयोग्य-गृहिणी के जाग्रत रूप—

सुयोग्य गृहिणी अपने स्वामी को, चाहे वह कैसा ही स्वावलम्बी हो, अपने अनुकूल बना सकती है। घर में रहनेवाली सास और ननद आदि को भी वह अपने व्यवहार द्वारा प्रसन्न रख सकती है। निर्धनता को भी वह सन्तोष एव मितव्ययिता द्वारा सघनता में परिणत कर सकती है।

गृह-लक्ष्मियों के त्याग और उदार वृत्ति का दिग्दर्शन कराना सरल नही है; वे अपने परिवार के लिए अपने सुख का परित्याग कर पहले उसे सन्तुष्ट करने में सदा तत्पर रहा करती हैं। पति को वे देवता ही नही. भगवान मानती हैं। अपने शिशु के पालन के लिए उन्हें कितना कष्ट उठाना पड़ता है यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। रात-दिन मलमूत्र उठाने, छाती से चिपकाये रहने और उसके रोने, मचलने पर उसे शात एवं प्रसन्न करने के लिए अपनी नीद तक की परवाह न करके सब कार्यों को सम्यक्तया पूर्ण करती हैं। घर में किसी भी व्यक्ति के बीमार होने पर पहला संकट गृहणी पर आता है। वह सबसे पहले उठती है और सबसे पीछे सोती है। पति की, पुत्र की, सास की, ननद की और न जाने किस-किस की खोटी-खरी बातें उसे सुननी पड़ती है। परन्तु वह सहनशीलता और कार्यशीलता की मूर्ति कभी घबराती नहीं। घर के निर्माण में वह सदा तत्पर रहती है। पुरुषों में अधिकांश, गृहस्थी के भार को अथवा गृहसम्बन्धी समस्याओं की सहन न करने—सुलझा न सकने के कारण भयभीत होकर—असमर्थ बनकर उदासीन-विरक्त होते हुए देखे गये हैं, पर ये गृह-लक्ष्मियाँ आँखों में आँसू लेकर भी सर्वदा सहनशील हैं। ये घर की चहारदीवारी में बन्द रह कर भी उसे नन्दनवन मानती हैं। दुर्भाग्यवश पति का वियोग हो जाने पर भी ये कभी स्वतः स्वच्छन्द या उन्मार्गगामी नहीं बनतीं। पुरुष सदा ही अपनी वासनापूर्ति का साधन इन्हें मानते रहते हैं और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इनके पुनर्विवाह आदि की

आवाज उठाकर सदाचरण से पतित करने का मार्ग सुझाते रहते हैं, पर इन पर इसका कोई असर नहीं। यही कारण है कि आज भारतीय नारी का आदर्श सुरक्षित बना हुआ है और संसार इस आदर्श नारी का अभिनन्दन करता है—उसके प्रति अपना शीश झुकाता है। यद्यपि नारी-पूजा, नारी का सम्मान पुरुष जाति ने जैसा करना चाहिये नही किया, पर अपने महान गुणों और कार्य-शक्ति के बल पर यह अपना अस्तित्व, अपना सम्मान सुरक्षित रख सकी है और आज की विषम परिस्थिति में भी रख रही है। भारत की ये गृहलक्ष्मियाँ यदि उपेक्षित न रखी जातीं तो भारत को स्वराज्य का उपयोग करने में इतनी अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता।

पति के प्रति कर्त्तव्य—

लक्ष्मी यह एक देवी का नाम है। यह देवी कोई धन की अधिष्ठात्री देवी नहीं, किन्तु धन का लोभी संसार इसकी प्रसन्नता के लिए प्रयत्न करता रहता है। अपने पुण्य के अधीन ही सब साधन सुलभ हुआ करते हैं। यहाँ लक्ष्मी आदरवाचक है। यह देवी या पूज्य के पर्याय-वाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः यह गृह को सुन्दर बनानेवाली अथवा घर की शोभा जिस स्त्री से हो वह गृहलक्ष्मी है। पति का कर्त्तव्य स्त्री के प्रति क्या है, उसे अपनी पत्नी को कैसा बनाना चाहिए इन प्रश्नों को यहाँ गौण रखकर गृहलक्ष्मियों की विशेषता और कर्त्तव्य पर ही दृष्टि डालना है। वर्तमान समाज और देश की परिस्थिति और पाश्चात्य वातावरण के नारी-जगत पर पड़ रहे प्रभाव को लक्ष्य में रखकर यह अवश्य कहना होगा कि इस समय स्त्रियों को सर्वथा परावलम्बी बने रहने से लाभ नहीं होगा। पति के अधीन रह कर भी ज्ञानार्जन द्वारा वे अपनी शक्ति का उपयोग करें और पति के दिल और दिमाग को शांत, उन्नत बनाने में अपना हाथ बटावें। घर में शांति छायी रहेगी तो उसमें रहनेवाले व्यक्ति भी शांत एवं स्वस्थ रहेंगे और वे बाहर भी अपना कार्य व्यवस्थित करते हुए सफल बनेंगे। धन और पुत्रादि परिवार के होने पर भी जिस घर में परस्पर प्रेम, स्नेह और सद्व्यवहार नहीं है वहाँ सुख और शांति नही रहती अतः लक्ष्मी धन नही है, लक्ष्मी सुयोग्य गृहिणी है।

पति को स्वस्थ, दीर्घजीवी और सफल जीवन व्यतीत करनेवाला बनाना पत्नी के हाथ में है। विवाह संयम के लिए ही किया जाना है। संयम का निर्वाह यदि जीवन में नही किया गया तो वह विवाह ही किस काम का। केवल काम भोग के लिए विवाह नही है। अपनी उद्दाम वासनाओं को दमन करते हुए अपने आचार और कुल की प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए विवाह किया जाता है। अतः शरीर और मन स्वस्थ रहे वही तक काम भोग ग्राह्य है। शरीर और मन के रोग के साथ ही अपनी गृहस्थी का भार और देश का संकट भी बढ़ाना उचित नही है अतः अधिक सन्तान का निग्रह भी इस समय प्रधान कर्त्तव्य बन रहा है। यह सन्तान निग्रह ब्रह्मचर्य पर ही निर्भर है इसके लिए कृत्रिम उपायों का प्रयोग शरीर और मन को स्वस्थ नहीं बना सकता। इस विषय में स्त्रियों को दृढ़ होना होगा। स्त्रियों की अपेक्षा इस स्थल पर पुरुष कमजोर हुआ करते हैं अतः स्त्रियों को ऐसा वातावरण बनाना होगा जिससे उनका और उनके स्वामी का जीवन तथा देश का जीवन भी संकट में न पड़े। यदि इस कर्त्तव्य को वे निभा सकें तो वे अपना 'गृहलक्ष्मी' नाम सार्थक ही बनायेंगी।

भारतीय महिला-समाज का कर्त्तव्य

श्री हजारीलाल जैन एम० ए०, सी० टी०

भूमिका—

इस समस्त चराचर सृष्टि में नारी जाति का विशिष्ट स्थान है। नारी के बिना सृष्टि की रचना, समाज का सगठन, जातीय कार्यकलाप एवं गृहस्थ-जीवन अधूरे हैं। विश्व की समस्त विभूतियों में अधांश नारी का है और वास्तव में देखा जाए तो नारी ही विश्व की जननी, पालिका, शिक्षिका, स्वामिनी और निस्वार्थ सेविका है। स्त्री जाति की सेवाएँ जीवन क्षेत्र में कहाँ नहीं है ? नारी जाति के राजनैतिक जीवन में साम्राज्ञी विक्टोरिया, सरोजिनी नायडू, साम्राज्ञी विल्हेमा, महारानी अहिल्या; सैनिक रूप में कैकयी, लक्ष्मीबाई, चांदनी बीबी, दुर्गावती; सामाजिक कार्य-कर्त्री रूप में विदुषी रत्न ब्रह्मचारिणी पं० चन्दाबाई जी, कमला बाई, आदर्श रूप में सीता, द्रौपदी, अंजना, चन्दना, चेलना, राजुलमती, मैना सुन्दरी, पद्मिनी आदि के उदाहरण हमारे सामने है। इन्होंने वर्तमान जगत् के इतिहास-निर्माण में कितना भाग लिया, किसी से छिपा नही है। यदि हम इनका नाम इतिहास से निकाल दें तो हमारा इतिहास अधूरा सा लगेगा। वह रूक्ष सा जँचेगा उसमें उन तत्वों का अभाव रह जायगा जो मानव को सच्चे अर्थ में मानव बनाते है और वह उस सूखे उपवन के समान प्रतीत होगा, जिसमें से हरी भरी लतिकाएँ और फलवान् वृक्ष निकाल दिये गये हों।

नारी का पूर्व इतिवृत्त—

नारियों का भूत कैसा था, तनिक अवलोकन करें। प्राचीन काल में स्त्रियाँ सामाजिक और पारिवारिक कार्यों में स्वतंत्रता से भाग लेती थीं, उनमें पर्दा-प्रथा नाममात्र को भी नहीं थी, वे शिक्षित होती थीं, वीरता, साहस, परिश्रमशीलता उनमें कूटकूट कर भरी हुई थी, वे सरलता और त्याग की मूर्ति थीं। इन्हीं सच्चरित्रता, सरलता और त्याग के बल से ही वे आदरणीया मानी जाती थीं। हमारे नीति-शास्त्रकारों ने लिखा है "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" अर्थात् जहाँ स्त्रियों का आदर सत्कार किया जाता है वहाँ देवता निवास करते हैं। हर कार्य में उन्हें सम्मिलित किया जाता था। हिन्दू शास्त्रकारो ने तो यहाँ तक लिखा है कि स्त्रियों के बिना गृहस्थ का धर्म और पुरुषार्थ का कार्य निष्फल हो जाता है। वे कहते हैं:—

धर्म कर्म कुछ कीजिए, सकल तिया के साथ ।
ता बिन जो कुछ कीजिए, निष्फल सोई नाथ ।।

प्राचीन समय में स्त्री समाज उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर था। उसमें प्रेम, उत्साह, क्षमा, शौर्य, धीरता, वीरता, और दाक्षिण्यादि गुण पाये जाते हैं । उस समय उन्हें अबला नाम से नहीं पुकारा जाता था और न उन्हें धार्मिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था, किन्तु उनके साथ पूर्ण सहानुभूति का बर्ताव किया जाता था । उनके दु:ख में दु:ख और सुख में सुख की अनुभूति की जाती थी।

स्त्रियाँ क्रोध में आकर प्रलय मचा सकती हैं, महाभारत और रामायण की रचना करवा सकती हैं । संसार को दुःख शोक में निमग्न कर सकती हैं, इन्द्र, विष्णु, और ब्रह्मा को अंगुलियों पर नचा सकती हैं। स्त्रियाँ समाज के लिए शक्ति रूप होती हैं; आलसी को उत्साहित करना, कायर को वीर बनाना, विलासी तक से महत्व के कार्य कराना नारियों का ही काम है । तीर्थंकरों, वीरों, ज्ञानियों, दार्शनिकों तथा सम्राटों को पैदा करने का गौरव नारी जगत को ही है । सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है ।

वर्तमान काल में नारी—

किन्तु प्राचीन काल की सन्तति रूप वर्तमान मानव-जीवन में भी वह स्रोत पूर्ण रूपेण बन्द तो नहीं हो गया; हाँ, ज्यों-ज्यों उस धर्म और समाज-पद्धति पर देश, काल और परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है त्यों-त्यों इनमें परिवर्तन, विकार, और भ्रष्टाचारिता का समावेश हो गया है। वर्तमान समाज को बनाने में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक इस पवित्र भारत वसुन्धरा पर हुए शकों, हूणों, पठानों और मुगलों के आक्रमणों, मुगल तथा अंग्रेजी साम्राज्यों एवं उनकी रीति रिवाजों, परम्पराओं, धार्मिक, सामाजिक मान्यताओं, उनकी संस्कृति तथा सभ्यताओं के सम्पर्क और उसके परिणामों तथा बौद्धों, हिन्दू, दार्शनिक विचारों के कारण प्राचीन और अर्वाचीन परम्पराओं एवं सामाजिक संगठनों में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है, और सबसे अधिक और ताजा प्रभाव पाश्चात्य भौतिकवादी समाजों का पड़ा है, जिनका उद्देश्य ही है Eat, drink & be merry अर्थात् खाओ, पियो, और मस्त रहो—भविष्य को किसने देखा है और कौन देखता है । प्रकृति का नियम है कि वस्तु के बनाने में समय और शक्ति लगती है जबकि उसके विनाश में कुछ भी समय अपेक्षित नहीं है और मानव प्रकृति भी गिरावट या निचाई की ओर तेजी से बढ़ती है और ऊँचाई उन्नति की ओर धीमी गति से । वही हमारा प्राचीन आदर्श धार्मिक, सामाजिक एवं घरेलू जीवन किस पतित अवस्था में है जिसकी कल्पना करते ही लेखनी कांपने लगती है—अविरल अश्रुधारा बहने लगती है । वे ही माताएँ और बहनें आज क्या हो गई हैं, और आगे भी किस दिशा में बढ़ती जा रही हैं—जान कर आश्चर्य होता है ।

आज भारतीय नारियों में न शिक्षा है, और न संगठन ही । शिक्षित नारी को हम तो जागृत नारी मानते हैं जो अपनी देश और विदेश की स्थिति को जानती हैं, काल की गति को पहचानती हैं, स्त्रियाँ आज किस अवस्था में हैं और उन्हें क्या करना चाहिए आदि को जो भली प्रकार जानती है और अपनी इस पतित अवस्था को संगठन के बल पर सुधारती है । 'संघे शक्तिः कलौ

युगे' के अनुसार यदि स्त्रियां भी शिक्षित और संगठित होकर अपने ही बल पर अपनी पर्दा प्रथा, केवल मात्र विलास की सामग्री समझे जाने, वस्त्राभूषण प्रियता और पुरुषों के अत्याचारों के ऊपर विजय प्राप्त कर सकती हैं और जगत को बतला सकती हैं कि वे अबला नही सबला हैं, वे चहार दीवारी के भीतर की बन्दिनी नही 'गृह स्वामिनी' हैं, वीरों और नेताओं की सच्चे रूप में जन्म दात्री हैं। अतः स्थान स्थान पर नारियों को सगठित होने का आन्दोलन करना चाहिए; बालिका विद्यालय, व्यायाम शालाएँ, उद्योग शालाएँ आदि खुलवाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे मानव जाति को यह फुलवारी सदैव हरीभरी, पल्लवित, पुष्पित एवं फलवती रहे और उसकी शीतल छाया में धर्मार्त श्रमित और संसार के थपेड़ों से पीड़ित, विषमताओं से उदासीन एवं विरक्त हुआ पुरुष समाज आकर शांति सुख और सहानुभूति की लहरों का आनन्दोपभोग कर अपने को शांत और सुखी बना सके।

नारी में आशंकित दोष—

आज भारतीय ललनाओं में कायरता, दब्बूपन, तथा तुच्छता की भावना घर कर रही है। आज की महिलाएँ अपने आप को अबलाएँ दासियां और पुरुषों के पैरों की जूतियां माने हुई हैं; नीच, पथभ्रष्ट, पतित पुरुष उन पर मनमाने सैकड़ों अत्याचार कर लें और वे रोती हुई सहन करती ही रहती है और टुकुर टुकुर बाह्य सहायता की ओर आशा लगाए रहती है; परन्तु उन्हें सदैव ध्यान रखना चाहिए कि (God helps those who help themselves) अर्थात् ईश्वर उनकी मदद करता है जो स्वयं अपनी मदद करता है। सुसुप्त नारियां अपनी तन्द्रा अवस्था को छोड़कर जागृत होंगी, शिक्षित और संगठित होकर उपयुक्त वातावरण अपने लिए पैदा करेंगी और अपनी शक्तियों को पहचानेंगी और देखेंगी कि वे ही तो सम्राटों, वीरों, और महात्माओं को जन्म देने वाली और विश्व में शांति और सुख की वर्षा करनेवाली है तो वे देखेंगी कि उनका दुःखमयी जीवन उन्हीं के हाथों सुखमय जीवन में बदल जायगा और उनका शुष्क एवं भार स्वरूप जीवन आनन्द तथा सुख का घर हो जायगा।

वर्तमान नारियों के जीवन को दुःखमय बनाने में असन्तोष, फैशन, और वस्त्राभूषण प्रियता की वृद्धि भी है। आज का अर्थशास्त्री तथा साधारण सचेत गृहस्थ जानता है कि मँहगाई राक्षसिनी किस प्रकार भारतीय गृहस्थों को खाये जा रही है। वर्तमान आय में गृहस्थी की साधारण दैनिक आवश्यकताएँ ही पूरी नहीं हो पाती फिर भी देवी जी को फैशन का भूत सवार है, आज उन्हें यह साड़ी चाहिए, कल वह नेकलेस, तो तीसरे दिन इस प्रकार के सेण्डिल जिस प्रकार के.............. पहनती हैं। वे तो मन्दिरों, सिनेमागृहों, कुओं, बावलियों, नलों, बाजारों, और मेलों में धनियों की स्त्रियों को देख देख कर अपने पति देव की गरीबी, अकर्मण्यता, तथा उनकी फर्मायश की चीजों की पूर्ति न कर सकने के कारण निखट्टूपने पर तरस खाती हैं, दूसरों से ईर्ष्या करती हैं और इस प्रकार असन्तोष के कारण सदैव कुढ़ती और दुःखी बनी रहती हैं। हमारी देवियां प्रति दिन पढ़ती और शास्त्रों में सुनती हैं कि पर परणति तो अपने वश में है नहीं—वे जानती हैं कि पति देव की न्यायोचित आय वृद्धि तो गृहस्वामिनी जी के हाथ है नहीं,—हां, स्वपरणति—अपनी मांगों को सीमित,

रखना, अपनी सौर को देखकर पांव पसारना और अपने कुटुम्ब की आय के अनुसार खर्च को कम करना तो उनके हाथ में है ही। वे चाहें तो अपनी दूरन्देशी (दूरदर्शिता), किफायतसारी (मितव्ययिता) और सन्तोष भावना से रह नरक को स्वर्ग भवन में परिणित कर सकती हैं और उन्हें दुःख और असन्तोष के स्थान पर गृहस्वामिनी और गृह-लक्ष्मी का पद आसानी से मिल जावेगा।

आधुनिक वातावरण की नारी को देन—

आज की दीन भारत की स्त्रियाँ अपने स्वतंत्र देश की आर्थिक हीन दशा, सर्वत्र फैली हुई गरीबी और मंहगाई आदि के साथ-साथ वे अपने-अपने पतियों की सीमित आय आदि पर विचार कर अपने फालतू समय को व्यर्थ न खोकर अपने मन में कुछ साहस, उत्साह, पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति को जागृत करके अपने परिश्रम के बल पर घर २ में छोटे २ उद्योग धंधे, जापान की भांति चालू कर दें और स्वेटर, गुलूबन्द, मौजे, बनियान, खिलौने बनाने लगें एवं अपने घर-गृहस्थी के कपड़े स्वयं सीने और आटा स्वयं पीसने का नियम बना लें तो स्वास्थ्य वृद्धि के साथ साथ उनके समय का सदुपयोग होगा, घर का व्यर्थ का गृह-कलह कुछ सीमा तक शांत होगा और गृहस्थी का फालतू खर्च भी बचेगा, जिससे किन्हीं अन्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सकती है। प्रत्येक भारतीय नारी और अधिक न कर सके पो कम से कम अपने अपने घरों का सीना, पिरोना, कातना, और बुनना तो कर सकती है और इस प्रकार गृहस्थी को स्पृहणीय बना सकती है और गृह प्रबन्ध की कुशलता से पुरुषों के आश्रित न रह कर स्वतंत्र स्वावलम्बन की भावना को जागृत और उन्नत करके अपने घर को सुखमय एवं आनन्द का स्थान बना कर अपने स्वामिनी तथा गृहिणी नाम को सार्थक कर सकती हैं।

पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा के बल पर आज की कुछ शिक्षित बहनें जीवन के हरेक क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिस्पर्धा करने लगी हैं और प्रकृति से निश्चित शिशु पालन, रसोई बनाना, सीना, पिरोना, आदि को छोड़ कर क्लर्क, ड्राइवर, टाइपिस्ट, तथा दुकानदार बनने लगी हैं और अपने स्त्रियोचित गुणों को तिलाञ्जलि सी देने लगी हैं। परन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिए की वर्तमान भौतिक सभ्यता के प्रवर्तक पाश्चात्य देश जैसे जर्मनी, रूस आदि स्वतंत्र एवं उन्नत माने जाने वाले देशों में भी यह भावना जोर पकड़ती जा रही है कि स्त्रियों के सुपुर्द घर की जिम्मेदारी ही होना चाहिए और घर से बाहर के कार्य पुरुषों के लिए छोड़ देने चाहिए। जीविकोपार्जन के बाह्य कार्य जिस स्वतंत्रता, लग्न, परिश्रम, अध्यवसाय आदि के साथ पुरुष कर सकता है उन्हीं कामों को मासिक धर्म, गर्भधारण करना, सन्तानोत्पत्ति, शिशुपालन, आदि के कारण उतनी आजादी से स्त्रियां नहीं कर सकतीं और इसी प्रकार स्त्रियोचित घर की सफाई, शुद्ध भोजन, गृह-व्यवस्था, शिशु-पालन आदि के कार्य पुरुष ठीक नहीं कर सकते। इस प्रकार जब प्रकृति से ही नर और नारी के कार्यों का पृथक् विभाजन हो रहा है तो पुरुष बाहर का स्वामी और स्त्री गृह-स्वामिनी रह कर उन कर्त्तव्यों को अधिक दक्षता से संपादित कर सकते हैं। और यह नियम ही है कि जो जिस कार्य में दक्ष होगा उससे वही कार्य अच्छी तरह से बन सकेगा। इस प्रकार दोनों ही एक लक्ष्य रख कर कर्त्तव्य भावना से कार्य करें तो कोई कारण नहीं समझ में आता कि उनका घर आनन्द और प्रेम का

स्थान न हो। हाँ, यह होना चाहिए कि जिस प्रकार दांयें हाथ में चोट लग जाने की अवस्था में बांयें से काम लेना पड़ता है, और यदि बायें हाथ से पहले से ही काम करने का अभ्यास हो तो कार्य में कुछ भी बाधा नहीं आती उसी प्रकार गृहस्वामी के प्रत्येक कार्य का अभ्यास स्त्री पुरुष दोनों को करना चाहिए ताकि असमर्थता, बीमारी, बाहर जाने आदि के समय एक दूसरे का काम बिना बाधा के कर सकें और दूसरे का मुह ताकने का अवसर न आवे।

गृहस्थ जीवन के दुःखमय होने का एक कारण हम और अनुभव करते हैं और वह है मिलनसारिता की कमी और पारस्परिक अविश्वास तथा गृह-कलह। यों देखें तो मेले में, सिनेमाओं, मन्दिरों आदि स्थानों में अन्य स्त्रियों से हमारी गृह देवियां हंस-हंस कर बोलेंगी, उन्हें गले लगायेंगी, और उनको घर बुलाकर यथाशक्ति आतिथ्य करेंगी परन्तु एक घर में रहने वाली मातृवत् सास, भगिनीवत् ननद, और भौजाईवत् जिठानी आदि उन्हें फूटी आंखों भी नहीं सुहातीं, सदैव उनसे मुह बनाये रहना, शत्रु की भांति उनसे न बोलना, उदासीन होकर अकेली अपने कमरे में पड़ी रहना—चाहे इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर कैसा ही पड़ता हो—और जब भी पति देव दिन भर के कार्य से थके थकाये कुछ शांति और मनबहलाव की आशा से गृह में आते हैं तब से लेकर उनके घबराकर बाहर जाने तक बच्चों और स्त्रियों के झगड़ों की फरियादों के मारे उनके नाकों दम कर देती हैं और इस प्रकार गृह में सदैव गृह-कलह, झगड़े, मनोमालिन्य और उदासी छाई रहती है।

सुझाव—

अतः विशेष विस्तार में न जाकर हम इतना ही कहना उचित समझते हैं कि प्रत्येक भारतीय नारी अपना महत्व समझे, अपनी शक्तियों को पहिचाने, शिक्षित, स्वस्थ और संगठित होकर अपने विकास का क्षेत्र खोजें और उत्साह, प्रेम, सहानुभूति एवं परिश्रम से उस क्षेत्र में जुट जाये। फिर देखें, 'विश्वजननी' को कौन 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी—ये सब ताड़न के अधिकारी' अथवा 'विष बेल नारि तज गये जोगीश्वरा" कहने का साहस कर सकते हैं। स्त्रियां, अपने त्याग, आत्म समर्पण और प्रेम के बल पर ही समस्त संसार को जीत सकती हैं न कि अधिकार की रट लगाकर अथवा पाश्चात्य भौतिक सभ्यता की कठपुतली बन कर।

परन्तु यह हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि इस सृष्टि में मनुष्यमात्र ही अपने बुद्धि-बल से, मन तथा आत्मा की शक्ति से, एवं ज्ञानविज्ञान में गति रखने से विशिष्ट प्राणी है—इसी लिए तो एक कवि ने कहा है—

> धन, ज्ञान, प्रभुता, सूरता, का यदि मिला कहीं संयोग हो।
> तो विश्व के कल्याण हित इन सबका सदुपयोग हो।

हम और हमारी माताएँ और बहिनें शिक्षित, स्वस्थ्य और संगठित होकर स्वार्थहितसाधन की चिन्ता ही करती रहें, सदैव अपने घर-गृहस्थी, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, कुटुम्बादि की वृद्धि और उन्नति में ही लगी रहें और—

> अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसां
> उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्

को चरितार्थ करके न दिखावें तो हममें और पशुओं में अन्तर ही क्या रह जायेगा। यदि हमने अपनी शिक्षा, धन, बल, बुद्धि, ज्ञान आदि से अपने कुटुम्ब से आगे बढ़ कर अपनी जाति, समाज देश, राष्ट्र एवं विश्व का कुछ भी हित न किया तो हमारा जन्म लेना निरर्थक है। किसी कवि ने इसीलिए कहा है—

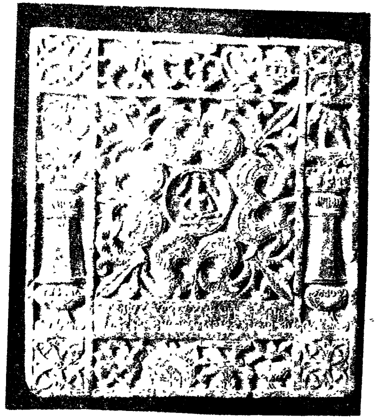
मर गये जग में, मनुज जो मर गये अपने लिये
वे अमर जग में हुए जो मर गये जग के लिए।
जो उपजता सो विनशता यह जगत व्यवहार है,
पर देश जाति स्वधर्म हित मरना उसी का सार है॥

इन सबका ज्वलन्त प्रमाण हम श्रीमती विदुषी रत्न-ब्रह्मचारिणी पं० चन्दाबाई जी में पाते है। उन्होंने स्त्री पर्याय में जन्म लेकर उपरोक्त कथन को कह कर नही करके सिद्ध कर दिखाया है और नारी जाति के आगे बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है। ऐसी त्यागमूर्त्ति, विश्व को प्रेम और कल्याण का पाठ पढ़ानेवाली महिला रत्न के चरणों में यह तुच्छ कृति सुदामा के मुट्ठी भर चावलों की भांति अर्पित करके उनका अभिनन्दन करते है और अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलिया अर्पित करते है, और साधारणतया विश्व एवं विशेषतया नारि-जाति के कल्याण के लिए दीर्घायु होने की कामना करते है।

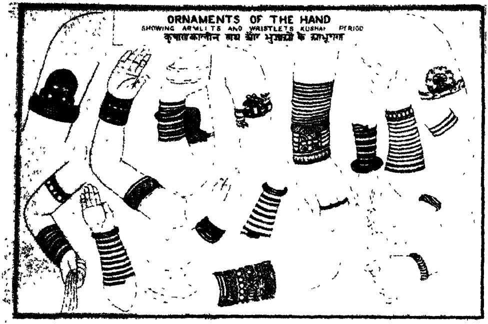




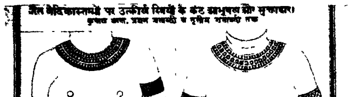
चित्र ५ लवणशोभिका गणिका की पुत्री वसु के द्वारा बनवाया गया आयागपट्ट (दे० सं० ३०)



चित्र ६ कौशिकी के पुत्र सिहनादिक द्वारा प्रतिष्ठापित आयागपट्ट (दे० सं० ७)



चित्र २० मथुरा से प्राप्त जैन वेदिका स्तभों पर अंकित हाथ और भुजाओं के आभूषण



कर्णाटक की प्राचीन जैन महिलाएँ

श्री शरवती देवी, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ

प्रस्तावना—

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी का प्रमुख स्थान रहा है। वह विश्व, धर्म और समाज की उन्नायका मुक्त कंठ से बतलाई गयी है। क्या उत्तर-भारत और क्या दक्षिण भारत सर्वत्र नारी धर्म की ध्वजा फहराने वाली ही नहीं बल्कि उसकी जन्मदात्री भी रही है। दक्षिण प्रान्त के नारी वर्ग ने न केवल धार्मिक क्षेत्र में ही अग्रणी कदम रखा है, अपितु राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक साहित्यिक और अन्यान्य क्षेत्रों में भी प्रथम रही है। कर्णाटक प्रान्त को भी इसी प्रकार की वीरांगनाओं की प्रसवभूमि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। इस प्रान्त में भी अनेकों ललनाओं ने जन्म धारण कर अपनी प्रतिभा, अलौकिक बुद्धि, अपरिमित क्षमता, अपूर्व साहस और अथक परिश्रम प्रदान कर इसे वीरप्रसूता बनने का गौरव प्रदान किया है।

जाकल देवी—

कर्नाटक प्रान्त की धर्मनिष्ठ जाकल देवी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। आपके शुद्धाचरण, प्रभावना और वात्सल्य अंग की प्राजलता से जैन साहित्य चमत्कृत है। खेद की बात है कि जैन-परम्परा में किसी विद्वान ने इन विभूतियों की ओर नजर न उठाई; न साहित्यकारों ने अपनी लेखनी का ही विषय बनाया। अतः आज तक इन देवांगना स्वरूप ललनाओं का ही नहीं अनेकों वीरांगनाओं का जीवन अतीत की धुंधली छाया में आवेष्टित है। इस निबन्ध में जाकल देवी के सम्बन्ध में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर उनकी महत्ता और धर्मप्रियता के विषय में प्रकाश डाला जायगा तथा अन्य कर्णाटक की विभूति रत्न महिलाओं की भी झांकी कराने का प्रयत्न किया जायगा।

ई० सं० १०९३ में त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य के समय चालुक्य राज्य दक्षिण से उत्तर (आसाम) तक विस्तृत था। अन्वेषकों के सत्प्रयत्न द्वारा हैदराबाद स्टेट में गुलबर्गा जिले के नवीकवाड़ी स्टेशन से इंगवर्गा गांव में एक शिला लेख की प्राप्ति हुई है। उस शिला लेख पर "जाकल देवी" नाम अंकित है। अतः आप का जन्म जैन कुल में हुआ है यह सुनिश्चित है। जैन बिम्ब और जैन शासन की अपार भक्ति इस बात की द्योतक है।

जाकल देवी चालुक्य राजा की धर्मपत्नी थी । चालुक्य जैन धर्म का विरोधी और जैन बिम्बों से घृणा करने वाला राजा था। कहा जाता है कि एक समय एक सुयोग्य शिल्प कलाकार ने एक अतिशय सुन्दर, भव्य, मनोज्ञ और विशाल जिन प्रतिमा तैयार कर राजा के सम्मुख उपस्थित की । जाकल देवी का हृदय उल्लास, उमंग और भगवद्भक्ति की तरंगों में उछलने लगा । उसने मनोज्ञ और हृदयहारिणी प्रतिमा का दर्शन कर मानो स्वर्ग प्राप्त कर लिया । चालुक्य राजा की मुखाकृति से रानी उसके हृदयगत भावों को ताड़ गई । फिर भी वह हताश नहीं हुई, बल्कि विशेष रूप से सचेष्ट और सतर्क हो गई । बड़ी विनय और भक्ति प्रदर्शित करते हुए अनुनय किया "हे देव ! इस प्रकार की रमणीय, मनोहर, विशाल और शांति मुद्रा सम्पन्न मूर्त्ति अपने राज्य दरबार में अवश्य होनी चाहिए । वस्तुतः इस प्रतिबिम्ब में मानव हृदय की कलुषता प्रक्षालन की पूर्ण क्षमता है ।"

राजा मनोगत भावना को स्पष्ट न करते हुए बोला "देवि ! मैं तो इस मूर्त्ति को देखते ही उद्विग्न और चचल-सा हो गया हूँ । शांति और वैराग्य का तो मेरे मन में लेश भी पैदा नही हुआ । अतः यह जिनबिम्ब खरीदने योग्य नहीं । जाओ, तुम अपने शयनागार की ओर प्रस्थान करो ।" "राजन् क्षमा कीजिये, मै आपकी अर्द्धांगिनी हूँ । अतः मुझे इस विषय पर आपसे कुछ कहने का अधिकार है । जरा सोचिये, ये राज महल-अटारी कितने दिन के हैं । इनमें लवलीन हो विषय-इच्छा की वृद्धि करना अपने पैरो में कुठार मारना है । ये राग-रंग क्षणिक हैं, किन्तु इस जिन प्रतिमा की नग्नमुद्रा में जो सन्देश है, वह संसार-सागर से पार कर चिरन्तन और अमर सुख देने वाला है ।" यह सुनते ही कट्टर विद्रोही राजा की हृदय-भावना परिवर्तित हो गयी । उसी समय से वह जैन धर्मानुयायी हो गया । उसने अपना सारा जीवन जैनधर्म की प्रभावना और प्रचार में लगा कर जीवन को सफल बनाया । क्या इस वीर रमणी को सोमासती, चेलना या सुभद्रा से किसी प्रकार कम महत्ता दी जा सकती है ? वास्तव में यह पतिभक्ता जैन-संस्कृति की संरक्षिका, धर्म-पालिका, कर्त्तव्यपरायणा और सत्यशीला रही है ।

कवि कन्ती—

साहित्यिक क्षेत्र को उन्नतिशील और चमत्कृत करने वाली रमणी कंती देवी भी अपना अद्वितीय स्थान रखती है । इनका काल होयसल राजवंश—विष्णुवर्द्धन के समय (ई० स० ११०६ से ११४१) बताया जाता है । द्वार समुद्र गाव के राज दरबार में आपको सम्माननीय और उच्च पद प्राप्त था । उस समय के सुविख्यात कवि पंप के साथ लोहा लेने में आपको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी । कहा जाता है कि कंती की अलौकिक प्रतिभा और बुद्धि वैलक्षण्य के कारण कवि पंप इनसे डाह करता था, तथा प्रतिक्षण छिद्रान्वेषण कर नीचा दिखाने की कोशिश करता था । वह यही सोचता था कि यह बेटी राजबेटी कैसे और क्यों बन गयी ? पंप ने अनेक कठिन-से-कठिन समस्याएँ पेश कीं, किन्तु कंती किसी प्रकार भी उससे परास्त नहीं हुई । अन्त में एक दिन कवि पंप निश्चेष्ट सा हो पृथ्वी पर गिर पड़ा । इस समय कंती का निश्छल हृदय चीख उठा । वह पंप को मृत समझ कर उसके नजदीक बैठ कर रोदन करने लगी । वह कहने लगी

"हाय, मुझे मेरी जिन्दगी से क्या लाभ है ? मेरे गुण और काव्य की प्रतिष्ठा रखने वाला ही संसार से चल बसा । पंप जैसे महान कवि से ही राज दरबार की शोभा थी, और उस सुषमा के साथ मेरा भी कुछ विकास था ।" इन शब्दों के सुनते ही पंप ने आखें खोल दीं । उसका हृदय, घृणा, पश्चाताप और कुत्सित भावनाओ के प्रति विद्रोह कर उठा । कितनी उदार, विशाल और पवित्र थी इस नारी की भावना ।

कंती की काव्य-प्रतिमा के सम्बन्ध में भी किवदन्ती प्रचलित है । कहा जाता है कि धर्मचन्द्र नामक व्यक्ति राज मन्त्री था । उसका पुत्र अध्यापक का कार्य करता था । उसने तीव्र बुद्धि वाले छात्रों के लिए एक औषधि बनाकर रखी थी, जिसका नाम था "ज्योतिष्मती तेल" । इस तेल की एक ही बूंद बुद्धि को प्रखर बनाने में पर्याप्त थी । एक बार अज्ञानवश कती देवी सम्पूर्ण तेल उठाकर पी गयी और उसकी दाह पीड़ा को सहन न कर सकने के कारण कूप में गिर गयी । औषधी के प्रभाव से मृत्यु को प्राप्त नही हुई, अपितु अद्भुत प्रतिभा से विभूषित हो बाहर आयी । इस प्रकार आश्चर्यजनक काव्य-शक्ति प्राप्त कर कती देवी जैन नारियो को नयी दिशा प्रदर्शित करने मे समर्थ हुई । जो हो, आपने अपने काव्य साहित्य से भारतीय नारी के गौरव और धर्म की रक्षा की है ।

गंगवंश की महिलाएं—

ई० पूर्व ४ थी शताब्दी से ईस्वी सन् १६ वी शताब्दी तक गंगवंश में प्रभूत वीरागनाओं के अद्भुत कार्य और चमत्कारक शक्ति की प्राप्ति होती है । ये रानियां मदिरों की व्यवस्था करती, नवीन मन्दिर और तालाबो का निर्माण करती एव अन्यान्य धर्म कार्यों के लिए दान की व्यवस्था करती थीं । इन देवियों मे कम्पिला चेली का नाम अग्रगण्य है । ये जिन भवन निर्माण केवल भक्तो द्वारा पूजा अर्चा के क्रीड़ास्थल बनाने को ही नही करती थी, अपितु जैनधर्म की उन्नति प्रसार और प्रभावना के हेतु ही निर्मित करती थीं ।

श्रवण बेलगोल के शक सं० ६२२ के शिलालेखो में चितूर के मौनी गुरु की शिष्या नागमती पेरमाल गुरु की शिष्या धण्णे कुतारे, तथा प्रभावती, अध्यापिका दमिनामती, तथा इस संघ की सौंदर्या आर्या नाम की आर्यिका एवं व्रत-शीलादि सम्पन्न शशिमति-गन्ति के समाधिमरण धारण करने का उल्लेख मिलता है । इन देवियों ने श्राविकाओ के व्रतों को नियमानुकूल पालन कर जैन नारी वर्ग के सम्मुख महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया है ।

आकिकमब्बे—

इसके अनन्तर आकिकमब्बे का नाम स्मरणीय है । श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० ४८६ (४००) से पता चलता है कि यह देवी शुभचन्द्र सिद्धान्त देव की शिष्या थी । इसने योग्यता और कुशलता से राज्य शासन का परिचालन करते हुए धर्म की गौरव पताका को फहराने के लिए एक विशाल जिन प्रतिमा की स्थापना की थी । इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह राज्य कार्य में निपुण, जिनेन्द्र शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी ।"

अतिमब्बे—

इसी शताब्दी में अतिमब्बे नामक वीर महिला का नाम आदरणीय है। कहा जाता है कि इस देवी ने अपने व्यय से पोन्नकृत शांतिपुराण की एक हजार प्रतियां और डेढ़ हजार सोने, चांदी, जवाहिरात आदि की मूर्तियां निर्मित की थीं।

पाम्बब्बे—

दसमी, ग्यारहवीं और बारहवी शताब्दी में न केवल राज घराने की वीरबालाओं ने त्याग-दान और धर्मनिष्ठ का आदर्श उपस्थित किया, बल्कि साधारण महिलाओ ने भी अपने त्याग और सेवाओं का महान परिचय दिया है। इस समय की पाम्बब्बे नामक धर्मज्ञा तीस वर्ष पक तपश्चरण करती रही थी। अन्त में पंचव्रतों का पालन करते हुए ९७१ ई० में शरीर-त्याग किया था।

शान्तल देवी—

श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ५६ (१३२) में बताया गया है कि "विष्णुबर्द्धन की महरानी शान्तल देवी जो पातिव्रत, धर्मपरायणता, और भक्ति में रूक्मिणी, सत्यभामा, सीता जैसी देवियों के समान थी नेसवतिगंध वारणावस्ति निर्माण करा कर अभिषेक के लिए एक तालाब बनवाया और उसके साथ एक गांव का दान मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव को कर दिया।" एक दूसरे शिलालेख में अन्य कई छोटे-छोटे गाव दान में दिये गये बताये जाते हे . इसने सन् ११२३ में श्रवण बेलगोल में जिनेन्द्र भगवान की विशालकाय प्रतिमा स्थापित की थी। यह प्रतिमा शांति जिनेन्द्र के नाम से सुविख्यात है। जैन महिलाओं के इतिहास में इस देवी का नाम चिरस्थायी है। अन्तिम समय में विषय भोगो से विरक्त हो कई महीनों तक अनशन और ऊनोदर व्रतो का पालन किया था। सन् ११३१ में शिवगंगे नामक स्थान में सल्लेखना धारण कर शरीर त्याग किया था।

शांतल देवी की पुत्री हरियब्बरसि, नागले की पुत्री देमतिया देवमती विशेष दानशीला और समाज सेविका रही हैं। इनके अतिरिक्त पम्प देवी, लक्ष्मीमती, सुगियब्बरसि, कनकियब्बरसि, बोयब्बे और शातियवक तथा कुमारी ब्रोसी पताका आदि भी उपेक्षणीय नही हैं। इन देवियों ने स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रचार और प्रसार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयत्न किया था तथा आत्म कल्याणार्थ समाधि मरण धारण कर जीवन को समुज्ज्वल बनाया था।

इस प्रकार दक्षिण भारत की महिलाओं ने जैनधर्म की उन्नति कर, सद्साहित्य का प्रचुरमात्रा में निर्माण कर, आदर्श और प्रौढ़ राजनीति की स्थापना कर, विश्व इतिहास में प्रसिद्धि प्राप्त की है। भले ही अतीत के गर्त में इनका जीवन धुधले रूप में हमारे सामने आता है, किन्तु अन्वेषण, मनन और चिन्तन करने पर इनका जीवन जाज्वल्यमान नक्षत्र की भांति भारत में चमत्कृत दृष्टिगत होता है।

दक्षिण भारत में जैन महिला जागरण

श्रीमती सौ० सरलादेवी [illegible], [illegible]

प्रस्तावित—

गौरव सुषमाओं से आप्लावित दक्षिण भारत का जैन महिला-समाज प्रगति का वह प्रतीक है जिसकी समस्त महिमा का अंकन काल के अमिट पृष्ठ पर होगा। प्रतिभा आदर्श समन्वित जैन नारियों का व्यक्तित्व जिन्दगी की सरल रेखाओं में बंधा, व्यवहारिकता के व्यामोह-व्यवधान से परे मानवीय गुणों की पराकाष्ठा पर चढ़ कर प्रेरणा की बाल रश्मियां विकीर्ण करता है। जैन महिलाओं ने भारतीय नारी-जागरण का प्रथम विकास-सूत्र ग्रहण किया है। इसके हृदय के अन्तराल में नारीत्व-साधना की अजस्र निष्ठा एक मांगलिक घोषणा के रूप में उतरी है जिसके प्रभाव-क्षेत्र में हमें बद्ध नारी के मोह छाया-चित्र एक समुज्वलता का आवरण लिये उपलब्ध होते हैं। प्रगति के प्रत्येक क्षेत्र में जैन नारियों का कदम समाज, धर्म, राष्ट्र की सुषुप्त चेतनाओं को एक ठोकर देता है जिस ठोकर में एक जागरण का उच्छ्वास है, और है काया-परिवर्तन की एक थिरकन।

नारी साधना का चरम उत्कर्ष जैन महिलाओं में निर्माण लेकर अवतरित हुआ। निर्माण और विध्वंस की सीमारेखा पर गाये जाने वाले गीतों में जैन महिलाओं का सप्तम स्वर रहा, जिस स्वर ने विध्वंस की आराधना की, निर्माण के पूजा गीत के बाद। यह एक लम्बी-चौड़ी कहानी है कि दक्षिणके जैन महिलाओं ने समाज के गत्यवरोध में बहने वाली किन-किन काली कुरूप कुरीतियों का ध्वंस किया; इतना सुनिश्चित है कि नारी-जागरण की लहर फूकने वाली जैन महिलाएँ ही हैं। उत्तरापथ और दक्षिणापथ दोनों में जैन महिलाओं ने समान प्रशंसा का कार्य किया है, लेकिन उत्तरापथ का जैन महिलाओं का जागरण अपना एक विशेष वातावरण खड़ा करता है जिसमें प्रगति के अधिक आदर्शोन्मुख निर्माण दीखते हैं। इन महिलाओं का दिग्दर्शन हमें एक आकांक्षा को बांध के करना होगा। वह आकांक्षा होगी दक्षिण भारत के उत्थान की जिसमें नारी की साधना का मूल्यांकन, हमें एक दृष्टिकोण लेकर करना है। हमारा दृष्टकोण है कि इन नारियों के कार्यों को जो विस्तृत और लघु दोनों रूपों में हो सकते हैं, हमने कहां तक समझा और देखा है। यह तभी संभव है जब कि भारतीय जैन महिलाओं की जीवन-झांकियां, उनके संघर्ष, उनके विचारों की परिधि को एक छोटे रूप में रक्खा जाय। किसी वस्तु का क्रमिक विकास-सूत्र ग्रहण करने के लिए उसकी पालने वाली परिस्थिति का अध्ययन अपेक्षित होता है। कहना होगा जैन महिलाओं में उनकी परिस्थिति ने जागरण का अक्षर संचरण किया और इस रूप में उनकी प्रगति समाज की

त्रस्त और कुरीतियों में फँसी नारियों की मूर्च्छना-अवस्था को देखकर ही हुई । सेवा, सौहार्द, प्रेम, सहयोग आदि भावनाओं के अंक में उनके अन्दर नारीत्व की साधना का उद्रेक हुआ । इन्होंने अपने वातावरण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप समाज, धर्म, जाति को अनुप्राणित किया । इनके स्वर में युगनारी के स्वर की गूंज उठ रही है और इनकी अमिट और स्पष्ट रेखाओं में बंधी नारी की लटकती तस्वीर है जिसने इन्हें नारीत्व विकास की अभिप्रेरणा दी ।

विकास-काल—

जैन महिलाओं का विकास काल आधुनिक सभी व्यवस्थाओ के पुनर्जागरण में ही माना जाना चाहिये । इस विकास को हम दो भागों में विभक्त कर प्रगति का मापदण्ड निर्धारित कर सकते हैं, जो हमारे विकास के लिए तुलनात्मक सामग्री का काम करेगा । यह विभाजन है दक्षिण भारत का जैन महिला जागरण और उत्तर भारत का जैन महिला जागरण । दक्षिण भारत में अनेक प्रकार की विदुषी अध्ययनशील आदर्श गृहिणी जैन महिलाएँ हुई हैं और हैं जिन्होंने नव जागरण की चेतना में अपना योगदान दिया है; इनके जीवन को जान कर ही हम इनके विकास की कहानी को कह सकते हैं । इन सभी प्रकार की महिलाओ का जीवन मुख्यत. दो प्रकार के आदर्शों को लेकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है । प्रथम प्रकार की महिलाएँ, जो आर्यिका हैं, विदुषी हैं, क्षुल्लिकाएँ हैं, जो धार्मिक प्रवृत्तियों के शोधन में अपना समय व्यतीत करती हैं, और धर्म-समाज को धर्म भावना से प्लुत करती हैं, अपना अलग समुदाय रखती हैं और दूसरी गृहस्थ जीवन में रह कर, ज्ञान का संवर्द्धन कर, समाज में पलित बुराइयों की आलोचना कर समाज और देशसेवा का मंत्र फूंकती है । दोनों प्रकार की महिलाओं का विकास अपने-अपने क्षेत्र में पूर्णतः सफल और स्तुत्य है । दोनोंने दक्षिण भारत में भारतीय संस्कृति, धर्म और समाज भावना की धारा को अक्षुण्ण रखा है ।

त्यागशील-देवियां और उनका प्रभाव—

प्रागैतिहासिक काल से दक्षिण भारत की पुण्य भूमि जैन मुनियों और साधुओं की तपोभूमि रही है । इन मुनियों ने सदा से नारी वर्ग पर भी अपना सस्कारगत प्रभाव छोड़ा, जो एक नेत्रोन्मीलक सत्य, धर्म और प्रेरणा का परिचायक रहा । दूर की कडी छोड़ें, वर्तमान समय में भी दक्षिण भारत की मिट्टी में अपनी साधना का जागरण मंत्र फूकने वाली जैन क्षुल्लिकाएँ हो गई है और वर्तमान में भी कई आर्यिका और क्षुल्लिकाएं उदात्त चरित्र समृद्ध ज्ञान की भूमिका पर युग को चिरन्तन नारी की विमल झांकियां देती हैं । इनके चरित्र की महत्ता, इनके स्वभाव की मृदुलता, इनके विचारों की प्रौढ़ता, धर्म की भावनाओं में अनन्य विश्वास धारा इनके कार्यों की प्रत्येक परिधि में परिलक्षित होती है ।

एसे तो दक्षिण भारत में जैन क्षुल्लिकाओं की एक लम्बी अनुक्रमणिका आती है । लेकिन उनमें २–३ महिलाओं का चरित्र ऐसा है, जिसने नारी वर्ग को विशेष प्रभावित किया है । इनमें पूज्य क्षुल्लिका श्री १०५ त्यागमूर्ति राजुलमती जी अम्मा, जिनमती बाईजी आदि के नाम विशेष श्रद्धास्पद और उल्लेखनीय हैं ।

अचल पाषाण खण्डों से टकरा कर अप्रवाहिनी सरिता प्रबल वेग से उछलती है । सांसारिक विघ्न-बाधाएं किसी कर्मठ जीवन में द्विगुणित उत्साह भरने वाली प्रेरणाशक्ति बन जाती हैं । ठीक इसी

रूप में वैयक्तिक जीवन-संघर्ष ने माता राजुलमती को समस्त जैन-जाति की तन्द्रा भंग करने के लिये प्रोत्साहित किया। राजुलमती अम्मा ने दक्षिण भारत की ऐतिहासिक परम्परा में अपने उदात्त चरित्र का ऐसा प्रतिपादन किया, जो बिना किसी नाम की इच्छा के समाज, धर्म और राष्ट्र की सतत सेवा करता है। वास्तव में राजुलमती अम्मा जैसे परोपकारी जीव अपने तन-मन-धन की शक्ति लगाकर समाज, जाति के उन्नयन में सहयोग प्रदान करने वाले गिने-गिनाये ही होते हैं।

दुख की घाटियों से बहने वाला जीवन कैसे सुख की कल्पना कर सकता है। राजुलमती का समस्त जीवन दुख की सत्ता में चिर आनन्द की समृद्धि का अनुभव करता ही रहा। उद्दाम पीड़ा के लोक की माँ राजुलमती का जन्म शोलापुर में वहाँ के देवचन्द रामचन्द निबंर्गोकट के यहा हुआ था। एक परोपकारी परिवार का उत्पादन परोपकार की इकाई से आवेष्टित कोई महान चरित्र ही होगा। इस परिवार के सभी सदस्य समाज धर्म की सेवा में मस्त रहने में ही अपने मानव-जीवन की सार्थकता समझते हैं। अम्माजी के चार भाई और दो बहनों ने तो समाज, धर्म सेवा को अपना अंग बना लिया था।

अम्मा की शिक्षा-दीक्षा अति अल्प थी, पर इनके धार्मिक प्रवचन महापण्डितों के समान होते थे। इनका अध्ययन काफी प्रौढ़ विवेकशील था। आपका व्यक्तित्व स्पृहणीय और महान् था। इनके पास अपने विचारो को अभिव्यंजित करने की ऐसी शास्त्रीय कला थी,. जो सीधे हृदय को स्पर्श करती थी और मस्तिष्क को हैरत में डाल देती थी। ज्ञान की गूढतम निदर्शनाओं को भी ये अपनी सरल अभिव्यक्ति के साहाय्य से चमत्कृत कर सुगम्य और सुबोध बना देती थी। इस रूप में अपने अध्ययन में अनवरत संलग्न रह कर अपनी ज्ञान-पिपासा सदैव जाग्रत् रखती थी। सारे लौकिक झंझटों के बीच भी उत्साही अम्मा आध्यात्मिक और साहित्यिक अध्ययन के द्वारा आत्मविकास करने का समय निकाल ही लेती थी।

अम्मा की शादी श्रीमत सेठ देवचंद (निजाम स्टेट) के साथ अनुभवहीन अवस्था में ही हो गई थी। पर एक साल में ही वैधव्य यातना सहनी पडी और इनका जीवन अंधकारमय हो गया। पर अम्मा ने अपने जीवन को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालने का सकल्प किया और ढली भी। समाज की तात्कालिक बिगड़ी अवस्था की विवेचना कर इन्होने अपने चार भाइयो को कल्याण, परोपकार और आत्मदर्शन का राजमार्ग दिखलाया। इन चारो भाइयों ने प्रचलित विचारधाराओं का परिज्ञान प्राप्त कर समाज की उत्कट सेवा की।

समाज सेवा के क्षेत्र में अम्मा ने समाज को जिस प्रकार की सेवा की अपेक्षा थी उसी ओर कदम उठाया। इन्होंने देखा समाज के आँचल पर विधवाओ के आँसू के दाग नही मिटते। उनके विदारक निनाद की कोई बिसात नही, इन्ही की सेवा सच्ची सेवा है। उन्होने विधवाओ को उचित शिक्षा दे उनको समाज सेवा में भिड़ाने की ठानी। इस कार्य के लिये विधवाओं की सेवा का स्वरूप खड़ा कर शोलापुर में श्राविकाश्रम खोला। इस संस्था को आदर्श प्रणाली में ढालने के लिये भारत के अनेक आश्रमों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया। महर्षि करवे आदि से समाज सेवा का क्षेत्र ग्रहण किया। संस्था के खुलते ही अनेक महानुभावों ने अम्मा के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व की छाया में अपनी थैलियाँ खोल दी। आज भी आश्रम के पच्चीस वर्ष का इतिहास अम्मा के अमर कृतित्व की झलक दिखला रहा है। कहना न होगा कि इस आश्रम में सधवाओं की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध है। संस्था को अनेक कठिनाइयाँ आती रहती हैं, पर वह लोकमान्य है।

सेवा के इस व्रत के साथ अम्मा ने जिन-दीक्षा ले ली। इससे आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया। इन्होंने संस्था को चलाने में सुमतिबाई शाह जैसी सुयोग्य एवं आदर्श नारी को भी पैदा किया। आजकल इन्ही के निरीक्षण में आश्रम में धर्म, न्याय, साहित्य, व्याकरण, संस्कृत आदि का शिक्षण होता आ रहा है। ये जैन महाराष्ट्र महिला की सपादिका भी हैं।

अम्मा सचमुच नारीत्व की साकार प्रतिमा थीं—अत्यन्त उदात्त और मिलनसार। प्रसन्न मुद्रा में आवेष्टित अम्मा मधुर वाणी जब उड़ेलने लगती थीं तो लगता था—कोई शाश्वत धर्म बोल रहा हो। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया हुआ अम्मा का व्यक्तित्व पूज्य था।

अम्मा ने जिन-दीक्षा लेकर मुनिसंघ के साथ समस्त तीर्थ-स्थानों में बिहार किया। वे आर्यिका हो गईं। आपने भारत की अनेक संस्थाओं का उद्‌घाटन कार्य किया है। आपके प्रभाव में प्रो० करवे, चिण्कूण, काशीबाई आदि आयीं। बाद में इन्होंने फिर बम्बई में मगन बाई, ललिता बाई, कंकूबाई के सहयोग से एक आश्रम खोला। इसके बाद आपने भारतवर्षीय महिला परिषद् नाम की संस्था स्थापित की, जो आज तक चल रही है। जैन महिलादर्श नामक मासिक पत्र निकाला और फण्ड जमा कर इसे चिरस्थायी बना दिया। फिर सोनापुर में एक चतुरबाई श्राविका विद्यालय स्थापित कर धार्मिक विषय का अध्ययन स्वयं किया। इतनी व्यापक संस्था का प्रसार कर वे स्वर्गस्थ हुईं।

इस उदात्त चरित्र के बाद क्षुल्लिका श्री १०५ जिनमती बाई जी का नाम आता है। जिनमती बाई (कंकूबाई) को प्रगति का जैसे संस्कार मिला। पिता ने एक धर्मपरायण होकर इनकी आत्मा में भी धर्म की कोमल व्यञ्जना दी। इनकी धार्मिक वृत्तियाँ बचपन से ही विकसित होती गईं। इनके पिता एक प्रामाणिक सज्जन के रूप में कट्टर सुधारक और ज्ञानमार्गी थे। पिता ने कंकूबाई की जीवनधारा को अपने तीन भाइयों के जीवन के साथ एक ओर मोड़ दिया। धर्मग्रन्थों का अध्ययन सरलता से कर लिया गया। आप बचपन से ही अपने स्वभाव के अनुसार सबके मन को आकर्षित करने लगी। इन्होंने अपने पिता के साथ भारतवर्ष के कई स्थानों में भ्रमण किया, जिससे इन्हें सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक अनुभव प्राप्त हुए।

धर्म की ओर आपकी अभिरुचि सदैव रही। विवाह के बन्धन में बंध जाने पर जैसे इनकी मनोवांछाओं को धक्का लगा। इन्होंने विपरीतमति ससुराल वालों से संघर्ष लिया और अपनी शिक्षा को चालू रखा। इन्होंने घर की सभी व्यक्तियों सास, ननद को भी शिक्षा के सम्मोहन के प्रति आकर्षित किया। इनकी ससुराल के कितने ही व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी, पर ये घर को सभालते हुए सेवाकार्य करती रहीं। एक आदर्श गृहिणी का पार्ट अदा किया। पति भी चल बसे। फिर इन्होंने देखा—वैधव्य में स्त्री का साथी एक ही होता है और वह है धर्माचरण।

धर्म की नवीन अनुभूति ने इनके जीवन को लोकोपकारी बनाया। इन्होंने मगन बाई जी के साथ जा जाकर कई स्थानों में व्याख्यान दे अपनी विकासोन्मुख प्रतिभा का परिचय दिया। इन्होंने अनाथ, निःसंतान, विधवाओं के लिये एक उपयुक्त संस्था खोली। व्याख्यान, लेख और शिक्षण केन्द्रों द्वारा समाज में नव जागृति पैदा की—अज्ञान अंधकार को दूर भगाया। आत्मज्ञान सुधारस का पान करते

के लिए जिन-दीक्षा ले ली। इसी तरह नारी उपयोगी कई वाचनालयों की स्थापना की। अन्त में समाज की इतनी बड़ी सेविका और नवचेतना की पोषिका पक्षाघात की बीमारी से चल बसीं।

इसी तरह दक्षिण भारत में बहुत-सी आर्यिका हुई हैं और हैं। आज भी आर्यिकाओं का एक दल सब जगह घूम रहा है। शान्तिसागर महाराज की छत्रच्छाया में कितनी जैन ललनाओं ने अपने नैसर्गिक सुखों का त्याग कर आर्यिका का जीवन बिताया है। आर्यिका १०५ चन्द्रमती बाई जी, क्षुल्लिका १०५ पार्श्वमती जी; विदुषी, क्षुल्लिका विमलमती जी; क्षुल्लिका अग्निमती बाई जी, १०५ श्री स्वर्गीय श्री शांतिमती बाई जी, क्षुल्लिका श्री १०५ ज्ञानमती बाई जी, श्री क्षुल्लिका १०५ कुन्थमती जी, श्री क्षुल्लिका पूज्य श्री १०५ श्री सुमतिमती जी आदि क्षुल्लिकाएँ इसके ज्वलत प्रमाण हैं। जिन्होंने धर्ममार्ग की ज्ञान-गंगा बहा कर समाज और राष्ट्र का अथक कल्याण किया है तथा भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में अपने व्यक्तित्व की आँच दी है।

गृहस्थ-देवियां और उनके कार्य—

त्यागी महिलाओं के साथ गृहस्थ जैन महिलाओं ने भी पठन-पाठन के द्वारा नवजागरण की धारा को आगे बढ़ाया है। समाज की सेवा इस प्रकार की महिलाओं ने जिस सच्चे हृदय से की है वह भारत के भविष्य में अपना अतुल स्थान रखती है।

इन महिलाओं का ध्येय रहा है कि ये शिक्षित सुसभ्य, सुसंस्कृत और वर्गहीन समाज की स्थापना करे। इन देवियो ने सभाओं द्वारा जैन महिलाओं को संघटित किया है। दक्षिण भारत के कोने-कोने से अज्ञान, अशिक्षा और कुरीतियो को भगाया है। दक्षिण के महिला समाज का प्राचीन इतिहास जितना उज्ज्वल और अनुकरणीय रहा है, वर्तमान देवियाँ भी अपने पूर्वजो के पदचिह्नों का अनुसरण कर रही है। इस समाज का सदा यही ध्येय रहा है कि समाज में योग्य माता और योग्य गृहिणियाँ कैसे उत्पन्न की जायें। जब तक समाज का अर्धवर्ग शिक्षित नही होगा, अपने कर्त्तव्य को नही पहचानेगा, तब तक समाज में जागृति नही आ सकती। अतः इन महिलाओं ने सदैव सांस्कृतिक महत्ता पर ध्यान दिया है। संस्कृति की धवल गाथा ही समाज के नवनिर्माण में सहायक हो सकती है। समाज में सांस्कृतिक जागरण की नवीन लहर तब तक उद्वेलित नहीं हो सकती जब तक हम स्वय अपनी संस्कृति को उसके शुद्धतम रूप में पहचानने योग्य नही बन जातीं। सदियों की आत्मविस्मृति ने हमारे सांस्कृतिक व्यवहारों की उपादेयता पर इतना पर्दा डाल दिया है कि हम उसके महत्त्व को समझ ही नहीं पाते। समाज में प्रचलित कुरीतियो और अनुष्ठानों की विकृति ने उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को धूमिल कर दिया है। संस्कृति की इस महत्ता को समझाने का सर्वोच्च माध्यम शिक्षा के द्वारा नारियो में ज्ञान का विकास ही हो सकता है। अतः इन सभी महिलाओं ने नारी शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया और नारी-शिक्षा, नारी-धर्म, नारी-सेवा की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर नारी जागरण की शंखध्वनि फूंक समाज को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है। दक्षिण भारत का जैन महिला समाज आज हठात् हमारे सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करता है, जिस आदर्श का रूप भारत के महिला जागरण को गौरवान्वित बना सकता है। नारी साधनाओं का जो रूप दक्षिण की गृहस्थ महिलाओं ने रखा वह समाज राष्ट्र की प्रतिक्रिया के रूप में काफी सफल हुआ है। दक्षिण ने जैन नारियों का यह विकासकर उत्तर के महिला जागरण को प्रोत्साहन दिया है। शिक्षा, शिल्प कला का प्रचार इन्होंने जैन समाज में घर-घर कर दिया है। इन्होंने

नारियों के अन्दर भोगवादी उच्छृंखल बाह्याडम्बर युक्त स्वार्थमयी प्रवृत्तियों का भरसक परिष्कार किया है।

इस प्रकार की नारियों की शृंखला में उषादेवी पार्श्वनाथ मगदूम, श्री श्यामबाई, अनंतराव भोसले, सौ० सुलोचना बाई, आण्णा साहब मोकरे, श्री मंत, पुष्पावली बाई, भीमराव देश पाण्डे, अण्णी गेरी, सौ० चंचलाबाई राव साहब शाहा, बारा मती, श्रीसुमति बाई जी, विद्युल्लता शाह, आदि महिलाएँ हैं। इन सभी महिलाओं के चरित्र अपनी महत्ता के ही अनरूप हैं।

(१) **सौ० उषा देवी**—ये जैन महिलाओं की उस श्रेणी में आती हैं जो अध्ययनशील रही हैं और जिन्होंने अध्ययन के विभिन्न रूपों में समाज और धर्म को आंका है। इनका जन्म १९१५ में हुआ जब कि अशिक्षा की छाया समाज पर परिव्याप्त थी। प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर की मराठी कन्या पाठशाला से आरम्भ होकर राजाराम कालेज की बी० ए० (आनर्स) तक की परीक्षाओं में हुई। इस अवधि में आपकी प्रतिभा एक तीक्ष्ण अनुभूति की विहारिका रही। १९३७ ई० तक दक्षिण भारत में बी० ए० (आनर्स) करने वाली आप प्रथम जैन महिला रत्न हैं।

बाद में विवाह सूत्र में बंधने के बाद आपने सुयोग्य पति प्राप्त कर एम० ए० भी किया। आपने विभिन्न पत्रों में समाज की असन्तोषप्रद अवस्था की आलोचना की। आपकी आलोचनाएँ समाज के निर्माण में समाज का नग्न मांसल चित्रण उपस्थित करती हैं। नारी का परिस्थिति चित्रण आप अपनी दृष्टि में ज्योति बसाकर करती आ रही हैं। आजकल आप अध्यापनकार्य कर नारी शिक्षा की औजस्विता का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। आपकी समग्र साधना स्तुत्य है।

(२) **श्री श्यामाबाई अंमत**—आप भी कोल्हापुर निवासिनी हैं। आपका जीवन सतत् साधना का जीवन रहा है। आप एक ऐसी अध्ययनशीला हैं, जिसने समाज की सेवा के विभिन्न स्वरूपों को समझने के लिये अध्ययन किया है। लगता है आपने अध्ययन को अपने हृदय में गूथ लिया है। आप अध्ययन के विहाग की भावलहरियों में बहा करती हैं। आपने कतिपय वर्षों तक मुख्याध्यापिका का काम किया सोलापुर श्राविकाश्रम में। इसी सिलसिले में आपने शाहपुरी में एक जैन महिला विद्यालय की स्थापना की और बराबर उसे अपनी सहायता भेजती रही। आपने दो साल तक महाराष्ट्र जैन महिला परिषद् की मन्त्रिणी का कार्यभार बड़ी लगन और योग्यता से संभाला। १९२७ में करवीर भगिनी मंडल नामक संस्था के नेतृत्व का भार आपने ही उठाया। आप अखिल भारतीय महिला परिषद् की अध्यक्षा होकर कराची अधिवेशन में १९३४ में गयी थी। आजकल आप सरकारी कन्या कालेज में हेडमिस्ट्रेस हैं। सामयिक सामाजिक टिप्पणियाँ आप लिखती हैं। समाज का सुधार विविध रूपों में कर रही हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी महिलाओं ने काफी अध्ययन कर समाज को नवजागरण में समुन्नत किया। दक्षिण भारत का जैन महिला जागरण आज भारत के महिला जागरण में निस्सन्देह ऊँचा है।

वर्तमान स्थिति—

दक्षिण के जैन महिला समाज को सबसे प्रधान कार्य यह करना है कि वह एक ऐसी सभा की स्थापना करे, जिसमें महिलाएं संघटित होकर अपनी विभिन्न समस्याओं का समाधान कर सकें। महिलोपयोगी साहित्य का निर्माण किया जाय तथा एक ऐसी शिक्षण संस्था की स्थापना की जाय, जिसमें जैनमहिलाओं के लिए धार्मिक और लौकिक शिक्षण के प्रबन्ध के साथ सन्तान-पालन एवं गृहस्थी के संचालन की शिक्षा भी दी जाय। आशा है दक्षिण का महिला समाज संघटित होने का प्रयत्न करेगी।

उत्तरा-पथ की जाग्रत् जैन महिलाएँ

श्रीमती सौ० सुशीला देवी जैन, सरस्वती सदन, आरा

जागरण की धार-पर—

हिमालय का आगन—एक दिन, कुछ धुआ सा निकलता दीख पड़ा। किसी ने कहा परेशान धरती की धूल है। किसी ने कहा ज्वालामुखी धधक रहा है और किसी के मुह से टपका—धरती अठखेलियाँ करती हुई, नशे में झूमती हुई आसमान के मेघ-पुजित चरणों पर अपने हृदय का पश्चाताप भरा पापपुज सा श्यामल, गुजलटो की करवटों में नाचता सर्प सा धुआ बिखेर रही है। गंगा के पानी में आग लग गयी और किसी ने इशारा भर किया—जवानी जल रही है। हिमालय हिला —जुल्म के खूनी शोलों में जलता देश उसकी आत्मा में विकलता के साथ करवटें बदल रहा था। एक क्रन्दन उठा—जनता का ताण्डव रोष अपनी उत्तेजना में प्रलय के भैरव गीत गा रहा था।........ और इन सबके ऊपर माँ-भारती विद्रोह की भट्टी में कोयले की तरह जलते हुए हीन सी लौ बखेर रही थी। इस देश के लाखों लोगों की रूह में आजादी की प्यासने आग लगा दी थी।

और उधर........................?

इस नव जाग्रत् विद्रोही की आँच में किसी का सुहाग जल रहा था। नारी के आँसू........... हौले-हौले करोडो मन बोझिल पलको से टपक रहे थे.....................।

यह जमाना था चेतना का, हिलोर का। सभी व्यवस्थाओं ने करवट ली। देश, समाज की रूढ़िवादी प्रवृत्ति के खोखलापन को प्रकाश की रेखाओं में बाँधा गया। आभ्यंतरिक और बाह्य दोनों परिस्थितियो को विचारणीय मापदण्ड मिला।

देश का नारी-वर्ग भी इस महान विप्लव, इस क्रान्ति की सेज पर करवट बदलती भारत की आजादी के साथ अपने हृदय का अनुराग श्रद्धा सहयोग चिपकाये रहा। समता, स्वतंत्रता और शांति की जो अमर ज्योति जगी, उसने ज्योति से 'ज्योति जले' के प्राकृतिक नियमानुसार नारी के हृदय को आलोकित किया और शोषण, प्रताड़न, निर्दलन, अशिक्षा, अज्ञानता के तमस्तोम में थिरकती नारी की विकास के क्षीण प्रकाश की रेखा मिली। इस प्रकाश की एक चिनगारी ने नारियों की वास्तविक अवस्था को घनीभूत पीड़ा से भर दिया जिस पीड़ा का विकसित रूप महिला समाज में अपने अन्दर भी समाज-क्रान्ति की भावना को भर देश की क्रान्ति में सक्रिय भाग लेना ही था। नारी की दशा में आमूल परिवर्तन हुआ और उसने घूंघट की ओट से निकल समान विद्रोह की आँच में अपने

अधिकारों और कर्त्तव्यों की मांग कर आग-पानी संभाला । विश्वरूपिणी, तारिणी भारतीय क्रान्ति की अरुणिमा में सहस्रों वर्ष से दलित, शोषित शासित और प्रताड़ित जनदेवी 'नारी' उद्‌बुद्ध हो उठी । युग-युग की पददलित नारी की मृदु व्रीड़ा मुस्कुरा उठी ।

देश का जैन महिला समाज भी इससे अछूता नही रहा । समाज की बुनियादी मान्यताओं की तह में नारी की कारुणिक छाया उनके भी सात्त्विक हृदय की इकाइयों में तैरने लगी । इनके परिस्थिति के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति के स्वर में गंभीर अभाव को आशा सबाट की धारणा का विप्लव एक आध्यात्मिक सत्य की पृष्ठभूमि पर उतरा । धर्म, सेवा, सद्‌भावना आदि मानवोचित गुणों से राग रंजित जैन महिलाओं का हृदय भी इस नवजागरण की लहर पर अपनी कल्पना का समाज, राष्ट्र, धर्म, संजोकर ले चला । इनके भी प्रगति की चाल में मूक नारी के शाश्वत मुख-स्वर वाचाल हो उठे, पथभ्रष्ट नारी के लिए एक सक्रिय इंगितमय उद्‌बोधन गूंज उठा । जैन जाग्रत महिलाओं का यह रूप सत्य-अहिंसा के प्रभात में करुणा की लाल-लाल संध्या के प्रसार में नारी-विकास के शत्रुओं के सम्मुख क्षमता की कोमल कठिन ढाल भी था और नारी जीवन को सारे-दुर्गुणों का हनन कर सत्य, शिवं और सुन्दर आवेष्ठित चरित्र से आलोड़ित करने की चिरअभिलाषित आकांक्षा भी ।

जैन नारी समाज में जागरण की वह धारा जो बही तो अब तक बहती आयी और कितने नारी आदर्शों की प्रतिमूर्त्ति जाग्रत महिलाएँ उत्तर भारत में समाज राष्ट्र की उद्‌बुद्ध चेतना में आंच देती गईं । इन समस्त जाग्रत महिलाओं के चरण-चिन्हों ने शाश्वत नारी-समाज के सोये इतिहास को जगाया और नये निर्माण की परिणति प्रदान की । विविध रूपों में सामाजिक-कार्यों की प्रतिस्थापना कर उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा और कार्यशीलता का परिचय दिया । नारी के कलाम के रूप में अशिक्षा के भूत को हटाना इनकी साधना का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु रहा । उत्तर भारत में सर्वप्रथम शिक्षा की धारा नारी समाज में बहानेवाली जैन जाग्रत महिलाएँ ही हैं अगर ऐसा कहें तो कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं । नारी-विरूपताओं को सुधारने में इनकी कला अदम्य और उत्साहवर्द्धक रही और इन्होंने नारी को सर्वांगीण रूप में अनुभव के अंक में समझा और देखा ।

स्वर बिम्बित : उत्तरापथ की महिलाएँ—

जैन जाग्रत महिलाओं ने उत्तरा-पथ की कार्य प्रतिष्ठा की भूमिका में विभिन्न क्षेत्र ग्रहण किये हैं । सभी महिलाओं ने अपने-अपने क्षेत्र को प्रौढ़ मान्यता प्रदान करने में नारी-विकास के किसी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा है । किसीने नारी समाज में शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना और संचालन कर शिक्षा का प्रचार किया है, किसीने नारी के अन्दर की बुराइयों की अकाट्य आलोचनाओं को रख कर समाज को सुधार की तरफ आकर्षित किया है, किसीने लेख, व्याख्यान आदि के द्वारा नारी-वर्ग के नव निर्माण की सूझ दी है, किसीने साहित्य और कला को अपनी अनुपम भावनाओं की कड़ियों से सम्बद्ध कर अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचय दे साहित्य की श्रीवृद्धि की है, तो किसी ने गांव-गांव, शहर-शहर, डगर-डगर, घूम कर नारी की नव-चेतना को जगाया है । इसी तरह के कार्यों की पूर्णता जो नारी-विकास को बांधती है उत्तर भारत में जैन जाग्रत महिलाओं द्वारा सम्पन्न हुई है जो भारत के नारी-जागरण के इतिहास में चिरस्मरणीय पृष्ठ हैं ।

महामना भूरिबाई—

जाग्रत महिलाओं की सन्त परम्परा में भूरि बाई जी का नाम सर्वप्रथम आदर के साथ आता है। स्वभाव की मृदुलता के साथ आत्मा की विशालता का कितना विशद समन्वय हो सकता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण माता भूरिबाई के प्रकाण्ड व्यक्तित्व की रेखाओं में मिलता था। गूढ़-से-गूढ़ धार्मिक प्रवचनो को समझाने में ये बड़े-बड़े धर्म-ग्रंथों के ज्ञाताओं को पछाड़ देती थीं। इन्दौर की पवित्र-भूमि से इन्होंने उत्तर भारत की सन्त-भावना का प्रतिनिधित्व किया। धर्म के आदेशों के अनुसार अपने जीवन का यापन कर आत्मा की प्रबलता को दृढ़ बनाना इनकी साधना का चरम उत्कर्ष था। इनका धर्म ग्रंथों का अध्ययन काफी पुष्ट और प्रखर था। धर्म को मथ कर इन्होने ऐसा मक्खन निकाला था जो युग-मानव की धर्म-प्यास को अलौकिक तन्मयता से सीधा जोड़ दे। जागरूक महिला के रूप में उन्होंने उत्तर भारत के सभी तीर्थों का पर्यटन कर धर्म के उपदेशों का प्रचार किया। इनकी धर्म-सभा में सैकड़ो नारियां आतीं और धर्म का श्रवण कर आत्मा के कलुष को धोती थी। नारी-हृदय में जैन-धर्म की सुगम व्याख्या उड़ेलकर उनके अन्दर धर्म के प्रति झुकाव उत्पन्न करने का प्रथम श्रेय माता भूरिबाई को मिलता है। इन्होंने जगह-जगह जा जैन कन्याशालाओं में धर्म की शिक्षा को भी पाठ्यक्रम मे रखवाया। धर्म के अवतार के रूप में वे देवी थी।

इनका दैनिक जीवन अत्यन्त सरल और व्यावहारिक था। ये सदा स्वाध्याय में लवलीन रहती, धर्म का आचरण करती। अपने मिलने-जुलने वालों से यह सदा प्रकाशवान व्यक्तित्व की साया में अपने हृदय के उद्‌गारोको निकाल कर रख देती। कितनी जैन नारियों ने इनसे धर्म-लाभ कर अपने जीवन का सुधार किया। समाज को इन्होंने सुधार के मार्ग में धर्म का धागा दिया जो भौतिक सुखों की शुष्कता को हीन बता पारलौकिक सुख की कामना को बांधता है। अपने धर्म के अतल स्पर्श ज्ञान की भूमिका पर उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया। माता भूरिबाई नही रही पर जैन समाज में जो उन्होंने अपने कार्यों की प्रणाली छोड़ी वह चिरस्थायी है। आपने धर्म ग्रंथो का जो अगाध ज्ञान छोड़ा वह जैन धर्म की अक्षय थाती है। जीवन का सच्चा आनन्द इन्हीं को प्राप्त था क्योंकि इनके चेहरे पर उसकी झलक साफ दृष्टिगोचर होती थी। जागरण के क्षेत्र में वे धर्म और समाज की प्रथम जागरूक महिला थीं जिसने नारी समाज की अशिक्षा, अज्ञानता, दुर्बलता से उठकर अपने उदात्त व्यक्तित्व का संवर्द्धन एवं परिवर्द्धन ओज और तन्मयता से किया। लोक कल्याण की भावना को दृष्टि से ये चिर-प्राणवन्त है।

प्रकाशिका चिरोंजाजी—

उत्तर भारत में अपने पौरुष पर नारी की गौरवान्वित महत्ता को उठानेवाली दूसरी महिला श्री विदुषी चिरोंजा बाई जी एक ऐसी जाग्रत महिला हैं जिन्होंने पूज्य श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैसी उज्ज्वल, स्निग्ध, मनोरम, पुण्य काया को पल्लवित, पुष्पित और फलद बनाया। नारी पुरुष की प्रतिबिंबित है और इस सत्य का साक्षात् निरूपण स्वर्गीय चिरोंजाबाई में मिलता है। बाई जी

में किसी भी व्यक्ति के अन्तस् की परीक्षा करने की अद्‌भुत क्षमता थी । उन्होंने देखा कि श्री गणेश प्रसाद में लोक-कल्याण की लोकोत्तर भावना है और तदनुकूल क्षमता भी । अतः उनके पढ़ाने लिखाने में, उनको धर्म-ज्ञान की शिक्षा उपलब्ध कराने में अपनी लाखों की सम्पत्ति व्यय कर दी और वह भी निस्वार्थ कामना से ।

इनका जीवन आरम्भ से धार्मिक रहा । समाज की सेवा धर्म की मान्यताओं के द्वारा ही सफल होती है। इनके पति १८ साल की उम्र में सम्मेद शिखर जी की यात्रा के समय में ही चल बसे । इन्होंने अपने निस्सार जीवन को सतत साधना की सार उपलब्धि में व्यय कर दिया । कर्मोदय से प्राप्त इस कष्ट को इन्होंने समता भाव से सह लिया । व्रत ले लिया ब्रह्मचर्य का, आजन्म एक बार आहार का, स्वाध्याय का, धर्म कार्य में खर्च करने का । इन्होंने सिमरा के किसानों के ऊपर इनके अपने पति के कर्जों को माफ कर किसानों को नव चेतना का आलोक दिया। धार्मिक और शिक्षण संस्थाओं को खुले हाथ दान दे आपने समाज की अथक सेवा की । सागर में श्री गणेश दि० जैन विद्यालय स्थापित करने में आपका स्तुत्य योगदान था । आपकी प्रेरणा से उत्तर भारत में बहुत सी महिला-शिक्षा के केन्द्र खुले जिससे आपने अपना तादात्म्य सम्बन्ध रक्खा ।

धर्म कार्यों में भी आपने उत्तेजना दी । सिमरा के मन्दिर में संगमर्मर की वेदी लगवाई और उसकी प्रतिष्ठा बड़े समारोह के साथ की । सम्मेद शिखर जी की यात्रा आपने अनेकों बार की । समस्त जीवन को धार्मिक अनुष्ठानों में व्यतीत किया। महिलाओं को सदा शान्तिमय उपदेश देती थी । दया करना, इनके हृदय का सर्वश्रेष्ठ धर्म था । किसानों की भलाई के लिए आपने जो रुपये खर्च किये वह किसानों के इतिहास में अमर रहेगा । सागर के स्त्री-समाज को जागृति प्रदान कर आपने आस-पास के भी लोगों को सुन्दर प्रेरणा दी । आपके चरित्र के प्रभाव में जो आया आपसे चिपक गया। आपने सच्चे अर्थ में विदुषी की मर्यादा को अक्षुण्ण रक्खा । मरते समय तक श्री वर्णी जी को उपदेश दिया और पार्श्व जिनेन्द्र के चरण कमल की साक्षी में व्रत प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये । अपने पूर्व जीवन को आलोचना भी की।

बाई जी अपने अगाध तत्त्वज्ञान, कोमल प्रकृति और गंभीर हृदय की बदौलत नारी-समाज का रत्न थी । नारी समाज को आपकी प्रेरणाओं का जो डोज मिला वह सराहनीय है । किसानों के साथ आपके हृदय का रागात्मक सम्बन्ध था और एक सीमा तक किसानों की बुरी हालत का परिष्कार किया । आपकी मृत्यु, बड़ी शांति से हुई । आज भी इनके कीर्ति स्तम्भ के रूप में श्री 'चिरोंजा बाई जैन महिला विद्यालय' और 'चिरोंजा बाई स्वाध्याय मन्दिर' यह दो संस्थाएँ सागर में विद्यमान हैं । माता जी जैन समाज में अमर हैं ।

जाग्रत-रूपा माँ-चन्दा—

जाग्रत-सुषमा जो सबसे अधिक घनीभूत हुई जिस जैन नारी में वह हैं—माँ-श्री चन्दाबाई जी। आपका उज्ज्वल, शांत, स्निग्ध, सरल, उदात्त, प्रभापूर्ण, ज्योतिपूर्ण, देदीप्यमान, जाज्वल्यमान, चिरप्रभेद्य,

चिर अच्छेद्य, चिर अनन्त, चिर महान, युग-विभूति, युग-संस्थापक, युग वाणी का चिद्विलास व्यक्तित्व सुखकर है। माँ श्री, उत्तर भारत की प्रथम जाग्रत महिला है जिनके करों में शंख और वीणा दोनों शोभित हैं। उन्होंने मुक्ति पथ पर शंख का प्रलयंकर हुंकार फूंका है तो वीणा की सुमधुर रागिनी में नारी वेदना के स्वर झंकृत किये हैं। इनके व्यक्तित्व का प्रत्येक रूप हृदय के तार को छूता है, छेड़ता है और अपने चकाचौंध में विलीन कर लेता है। नारीत्व साधना का विकास अपने बूते पर करनेवाली सचमुच ये चिर-पूजिता माँ हैं।

नारी शिक्षा के लिए आपका कार्य अत्यन्त बड़ा है। उत्तर भारत में शिक्षा का प्रचार करने वाली आप प्रथम महिला कही जाती है। नारी के जीवन के गत्यवरोध अशिक्षा को लक्ष्य में रख इन्होंने एक अमर सास्कृतिक संस्था जैन नारी-शिक्षा के केन्द्र के रूप में आरा में खोली। यह सस्था जैन बाला विश्राम के नाम से ३२ वर्षों से चलती आ रही आज भी नारी-शिक्षा का अनुपम एव अतिप्रिय केन्द्र है। इससे अबतक सहस्रों जैन, अजैन, विधवा नारियां शिक्षा प्राप्त कर भारत के सास्कृतिक ओज को पुनर्जीवित कर रही है। यह संस्था उत्तर भारत में जैन महिला जागरण स्तम्भ का काम करती है। मां श्री ने जैन समाज में अदम्य जागरण का मंत्र फूंका है। इनकी प्रेरणा से कई नारी स्कूल खुले हैं। नारी को सुन्दर, सौम्य, सुसंस्कृत, सुसभ्य, सुगृहिणी, सुशिक्षित ढाचे में ढालना इनकी कल्पना की नारी है। नारी को यह प्राचीन रूप देने का उन्होंने अलख जगाया है और यथाशक्ति प्रयत्न करती हैं।

अपने बहुमुखी जागृति का रूप ये इस रूप में रखती है कि ये एक कुशल सुलेखिका, पत्रकार, कवयित्री और समाज सुधारिका हैं। १९२१ से ही 'जैन महिलादर्श' का सम्पादन युग को जगाते करती आ रही हैं। कई १०-१२ पुस्तकें लिख कर नारी जीवन को समुन्नत बनाने की प्रेरणा दी है। अखिल भारतीय महिला परिषद् की कई बार सभापति रह चुकी है और उसकी संस्थापिका भी हैं।

माँ-श्री भारत की महिमावान संत है। १२ वर्ष की अवस्था से ही वैधव्य के अंक में पलती आ रही इस अद्भुत नारी ने अपने धर्म, अध्ययन, नारीत्व-साधना, ब्रह्मचर्य, संयम, तप और ममता की साया में भारत की युग-नारी को कहां तक प्रभावित किया है नहीं कहा जा सकता। उत्तर भारत में ये अपनी जागृति का रेकार्ड स्थापित करती है। ६३ वर्ष की उम्र में भी चिरज्वलित साधना है। एक ही साथ निर्माण के इतने रूपों को रखकर नारी जीवन को तरगित कर देना माँ-श्री जैसी प्रतिमा का ही काम है।

पूजिता पतासी बाई—

सन्त परम्परा की चतुर्थ जाग्रत महिला श्री पूज्य पतासी बाई जी हैं। इनकी साधना की एक-रूपता का दिग्दर्शन गया आकर ही कोई कर सकता है। अपने व्यक्तित्व को इतना ऊपर उठा कर समाज को अपने अनुभवों का 'डोज' देना पतासीबाई जैसी महिला का ही काम है। गया, हजारी-

बाग, रांची, पलामू आदि दक्षिणी बिहार के जिलों में जो नारी-समाज में जागृति हुई है वह सब पूज्य पतासीबाई की अदम्य साहसिकता और उत्कट समाज सेवा से । गया में इनके द्वारा स्थापित जैन महिला महाविद्यालय आज अपनी गौरव-गाथा उच्च स्वर से सुना रहा है । प्राचीन भारतीय संस्कृत्यनुमोदित नारी जीवन का रूप इस संस्था की सभी नारियां उपस्थित करती हैं । गया के नारी समाज में शिक्षा, समाज सुधार का प्रतिनिधित्व कर पतासीबाई ने दिखला दिया कि नारी में कितनी शक्ति है । नारियों के अन्दर धर्म की रुचि उत्पन्न करना, साहित्य का अनुराग जगाना, संस्कृति की महत्ता दर्शाना पतासीबाई के जीवन की चरम साधना है । इन्ही को देखकर आज गया में कितनी नारियों ने समाज-सुधार का सूत्र पकड़ा है । नारियों में व्यावहारिक और आध्यात्मिक ढंग से शिक्षा प्रदान कर इन्होंने शिक्षा की नवीन प्रणाली का उद्घाटन किया है ।

पतासीबाई जो धर्म-कार्य में रत रहती हैं जो अपने समय का सदुपयोग करती है जो उपदेश करती हैं, जो सादा जीवन और उच्च विचार रखने की सलाह देती हैं, जो नारी समाज को सुसंगठित करती हैं वह सब इनके स्वर से युग की प्रच्छन्न वाणी है । नारी के युग-स्वर को उन्होंने पुष्ट किया है । धार्मिक कार्यों के अनुशीलन और परिशीलन में रत रहती हैं । आपके नाम की उज्ज्वलता गया और आस-पास के जिलों में सर्वत्र लोगों की जबान पर वर्तमान है । जगह जगह जा-जाकर आपने अपने व्याख्यानों और प्रचारों के द्वारा शिक्षा और धर्म का प्रचार किया है ।

इसी तरह जाग्रत महिलाओं की संत-परम्परा में बहुत सी महिलाएं हैं जिन्होंने उत्तर भारत में अपनी जागृति का रेकार्ड स्थापित किया है । जाग्रत महिलाओं का यह रूप धर्म, समाज, शिक्षा और राष्ट्रीय-जीवन को समान प्रेरणा देता है । उत्तर-भारत इन महिलाओं से धनी है । यूरोपीय देश के राग-रग में डूबी जाग्रत महिलाओं को ये अपनी सत-प्रवृत्ति के कारण लज्जित करती हैं ।

अब दूसरे प्रकार की जाग्रत महिलाएं आती हैं । इन महिलाओं का चारित्रिक विकास भारत की आजादी और शोषण के संपर्क में हुआ है । उन महिलाओं ने समाज को नया प्रकाश और और नयी प्रेरणा से विभूषित किया है ।

कर्मठ व्रजबाला देवीजी—

मां-श्री का परिवार ही जैसे जागरण का विजयी मंत्र है । इनकी अपनी सगी बहन महिला-भूषण व्रजबाला देवीजी भी जागृति की वही शिरा हैं जिसने मां-श्री को जगाया है । दोनों बहनें आदर्शस्वरूप जैन समाज की अपूर्व निधि हैं ।

व्रजबाला देवी मां-श्री की पूरक हैं । मां-श्री की पूर्णता का उद्रेक हुआ है तो श्री व्रजबाला देवी में ।

आपकी साधना भी स्तुत्य है इस रूप में कि आपके द्वारा ठोस पद्धति में नारियों को अपूर्व साहस और चेतना मिली है । आपके समान कार्यकुशलता, प्रवीणता, कार्य प्रणाली को सम्पन्न करने की

कला शायद ही किसी प्रतिभा सम्पन्न नारी में पायी जाती हो । आप अपने चारों तरफ एक मधुर वातावरण खड़ा करती हैं । जिसमें दुलार है, पुचकार है और है प्रेरणा देनेकी अपूर्व क्षमता । नारी शिक्षा के तरफ आपका ध्यान इतना पुष्ट है कि स्वयं देश के कोने-कोने से हजारों अशिक्षित नारियों को निःशुल्क शिक्षा के लिए आमन्त्रित करती रहती हैं । सामयिक नारी समस्याओं, राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर आपकी लिखी टिप्पणियां नारी-जीवन का मापदण्ड निर्धारित करती हैं । नारी के प्रत्येक विकास के साथ आप अपने हृदय का सहयोग रखती हैं । किसी भी उलझी समस्या को अपनी बौद्धिक प्रतिभा के संयोग में सुलझा देने में, आप अपना शानी नहीं रखतीं । ये मूक नारी के वेदनामय स्वरों की सजल अभिव्यक्ति हैं ।

अखिल भारतीय जैन महिला परिषद् की मंत्रिणी का कार्य आप एक अरसे से लगन और तन्मयता से करती आ रही है । मंत्रीपद को सुशोभित कर आप नारी के विकास की कहानी में कार्य परायणता और कार्य पूरा करने की खूबी को जोड़ती है । इतने दायित्व का कार्य एक भारतीय नारी की अथक ओजस्विता का ही परिचायक है । साथ-साथ आप 'जैन महिलादर्श' की सहायक संपादिका भी हैं । आपकी प्रतिभा का सौजन्य नारी समाज को विविध रूपों में आज तक मिलता आ रहा है । नारी-सभाओ से व्याख्यान आदि का प्रतिपादन कर आपने नारी के कारुणिक चित्रण को गाढ़ा रग दिया है । वर्तमान सिनेमा से उद्‌भूत शृंगारिक सभ्यता की आप घोर विरोधिनी है और इनकी अभिव्यक्ति का स्वर ऊँचा रखने मे आप अग्रगण्य हैं । उत्तर भारत में थोड़े समय में जागरण की इतनी सुषमा का दिग्दर्शन कराने वाली आप अपने समान प्रथम महिला कही जाती है । गांवों में जाकर ये गाव की अनपढ़ बच्चियो और नारियों को भी शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करती हैं । और अपनी सस्था द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध करती हैं । गरीब, दुखी जनता की कराह का मोल आपका हृदय करता है, मन करता है, वाणी करती है । देश में अकाल पड़ने, बाढ़ आने की अवस्था में आप अपनी सहायता अवश्य भेजती है । नारी समाज की असह्य व्यथा, विधवा के आँसू की जोरदार सरगर्मी को ये पोंछती हैं । इनके कान्त मुखमडल पर धार्मिक प्रवृत्तियों की साधना की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । इसीलिये तो जैन महिला समाज ने उन्हें "महिला भूषण" की उपाधि से सम्मानित किया है जो इनके व्यक्तित्व की छाया को केवल छूती है । एक अध्ययनशील, कार्यपटु, धार्मिक विचारों में लिपटी-चिपटी, कार्य परायण, शिक्षित, सौम्य नारी की साकार प्रतिमा है महिला भूषण श्री ब्रजबाला देवी जी ।

नन्दिनी-कृष्णा—

महावीर जी का मुमुक्षु महिलाश्रम भारत की एक महान संस्था है जिसने नारी समाज को धार्मिक, सामाजिक शिक्षा से आवेष्टित किया है । इसकी विशाल इमारत को देखकर मन दंग हो जाता है । करोड़ों की सम्पत्ति से बना विशाल प्राकृतिक प्रागण में अवस्थित इसका भव्य महान भवन, अपनी महत्ता का द्योतक है । शिक्षा के सारे पहलुओं को एकत्रित कर शिक्षा देना इस संस्था का महान कार्य है । कौन ऐसी अजेय शक्ति है जिसने सूक्ष्म कल्पना, दृष्टिकोण, शिक्षा का जीवित रूप

इस महान निर्माण में रख दिया है। यह शक्ति हैं श्री कृष्णाबाईजी जिनकी जागरण-वंशी की तान आप इस संस्था की प्रत्येक दिवाल के पास खड़े हो सुन सकेंगे।

श्री कृष्णाबाई समाज में दहेज, पर्दा प्रथा आदि की कटुआलोचिका है। अपनी लाखों की सम्पत्ति का दान कर उन्होंने महावीर जी में जैन महिला को उन्नतिशील बनाया है। समाज का इतना बड़ा कार्य सम्पन्न करना एक असम्भव कार्य ही था लेकिन कृष्णाबाई ने उसे अपने तन-मन-धन दान द्वारा संभव बना दिया। धर्म की पीठिका, शिक्षा की पीठिका, के रूप में यह संस्था जागरूक महिला कृष्णाबाई जी के नाम को सदा आलोकित और गौरवान्वित रक्खेगी।

आप सप्तम प्रतिमा की धारिणी विचारशील महिला है। आपने समाज के अन्धकार को दूर किया है। नारी समाज इनका चिर-ऋणी रहेगा।

धवल-चरित्रा उज्ज्वल कुमारी—

ठीक इसी रूप में जैन जाग्रत महिलाओं में अपनी उज्ज्वलता का प्रसार करनेवाली महिला श्री महासती उज्ज्वल कुमारी हैं। आपका जीवन सतत कर्म, अगाध धर्म, प्रवीण राजनीतिक दृष्टिकोण का सच्चा पाठ पढ़ाता है। आप भारत के महिलावर्ग में उच्च दर्जे की प्रवचनकार हैं। आपकी वाक् पटुता, अदम्य साहस, अपूर्व तेज को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् भी दातो दले ऊँगली दबाने लगते हैं। भारत के नारी गौरव को आपने अपने उपदेशों, प्रवचनों, सामयिक राजनीतिक सुझावो से चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। आपके प्रवचनो के कुछ संग्रह 'उज्ज्वल प्रवचन' के नाम मे निकल चुके है तथा धड़ाधड़ निकल रहे हैं। आपने राजनीतिक पहलुओं एवं महापुरुषों की जीवनगाथाओं को एक नया मापदड दिया है। एक सती का जीवन बिताते हुए उत्तर-भारत में नारी जीवन को आलोकदान देना ही इनके जीवन की अनन्त सार्थकता है। इन्होंने साहित्य राजनीति आदि के किमी विषय को अछूता नही छोडा। सबपर अपने अनुपम विचार प्रकाशित किये और भारत के सुधी-वर्ग को सोचने और समझने का एक मौका दिया। गांधी, टैगोर, तिलक आदि राष्ट्र के महामानव कर्णधारो की छाप को नारी के हृदय पर प्रतिष्ठित करनेवाली यह प्रथम विदुषी महिला कही जा सकती हैं। इन्होने करीब-करीब भारत की सभी प्रमुख संस्थाओं का निरीक्षण किया है तथा भाषण किये हैं। सारे भारत वर्ष में घूम-घूम कर नारी के अन्दर ओज, करुणा, शिक्षा, धर्म, विचार आदि को पनपानेवाली आप अप्रतिम महिला हैं। आपके नाम का डका बज चुका है। राजनीतिक आन्दोलनों में भी आपने सक्रिय भाग लिया है। कई महिला-स्कूलो की संचालिका और सस्थापिका भी आप हैं।

इस तरह की जाग्रत परम्परा का विकास तो जैन नारियों में बहुत हुआ है लेकिन उनमें प्रमुख श्रीमती ज्ञानवन देवी, कचनबाई, प्रभावती देवी, किरण बाला आदि का नाम विशेष रूपसे आता है।

धार्मिक परम्परा की एक और विदुषी महिला सिरोज की सूरज बाई जी जैन हैं। इन्होंने अज्ञान, अनपढ़ समाज से संघर्ष चालू रखते हुए भी अपने अध्ययन को जारी रक्खा। सचमुच यह सूरज बाई की अद्भुत साहसिकता को व्यंजित करता है।

आप महान विदुषी होते हुए महान धर्मात्मा हैं। शास्त्र स्वाध्याय का अनुभव उच्च कोटि का है। बड़ी से बड़ी शंकाएँ सहज ही में समाधान कर देती हैं। नारी को पूजन करने का अधिकार है, इस प्रथा को आपने ही सर्वप्रथम चलाया। इसके लिए इनको महान संघर्ष करना पड़ा। आपने सिरोज की महिलाओं में नारीत्व जागरूक करने के लिए अथक श्रम किया है। नारी-उन्नति के लिए कई एक फण्ड चालू किये। आप एक सफल कवयित्री भी हैं। आपकी कविताओं का राष्ट्रीय संग्रह 'वनिता रागिनी' के नाम से प्रकाशित हैं।

ज्ञानधारि ज्ञान-धन देवी—

श्री ज्ञानधन देवी इटावा में अपनी जाग्रत ज्योत्स्ना विकीर्ण करती हैं। इटावा में नारी-जागरण का प्रतिनिधित्व ज्ञानधन देवी की बागडोर में एक उन्नत रूप में हुआ है। धर्म और समाज-सुधार को लक्ष्य कर आपने नारी समाज के लिए बहुतेरे कार्य किये हैं। आपकी प्रेरणा से एक विद्यालय का निर्माण हुआ है।

कान्तिशीला कंचनबाईजी—

श्री कंचन बाई सर सेठ हुकुमचन्द जी की पत्नी हैं। एक महान विदुषी और दानशीला का जीवन-यापन करते हुए आपने नारी की प्राचीन दया, धर्म, करुणा को जगाया है। इन्दोर में सदैव नारियों की सभा बुलाती हैं तथा अपनी ओजस्विता और विद्वत्ता का परिचय देती हैं। अपनी सम्पत्ति में से लाखों रुपयों का दान आपने धार्मिक और शिक्षा संस्थाओं में दिया है और देती जा रही हैं। आपकी ही उदारता से इन्दौर में इन्दौर कन्या महाविद्यालय की स्थापना हुई है।

श्रीमती गुन्नो बाई जी सिवनी, मातेश्वरी सेठ बिरखीचंद जी ने अपनी धनराशि से सिवनी में एक महिला विद्यालय की स्थापना की है। आप धार्मिक रुचि की महिला है।

प्रभावती देवी सेठ भागचन्द्र जी सोनी की पत्नी हैं। आपने अजमेर के क्षेत्र में पर्दा प्रथा, अशिक्षा, अधर्म आदि बुराइयों के विरुद्ध आवाज बुलन्द की है। आपका सरल जीवन दूसरों को शिक्षा देता है। आप धर्म और सेवा में रुचि रखती हैं। लाखों रुपयों का दान दिया है।

शिक्षित महिलाएँ जहाँ नारी समाज को आध्यात्मिक सामाजिक उन्नति प्रदान करती हैं वहाँ वह नारी समाज में शारीरिक शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा का संचालन भी करती हैं। श्री मोहिनी देवी जयपुर के महिला-स्वयंसेविका-दल की कप्तान हैं और नारियों को बौद्धिक और शारीरिक शिक्षा दे सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। आपके भव्य चेहरे पर आसनों, कसरतों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। अपने दल का प्रदर्शन ये भारत भर में करती चलती हैं। नारी को सुन्दर और स्वस्थ बनाना ही इनका लक्ष्य है। भारत सरकार से इस कार्य के लिए कई पदक आपको मिल चुके हैं। आप शिक्षा सम्बन्धी लेख भी लिखती और ब्राडकास्ट करती हैं। आपकी जागरूकता की छाप जय-

पुर, बीकानेर, अजमेर आदि राजपुताने के इलाके में हैं। नारी के प्राचीन स्वातन्त्र्य, पौरुष आदि को वर्तमान भारतीय नारी जीवन में आप उतारना चाहती हैं।

इसी तरह उत्तर भारत के नारी समाज में जैन महिलाओं का कार्य है। बहुत सी स्वनाम-धन्य महिलाएँ समाज की बलि वेदी पर अपना कुर्बान कर रही हैं। जिनका उल्लेख लेख विस्तार के भय से नहीं दिया जा रहा है। धर्म के क्षेत्र में बहुत सी क्षुल्लिकाएँ भी उत्तर-भारत में हैं जो अपने अपने संघो के द्वारा धर्म का आलोक फैलाती चलतीं हैं।

साहित्यिक-अभियान—

साहित्य के क्षेत्र में भी जैन जाग्रत महिलाओं के कार्य अपना कम स्थान नही रखते। साहित्यिक जैन महिलाओं ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का स्वय विकास कर साहित्य को महिला अनभूति और अभिव्यक्ति का स्वर दिया है। ये साहित्य में अपना एक क्षेत्र ही ग्रहण करती है। कितनी जाग्रत महिलाएँ साप्ताहिक और मासिक पत्रों का सम्पादन करती हैं। जैन कवयित्रियों की तो गणना ही नही। इन्होंने प्रचलित शैलियो को अपनाकर कविता को भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से प्रगति की श्रेणी में ला दिया है। इस तरह जैन जाग्रत महिलाएँ साहित्य में भी उत्तर भारत में अपना जागरण-आह्वान फूकती हैं।

जैन साहित्यिक नारियों में श्रीमती रमा जैन ध०प० शाहू शान्ति प्रसाद जी का नाम सर्वप्रथम गौरव के साथ आता है। आपकी साहित्यिक प्रतिभा का विकास बचपन से ही हुआ। आपने अपनी कोमल अभिव्यक्ति में भी साहित्यिक कल्पनाओं को इस सुरुचिपूर्ण ढंग से आँका कि आपकी प्रतिभा उत्तरोत्तर विकास के पहलुओं का निर्माण करने लग गयी है। अबतक उनकी कविताओ के कई-एक सग्रह निकल चुके है। ये भारतीय ज्ञान-पीठ काशी की अध्यक्षा के रूप में व्यापक और अनुभूतिपूर्ण साहित्य का निर्माण करती रहती हैं। इनके सम्पादकत्व में निकला "आधुनिक जैन कवि" इनकी कुशल साहित्यिक प्रतिभा का द्योतक है। इनकी कविताओं में प्रौढ़ अनुभूति की गहराई, भावो की सुकुमार व्यंजना, प्रतिपादन शैली की विकसित सुषमा सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। अपनी अद्भुत काव्यगत प्रतिभा के फलस्वरूप आप जैन महिला कवयित्रियो का प्रतिनिधित्व करती हैं। आप काव्य में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखती हैं।

इसी तरह बहुत सी जैन जाग्रत महिला कवयित्रियाँ हैं जिनमें थोड़े का सामान्य परिचय यों हैं :—

१. श्री कमला देवी जैन 'कोविद'—आप प्रगतिशील विचारों की शिक्षित महिला हैं। आपकी कितनी ही साहित्यिक रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। कवि सम्मेलनों में आपको अनेक स्वर्ण और रजत-पदक भी मिल चुके हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों में जेल-यात्रा भी कर चुकी हैं। कविताएँ अलंकार युक्त किन्तु सुबोध होती हैं।

२. श्री प्रेमलता 'कौमदी'—'वत्सल' की पुत्री और 'शशि' की पत्नी हैं। कविता की ओर सहज और सुलभ प्रवृत्ति है। सस्कृत के सामयिक पाठ का पद्यानुवाद किया है। कविता में स्वाभाविकता और सरसता रहती है।

३. श्री कमला देवी जैन—सत्रह वर्ष की वय में उन्नत कल्पना और सरस शब्दों के साथ सुन्दर भावों को गूँथना आपके उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है ।

४. सूरजमुखी, चन्द्रमुखी—दोनों बहनें हैं और कविता के क्षेत्र में समान प्रगति है । कविता में जो गूढ भाव है उसकी अभिव्यक्ति हैं श्री चन्द्रमुखी जी । आप अपने पति को उस क्षेत्र में प्रेरणा देती हैं ।

५. सुन्दर देवी—इनकी शैली आधुनिक और वेदना-प्रधान है—

यौवन का कर्पूर रहा जल आज प्रणय की ज्वाला में
अरे पपीहा प्राण जगा जा इन्हीं पिया से प्राण—

६. मणिप्रभा देवी—आपने महिलाओं को कविता करने की सुगम प्रेरणा दी है । 'जैन-महिलादर्श' के 'कविता मन्दिर' की सम्पादिका हैं । ओज और माधुर्य गुण की कवयित्री हैं ।

७ श्री रूपवती देवी 'किरण'—प्रतीत होता है कि आपका हृदय प्रकृति के सौंदर्य से प्रभावित हुआ है । सामाजिक विषयों पर भी लिखती हैं ।

इसी तरह साहित्य में जागरण का रूप रखनेवाली श्री चन्द्रप्रभा, छन्नादेवी, कुसुम कुमारी, मनोवती, सरोजिनी देवी, पुष्पलता 'कौशल' शरवती आदि देवियाँ हैं ।



कतिपय श्वेताम्बर विदुषी कवयित्रियाँ

श्री अगरचन्द नाहटा

सनातन-शक्ति नारी—

अनादि अनन्त विश्व के विकास एवं व्यवस्था में स्त्री और पुरुष का जोड़ा प्रकृति की एक महती देन है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की उपयोगिता एवं महत्व निर्विवाद है पर पुरुष की जननी होने का गौरव धारण[1] करनेवाली होने से मातृत्व के नाते स्त्री जाति का महत्व और भी बढ़ जाता है। पुरुषों में प्रारम्भिक संस्कारों का बीज बोनेवाली भी स्त्री ही है। बच्चों का पालन पोषण कर उन्हें कार्यक्षम बनाने का कार्य भी प्रधानतया उसी के हाथ में रहने से उसकी उपयोगिता भी अधिक है। स्त्री शक्ति का लोहा आज तो समस्त विश्व मानने को तैयार है।

जैन-धर्म में नारी—

जैन धर्म में प्रारम्भ से ही स्त्री पुरुष के अधिकार समान रूप से प्रतिपादित हैं। इस अवसर्पिणी कालचक्र में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय तक व उनसे पहले स्त्री पुरुष जोड़े के रूप में ही साथ ही उत्पन्न होते थे अतः उन्हें युगलिक कहा जाता है। उस समय जीवन की आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं वे सहज ही में पूर्ण हो जाती थीं अतः जीवन बड़ा सुखद था। काल-प्रभाव व मनुष्यों की क्षीणतावश वस्तुओं की कमी होने लगी और आवश्यकताएँ बढ़ती चली गईं; फलतः कृषि आदि जीवनोपयोगी कर्मों की शिक्षा भगवान ऋषभदेव ने दी। उन्होंने पुरुषों को ७२ व स्त्रियों को ६४ कलाएँ (कलाकर्मसु कौशल्यम्) सिखाई। उन्होंने अपनी ज्येष्ठा कन्या ब्राह्मी को जो लिपि सिखाई वह उसके नाम से ब्राह्मी लिपि की संज्ञा से सर्वत्र प्रसिद्ध हुई। श्वेताम्बर जैनागम भगवती सूत्र के आरम्भ में ही "नमो बंभीए लिविए" शब्दों द्वारा ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है। इससे उसका महत्व एवं आदर कितना अधिक था स्पष्ट प्रतीत होता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां स्त्रियों की ६४ कलाओं की सूची जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति के अनुसार दी जा रही है।

---

१. इसी महत्व को लक्ष्य करके वस्तुपाल के मुख्यसी में कहा था—

अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारंगलोचना ।
यत्कुक्षिप्रभवा एते, वस्तुपाल भवादृशः ॥

२. श्वे. जैनागमों में बताया गया है कि जैन शासन व्यवस्था में विद्वान मुनियों को आचार्य उपाध्याय, गणि पद दिया जाता है उसी प्रकार विदुषी आर्याओं के लिये महत्तरा, प्रवर्तिनी आदि पद देने चाहिये। नारियां भी आत्मकल्याण करने में स्वतन्त्र हैं, वे भी धर्मसाधन कर सकती हैं।

स्त्रियों की ६४ कलाएं —

(१) नृत्य	(२२) धर्म रीति	(४३) मुख मंडन
(२) औचित्य	(२३) वर्णिका-वृद्ध	(४४) शालि-खंडन
(३) चित्र	(२४) स्वर्णसिद्धि	(४५) कथा-कथन
(४) वादित्र	(२५) सुरभि तेल करण	(४६) पुष्प-ग्रंथन
(५) मंत्र	(२६) लीला सचरण	(४७) वक्रोक्ति
(६) तन्त्र	(२७) हय गज परीक्षा	(४८) काव्य-शक्ति
(७) ज्ञान	(२८) पुरुष-स्त्री लक्षण	(४९) स्फारविधि वेष
(८) विज्ञान	(२९) हेम रत्न भेद	(५०) सर्व भाषा विशेष
(९) दंभ	(३०) अष्टादश लिपि परिच्छेद	(५१) अभिधान ज्ञान
(१०) जल स्तम्भ	(३१) तत्काल बुद्धि	(५२) भूषण परिधान
(११) गीतमान	(३२) वस्तु-सिद्धि	(५३) भृत्योपचार
(१२) तालमान	(३३) काम विक्रिया	(५४) गृहाचार
(१३) मेघवृत्ति	(३४) वैद्यक-क्रिया	(५५) व्याकरण,
(१४) फलाकृष्टि	(३५) कुम्भ भ्रम	(२६) परनिराकरण
(१५) आराम-रोपण	(३६) सारिश्रम	(५७) रंधन
(१६) आकार-गोपन	(३७) अंजन योग	(५८) केश-बन्धन
(१७) धर्म-विचार	(३८) चूर्ण-योग	(५९) कस्मि-नाद
(१८) शकुनसार	(३९) हस्तलाघव	(६०) वितंडवाद
(१९) क्रियाकल्प	(४०) वचन-पाटव	(६१) अंक विचार
(२०) संस्कृत-जल्प	(४१) भोज्यविधि	(६२) लोक व्यवहार
(२१) प्रासाद नीति	(४२) वाणिज्य विधि	(६३) अन्त्याक्षरिका
		(६४) प्रश्न पहेलिका

(जंबद्वीप प्रज्ञप्ति टीका से)[1]

तुलनात्मक अध्ययन—

जैन भारती के सम्पादक श्रीयुत् श्रीचन्द्र रामपुरिया ने "वैदिक धर्म एवं जैन बौद्ध धर्म में नारी का क्या स्थान है" शीर्षक लेख में तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है :—

"वैदिक परम्परा में नारी जाति को गौरवपूर्ण उच्चासन दिया गया है। और नारी को पुरुष मित्र और समकक्ष के रूप में अंकित करने के दृष्टांत सामने आते हैं परन्तु उनमें अंकित वर्णन अधिकाश में नारी जाति को अर्द्धांगिनी के रूप में उपस्थित करते है। नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व

१ संवत् १४७८ में रचित माणिक्यसुन्दर सूरि के पृथ्वी चन्द्र चरित्र में भी ये नाम है। काम सूत्रोक्त ६४ कलाओं से जैन ग्रंथों में उल्लेखित पुरुषों की ७२ कलाओं से तुलना, पण्डित बेचर दास जी ने 'भगवान महावीर की धर्म कथाओं' ग्रंथ के पृष्ठ १६५ में की है।

वहां प्रस्फुटित नहीं दिखाई पड़ता और उसकी बहुत ही थोड़ी सी अभिव्यक्ति वहाँ मिलती है परन्तु जैन धर्म में नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व शुरू से स्वीकार किया गया है और पुरुष के समान ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्यक् धर्म निरूपण किया गया है। पौराणिक साहित्य की तरह स्त्री जाति को दासी के रूप में नहीं चित्रित किया गया है।

नारी : साहित्य की भाग्य-लक्ष्मी—

साहित्य में नारी की भावना को वही आदर दिया गया है जो एक पुरुष को। वैवाहिक जीवन में नारी पुरुष की सहचारिणी रहती है, उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है और घर-गृहस्थी का भार योग्यता-पूर्वक वहन करती है। परन्तु साथ ही साथ वह आत्मा के उत्कर्ष के लिए पातिव्रत के उपरान्त आत्मा की शोध-खोज और आध्यात्मिक चिन्तन में जीवन का अमूल्य समय देना कर्तव्य मानती है। वैदिक परम्परा में नारी के स्वावलम्बन की कल्पना नही है। और यदि हो तो अपवाद रूप में ही। परन्तु जैन-साहित्य में स्वावलम्बी नारी जीवन की कल्पना प्रचुर परम्परा में मिलती है। पुरुष के साथ सहधर्मिणी होकर रहना उसके जीवन का कोई चूडान्त लक्ष्य नही, परन्तु यदि वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचर्य से रहकर भी आदर्श जीवन के अतिवाहन करने के लिए स्वतन्त्र रखी गयी है।

वैदिक परम्परा में नारी को सहधर्मिणी कहा गया है। परन्तु वहाँ नारी पुरुष की परछाई की तरह चलती है। वैदिक परम्परा में नारी को सन्यास का स्थान प्राप्त नही। अत पुरुष से दूर रह कर स्वतन्त्र रूप से शुभ कीर्ति सम्पादन करने के उदाहरण बहुत अल्प हैं। जैन-परम्परा में नारी का पूर्ण विकास हुआ है और स्वतंत्र नारी की गौरव कीर्ति अमर बनी है।

वैदिक परम्परा में नारी का कोई धार्मिक मत्र नही परन्तु जैन संघ में सुश्राविका नारी और पूज्य साध्वी कठोर अनुशासन से एक अमर स्थान प्राप्त करती है और सैकड़ो और हजारो नारियो का साध्वी संघ भारत भूमि को पवित्र करता है।

जैन-धर्म में नारी की विकास-रेखा—

जैन धर्म नारी-जीवन में आध्यात्मिकता को सींचता है जितना कि अन्य कोई भी प्राचीन संस्कृतियाँ नहीं सींचती। वैदिक परम्परा पातिव्रता नारी उत्पन्न करती है, बौद्ध परम्परा नीति-प्रधान नारी-जीवन को उत्तेजन देती है। जैन संस्कृति नारी-जीवन में चाहे वह जीवन गृहस्थ जीवन हो अथवा सन्यास जीवन हो आध्यात्मिक भावना की स्रोतस्विनी बहाकर उसे अपने जीवन के लिए अत्यन्त कर्तव्यशील और निष्ठावान बनाती है।

जैन-श्राविकाएं—

जैन तीर्थंकरों ने अपने धर्म संघ की स्थापना करते समय साधुओं के साथ साध्वियों एवं श्रावकों के साथ श्राविकाओं को भी समान स्थान देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की। पुरुषों की अपेक्षा

स्त्री समाज में धार्मिक भावना की अधिकता आरम्भ से प्रतीत होती है । इसीलिए तीर्थंकर के साधु एवं श्रावकों से साध्वियों और श्राविकाओं की संख्या प्रायः दुगुणी पायी जाती है । आज भी अभिदान आदि में स्त्री समाज ही मुख्य है। किसी लोक प्रचलित पुरुष प्रधान की भावना के कारण स्त्री समाज को उच्च स्थान समाज में नहीं मिला जो कि पुरुषों को प्राप्त हैं; इसी कारण उनका विकास रुक-सा गया । घरेलू कार्यों में निरन्तर लगे रहने व बच्चों की सार संभाल आदि में समय अधिक लग जाने से भी उनका ज्ञान अधिक नहीं बढ़ने पाता । और उसके कटु फलों का अनुभव रात-दिन जीवन-व्यवहार में वे कर रही हैं । स्त्री जाति में अन्धविश्वास, रूढ़ियों का बाहुल्य होने का प्रधान कारण उनकी शिक्षा की कमी है । प्राचीन काल में स्त्री-शिक्षा का अच्छा प्रचार नजर आता है, बहुत से कथा ग्रंथो में लड़को की भांति लड़कियो को भी पढ़ाने के लिए गुरु के समीप भेजने का उल्लेख पाया जाता है, पर मेरे विचार में वह बहुत सीमित होगया । फलतः ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में पुरुषों का एक मात्र अधिकार नजर आता है । उदाहरण स्वरूप, भगवान महावीर से आज तक ढाई हजार वर्षों में लक्षाधिक साध्वियाँ व करोड़ो श्राविकाएँ हुई पर उनका बनाया हुए एक भी महत्वपूर्ण ग्रंथ प्राप्त नहीं होता । श्वेताम्बर साहित्य में तो खोज करने पर केवल चार साध्वियों की रचनाएँ प्राप्त हुई है । वह भी साधारण कथा ग्रंथ ही है । और उनमें सबसे पहला ग्रंथ पन्द्रहवी सदी का है अर्थात् भगवान महावीर से अठारह सौ पचहत्तर बरस जैसे दीर्घकाल के मध्य की एक भी रचना साध्वियो की रचित प्राप्त नहीं है और श्राविकाओं के रचित तो आज तक एक भी ग्रंथ देखने में नही आया । इससे मेरे कथन का आशय यह नहीं है कि साध्वियों व श्राविकाओं में विदुषी हुई ही नहीं ।[1] इसी बीच में कई आर्यिकाओं ने कई ग्रंथो के प्रणयन लेखन आदि में [2]विद्वान् ग्रंथकारों को अच्छी सहायता की है, जिसका उल्लेख ग्रंथकारो ने अपने ग्रंथ की प्रशस्तियो में किया है । कई साध्वियो के रचित ग्रंथ व उनकी लिखी हुई महत्वपूर्ण ग्रंथों की प्रतियाँ प्राप्त हैं एवं श्राविकाओं के पठनार्थ लिखे हुए व

---

(१) दिगम्बर समाज में कई विदुषी श्राविकाएँ हो गई है और आज तो शिक्षित महिलाएँ श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में बहुत अधिक हैं । यह सब चन्दाबाई जैसी सेवा भावी महिलाओंका ही प्रताप समझिये ।

(२) मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने विशेष आवश्यक भाष्य पर सं० ११७५ में ३७ हजार श्लोक परिमाण की महत्वपूर्ण टीका बनाई उसकी रचना में सहायता देने वाले ७ व्यक्तियों में २ विदुषी साध्वियाँ आनन्द महत्तरा, व वीरमति गणिनी का उल्लेख ग्रंथकार ने स्वयं किया है । सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक रूपक ग्रंथ उपमितिभाव प्रपंचाक प्रथमादर्श का लेखन ग्रंथकार की शिष्या गणा नामक साध्वी ने लिखा था । उपाध्याय क्षमाकल्याण जी ने प्रश्नोत्तर सार्द्धशतक की भाषा साध्वी जी के लिये ही बनाई थी ।

पूज्य जिनदत्त सूरिजी की शिष्या शांतिमतिगणिनी की सं० १२१५ में प्रवरणसंग्रह की लिखित प्रति जैसलमेर भंडार में है । सूरिजी ने अपनी शिष्याओं को पढ़ाने के लिए धारा नगरी भेजा था व महत्तरापद दिया था । बाँडवा की श्राविका के प्रश्नों के उत्तर के रूप में आपने सन्देह दोहावली ग्रंथ बनाया था ।

उनकी लिखवाई हुई भी अनेक प्रतियाँ श्वेताम्बर जैन भंडार में उपलब्ध हैं। एवं आज भी कई विदुषी साध्वियाँ व श्राविकाएँ विद्यमान हैं। पर उनके ज्ञान का समुचित विकास नहीं हुआ है फलतः वे आगे नहीं बढ़ सकी। यही मेरे वक्तव्य का साराश समझना चाहिये।

नारी में शिक्षा-तत्त्व—

गत दो शताब्दियों में तो स्त्री-शिक्षा का प्रचार ही कम नही हुआ अपितु लोग उसके विरोधी भी बन गये नजर आते हैं। मारवाड़ में तो आज से पच्चीस-तीस वर्षों पहले भी यह हालत थी कि स्त्री-शिक्षा का नाम लेते ही स्त्रियो को क्या हुंडी कमाना है ? एक घर में दो तलवार नही चलती, यह तो अशुभ माना जाता है इत्यादि बातें सुनने को मिलती अर्थात् स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता को वे तनिक भी महसूस नही करते थे। पर हर्ष है कि अब इस ओर दिनोंदिन प्रगति बढ़ रही है और भविष्य आशाजनक प्रतीत होता है।

मेरे नम्र मतानुसार शिक्षा के क्षेत्र में पुरुषों से भी स्त्री-समाज आगे बढ सकता है। आधुनिक विज्ञान की कई शाखाओ में तो निश्चय ही वे अग्र स्थान प्राप्त कर सकेंगी क्योकि उनकी ग्रहण-शक्ति, बुद्धि एव स्मरणशक्ति काफी तेज होती है। प्राचीन काल मे आचार्य स्थूलभद्र की सात बहिनों के सम्बन्ध में यह प्रवाद है कि उनमें स्मरणशक्ति इतनी तेज थी कि पहली एक बार, इस प्रकार क्रमशः ७ वी बहिन सात बार किसी काव्य ग्रन्थ को सुन लेती तो उनको वह ग्रन्थ कठस्थ हो जाता; रटने-घोखने की तनिक भी आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार तिलक-मजरी के रचयिता कवि धनपाल की पुत्री की स्मृति भी ऐसी अद्भुत थी कि भोजराजा ने तिलक-मजरी ग्रन्थ को क्रुद्ध होकर आग में जला दिया जिससे कवि धनपाल को बड़ा खेद हुआ था, तब उनकी पुत्री ने उस कथा को अपनी स्मरण-शक्ति से पुनः लिखवा दिया था।

जैन-सतियों का आदर्श—

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात का निर्देश करना अति आवश्यक है कि जिस प्रकार पुरुषों का महत्त्व ज्ञान-विज्ञान का उत्कर्ष करने के लिये हैं उसी प्रकार भारतीय स्त्रियो का आदर्श शील, सदाचार रूप-चारित्रवान होने से उसमें वे अग्रगण्य रही है; इसी महान् गुण के कारण सीता के रूप में वे प्रातःस्मरणीय हो गई हे। जैन-समाज में भी सैकड़ो सतियों के चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते है। १६ सतियों के नाम तो प्रातः समय में स्मरण किये जाते हैं।

वैदिक धर्म में स्त्रियों के लिये संन्यास की व्यवस्था नजर नहीं आती पर जैन-धर्म में उनके लिये विवाह करना आवश्यक नहीं। वे पुरुषो की भाँति आजीवन ब्रह्मचारिणी रह संन्यास धर्म धारण कर सकती हैं—ऐसा विधान है। हजारो कुमारियों ने भी दीक्षा ग्रहण की है। महासती राजीमति ने तो रहनेमि मुनि को विकारवश पथभ्रष्ट होने से सदुपदेशों द्वारा बचाया था जिसका सुन्दर वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है। परवर्ती-साहित्य के अनुसार आचार्य हरिभद्र व उपाध्याय यशोविजय का गर्व हटाने वाली भी विदुषी आर्यिका व श्राविका ही थी। आचार्य हरिभद्र भी वैदिक धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे

और अभिमान के कारण यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो मेरे समझ में नहीं आवे ऐसे काव्य आदि का अर्थ कोई बतला देवे तो मै उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक बार वे जैन-साध्वियों के उपाश्रय के पास से होकर निकले तो वे एक प्राकृत गाथा को रट रही थी जिसे सुनकर हरिभद्र ने उसको समझने का बहुत प्रयत्न किया पर उसका अर्थ उसके ध्यान में नही आया। अतः उन्होंने आर्या जी से पूछा तो उन्होंने गुरुजी के पास जाने को कहा; तदनुसार वहाँ उसके अर्थ ज्ञान कर दीक्षित हुए। उसके पश्चात् अपने शिष्यों के बौद्धों द्वारा मारे जाने पर क्रोधवश बौद्धाचार्यों को मन्त्रबल से आकर्षित कर उन्हें मारने को उद्यत हुए। उस समय याकिनी महत्तरा ने समझा कर उनके क्रोध को युक्तिपूर्ण रूप से शान्त किया था। कही २ श्राविका ने क्रोध शान्त किया भी लिखा है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने याकिनी महत्तरा के उपकार को 'याकिनी महत्तरा सुनू' के रूप में अपना परिचय देते हुए व्यक्त किया है। इसी प्रकार कहा जाता है कि न्यायविशारद महोपाध्याय यशोविजय को अपनी विद्वत्ता का बड़ा अभिमान हो गया और गर्व कर अपने स्थापनाचार्य के ऊपर झंडिया फहराने लगे। उस समय एक श्राविका ने युक्ति द्वारा उनका गर्व निवारण किया था।

आबू के कलापूर्ण मंदिरों के निर्माण का सुझाव देने वाली विमल दंडनायक की पत्नी व लूलगवसहीय के कार्य को अविलम्ब पूरा कराने मे प्रेरक, शत्रुंजय आदि कलापूर्ण मदिरो के निर्माण में सलाह देने वाली तेजपाल की धर्मपत्नी अनुपमा देवी भी जैन साहित्य में चिरस्मरणीय रहेगी। कहा जाता है कि विमल शाह ने देवी की आराधना कर पुत्र प्राप्ति व आबू तीर्थोद्धार के दो वर मागे। देवी ने दोनो में से एक वर देने को कहा। अब क्या माँगा जाय? पत्नी से परामर्श करने पर उसने पुत्र की आशा छोड़ कर तीर्थोद्धार का वर मागने की सम्मति दी थी। इसी प्रकार वस्तुपाल तेजपाल के आबू के मदिरों के निर्माण में अधिक समय लगते देख अनुपमा देवी ने कारीगरों को सभी सुविधाएँ दे उसे शीघ्र ही पूर्ण करवा दिया।

अनुपमा सचमुच अनुपम गुणों की भंडार थी। प्रबन्ध ग्रन्थों में उसकी महिमा वर्णित है। अठारहवी शती के आध्यात्मरसिक प० देवचन्द्र जी को श्राविकाओं की लिखित दो पत्र मिले हैं जिनसे वे श्राविकाएँ कैसी विदुषी व आध्यात्मानुभूतिपूर्ण थी, ज्ञात होता है।

स्त्रियाँ व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, दानादि धार्मिक कार्यों में सदा अग्रणी रहती हैं। अनेक बार वे प्रेरणा करके धर्मकार्यों में जोड़ती हैं। जैन ऐतिहासिक ग्रन्थों में ऐसे बहुत-से प्रसग वर्णित है जिनमें श्राविकाओ ने अपने पतियों को तीर्थों का यात्रीसंघ निकालने को प्रेरित किया और पति की अज्ञानता में स्वय सघ निकाले, मंदिर बनवाये, प्रतियाँ लिखवाई, उग्र तपश्चर्याएँ की, तप उद्यापनादि, आचार्य पदोत्सवादि में हजारों रुपये खर्च किये। श्वे०-साहित्य के मणिकदेवी रास में जगतसेठ की मातुश्री मणिक देवी के सुकृत्यों का वर्णन है। इसी प्रकार वीरविजय रचित हर्षीसिंह प्रसाद प्रतिष्ठा सवतः हरकुंअर स्तपनादि मे सेठाणी के धार्मिक कार्यों की प्रशंसा की गई है। खरतर गच्छ की पदावलि के अनुसार जिनधर्म सूरि का पदोत्सव सं० १७११ में श्रा० विमला दे ने किया था। श्राविकाओं के बनवाये हुए मंदिर व मूर्तियों

१. श्रीमद् देवचंद्र भाग १ के ये पत्र प्रकाशित हैं।

का एवं स्वर्णाक्षरी आदि विशिष्ट प्रतियों के लिखाने का उल्लेख प्रतिमालेखों एवं प्रशस्तियों में पाया जाता है।

कतिपय विदुषी साध्वियों के परिचायक ऐतिहासिक गीत भी पाये जाते हे, जिनमें से धर्मलक्ष्मी महत्तरा व उदयमूला प्रवर्तिनी नामक विदुशी आचार्याओ के गीतद्वय मुनि जिनविजयजी सपादित ऐतिहासिक राससंचय में प्रकाशित है। इनका समय १६ वी शती का प्रारम्भ है इनमें से धर्मलक्ष्मी महत्तरा का वृत्तात गीत में विस्तार से दिया गया है।

अब मैं श्वेताम्बर साहित्य में जिन कतिपय विदुषी आचार्यों की रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनका परिचय दे रहा हूँ।

परिचयात्मक-टिप्पणी—

(१) गुण समृद्धि महत्तरा :—खरतर गच्छ आचार्य जिनलब्धि सूरि के पट्टधर जिनचद्र सूरि की आप शिष्या थी। सवत् १४२७ में वीर जन्म दिन को जैसलमेर में अजराहा सूरि-चरित्र बनाया। प्रस्तुत ग्रंथ प्राकृत भाषा मे ५०३ गाथाओं का है। जैसलमेर के बड़े ज्ञानभडार में इमकी प्रतियाँ प्राप्त है।

(२) पद्मश्री —इनके गच्छ व गद आदि का परिचय ज्ञात नही हुआ। नेमि-चरित्र के आधार से रचित आपके चारुदत्त चरित्र की प्रति स० १६२६ लिखित प्राप्त है। अतः इनका समय इमसे पूर्व का या इसके आसपास का ही प्रतीत होता है। जैन साहित्य महारथी मोहनलाल देसाई ने अपने जैन गुर्जर कविओं भा० ३ के पृ० ५३५ मे इसे स० १५४० के लगभग का रचित बतलाया है। इसकी भाषा प्राचीन गुजराती है व पद्य संख्या २५४ है देसाई लालाभाई पुस्तकोद्धार फड, सूरत में इसकी प्रति प्राप्त है।

(३) हेमश्री :—बड़ तपागच्छीय सुप्रसिद्ध कवि नयसुन्दर की आप शिष्या थी। आपके रचित कनकावती आख्यान की रचना संवत् १६४४ वैं० सु० १० को हुई थी। इसकी भाषा गुजराती व पद्य-संख्या ३६७ है। प्रर्वतक काति विजय के संग्रह में इसकी प्रति उपलब्ध है।

(४) सिद्धश्री :—इनका संवत् १९१६ में रचित प्रतापसिंह बाबूरास प्रकाशित है। जिसमें ऊजीमगंज के धर्मप्रेमी बाबू प्रताप सिंह जी के धर्मकृत्यों का उल्लेख है।

श्वें० जैन साध्वियों के रचित उल्लेखनीय ४ ग्रन्थ ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लघु रचनाएँ, गीत, फाग आदि प्राप्त है। उनका भी यहाँ निर्देश कर दिया जाता है :—

(१) विनयचूला :—आगम गच्छीय हेमरत्न सूरि की आप आज्ञानुवर्तिनी थी जिनका समय सं० १५०० के लगभग का है।

आपने गुरुभक्तिवश हेमरत्न सूरि फाग ११ पद्यों में बनाया है, जिसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है।

---

(१) आपके १ संबोध सत्तरी व वैराग्यशतक के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

(२) हेम सिद्धि:—खरतर गच्छीय प्रवर्तिनी लावण्य सिद्धि की आप शिष्या थीं, जिनका स्वर्गवास संवत् १६६४ में बीकानेर में हुआ था। आपके रचित लावण्य सिद्धि व सोम सिद्धि निर्वाण गीत हमारे संपादित ऐतिहासिक जैनकाव्य-सग्रह में प्रकाशित है।

(३) विद्यासिद्धि:—आप भी खरतर गच्छीय थीं। इनका रचित गुरुणी गीत हमारे सम्पादित ऐ० जै० काव्यसग्रह में प्रकाशित हो चुका है। इनका जिनराजसूरि गीत गा० ५ भी हमारे संग्रह में है।

(४) जयमाला:—इनका समय १६ वी शती व गच्छ खरतर है। आपके रचित १ जिन चंद्रसूरि गीत गा० ७ व चन्द्रप्रभु जिनस्तवन गा० ७-३ हमारे संग्रह में उपलब्ध है।

२० वीं शती में कई विद्वान् साध्वियाँ हुई व है जिनमें से स्थानकवासी समाज में आर्या पार्वती कवयित्री भी थी, इनके रचित कई अन्य ग्रन्थो के साथ १ वृत्तमण्डली (स० १८४१) २. अजितसेन कुमार ढाल (स० १८६१) ३. सुमित्रचरित्र (स० १८६१) ४. अरिहयन चौ० आदि ग्रन्थ भी प्राप्त है। विद्यमान कवयित्रियों में खरतरगच्छीय प्रेमश्री जी व प्रमोदश्री जी के स्तवनादि का संग्रह छप चुका है एव पूज्य विचक्षण श्री जी कोमल उपनाम से स्तवनादि बनाती है, सभव है कुछ और भी हों पर उनकी रचनाओं का पता नही चला।

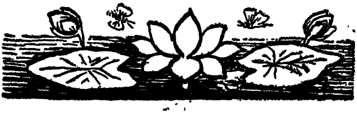
वैसे विद्वान् साध्वियाँ व श्राविकाएँ कई है जिनमें से वल्ल भश्रीजी, प्रमोद श्रीजी, राजेन्द्र श्री जी, विनय श्री, श्री कल्याण श्री आदि एव श्राविकाओ में श्रीमती हीराकुमारी (दर्शनशास्त्र की विद्वान् हैं) आदि उल्लेखनीय हैं। दिनेश नदिनी चोरांड़िया आदि अन्य कई लेखिकाएँ है पर उनका जैन-धर्म से विशेष सम्बन्ध नजर नहीं आता।

---

(२) आपका युगादिदेशना व उपासक दशासूत्र का अनुवाद छप चुका है।

(३) आपके क्षमाकल्याण जी रचित संस्कृत चौबीसी अनुवाद व चैत्यवंदन स्तुति संग्रह छप चुके है। श्री चंद्रकेवली चरित्र का हिन्दी अनुवाद भी आपने किया था, पर वह अप्रकाशित है।

(४) रूपसेन चरित्र का अनुवाद किया है जो कि शीघ्र ही छपने वाला है।



बौद्ध संस्कृति में नारी

श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'

प्रस्ताविक—

किसी भी काल की सांस्कृतिक दशा की जानकारी के लिए, उस काल की स्त्रियों की अवस्था की जानकारी बहुत जरूरी है। जब से संगठित रूप से खेती का आविष्कार हुआ तब से धीरे-धीरे स्त्रियों की स्थिति गिरती गई। ऋग्वेद में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है। सम्भवतः स्त्रियों की वह अवस्था उस समय की है जब आर्यों का आगमन अम्बाला के आसपास ही हुआ था, पर ज्यों-ज्यों आर्य गण पूरब में बढ़ने लगे त्यों-त्यों वह अपनी सामाजिक परम्परा को भूलने लगे और यहाँ की प्राचीन जातियों की परम्पराओं को अपनाने लगे।

प्राचीन सामाजिक परम्परा—

ऋग्वेद के यम-यमी संवाद से सिद्ध है कि बहुत पहले सगे भाई बहनों में प्रणय सम्बन्ध था। कुछ जैन विद्वानों का मत है, कि ऋषभदेव से पहले भाई-बहनो में शादी होती थी। कहा जाता है कि इस प्रथा को बन्द करने में पुराने जैन महात्माओं का हाथ था। मामा और फुआ के लड़के लड़कियों में तो उत्तर प्रदेश में भी भगवान् महावीर के काल तक शादियाँ होतीं थी। महात्मा बुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु नगर के निर्माण के मूल में भी भाई-बहन की शादी की कथा है। प्राचीन साहित्य को देखने से यह भी मालूम होता है कि उत्तर और उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में ही बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रबल थी। इस प्रदेश में बहुपत्नीत्व का विधान तक बनाया गया। वस्तुतः कुल के बढ़ाने का जरिया सन्तानका बढाना था और सन्तान बढ़ाने का तरीका था अनेक स्त्रियों को रखना। इससे सैनिक शक्ति भी बढ़ती थी और जीती हुई जमीन पर कुल का अधिकार भी बना रहता था। कुल को पवित्र रखने की भावना भी मामा-फूफू जात भाई-बहिनों की शादी में निहित है। यह कुलाभिमान भी स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा को जकड़ने का एक बड़ा कारण है।

बौद्ध-काल में सामाजिक वातावरण—

उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर और यह भी देखते हुए कि बुद्ध का धर्म वैराग्य-प्रधान था, बौद्ध-संस्कृति में नारी का स्थान निश्चित करना उचित होगा। कोई भी महापुरुष

अपने आदर्श को अपने समय की जमीन पर उतारना चाहता है । इसलिए वह जो कुछ भी करता है, उस पर पूरा विचार करने के लिए समसामयिक सामाजिक धरातल की जानकारी आवश्यक है ।

एक समय महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु में विश्राम कर रहे थे । उसी समय महाप्रजापति ने वहाँ जाकर प्रणाम पूर्वक निवेदन किया—"प्रभो, स्त्रियों को भी गृहत्याग करके अपने प्रचारित धर्म अनुशासन में रहने और भिक्षुणी बनने की अनुमति प्रदान करें तो बड़ा कल्याण हो ।" इस पर बुद्ध ने कहा—"गौमती, तुम ठीक कहती हो, पर स्त्रियों के इस प्रकार की अनुमति पाने से तुम्हारा आनन्दित होना उचित नहीं ।" महाप्रजापति के तीन बार निवेदन करने पर भी भगवान् ने यह एक ही उत्तर दिया । इस पर वह दुःखी और उदासी होकर चली गई ।

कुछ दिनों बाद एक दिन महाप्रजापति ने सिर मुंड़ा, गेरुआ रंग का वस्त्र पहन, कुछ शाक्य स्त्रियों को साथ ले वैशाली की ओर, जहाँ उस समय भगवान बुद्ध थे, प्रस्थान किया । महाप्रजापति के साथ शाक्य स्त्रियो का यह सत्याग्रही दल जिस संघाराम में भगवान् निवास करते थे उसके दरवाजे पर आ डटा । बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द को यह खबर मिली—उसने महाप्रजापति से पूछा । उत्तर मिला, "आनन्द, भगवान् तथागत स्त्रियों के गृहत्याग और अपने धर्मानुशासन के अनुकूल भिक्षुणी होने की अनुमति नहीं देते, इसलिए हमलोग यहाँ खड़ी है ।" आनन्द ने महाप्रजापति के आने का उद्देश्य भगवान् को बताकर निवेदन किया कि महाप्रजापति की कामना पूर्ण करें । इस पर भगवान् ने कहा—"आनन्द तुम ठीक कहते हो; पर स्त्रियों को इस प्रकार अनुमति देना ठीक नही है ।" इस पर युक्ति के साथ आनन्द ने पूछा—"प्रभु, ससार त्याग करके भगवान् के प्रचारित नियम, और अनुशासन का पालन करती हुई वे स्त्रियाँ यदि भिक्षुणी हों, तो क्या उपदेश ग्रहण करने से वे धर्म को न पा सकेंगी, या निर्वाण के दूसरे अथवा तीसरे सोपान पर न चल सकेंगी या अर्हत्-पद को पा सकने में समर्थ न होंगी ?" उत्तर मिला—'यह सब शक्ति उनमें हैं' । इस पर अनेक प्रकार से आनन्द के समझाने पर बुद्ध ने आठ सरल अनुशासनो के पालन का वचन लेकर महाप्रजापति को अपनी साथियो के साथ भिक्षुणी होने की अनुज्ञा दी । पर साथ ही भगवान ने यह बता दिया —"आनन्द, स्त्रियाँ यदि गृहस्थाश्रम-धर्म का त्याग करके तथागत के नियम और अनुशासन के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति न पाती, तो यह पवित्र धर्म बहुत दिनों तक चल सकता, यह श्रेष्ठ अनुशासन हजार वर्ष तक टिकता । पर आनन्द, चूँकि स्त्रियों ने अनुज्ञा प्राप्त कर ली इसलिए यह पवित्र धर्म बहुत दिनों तक स्थायी नही रह सकेगा, और यह उत्कृष्ट अनुशासन पांच सौ वर्ष मात्र चलेगा ।

बौद्ध-जीवन में नारी का आगमन–

उपर्युक्त कथन का अर्थ यह कदापि नहीं कि बुद्ध स्त्रियों को हीन समझते थे । बुद्ध के जीवन में अम्बपाली वेश्या से लेकर सभ्रान्त से सभ्रान्त महिला के लिए कहीं भी अवमानना नही है । बुद्ध "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" सर्व-त्यागियों और अपरिग्रहियों की एक विराट सेना जुटाना चाहते थे । वे क्रोध को क्षमा से, कुचरित्रता को सच्छील से (दुनिया के, स्वर्ग के या मुक्ति के)

लोभ को दान से और झूठ को सत्य से जीतने वालों का संघ स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए अपरिग्रह की सख्त जरूरत थी, और तात्कालिक समाज में परिग्रहों में स्त्री परिग्रह पहला था। यही कारण था कि स्त्रियों को प्रव्रजित होने से वे सुखी नहीं हुए। उनका वैसा सोचना सही भी था। बीस पुरुषों के एक साथ रहने से भी उनका ससार एक कदम आगे नहीं बढ़ता, पर यदि वहाँ एक भी स्त्री आ गई, तो उनकी दुनिया कहाँ से कहाँ चली जाती है। कारण स्पष्ट है। प्रकृति स्त्री के द्वारा विकास पाती है अथवा यों कहें कि प्रकृति के विकास का साधन स्त्री है। इसलिए अहिंसक सैनिकों को उस काल में स्त्री परिग्रह से बचाना बुद्ध के लिए जरूरी था। पर जब उन्होंने स्त्रियों को प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दे दी, तब सभावित दोषों के मार्जन के लिए आठ अनुशासन भी लगा दिए।

संघ में दाखिल हो जाने पर भिक्षुणियों के लिए भी नियम बने। कुछ विद्वानों के अनुसार इन नियमों की संख्या छियालीस है। इन नियमों में यौन सम्बन्ध के प्रति तीव्र सजगता है। साथ ही एक नियम यह भी है कि—'भिक्षु भिक्षुणी को नमस्कार नहीं करेगा, अथवा सम्मान नहीं प्रदर्शित करेगा।' ऐसे नियम किस अभिप्राय से बनाये गये, यह बताना कठिन है, पर इसमें शक नहीं कि इनसे स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा सकुचित हुई। मनु-काल में तो ये नियम और भी कड़े थे।

विद्वानों का मत है कि 'मानसिक, नैतिक, पारिवारिक एव सामाजिक दुःखों से छुटकारा पाना अथवा किसी असह्य अवस्था से मुक्त होने के लिए स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और पिता को छोड़कर संघ की शरण लेती थी। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि ....बहुत सी युवतियाँ ज्यादा रुपयों में बिकने के अपमान से बचने के लिए और बहुत सी चिन्तनशील स्त्रियाँ युग-युगान्तर के सस्कारों से अपने को मुक्त करने तथा मुक्तिपथ की बाधाओं से बचने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती थी। सघ की शरण में जाकर स्त्रियों को अपनी मुक्ति की साधना में सभी सुविधाएँ थी। श्रमण संस्कृति में खासकर बौद्ध संस्कृति में ध्यान को बहुत महत्त्व दिया गया। ध्यान के लिए जंगल ही पहले उपयुक्त स्थान समझा जाता था। सघ में शामिल होने वाली भिक्षुणियो के लिए अरण्य निवास करना होता था। ऐसे ही अवसर पर बौद्ध भिक्षुणियों में सर्व श्रेष्ठ उत्पल वर्णा पर आसक्त उसके मामा के लड़के नन्द ने धोखे से उस पर अत्याचार किया। उत्पल वर्णा ने जब इस अत्याचार की कथा भगवान से कही, तब बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए अरण्य निवास का निषेध कर दिया। भिक्षुणी शुभा पर जीवक के आम्र कुंज में भ्रमण करते समय एक लम्पट ने बुरी नीयत से आक्रमण किया, जब समझाने पर भी नहीं माना, तो शुभा ने क्रोध से उसका हाथ पकड़कर झटक दिया। इस तरह और भी कितनी घटनाएँ उस समय की भिक्षुणियो के चरित्र बल पर प्रकाश डालती हैं।

बौद्ध संघ में बहुत सी चिन्तनशील स्त्रियाँ बौद्धिक और आध्यात्मिक आकर्षण से प्रविष्ट हुई थीं। निश्चय ही सघ में दाखिल होने के पहले उनकी जिज्ञासा बलवती थी। पर उस काल में स्त्री शिक्षा के लिए किसी विद्यालय का जिक्र नहीं मिलता। घरों में ही लड़कियों की शिक्षा होती थी और घरों के अन्दर ही उनकी धार्मिक जिज्ञासा भी जगती थी। बाद में जब भिक्षुणियों का संघ बन गया तो उनकी शिक्षा की ठीक व्यवस्था मठों में हुई। मठों में भिक्षुणियों को विधिवत् बौद्ध-

शास्त्रों तथा और भी सामाजिक चिन्ताधाराओं का ज्ञान कराया जाता था। विद्वानों का मत है कि थेरी गाथा बौद्ध भिक्षुणियों की रचना है। प्राचीन पाली साहित्य में दर्जनों धुरन्धर दार्शनिक भिक्षुणियो का जिक्र मिलता है। संयुक्त निकाय में सुक्का नामक एक भिक्षुणी द्वारा राजगृह में धर्मोपदेश का उल्लेख है। भिक्षुणी क्षेमा का विनयपिटक पर पूरा अधिकार था। वह वक्तृत्व-कला में निपुण थी। कहा जाता है कि एक बार प्रसेनजित ने उसके पास जाकर पूछा—"मृत्यु के बाद जीव का पुनर्जन्म होता या नही ? ।"

क्षेमाः— 'भगवान् बुद्ध ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया है।"

राजाः— "भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर क्यों नही दिया है ?"

क्षेमाः— "आप ऐसे किसी को जानते हैं, जो गंगा की बालू और समुद्र के जल-बिन्दुओं को को गिन सके ?"

राजाः— नही।

क्षेमाः— "यदि कोई पचस्कन्धों के आकर्षण से अपने को मुक्त कर सकेगा, तो वह असीम अतलस्पर्शी समुद्र का आकार धारण कर सकेगा, अतः मत्यु के बाद जीव के पुनर्जन्म की धारणा अतीत की बात है।" इस उत्तर से राजा खुश हो गया। उसी काल में भद्दा कुण्डलकेशा सारिपुत्र के समकक्ष पण्डिता थी।

बौद्ध-धर्म की व्यापकता—

बौद्धधर्म का प्रधान सुर था—"बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" इसलिए उसमें प्रचार की भावना बहुत बलवती थी। यह बहुत आसानी से कहा जा सकता है कि सेवा और नम्रता से अपने सिद्धान्त के प्रचार का उदाहरण बौद्ध-धर्म के अलावा और कहीं नही है। सम्राट् अशोक के प्रोत्साहन से बौद्ध संघ के अन्दर प्रचार की भावना और भी बलवती हुई। सम्राट् अशोक की पुत्री ने प्रव्रज्या ग्रहण की और सिंहल में बौद्ध धर्म के प्रचार का जिम्मा लिया। उसके साथ बहुत सी पण्डिता भिक्षुणियाँ सिहल में धर्मप्रचार के लिए गईं। संघमित्रा त्रिविध विज्ञान मे पारदर्शिनी थी। विनयपिटक पर उसका पूरा अधिकार था। अनुराधपुर के बौद्ध बिहार में सुत्तपिटक के पाँच और अभिधर्म के सात ग्रंथो की वह शिक्षा देती थी। इसके अलावा अजलि, उत्तरा, सपत्ता, छन्ना, उपालि, रेवती इत्यादि करीब तीस सर्व-शास्त्र-पारंगता भिक्षुणियो का जिक्र सिंहल के साहित्य में मिलता है।

बौद्धधर्म सदाचार-परायणता, बुद्धि की प्रधानता और लोक-जीवन के मेल के साथ जोरों से फैलता गया। जैसे-जैसे बौद्ध-धर्म बढ़ता गया, वैसे-वैसे ही क्रमशः उसमें नाना प्रकार के लोग भी आते गये। बुद्ध-निर्वाण के १०० वर्ष बाद, अर्थात् वैशाली की संगति के पश्चात् उसमें दो सम्प्रदाय हो गये थे। अशोक के समय में बौद्ध संघ में कुछ अवांछनीय व्यक्ति आ गये थे, जिन्हें निकाला गया था। बौद्ध के द्वारा प्रोत्साहन मिलने से बौद्धधर्म पूरी बाढ़ पर था। इस काल में हजारों मठ बने।

मठों में दान की विपुल सम्पत्ति जमा होने लगी। संघ में भिक्षुणियों का प्रवेश पहले ही हो चुका था। इस प्रकार जिस धर्म में परिग्रहण का कोई स्थान नहीं था, भिक्षु के लिए जहाँ सिर्फ तीन चीवर और एक पात्र रखने की आज्ञा थी वहाँ (स्त्री, सम्पत्ति) दोनो प्रधान परिग्रह जमा हो गये। इसका जो परिणाम होना था वही हुआ। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में बौद्धधर्म के अन्दर एक वैपुल्यवादी सम्प्रदाय पैदा हो गया। यह सम्प्रदाय बुद्ध के मूल उपदेशों से अलग जा पड़ा। इसका कहना था —(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध या उसका उपभोग करता है, न संघ को देने में महाफल है; (२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न बुद्ध ने धर्मोपदेश किया, (३) खास मतलब से (एकाभिप्रयाण) ब्रह्मचर्य का नियम तोड़ा जा सकता है। यहाँ ऐतिहासिक बुद्ध के अस्तित्व से इन्कार किया गया है, संघ के प्रति गलत धारणा का प्रचार किया गया है और ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता हटा ली गई है। इससे साफ जाहिर होता है कि दूषित मनोवृत्ति के भिक्षुओं ने अपनी सुविधा के लिए इस सिद्धान्त को गढ़ा। राहुल जी इन्हीं तीनो बातों के अन्दर महायान और वज्रयान के बीज पाते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि बौद्ध मठों में अनाचार फैल गया। भिक्षु और भिक्षुणियाँ दोनों का चरित्र भ्रष्ट हो गया और लोकदृष्टि में उनका मूल्य गिर गया। इन्ही तथा कुछ और कारणो से बौद्ध धर्म का ह्रास हो चला। इस तरह भगवान् बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार पांच सौ साल बाद उनके अनुशासित धर्म का अन्त हो गया।

बौद्ध-कालीन सामाजिक नियम—

बुद्ध के समय में कोई सार्वभौम सत्ता नही थी, इसलिए किसी सार्वभौम सामाजिक कानून का पता नही लगता। पर बुद्ध निर्वाण के १५८ वर्ष बाद सन् ईसवी से ३३५ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य ने सार्वभौम सत्ता कायम की। उसीके समय मे उसके प्रधान मत्री कौटिल्य ने "अर्थ-शास्त्र" नामक विधान-ग्रन्थ बनाया। कौटिल्य के पहले भी कुछ विधानग्रन्थ थे, जिनका अब पता नही लगता। इसमें शक नहीं कि वे सब विधान छोटे-छोटे गणतन्त्रो के रहे होगे। जो हो, पर इतना सही है कि कुछ प्राचीन पाली साहित्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र से उस काल की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, जिसके अन्दर से हमें स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा का पता लग सकता है।

धम्मपद अट्ठकथा के दूसरे खण्ड में उल्लेख है कि १५ साल की उम्र में लड़कियों के मन में पुरुष संग लाभ की इच्छा बलवती हो उठती है। विद्वानों का मत है कि साधारणतः लड़कियों की शादी १५ वर्ष की उम्र में कर दी जाती थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र (प्रकरण २७ कन्याकर्म ११, १२, १३) के अनुसार—"यदि तीन वर्ष तक मासिक धर्म होने पर भी कन्या न व्याही जाय तो उसकी जाति का कोई भी पुरुष उसका संग कर सकता है। यदि तीन साल से अधिक वक्त गुजर जाय तो किसी भी जाति का पुरुष उसको अपनी स्त्री बना सकता है। पर लड़की के माता-पिता का आभूषण लेने पर उसे चोरी का दण्ड दिया जा सकता था।" इससे ज्ञात होता है कि उस काल में लड़कियों की रक्षा और उनकी शादी की समस्या थी।

साधारणतः तीन तरह के विवाह उस समय प्रचलित थे । (१) उभयपक्ष के माता-पिता द्वारा स्वीकृत (२) स्वयंवर और (३) गन्धर्व विवाह । पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के विवाह का विधान है । कौटिल्य गन्धर्व विवाह को अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था । इससे मालूम होता है कि सामाजिक विश्रृंखलता को दूर करने के लिए गन्धर्व विवाह पर हल्के नियन्त्रण की जरूरत थी । शादी के समय मुहूर्त देखने और नक्षत्रों की गतिविधि पर चलने की प्रथा उन दिनों थी । नक्खत्त-जातक से मालूम होता है कि ठीक मुहूर्त पर बारात न आने पर एक ग्रामवासी ने उसी मुहूर्त पर अपनी लड़की की शादी दूसरे के साथ कर दी । जब पूर्व निश्चित बाराती आए तब उन्हें वापस जाना पड़ा । विवाह के समय दहेज की प्रथा थी । माता-पिता अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को सम्पत्ति, ग्राम, दास और दासी भी देते थे । शायद इस दहेज के अधिकांश पर स्त्री का ही अधिकार होता था । वह स्त्रीधन समझा जाता था । कौटिल्य कहता है कि स्त्री-धन दो प्रकार का होता है, एक वृत्ति, दूसरा आवध्य (गहना, आभूषण आदि) वृत्ति वह स्त्री-धन कहलाता है, जो स्त्री के नाम से कहीं जमा किया हो । उसकी तादाद कम से कम दो हजार होनी आवश्यक है । इस स्त्री-धन को पति के विदेश चले जाने पर लाचारी अवस्था में परिवार पर विपत्ति के समय या पति के बिना किसी प्रकार की सम्पत्ति छोड़े मर जाने पर स्त्री को खर्च करने का अधिकार रहता था । पर कहीं कौटिल्य यह भी कहता है कि पति के मर जाने के बाद यदि स्त्री अपने ससुर की इच्छा के विरुद्ध दूसरा विवाह करना चाहे, तो वह उस धन की अधिकारिणी नहीं होगी ।

बौद्ध-धर्म के नारी निर्देश—

विवाह के बाद ससुराल जाने के समय लड़की को कुछ उपदेश दिये जाते थे । उन उपदेशों से भी स्त्रियों की दशा पर रोशनी पड़ती है । उपदेश इस प्रकार हैं—घर की अग्नि बाहर न ले जाना, बाहर की अग्नि भीतर न लाना, जो देने लायक हो उसीको देना, जो देने लायक न हो उसे न देना, जो देने लायक और न देने लायक हो, उन दोनों को देना, सुख से बैठना, सुख से भोजन करना, सुख से सोना, अग्नि परिचर्या करना और गृहदेवता की भक्ति करना ।

इस मूल उपदेशों की व्याख्या इस प्रकार की जाती थी ।

(१) यदि सास या परिवार की दूसरी स्त्रियाँ घर में किसी बात की चर्चा करें तो, उसे किसी दास दासी से न कहना । कारण, इससे उक्त चर्चा को लेकर तरह-तरह की कल्पना और गृह-कलह की सम्भावना होती है ।

(२) दास-दासी जो कुछ चर्चा करे उसे परिवार के लोगो पर जाहिर न करना । कारण, इससे नाना प्रकार की बातें पैदा होती हैं और झगड़ा पैदा होता है ।

(३) सिर्फ उसी को उधार देना , जो वापस दे सके ।

(४) उसे उधार मत देना जो वापस न दे सके ।

(५) यदि गरीब कुटुम्बी, रिश्तेदार, बन्धु मांगे तो वापस मिलने का ख्याल न कर देना ।

(६) सास ससुर को देख कर शिष्टता पूर्वक बैठना अथवा खड़े हो जाना ।

(७) सास, ससुर, पति और अपने से बड़ी स्त्रियों की सोने की व्यवस्था के बाद सोना ।

(९) सास, ससुर, पति के प्रति आदर का भाव रखना ।

(१०) यदि किसी समय कोई श्रमण दरवाजे पर आ जाय तो आदरपूर्वक उसको भोजन से तृप्त करना । (धम्मपदत्थ कथा, प्रथम खंड)

बौद्ध-गृहिणियाँ—

बौद्ध गृहिणी में उपर्युक्त सेवाभाव के साथ ही स्वाभिमान का गौरव भी उचित मात्रा में था । अंगराष्ट्र निवासी धनंजय सेठ की पुत्री विशाखा ने अपने बहुत बड़े धनशाली ससुर श्रावस्ती के मिगार सेट्ठी के क्रोध की कुछ परवाह नहीं की । विशाखा अपने ससुर को भोजन करा रही थी, इसी समय श्रमण दरवाजे पर आया । श्रमण को देखकर मिगार सेट्ठी नीची गर्दन कर खाता रहा था, इस पर विशाखा ने कहा —"माफ करे भंते । मेरा ससुर पुराना खाना खाता है ।" इस पर मिगार सेट्ठी ने क्रुद्ध होकर खाना हटा दिया और दासियों से कहा कि विशाखा को इस घर से निकाल दो । पर विशाखा वैसी न थी; उसने कहा—"तात, मैं वचन मात्र से नहीं निकलती, मैं कुम्भदासी की तरह पनघट से तुम्हारे द्वारा नहीं लाई गई हूँ । ... आओ कुटम्बियों को बुलाकर मेरे दोषों पर विचार करो ।" आठों कुटुम्बी जुटे और उन्होंने विशाखा के पक्ष में फैसला किया । इस पर विशाखा ने कहा—'पहले मेरे ससुर के वचन से मेरा जाना ठीक न था । मेरे आने के दिन मेरे पिता ने दो शोधन के लिए तुम्हारे आठ कुटुम्बियों के हाथ में रख कर मुझे दिया था । अब मेरा जाना ठीक है ।' यह कह कर दास-दासियों को पान तैयार करने की आज्ञा दी । तब उन कुटुम्बियों को लेकर सेट्ठी ने विशाखा से क्षमा याचना की ।

बौद्ध-कालीन दासिनी-नारी—

दास-प्रथा उस काल में थी—दास-दासियों का क्रय-विक्रय भी होता था । किसी-किसी परिवार में सैकड़ों दास-दासियाँ रहती थी । अपनी योग्यता से मालिक को खुश करके दासियाँ मुक्त हो जाती थीं । अनाथ पिंडक ने अपनी क्रीत दासी पुन्ना को तर्क में होशियार होने के कारण मुक्त कर दिया । थेरीगाथा के अनुसार दासों के ऊपर मालिक का पूर्ण अधिकार था । मालिक जब तक उसे मुक्त न करे, उसका छुटकारा नहीं था । कभी-कभी गुस्से में मालिक दासों को मार भी डालते थे । दास-दासियों में चोरी-चोरी की कुचरित्रता भी थी । बुद्ध के प्रचार जन-चित्त दासों के प्रति कुछ करुणासिक्त हुए। यही कारण है कि दासों को मुक्त होने का रास्ता कौटिल्य ने निकाला कि दास की सन्तान पर उसके मालिक का अधिकार न होगा ।







चित्र ८ : वाचक आर्यदत्त के अनुरोध से गोप नामक लुहार द्वारा बनवाई हुई सरस्वती प्रतिमा



मथुरा जैन-स्तूप—खुदे हुए जैन चरण

नये चीन की नारी

श्री देवेन्द्रपाल 'सुहृद' एम० ए०

चीन में नारी-जागरण—

अभी एक अर्ध-दशाब्दी भी न बीती होगी जब कि चीनी महिलाओं को पशुओं के समान बाजार में बेचा जाता था। उन्हें घरों से बाहर झाँकने तक की आज्ञा न थी। चीनी एक कहावत है जिसका अर्थ है कि 'स्त्री का बचपन में पिता की, जवानी में पति की और बुढ़ापे में पुत्र की आज्ञा पालन करना ही परम-धर्म है।' संरक्षकों की जैसी इच्छा हुई किसी भी काने, भेड़े, लंगड़े, लूले, बूढ़े, जवान के साथ शादी कर दी और उस होने वाले पति को उस बेचारी स्त्री को दिखाया तक न जाता था। गृहस्थ-जीवन में उनके साथ दासियों और गुलामों जैसा व्यवहार किया जाता था। वे अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकती थीं। पति मनोरंजन में कहे वाक्यों तक पर पत्नी को त्याग सकता था अथवा मार-मार कर उसके प्राणान्त तक कर सकता था किन्तु विवश चीनी नारी पति द्वारा पाशविक अत्याचार करने पर भी उसे छोड़ नहीं सकती थी। बाल-विधवाओं की दुवारा शादी करने से उन्हें मरवा देना श्रेयस्कर समझते थे। व्यापार, कला, कौशल, समाजसेवा शिक्षा आदि में उनका प्रवेश वर्जित था। यदि इस संसार में उनका कोई काम था तो केवल पति की गुलामी करते हुए उसके लिए बच्चे पैदा करना। शिक्षा के नाम पर उन्हें काला अक्षर भैंस बराबर था। पर स्वतन्त्र होने के बाद तीन वर्ष में ही चीनी महिलाओं ने आशातीत उन्नति की है जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यहाँ हम चीनी नारी की विभिन्न क्षेत्रों में की गई प्रगति पर विचार करने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा—

नये चीन की नारियों में साक्षरता आन्दोलन को बहुत सफलता मिली। शिक्षा-प्रसार के लिये वहाँ की जनता ने चीनी सरकार की ओर न देखा अपितु वहाँ की समाजसेवी संस्थाओं ने स्वयं ही शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। 'अखिल चीनी नारी संघ' और 'अखिल चीनी श्रम संघ' ने रात के स्कूलों की स्थापना की। इन स्कूलों द्वारा पिछले दो वर्षों में ही डेरिन और पोर्टआर्थर दो नगरों में १२८००० नारियों को साक्षर बनाया जा सका। पैकिंग विश्वविद्यालय में सन् १९४८ में ५% छात्राएँ नहीं थीं वहीं पर सन् १९५० में ७००० विद्यार्थियों में से ३०% छात्राएँ हो गईं। इसी प्रकार के कुछ और आंकड़े भी हमें शिक्षा में की गई प्रगति से परिचित करा सकेंगे। हारबिन में तीन वर्ष पूर्व एक मिडिल स्कूल था जिसमें ५ छात्राएं पढ़ती थीं किन्तु आज उसी हारबिन में ७ मिडिल स्कूल हैं जिनमें

चौथाई संख्या छात्राओं की है। चीन में छात्र छात्राएँ सभी मिलकर एक साथ पढ़ते हैं। जिन स्कूलों में पहले नाम के लिए कुछ छात्राएँ होती थी सन् ५० के आंकड़ों से विदित होता है कि चीन के प्राइमरी स्कूलों में ४० %, मिडिल स्कूलों में २८ % तथा उत्तरी चीनी विश्वविद्यालय, उत्तरी विज्ञान इन्स्टीच्यूट आदि में छात्राओं की संख्या ३० % से भी अधिक थी। आज वहाँ हर ग्रामीण-कृषक परिवार की नारी, संसार और विशेषतः अपने देश के बारे में जानने के लिए, दैनिक समाचार पत्र पढ़ना अपना प्रमुख कार्य समझती है। अक्षर ज्ञान के साथ-साथ इन चीनी नारियों की औद्योगिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। जापानियों की भाँति आजकल ये भी गृहउद्योग कला में पूर्ण पारगत हैं। ग्रामीण दाइयों को चलते-फिरते स्कूलों द्वारा आधुनिक शिशु-उत्पादन-क्रियाओं की शिक्षा दी गई, जिससे कि वे नये औजारों से काम लें और बच्चा आसानी से बिना अपनी माँ को विशेष कष्ट दिये नीरोग पैदा हो। मिलों में काम करने के लिए उन्हें कल-पुर्जों से भी विज्ञ बनाया गया। शिशु-रक्षक-गृहों में उचित व्यवस्था रखने के लिए शिशु-पालिकाओं को विशेष शिक्षा दी गई जिससे कि वे बच्चों का स्वास्थ्य ठीक प्रकार से रख सकें। इस प्रकार चीनी नारी को जीवन के हर सम्भव पहलू पर शिक्षित बनाने के प्रयास किये गये और वे विशेषत. सफल हुए।

मनोरञ्जन के ढंग—

शिक्षा-प्रसार से पूर्व चीनी नारियों का प्रिय मनोरंजन का ढंग केवल तास खेलना था। उसके बाद वह कैरम तथा अन्य नडोर (घर में खेलने वाले) खेल भी खेलने लगी थी। किन्तु आज वे स्वतन्त्र हैं और क्लबों में जा स्वास्थ्यप्रद वातावरण में मनोरंजन करती हैं। सिनेमाओं द्वारा वहाँ मनोरंजन ही नहीं किया जाता अपितु उन्हें विभिन्न सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य विषयों में शिक्षा भी मनोरंजन के साथ निहित होती है। इस प्रकार मनोरंजन तो होता ही है स्वास्थ्य और ज्ञान की भी वृद्धि होती है।

व्यापार और उद्योग—

पिछले दो वर्षों में महिला-औद्योगिक-कर्मचारियों की सख्या बहुत बढ़ गई है। चीन को स्वतन्त्रता मिलने के बाद वहाँ की नारियों को पुरुष के साथ बराबरी का अधिकार मिल गया है। वहाँ की नारी-मजदूरों को सब एक से कामों में पुरुष-मजदूर के बराबर ही तनख्वाह दी जाती है। संघाई जो चीन का प्रमुख औद्योगिक केन्द्र है वहाँ पर टैक्सटाइल कर्मचारियों में ७५ % से ८० % तक महिला कर्मचारी हैं। यहाँ औद्योगिक-महिला-कर्मचारियों की सख्या लगभग ४२४००० है जो विभिन्न क्षेत्रों पर काम कर रही हैं। चीन में बहुत-सी व्यापारी संस्थाएँ केवल महिलाओं द्वारा ही चलाई जाती हैं। कृषि में भी चीनी नारियों ने विशेष अभिरुचि दिखाई और कहीं-कहीं तो कृषकों में भी नारियों की संख्या ८० % तक पहुँच गई है। चीनी नारियों के इस क्षेत्र में आने से पुरुष और स्त्री दोनों की उत्पादन शक्ति बढ़ गई है। कुछ वर्ष पूर्व चीन भी लाखों टन अनाज विदेशों से मँगाता था किन्तु आजादी के केवल दो वर्षों में ही उसने अपना उत्पादन अपनी पूर्ति तक ही न बढ़ाया अपितु वह अब इस योग्य

हो गया है कि दूसरे भूखे नंगे देशों को भी कुछ सहायतार्थ भेज सके। इस प्रकार चीनी नारियों ने भूखे और नंगे चीन को सुख सम्पन्न बनाने में अपना कर्तव्य पूरा पूरा अदा किया।

सैनिक सहायता—

चीन के स्वाधीनता संग्राम में भी चीनी नारियों ने सैनिकों की भरसक सहायता की। घर के कामों में व्यस्त रहने पर भी रात्रि में जग कर उन्होंने स्वेच्छा से सैनिकों के लिए कपड़े सिये, स्वेटर और मोजे बुने, जूते बनाये तथा भोजन तैयार किया। कहा जाता है कि उत्तरी क्यांगसू के एक जिले में ३००००० महिलाओं ने दो दिन में ६२१५१४ जूतों की जोड़ी सैनिकों को बना कर दी, जिन्हें पहन कर वे यांगटन नदी को पार कर सकें। इसी प्रकार शन्टंग में लाब्यू की लड़ाई के समय ५ लाख किलोग्राम भोजन का प्रबन्ध वहाँ की नारियों ने केवल एक सप्ताह में ही कर दिया। किन्तु यूं यूं में तो ७२ घंटे में ही बिना सोये वहीं की चीनी नारियों ने ३ लाख किलोग्राम भोजन सैनिकों के लिये तैयार किया। लड़ाई के मैदान में उन्होंने समाचार वाहक, डाक्टर, नर्स, टेलीफोन आपरेटर आदि के रूप में चीन के स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया।

समाज और राजकीय सेवाएँ—

चीनी नारियों ने अपने समाज के हर पहलू में सुधार करने के भरसक प्रयत्न किये। निरक्षरता और रूढ़िवादी अप्रगतिशील प्रथाएँ मिटाने में चीनी नारियों ने बडे साहस से मोर्चा लड़ा है। और नये चीन का मार्ग कटक मुक्त बना दिया है। चीन की नई सरकार बनने पर नारियों ने भी उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर काम किया। Chinese Peoples P. C. C, जिसे चीन की नई सरकार बनाने के लिए निमन्त्रित किया गया। उसके ६६२ प्रतिनिधियों में ६९ महिलाएँ भी थी। इसी प्रकार पीपुल्स कांग्रेस के प्रतिनिधियों में १२०७ औरतें हैं। केन्द्रीय पीपुल्स सरकार के वायस चेयरमैन में एक महिला भी चेयर मैन है। ो केन्द्रीय चीनी कौंसिल तथा १९ मिनिस्टर आदि पदों पर काम करती है। लिग्याई और सांग्षू में ८०० नारियाँ सरकारी पदों पर काम कर रही है जिनमें से २६० गाँवों की प्रमुख मुखिया नारी ही हैं। इसी प्रकार मन्चूरिया में १०५ काउन्टी मजिस्ट्रेट, १३ प्रान्तीय उच्च पदाधिकारी, २९० जिलाधिकारी, २६२९ मुखिया तथा २४८४ विभिन्न सरकारी पदों पर नारियाँ ही काम कर रही हैं। इन अकों से हमें चीनी नारियों की प्रगति के विषय में भी एक अच्छा खासा ज्ञान होता है।



विहार–

विहार की प्राकृतिक सुषमा

श्री रञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य

सुषमा के उपादान—

नदी-निर्झरिणी, जंगल और पहाड़ ये तीनों प्राकृतिक वैभव के तीन मुख्य उपादान हैं। इन तीनों की रमणीयता जितने उत्कर्ष को छूती रहेगी, प्रकृति की शोभा उतनी ही सुषमा बनती चली जायगी। इस दृष्टि से विहार प्राकृतिक सुषमा से सर्वाङ्गतः संपन्न है।

यों तो समस्त आर्यावर्त ही मनोमोहिनी प्रकृति की गोद में बसा है। फिर भी, विहार आर्यावर्त के उद्यान के नाम से चिर-प्रसिद्ध है। अगर विहार पर वैमानिक विहंगम-दृष्टि डाली जाय तो उक्त कथन की सत्यता असत्य नहीं होगी, यह असंदिग्ध है। विहार भवन-प्रधान प्रान्त नहीं, उपवन-प्रधान प्रान्त है। प्राकृतिक वैभव-विलास विहार का विशिष्ट शृंगार है।

विहार के सुन्दर-प्रदेश—

विहार में प्रसिद्ध प्राकृतिक प्रदेशों में दो प्रदेश गण्य हैं—मिथिला और मगध। प्राचीन काल में मगध का पाटलिपुत्र तो 'दशकुमार चरितम्' के रचयिता संस्कृत कवि दण्डी के शब्दों में 'मगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी (फूलों की नगरी) नाम नगरी' था। और, मिथिला तो अब भी 'विहार का उद्यान' कहलाती है। अभी भी वहाँ की सघन अमराई की स्निग्ध श्यामल शीतल छाया में पछी मैथिल-कोकिल के प्रेम गीत गाते हैं और संकल मिश्र एवं उनकी भारती का बखान किया करते हैं। विहार में सोना भी है और सौरभ भी। अतएव, विहार में, प्राकृतिक वनज और खनिज साधनों का स्वर्ण-सुगंध संयोग हुआ है।

उत्तर विहार में यदि मिथिला की अनन्त छविमयी अमराई आह्लादमयी अंगड़ाइयाँ लेती है तो दक्षिण विहार में संथाल परगना, राँची, हजारीबाग और पलामू के प्राकृतिक पार्वत्य प्रदेशों में प्रकाण्ड सुषमा की सजीव सरसता सिहरती है।

संथाल परगने के दुमका-देवघर का अंचल और पार्वत्य प्रदेश तथा राजमहल की मनोहर दृश्यवती पहाड़ियाँ अति विचित्र आभा की अप्सरियों-सी नयनाभिराम प्रतीत होती है।

रांची की सुवर्णरेखा नदी का स्वर्णिम सैकत प्रदेश प्रकृति की हृदयहारिणी क्रीड़ाभूमि है। पहाड़ी धाराएँ मिलकर सुवर्णरेखा बनी है और वह 'हुंडू' जल प्रपात में परिणत होकर अधित्यका में अंगड़ाती, इठलाती हुई जिस व्यक्ति को अपने सौंदर्य-प्रदर्शन से सौभाग्यशाली बनाती है वह एक अमन्द आनन्दमयी स्मृति की मन्दाकिनी में प्रवाहित होता रहता है, आजीवन। 'हुंडू' जलप्रपात बिहार की प्राकृतिक सुषमा-निधियों में अन्यतमस्थानीय है। इसके अतिरिक्त रांची जिले के अन्दर शंख, उत्तरकोयल और दक्षिणकोयल ये तीन मुख्य नदियां बिहार के प्राकृतिक वैभव हैं। छोटानागपुर में नदी को कोयल कहते हैं जिसका अर्थ है, 'अनिश्चित'। सुवर्णरेखा यदि स्वर्णप्रसविनी है तो शंख नदी हीरकप्रसविनी। रांची वनबाला के हरिताचल और पर्वतमाला की मनोहारिणी पाषाण-वेणिका के सौंदर्य का अद्भुत क्षेत्र है जिसकी रूपराशि 'क्षणे-क्षणे नवता' प्राप्त करती है।

हजारीबाग तो नदी-वन-पर्वत का वह लहराता चंचल अचल है जो हृदय में हर्ष की हिलोर उत्पन्न करता है। हजारीबाग की पारसनाथ पहाड़ी बिहार की प्राकृतिक सुषमा का मानदण्ड है, जैसे। प्रकृति की सुन्दर और भयावह दोनों प्रकार (भय-हर्ष-विमिश्रित) की रूपकल्पनाओं का साकार प्रतीक है। दामोदर नदी की सहायक नदियाँ लीलाजन (नीलांजन) और मोहिनी वास्तव में अपनी लीलाओं से जन को मोह लेती है।

पलामू की वन्य और पार्वत्य शोभा अतिरमणीयता की विविध विचित्रता से भरी हुई है। शोणभद्र नदी की सलोनी सुषमा तो स्वप्न-जाल के आल-आल में उलझा डालती है।

पटना का राजगिरि पहाड़, गया की बराबर, ब्रह्मयोनि और प्रेतशिला पहाड़ियाँ, शाहाबाद की कैमूर की अधित्यका और गुप्तेश्वर गुफा, दरभंगा की कोशी और कमला नदियां, भागलपुर की मंदार और पत्थर-घाटा पहाडी एवं इन सब को भी अतिक्रमित कर समस्त बिहार-विहारिणी तरल तरंग, पावनस्पर्श गंगा नदी बिहार की प्राकृतिक सुषमा की अक्षय खान है जिससे बिहार का नाम अन्वर्थ है।

प्राचीन साहित्य में बिहार का सौन्दर्य —

वेद, पुराण और काव्य आदि संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त प्राकृत और पालिसाहित्य में बिहार का विमल वर्णन-बाहुल्य भरा-पड़ा है। संस्कार-सुन्दर संस्कृत साहित्य के आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के चौबीसवें सर्ग में करुष (शाहाबाद का क्षेत्र-विशेष, कदाचित् बक्सर) प्रदेश-स्थित ताटकावन की झिल्लीविका-विद्ध महत्सुन्दर प्राकृतिक सुषमा का मनोरम, परम रोमांचकर, वर्णन आदिकवि ने किया है—

> "अहो ! वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणसंयुतम् ।
> भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारवैः ॥
> नानाप्रकारैः शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवस्वनैः ।
> सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चापि शोभितम् ॥

बवाधवकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः ।
संकीर्णं बदरीभिश्च किन्विदं दारुणं वनम् ।।"

उपर्युक्त वर्णन से यह अस्पष्ट नहीं रह जाता है कि बिहार की प्राकृतिक सुषमा प्राचितः सपन्न है । कल्पना कीजिए कि जब उपरिवर्णित ताटकावन में वासन्ती विलास-वधू हरे-हरे पत्तों का घूंघट काढ़कर, पाटल के फूलों से माग भर कर झिल्लिका की झांझर (पायल) झनकारती होगी, उस समय की कानन-सुषमा कितनी मुखर और विभामयी हो उठती होगी !

वाल्मीकीय रामायण के ही बालकाण्ड के बत्तीसवें सर्ग में मागधी नदी (शोण) के और उसके तीरस्थित पाँच पर्वतों का कितना मनोमोहक चित्रण चमत्कृत हो उठा है—

"एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः ।
एते शैलवराः पंच प्रकाशन्ते समन्ततः ।।
सुमागधी नदी रम्या मागधान्विश्रुता ययौ ।।
पचाना शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ।।
सैषा हि मागधी राम ! वसोस्तस्य महात्मनः ।
पूर्वाभिचरिता राम ! सुक्षेत्रा शस्यमालिनी ।।"

उपर्युद्धृत चित्रण में 'एते शैलवराः पंच प्रकाशन्ते समन्ततः' और 'सुक्षेत्रा शस्यमालिनी' इन दोनों पर ध्यान दीजिए! साफ पता चल जायगा कि शस्यश्यामला बिहार भूमि का शोणप्रदेशीय स्थल बिहार की प्राकृतिक सुषमा में सलमा-सितारों के साथ चार चांद लगा देते हैं ।

बालकाण्ड के ही पैंतीसवें सर्ग में देखिए—कौशिकी नदी का एक चित्र है—

"कौशिकी परमोदारा प्रवृत्ता च महानदी ।
दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता ।।"

कौशिकी नदी के उपर्युक्त दिव्या, पुण्योदका और रम्या विशेषणों पर ध्यान देने से ज्ञाना-तीत नहीं रह जाता कि बिहार की कौशिकी नदी सुषमा-सम्पन्न प्राकृतिक वैभवों में से अद्वितीय है, जिसकी रम्यता बिहार की प्राकृतिक परम रमणीयता की प्रकाम द्योतिका है ।

सिंहावलोकितन्यायेन—वन-विलासी बिहार में, गंगा के उत्तर, चम्पारन जिले के उत्तर-पूर्व में, दून और सोमेश्वर का लगभग ३६४ वर्गमील में फैली हुई पहाड़ियाँ बिहार-विमंडिनी अनन्त प्राकृतिक शोभाश्री के वितान को तानती हैं । गंगा के दक्षिण भाग में, शाहाबाद जिले की कैमूर पहाड़ियाँ लगभग ८०० वर्गमील में फैली हुई हैं जिनकी विमल-प्रसारिणी सघन-सुन्दर वनराशि-श्यामल अंक में दो जलप्रपात धाराएँ वीचि-विलोल किलोल करती हैं ।

पर्वत-श्रेणियां और नदियां—

पटना जिले के दक्षिण-पूरब कोने पर राजगिरि पहाड़ पन्द्रह कोसो तक विहार—विश्व के वन्य प्राचीर की तरह प्रतीत होता, प्रचुर प्राकृतिक सुषमा से सुराजित है जिसकी गगन-मण्डस्पर्शिनी चोटी १४७२ फीट ऊँची है और, जिस पहाड़ की सुरम्यता कतिपय सुखशीत और सुखोष्ण निर्झरों से निरन्तर झर्झरायमाण रहती है जिसमें तन-मन के तरल-सुनुक तारों को विमल-मधुर झकार से हौले हौले झकझोरने की जादुई शक्ति है। गया जिले के दक्षिण में, प्राकृतिक वैभव-विलासिनी पहाड़ियों में दुर्वासा पहाड़ी २२०२ फीट ऊँची है जो सतत सुरवर्त्म का स्वादती रहती है जिसका दर्शन दृष्टि के दर्द को दमकती दामिनी की तरह सद्यः हरकर, उस पर आनन्द-चन्दन का अमिट आलेप कर देता है।

मुंगेर के दक्षिण, खड्गपुर की निर्झर-निनादिनी पहाड़ी सर्वातिख्यात है जिसकी प्रसिद्ध पंच-कुमारी (जलप्रपात) मन-प्राण के स्तर-स्तर को सुधा-सिक्त कर देती है। भागलपुर के सुलतान-गंज और कहलगांव में गगा के बीच तरंगमालाओं से खेलनेवाली पहाड़ियाँ गंगा की गर्वोन्नत गरिमा-मयी अभिलाषाओं सी बड़ी अच्छी लगती हैं जो अन्तस्तल में आनन्द के अनुपम आलिंगन-सुख को आन्दोलित कर देती हैं।

दक्षिण विहार के संथाल परगने के राजमहल की 'मोती'—स्रोतस्विनी पहाड़ी की अन्तः-सलिला प्रस्तर काया ने पर्याप्त प्रसार पाया है—जिले की उत्तरी सीमा से लेकर लगभग दक्षिणी सीमा-तक इसका श्यामल अंचल लहराता चला गया है जिसका नयनाभिराम आकर्षण, वनबाला के, काम तक को कवलित कर जानेवाले कज्जल किसलय-कुन्तल से और भी अधिक बढ़ जाता है। वैद्यनाथ देवघर की 'त्रिकूट' और 'तपोवन' पहाड़ियाँ, गोड्डा की जब्दी पहाड़ी तथा दुमका के सुमेश्वर नाथ, दोनों का नन्दन कानन ये सभी पल्लव-पर्यंकशायिनी प्रकृति-सुन्दरी की शाश्वत सुषमा का अचल-सौमनस्य सुहाग हैं। जहाँ सुमन के सौरभ को कंपित करने वाले दक्षिण समीर में प्रकृति-परी के लहर-चंचल अरमान लहराते हैं और जिसमें झूम-झूम कर प्रेम के गीत गानेवाले पंछियों के सरस मधुर स्वर गूंजते हैं। सुमेश्वर नाथ मन्दिर पराग-प्रफुल्ल काननबाला के स्वय बराबर जीभ लगा-कर पीते रहने के कारण गीले-मुस्कुराते विद्रुम-बिम्बाधरों के बीच दाड़िम-दन्त की तरह एक अलौ-किक हृदयहारिणी शोभा से ओत-प्रोत है।

हजारीबाग जिला तो पार्वत्य सौंदर्य के लिए सुख्यात है। लगभग ४५०० फीट ऊँचे पारसनाथ पहाड़ की गगनभेदिनी चोटी तो कौतुक से मानो ऊपर आकाश के उस पार की दिव्य दुनिया को देखने के लिए चली गई सी मालूम पड़ती है। जहाँ की सघन श्याम शीतल तरलतामयी निर्झरिणी की शिलाखंडों पर इतराती उतरती उत्कंठिता नायिका-सी धारा में जैन धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों का अमन्द सन्देश नंदित होता रहता है।

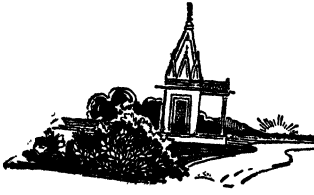
रांची जिले में, 'हुंड्रू' (३२० फ़ीट की ऊँचाई से गिरनेवाला) और 'दासो' (११४ फ़ीट की ऊँचाई से गिरनेवाला) जल प्रपात ३६१५ फीट तक ऊँचाई पर चली गई शिला-खंड-नितम्बिनी

शिखरिणी के पीन परिपुष्ट क्षरत्क्षीरधार पयोधरों के प्रवाह की तरह लोचन-लोभ लालित्य को क्षण-क्षण परिवृद्धि के कोमल कारण हैं। पलामू की नेहरहाट की चोटी, मानभूमि और सिंह-भूमि की सर्वोन्नतश्रृंगिणी 'दलमा' और 'बुंदा' पहाड़ी बिहार की प्रकृति की परम सुन्दरता के लिए पर्याप्त है।

पार्वत्य और नैर्झर सुषमा से संपन्न बिहार नदियों के [illegible] सुख से भी सन्तुष्ट है। उत्तर बिहार और दक्षिण बिहार की गंगा की सहायक नदियाँ तथा छोटानागपुर के अधित्यका-आसन से विचलित हुई नदियाँ विहार-विहारिणी बनी हैं। बिहार की ज्येष्ठ नदी-नायिकाओं में गंगा, सरयू, गण्डकी, बागमती, कमला, कोशी आदि मुख्य हैं। ये नौका-विहार के लिए भी प्रसिद्ध हैं। सोन, पुनपुन, फलगू, सकरी, कर्मनाशा, क्यूल, अजय, चानन, मयूराक्षी, गुमानी आदि बिहार की कनिष्ठा नदी-नायिकायें हैं। इनमें पुनपुन और सोन नौका-विहार के लिए प्रसिद्ध हैं। अधित्यका-आसन से विचलित हुई नदी-नायिकाओं में उत्तर कोयल, दक्षिण कोयल, सुवर्णरेखा, दामोदर, बराकर, शख, कासाई, और पुराण-प्रसिद्ध सिंहभूमिवाहिनी वैतरणी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बिहार की ६५२९ वर्गमील में फैली हुई विराट् पार्वत्य और जंगल प्राकृतिक सुषमा को उक्त नदी-नायिका सतत सरसता प्रदान करने में संलग्न रहती हैं।

उपसंहार—

जो हो, प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से बिहार प्रान्त एक ही है। चण्डी और मोहिनी दोनों प्रकार की प्राकृतिक सुषमाओं का समावेश-स्थल बिहार ही है। हिमालय जिसका शिरोभूषण है और गंगा जिसका गलहार है वह बिहार भारत ही नहीं वरन् संसार का उत्तम और सुन्दर उपहार नहीं तो और क्या है?



प्राचीन कालीन विहार

श्री प्रो० राधाकृष्ण शर्मा, एम० ए०

प्रस्तावना—

आधुनिक युग में एक समय ऐसा रहा है जब विहार उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। भारत के दूसरे प्रान्तों में खास कर बगाल में पाश्चात्य क्षमता एवं सस्कृति का प्रकाश तीव्र गति से फैल रहा था। विहार में इस प्रकाश की ज्योति बड़ी ही मन्द थी। अत. विहार के निवासी कई क्षेत्रों में पिछड़े हुए थे और दूसरे लोग इसे हेय दृष्टि से देखते थे। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक जारी नहीं रही। धीरे-धीरे विहार में भी शिक्षा का प्रचार हुआ और यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुआ। १६१२ में इसके स्वतंत्र अस्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ और तत्पश्चात् यह दिन दूनी, रात चौगुनी प्रगति करने लगा। यहाँ तक कि इसी विहार ने स्वतत्र भारत को प्रथम राष्ट्रपति प्रदान किया। अब केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी विहार का गौरव बढ़ा है और इसका मस्तक ऊँचा हुआ है।

विहार का अतीत—

लेकिन वर्तमान काल की अपेक्षा विहार का अतीत और भी अधिक गौरवमय था—उज्ज्वल था। भारत के इतिहास में प्राचीन कालीन विहार एक बड़ा ही महत्वपूर्ण अध्याय है जिसे स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायगा। किसी भी प्रान्त का सुदूर अतीत के साथ इतना घना सम्बन्ध नहीं है। इसकी भूमिपर ऐसे-ऐसे विलक्षण, प्रतिभाशाली तथा दिव्य पुरुषों का आगमन हुआ जिन्होंने मानव-समाजकी बहुमूल्य सेवा की और जिनके प्रति आज का उद्भ्रान्त समाज भी बहुत ही कृतज्ञ है।

इसी विहार प्रान्त के अन्तर्गत मिथिला पुरी थी। इस नगरी में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म हुआ था। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनि सुव्रतनाथ के तीर्थ-काल में वहाँ के राजा जनक महाराज थे। वे बड़े ही धीर-वीर एवं गंभीर पुरुष थे। वे उच्चकोटि के विद्वान् तथा सत्यवादी एवं दृढ़-प्रतिज्ञ थे। सीताजी उन्हीं की लड़की थी जिनके विवाह के लिए उन्होंने धनुषयज्ञ रचा था। श्री रामचन्द्र जी ने धनुष को तोड़ कर सीता जी से ब्याह किया। सीता जी आदर्श पतिव्रता स्त्री थी जो मानव-समाज में प्रातः-स्मरणीय हैं।

आधुनिक पटना जिले के अन्तर्गत जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ राजगृह नामक एक स्थान है। यह भी अपनी प्राचीनता के लिए प्रसिद्ध है। ईसा से बहुत वर्ष पहले वहाँ जरासन्ध नामक राजा राज्य करता था। उसकी शक्ति असीम थी, वह अजेय था। सभी समकालीन राजे महराजे उससे भय खाते थे। श्री कृष्ण ने भी उससे तंग आकर द्वारका पुरी नामक एक नये नगर को बसाया था। अन्त में जरासन्ध का वध हुआ और इसके लिए कुटिल प्रपंच का सहारा लेना पड़ा था।

लेकिन जनक और जरासन्ध तो राजनीतिक क्षेत्र के दो महान् स्तम्भ थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी बिहार ने दो दिव्य एवं अमर विभूतियाँ उत्पन्न की—दो नररत्न पैदा किये—भगवान महावीर और बुद्ध। ये दोनों मानवता के पुजारी हैं, सार्वभौम भ्रातृत्व सिद्धान्त के पोषक हैं। दोनों ने ही वैदिक धर्म की प्रचलित बुराइयों पर कुठाराघात किया, गृहस्थाश्रम को छोड़ दिया, भौतिकता को तिलाजलि दी और वे संन्यास ग्रहण कर प्राणिमात्र के सच्चे सेवक बने। दोनों ने विधि-विधानों की उपेक्षा कर हृदय की पवित्रता तथा मन की शुद्धता पर बहुत जोर दिया।

बिहार की विभूति—भगवान् महावीर—

भगवान् महावीर का प्रारम्भिक नाम वर्द्धमान था। इनका जन्म आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत वैशाली ग्राम में हुआ था। यह लिच्छवियों—वृजियों के जनतन्त्र राज्य की राजधानी थी। यह भारत का ही नही बल्कि समस्त सभ्य ससार का सर्वप्रथम सुसगठित एवं विस्तृत गण-राज्य था और देशी तथा विदेशी लेखको तथा यात्रियों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बुद्ध भी इस गणराज्य के बड़े प्रशंसक थे और उन्होने यहाँ के लोगो को उत्तम तथा अजेय कहा था। उसी वैशाली की पवित्र भूमि में भगवान् वर्द्धमान का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय वैशाली एक बहुत ही सुन्दर तथा समृद्धिशाली नगर था। १२ वर्ष तपस्या करने के बाद भगवान् वर्द्धमान को ज्ञान प्राप्त हुआ और वे जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धनहीन) तथा तीर्थंकर कहलाये। उनके अनुगामी जैन कहलाए। उन्होंने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-अस्तेय और ब्रह्मचर्य पर जोर दिया। महात्मा बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। यहाँ शाक्यो का जनतन्त्र राज्य था। इनका प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। बहुत इधर-उधर भटकने के बाद इन्हें भी ज्ञान प्राप्त हुआ और ये बुद्ध (जाग्रत) कहलाए। इन्होंने मध्यम मार्ग पर जोर दिया। न अधिक तपस्या और न अधिक भौतिकता। इनके उपदेशों का यही सार था कि सत्य तथा अहिंसा का पालन करते हुए सदाचार का विकास करना चाहिये। इस प्रकार भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने मानवता को सत्य, सेवा एवं प्रेम, त्याग एवं बलिदान के पवित्र सन्देश दिये। बड़े-बड़े राजे-महराजे उनके सामने नतमस्तक हो गये और इस तरह राजनीतिक सीमा को पार कर एक धार्मिक राज्य की स्थापना हुई।

अहिंसक-अशोक—

अब हम एक ऐसे विलक्षण पुरुष की चर्चा करेंगे—जिसकी बराबरी मानव समाज में कोई नहीं कर सकता। वह 'देवनांप्रिय अशोक' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने ३६ वर्षों

तक मगध की गद्दी को सुशोभित किया था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में थी। वह मौर्य वंश का तीसरा राजा था। इस राज वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त था। उसके समय में ग्रीक से सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया था। वह विश्व-विजय का स्वप्न देख रहा था। लेकिन चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर उसके स्वप्न को तोड़ दिया और भारतीयों के मान-मर्यादा की रक्षा की। चाणक्य (कौटिल्य) उसका मंत्री था जो राजनीतिक का प्रकांड विद्वान था। उसका 'अर्थ-शास्त्र' एक उच्चकोटि का राजनीतिक ग्रंथ माना जाता है। उसी के वंश में अशोक भी एक महा-प्रतापी राजा हुआ। लेकिन एक राजा होने के कारण ही उसकी प्रसिद्धि नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ से अब तक कितने राजे आये और गये किन्तु अशोक जैसा किसी को सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। वह एक दार्शनिक सम्राट था। उसने विजय के बाद युद्ध-नीति छोड़ दी। उसने भौतिक साम्राज्य को ठुकराकर धार्मिक साम्राज्य स्थापित किया, भूमि-विजय को छोड कर हृदय-विजय प्राप्त की। उसने शक्ति को ताखपर रख कर ब्रह्म शक्ति धारणा की और शस्त्र को फेंककर शास्त्र ग्रहण किया। उसने दमन को तिलांजलि देकर शमन तथा सहिष्णुता की नीति अपनायी। वह अपनी प्रजा को पुत्र तुल्य और अपने को एक सेवक समझता था। मत. एच० जी० वेल्स के शब्दो में 'इतिहास में वर्णित अगणित राजाओं तथा महाराजाओं के मध्य अशोक का नाम एक चमकते नक्षत्र की भाँति है।' वर्तमान लड़खड़ाती दुनिया उससे अभी बहुत कुछ सीख सकती है।

मगध और पाटलीपुत्र—

मगध तथा पाटलिपुत्र के महत्व पर भी कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है प्रतीत होता है। पाटलिपुत्र मगध की राजधानी था। यह प्राचीन विश्व का समृद्धतम नगर था। इसके उत्कर्ष के सामने प्राचीन एथेंस तथा रोम भी फीके पड़ जाते हे। एक दृष्टि से युरोप के प्राचीन इतिहास में रोम का जो स्थान है वही भारत के इतिहास में पाटलिपुत्र का स्थान है। सर्व प्रथम मौर्यों ने मगध में एक विशाल तथा सुसंगठित साम्राज्य की नींव खडी की। इसके बाद लगभग एक हजार वर्षों तक मगध भारतवर्ष का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा। इस काल में रोम की भाँति उसने अनेक साम्राज्यों का उत्थान-पतन देखा, अनेक राज वंशों को बनते-बिगड़ते देखा। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, कण्व, शुंग, सातवाहन, गुप्त तथा पाल—इन सभी वंशों ने मगध पर राज्य किया। राज वंशों का परिवर्तन होता रहा, कितने विदेशी आक्रमण हुए। परन्तु मगध की जीवनी शक्ति का कभी विनाश नहीं हुआ। इसी केन्द्र से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रकाश विभिन्न दिशाओं में फैलता रहा।

विदेशियों की दृष्टि में बिहार—

विदेशियों में कनिष्क का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारत में वह विदेशी नहीं रह गया था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। मगध निवासी अश्वघोष नाम का बौद्ध उसका

गुरु था। यह उच्च कोटि का विद्वान था और 'बुद्ध चरित' नामक महाकाव्य संस्कृत में इसकी उत्कृष्ट रचना है। मगध पर गुप्तो ने भी राज्य किया और उन्होंने भी एक सुदृढ़ साम्राज्य शासन स्थापित किया। इनके समय में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का खूब विकास हुआ। मगध बौद्ध स्तूपों से भरा हुआ था। इन्होंने ब्राह्मण धर्म को भी प्रोत्साहित किया। इस तरह मगध में सभी धर्मवाले फूलते फलते रहे। किसी का शोषण एव दमन नही हुआ। पालों ने भी मगध पर राज्य किया। उनके समय में नालन्दा विश्व विद्यालय का यश सौरभ सभी दिशाओं में जोरों से फैल रहा था। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। किन्तु उसमें प्रवेश करना सहज नहीं था। प्रवेश-परीक्षा भी बड़ी कड़ी थी और कितने विद्यार्थियों को निराश ही लौट जाना पड़ता था। इस सम्बन्ध में जावा के राजा शैलेन्द्र देव ने देवपाल के राज्य काल में एक पत्र के साथ अपने एक दूत को नालन्दा विश्वविद्यालय में भेजा था। कितने विदेशियों ने नालन्दा का भ्रमण किया और वहाँ की शिक्षा तथा व्यवस्था की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

उपसंहार—

यह है प्राचीन काल का बिहार। वर्तमान बिहार के निवासियों के लिए यह बड़े ही गर्व तथा गौरव का विषय है जिससे वे सदा ही स्फूर्ति एव प्रेरणा प्राप्त कर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होंगे और मानव समाज का कल्याण करते रहेंगे।



वैदिक कालीन विहार

म० म० पं० श्री सकलनारायण शर्मा

प्रस्तावना—

मीमांसा दर्शन में लिखा है कि वेदों में इतिहास अथवा किसी देश या किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। उनके शब्दों में सामान्य व्यापक अर्थ का ग्रहण होता है—

"परं श्रुति सामान्यमात्रम्"

विद्वान् लक्ष्य और व्यंग्य के द्वारा इतिहासादिक की झलक पाते हैं। हम भी उसी शैली के अनुसार वैदिक काल के विहार का एक चित्र अंकित कर रहे हैं।

यजुर्वेद का उल्लेख—

वैदिक समय में विहार दीन-दुखियों का आश्रयस्थल था। यजुर्वेद कहता है कि मगध देश के लोग रोते-कलपते मनुष्यों की खोज-खबर लें—"अतिक्रुष्टाय मागधम्" (यजु०)

ऋषित्वप्राप्ति के लिए विश्वामित्र ने बक्सर (आरा) में तपस्या की थी तथा श्री रामचन्द्र ने उसकी रक्षा की थी—"विश्वामित्र ऋषिः सुदास. पैजवनस्य पुरोहितो बभूव" (निरुक्त)। विश्वामित्र 'सुद' बड़े दानी थे। कहते हैं कि उन्होंने जिस पिजवनसुत राजा की पुरोहिती की थी, वह भागलपुरी था; भागलपुर के नाथनगर के पास उसकी राजधानी थी।

दक्षिण विहार में जंगल और पहाड़ बहुत हैं। उनमें कोल-भील संताल अधिक रहते थे; उन्हें पीले की बीमारी अधिक होती थी। वे ईश्वर और परलोक नहीं मानते थे। अनार्य और नास्तिक थे। वेदों में उनके देश का नाम 'कीकट'—कुछ नहीं करनेवाला है। वे गौएँ पालते थे। उनके दूध से यज्ञादिक नहीं होते थे। वे सूद पर लोगों को कर्ज देते थे। भारत में उनकी प्रसिद्धि धनिकों में थी। धन के कारण उनके देश का नाम मगध हो गया था। घृणा व्यंजक कीकट नाम लुप्त हो गया था। 'मग' शब्द का अर्थ सूद है, उसका लेनेवाला 'मगध' है। इसमें 'ध' का अर्थ धारण करनेवाला है। ऋग्वेद में विश्वामित्र के नाम से एक मंत्र है कि मग—सूद के लिए धन देनेवालों का धन छीन लें और यज्ञों में खर्च करें; यद्यपि उनका धन नीची शाखा नीच जाति वालों का है:—

"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ।
आनोभर प्रमगन्दस्य वेदो नैचा शाखं मघवन् रन्धयानः ।। (ऋ०)
"कीकटा नाम देशोऽनार्यविशेषः । कीकटाः किं कृताः ।
किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा ।........मगन्दः कुसीदी ।
प्रार्दयत्याण्डो"—निरुक्त

वेदों के पूर्व भी अहिंसक—

बड़े आश्चर्य की बात है कि वैदिक काल में विहार का एक प्रान्त जगत्कर्ता ईश्वर को माननेवाला नही था और यज्ञ नही करता था । अन्त में वही पर यज्ञेश्वर विरोधी बौद्ध-जैनों का प्राबल्य बड़े जोर-शोर से हुआ । विहार में अहिंसकों का निवास वेदों के निर्माण से पहले भी था ।

सूर्य-पूजन के भी अस्तित्व—

हिन्दू जाति सूर्य की पूजा करती है । विहार में भगवान सूर्य के कई मन्दिर है । वेदों में जो विष्णु शब्द मिलता है वह सूर्य का वाचक है । गया शहर में जो विष्णुपद है उसकी चर्चा प्राचीन निरुक्तकार और्णनाभ ने की है । उनका संकेत वामन अवतार से है । उनका एक पैर गया में विष्णुपद स्थान पर पड़ा था। वेदों में गय शब्द का अर्थ बेटा होता है । इसीलिए गया में बेटापिण्डदान करता है । बाल्मीकि रामायण के अनुसार वामन जी का आश्रम बक्सर में था । उनके नाम से प्रसिद्ध एक शिवलिंग वहाँ की जेल के पास है । यदि विष्णु का अर्थ सूर्य किया जाय तो देवमूगा आदि स्थानों में होनेवाली सूर्य-पूजा प्राचीन वैदिक प्रणाली का स्मरण दिलाती है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के उल्लेख—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्"—यजुर्वेद
"पार्थिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः समारोहणे जयशिरसीत्यौर्णनाभः"—
(निरुक्त)

मिथिलाधिपति जनक बड़े भारी ज्ञानी और दानी थे । बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा हुआ है कि गार्ग्य ऋषि काशीराज के पास जाकर बोले कि मै तुम्हें जनक के समान बना दूंगा; तुम मुझसे शिक्षा ग्रहण करो । पर वे स्वयं जनक के समान नही थे ।

जनकजी ने अपने यज्ञ में ऋषियों से कहा कि जो ब्रह्मनिरूपण में समर्थ होगा, उसे एक हजार गौएँ दूंगा । याज्ञवल्क्य जी के अतिरिक्त किसी को साहस नहीं हुआ । वहाँ भारत के विद्वान् इकट्ठे थे; पर निखिल विद्यानिष्णात जनक के समक्ष बोलने को तैयार नही हुए—

"यो वा ब्राह्मिष्ठः एहतागाएदजताम्"

वैदिक काल में वेदान्त चर्चा में मिथिला का प्रधान स्थान था। उस समय ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय वेदवेत्ता होते थे।

वेद में गौतम और अहिल्या की कथा आयी है। इसी अहिल्या का उद्धार रामचन्द्र जी ने किया था। यह बात बाल्मीकि रामायण में है। गौतम का आश्रम सारन जिले के गोदना स्थान में था। उन्होंने वहीं पर न्याय सूत्रों की रचना की थी। "क्रतुक्थसूत्रान्तात्ठक्" अष्टाध्यायी के इस सूत्र से नैयायिक शब्द बनता है और सिद्ध करता है कि गौतम के पहले वैदिक काल में भी न्यायशास्त्र का अस्तित्व था; उन्होंने संग्रहमात्र कर दिया।

अष्टाध्यायी के प्रमाण—

अष्टाध्यायी के बनाने वाले पाणिनि पटने के प्रसिद्ध पण्डित उपवर्ष के विद्यार्थी थे। वे विहार से पूर्ण परिचित थे। उनके पहले वैदिक काल में भी पटना था, पर उसका नाम कुसुमपुर था; क्योंकि वहाँ फूल अधिक होते थे। उसीका नाम कई शताब्दियों के बाद पाटलिपुत्र हो गया। वह दो भागों में बँटा था—पूर्वी और पश्चिमी पाटलीपुत्र। यह बात पाणिनि के 'रोपधे प्राचाम्' सूत्र से सिद्ध होती है। इसका उदाहरण 'पूर्व पाटलीपुत्रक' है। उस समय पाटलीपुत्र ग्राम नही था—नगर था; क्योंकि 'प्राचा ग्रामनगराणाम्' में पाटलीपुत्र के लिए नगर शब्द का प्रयोग हुआ है।

'वरणादिभ्यश्च' इसके गणपाठ में विहार के गया, चम्पा आदि नगरों के नाम हैं। विहार के पूर्वी प्रान्त को प्रेम तथा पश्चिमी को मगध कहते थे। वैदिक साहित्य नाम आये है।

वैदिक काल में शिव और स्कन्द आदि की मूर्त्तियाँ कारीगर बनाते थे। मै इन मूर्त्तियो तथा गुफाओं के बनाने में विहार निपुण था। आज भी मुंगेर (मुद्‌गलपुर) तथा भागलपुर (भगदत्तपुर) के पहाड़ो में उक्त ढंग की कारीगरी दीख पडती है।

वैदिककालीन विहार में जनपद—

लाखों वर्ष पहले विहार में दो जनपद थे—करुष और मलयद। यहाँ के निवासी धनी, शिक्षित और शिवपूजक थे। 'वे याते रुद्रशिवातन्,' (यजुर्वेद) तथा 'पुरभिदं धृष्णवर्चत्" (सामवेद) के अनुसार मूर्त्ति पूजक थे। बाल्मीकि रामायण के अनुसार ये दोनों बक्सर से कुछ दूर थे। रामचन्द्र को मिथिला जाने के समय राह में उनके चिन्ह मिले थे। इन दोनों के नाम पर दो गांव 'धारीसाथ' और 'मसाढ' अभी तक विद्यमान है। यहां पृथ्वी से हजारों शिवलिंग निकलते हैं।

जंगल—

वैदिक काल में नौ जंगल बड़े प्रसिद्ध थे, जिनमें ऋषि वेद-पाठ किया करते थे। उनमें तीन विहार में थे—चम्पारण्य (चम्पारन), सारङ्गारण्य (सारन) और अरण्य (आरा)। पहले में चम्पा, दूसरे में हिरण और तीसरे में वृक्ष श्रेणियाँ थीं।

विहार में गंगा, सरयू तथा शोण ये तीन नदियाँ थीं। शोण का नाम उस समय मागधी था। यह पाँच पहाड़ों के बीच बहती थी—

सुमागधी नदी पुण्या मगधान् विश्रुता ययौ ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ।।'(वाल्मीकि रामायण)

उस समय पटने से दूर पूर्व की ओर शोण थी; अब पटने से पश्चिम है। वैदिक काल में विहार का आदर विद्या, तपस्या और सम्पत्ति तीनों के लिए था।

विहार नाम की सार्थकता—

जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर तथा बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध के विहार के कारण इस भूमि का नाम विहार पड़ा था। विद्वानों का यह भी कहना है कि असंख्य बौद्ध विहारों के कारण भी इस भूमि का नाम विहार पड़ा। यह निश्चित है कि आज हम जिसे विहार कहते है, प्राचीन काल में वही मगध, अग और विदेह इन तीन स्वतंत्र प्रान्तों में विभक्त था।

मगध और अग देशो के स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद में मिलते हैं। उस वेद के ५वें काण्ड के २२वें सूक्त में १४ वें मंत्र में ज्वर से कहा गया है कि वह गन्धारियों को, मूजवन्तों को, अंगदेशवासियों को तथा मगध देशवासियो को प्राप्त हो। फिर उसी वेद के पन्द्रहवें काण्ड के दूसरे अनुवाक में व्रात्यमहिमा प्रकरण में कहा गया है कि पूर्व दिशा में मागधव्रात्यों के मत्र हैं, दक्षिण दिशा में मागध व्रात्यो के मित्र है, पश्चिम दिशा में मागध व्रात्यो के हास है और उत्तर दिशा में मागध व्रात्यों के स्तनयित्नु (मेघ) हैं।

अहिंसक होने के कारण मगध का तिरष्कार—

यजुर्वेद की वाजसनेयि सहिता (अ० ३० क० ५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।११) में पुरुष मेघ यज्ञ के प्रसंग में कहा है कि अतिकृष्ट के लिए मागध को बलि देना। वाजसनेयि सहिता के उसी अध्याय की २२वी कंडिका में अशूद्र और अब्राह्मण मागध को पुंश्चलियों-कितवों और क्लीबोंके साथ प्राजापत्य पुरुषमेघ के लिए वध्य कहा है। श्रौतसूत्रो में भी मगध देशवासियों को बहुत नीचा स्थान दिया गया है। बौधायन धर्मसूत्र (१-२-१३) में मगध और अंग देश के निवासियों को संकीर्णयोनि कहा गया है।

कात्यायन (२२।४।२२) और लाट्यायन (८।६।२८) के श्रौतसूत्रों में कहा है कि दक्षिणा के समय व्रात्यों का धन मागधदेशीय ब्रह्मबन्धुओं को देना। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन श्रौतसूत्रों में मागधदेशीय ब्राह्मण ब्राह्मण न कहे जाकर ब्रह्मबन्धु कहे गये हैं, जिसकी व्याख्या यों की गयी है कि ये लोग शुद्धब्राह्मण नहीं, किन्तु जातिमात्रोपेत ब्राह्मण हैं। तथापि मगध में भी सद् ब्राह्मण रहते थे—यथा कौषीतकी आरण्यक ((७—१४) में कहा है कि मध्यम प्रातिबोधी पुत्र

मगधवासी थे । किन्तु, इससे भी यही प्रतिपादित होता है कि ऐसे सद्ब्राह्मणों का मगध में रहना उस समय असाधारण था ।

उक्त सभी स्थलों में जहाँ जहाँ मागध शब्द आया है, उसकी व्याख्या भाष्यकारों ने कई प्रकार से की है । क्षत्रिय कन्या में वैश्य से उत्पन्न संकर को मागध कहते हैं (मनु० १०।११ तथा गौतम ४।१७) और गायकों का नाम भी मागध है । संभव है, मगध की ही निन्दा के लिए इस वर्ण संकर का नाम मागध दिया गया हो तथा मगध देशों में उन दिनों अच्छे गवैये हों, किन्तु जहाँ-जहाँ स्पष्ट मगधदेश का ही उल्लेख है, वहाँ तो सन्देह को अवकाश नहीं रहता । अतएव स्पष्ट है कि वैदिक काल में मगध देश का स्थान बहुत ही हेय था ।

उपसंहार—

बिहार एक ऐसा प्रान्त है, जहाँ आर्यों का आगमन बहुत पीछे हुआ सही, परन्तु इस प्रान्त में बड़े ही द्रुतवेग से आर्य संस्कृति का प्रसार हुआ । ऐतरेय ब्राह्मण में (८—१४) आर्य देशों के उल्लेख में काशी, कोसल, मगध, अंग और विदेह के नाम मिलते हैं ।

प्राचीन काल में राजा जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य के कारण विदेह की प्रतिष्ठा अत्यधिक थी । शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद् और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३—१०—६६) में ब्रह्मज्ञान के लिए राजा जनक की बहुत प्रशंसा की गयी है । इनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी । बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता इनके पास आकर अपनी शंकाओं का समाधान करते थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहार प्रदेश वैदिक काल से ही सम्मानित रहा है । इस भूमि में तत्त्ववेत्ता, कर्म प्रचारक, आत्मज्ञानी, राजनैतिक और सेनानी हुए हैं । ईस्वी सन् से कई सौ वर्ष पूर्व यही प्रदेश जगद्गुरु के पद पर आसीन था । दूर-दूर के जिज्ञासु यहीं अपनी शंकाओं का समाधान करते थे ।



जैन दर्शन को विहार की देन

पं० श्री नरोत्तम शास्त्री

प्रस्तावना—

जैन मान्यता के अनुसार जैनधर्म शाश्वत है। प्रत्येक कल्पकाल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, जो इस धर्म का प्रचार और प्रसार करते हैं। वर्तमान कल्प में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुए हैं। विहार ने इस कल्प में बारहवें तीर्थंकर वासु पूज्य, उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ, बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ, इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ एवं चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर को जन्म देकर जैनदर्शन के प्रचार और प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया है।

विहार की निधि—

भगवान् महावीर का जन्म ई० पू० ६०० में वैशाली के क्षत्रिय कुण्डग्राम में हुआ था। वे जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीनो ज्ञानो के धारक थे। उनके मन को संसार की कोई भी वस्तु नही भाती थी, उन्हें सर्वत्र उदासीनता, निस्सारता और भयानकता दिखलायी पड़ती थी। विषय भोग काले नाग से, दुनियावी विभूतियाँ आडम्बर सी, इठलाती किलकिलाती हुई युवतियाँ कंकाल सी एवं नगर, गाँव, जनपद श्मशान से प्रतीत होते थे। स्वार्थ के लिए किये जाने वाले मूक प्राणियो के बलिदान ने उनकी अन्तरात्मा को कपा दिया। स्त्री और शूद्र, जो समाज से तिरस्कृत थे, जिन्हें सामाजिक अधिकारो से वचित किया गया था, की दयनीय स्थिति देखकर समाज-शोधन की भावना युवक महावीर के हृदय में घर कर गयी। फलतः ३० वर्ष की आयु तक विहार की गोद में अखण्ड ब्रह्मचर्य-पूर्वक इच्छाओं और इन्द्रियों के विषयो के साथ द्वन्द्व करते हुए घर में रहे। इस बीच में माता-पिता तथा मित्र-हितैषियो ने अनेक बार विवाह करने का आग्रह किया, पर युवक महावीर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। पश्चात् विश्वकल्याण के लिए घर त्याग तपस्या करने वन में चले गये। इन्होंने शंका, आकाक्षा, स्नेह, राग, द्वेष, हर्ष, विषाद आदि विकल्पो को छोड़ नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की और बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त किया।

विहार प्रान्त को ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि दिव्यज्ञानी, परम दार्शनिक भगवान् महावीर को उत्पन्न कर उनकी संसद् के व्याख्याता गौतम गणधर को जन्म दिया। केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी भगवान् महावीर का उपदेशामृत ६६ दिनों तक [1] गण-धर-विशिष्ट व्याख्याता के न होने से नहीं हो;

१. षट्षष्टिदिवसान्, भूयो मौनेन विहरन् प्रभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरः॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं तथा॥

—हरिवंशपुराण सर्ग २ श्लोक ६१-६२

सका। पश्चात् मगध के अन्तर्गत गोबर गाँव निवासी गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण विद्वान के आने पर उनकी दिव्यध्वनि हुई। इन्द्रभूति अपने समय का विहार का सबसे बड़ा विद्वान् था। यह वादी बनकर वीरप्रभु को पराजित करने आया था, पर भगवान् के समवशरण के द्वार पर स्थित मानस्तम्भ के दर्शनमात्र से ही इनका मद चूर हो गया और यह प्रभु के शिष्य बन गये।

विहार की पुण्यभूमि में धर्मामृत—

वीर प्रभु का प्रथम उपदेश श्रावण कृष्ण प्रतिपदा[2] को पूर्वाह्न के समय अभिजित् नक्षत्र में राजगिरि के विपुलाचल[3] पर्वत पर हुआ था। विहार के इस अनोखे लाल ने विश्वशान्ति के लिए बतलाया—(१) निर्भय और निर्वैर रहकर शान्ति के साथ स्वयं जीवित रहना और दूसरो को जीवित रहने देना। (२) राग-द्वेष, घृणा, अहंकार आदि विकारों पर विजय प्राप्त कर भेद-भाव का त्याग करना। (३) विचार सहिष्णु बनकर सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि द्वारा सत्य का निर्णय करना। (४) अपना उत्थान और पतन अपने हाथ में है, ऐसा समझते हुए स्वावलम्बी बन कर अपना उत्कर्ष करना, दूसरो के उत्कर्ष साधन में सहायक होना।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि उस समय विहार में गौतम बुद्ध क्षणिक पदार्थवाद का, मक्खलि गोशाल अकर्मण्यतावाद का और संजय बेल्यट्ठिपुत्र संशयवाद का प्रचार कर रहे थे। इन सिद्धान्तों द्वारा पदार्थ के रचनात्मक रूप का यथार्थ निर्णय नहीं हो रहा था। भगवान महावीर के समकालीन तीन तत्त्ववेत्ता और थे, जिनका कार्यक्षेत्र भी विहार ही था। वस्तुत विहार उस समय दार्शनिकों का अड्डा था। इन तीनों में अजित केशम्बलि भौतिकवादी, पूर्ण काश्यप अक्रियावादी या नियतिवादी और प्रकुध कात्यायन नित्य पदार्थवादी थे। इन छहों दार्शनिकों ने वस्तु के एक धर्म को ही पूर्ण सत्य मान लिया था। विहार के अंक में पलनेवाले इन ऐकान्तिक दर्शनों ने भगवान महावीर द्वारा स्याद्वाद—समन्वयवाद या अपेक्षावाद का निरूपण कराया। वीर प्रभु ने "उप्पनेइ, वा विगमेइवा, धुवेइ वा" इस मातृकात्रिपदी वाक्य में प्रतिपादित उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रयधर्मात्मक (अनेक धर्मात्मक) वस्तु के स्वरूप को बतलाया तथा इस स्वरूप को बतलाने वाले सिद्धान्त को अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा।

अनेकान्त का अर्थ है—'अनेकेऽन्ताः धर्मा. सामान्यविशेषपर्यायगुणाः यस्येति अनेकान्तः'[4] अर्थात् परस्पर विरोधी अनेक गुण और पर्यायों का एकत्र समन्वय। अभिप्राय यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनों में वस्तु को सिर्फ सत् या असत्, सामान्य या विशेष नित्य या अनित्य, एक या अनेक एव भिन्न या अभिन्न

२—वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पडिवदपुव्वादिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मी॥
—धवला १ खं० पृ० ६३

३—पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे। णाणादुम समाइण्णे देवदाणववंदिदे।
महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स॥ —धवला १ खं० पृ० ६१

४—विशेष के लिए देखो— —अष्टसहस्री का सप्तभंगी प्रकरण

माना गया है; वहाँ जैन-दर्शन में अपेक्षाकृत एक ही वस्तु में सत्-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्न रूप विरोधी धर्मों का समवाय माना गया है।

अनेक धर्मात्मक वस्तु का निर्णय प्रमाण [5] या नय [6] के द्वारा होता है। अपने और अपूर्व अर्थ के निर्णायक ज्ञान—सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं; क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया के प्रति जो कारण हो उसीका जैन-दर्शन में प्रमाणरूप से उल्लेख किया गया है। विहार के गौरव भगवान् महावीर ने प्रमाण के प्रत्यक्ष[7] और परोक्ष [8] दो भेद बताये। प्रत्यक्ष के अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ज्ञान ये दो भेद हे। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, [9] मनःपर्याय [10] ज्ञान और केवलज्ञान [11] ये तीन भेद तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन का साहाय्य होने के कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छः भेद हे। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद अवधिज्ञान और मन पर्याय ज्ञान को विकल प्रत्यक्ष और केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष माना गया है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को पारमार्थिक प्रत्यक्ष और इन्द्रिय प्रत्यक्ष को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। यद्यपि ये सभी ज्ञान आत्मोत्थ हैं, किन्तु जो इन्द्रियाँ और मन की सहायता के बिना ही स्वतन्त्र रूप से कर्मावरण के अभाव मे आत्मा में प्रकट होता है, वह अतीन्द्रिय वास्तविक या मुख्य प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है और जो इन्द्रियाँ तथा मन की सहायता से आत्मा में उत्पन्न होता है, वह पराधीन होने के कारण लोक व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष कहा जाता है।

५— स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमिति। प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्। —प्रमेयरत्नमाला पृ० ६

६— प्रमाणप्रकाशितोऽर्थविशेष प्ररूपको नयः। प्रकर्षेण मानं प्रमाणं सकलादेश इत्यर्थः, तेन प्रकाशितानां न प्रमाणाभासपरिगृहीतानामित्यर्थः तेषामर्थानामस्तित्व नास्तित्व नित्यत्वाद्यनंतात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायास्तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुसंगद्वारेणेत्यर्थः, एवं लक्षणो नयः। —राजवार्तिक अ० १, सूत्र ३३ वा० १

७— इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्। अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा प्राप्तक्षयोपशमः। प्रक्षीणावरणो वा तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षमिति। —राजवार्तिक अ० १ सूत्र १२ वा० १-२; विशदं प्रत्यक्षम्—परीक्षामुखम् अ० २, सू० ३

८— उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्। उपात्तानीन्द्रियाणि, मनश्च। अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि, तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्। —राजवार्तिक अ० १ सूत्र ११ वा० ६

९— रूपिष्ववधेः—तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २७

१०— चिंतियमचिंतियं वा अद्धंचिंतिय चेयभेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए॥ —गो० जीवकाण्ड गा० ४३७

११— सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य—तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २९

छहों प्रकार के सांव्यवहारिक प्रत्यक्षों में प्रत्येक की अवग्रह,[12] ईहा,[13] अवाय[14] और धारणा[15] ये चार अवस्थाएँ बतायी गयी है। परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद हैं। धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञान विशेष का नाम स्मृति; स्मृति और प्रत्यक्ष या वर्तमान और भूत पदार्थों के एकत्व या सादृश्य को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान; प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थों के अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति का ग्राहक तर्क; तर्कमूलक साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान एवं आप्तवचनमूलक अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। जैन-दर्शन वस्तुस्वरूप की व्यवस्था में प्रमाण की तरह नय को भी महत्त्व देता है। वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ के अंश का प्रतिपादक वाक्य या महावाक्य नय कहलाता है। जहाँ प्रमाण उद्दिष्ट अर्थ का पूर्ण रूप से प्रतिपादन करता है, वहाँ नय अर्थ के किसी एक अश को।

प्रमाण की तरह भगवान् महावीर ने प्रमेय[16] के क्षेत्र का विकास भी जड और चेतन इन दोनो प्रकार के पदार्थों का विवेचन कर अनेक भेद-प्रभेदों द्वारा किया है। गुण और पर्याय के स्वरूप का निरूपण करते हुए बताया कि प्रत्येक द्रव्य[17] अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय-समय पर निमित्तानुसार परिणत होता रहता है। द्रव्य में परिणाम जनन की जो शक्ति है, वह पर्याय[18] और गुणजन्य परिणाम पर्याय कहलाता है। गुण कारण है और पर्याय कार्य। एक द्रव्य में शक्ति रूप अनन्त गुण हैं, जो आश्रय भूत द्रव्य से अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण के भिन्न-भिन्न समयो में होने वाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य नित्य, अनादि, अनन्त हैं; पर्याय दृष्टि से उत्पन्न और नष्ट होने के कारण अनित्य अर्थात् सादि-सान्त है। द्रव्य में अनन्त शक्तियों से तज्जन्य प्रवाह भी अनन्त ही एक साथ चलते रहते हैं।

स्याद्वाद——

भगवान् महावीर ने इस अनेकान्तात्मक वस्तु व्यवस्था के लिए स्याद्वाद[19] सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। स्याद्वाद शब्द में स्यात् पद न तो शायद का पर्यायवाची है और न अनिश्चितता का रूपान्तर; किन्तु यह अमुक सुनिश्चित दृष्टिकोण (A particular point of view) अर्थ में प्रयुक्त है। वीर प्रभु ने तत्कालीन विहार में प्रचलित मत-मतान्तरों का समन्वय करने के लिए स्याद्वाद–सुनिश्चित अपेक्षावाद द्वारा प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ रहस्य को समझाया। प्रत्येक वस्तु का निरूपण सात प्रकार से हो सकता है—(१) स्यादस्ति—कथंचित् है—किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा से। (२) स्यान्नास्ति–कथंचित् नही है–किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा से (३) स्यादस्ति-नास्ति–कथंचित् है और नही है–

१२— विषयविषयीसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः —

१३— अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा

१४— विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः

१५— निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा । —राज० सूत्र १५, वा० १-४

१६— सामान्यविशेषात्मा प्रमेयः—परीक्षामुखम् अ० ४ सू० १

१७— दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं ।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ।।—

१८— मिथोभवनं प्रतिविरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वादर्पितव्यवहार विषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः । —राजवा० अ० १ सू० २६ वा ४

१९— कथंचित् रूप से वस्तु का निरूपण करना —

किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा से है, अन्य सुनिश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा से नहीं भी है। (४) स्यादवक्तव्य—कथंचित् अवाच्य है, विधि और प्रतिषेध को एक साथ कहने की अपेक्षा से। (५) स्यादस्ति अवक्तव्य—कथंचित् है और अवाच्य है। (६) स्यान्नास्ति-अवक्तव्य—कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है। (७) स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—कथंचित् है, नहीं है और अवाच्य है। इस वस्तु निरूपण की प्रक्रिया को सप्तभंगी[20] कहा जाता है। बिहार की पवित्र भूमि में प्रचारित और प्रसारित यह सिद्धान्त विचारों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने वाला तथा मन एवं हृदय को उदार और विशाल बनाने वाला है। इस प्रकार जैन-दर्शनों में सर्वज्ञवाद, नय-प्रमाणवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, द्रव्य-पर्यायवाद, निर्वाण प्राप्ति के कारण-भूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र एवं जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

बिहार में उत्पन्न अन्य जैनाचार्य—

भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् बिहार ने जैन-दर्शन के व्याख्याता निर्युक्ति भाष्यकार भद्रबाहु को जन्म दिया; जिन्होंने आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों पर दस निर्युक्तियाँ लिखी हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, ऋषि भाषित निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, संसक्त निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, सूत्रकृतांग निर्युक्ति आदि निर्युक्ति ग्रन्थों में आगमों का मर्म बतलाते हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्यों का स्वरूप तथा इनके कथन करने वाले प्रमाण नय का विस्तृत विवेचन किया गया है। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की मीमांसा भी की गयी है। भगवान् महावीर के बाद की गुरु-परम्परा यों है:—

> जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
> जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥
> तम्मिकदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो।
> तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥१४७७॥
> बासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं।
> धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिण्डरूवेण ॥१४७८॥
>
> —तिलोयपण्णत्ति अ० ४

बिहार की पुण्यभूमि में जिस दिन श्रीवीरप्रभु को मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को परमज्ञान केवलज्ञान हुआ। इनके मोक्ष-निर्वाण प्राप्त कर लेने पर इसी पुण्यभूमि में सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान हुआ। इनके निर्वाण प्राप्त कर लेने पर जम्बूस्वामी केवली हुए। इस प्रकार ६२ वर्ष तक ये तीनों केवली जैन-दर्शन का प्रचार और प्रसार करते रहे। इन तीनों केवलियों का निर्वाण स्थान भी राजगृह का विपुलाचल पर्वत है तथा इनका जन्मस्थान भी बिहार में ही है।

२०— प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी—अष्टसहस्री।

चतुर्दश पूर्वधारियों में भद्रबाहु, नन्दिमित्र और गोवर्धन विहार में बहुत दिनों तक रहे थे, इनकी जन्मभूमि भी विहार में ही थी। भद्रबाहु का सम्बन्ध पटना से अति घनिष्ठ है। आचार्य उमास्वाति भी पाटलिपुत्र में रहे थे।

दस पूर्वधारियों में सुधर्मन्, विशाख और क्षत्रिय इस विहार के ही निवासी थे, जिन्होंने अपने ज्ञान द्वारा जैन-दर्शन के क्षेत्र को समुज्ज्वल बनाया था। श्वेताम्बर आगमानुसार उनके आगमों के संकलयिता स्थूलभद्र विहार के ही निवासी थे। दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् प्रभव और स्वयम्प्रभव को भी विहार ने ही उत्पन्न किया था। इस प्रकार विहार ने इस कल्पकाल में भगवान् महावीर, उनकी वाणी की व्याख्या करने वाले गौतम गणधर, सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी जैसे उद्भट आत्मज्ञ, स्वयम्भू दार्शनिकों को उत्पन्न कर एवं अपने जलवायु से लालन-पालन कर जैन-दर्शन को अमूल्य निधि प्रदान की है। विहार ने ही समस्त संसार के लिए कलह और वादों का अन्त करने वाला स्याद्वाद—समन्वय या विचारसहिष्णु सिद्धान्त का प्रचार किया। इस सिद्धान्त की अलौकिक आभा ने विश्व के दार्शनिक क्षेत्र को आश्चर्य में डाल दिया है।

उपसंहार—

विहार के राजगृह को इस बात का गौरव है कि वासुपूज्य स्वामी के अतिरिक्त समस्त तीर्थंकर की उपदेशसभा—समवशरणसभा यहीं हुई थी। वासुपूज्य स्वामी की उपदेशसभा भी विहार के बाहर नहीं हुई, क्योंकि उस समय की अगदेश की राजधानी चम्पा में उनका धर्मोपदेश हुआ था तथा वासुपूज्य स्वामी के पंच कल्याणक भी चम्पापुर में ही हुए। हरिवंशपुराण में राजगृह की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए बतलाया गया है।—

> वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनाम्।
> सर्वेषां समवस्थानैः पावनोपवनान्तरः॥ —हरि० सर्ग ३ श्लोक० ५७

राजगृह और चम्पा के अनन्तर बहुत दिनों तक पाटलिपुत्र भी जैन-विद्वानों का गढ़ रहा है। यहीं पर श्वेताम्बर जैनागमों का संकलन, संशोधन एवं परिवर्तन भी हुआ है। सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन विहार की शस्य-श्यामला भूमि में जैनाचार्यों ने किया था। अनेक पौराणिक आख्यान आज भी इस बात को सिद्ध करते हैं कि जैन साहित्य का बहुल भाग विहार में प्रादुर्भूत हुआ अथवा विहार के भ्रमण के अनन्तर दक्षिण भारत निवासी जैनाचार्यों ने लिखा। विहार के अनेक गाँव, वन, पर्वत, नदी आदि का सजीव वर्णन जैन साहित्य में विद्यमान है। अतएव यह सुनिश्चित है कि विहार ने जैन-दर्शन को बहुत कुछ दिया है। विहार में उत्पन्न अन्तिम तीर्थंकर वीरप्रभु का आज धर्मतीर्थ ही प्रचलित है। उनका यह तीर्थ—

> सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

आज सर्वोदय बन कर ही समाज को सुख-शान्ति दे सकता है।

बिहार के जैन-तीर्थ

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना—

बिहार के जैनतीर्थ अक्षय, अक्षुण्ण भारतीय धार्मिकता के शाश्वत, उदीयमान, उज्ज्वल प्रतीक हैं। आवृत के सघन गगन-पट में जैसे कभी निशीथ की तारिकाएँ नीलवर्ण के चपल-प्रबल को सौम्य हास से हटाकर कठिन कठोर कोलाहलमयी इस भू को क्षणभर के लिए निहार लेती हैं और मुग्धा-सी अपने कान्तिमय सुन्दर श्रीमुख को पुन: अंचल में ढक लेती हैं; वैसे ही शान्त हृदय में स्मृतियों के अनेक स्तरों के बीच इन तीर्थों की पावन स्मृति विरागता को उत्पन्न कर प्राणों की श्रद्धा को झंकृत कर देती है। लगता है इस मर्त्यभूमि में अनन्तकाल तक इन तीर्थों के प्रेम-प्रणय का अविरल प्रवाह उद्दाम रूप में प्रवाहित होता रहे और इनके दर्शन-वन्दन से चिरसंचित कर्मकालिमा को हम प्रक्षालित करते रहें। एक कल्पना उठती है कि बिहार के इन जैनतीर्थों के शुभ भाल पर षोडश कलाकलित विधु ने प्राचीन काल से आगत अपनी कलंककालिमा को धोने के लिए ही अपनी ज्योत्स्ना को विकीर्ण किया है।

प्राणों का अमूर्त धर्म इन तीर्थों की नैसर्गिक आभा में मूर्त हो गया है। जीवन की समस्त विरूपताओं, दुर्धर्ष पाशविकता के शिलाखण्डों, अधार्मिक प्रवृत्तियों के शोषणजन्य रुद्र दुर्व्यावलियों से दूर ये तीर्थप्रान्त मानव को चरम शान्ति का सन्देश देते हुए धर्मप्रवर्तकों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इनका धार्मिक वैभव युगों के अन्तराल में अपनी सुषमा का गौरवमय इतिहास छुपाये बहता आया है। हृदय की प्रकाण्ड निष्ठा के ये जीवित प्राण हैं। इनकी झलक चेतना का वह विकम्पन है जो दानव को मानव, सरागी को विरागी बनाने में पूर्ण सक्षम है। स्वप्न जागरण के मूक मिलन पर ये एक सुषुप्त आह्लाद जगाते हैं। अहिंसा और सत्य का मौन भाषा में उपदेश दे मानव को सुमार्ग पर ले जाते हैं। भावुक, श्रद्धालु इन तीर्थों में विश्वास और श्रद्धा की इकाइयों में फैली सारी मान्यताओं का अवलोकन करता है। इनकी अखण्ड शान्ति, मोहक प्राकृतिक दृश्य, अणु-अणु में व्याप्त सरलता सहज ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। गगन-चुम्बी शैलराजों के उत्तुङ्ग शृंगों पर निर्मित जिनालय प्रत्येक भावुक की हृत-त्रियों को झंकृत करने में समर्थ हैं। अतएव "संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते"[1] यह सार्थकता इनमें विद्यमान है।

---

1 आदिपुराण पर्व ४, श्लोक ८

वर्गीकरण—

जैन-संस्कृति और जैनकला की आदर्शोन्मुख उठान विहार के इन जैनतीर्थों को हम सुविधा के लिए निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

सिद्धभूमि तीर्थ, तपोभूमि और ज्ञानभूमि तीर्थ, जन्मभूमि तीर्थ और साधारण तीर्थ ।

सिद्धभूमि तीर्थ वे हैं, जहाँ से कर्मजाल नष्ट कर तीर्थंकर और सामान्य केवलियों ने अजर-अमर निर्वाणपद उपलब्ध किया है । कहना न होगा कि विहार की पुण्य धरा को ऋषभनाथ और नेमिनाथ के अतिरिक्त अवशेष बाईस तीर्थंकरों की निर्वाण-प्राप्ति का गौरव उपलब्ध है । विहार की भूमि इस अर्थ में श्रेष्ठ है, बड़भागिन है । श्री सम्मेद शिखर (पारसनाथ पर्वत), पावापुरी, चम्पापुरी (नाथनगर-भागलपुर), राजगृह, गुणावा, मन्दारगिरि, और कमलदह (गुलजारबाग पटना) ये तीर्थ विहार में सिद्ध-भूमि माने जाते हैं ।

तपोभूमि और ज्ञानभूमि, वे तीर्थ हैं, जहाँ पर तीर्थंकर या अन्य मुनिराजों ने तपस्या की हो—प्रव्रज्या ग्रहण की हो तथा घातिया कर्मों को चूर कर कैवल्य प्राप्त किया हो । ये स्थान हैं राजगिरि के निकटवर्ती नील वनप्रदेश, ऋजुकूला नदी का तटवर्ती जम्भिका ग्राम, राजगृह की पंच पहाडियाँ, कुलुहा पहाड[1] (हजारीबाग) आदि । इन स्थानों में तीर्थंकर अथवा मुनिराजों ने प्रव्रज्या ग्रहण की अथवा विश्व को आलोकित करने वाले ज्ञान-पुञ्ज को प्राप्त किया था । आज भी इन भूखण्डों से ज्ञान की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है । ये नीरव स्थान मानव को अपरिमित शान्ति और तृप्ति प्रदान करते हैं ।

जन्मभूमि तीर्थ वे हैं, जहाँ तीर्थंकरों का जन्म हुआ हो । तीर्थंकरों के जन्म लेने से वह भूमि उनकी क्रीड़ाभूमि होती है, जिसमें उनके पुण्यातिशय के कारण वहाँ का कण-कण पवित्र होता है । विहार के मिथिला प्रदेश में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का, राजगृह में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का एवं वैशाली के क्षत्रियकुण्ड ग्राम में अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म हुआ है ।[2] बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की जन्मभूमि चंपा है ।

साधारण तीर्थ वे हैं, जहाँ प्राचीन या अर्वाचीन जिनालय हैं, जिनकी पूजा-वन्दना प्रतिदिन की जाती है । ऐसे तीर्थ विहार में जहाँ-जहाँ जैनों की आबादी है, सर्वत्र हैं । आरा, गया आदि प्रमुख हैं । विहार में कुछ ऐसे भी प्राचीन तीर्थ हैं जिनका इतिहास आज तक अन्धाकाराच्छन्न है । श्रावक पहाड़ और पचार पहाड़, ये दोनों जैनतीर्थ गया जिले में हैं, यहाँ जैन मूर्तियों के ध्वंसावशेष उपलब्ध हैं ।

---

१. कुलुहा पहाड़ श्री शान्तिनाथ भगवान् की तपोभूमि है ।

२. मिहिलाए मल्लिजिणो पहावदीए कुंभअक्खिदीसेहिं । मग्गसिरसुक्कएक्कदसीए अस्सिणीए संजादो ॥
मिहिलापुरिए जादो विजयणरिंदेण वप्पिलाए य । अस्सिणिरिक्खे आसाढसुक्कदसमीए णमिसामी ॥
रायगिहे मुणिसुव्वयदेवो पउमासुमित्तराएहिं । अस्सजुदबारसीए सिवणक्खे सवणभे जादे ॥
सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं णयरम्मि कुंडले वीरो । उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो ॥
—तिलोयपण्णत्ति, चतुर्थ अधिकार, गाथा ५४४, ५४५, ५४६, ५४९

सिद्ध-भूमियाँ—

विहार की सिद्धभूमियों में सबसे प्रमुख सम्मेदशिखर है। अतः क्रमानुसार सभी सिद्धभूमियों का निरूपण करना आवश्यक है।

श्री सम्मेद-शिखर—

इस स्थान का दूसरा नाम पार्श्वनाथपर्वत है, यह जिला हजारीबाग के अन्तर्गत है। गिरीडीह स्टेशन से १८ मील और पारसनाथ (ईसरी) स्टेशन से लगभग १५ मील की दूरी पर है। इस शैलराज की उत्तुंग शिखाएँ प्राकृतिक और सांस्कृतिक गरिमा का गान आज भी गा रही हैं। यह समुद्र गर्भ से ४४८८ फुट ऊँचा है। देखने में बड़ा ही सुन्दर है। घनी वनस्थली से घिरे ढालू सकीर्णपथ से पहाड़ी पर चढाई आरम्भ होती है। जैसे ही प्रयाण करते हैं, पर्वतराज की विस्मयजनक शोभा उद्भासित होने लगती है और बीच-बीच में नाना रमणीय दृश्य दिखलाई देते हैं। लगभग एक सहस्र फुट ऊँचा जाने पर आठ चोटियों के बीच पार्श्वनाथ चोटी बादलों के बीच गुम्मज-सी प्रतीत होती है। अनेक अंग्रेज यात्रियों ने मुक्तकंठ से इस रमणीय स्थल का वर्णन किया है। सन् १८१९ में कोलोनेल फ्रैंकलिन ने (Colonel Franklin) इसकी यात्रा की थी।

इस पर्वत की सबसे ऊँची चोटी सम्मेदशिखर कहलाती है। यह शब्द सम्मद+शिखर का रूपान्तर प्रतीत होता है। इसकी निष्पत्ति सम्+मद धात्वर्थ में क अथवा अच् प्रत्यय करने पर हर्ष या हर्षयुक्त होगा। तात्पर्य यह है कि इसकी ऊँची चोटी को मंगलशिखर (The peak of the bliss) कहा जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि जैनश्रमण इस पर्वत पर तपस्याएँ किया करते थे इसलिए इस पर्वत की ऊँची चोटी का नाम समणशिखर से सम्मेदशिखर हो गया है। इस शैलराज से चौबीस तीर्थंकरों में से अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और पार्श्वनाथ इन बीस तीर्थंकरों ने कर्मकालिमा को नष्ट कर जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त की है[1]।

---

१. बीसंतु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुद किलेसा। सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥
—निर्वाणकाण्ड गाथा–२

शेषास्तु ते जिनवरा जितमोहमल्ला, ज्ञानार्कभूरिकिरणैरवभास्यलोकान्।
स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं, सम्मेदपर्वततले समवापुरीशाः ॥
—निर्वाणभक्ति श्लो० २५

विशेष के लिए देखें—तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४ गाथा ११८६—१२००

वर्धमान कवि ने अपने दशभक्त्यादि महाशास्त्र में पार्श्वनाथ पर्वत की पवित्रता का वर्णन करते हुए श्री रामचन्द्र जी का निर्वाणस्थान इसे बतलाया है[५]। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार इस क्षेत्र की अर्चना करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते है। कवि ने इस शैलराज को अनन्त केवलियो को निर्वाणभूमि बताया है।

श्री पं० आशाधर जी ने अपने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र में राम और हनूमान का मुक्तिस्थान भी सम्मेदाचल को माना[६] है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण में हनूमान का निर्वाणस्थान भी इसी पर्वत को बतलाया है[७]। श्री गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में सुग्रीव, हनूमान और रामचन्द्र आदि को इस शैलराज से मुक्त हुए कहा है।[८]

श्री सम्मेदशिखर माहात्म्य में चौबीस तीर्थंकरों के तीर्थकाल में इस पवित्र तीर्थ की यात्रा करने वाले उन व्यक्तियों के आख्यान दिये गये हैं; जिन्होंने इस तीर्थ की वंदना से अनेक लौकिक फलों को प्राप्त किया तथा दीक्षा लेकर तपस्या की ओर इसी शैलराज से निर्वाणपद पाया।

दिगम्बर आगमों के समान श्वेताम्बर आगमों में भी इस क्षेत्र की महत्ता स्वीकार की गयी है। विविध तीर्थकल्प में पवित्र तीर्थों की नामावली बतलाते हुए कहा गया है[९]—

अयोध्या–मिथिला–चम्पा–श्रावस्ती हस्तिनापुरे।
कौशाम्बी–काशि–काकन्दी–काम्पिल्ये–भद्रलाभिधे॥
चन्द्रानना–सिंहपुरे तथा राजगृहेपुरे।
रत्नवाहे शौर्यपुरे कुण्डग्रामेऽप्यपापया॥
श्रीरैवतक–सम्मेत–वैभाराऽष्टापदाद्रिषु।
यात्रायामस्मिन्स्तेषु यात्राफलाच्छतगुणं फलम्॥

---

५. अनन्त-जिननिर्वाणे मुनिसुव्रतजन्मनि। उपदेशश्च नास्माकं जिनसेनाचार्यशासने॥
अमावास्याप्ररात्रौवानन्तजिज्जिननिर्वृत्तिः। संजाताप्यनगारकेवलिविभोः श्रीरामचन्द्रस्य वै।
श्रीद्धफाल्गुनशुक्लपक्षविलसच्चातुर्दशीवासरे। पूर्वाह्णे कुलशैलमस्तकमणौ सम्मेदगिर्यग्रको॥
शास्तानिर्वृतिस्त्रलक्ष्मणमतेः सीतावलो श्रीपतेः॥—दशभक्त्यादिशास्त्र।

६. साकेतमेतत्सिद्धार्थवनेश्रित्वा बलस्तपः। शिवगुप्तजिनात्सिद्धः सम्मेदेणूमवावियुक्॥
—त्रिषष्टिस्मृती श्लो० ८०

७. निर्दग्धमोहनिचयो जैनेन्द्रं प्राप्य पुष्कलं ज्ञाननिधिम्। निर्वाणगिरावसिधच्छ्रीशैलः श्रमणस-
सम: पुरुवरविः॥ —पर्व १३, ४५

८. दिने सम्मेदनिर्बधे तृतीयं शुक्लमाश्रितः। योगत्रितयमावष्य समुच्छिन्न क्रियाश्रयः॥
—उत्तरपुराण पर्व ६८ श्लो० ७१६

९. विविधतीर्थकल्प पृ० ३

इस प्रकार इस तीर्थ की पवित्रता स्वत: सिद्ध है। यह एक प्राचीन तीर्थ है; परन्तु वर्तमान में इस क्षेत्र में एक भी प्राचीन चिह्न उपलब्ध नहीं है। यहाँ के सभी जिनालय आधुनिक हैं, तीन-चार सौ वर्ष से पहले का कोई भी मन्दिर नहीं है। प्रतिमाएँ भी इधर सौ वर्षों के बीच की हैं। केवल दो-तीन दिगम्बर मूर्तियाँ जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित हैं; परन्तु इनकी प्रतिष्ठा भी मधुवन में या इस क्षेत्र से सम्बद्ध किसी स्थान में नहीं हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि बीच में कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र में लोगों का आवागमन नहीं होता था। इसका प्रधान कारण मुसलमानी सलतनत में आन्तरिक उपद्रवों का होना तथा यातायात की असुविधाओं का रहना भी है। औरंगजेब के शासन के उपरान्त ही यह पुनः प्रकाश में आया है[10]। तब से अब तक प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री इसकी अर्चना, वन्दना कर पुण्यार्जन करते हैं। १८ वीं शती में तो अंग्रेज यात्रियों ने भी इस क्षेत्र की यात्रा कर यहाँ का प्राकृतिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है तथा तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट चित्रण किया है[11]। पर्वत की चढ़ाई, उतराई और वंदना का क्षेत्र कुल १८ मील तथा परिक्रमा का क्षेत्र २८ मील है। मधुवन से दो मील चढ़ाई पर मार्ग में गन्धर्व नाला और इससे एक मील आगे सीता नाला पड़ता है।

आज इस क्षेत्र में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनधर्मशालाएँ, मन्दिर एवं अन्य सास्कृतिक स्थल हैं। पहाड़ के ऊपर २५ गुम्मजें हैं, जिनमें निर्वाणप्राप्त २० तीर्थंकर, गौतम गणधर एवं अवशेष चार तीर्थंकरों की चरण-पादुकाएँ स्थापित हैं। पहाड़ के नीचे मधुवन में भी विशाल जिनमन्दिर हैं जिनमें भव्य एवं चित्ताकर्षक मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। भाव सहित इस क्षेत्र के दर्शन, पूजन करने से ४९ भव में निश्चयतः निर्वाण प्राप्त होता है तथा नरक और तिर्यक् गति का बंध नहीं होता।

पावापुरी—

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाणभूमि पावापुरी, जिसे शास्त्रकारों ने पावा के नाम से स्मरण किया है, अत्यन्त पवित्र है। इस पवित्र नगरी के पद्मसरोवर से ई० पू० ५२७ में ७२ वर्ष की आयु में भगवान् महावीर ने कार्तिक बदी अमावास्या के दिन उषाकाल में निर्वाणपद प्राप्त किया था[12]। प्रचलित यह पावापुरी, जिसे पुरी भी कहा जाता है, विहारशरीफ स्टेशन से ९ मील दूरीपर है।

१० A statical Account of Bengal volume XVI P. 30-33,

११ Pilgrimage to Parsvanath in 1820, Edited by James Burgess, IIed 1902, p. 36-45.

तथा विशेष जानने के लिए देखें—सम्मेदशिखर नामक विस्तृत निबन्ध

१२. कत्तियकिह्णे चोद्दसिपच्चूसे सादिणामणक्खत्ते। पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो॥

—तिलोयपण्णत्ति ४, १२०८

क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे। बहूनां सरसां मध्ये महामणि शिलातले॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः। कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यानपरायणः। कृतत्रियोगसंरोधसमुच्छिन्नक्रियं श्रितः॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः। गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम्॥

—उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लो० ५०८-१२

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय वाले इस तीर्थ को समान रूप से भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि मानते हैं। परन्तु ऐतिहासिकों में इस स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन गोरखपुर जिले के पपउर ग्राम को ही पावापुर बताते हैं, यह पडरोना के पास है और कसया से १२ मील उत्तर-पूर्व को है। मल्ल लोगो के गणतन्त्र का सभाभवन इसी नगर में था।

मुनिश्री कल्याणविजय गणी बिहारशरीफ के निकट वाली पावा को ही भगवान् की निर्वाण-नगरी मानते हैं। आपका कहना है कि प्राचीन भारत में पावा नाम की तीन नगरियाँ थी। जैनसूत्रों के अनुसार एक पावा भँगिदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश पार्श्वनाथ पर्वत के आस-पास के भूमिभाग में फैला हुआ था, जिसमें हजारीबाग और मानभूमि जिलों के भाग शामिल हैं। बौद्ध-साहित्य के मर्मज्ञ कुछ विद्वान् इस पावा को मलय देश की राजधानी बताते हैं। किन्तु जैनसूत्र ग्रन्थों के अनुसार यह भगिदेश की राजधानी ही सिद्ध होती है।

दूसरी पावा कोशल से उत्तर-पूर्व कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी, जिसे राहुलजी ने स्वीकार किया है।

तीसरी पावा मगध जनपद में थी, जो आजकल तीर्थक्षेत्र के रूप में मानी जा रही है। इन तीनों पावाओं में से पहली पावा आग्नेय दिशा में और दूसरी पावा वायव्य कोण में स्थित थीं। अतः उल्लिखित तीसरी पावा मध्यमा के नाम से प्रसिद्ध थी। भगवान् महावीर का अन्तिम चातुर्मास्य तथा निर्वाण इसी पावा में हुआ है।[1]

श्री डा० राजबली पाण्डेय का 'भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। आपने इसमें कुशीनगर से वैशाली की ओर जाती हुई सड़क पर कुशीनगर से ९ मील की दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशा में सठियाव के भग्नावशेष (फाजिलनगर) को निश्चित किया है। यह भग्नावशेष लगभग डेढ़ मील विस्तृत है और भोगनगर तथा कुशीनगर के बीच में स्थित है। यहाँ पर जैन-मूर्तियों के ध्वंसावशेष अभी तक पाये जाते हैं। बौद्ध-साहित्य में जो पावा की स्थिति बतलायी गयी है, वह भी इसी स्थान पर घटित होती है।[2]

इन तीनों पावाओं की स्थिति पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि पावा डा० राजबली पाण्डेय द्वारा निरूपित ही है। इसी स्थान पर काशी-कोशल के नौ-लिच्छवी तथा नौ मल्ल एवं अठारह गणराजों ने दीपक जलाकर भगवान् का निर्वाणोत्सव मनाया था। नन्दिवर्द्धन के द्वारा भगवान् के निर्वाण स्थान की पुण्यस्मृति में जिस मन्दिर का निर्माण किया गया था, आज वही मन्दिर फाजिल नगर का ध्वंसावशेष है। इस मन्दिर को भी एक मील के घेरे का बताया गया है तथा यह ध्वंसावशेष भी लगभग एक-डेढ़ मील का है। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानी सलतनत की ज्यादतियों के कारण इस प्राचीन तीर्थ को छोड़ कर मध्यम पावा को ही तीर्थ मान लिया

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३७५

२. वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० २११–२१४

गया है। यहाँ पर क्षेत्र की प्राचीनता का द्योतक कोई भी चिह्न नहीं है। अधिक-से-अधिक तीन सौ वर्षों से इस क्षेत्र को तीर्थ स्वीकार किया गया है। यहाँ पर समवशरण मन्दिर की चरणपादुका ही इतनी प्राचीन है, जिससे इसे सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन कह सकते हैं। मेरा तो अनुमान है कि इस चरण-पादुका को कहीं बाहर से लाया गया होगा। यह अनुमानतः १० वी शती की मालूम होती है, इस पादुका पर किसी भी प्रकार का कोई लेख उत्कीर्ण नहीं है। इस चरणपादुका की प्राचीनता के आधार पर ही कुछ लोग इसी पावापुरी को भगवान् की निर्वाणभूमि बतलाते हैं। जलमन्दिर में जो भगवान् महावीर स्वामी की चरणपादुका है, वह भी कम से कम छः सौ वर्ष प्राचीन है। ये चरणचिह्न भी पुरातन होने के कारण गलने लगे हैं। यद्यपि इन चरणों पर भी कोई लेख नहीं है। भगवान् महावीर स्वामी के चरणो के अगल-बगल में सुधर्म स्वामी और गौतम स्वामी के भी चरणचिह्न हैं।

पावापुरी में जलमन्दिर संगमरमर का बनाया गया है। यह मन्दिर एक तालाब के मध्य में स्थित है। मन्दिर तक जाने के लिए लगभग ६०० फ़ुट लम्बा लाल पत्थर का पुल है। मन्दिर की भव्यता और शिल्पकारी दर्शनीय है। धर्मशाला में एक विशाल मन्दिर नीचे है, जिसमें कई वेदियाँ हैं। नीचे सामने वाली वेदी में श्वेतवर्ण पाषाण की महावीर स्वामी की मूलनायक प्रतिमा है। इस वेदी में कुल १४ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। सामने वाली वेदी के बायें हाथ की ओर तीन प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओं में धर्मचक्र के नीचे एक ओर हाथी और दूसरी ओर बैल के चिह्न अंकित किये गये हैं। यद्यपि इन मूर्तियों पर कोई शिला लेखादि नहीं है; फिर भी कला की दृष्टि से ये निश्चयतः ८–९ सौ वर्ष प्राचीन हैं। मन्दिर में प्रवेश करने पर दाहिनी ओर प्राचीन पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। इस प्रतिमा में धर्मचक्र के दोनों ओर दो सिंह अंकित किये गये हैं।

ऊपर चार मन्दिर हैं—(१) शोलापुर वालों का (२) श्री जगमग बीबी का मन्दिर (३) श्री बा० हरप्रसाद दासजी आरा वालों का मन्दिर और (४) जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वालों का मन्दिर। ये सभी मन्दिर आधुनिक हैं, प्रतिमाएँ भी आधुनिक हैं।

चम्पापुरी—

चम्पापुरी क्षेत्र से बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया है।[1] तिलोयपण्णत्ति में बताया गया है कि फाल्गुन कृष्णा पंचमी के दिन अपराह्नकाल में अश्विनी नक्षत्र के रहते छः सौ एक मुनियों से युक्त वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया।[2] यद्यपि उत्तरापुराण में वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण स्थान मन्दारगिरि बताया गया है।[3] कुछ ऐतिहासज्ञों का यह कहना है कि प्राचीनकाल में चम्पानगर

---

१. चम्पापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान् । सिद्धिं परामुपगतो गतरागबन्धः ॥

—निर्वाणभक्ति श्लो० २२

२. फग्गुणबहुले पंचमिअवरण्हे अस्सिणीसु चंपाए ।
छसयाहियछसयजुदो सिद्धिगदो वासुपुज्जजिणो ॥

—तिलोय पण्णत्ति अ० ४ गा० ११९६

३ गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण पर्व ५८

का अधिक विस्तार था, अतः यह मन्दारगिरि उस समय इसी महान् नगर की सीमा में स्थित था। भगवान् वासुपूज्य इस चम्पानगर में एक हजार वर्ष तक रहे थे। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में बताया गया है कि भगवान् महावीर ने यहाँ तीन चातुर्मास व्यतीत किये थे। चम्पा के पास पूर्णभद्र चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान था, जहाँ महावीर ठहरते थे। श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने इसे मगध की राजधानी बनाया था। वासुपूज्य स्वामी के चम्पा में ही अन्य चार कल्याणक भी हुए [1]।

चम्पापुर भागलपुर से ४ मील और नाथनगर रेलवे स्टेशन से मिला हुआ है। जिस स्थान पर वासुपूज्य स्वामी को निर्वाण हुआ माना जाता है, उसी स्थान पर एक विशाल मन्दिर और धर्मशाला है। मन्दिर में पाँच वेदियाँ हैं—चार वेदियाँ चारों कोनों में और एक मध्य में। मध्य वेदी में प्रतिमाओं के आगे वासुपूज्य स्वामी के चरण काले पत्थर पर अंकित किये गये हैं। इन चरणों के नीचे निम्न-लेख अंकित है।

स्वस्ति श्री जय श्रीमन्नृप संवत् १६९३ शक: १५५९ मनुनामसम्बत्सरे (संवत्सरे) मार्गशिर (मार्गशीर्ष) शुक्ला २ शनौ शुभमुहूर्ते श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छबलात्कारगणे कुन्दकुन्दाम्नये भट्टारक श्री-कुमुदचन्द्रस्तत्पट्टे भ० श्री धर्मचन्द्रोपदेशात् जयपुर शुभस्थाने बघेरवाल ज्ञाति से०श्रीपासा भा० से० श्रीसुनोई तथा पुत्रसखी ५ नामा० श्री सजाईमतं चम्पावासुपूज्यस्य शिखबद्ध शिखरबद्ध प्रासाद कारण्य प्रतिष्ठा व..... विद्याभूषणैः प्रतिष्ठितं वांछतां श्री जिनधर्म्यं।

'मेरा अनुमान है कि जिस स्थान पर आजकल यह मन्दिर बना है, उस स्थान पर वासुपूज्य स्वामी के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक हुए हैं। निर्वाणस्थान तो मन्दारगिरि ही है।

चम्पापुर के दो जिनालयों में से बड़े जिनालय के उत्तर-पश्चिम के कोने की वेदी में श्वेत-वर्ण पाषाण की वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा है। यह प्रतिमा माघ शुक्ला दशमी को सवत् १६३२ में प्रतिष्ठित की गयी है। इसी वेदी में ५–६ अन्य प्रतिमाएँ भी हैं।

पूर्वोत्तर के कोने की वेदी में भी मूलनायक वासुपूज्य स्वामी की ही प्रतिमा है, इसकी प्रतिष्ठा भी संवत् १६३२ में ही हुई है। इस वेदी में दो प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ स्वामी की पाषाणमयी हैं। एक पर संवत् १५८५ और दूसरी पर संवत् १७४५ का लेख अंकित है।

पूर्व-दक्षिण कोने की वेदी में मूलनायक प्रतिमा पूर्वोक्त समय की वासुपूज्य स्वामी की है। इस वेदी में भगवान् ऋषभनाथ की एक खड्गासन प्राचीन प्रतिमा है, जिसमें मध्य में धर्मचक्र और इसके दोनों ओर दो हाथी अंकित हैं।

दक्षिण-पश्चिम कोने की वेदी में भी मूलनायक वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा संवत् १६३२ की प्रतिष्ठित है। इस वेदी में एक पार्श्वनाथ स्वामी की पाषाणमयी प्रतिमा जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित संवत् १५५४ की है। बीसवीं शताब्दी की कई प्रतिमाएँ भी इस वेदी में हैं।

---

१. चंपाए वासुपुज्जो वसुपुज्जणरेसरेण विजयाए।
फग्गुणसुद्धचउद्दसीए जम्मसे पुव्वभद्दपदे ॥—तिलोय पण्णत्ति अ० ४ गा० ५३७

मध्य की मुख्य वेदी में चाँदी के भव्य सिंहासन पर ४।। फुट ऊँची पीतवर्ण की पाषाणमयी वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा है। मूल नायक के दोनों ओर अनेक धातु प्रतिमाएँ विराजमान हैं। बड़े मन्दिर के आगे मुगलकालीन स्थापत्य कला के ज्वलन्त प्रमाण स्वरूप दो मानस्तम्भ हैं; जिनकी ऊँचाई क्रमशः ५५ और ३५ फीट है।

मन्दिर के मूल फाटक पर नक्कासीदार किवाड़ हैं। मूल मन्दिर की दीवालों पर सुकौशल मुनि के उपसर्ग, सीता की अग्निपरीक्षा, द्रौपदी का चीरहरण आदि कई भव्य चित्र अंकित किये गये हैं। द्रौपदी के चीरहरण और सीता की अग्निपरीक्षा में दरबार का दृश्य भी दिखलाया गया है। यद्यपि इन चित्रों का निर्माण हाल ही में हुआ है, पर जैनकला की अपनी विशेषता नहीं आ पायी है।

इस मन्दिर से आध मील गंगा नदी के नाले के तट पर, जिसको चम्पानाला कहते हैं, एक जैनमन्दिर और धर्मशाला है। इसका प्रबन्ध श्वेताम्बरी भाइयों के आधीन है। इस मन्दिर में नीचे श्वेताम्बरी प्रतिमाएँ और ऊपर दिगम्बर आदिनाथ की प्रतिमा विराजमान हैं। इन प्रतिमाओं में से कई प्रतिमाएँ, जो चम्पानाला से निकली हैं, बहुत प्राचीन हैं। अन्य प्रतिमाओं में एक श्वेत पाषाण की १५१५ की प्रतिष्ठित तथा एक मूँगिया रंग के पाषाण की पद्मासन सं० १८८१ में भट्टारक जगत्कीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित है। प्रतिष्ठा कराने वाले चम्पापुर के मन्तलाल हैं। यहाँ अन्य कई छोटी प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक चरणपादुका भी है। श्वेताम्बर आगम में इसी स्थान को भगवान् वासुपूज्य स्वामी के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पंचकल्याणकों का स्थान माना गया है।

श्री डब्लू० डब्लू हन्टर ने भागलपुर का स्टेटिकल एकाउन्ट देते हुए लिखा है कि जहाँ आजकल चम्पानगर में जैनमन्दिर है, उस स्थान को ख्वाजा अहमद ने सन् १६२२–२३ में आबाद किया था। इस स्थान के आस-पास का मोहल्ला अकबरपुर कहलाता है। यह स्थान बहुत प्राचीन है, यहाँ पर अरण्य है।

मन्दार गिरि—

भागलपुर से ३१ मील दक्षिण एक छोटा-सा पहाड़ अनुमानतः ७०० फुट ऊँचा एक ही शिला का है। यह प्राचीन क्षेत्र है। यहाँ से भगवान् वासुपूज्य ने निर्वाण लाभ किया है। उत्तर पुराण में बताया गया है—

स तैः सह विहृत्याखिलार्यक्षेत्राणि तर्पयन् ।
धर्मवृष्ट्या क्रमात्प्राप्य चम्पामब्दसहस्रकम् ॥
स्थित्वात्र निष्क्रियो मासं नद्या राजतमौलिका–
संज्ञायाश्चित्तसंहारिण्याः पर्यन्तावनिवर्तिनि ॥
मन्दरगिरिशैलस्य सानुस्थानविभूषणे ।
वने मनोहरोद्याने पल्यंकासनमाश्रितः ॥

मासे भाद्रपदे ज्योत्स्ने चतुर्दश्यापराह्णके ।
विशाखायां ययौ मुक्तिं चतुर्नवतिसंयतैः ।। —उत्तरपुराण पर्व ५८ श्लो० ५०-५३

इससे स्पष्ट है कि वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण स्थान यही है; जहाँ आजकल चम्पापुर का मन्दिर स्थित है, वहाँ से भगवान का निर्वाण नहीं हुआ है। इन श्लोकों में बताया गया है कि रजतमौलि नामक नदी के किनारे की भूमि पर स्थित मन्दागिरि के शिखर पर स्थित मनोहर नामक उद्यान से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में ९४ मुनिराजो के साथ वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाणपद प्राप्त किया। भौगोलिक दृष्टि से पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि प्राचीन रजतमौलि नदी आजकल भी रजत नाम से प्रसिद्ध है। भाषा विज्ञान की अपेक्षा से रजतमौलि का रजत नाम सहज संभव है। अतएव वासुपूज्य स्वामी का यही मन्दारगिरि निर्वाण स्थान है।[1]

पहाड़ के ऊपर दो बहुत प्राचीन जिनालय हैं, इनकी स्थापत्य कला ही इस बात की साक्षी है कि ये मन्दिर आज से कमसे कम १० हजार वर्ष प्राचीन हैं। बड़े मन्दिर की दीवाल की चौड़ाई ७ फीट है, जो बौद्ध काल की स्थापत्यकला सूचक है। पहाड़ के बड़े मन्दिर में वासुपूज्य स्वामी के श्यामवर्ण के चरणचिन्ह हैं। ये चरण भी बहुत प्राचीन हैं, पाषाण एवं शिल्प की दृष्टि से ई० सन् की ८-९ वीं शती के अवश्य हैं। पहाड़ पर के छोटे मन्दिर में तीन चरणपादुकाएँ हैं। ये पादुकाएँ भी प्राचीन हैं तथा निर्वाण प्राप्त मुनिराजो की मानी जाती हैं। बड़े मन्दिर के भीतरी दरवाजे के ऊपर एक प्राचीन मूर्त्ति उत्कीर्णित है। पास की एक गुफा में मुनिराजों के चरणचिन्ह अंकित हैं।

मन्दारगिरि से लगभग दो मील की दूरी पर बौंसी गाव में दि० जैन धर्मशाला एवं विशाल भव्य मन्दिर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध यही पर है। धर्मशाला के मन्दिर में वी० सं० २४६६ की गेहुआवर्ण की वासुपूज्य स्वामी की पद्मासन मूर्त्ति है। और भी कई मूर्त्तियाँ एवं चरण पादुकाएँ हैं। मन्दिर के बाहिरी दरवाजे के ऊपर दोनो ओर दो पाषाण के हाथी अपने सुण्डादण्ड को ऊपर की ओर उठाये खड़े हुए हैं, बीच संगमरमर पर दि० जैन मन्दिर लिखा गया है। बड़े शिखर के नीचे माजिक में कटी हुई फूल पत्तियों का शिखर बहुत ही भव्य और चित्ताकर्षक है। मन्दिर के सामने बना हुआ छोटा सगमरमर का चबूतरा दूर से देखने पर बहुत ही सुहावना मालूम पड़ता है।

---

१. निर्वाणकाण्ड और तिलोयपण्णत्ति में यद्यपि वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण चम्पापुरी माना गया है; पर इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आगम में चम्पापुरी का विस्तार ९६ मील लम्बा और ३६ मील चौड़ा बताया गया है। अतः मन्दारगिरि इसी चम्पा के अन्तर्गत है। तिलोयपण्णत्ति और निर्वाणकाण्ड में सामान्यापेक्षया कथन है, इसलिए चम्पा लिखा है, परन्तु उत्तरपुराण में विशेष रूप से स्थान का निर्देश किया गया है। अतः वासुपूज्य स्वामी का निर्वाणस्थान मन्दारगिरि है।

यहाँ एक अन्य अधूरा मन्दिर पड़ा हुआ है, इस मन्दिर को पत्थर ही पत्थर से बनवाने की व्यवस्था श्री सेठ तलकचन्द कस्तूरचन्द बारामती (पूना) वालों ने की थी; पर कालचक्र के प्रभाव से यह मन्दिर अभी अपूर्ण ही पड़ा है।

जैनेतरों के लिए भी यह क्षेत्र पवित्र और मान्य है। यहाँ सीताकुण्ड और लखकुण्ड नामक दो शीतल जल के कुण्ड हैं। पर्वत की तलहटी में पापहरणी पुष्करणी नामक तालाब है। कहा जाता है कि समुद्र मन्थन के समय मथानी का कार्य इसी पर्वत से लिया गया था।

बीच में कई शताब्दियों तक जैनों की शिथिलता के कारण यह तीर्थ अन्धकाराच्छन्न हो गया था। २० अक्तूबर सन् १६११ में सबलपुर के जमीदारों से इसकी रजिस्ट्री करायी गयी है। इस तीर्थ को पुनः प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० बा० देवकुमार जी आरा, स्व० राय बहादुर केमरे हिन्द सखीचन्द जी कलकत्ता एवं श्री बाबू हरिनारायण जी भागलपुर को है। अब यह तीर्थ दिनों दिन उन्नति करता जा रहा है।

राजगृह—

यह स्थान पटना जिले में है। ई० आर० रेलवे के बख्तियारपुर जंकशन से विहार लाइट रेलवे का अन्तिम स्टेशन है। यहाँ पंचपहाड़ी की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन-धर्मशालाएँ एवं जिनमन्दिर हैं। पाँचो पहाड़ो पर भी दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिर हैं।

राजगृह का पूर्व इतिवृत्त अत्यन्त गौरवपूर्ण है। इस नगर को कुशात्मज वसु ने गंगा और सोन नदी के सगम पर बसाया था। महाराज श्रेणिक ने पंच पहाड़ी के मध्य में नवीन राजगृह नगर को बसाया, जो अपनी विभूति और रमणीयता में अद्वितीय था। महाराज वसु से लेकर श्रेणिक-तक यह उत्तर भारत का शासन-केन्द्र रहा है। जब श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने मगध की राजधानी चम्पा को बनाया, उस समय किसी कारणवश आग लग जाने से यह नगर नष्ट हो गया।

राजगृह का भगवान् महावीर के पहले भी जैनधर्म से सम्बन्ध रहा है। रामायण काल में भगवान् मुनिसुव्रत नाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक यहीं हुए थे। पश्चात् इसी वंश में अर्द्धचक्री प्रतिनारायण जरासिन्धु हुआ। यह महापराक्रमी और रणशूर था, इसके भय से यादवों ने मथुरा छोड़कर द्वारिका का आश्रय ग्रहण किया था। राजगृह के साथ जैनधर्म का इतिहास जुड़ा हुआ है। यहाँ भगवान आदिनाथ और वासुपूज्य के अतिरिक्त अवशेष २२ तीर्थंकरों के समवशरण आये थे। भगवान् महावीर ने यहाँ वर्षाकाल व्यतीत किया था तथा इनके प्रमुख भक्त इसी नगर निवासी थे।

राजगृह के पंचपहाड़ों का वर्णन तिलोयपण्णत्ति, धवलाटीका, जयधवला टीका, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, अणुत्तरोववाई दशांगसूत्र, भगवतीसूत्र, जम्बू स्वामीचरित्र, मुनिसुव्रतकाव्य, णायकुमार-चरिउ, उत्तर पुराण आदि ग्रंथों में उपलब्ध है।

तिलोयपण्णत्ति में इसे पंचशैलपुर नगर कहा गया है। बताया गया है कि राजगृह नगर के पूर्व में चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिण में त्रिकोण वैभार, नैऋत्य में त्रिकोण विपुलाचल, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुषाकार छिन्न एवं ईशान दिशा में पाण्डु नाम का पर्वत है।[1]

षट्खंडागम की धवला टीका में वीरसेन स्वामी ने पंच पहाड़ियों का उल्लेख करते हुए दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं; जिनमें पंच पहाड़ियों के नाम क्रमशः ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुल, चन्द्र और पाण्डु आये हैं।[2]

हरिवंश पुराण में बताया गया है कि पहला पर्वत ऋषिगिरि है, यह पूर्व दिशा की ओर चौकोर है, इसके चारों ओर झरने निकलते हैं। यह इन्द्र के दिग्गजों के समान सभी दिशाओं को सुशोभित करता है। दूसरा दक्षिण दिशा की ओर वैभार गिरि है, यह पर्वत त्रिकोणाकार है। तीसरा दक्षिण-पश्चिम के मध्य त्रिकोणाकार विपुलाचल है, चौथा बलाहक नामक पर्वत धनुष के आकार का तीनों दिशाओं को घेरे शोभित है, पाँचवां पाण्डुक नामक पर्वत गोलाकार पूर्वोत्तर मध्य में है। ये पाँचों पर्वत फल-पुष्पों के समूह से युक्त है। इन पर्वतों के वनों में वासुपूज्य स्वामी को छोड़ शेष समस्त तीर्थंकरों के समवशरण आये हैं। ये वन सिद्धक्षेत्र हैं, इनकी यात्रा को भव्य जीव आते हैं।[3]

---

१. चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।
ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा॥ —अधिकार १ गा० ६६-६७

२. पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे॥
महावीरेण ऽत्थो कहियो भवियलोयस्स॥
ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र॥
धनुराकारश्चन्द्रो वारुण-वायव्य-सौम्यदिक्षु ततः।
वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृताः॥

—धवला टीका भाग १ पृ० ६१-६२

३. ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः। दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम्॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः। दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः॥
सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः। शोभते पांडुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनां। सर्वेषां समवस्थानैः पावनोपवनान्तराः॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यौघ निषेविताः। नानातिशयसंपन्नैः सिद्धक्षेत्रैः पवित्रिताः॥

—हरिवंशपुराण सर्ग ३ श्लोक ५३, ५४, ५५, ५६, ५७

राजगृह सिद्ध भूमि है, यहीं भगवान् महावीर का विपुलाचल पर प्रथम समवशरण आया था। अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग में ३३ वर्ष ८ माह और १५ दिन अवशेष रहने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई थी। इस स्थान से अनेक ऋषि-मुनियों ने निर्वाण पद प्राप्त किया है। श्रद्धेय श्री नाथूराम प्रेमी ने अनेक प्रमाणों द्वारा नग-अनंग आदि साढ़े पाँच करोड़ मुनिराजों का निर्वाण स्थान यहा के ऋष्यद्रि को बतलाया है।[1] आज कल यह ऋष्यद्रि चतुर्थ पहाड़ स्वर्णगिरि या सोनागिरि कहलाता है। श्री प्रेमीजी ने निर्वाण भक्ति के ९ वें पद्य को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर अंग-अनग कुमार का मुक्ति स्थान राजगृह की पचपहाड़ियों में श्रमणगिरि—सोनागिरि को ही सिद्ध किया है। पूर्वापर सम्बन्ध विचार करने पर यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

राजगृह के विपुलाचल पर्वत से श्री गौतम स्वामी ने निर्वाण लाभ किया है। उत्तर पुराण में बतलाया गया है—

> गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतिम्।
> मन्निर्वृतिदिने लब्ध्वा सुधर्मा श्रुतपारगः॥ उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लो० ५१

अन्तिम केवली श्री सुधर्मस्वामी और जम्बू स्वामी ने भी विपुलाचल पर्वत से ही निर्वाण प्राप्त किया है।[2] केवली धनदत्त, सुमन्दर और मेघरथ ने भी राजगृह से ही निर्वाण प्राप्त किया है।[3] सेठ प्रीतंकर ने भगवान् महावीर से मुनि दीक्षा लेकर यहीं आत्मकल्याण किया था।[4] धीवरी पूत गन्धा ने यहीं की नीलगुफा में सल्लेखना व्रत ग्रहण कर शरीर त्याग किया था।

पहला पहाड़ विपुलाचल है। इस पर्वत पर चार दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। नीचे छोटे-मन्दिर में श्यामवर्ण कमल के ऊपर भगवान् महावीर स्वामी की चरण-पादुका है। थोड़ा ऊपर जाने पर तीन मन्दिर हैं। पहले मन्दिर में चन्द्रप्रभु की चरणपादुका प्राचीन है। मन्दिर भी प्राचीन है। मध्यवाले मन्दिर में चन्द्र प्रभु स्वामी की श्वेतवर्ण की मूर्त्ति वेदी में विराजमान है।

---

१. जैन-साहित्य और इतिहास पृ० २०१—२०३

२. तपोमासे सितेपक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने। निर्वाणं प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात् ॥११०॥
तत्तो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्। कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानंत सौख्यभाक् ॥१२१॥
—जम्बूस्वामीचरित्र जम्बूस्वामी निर्वाणगमनाध्याय

३. सप्तभिः पंचभिः पूजा वर्धितावशभिश्यते। अन्ते सिद्धशिलारूढाः सिद्धा राजगृहे पुरे।
—हरिवंशपुराण अ० १८ श्लो० ११९

४. अथ प्रियंकराख्याय साभिषेकं स्वसम्पदं। वसुंधरासूजे प्रीतिंकरो दत्वा विरक्तधीः॥
एत्य राजगृहं सार्द्धं बहुभिर्भूमिनायकैः। वर्धमानगुरोर्लब्ध्वा संयमं प्राप्तवान्परम्॥
—उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लो० ३८५—८६

वेदी के नीचे दोनों ओर हाथी खुदे हुए हैं, बीच में एक वृक्ष है। बगल में एक ओर सं० १५४८ की श्वेतवर्ण की चन्द्र प्रभुस्वामी की मूर्ति है। यहाँ एक पुरानी श्यामवर्ण की भगवान् महावीर स्वामी की भी मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति ई० सन् ८ वीं शती की प्रतीत होती है। अन्तिम मन्दिर की वेदिका में श्वेतवर्ण की महावीर स्वामी की मूर्ति विराजमान है। बगल में एक ओर श्यामवर्ण मुनिसुव्रतनाथ की मूर्त्ति और दूसरी ओर उन्ही के चरण हैं। मूर्ति प्राचीन और चरण नवीन है।

दूसरे रत्नगिरि पर दो मन्दिर हैं—एक प्राचीन मन्दिर है और दूसरा नवीन। नवीन मन्दिर को श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई जी ने बनवाया है इसमें मुनि सुव्रत स्वामी की श्यामवर्ण की भव्य और विशाल प्रतिमा विराजमान है। पुराने मन्दिर में श्यामवर्ण महावीर स्वामी की चरण-पादुका है।

तीसरे उदयगिरि पर एक मन्दिर है। इसमें श्री शातिनाथ और पार्श्वनाथ स्वामी की प्राचीन प्रतिमाएँ एवं आदिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह है। एक महावीर स्वामी की भी खड्गासन श्याम-वर्ण की प्राचीन प्रतिमा है। यहाँ नया मन्दिर भी कलकत्ता निवासी श्रीमान् सेठ रामवल्लभ रामेश्वर जी की ओर से बना है, पर उसकी अभी प्रतिष्ठा नहीं हुई है।

चौथे स्वर्णगिरि पर दो मन्दिर है। एक मन्दिर फिरोजपुर निवासी लाला तुलसीराम ने बनवाया है। इस नये मन्दिर में शान्तिनाथ स्वामी की श्यामवर्ण की प्रतिमा तथा नेमिनाथ और आदिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह हैं। यहाँ एक प्राचीन खड्गासन मूर्त्ति भी है। पुराने मन्दिर में भी भगवान् महावीर के नवीन चरणचिन्ह हैं। यह मन्दिर छोटा-सा और पुराना है।

पाँचवें वैभारगिरि पर एक मन्दिर है। यहाँ एक चौबीसी प्रतिमा, महावीर स्वामी, नेमिनाथ स्वामी और मुनिसुव्रत स्वामी की श्यामवर्ण की प्राचीन प्रतिमाएँ है। नेमिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह भी है।

पहाड़ के नीचे दो मन्दिर हैं। एक मन्दिर धर्मशाला के भीतर है तथा दूसरा धर्मशाला के बाहर विशाल बगीचे में। बाहर वाले मन्दिर को देहली-निवासी लाला न्यादरमल धर्मदासजी ने एक लाख रुपये से ६ फरवरी सन् १९२५ में बनवाया है। इस मन्दिर में पाँच वेदिकाएँ हैं। पहली वेदी के बीच में श्यामवर्ण नेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा है, यह पद्मासन मूर्ति १½ फुट ऊँची संवत् १९८० में प्रतिष्ठित की गयी है। इसके दाईं ओर शान्तिनाथ स्वामी और बाईं ओर महावीर स्वामी की प्रतिमाएँ हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ विक्रम की २० वीं शती की हैं। इस वेदिका में धातुमयी कई छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ हैं, जो सं० १७८९ की हैं। इस वेदी में दो चाँदी की भी प्रतिमाएँ हैं।

दूसरी वेदी में चन्द्रप्रभु स्वामी की श्वेतवर्ण की ३ फीट ऊँची प्रतिमा है। इसकी प्रतिष्ठा वी० सं० २४४९ में हुई है। चतुर्मुखी धातु प्रतिमा भी इस वेदी में है।

मध्य की वेदी सबसे बड़ी वेदी है, इस पर सुनहला कार्य कलापूर्ण हुआ है। वेदी के मध्य में मुनिसुव्रत नाथ की श्यामवर्ण की प्रतिमा, इसके दाहिनी ओर अजितनाथ की और बाईं ओर संभव-

नाथ की प्रतिमा है। ये प्रतिमाएँ भी वि० सं० १९८० की प्रतिष्ठित हैं। चौथी वेदी में विक्रम संवत् १९७६ की प्रतिष्ठित चन्द्रप्रभु और शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिमाएँ हैं। पाँचवी वेदी के बीच में कमल पर महावीर स्वामी की बादामी रंग की वी० सं० २४६२ की प्रतिष्ठित प्रतिमा है। इसमें आदिनाथ और शीतलनाथ की भी प्रतिमाएँ हैं।

धर्मशाला के भीतर का छोटा मन्दिर गिरिडीह निवासी सेठ हजारीमल किशोरीलाल जी ने बनवाया है। इस मन्दिर की वेदी में मध्यवाली प्रतिमा भगवान् महावीर स्वामी की है। इसका प्रतिष्ठा काल माघ सुदी १३ सवत् १८४१ लिखा है। इसके बगल में पार्श्वनाथ स्वामी की दो प्रतिमाएँ हैं, जिनका प्रतिष्ठा काल वैशाख सुदी ३ सं० १५४८ लिखा है। इस वेदी में और भी कई प्रतिमाएँ हैं।

गुणावा—

यह सिद्धक्षेत्र माना जाता है, यहां से गौतम स्वामी का निर्वाण हुआ मानते हैं, पर यह भ्रम है। गौतम स्वामी का निर्वाणस्थान विपुलाचल पर्वत है, गुणावा नहीं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि गौतम स्वामी नाना देशों में विहार करते हुए गुणावा पहुँचे थे और यहाँ तपस्या की थी।

यह स्थान नवादा स्टेशन से १½ मील की दूरी पर है। यहां पर श्रीमान् सेठ हुकमचद जी साहब ने जमीन खरीद कर धर्मशाला एव भव्य मन्दिर का निर्माण कराया है। धर्मशाला के मन्दिर में भगवान् कुन्थुनाथ स्वामी की ४½ फुट ऊँची श्वेतवर्ण की पद्मासन प्रतिमा है। इसकी प्रतिष्ठा चैत्र शुक्लाष्टमी स० १९९५ में हुई है। वेदी में चार पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमाएँ हैं, जिनका प्रतिष्ठाकाल स० १५४८ है। इस वेदी में एक वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा वैशाख सुदी ४ शनिवार स० १२६८ की है। इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा मारगपुर निवासी दाताप्रसाद भार्यासिंह भार्या अमरादि ने करायी है। वेदी में कुन्थुनाथ स्वामी की प्रतिमा के पीछे एक स० १२६८ की एक और प्रतिमा है। यहाँ गौतम स्वामी के चरण वीर सं०२४५३ के प्रतिष्ठित हैं। वेदी सुन्दर सगमरमर की है, इसका निर्माण कलकत्ता निवासी श्रीमान् से माणिकचंद जी की धर्मपत्नी ने कराया है।

धर्मशाला के दिगम्बर मन्दिर से थोड़ी ही दूर पर जलमन्दिर है। यह मन्दिर एक ६–७ फीट गहरे तालाब के मध्य में बनाया गया है। मन्दिर तक जाने के लिए २०३ फीट लम्बा पुल है। आज-कल इस जल-मन्दिर पर दिगम्बर और श्वेताम्बर भाइयों का समान अधिकार है, यहाँ एक दिगम्बर-पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा तथा गौतम स्वामी की चरणपादुका है। इस चरणपादुका की प्रतिष्ठा स० १६७७ में हुई है। दि० धर्मशाला का पुजारी प्रतिदिन इस जलमन्दिर में अपनी प्रतिमा तथा चरण-पादुका का अभिषेक पूजन करता है। इस जलमन्दिर में श्वेताम्बरीय आम्नाय के अनुसार वासुपूज्य स्वामी के चरण, चौबीसी चरण, चौबीस स्थानों पर पृथक्-पृथक् चौबीस भगवानों के चरण एवं महावीर स्वामी के चरण कई स्थानों पर हैं। यहाँ मूलनायक प्रतिमा महावीर स्वामी की है। यह मन्दिर प्राचीन और दर्शनीय है।

धर्मशाला के मन्दिर के सामने वीर सं० २४७४ में गया निवासी श्रीमान् सेठ केसरीमल लल्लूलालजी ने मानस्तम्भ बनवा कर इसकी प्रतिष्ठा करायी है।

कमलदह (गुलजारबाग)—

यह सेठ सुदर्शन का निर्वाणस्थान माना गया है। सेठ सुदर्शन ने इस स्थान पर घोर तपश्चरण किया था। जब सुदर्शन मुनि श्मशान में ध्यानस्थ थे, आकाशमार्ग में रानी अभयमती का जीव, जो व्यन्तरी हुआ था, जा रहा था। मुनि के ऊपर ज्यों ही विमान आया, कि वह मुनि के योगप्रभाव से आगे नहीं बढ़ पाया। उसने कुअवधिज्ञान से पूर्व शत्रुता को अवगत कर उन्हें भयानक उपसर्ग दिया, परन्तु धीर-वीर सुदर्शन मुनिराज ध्यान में सुमेरु की तरह अटल रहे। देवों ने उनका उपसर्ग दूर किया।

सुदर्शन मुनि ने योग निरोध कर शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने गुलजारबाग—कमलदह क्षेत्र में पौष सुदि ५ के दिन अपराह्न में निर्वाणपद पाया।

गुलजारबाग स्टेशन से उत्तर की ओर एक धर्मशाला और मन्दिर है। धर्मशाला से थोड़ी ही दूर पर मुनि सुदर्शन का निर्वाण स्थान है।

कुण्डलपुर—

यह भगवान् महावीर का जन्मस्थान माना जाता है, पर अब अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वैशाली का कुण्डग्राम भगवान् की जन्मभूमि सिद्ध हो चुका है। यह स्थान पटना जिले के अन्तर्गत है और नालन्दा स्टेशन से १½–२ मील की दूरी पर है। यहाँ पर धर्मशाला के भीतर विशाल मन्दिर है। वेदी में मूलनायक प्रतिमा महावीर स्वामी की है, इसकी प्रतिष्ठा माघशुक्ला १३ सोमवार सं० १६८२ में हुई है। तीन प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ स्वामी की है, जिनकी प्रतिष्ठा वैशाख सुदि ३ सं० १५४८ में हुई है। इस वेदी में ७ प्रतिमाएँ और एक सिद्ध परमेष्ठी की आकृति है। स्थान रमणीय और शान्ति-प्रद है। आत्मकल्याण करने के लिए यह स्थान सर्वथा उपयोगी है। अब तो नालन्दा में पाली प्रतिष्ठान के खुल जाने से इस स्थान की महत्ता और भी बढ़ गयी है।

वैशाली—

भगवान् महावीर का जन्मस्थान यही प्रदेश है।[1] वैशाली सघ ने इस स्थान के अन्वेषण में अपूर्व श्रम किया है। यहाँ से खुदाई में भगवान् महावीर स्वामी की एक प्राचीन मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त

१. सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तासियातेरसीए उप्पणो॥ —तिलोयपण्णत्ति अ० ४
सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः॥ —निर्वाणभक्तिः श्लो० ४

हुई है। आजकल यहाँ पर भगवान् महावीर का विशाल मन्दिर बनाने की योजना चल रही है। मन्दिर बनाने के लिए लगभग १३ बीघे जमीन स्थानीय जमीन्दारों से प्राप्त हो चुकी है। यहाँ मन्दिर आदि की व्यवस्था के लिए 'वैशाली तीर्थ कमेटी' का संगठन हुआ है। वैशाली संघ के तत्त्वावधान में बिहार सरकार यहाँ 'प्राकृत प्रतिष्ठान' खोलने जा रही है। यह स्थान मुजफ्फरपुर जिले में पड़ता है।

कुलुआ पहाड़—

यह पर्वत गया से ३८ मील हजारीबाग जिले में है। यह पहाड़ जंगल में है, इसकी चढ़ाई दो मील है। यहाँ सैकड़ों जैन मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हुए हैं। यहाँ १० वें तीर्थंकरश्री शीतलनाथ ने तप करके केवलज्ञान प्राप्त किया था। यहाँ पार्श्वनाथ स्वामी की एक अखण्डित अत्यन्त प्राचीन पद्मासन २ फुट ऊँची कृष्णवर्ण की प्रतिमा है। इस प्रतिमा को आजकल जैनेतर 'द्वारपाल' के नाम से पूजते हैं। यहाँ एक छोटा दि० जैन मन्दिर पाँच कलशों का शिखरबन्द बना हुआ है, यह मन्दिर प्राचीन है। इसमें सन् १९०१ श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् की ६ इंच चौड़ी पद्मासन मूर्ति विराजमान थी, परन्तु अब केवल आसन ही रह गया है। मन्दिर के सामने पर्वत पर एक रमणीक ३०० × ६० गज का सरोवर है। यहाँ पर अनेक खण्डित जैन मूर्तियों के अवशेष पड़े हुए हैं। एक मूर्ति एक हाथ की पद्मासन है, आसन पर सवत् १४४३ लिखा मालूम होता है। यहाँ की सबसे ऊँची चोटी का नाम 'आकाशलोकन' है। यह नीचे से $1\frac{1}{2}$ मील ऊँची होगी। इस शिखर पर एक चरणपादुका बहुत प्राचीन है। चरणचिह्न "$8 \times \frac{1}{2}$" है। शिखर से नीचे उतरने पर महान शिला की एक ओर की दीवाल में १० दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ खण्डित अवस्था में हैं। इन प्रतिमाओं पर नागरीलिपि में लेख है, जो घिस जाने के कारण पढ़ने में नहीं आता है। केवल निम्न अक्षर पढ़े जा सकते हैं।

"श्रीमन् महाचद कलिद सुपुत्र सब बर मई सह सिद्धम्"

इस स्थान को पण्डों ने दशावतार गुफा प्रसिद्ध कर रखा है। बृहद्शिला की दूसरी ओर भी दीवाल में १० प्रतिमाएँ हैं। इस स्थान से आकाशलोकन शिखर तीन मील है। मार्च १९०१ की इंडियन एण्टीक्वेटी में इस तीर्थ के सम्बन्ध में लिखा गया है—

"आकाशलोकन शिला की चरणपादुका को पुरोहित लोग कहते हैं कि विष्णु की है, परन्तु देखने से ऐसा निश्चय होता है कि यह जैनतीर्थंकर की चरणपादुका है और ऐसा ही मान कर इसकी असल में पूजा होती थी।"

"पूर्व काल में यह पहाड़ अवश्य जैनियों का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा होगा, यह बात भले प्रकार स्पष्टतया प्रमाणित है। क्योंकि सिवाय दुर्गादेवी की नवीन मूर्त्ति के और बौद्ध मूर्त्ति के एक खंड के अन्य सर्व पाषाण की रचना के चिह्न, चाहे अलग पड़े हुए, चाहे शिलाओं पर अंकित हों वे सब तीर्थंकरों को ही प्रकट करते हैं।"

आज इस पवित्र क्षेत्र के पुनरुद्धार और प्रचार की आवश्यकता है। भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमिटी को इस क्षेत्र की ओर ध्यान देना चाहिये।

श्रावक पहाड़—

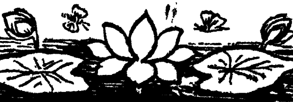
गया के निकट रफीगंज से ३ मील पूर्व श्रावक नाम का पहाड़ है। यह एक ही शिला का पर्वत है, २ फर्लांग ऊँचा होगा। यहाँ वृक्ष नहीं हैं, किनारे-किनारे शिलाएँ हैं। पहाड़ के नीचे जो गाँव बसा है, उसका नाम भी श्रावकपुर है। पर्वत के ऊपर ८० गज जाने पर एक गुफा है, जो १०×६ गज है। इसमें एक जीर्ण दिगम्बर जैन मन्दिर है, जो इस समय ध्वस्तप्राय. है। यहाँ पर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मनोज्ञ मूर्ति है। इसका बायाँ पैर खण्डित है। गुफा में अन्य भी खण्डित मूर्तियाँ हैं, गुफा के भीतर के पाशाण पट में ६ पद्मासन मूर्तियाँ हैं, नीचे यक्षिणी की मूर्ति लेटी है। इस पट के नीचे एक लेख प्राचीन लिपि में है।

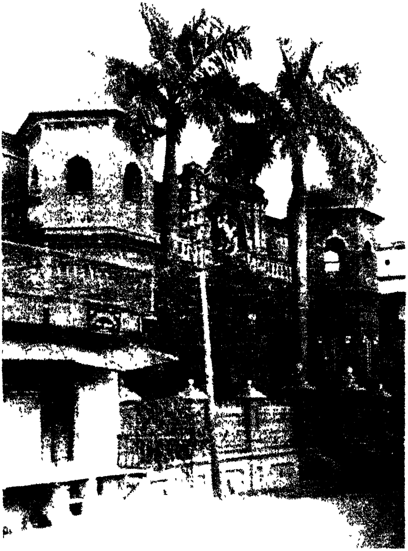
प्रचार पहाड़—

गया जिले में औरंगाबाद की सीमा के पूर्व की ओर रफीगंज से दो मील की दूरी पर प्रचार या पच्चार नामक पहाड़ है। यहाँ पर एक गुफा के बाहर वेदी में पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति विराजमान है। इसके आस-पास तीर्थंकरों की अन्य प्रतिमाएँ हैं। इस पहाड़ की जैनमूर्त्तियों के ध्वसावशेषों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह प्रसिद्ध तीर्थ रहा है।

सामान्य तीर्थ—

आरा की प्रसिद्धि नन्दीश्वरद्वीप की रचना, श्री सम्मेदशिखर की रचना, श्री गोम्मटेश्वर की प्रतिमा, मानस्तम्भ, श्री जैनसिद्धान्त-भवन और श्री जैन-बाला-विश्राम के कारण है। गया अपने भव्य जैन मन्दिर के कारण; छपरा अपने शिखरबन्द मन्दिर के कारण, भागलपुर अपने भव्य मन्दिर तथा चम्पापुर के निकट होने के कारण, हजारीबाग श्री सम्मेदशिखर के निकट होने के कारण प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार ईसरी, गिरिडीह, कोडरमा, रफीगंज आदि स्थान भी साधारण तीर्थ माने जाते हैं। विहार शरीफ का छोटा-सा पुराना मन्दिर भी प्राचीन है। इस प्रकार विहार के कोने-कोने में जैनतीर्थ हैं। यहाँ का प्रत्येक वन, पर्वत और नदी-तट तीर्थंकरों की चरणरज से पवित्र है।





श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

(हस्तलिखित प्राचीन दि० जैन ग्रन्थों का अपूर्व संग्रहालय)



श्री जैन-बाला-विश्राम आरा स्थित भगवान बाहुबली स्वामी

जैन नगरी—राजगिरि

श्री नरोत्तम शास्त्री

प्रस्ताविक—

राजगिरि प्राचीन काल से ही जैन नगरी रही है। २० वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत भगवान की जन्मनगरी होने का गौरव इसे प्राप्त है। यह नगरी ऋषभदेव और वासुपूज्य के अतिरिक्त अवशेष २२ तीर्थंकरों की समवशरणभूमि भी रही है। भगवान् महावीर के समय में इस नगरी का बड़ा महत्व था। यह श्रमण संस्कृति का प्रधान केन्द्र थी।

नामकरण—

राजगृह के प्राचीन नाम पंचशैलपुर, गिरिव्रज और कुशाग्रपुर भी पाये जाते हैं। धवला-टीका प्रथम भाग पृ० ६१ पर इसे 'पचशैलपुरे रम्मे' इत्यादि रूप में पचशैलपुर कहा है। इसका कारण यहाँ की पाँच मनोरम पर्वत श्रेणियाँ हैं ही। रामायण काल में इसे गिरिव्रज ही कहा जाता था[1]। भोगोपभोग की सम्पत्ति से परिपूर्ण राजकीय आवास होने के कारण इसकी प्रसिद्धि राजगृह के रूप में हुई है।[2] गौतम स्वामी को भगवान ने राजगृह के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उत्तर दिया कि जीवाजीवादि युक्त इस नगरी का नाम राजगृह है—

तेणं कालेण तेण समएणं जाव एव वयासी—किमिदभंते नगरं रायगिहं पि पवुच्चई ? किं पुढवी नगर रायगिहं ति पवुच्चई ? आऊनगरे रायगिहं ति पवुच्चई ? जाव वणस्सई ? जहां एयपुद्देसए पचेंदिय तिरिक्ख जोणि याण वतव्वयातहा भाणियव्वं जाव सचित्ताचित्त मीसयाइं दव्वाइं नगर रायगिह ति पवुच्चई ? गोयमा, पुढवीवि नगर रायगिह ति पवुच्चइ। से केणट्ठेण गोयमा ! पुढवी जीवाति य अजीवाति य नगर रायगिह ति पवुच्चई जाव सचित्ताचित्त मीसियाइं दव्वाइं जीवाति य अजीवाति य नगरं रायगिहं ति पवुच्चति ? से तेणट्ठेणं तं चेव ॥

भावार्थ—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—प्रभो ! इस नगरी को राजगृह क्यों कहा जाता है ? क्या पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, सचित्त, अचित और मिश्रद्रव्य का नाम

१—कनिंघम, एन्शियेन्ट जोगरफी आफ इण्डिया पृ० ५३०

२—पुरं राजगृहं तस्मिन्पुरंदरपुरोपमम्।

राजगृह है ? भगवान् बोले—गौतम ! पृथ्वी राजगृह कहलाती है, इसमें जीव अजीव आदि का संयोग है, अतः इस भूमि का नाम राजगृह है। हरिवंश पुराण और उत्तरपुराण में समृद्धिशाली, मान्य और उत्तुंग प्रासादों के कारण इसे राजगृह कहा गया है।

वर्त्तमान राजगिरि श्रेणिक की नगरी राजगृह से कुछ हटकर है। राजा श्रेणिक ने राजगृह को जरासन्ध की नगरी से अलग बसाया था।

परिचय:—

मगध देश में लक्ष्मी का स्थान अनेक उत्तम महलों से युक्त एक राजगृह नगर है। इस नगरी में पाँच शैल हैं इसलिए इसे पचशैल पुर कहा जाता है। यह नगरी भगवान मुनिसुव्रतनाथ के चार कल्याणों से पवित्र है। पाँचों पर्वतों में प्रथम पर्वत का नाम ऋषिगिरि है। यह पर्वत चतुष्कोण है और पूर्व दिशा में स्थित है। दूसरा पर्वत वैभारगिरि है जो त्रिकोणाकार दक्षिण दिशा में स्थित है। तीसरा पर्वत विपुलाचल है। यह पर्वत दक्षिण और पश्चिम के मध्य में है और वैभारगिरि के समान त्रिकोण है। चौथा बलाहक पर्वत है और इन्द्रधनुष के समान तीनों दिशाओं में व्याप्त है। पाँचवें पर्वत का नाम पाण्डुक है यह गोलाकार पूर्व दिशा में स्थित है। ये समस्त पर्वत नाना प्रकार के फलफूलों से युक्त मनोहर और सुरम्य है।[4]

जैन-साहित्य में राजगिरि —

राजगृह का वर्णन धवलाटीका[5] जयधवलाटीका,[6] तिलोयपण्णत्ति,[7] रत्नकरण्ड श्रावकाचार,[8] पद्मपुराण,[9] महापुराण,[10] णायकुमार चरिउ,[11] जम्बू स्वामी चरित्र[12] गौतम स्वामी चरित्र, भद्रबाहुचरित्र,[13] श्रेणिक

३—व्याख्या पण्णत्ति सूत्र पृ० ७३१

४—हरिवंश पुराण सर्ग ३ श्लो० ५१—५७

५—धवलाटीका प्रथम भाग ६१—६२

६—जयधवला टीका—

७—तिलोय पण्णत्ति अ० ४ गा० ५४५ तथा अधिकार प्रथम गाथा ६६—६७

८—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो० १२०

९—तत्रास्ति सर्वतः कांतं नाम्ना राजगृहं पुरे। कुसुमोपमसुभगं भुवनस्यैव यौवनम् ॥
—पद्मपुराण ३३।२ तथा पर्व २ श्लो० ११३

१०—महापुराणपर्व १ श्लो० १९६

११—तहिं पुववणामे कणयरण कोडिहिं घडिउ।
बलिवंड धरंत हो सुत इहिं णं सुरणयरु गयण पडिउ॥ —णयकुमार चरिउ।

१२—जम्बूस्वामीचरित पर्व ५ श्लो० १३ पर्व ७

१३—प्रारंभिक अंश पृ० २—३

चारित्र, उत्तर पुराण[14] हरिवंश पुराण,[15] आराधना कथाकोष[16] पुण्या स्रवकथाकोष[17] मुनिसुव्रतकाव्य,[18] धर्मामृत अणुत्तरोववाई,[19] दशांगसूत्र, आचाराग, अंतगडदशाग, भगवती सूत्र,[22] सूत्रकृतांग,[23] उत्तराध्ययन,[24] ज्ञाताधर्म-कथांग,[25] और विविध तीर्थ कल्प आदि ग्रंथो में राजगृह का उल्लेख आया है।

मुनिसुव्रतकाव्य के रचयिता अर्हद्दास (१३ वी शती) ने इस नगर के वैभव का वर्णन करते हुए बतलाया है—मगध देश में पीछे की ओर लगे हुए विशाल उद्यानों से युक्त राजगृह नगरी सुशोभित थी। इसके बाहरी उद्यान में अनेक लताएँ सुशोभित थी। यहाँ पर सदा शैलाग्र भाग से निकलती हुई जलधारा कामनियो के निरन्तर स्नान करने के कारण सिन्दूर युक्त दिखलाई पड़ती थी। यहाँ अनेक सरोवर थे जिनमें अनेक प्रकार की मछलिया क्रीड़ाएँ करती थी। नगरी के बाहर विस्तृत मैदान घोडो की पंक्ति के चलने से, मदोन्मत्त हाथियो से, योद्धाओं की शस्त्र-शिक्षा से एव सुभटों के मल्लयुद्ध से सुशोभित रहते थे। नगरी की वाटिका में निर्मल जल सदा भरा रहता था तथा जलतीर के विविध वृक्षो की छाया नाना तरह के दृश्य उपस्थित करती थी। इस नगरी की चहार दीवार के स्वर्ण-कलश इतने उन्नत थे कि उन्हें भ्रमवश स्वर्ण-कलश समझ देवागनाएँ लेने के लिए आती थी। इस नगरी की अट्टालिकाओ की ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ और रग-विरगे तोरण आकाश को छूते हुए इन्द्र धनुष का दृश्य बनाते थे। चन्द्रकान्तमणि से बने हुए भवनो की कान्ति चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से मिलकर क्रीडासक्त अप्सराओ के लिए दिव्यसरों की भ्रान्ति उत्पन्न करती थी। इस नगरी मे शिक्षा का इतना प्रचार था, कि विद्यार्थी अहर्निश शास्त्र-चिन्तन में तल्लीन थे। यहाँ के सुन्दर जिनालय अकृत्रिम जिनालयों की शोभा को भी निरस्कृत करते थे। इन चैत्यालयो में नीलमणि, पद्मरागमणि, स्फटिक मणि, हरितमणि एव विभिन्न प्रकार की लालमणियाँ लगी हुई थी जिनसे इसका सौंदर्य अकथनीय था। इस नगरी का शासक सर्वगुण सम्पन्न धन धान्य से युक्त, विद्वान, प्रजा वत्सल और न्यायवान् था। महाराज सुमित्र के राज्य में चोर, व्यभिचारी, पापी, अन्यायी और अधमत्मा कही भी नहीं थे। धन धान्य का प्राचुर्य था। सब सुख-शांति-पूर्वक प्रेम से निवास करते थे।

१४—उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लो० ३८६ पर्व ६७ श्लो० २०—४७,
१५—हरिवंश पुराण सर्ग २ श्लो० १४६—५० तथा सर्ग ३ श्लो० ५१—५८
१६—आराधना कथाकोष भाग १ पृ० १०५, १४६, १५०,
१७—पुण्यास्रव कथाकोष पृ० २७, २२०, २१०
१८—धर्मामृत आरम्भ भाग पृ० ५६—५७ तथा वारिषेण कुमार का कथा भाग
१९—तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णाम णयरे होत्था सेणियजाणं राया होत्था चेलना देवीए गुण सिलाए चइए वण्णओ...........अणुत्तरो—ववाई सूत्र
२०—आचारांग पृ० १६—१७, ५२, ५३ इत्यादि
२१—अन्त गडांग हैदराबाद सं० पृ० ४८
२२—रायगिहे नयरे जेणेव नालिन्दा............भगवती सूत्र
२३—हैदराबाद संस्करण पृ० ५३३
२४—महानिर्ग्रंथाय ५ वाँ आख्यान

साधारण व्यक्तियों के घर में भी नीलमणि जटित थे। शुभचन्द्रदेव ने श्रेणिक-चरित्र में इस नगर का वर्णन करते हुए लिखा है—यहाँ न अज्ञानी मनुष्य है और न शीलरहित स्त्रियाँ। निर्धन और दुखी व्यक्ति ढूंढने पर भी नही मिलेगा। यहाँ के पुरुष कुवेर के समान वैभववाले और स्त्रिया देवांगनाओं के समान दिव्य है। यहाँ कल्पवृक्ष के समान वैभववाले वृक्ष है। स्वर्गो के समान स्वर्ण-गृह शोभित है। इस नगर में धान्य भी श्रेष्ठ जाति के उत्पन्न होते है। यहाँ के नरनारी व्रत-शीलों से युक्त हैं। यहाँ कितने ही जीव भव्य उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रो को दान देकर भोगभूमि के पुण्य का अर्जन करते है। यहाँ के मनुष्य ज्ञानी और विवेकी है। पूजा और दान में निरन्तर तत्पर है। कला, कौशल, शिल्प में यहा के व्यक्ति अनुलनीय हैं। जिन-मन्दिर और राजप्रासाद में सर्वत्र जय-जय की ध्वनि कर्ण-गोचर होती है।[27]

विक्रम संवत् १३२६ में रचित विविध तीर्थकल्प मे जिनप्रभसूरि ने अयोध्या, मिथिला, चम्पा, श्रावस्ती, हस्तिनागपुर, कौशाम्बी, काशी, कालिन्दी, कम्पिल, भद्रिल, मूर्यपुर, कुण्डलग्राम, चन्द्र-पुरी, सिंहपुरी और राजगृह तीर्थों की यदि निष्पाप रूप से यात्रा की जाय तो गिरनार—सम्मेद शिखर वैभार पर्वत और अष्टापद की यात्रा से सन गुणा अधिक पुण्य मिलता है। इस ग्रथ में राजगृह के वैभार पर्वत की स्तुति विशेष रूप से की गयी है।[28]

वि० संवत् १७२६ मे श्री धर्मचन्द्र भट्टारक ने गौतम स्वामी चरित्र मे इस नगर की शोभा और समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखा है कि राजगृह नगरी बहुत ही सुन्दर है। इस नगरी के चारो ओर ऊँचा परकोटा शोभायमान है। कोट के चारों ओर जल से भरी हुई खाई है। इस राजगृह में चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण के अनेक जिनालय शोभायमान है। इनके उत्तुग शिखर गगनस्पर्शी है। यहाँ के धर्मात्मा व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान की अर्चना अष्ट द्रव्यो से करते है। यहाँ कुबेर के समान धनिक और कल्पवृक्ष के समान दानी निवास करते है। इस नगर के भवन श्रेणि-बद्ध है, बाजार में श्वेतवर्ण की दुकाने पंक्तिबद्ध हैं। चोर, लुटेरे यहाँ नही है। बाजारो मे सोना, चादी, वस्त्र, धान्य आदि का क्रय-विक्रय निरन्तर होता रहता है। प्रजा और राजा दोनों ही धर्मात्मा हैं। भय, आतंक शारीरिक और मानसिक वेदना का यहा अभाव है।[29] इस प्रकार राजगृह के वैभव का वर्णन प्राचीन ग्रंथो में वर्णित है।

कथा-सम्बन्ध—

राजगृह से अनेक जैन कथाओं का सम्बन्ध है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्त-भद्राचार्य ने 'भेकः प्रमोदमत्त कुसुमेनैकेन राजगृहे" में कमल दल से पूजा करने वाले मेढ़क की

२५—ज्ञाताधर्म्म कथाग (हैदराबाद संस्करण) पृ० ४८६
२६—मुनिसुव्रत काव्य प्रथम सर्ग, श्लो० ३७—५४ और सम्पूर्ण द्वितीय सर्ग
२७—श्रेणिक चरित्र हिन्दी अनुवाद पृ० १४—१५
२८—विविध तीर्थकल्प पृ० ८ पृ० ५२—५४, ७२, ६५
२९—गौतम स्वामी चरित्र अध्याय १ श्लो० ३१—४५

कथा का संकेत किया है । यह कथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार की संस्कृत टीका में प्रभाचन्दने बिस्तार से लिखी है। सम्राट् श्रेणिक की कथा का भी राजगृह से सम्बन्ध है । धर्मामृत, श्रेणिक-चरित्र, आराधना कथा कोष आदि में दानी वारिखेणकुमार की कथा आई है, जो पूर्णतः राजगिरि से सम्बद्ध है । धनकुमार ने मुष्ठि-युद्ध या सूर्य देव नामक आचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी । वारिखेण कुमार-दृढ सम्यक्त्वी थे । इन्होंने सम्यक्त्व से विचलित होने वाले अपने मित्र पुष्पडाल को सम्यक्त्व में दृढ किया था । अरहदास सेठ के पुत्र श्री अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का जन्म इसी नगरी में हुआ था। हरिवंश पुराण में बताया गया है कि वासुदेव पूर्व भव में एक ब्राह्मण के पुत्र थे। यह राज-गृह में आये । जीवन से निराश होने के कारण वैभारपर्वत पर पहुँचकर यह आत्महत्या करना चाहते थे, पर इस पर्वत पर तप करने वाले जैन मुनियों ने इस निन्द्य पाप से इसकी रक्षा की । पश्चात् इन्होंने जैन मुनि की दीक्षा ले ली, और नन्दीश्रेण नामक मुनि हुए । राजकोठारी की पुत्री भद्रा कुडलकेशा ने क्रोधवेश में अपने दुराचारी पति को मार डाला था, पर अपने पाप-मोचन के लिये यहीं के जैन मुनियों से साध्वी के त ले लिए थे । धीवरी पूतगन्धा जो कि काठियावाड के सोमारक नगर से आर्यिका संग में यहाँ की बन्दना के लिए आई थी , उसने अपना अन्त समय जानकर नील गुफा में सल्लेखना व्रत धारण कर प्राण विसर्जित किये थे ।

आराधना कथाकोषमें जिनदत्त सेठ की कथा में बताया गया है कि वह बडे धर्मात्मा थे, चतुर्दशी को कार्योत्सर्ग ध्यान करते थे । इन्होंने तपस्या के बल से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली थी और प्रतिदिन तीर्थों की वन्दना करते थे। माली के आग्रह से उसे भी तीर्थ-यात्रा के लिए विद्या बनायी, पर वह भय से उस विद्या को सिद्ध न कर सका । अजन चोर ने विद्या को सिद्ध कर लिया । पश्चात् वह विरक्त हुआ और मुनि होकर निर्वाण पद पाया ।

पुण्यास्रव कथाकोष में चारुदत्त की कथा में बताया गया है कि यह भ्रमण करता हुआ राजगृह आया । यहाँ विष्णुदत्त नामक दण्डी ने एक रसकूप के सम्बन्ध में बतलाया और कहा कि यदि हम रसकूप से रस निकालें तो मनमाना स्वर्ण तैयार कर सकते है । इसके पश्चात् यह दण्डी चारुदत्त को उस कुएँ के पास ले गया और उसे एक वस्त्र में बाधकर और तुम्बी देकर कुएँ में उतार दिया । चारुदत्त तुम्बी को रस से भरकर ऊपर भेजने ही वाला था कि कुएँ में किसी ने कहा—सावधान, यह तपस्वी धूर्त्त है तुझे यही मेरे समान छोड देगा । इस पर चारुदत्त सावधान हो गया और उस तपस्वी से अपने प्राण बचाए तथा कुएँ में पड़े हुए वणिक् पुत्र को नमस्कार मंत्र दिया । नागश्री का जीव वायुभूति पूर्व जन्म में राजगिरि में जन्मा था और वहीं पर आचार्य सूर्य मित्र ने उसे व्याकरणादि शास्त्रों की शिक्षा दी थी । अग्निभूति और वायुभूति के पूर्व भवो में बताया गया है कि इस नगरी में सुबल राजा राज्य करता था । एक दिन सुबल ने स्नान करते समय तेल से खराब हो जाने के भय से हाथ की अंगूठी अपने पुरोहित सूर्यमित्र को दे दी और सूर्यमित्र उसे ग्रहण कर घर चला गया । भोजन के अनन्तर जब राजसभा को आने लगा तो हाथ में अंगूठी न देख बड़ी चिन्ता हुई । पश्चात् उद्यान में स्थित सुधर्माचार्य मुनि से खोई हुई अंगूठी की प्राप्ति के सम्बन्ध

में पूछा । मुनिराज ने अंगूठी का पता बतला दिया । अंगूठी पाकर सूर्यमित्र बहुत प्रभावित हुआ और आचार्य सुधर्मस्वामी से मुनि दीक्षा ले ली ।

व्यवसायी कृतपुण्य, रानी चेलना, अभयकुमार, रोहिणेय चोर तो भगवान महावीर के उपदेश के श्रवण मात्र से अनेक कठिनाइयों से रक्षा की थी । भगवान् महावीर का आगमन राजगृह में अनेक बार हुआ था । नन्द नामक मनिहार भी भगवान् का बड़ा भक्त था । इस प्रकार राजगृह के साथ अनेक भक्त, दानी, तपस्वी, धर्मात्माओं की कथाएँ लिपटी हैं, जो इस नगरी की महत्ता बतलाती हैं ।

पुरातत्त्व—

फाहियान (ई० सन् ४००) ने आँखों देखा राजगृह का वर्णन लिखा है । वह लिखते हैं "नगर से दक्षिण दिशा में चार मील चलने पर वह उपत्यका मिलती है जो पाँचों पर्वतों के बीच में स्थित हैं । यहाँ पर प्राचीन काल में सम्राट् बिम्बसार विद्यमान था । आज यह नगरी नष्ट-भ्रष्ट है ।"[1] १८ जनवरी सन् १८११ ई० को बुचनन[2] साहब ने इस स्थान का निरीक्षण किया था और उसका वर्णन भी लिखा है । उनसे राजगृह के ब्राह्मणों ने कहा था कि जरासन्ध के किले को किसी नास्तिक ने बनवाया है—जैन उसे उपश्रेणिक द्वारा बनाया बताते हैं । बूचर सा० ने यह भी लिखा है कि पहले राजगृह पर चतुर्भुज का अधिकार था, पश्चात् राजा वसु अधिकारी हुए जिन्होंने महाराष्ट्र के १४ ब्राह्मणों को लाकर बसाया था । वसु ने श्रेणिक के बाद राज्य किया था ।

कनिंघम ने लिखा है कि प्राचीन राजगृह पाँचों पर्वतों के मध्य में विद्यमान था । मनियार मठ नामक छोटा सा जैन मन्दिर सन् १७८० ई० का बना हुआ था । मनियार मठ के पास एक पुराने कुएँ को साफ करते समय इन्हें तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं । उनमें एक माया देवी की मूर्ति थी, दूसरी सप्तफण मंडल युक्त एक नग्न मूर्ति भगवान पार्श्वनाथ की थी ।[3]

एम० ए० स्टीन साहब लिखते हैं—"वैभारगिरि पर जो जैन-मन्दिर बने हुए हैं, उनके ऊपर का हिस्सा तो आधुनिक है किन्तु उनकी चौकी जिनपर वे बने हुए हैं, प्राचीन है ।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने मनियार मठवाली पाषाण मूर्ति का लेख पढ़कर बताया है कि यह लेख पहली शताब्दी का है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचल का उल्लेख[4] है ।

आद्रिस बनर्जी ने बताया है कि सातवीं शताब्दी तक वैभारगिरि पर्वतपर जैन स्तूप विद्यमान था और गुप्तकाल की कई जैन मूर्तियाँ भी वहाँ हैं । मानभद्र गुहा में यद्यपि गुप्त कालीन लेख हैं पर इस गुफा का निर्माण मौर्यकाल के जैन राजाओं ने किया था ।[5]

१—Travels of Fa-Hian, Beal (London 1869) pp-110-113

२—बुचननद्‌स बिल इन पटना डिस्ट्रिक्ट पृ० १२५—१४४

३—Archaelogical Survey of India Vol I (1871) pp-25-26

४—Journal of the Bihar and Orissa Rea. Soc. Vol XXII (June. 1935)

५—Indian Historical Quarterly Vol XXV pp-205-210

विपुलाचल पर्वत के तीन मन्दिरों में से मध्य वाले मन्दिर में चन्द्रप्रभु स्वामी की श्वेत-वर्ण की मूर्ति वेदी में विराजमान है। वेदी के नीचे दोनों ओर हाथी उत्कीर्णित हैं। बीच में एक वृक्ष है। बगल में एक ओर सवत् १५४८ की श्वेतवर्ण की चन्द्रप्रभु स्वामी की मूर्ति है। यह मूर्ति गुप्तकालीन है। दूसरे रत्नागिरि पर महावीर स्वामी की श्यामवर्ण प्रतिमा प्राचीन है। तीसरे उदयगिरि पर महावीर स्वामी की खडगासन प्रतिमा निःसन्देह गुप्तकालीन है। चौथे स्वर्णगिरि और पाँचवें वैभारगिरि पर भी कुछ प्रतिमाएँ गुप्तकालीन हैं। राजगृह के पर्वतो पर कुछ खंडित प्रतिमाएँ है जो प्राचीन हैं।

सिद्धभूमि--

राजगृह के विपुलाचल पर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का प्रथम समवसरण लगा था। वीर प्रभु का सम्बन्ध अनेक भवो में राजगृह से रहा है। इस नगर का सांस्कृतिक महत्व इसीसे अवगत किया जा सकता है कि यहाँ से अनेक महापुरुषों ने निर्वाण लाभ किया है। श्री० प० नाथूराम प्रेमी ने नग, अनंग आदि साढे पाँच करोड़ मुनियों का निर्वाण स्थान यहीं के स्वर्णगिरिको माना है।[1] श्री गौतम स्वामी[2] और श्री जम्बूस्वामी ने भी विपुलाचल[3] से ही निर्वाण लाभ किया है।

इनके अतिरिक्त केवली धनदत्त, समुन्दर और मेघरथ ने भी यहां से निर्वाण पद प्राप्त किया।[4] विद्युच्चोर ने अपने पाँच सौ साथियों के साथ जिनदीक्षा ली और यहाँ घोर तपश्चरण कर विपुलाचल से निर्वाण पद पाया।[5]

उपसंहार--

राजगिरि प्राचीन जैन तीर्थ है। इस नगरी का सम्बन्ध भगवान् आदिनाथ के समय से रहा है। ऋषभदेव स्वामी का समवसरण भी यहा पर आया था।[6] बौद्ध साहित्य और वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख आया है। विनय पिटक में बताया गया है कि गृह त्याग कर महात्मा बुद्ध राजगृह आये और सम्राट श्रेणिक ने उनका सत्कार किया। अपने मत का प्रचार करने के लिए भी अनेक बार राजगृह में बुद्ध को आना पडा था। वह बहुधा गृद्धकूट पर्वत कलन्दक निवायवे

१--जैन साहित्य और इतिहास पृ० २१०--२०३
२--उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लो० ५१६
३--जम्बूस्वामी चरित
४--उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लो० ३८५--३८६
५--आराधना कथा कोश भाग १ पृ० १०५
६--हरिवंश पुराण सर्ग ३ श्लो० ५६

उपवन में विहार किया करते थे। जब बुद्ध जीवक कौमारभृत्य के आम्रवन में थे, तब उन्होंने जीवक से हिंसा अहिंसा की चर्चा की थी[1] और जब ये उपवन में थे तब उनका अभयकुमार से वाद हुआ था। साधु सकल दोयिने भी बुद्ध से वार्तालाप किया था[2]।

राजगृह महात्म्य में बताया गया है कि सूतजी ने श्रीशौनक आदि ऋषियों से राजगृह की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि यह राजगृह क्षेत्र सम्पूर्ण तीर्थों में अत्युत्तम है। यहाँ सभी देव, तीर्थ और नदियाँ विचरण करती हैं। अयोध्या, मथुरा, गाया, काची, काशी, अवन्तिका आदि तीर्थों की धारा सप्तऋषियों के नाम से एकत्रित है। स्कन्द गया, राजगृह, बैकुण्ठ, लोह दण्डक, च्यवनाश्रम और पुनः पुनः ये छः मगध के प्रधान तीर्थ हैं। इनमें सबसे अधिक फल देने वाला पाताल जाह्नवी का जल प्रपात—ब्रह्मकुण्ड (राजगृहस्थ) है।—सोनभंडार, मनियार, गौतमवन, सीताकुण्ड, मतोकोल आदि स्थान का स्पष्टतः जैन संस्कृति से सम्बन्ध है। इन स्थानों पर जैन मुनियों ने तपस्याएँ की हैं। क्या अब पुनः राजगिरि अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर सकेगा?

१—मज्झिम निकाय (सारनाथ १६३)

२—अभयकुमार सुत्रन्त मज्झिम, पृ० २३४

मिथिला : जैन दृष्टि

श्री ज्योतिश्चन्द्र शास्त्री

तीर्थंकर जन्मदात्री—

जैन तीर्थंकरों को जन्म देने का श्रेय मिथिला नगरी को भी प्राप्त है। इस नगरी में दो तीर्थंकरों का जन्म हुआ है। १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ और २१ वें तीर्थंकर नेमिनाथ इन दोनों तीर्थंकरों को जन्म देने का गौरव इसी नगरी को प्राप्त है। तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रंथ में बताया गया है—

मिहिलाए मल्लिजिणो पहवदिए कुंभअक्खिदीसेहिं।
मग्गसिरसुक्कएक्कादसीए अस्सिणीए सजादो ।। (५४४,४)
मिहिलापुरिए जादो विजयणरिंदेण वप्पिलाए य।
अस्सिणिरिक्खे आसाढसुक्कदसमीए णमिसामी ।। (५४६,४)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि १९ वें तीर्थंकर का जन्म मिथिला नगरी के महाराज कुंभ की रानी प्रभावती के गर्भ से और २१ वें तीर्थंकर का जन्म महाराज विजय नरेन्द्र की रानी वप्रिला के गर्भ से हुआ था। मिथिला का वैभव उन दिनों में अपनी चरम सीमा पर था। उत्तराध्ययन सूत्र के 'नमिप्रवज्या' शीर्षक में राजर्षि नमि का आख्यान आया है। इससे मिथिला के वैभव का सहज में अनुमान किया जा सकता है।

मिथिला का वैभव—

उत्तराध्ययन में बताया गया है कि मिथिला में शीतल छाया, मनोहर पत्रपुष्पों से सुशोभित तथा यहाँ के मनुष्यों को सदा बहुत लाभ पहुँचानेवाला एक चैत्यवृक्ष था। इस नगर का आधिपत्य अनेक प्रान्त, शहर और ग्रामों पर था। यहाँ के निवासी सदा प्रेम और सदाचारपूर्वक निवास करते थे। धनधान्य की प्रचुरता थी। राजा प्रजा में पिता पुत्र का सम्बन्ध था। समस्त नगरी सर्वदा आनन्द की हिलोरों से उमड़ी रहती थी। महाराज जनक के आख्यान से भी तत्कालीन मिथिला के वैभव की झाँकी मिल जाती है। इसके समय में इस नगरी में बड़ी बड़ी गगनचुम्बी

अट्टालिकाएँ शोभित थी । दैन्य और दारिद्र्य का कही नाम भी नही था । नगर के निवासी शांत और परिश्रमी थे । अध्यात्म, वीरता दोनों का मणिकांचन सयोग मिथिला की राज्य-सत्ता को प्रौढ़ रखता था ।

राजर्षि नमि का स्थान—

राजर्षि नमि का कथानक अति आनन्दप्रद और प्रभावोत्पादक है । मिथिला के राजा नमिराज दाघज्वर की दारुण वेदना से पीड़ित हो रहे थे । उस समय महारानियाँ तथा दासियाँ खूब चन्दन घिस रही थी । हाथ में पहरी हुई चूड़ियों की परस्पर रगड़ से जो शब्द उत्पन्न होता था वह महाराज के कान मे टकराकर उनकी वेदना में वृद्धि करता था । महाराज ने मत्री से इस गड़बड़ी को बन्द करने को कहा । मत्री ने एक-एक चूडी को छोड बाकी चूडियो को उतरवा दिया जिससे शोर बन्द हो गया ।

थोड़ी देर बाद नमिराज ने पूछा—"क्या कार्य पूरा हो गया ?"

मंत्री—नही महाराज !

नमिराज—तो शोर कैसे अवरुद्ध हो गया ?

मत्री ने ऊपर की बात कह दी । उसी समय पूर्व योगी के हृदय में एक आकस्मिक भाव उठा । उसने सोचा कि जहाँ पर 'दो' हैं, वही पर शोर होता है । जहाँ पर केवल एक होता है वहाँ शाति विराजमान रहती है । इस गूढ चिन्तन के परिणाम से उन्हें अपने पूर्व जन्म का स्मरण हुआ और शाति की प्राप्ति के लिए वाह्य समस्त बन्धनो को छोड़कर तपस्या करने निकल पड़े । बाद में उनकी इन्द्र से ज्ञानचर्चा हुई । इन्द्र हार गया और इनको अक्षयज्ञान की प्राप्ति हुई । वे स्वर्ग गये ।

महारानी सीता के जन्म-स्थान होने का गौरव मिथिला को ही प्राप्त है । महारानी सीता का वह तेज था जिसके समक्ष आग भी शीतल हो गई । सीता के भाई भामण्डल की कथा का इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेख जैन ग्रथों में प्राप्त है । राजा जनक के युगल सन्तान उत्पन्न हुए—एक सीता और दूसरा भामण्डल । भामण्डल को बचपन में ही कोई राक्षस ले गया और इन्दुगति को दे आया । राजा जनक को पुत्रहरण का शोक हुआ ।

राजा जनक ने 'तरंगम' नाम के भीलों का उपद्रव शांत करने के लिए दशरथ से सहायता मांगी । राम, लक्ष्मण गये और भीलों के सरदार को परास्त किया । जनक ने सीता को रामचन्द्र को ही देने की ठानी ।

ऋषि नारद ने बिगड़कर सीता का चित्र इन्दुगति के पुत्र भामण्डल को दिखा दिया जिससे वह मूर्च्छित हो गिर पड़ा । इन्दुगति ने जनक से सीता मांगी पर जनक ने असमर्थता प्रकट की।

बाद में भामण्डल ने जनक पर चढ़ाई करने की ानी पर सीता के प्रति बहन का भाव उदय हो जाने पर लौट गया। अन्त में सीता स्वयबर के समय पुराने सम्बन्ध का पता चला और भामण्डल खुशी खुशी पिता जनक के साथ मिथिला आया। खुशियां ई। भामण्डल को राज्य दे पिता पुत्र सुख से रहने लगे। यह कथा प्रसिद्ध है।

इसी नगरी में भगवान् मुनिसुव्रत नाथ की २२ वी पीढ़ी में राजा वसु का जन्म आ था। वसु के पिता का नाम अभिचन्द्र और माता का नाम वसुमती था। वसु ने हां गु भाई के मोह के कारण वेदो का अर्थ हिंसाजनक किया था। मिथिला के तिरहुत डिवीजन का जैन-संस्कृति के साथ ज्यादा सम्बन्ध रहा है।

इस प्रकार मिथिला की गौरव गाथा के साथ जैन मुनियां, तीर्थकरो, श्रावको, आर्यिकाओं का अटूट सम्बन्ध रहा है। मिथिला के विकास की कहानी के साथ जैन राजाओ की कीर्ति चिपकी हुई है। यहाँ के शासक जैन राजाओं ने सकी प्रतिष्टा, समृद्धि धार्मिकता, वीरता आदि विशिष्ट गुणो को चार कदम आगे बढा मिथिला की कीर्ति मे चार चाँद लगाये थे। यहाँ के जित जैन शासक हुए वे अपूर्व बलशाली तथा प्रजाप्रिय हुए। उनके राज्यकाल में प्रजा में सभी प्रकार की भावनाएँ उमड़ती रहीं। जैन मुनियों ने सदैव यहां की प्रजा के कानो में अमृत-तत्त्व की वर्षा की है। जनता का अनुराग सदैव धर्म की ओर रहा और इस प्रकार जैन धर्म के प्रसार में इस नगरी से विशेष बल प्राप्त हुआ। तीर्थंकरो को जन्म दे तो मिथिला ने एक प्रकार से अपने महत्त्व की इकाइयो को अलौकिकता से भर लिया है। राजा जनक के राज्यकाल में इस नगरी की विशेष उन्नति हुई और यह भारत वर्ष के समस्त नगरो का आकर्षण केन्द्र बनी रही। जैन कथा साहित्य में मिथिला का गौरव-वर्णन बड़े ही सुन्दर शब्दो में अंकित है तथा मिथिला सम्बन्धिनी प्रतिपादित कथाओं में शिक्षा तत्त्व और आध्यात्मिक तत्त्व की भरमार है। निश्चय ही प्राचीन मिथिला नगरी आज हमको अपने सुनहले इतिहास को दिखा आध्यात्मिक और लौकिक चेतनाओं से आप्लावित करती है।



पाटलीपुत्र : जैन दृष्टिकोण

श्री रथनेमि

प्रस्ताविक—

जैन संस्कृति के साथ पाटलीपुत्र का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। इस नगर का प्राचीन नाम जैन ग्रंथों में कुसुमपुर उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर से सहस्रों वर्ष पहले से इस नगरी का जैन संस्कृति से सम्बन्ध रहा है। अनेक जैन कथाओं से इसकी महत्ता प्रकट होती है।

नामकरण—

स्थविरावली चरित्र में इस नगर के नामकरण के सम्बन्ध में बतालाया गया है कि भद्रपुर में पुष्पकेतु नामक राजा रहते थे। इनकी पत्नी का नाम पुष्पवती था, इनके पुष्पचूल नामक पुत्र और चूला नामक कन्या थी। पुष्पवती की जैनागम पर अटूट श्रद्धा थी। अत. उसने श्राविका के व्रत ग्रहण किये थे। कुछ समय पश्चात् यह अनेक श्रावकों के साथ गंगातटवर्ती प्रयाग तीर्थ स्थान पर निवास करने लगी। यहां पर गंगा के गर्भ मे अणिमका पुत्र का शरीरान्त हुआ और उसके मस्तक का जलजन्तु नदी के किनारे घसीट लाये। किसी दिन दैवयोग से उसके मस्तक पर पाटल बीज (पुष्प वृक्ष का बीज) गिर पडा और कुछ समय पश्चात् एक पाटल वृक्ष उत्पन्न हो गया। यह वृक्ष कुछ दिनों में बढ गया। किसी ज्योतिषी ने इस वृक्ष के भविष्य का वर्णन करते हुए कहा कि यह स्थान अनेक प्रकार की समृद्धियों से युक्त होगा। राजा उदयी को इसकी सूचना मिली तो उसने पाटल द्रुम के पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण सीमा पर एक नगर बसाया जो पाटल वृक्ष से वेष्टित होने के कारण पाटली पुत्र कहलाया। राजा ने इस नगर में बड़े जैन मन्दिर, गज, और अश्वशालायुक्त उत्तुंग राज महल, नाना प्रकार की सौधमाला, भव्यशाला, औषधालय, और बृहद्गोशाला आदि का निर्माण किया। उस समय यह नगर जैनधर्म के विस्तार और प्रसार का केन्द्र था।

बौद्धग्रंथ महावंश से भी उक्त कथन का समर्थन होता है। इस ग्रंथ में बताया गया है कि महाराज अजातशत्रु के पुत्र उदय (उदयी) ने पाटलीपुत्र को बसाया है।

भविष्य पुराण के ब्रह्मखंड में इस नगर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा आयी है जिसमें बताया गया है कि कुशनाभ के पुत्र महाबल पराक्रान्त गाधि नामक राजा की सुन्दरी पाटली

नामक कन्या थी। इस कन्या के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मुनि पुत्र नाम के ऋषि ने इसका मंत्र-बल से अपहरण कर लिया था। इस कन्या के आग्रह से दोनों की स्मृति में मुनि पुत्र ने गंगा के तटीय प्रदेश में पाटलिपुत्र नामक नगर बसाया, जो अधिक समृद्धशाली हुआ।

चीनी परिव्राजक ने इस नगर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ी मनोरंजन घटना लिखी है। उनका कहना है कि प्राचीन समय में कुसुमपुर में एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। दरिद्रता के कारण उसका विवाह नहीं हुआ था। कुछ मित्रो ने परिहासवश पाटल जंगल में ले जाकर पाटली वृक्ष के नीचे उसका कृत्रिम विवाह किया। घर आने पर उस ब्राह्मण ने अपने आत्मीय लोगों से विवाह के बारे में कहा। इस बात से सभी आश्चर्यान्वित हुए और मिलकर उस बन में गये और वहाँ पाटल वृक्ष के नीचे सुन्दर वधू को पाकर सबको आश्चर्य हुआ। वधू के पिता यक्ष ने सबका सत्कार किया और इस स्थान पर एक नगर बसाया जो पाटली पुत्र कहलाया। अस्तु

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इस नगर का प्राचीन नाम कुसुमपुर है तथा इसका पाटलीपुत्र[1] नाम अजातशत्रु के राज्य शासन के उपरान्त पड़ा है। जैन कथा साहित्य से इस नगर का भौगोलिक स्थिति का भी पता चलता है। कुछ काल तक पाटलीपुत्र और कुसुमपुर पृथक्-पृथक् थे। किन्तु उदयी के जीवन काल में ही पाटलीपुत्र का विस्तार अधिक हुआ। उनके समय में ही इस नगर की सीमा कोसों तक हो गयी थी।

सम्बन्ध

जैन संस्कृति के साथ पाटलीपुत्र का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। भगवान् महावीर के समय में मगध जैनधर्म का केन्द्र बन गया था तथा मगध राज्य का विस्तार अंग, वंग, कलिंग और कुरु–कौशल के कुछ प्रदेशों तक था। फलतः जैन साहित्य में पाटलीपुत्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। नवम नन्द के शासन काल में जैन साहित्य परिषद् का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसके नेता स्थूलभद्राचार्य माने जाते हैं। यह घटना ई० पू० ३३६ की मानी गयी है।

जैन कथा साहित्य में बताया जाता है कि प्राचीन काल में पाटलीपुत्र में राज नन्द अपने बन्धु-सुबन्धु, कवि और शकटाल इन चार मंत्रियों सहित राज्य करता था। एक बार राजानन्द पर किसी शत्रु ने बहुत सी सेना भेज कर आक्रमण किया। शकटाल ने राजा से कहा—महाराज शत्रु शक्तिशाली है। अतः उसके साथ युद्ध करना उचित नहीं; सन्धि कर लेना ही हमारे लिए हितकर है। राजा ने सन्धि का अधिकार शकटाल को दे दिया। शकटाल ने बहुत-सा धन देकर सन्धि कर ली। कुछ समय पश्चात् जब राजानन्द को अपने खजाने के खाली होने की सूचना मिली तो वह शकटाल पर बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसे सपरिवार कारागृह का दण्ड दिया। कारागृह में केवल एक सकोरा अन्न और थोड़ा-सा जल दिया जाता था जिससे समस्त परिवार के प्राणों का बचना कठिन था। फलतः शकटाल ने अपने कुटुम्बियों से कहा कि इस अन्न को ग्रहण करने

१. पाटलातरुपविष्टोऽयं महामुनिकरोटिम् ।
एकावतारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशोषतः ॥ पाटलीपुत्र कल्प

का अधिकार उसी को है जो नन्दवंश का नाश कर सके। शकटाल के इन वचनों को सुनकर सभी ने कहा कि महाराज आपके सिवा इनमें से कोई भी उस पापी राज्य का सर्वनाश नहीं कर सकेगा, अतः आप ही इस अन्न को ग्रहण कीजिये। शकटाल राजा द्वारा प्रेषित अल्प अन्न-जल से प्राणों की रक्षा करने लगा। उसका अवशेष कुटुम्ब मृत्यु को प्राप्त हुआ।

कुछ समय पश्चात् पाटलिपुत्र पर शत्रुओं ने पुनः आक्रमण किया। अब नन्द को शकटाल की याद आयी और उसकी तलाश की गयी। कारागार से जीवित शकटाल निकाला गया और उसकी सहायता से नन्द ने शत्रुओं से अपनी रक्षा की। राजा नन्द ने पुनः उसे अमात्य पद देना चाहा पर उसने इस पद को अस्वीकार कर दिया और अतिथि-सत्कारशाला की अध्यक्षता स्वीकार की। एक दिन शकटाल नगर के बाहर उद्यान में भ्रमण कर रहा था, उस समय उसकी दृष्टि चाणक्य पर पड़ी। चाणक्य उस समय कुशों के विनाश में मग्न था। शकटाल उसके दक्ष कार्य से बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने चाणक्य को राज अतिथिशाला में भोजन का निमन्त्रण दिया। कुछ दिन पश्चात् भोजनशाला के सेवकों द्वारा राजा का नाम लेकर चाणक्य को अपमानित किया गया, जिससे उसने रुष्ट होकर नगर के बाहर निकल कर कहा, जो इस समय मेरे साथ आयेगा, मैं उसे पाटलीपुत्र का राज्य दूँगा। चन्द्रगुप्त इस बात को सुन रहा था। अतः वह उसके पीछे गया। पश्चात् चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश का ध्वंश कर पाटलिपुत्र का राज्य प्राप्त किया। शकटाल को अपने इस कृत्य से विरक्ति हुई और वह जिन दीक्षा लेकर मुनि हो गया। चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र का शासन बड़ी योग्यता से किया। एक दिन रात्रि में चन्द्रगुप्त ने सोलह स्वप्न देखे—सूर्य का अस्त होना, कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, आते हुए विमान का लौटना, बारह फणों का सर्प, चन्द्रमा में छिद्र, कृष्णवर्ण के हाथियों का युद्ध, खद्योत, शुष्कसरोवर, धूम, सिंहासनासीन बकरा, स्वर्ण के पात्र में खीर का भोजन करते हुए श्वान, हाथी के सिरपर चढ़े हुए बन्दर, कूड़े में कमल, मर्यादा उल्लंघन करता हुआ समुद्र, तरुण बैलों से जुता हुआ रथ और तरुण बैलों पर चढ़े हुए क्षत्री।

स्वप्नदर्शन के प्रातःकाल ही भद्रबाहु स्वामी अपने संघ सहित पाटलीपुत्र आये। आचार्य भद्रबाहु आहार के लिए जा रहे थे कि नगर में एक पाँच वर्ष का बालक "बोलह बोलह" कहने लगा। आचार्य जी ने यह सुनकर पूछा—कितने वर्ष ? बालक बोला—बारह वर्ष। आचार्य भोजन में अन्तराय समझे और बिना आहार किये ही लौट गये।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मंत्रिपरिषद् सहित आचार्य के दर्शन के लिए गये और अपने स्वप्नों का फल पूछा। आचार्य ने स्वप्नों का फल बताया; जिसका निष्कर्ष मगध में १२ वर्ष का दुष्काल तथा धर्म की हानि था। चन्द्रगुप्त ने दिगम्बर मुनि से दीक्षा ले ली और आचार्य के संघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये। पटना में रमिल्लाचार्य, स्थूलभद्राचार्य और स्थूलाचार्य रह गये। दुष्काल के कारण उन्होंने वस्त्र धारण कर लिये। पीछे चलकर ये ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय फैलानेवाले हुए। चन्द्रगुप्त की दक्षिण यात्रा का वर्णन श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में विस्तार से है। विन्ध्यगिरि पर इनके नाम का "चन्द्रगुप्तवसति" नामक मन्दिर आज भी विद्यमान है।

चाणक्य ने दिगम्बर मुनि की दीक्षा ली थी, इसके प्रमाण भी जैन पुराणों में विद्यमान हैं[1]।

पाटलीपुत्र से सम्बन्ध रखनेवाली लगभग ७०—८० कथाएँ उपलब्ध हैं। इन कथाओं में सेठ सुदर्शन, राजा मूलदेव, वीर कुणाल, शकटाल आदि की कई कथाओं का तो पाटलीपुत्र से अटूट संबंध है। कुछ कथाओं की पूर्व भवावली में पाटलीपुत्र के प्रभाव का वर्णन आया है। पद्मपुराण, भद्रबाहु चरित्र, पुण्यास्रव कथाकोष, आवश्यक चूर्णि, वृहत् कल्पभाष्य, उत्तराध्ययन आदि में कई कथाएँ आयी हैं जिनमें पाटलीपुत्र के राजा, मंत्री, श्रेष्ठी एवं अन्य व्यक्तियों के धार्मिक कार्यों का निरूपण किया गया है। स० १३६६ में श्री जिनप्रभु सूरि ने विविध तीर्थकल्प की रचना की है। जिसमें पाटलीपुत्र कल्प लिखा है। इस कल्प में पाटलीपुत्र से सम्बद्ध कथा भी दी है, तथा इसकी पवित्रता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इन सभी कथाओं से शील, विनय, संतोष, दान, संयम और त्याग का सन्देश मिलता है। सुदर्शन सेठ की कथा में बताया गया है कि इन्द्रियजयी सुदर्शन मुनि होकर भ्रमण करते हुए पाटलीपुत्र आये। यहाँ पर पण्डिता नामक वेश्या ने इनको शील से च्युत करने का पूरा प्रयत्न किया। पर मुनिराज अपने व्रत में दृढ़ रहे। जब वे श्मशान भूमि में गुलजारबाग स्थित कमलदह क्षेत्र में तपस्या कर रहे थे, कि पूर्व भव के द्वेषवश एक किन्नरी ने इन्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया[2]। मुनिराज अपने ध्यान में लीन रहे। समाधि के प्रभाव से शीघ्र ही इनके कर्मबन्धन टूट गये। केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। सुदर्शन मुनि ने धर्म का उपदेश दिया और पौष शुदि ५ को निर्वाण प्राप्त किया[3]।

इतिहास और पाटलीपुत्र—

जैन इतिहास में पाटलिपुत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शासन करने वाले कई राजा यहाँ जैन धर्मानुयायी हुए हैं।

नन्दवंश के राजाओं के सम्बन्ध में विसेण्ट स्मिथ लिखते हैं कि नन्द राजा ब्राह्मण धर्म के द्वेषी और जैन धर्म के प्रेमी थे। कैम्ब्रिज इतिहास से भी इस बात का समर्थन होता है। नन्द के मंत्रियों के जैन होने के अनेक अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं। मौर्यवंश में चन्द्रगुप्त और सम्प्रति के जैन धर्मानुयायी होने के अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। सन् १९१२ में पाटलीपुत्र के समीप दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई थी जो कलकत्ता के इण्डियन म्युजियम के भरहुत गैलरी में सुरक्षित हैं। इन पर निम्न लेख उत्कीर्ण हैं—

भगो अचो छोनिधि से
(पृथ्वी के स्वामी महाराज अज)
सप्तखेन वन्दि
(सम्राट वर्ति नन्दि)

---

१. विशेष जानकारी के लिए भद्रबाहु चरित्र और आराधना कथाकोश देखें।

२. देखें—पुण्यास्रव कथाकोष

३. विशेष जानकारी के लिए पुण्यास्रव कथाकोष पृ० ८५

स्व० श्री डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने इन मूर्तियों को महाराज उदयी (ई० पू० ४६६) द्वारा निर्मित बताया है। क्योंकि प्राचीन पट्टावली में 'अजय' उदासी उदायी' द्वारा उदायश्व का नाम ही अज आया है।

पाटलीपुत्र से आचार्य भद्रबाहु, स्थूलभद्र, यशोभद्र और उमास्वाति[1] का अभिन्न सम्बन्ध बतलाया जाता है। उमास्वाति ने कुसुमपुर में मिथ्यावाणी में फँसे हुओं के उद्धार के लिए तत्त्वार्थ धर्मशास्त्र का प्रवचन किया था[2]।

पाटलीपुत्र का सम्बन्ध जैन साहित्य के साथ भी अत्यधिक रहा है। श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा में ऐसे कुछ ग्रथ हैं जिनकी प्रतिलिपियाँ पाटलीपुत्र में की गई हैं। यहाँ कुछ ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ दी जाती है।

१—समाधि तन्त्रसूत्रे, प्रबोधनाधिकारे आत्मप्रकाशे, कर्माधिकार सन्दर्भे। सं० १७८८ प्रवर्तमाने फागुनवदि ११ तिथौ मुनि फत्ते सागरेण पाटलिपुत्रचैत्यालये लिपिःचक्रे।

२—इति श्री सुदृष्टतरंगिनी समाप्ता। स० १८९८ मासोत्तमेमासे माघ मासेकृष्णपक्षे पचम्या चन्द्रवासरे पुस्तकमिद रघुनाथशर्मणा पाटलिपुत्रे आलमगजे लिखितम्। श्री पचगुरोः प्रासादात् सिद्धि-रस्तु। पाठक श्री बाबू बुलाकीलालस्य कल्याणमस्तु।

३—इति श्री समय प्राभृत नाम ग्रंथ सम्पूर्णम्। पुस्तकमिद रघुनाथ शर्मणा पाटलिपुत्रे आलमगजे लिखितम्। पुस्तक सख्याः १४००० प्रमाण शुभमस्तु सिद्धि.।

४—इति क्रियाकोष. समाप्तः। संवत् १८७१ शाके १८३६ मासोत्तमे मासे आषाढ़ मासे शुक्लपक्षे द्वादश्या बुधवारे पुस्तकमिद लिखितम्। रघुनाथ शर्मणा पट्टनपुरमध्ये, गायघाटक क्षत्री महल्ला गगा निकटे पाठार्थ गौरीशंकर अग्रवालस्य, पुस्तक संख्या ३२००।

५—इति त्रिषष्ठीशलाकामहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीतानुसारेण श्री उत्तर पुराणस्य भाषाया श्री वर्द्धमानपुराण सग्रह परिसमाप्तम्। सं० १८८४ शाके १७४९ ज्येष्ठ शुक्ल ५ पंचम्यां गुरुवासरे पुराणमिद रघुनाथ शर्मणा लिखितम्। गंगातटे पट्टनपुरे पठनार्थ शुभ भूयात्।

६—इति श्री शातिनाथ पुराणः पट्टनपुर मध्ये जिन चैत्यालये मिति चैत्रशुक्ला ४ बुधवार को लिखितम्।

---

१. विविध कल्पतीर्थ में उमास्वाति का उल्लेख आया है।

२. खोज की पगडंडियाँ पृ०२४७

जैन कथा-साहित्य में चम्पापुर

श्री नवीनचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावित

भागलपुर से पश्चिम ४ मील की दूरी पर चम्पानगरी है । इस नगरी से जैनों का अत्यन्त प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है । यहाँ भगवान् वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष-निर्वाण ये पाँचों कल्याणक हुए है । भगवान् महावीर ने चम्पा और पृष्ट चम्पा की निस्रा में तीन वर्षावास व्यतीत किये थे । मालूम होता है कि भगवान् के वर्षावासों के कारण ही इस नगर का नाम नाथनगर पड़ गया था । आज भी यहाँ नाथनगर नाम का स्टेशन है । औपपातिक सूत्र में चम्पा के विकास का पूर्ण उल्लेख है । जैन ग्रथो में इन चम्पा को अग देश (मगध) की राजधानी बताया गया है । कोणिक ने राजगृह से हटाकर मगध की राजधानी चम्पा को बनाया था । भगवान् महावीर के आर्यासंघ की प्रधान श्रमणिका चन्दनवाला यही की राजपुत्री थी। पृष्टचम्पा के राजा शाल और छोटे भाई महाराज महाशाल ने भगवान् महावीर से श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी । इनके राज्य का उत्तराधिकारी इनका भानजा गागलि हुआ । उसने भी दीक्षा ली थी। चम्पा के राजा का नाम जितशत्रु और दत्त लिखा हुआ मिलता है । दत्त की रानी का नाम रक्तवती था और पुत्र का नाम चन्द्रकुमार । भगवान् महावीर के द्वारा दीक्षित राजाओं में चन्द्रकुमार का नाम भी उपलब्ध होता है । श्वेताम्बर आगम सूत्रो मे बताया गया है कि भगवान् यहाँ के पूर्णभ चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान में बराबर ठहरा करते थे । इस प्रकार चम्पा का सम्बन्ध भगवान् महावीर से अत्यधिक रहा है ।

भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती १२ वें तीर्थंकर वासुपूज्य, १९ वें तीर्थंकर मल्लि, २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत, और २१ वें तीर्थंकर नमिनाथ की चरण-रज से चम्पानगरी महिमान्वित हुई थी । इस नगरी के साथ अनेक जैन श्रमणों, जैन राजाओं, जैन श्रेष्ठियो एवं अन्य जैन भक्तो का अटूट सम्बन्ध रहा है ।

चम्पा से सम्बद्ध कथाएँ—

चम्पानगरी से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ ३०—४० उपलब्ध हैं । पुराण और महापुराणों के अतिरिक्त आराधना कथाकोष, हरिषेण कथा-कोष एवं पुण्याश्रव कथा-को में अनेक

आख्यान चम्पानगरी से चिपटे हुए उपलब्ध हैं। राजा करकंडू का कथानक शिक्षा देने के साथ मनोरंजन भी करता है तथा इस कथानक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चम्पानगरी का शासन जैन राजाओं के हाथ में था।

आख्यान का आरम्भ करते हुए बताया गया है कि चम्पा में दधिवाहन नाम का राजा रानी पद्मावती के साथ राज्य करता था। एक बार रानी गर्भवती हुई और उसे हाथी पर बैठकर उद्यान में विहार करने का दोहद हुआ। रास्ते में राजा का हाथी बिगड़ गया और दोनो को लेकर जगल में भागा। राजा ने तो एक वट वृक्ष की शाखा को पकड़कर अपनी जान बचायी; पर रानी को लेकर हाथी एक निर्जन अटवी में पहुँचा और वहाँ अपने आप बैठ गया। किसी प्रकार अटवी से निकलकर रानी दतपुर पहुँची और वहाँ उसने एक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली। पहले तो उसने अपने गर्भ को गुप्त रखा किन्तु अन्त में उसे प्रगट करना पड़ा। यथासमय रानी ने पुत्र प्रसव किया और अपने पुत्र को अपने नाम की अगूठी देकर एक सुन्दर कम्बल में लपेटकर रात्रिकालीन नीरवता में श्मशान में छोड़ आयी। श्मशानपालक ने उस पुत्र का सवर्द्धन किया और शरीर में खाज हो जाने के कारण उस बालक का नाम करकंडू पड़ा। करकडू ने सौभाग्यवश कचनपुर का राज्य प्राप्त किया। एक बार करकडू और चम्पा के राजा दधिवाहन में किसी बात को लेकर मनोमालिन्य हो गया फलत. दोनों में युद्ध होने लगा। साध्वी पद्मावती को जब यह समाचार मिला कि पिता पुत्र में अजानकारी के कारण युद्ध हो रहा है तो उसने दोनों का परिचय करा दिया। दधिवाहन ने ससार से विरक्त हो अपने पुत्र करकडू को चम्पा का राज्यभार सौप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। करकंडू ने बहुत काल तक चम्पा में राज्य-शासन किया, पश्चात् मिथिला के राजा नमिनाथ, कपिला के राजा दुर्मुख और पेशावर के राजा नग्नजीत के साथ दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

इसी चम्पा नगरी में राजा मघवा और रानी श्रीमती से श्रीपाल, गुणपाल, अवनिपाल, वसुपाल, श्रीधर, गुणधर, यशोधर और रणसिंह ये आठ पुत्र और रोहिणी नामक एक सुन्दर कन्या हुई। रोहिणी के भवान्तरो में बताया गया है कि यह अत्यन्त दुर्गंधशालिनी अशुभ कन्या थी तथा पाप के प्रभाव से इसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़े। इसने रोहिणी व्रत किया था इसीके प्रभाव से इसे सुन्दर रूप और संभ्रान्त कुल प्राप्त हुआ। राजा अशोक ने संसार से विरक्त हो वासुपूज्य स्वामी के समवशरण में जिन दीक्षा ग्रहण की थी और रोहिणी ने कमलश्री आर्यिका के सम्मुख आर्यिका के व्रत ग्रहण किये और तपश्चरण कर सोलहवें स्वर्ग में देव हुई। आज भी रोहिणी व्रत के उद्यापन में वासुपूज्य स्वामी के सिंहासन पर राजा अशोक, रानी रोहिणी, उनके आठ पुत्र और चारों पुत्रियों की मूर्त्ति उसी सिंहासन पर खुदवाते हैं।

प्राचीन काल में चम्पापुरी में चन्द्रवाहन नाम का राजा राज्य करता था। इसकी रानी का नाम लक्ष्मति और पुरोहित का नाम नागशर्मा था। नागशर्मा स्वभावतः मिथ्यादृष्टि था अतः उसकी कन्या नागश्री ने आचार्य सूर्यमित्र से पंचाणुव्रत ग्रहण कर लिये थे। पर पिता ने उन व्रतों को उन्हीं मुनि को वापस कराने की

आज्ञा दी। जब वह उस कन्या को साथ लेकर उन मुनिराज के पास जा रहा था तो मार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और अति संचय करनेवालों को दंड पाते देखकर कन्या ने पिता से अनुरोध किया कि पिता जी, जब पाप करनेवालों को दड मिलता है तो फिर मुझे क्यों आप इन व्रतों को छोडने का आदेश देते हैं ? पिता पुत्री के इन वचनो से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने पुत्री को व्रत रखने की अनुमति दे दी।

इस नगरी के साथ सेठ सुदर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस नगरी का ग्वाला सुभग 'णमोकार' मत्र के प्रभाव से सेठ सुदर्शन हुआ। यद्यपि इस कथा में चम्पानगरी से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक अवान्तर कथाएँ आयी हैं जिनमें बताया गया है कि प्राचीन काल में चम्पानगरी में धनी-मानी व्यक्तियों के साथ धर्मात्मा, शीलवान्, विनयी, ज्ञानी, विवेकी और पण्डित भी निवास करते थे। इस नगर मे सुन्दर मणि-माणिक्य-मडित चैत्यालय थे जिनमे प्रतिदिन सहस्रों भक्त और भक्तिनियाँ जिनेन्द्र की अर्चन-पूजन में सलग्न रहती थी।

चम्पा में राजा विमलवाहन ने बहुत काल तक राज्य किया है। इस नगरी के सेठ भानु को चारुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। भगवान् वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण उत्सव मना कर जब राजा, मत्री और कुमार वापस नगर को लौट रहे थे, तब चारुदत्त नदी के किनारे अपने मित्रों के साथ बगीचे में क्रीड़ा करने चला गया। वहा टहल रहा था कि कदम्ब वृक्ष की शाखा में बंधा हुआ एक मूर्च्छित पुरुष दिखलाई पड़ा। यहाँ उसने उस पुरुष की दृष्टि से समझा कि यहाँ कोई विमान है। विमान की खोज करने पर यहाँ उसे विमान में तीन गोलियाँ प्राप्त हुई। उसने किलोदमेदिनी गुटिका के प्रभाव से उस पुरुष को बन्धनमुक्त किया, सजीवनी गुटिका के प्रभाव से मूर्च्छा रहित किया और व्रणसरोहिणी गुटिका के प्रभाव से उसके घावो को अच्छा किया। पश्चात् उस बन्धनमुक्त हुए पुरुष ने अपनी सारी आत्मकथा चारुदत्त को कह सुनाई। चारुदत्त का विवाह उसके मामा सिद्धार्थ की कन्या मित्रवती से हुआ। यह काव्यशास्त्र और कलाओं के अध्ययन में इतना सलग्न रहता था कि इसे दीन-दुनिया और ससार की समस्त बातो का कुछ भी परिज्ञान नही था। दामाद को विषयों से विरक्त जानकर चारुदत्त की सास ने चारुदत्त की माँ से शिकायत की। फलत. काका की प्रेरणा से चारुदत्त को विषय भोगी भी बनना पड़ा। सारी सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर चारुदत्त को होश आया और पुनः संभलकर कार्य करना आरम्भ किया। चारुदत्त ने अन्त में जिन दीक्षा धारण कर आत्मसाधन की परिणति प्राप्त की।

जहाँ चम्पानगरी में अनेक धर्मात्मा सज्जन धनी मानी रहते थे उसी नगरी में धूर्त, कपटी, चालबाज भी निवास करते थे। इस नगरी के धन्य नामक व्यापारी को वसन्तपुर के जिनदत्त नामक धूर्त ने ठगने का उपक्रम किया। इसकी मनोरंजक कथा प्रसिद्ध है।

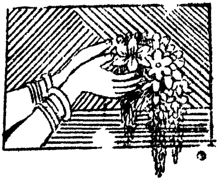
महावीर-शिष्य समुद्रपाल—

चम्पानगरी के सहस्रों नरनारी भगवान् महावीर के अनुयायी थे। इस नगरी का समुद्र-पाल तो अपनी भक्ति के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ इस मनोरजक आख्यान को उद्धृत कर भगवान् महावीर कालीन चम्पा के वैभव पर प्रकाश डालने का प्रायास किया जायगा—

चम्पानगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जाति का वणिक् और महाप्रभु भगवान् महावीर का श्रावक शिष्य था। वह विहुड नगर में व्यापार करने गया और लौटते समय समुद्र में ही जहाज पर उसकी पत्नी ने पुत्र-प्रसव किया। समुद्र में पैदा होने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रक्खा गया। सबका प्रिय वह बालक धीरे-धीरे बहत्तर कलाओं में पारगत हुआ। बाद में उसकी शादी हुई और वह भोग-विलास करने लगा। एक दिन एक चोर की दयनीय दशा देखकर उसके अन्दर वैराग्य भाव का उदय हुआ। सच्चे तत्त्व की झाँकी हुई। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को धारण कर गमन करने लगा। बाद में वह महावीर का एक शिष्य भी हुआ। अन्त में उसने आत्म साधना की। इस प्रकार उसने धर्म की प्रभावना को निभाया।

उपसंहार–

इस प्रकार हम चम्पानगरी को आध्यात्मिक और आधिभौतिक चेतनाओं से स्फुटित पाते हैं। इसकी प्राचीन गौरव की रेखाओं में बधा इसका धार्मिक आवेष्टन उस काल की धर्म-प्रभावना से संयुक्त नगरों के स्वर्णिम इतिहास का परिचायक है। यह नगरी अपनी समृद्धि के चाकचिक्य में प्राचीन भारतीय नगरों की सुषमा को निमज्जित कर लेती है इसमें तो सन्देह ही नहीं। आज भी यह नगरी संस्कृति की प्राणधारा बन वर्तमान भौतिकवादी गंध से तबाह नगरों के लिये अपनी व्यापक प्रेरणा का स्रोत प्रवाहित कर रही है।



भगवान् महावीर का बोधि-स्थान

नवीनचन्द्र शास्त्री

कैवल्य-प्राप्ति का स्थान और समय—

भगवान् महावीर का केवलज्ञान की प्राप्ति वैशाख शुक्ला दशमी को मघानक्षत्र के विजय मुहुर्त्त में षष्ठोपवास के अनन्तर ऋजुकूला या ऋजुपालिका नदी के वामतट पर जम्भक नामक गाँव के निकट शालवृक्ष के नीचे हुई थी। यह स्थान सामग नामक किसान का खेत था और इसके उत्तर-पूर्व की ओर एक मन्दिर था[1]। तिलोय पण्णत्ति में बताया गया है—

वइसाह सुद्ध दहमी माघारिं सवम्मि वीरणाहस्स।
रिजूकूल नदीतीरे अवरण्हे केवल णाण॥ अ० ४ गा० ७०१

अत यह निश्चित है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के आगम ग्रंथों के अनुसार भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति ऋजूकूला नदी के किनारे जम्भिक या जम्मक गाँव के किसी खेत में शालवृक्ष के नीचे हुई थी। इस जम्भक या जम्भिक गाँव के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मतभेद है।

विभिन्न मान्यताएँ—

श्री बाबू कामताप्रसाद जी ने झरिया को जम्भक गाँव माना है। आपका कहना है कि प्राचीन लाट देश का विजयभूमि प्रान्त वर्तमान बिहार के अन्तर्गत छोटानागपुर डिवीजन के मानभूमि और सिंहभूमि में है। स्व० नन्दलाल डे ने भी झरिया को ही जम्भक गाँव माना है। यहाँ की बराकर नदी ही प्राचीन ऋजुकूला है। इस कथन में एक ही बात विचारणीय है। वह है भगवान् की केवलज्ञान प्राप्ति का वज्रभूमि में होना। वर्तमान झरिया में कोयला निकालते समय यहाँ की पृथ्वी से प्रथम बार पत्थर निकलता है, अतः यह भूमि यथार्थ में वज्रभूमि है। आगम साहित्य में भौगोलिक निर्देशानुसार इस गाँव को वज्रभूमि में होना चाहिए। अतः इस स्थान पर भी ऊहापोह होना आवश्यक है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य में जम्भिक गाँव की स्थिति लाट देश में मानी गई है। श्रीमुनि कल्याण विजय जी इस गाँव की स्थिति का निर्णय करते हुए लिखते है कि जृम्भिक गाँव की स्थिति पर विद्वानों का मतैक्य नहीं है, कवि-परम्परा के अनुसार सम्मेदशिखर से बारह कोस पर दामोदर नदी

१. आचारांग सूत्र जैनसूत्रान्तर्गत १ भाग पृ० २० । ५७

के पास जो जंभी गाँव है, वह प्राचीन जृम्भिक गाँव है। कोई सम्मेदशिखर के दक्षिण-पूर्व में लगभग ५० मील पर बासी नदी के पास वाले जमगाम को प्राचीन जृम्भिक गाँव बताते हैं। हमारी मान्यतानुसार जृम्भिक गाँव की स्थिति इन दोनों स्थानों से भिन्न स्थान में होनी चाहिए। क्योंकि भगवान् के विहारवर्णन से अवगत होता है कि जृम्भिक गाँव चम्पा के निकट ही कहीं होना चाहिए [1]।

डा० स्टीन सा० ने पंजाब प्रान्त के रावलपिण्डी जिले में कोटरा नामक ग्राम के निकट "मूनि" नामक पहाड़ी या प्राचीन जीर्ण मन्दिर को देखकर लिखा है कि भगवान् महावीर ने यहीं पर केवलज्ञान प्राप्त किया था।

मौलिक विरोध—

श्री बा० कामताप्रसाद द्वारा अनुमानित स्थान झरिया प्राचीन जम्भिक या जृम्भक ग्राम नहीं है। इस स्थान को ऋजुकूला नदी के किनारे होना चाहिए। बराकर नदी ऋजुकूला का अपभ्रंश नहीं हो सकती; और न झरिया में कोई भी ऐसा प्राचीन चिन्ह ही उपलब्ध है, जिससे इसे भगवान् का केवलज्ञान स्थान माना जा सके। श्री बा० कामताप्रसाद को भी इस स्थान के विषय में सन्देह है। उनका यह केवल अनुमानमात्र है।

श्री मुनि कल्याण विजय जी को तो स्वयं ही इस स्थान की अवस्थिति के विषय में सन्देह है। पर इतना उन्हें निश्चय है कि यह चम्पा के आस-पास कहीं है।

डा० स्टीन सा० की मान्यता तो बिल्कुल ही निराधार है। कारण कि भगवान् को केवलज्ञान मगध के अन्तर्गत हुआ था। उनको बोधि की प्राप्ति नदी के किनारे हुई थी, पर्वत के ऊपर नहीं। अतः उक्त मत बिल्कुल भ्रामक है।

जम्भिक गाँव की स्थिति—

वर्तमान विहार के भूगोल का अध्ययन करने तथा विहार के कतिपय स्थानों का पर्यटन करने पर अवगत होता है कि भगवान् का कैवल्य प्राप्ति का स्थान वर्तमान मुङ्गेर से ५० मील दक्षिण की दूरी पर स्थित जमुई गाँव है। यह स्थान वर्तमान क्यिल नदी के किनारे पर है। यही नदी ऋजुकूला अर्थात् ऋष्यकूला का अपभ्रंश है। क्यिल स्टेशन से जमुई गाँव १८–१९ मील की दूरी पर अवस्थित है। जमुई से ४ मील उत्तर की ओर क्षत्रियकुण्ड और काकली नामक स्थान है। इन स्थानों की प्राचीनता आज भी प्रसिद्ध है। जमुई के तीन मील दक्षिण एनमेगढ़ नामक एक प्राचीन टीला है। कनिंघम ने इसे इन्द्रद्युम्नपाल का माना है। यहाँ पर खुदाई में मिट्टी की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। वर्षाकाल में अधिक पानी बरसने पर यहाँ अपने आप ही अनेक मनोज्ञ मूर्त्तियाँ निकली हैं। लेखक ने भी खण्डित पार्श्वनाथ और श्री आदिनाथ की मूर्त्तियों के दर्शन किये हैं।

---

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० १७०

जमुई और लिच्छवाड के बीच में महादेव सिमरिया गाँव है। यहाँ सरोवर के मध्य एक ३००-४०० वर्ष पुराना मन्दिर है। इस मन्दिर में कुछ प्राचीन जैन प्रतिमाएँ भी है। जमुई से १५-१६ मील पर लक्खीसराय है। यहाँ पर एक पर्वत श्रेणी है, जिससे प्रतिवर्ष अनेक जैन और बौद्ध-प्रतिमाएँ निकलती है। जमुई और राजगृह के बीच सिकन्दरा गाँव है तथा सिकन्दरा और लक्खीसराय के मध्य में एक आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवन में भगवान् महावीर ने तपश्चरण किया था। आज भी यहाँ के निकटवर्ती लोग इस वन को पावन मानकर इसके वृक्षों की पूजा करते है।

जमुई गाँव की भौगोलिक स्थिति से यह स्पष्ट है कि यह ऋजुकूला, जिसका संस्कृत में ऋष्य-कूला नाम था वर्तमान अपभ्रंश क्विल नदी ही है, और इसका तटवर्ती वर्तमान जमुई गाँव ही जृम्भिक ग्राम है। मेरे इस कथन की पुष्टि जमुई गाँव के आस-पास भ्रमण करने, वहाँ प्रचलित किंवदन्तियों के सकलन करने तथा उपलब्ध पुरातत्व के दर्शन करने से स्पष्ट हो जाती है। जमुई के दक्षिण लगभग ४-५ मील की दूरी पर एक केवाली नामक ग्राम है जो भगवान् महावीर की केवलज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिए ही प्रसिद्ध हुआ होगा। इस गाँव के समीप बरसाती अजन नदी बहती है, जिसके किनारे पर बालू अधिक पायी जाती है। सिकन्दराबाद तथा केवाली निवासियो से बातें करने पर वे कहते है यहाँ केवाली भगवान् महावीर का केवलज्ञान स्थान है तथा अंजन नदी को ऋजुपालिका या ऋजुवालिका बतलाते है। इस केवाली गाँव निवासियो में कुछ ऐसी धारणाएँ भी विद्यमान है जिनसे उनका भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा तथा भक्तिभाव प्रकट होता है। वैशाख शुक्ला दशमी, जो कि भगवान् महावीर की कैवल्यप्राप्ति की तिथि है, इस दिन सामूहिक रूप से उत्सव भी मनाया जाता है। यह प्रथा आज भी अवशेष है। सिकन्दराबाद के निवासी श्री भगवान् दास केसरी ने इस स्थान से अनेक पुरातत्त्वावशेषो का सकलन किया है तथा उनके पास ऐसी अनेक किंवदन्तियो का सग्रह भी है जिनसे जमुई का निकटवर्ती प्रदेश भगवान् का बोधिप्राप्ति स्थान सिद्ध होता है।

जमुई से राजगिरि लगभग ३० मील की दूरी पर है जब कि झरिया से १००, १२५ मील से कम नही। यह निश्चित है कि भगवान् महावीर का बोधिस्थान मगध में और साथ ही राजगिरि से ३०-३५ मील ही दूरी पर था। जमुई भी वज्रभूमि है, यहाँ भी पृथ्वी के नीचे पत्थर निकलते है। पहाड़ी स्थान भी है। जमीन पथरीली और ऊबड़-खाबड़ है। जैन और बौद्ध दोनो ही का पुरातत्त्व यहाँ उपलब्ध है। यदि खुदाई की जाय तो निश्चय ही यहाँ से अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकती है। अतः वर्तमान जमुई गाँव का निकटवर्ती वह प्रदेश जहाँ आजकल केवाली ग्राम बसा है भगवान का बोधि स्थान है।



कोलुहा-पहाड़

श्री हरखचन्द जैन

श्रीमद्भगवज्जिसेनाचार्य प्रणीत श्री महापुराण में जैनाभिमत श्री २४ तीर्थंकरों के विशाल चरित्र अंकित है। इन्हीं पवित्र आत्माओं में पहले श्री ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्टनेमि और चौबीसवें श्री महावीर —इस प्रकार अनेक तीर्थंकरों का उल्लेख श्री ऋग्वेदसंहिता आदि ग्रथों में बड़े-उच्च आदर्श के रूप में पाया जाता है। इससे इन तीर्थंकरों का समय अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। इनका जन्म आज से हजारों वर्ष पूर्व श्री भद्रिल पुराधीश इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा श्री दृढ़रथ की महारानी श्री सुनन्दा के यहाँ हुआ था।

हजारीबाग जिले में एक पुराना मार्ग अपने प्रान्त की उत्तरी सीमा से दक्षिणस्थ गया नगरी तक जाता है। वहाँ से ३६ वें मील पर भौंडिल नाम से प्रसिद्ध एक ग्राम है और यह उसी भद्रिलपुर का अपभ्रंश है जहाँ कि श्री शीतलनाथ स्वामी के अनेक कल्याणक हो चुके हैं। इसके पास ही एक परम पुनीत कोलुहा नाम से प्रसिद्ध पर्वत है। यह पर्वत गया से ३४ मील दक्षिण में, गया व हजारीबाग की सीमा पर लहलहाती हुई एक छोटी सी नदी के उत्तर तट पर सघन वृक्ष-गुल्म लताओं व समुन्नत चट्टानों से सुशोभित अति विषम और सोपान-विवर्जित मार्ग द्वारा तलहटी से लगभग दो मील ऊँचा है। गया से शेरघाटी, हटरगंज और हटवरिया होकर जाना होता है। दूसरा रास्ता चतरा से ११ मील जौहरी ग्राम होकर है। यहाँ पर हंटरगंज से आनेवाली सड़क मिलती है। जौहरी से ६ मील दंतारग्राम और दंतार से १ मील कुमुम्बा ग्राम है। यह मार्ग बहुत अस्त-व्यस्त और अरक्षित है। यह कुसुम्बा, कौशाम्बी का अपभ्रंश मालूम होता है और बहुत सभव है कि उपर्युक्त विशाल भद्रिलपुर का ही एक खंड हो। इसके निकट ही एक श्रावकग्राम तथा श्रावक पहाड़ भी है जो कि गया जिले में शेरघाटी के सन्निकट है। इस श्रावक पहाड़ की गुफाओं में कई जैन मूर्तियों के भग्नावशेष पाये जाते हैं। इन सभी चिन्हों से यह निःसन्देह श्री शीतलनाथ जी का जन्म स्थान प्रतीत होता है। इस कुसुम्बा ग्राम से उत्तर में समतल मार्ग पर वही नदी है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। नदी पार होते ही पहाड़ का चढ़ाव प्रारम्भ होता है। चढ़ाव के अन्त में पत्थरों द्वारा निर्मित विशाल प्राकार भग्नावस्था में है। उसके मध्य में एक छोटा सा सरोवर है। कहा जाता है कि इस सरोवर के भीतर ७ जलमग्न कुएँ हैं जिनमें कि बहुत से अक्षुण्ण जैन स्मारकों तथा भग्नावशेषों को निमग्न कर दिया गया है। इस सरोवर के अनुसंधानार्थ

था उद्धारार्थ हमारी विहार सरकार ने १७ हजार रुपये प्रदान करने की उदारता दिखलाई है जिससे कुछ खुदाई का कार्य भी प्रारम्भ हुआ है। अभी तक पौने तीन लाख घन-फुट खुदाई की जा चुकी है। इसी सिलसिले में एक सहस्र फुट चैत्यालय का भग्नावशेष उपलब्ध हुआ है जो कि सरोवर के तट स्थित मन्दिर के बाहरी दक्षिण पार्श्व में अस्त-व्यस्त पड़ा है। इसमें अढ़ाई-अढ़ाई इंच ऊँची लगभग ५० प्रतिमाएँ उकेरी हुई अखडित हैं। इसी प्रकार एक और भी आठ इंच की कोई मूर्ति निकली है जो कि किसी जैन मूर्ति का पार्श्ववर्ती यक्ष मालूम होती है। अनुमान होता है कि खुदाई पूर्ण होने पर और भी अनेकानेक जैन स्मारकों की उपलब्धि होगी।

इस सरोवर के उत्तर की ओर एक विशाल चट्टान पर चढ़ना होता है। कुछ चढ़ते ही एक प्राकृतिक प्राचीन सजल कुण्ड है जिसे सूर्य कुंड कहते हैं। इस चट्टान का शिरा कुछ समतल रूप में है। इसके ऊपर भी एक और कूट है। इस पर एक छोटा-सा पाँच शिखर सयुक्त अति प्राचीन मन्दिर है, जो कि सर्वे सेटलमेंट नक्शे में "पार्श्वनाथ मन्दिर" के नाम से उल्लिखित है। अभी इसमें कोई भी मूर्ति स्थापित नहीं है तो भी दो आलो में दो भग्नावशेष मूर्त्तियाँ रक्खी हुई हैं। उनमें से एक तो श्री हनुमान की मूर्त्ति-सी मालूम होती है। दूसरी अस्पष्ट है। इस पार्श्वनाथ मन्दिर के बाहरी वाम पार्श्व में एक विशाल चबूतरा है, जो कि "पार्श्वनाथ चबूतरा" के नाम से उल्लिखित है।

इस चबूतरे से उत्तर की ओर कुछ और भी चढ़ने पर एक और कूट है। इसके ऊपर समतल में एक ऐसा रमणीय स्थल है जिसके बीच मे कुछ गर्त है और यज्ञकुड कहा जाता है। इसके चारों ओर शिलालेख है, परन्तु वह पढा नही जाता है, तो भी "सवत्" शब्द सा वह मालूम होता है। एक विद्वान का कहना है कि इस शिलालेख में "जनसौना" भी पढ़ा जा चुका है। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् श्री जिनसेनाचार्य की यह सभाभूमि हो।

यहाँ पर एक ऊँचा-सा मच जैसा चबूतरा है जो उपदेश स्थान मालूम होता है। इसके दक्षिण पार्श्व में एक और भी चबूतरा है। सभव है कि यह विशिष्ट शिष्यमंडल या साधुवर्ग का स्थान हो।

इस सभामंडप के उत्तर की ओर भी पूर्वकथित भग्नकोट है। उसके बाहर कुछ ही नीचाई पर एक खोह है। कहते हैं कि इसमें एक अन्तर्मार्ग (सुरग) है और कुछ चमत्कार जन्य घटनाएँ भी हुआ करती हैं। यहाँ से पश्चिम की ओर उतार-चढ़ाव का मार्ग समाप्त होने पर, सीधे चढ़ाव पर एक कूट है। इस पर चढ़ने का मार्ग नहीं है। बड़ी कठिनाई से पकड़-पकड़ कर ज्यों-त्यों चढ़ा जा सकता है। ऊपर चट्टान के शिरे में एक जोड़ा चरण-चिन्ह ८ इच लम्बा अंकित है। इसको आकाश-लोचन कहते हैं। बहुत सभव है कि यहाँ पर श्री शीतलनाथ भगवान् या अन्य किसी महापुरुष का केशलोंच हुआ हो, और इसीसे केशलोचन का आकाशलोचन रूप में प्रवर्तन हो गया हो।

इस केशलोचन कूट से उतरते समय एक संकुचित मार्ग दाहिनी ओर को जाता है। कुछ आगे बढ़ते ही दाहिनी ओर एक बड़ी गुफा स्वरूप चट्टान में उकेरी हुई पद्मासन से विराजमान एक एक फुट ऊँची उभय पार्श्वों में सचमर यक्षो सहित दस दिगम्बर जैन मूर्त्तियाँ हैं। इनके ऊपर श्री शिलालेख है। इन दशों प्रतिमाओं की चरण-चोकियों में अंकित चिन्हो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये पंक्तिबद्ध दशों प्रतिमाएँ बायी ओर से क्रमशः श्री शीतलनाथ, श्रीऋषभदेव, श्री अजितनाथ, श्री संभवनाथ, श्री अभिनन्दन नाथ, श्री सुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्री सुपार्श्वनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्री पुष्पदन्त—इस प्रकार आदि दश तीर्थंकरो की है। यद्यपि ये निश्चित श्री दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ है, तो भी लोगों ने इन्हें दशावतार कल्पित कर लिया है। इनके कुछ और आगे जाने पर दूसरी चट्टान में बायी ओर से एक-एक फुट ऊँची पद्मासन से बैठी हुई ठीक वैसी ही दशो मूर्त्तियो के समान पाँच मूर्त्तियाँ है। ये क्रमशः पच बालब्रह्मचारी, श्री वासुपूज्य, श्री मल्लिनाथ, श्री नेमिनाथ, श्री पार्श्वनाथ, और श्री महावोर तीर्थंकरो की मूर्त्तियाँ है। इसी सिलसिले में इन्ही बालयति तीर्थंकरो की पाच मूर्त्तिया अढाई-अढाई फुट ऊँची खड़े आसन मे भी है। इन्हे भी लोगो ने पाण्डव मान रक्खा है।

उक्त सरोवर के दक्षिण तट पर कुछ और ऊपर एक विशाल पाषाण खड़ा है जिसे भीम कहते है। इस पर शिलालेखादि नही है। यहाँ से कुछ दूर दाहिनी ओर पर्वतो के मेल से बनी हुई गुफा में एक प्रतिमा श्री पार्श्वनाथ भगवान की तीन फुट ऊँची यक्षो सहित फन विशिष्ट परम सुन्दर अक्षुण्ण कसौटी-पाषाण की बनी हुई है। मालूम होता है कि यह प्रतिमा श्री पार्श्वनाथ मन्दिर में ही थी, परन्तु कई अज्ञात कारणो से यहाँ पर बिठा दी गई है।

इस गुफा से पश्चिम की ओर एक और प्राचीन मन्दिर है। उसको देखने से मालूम होता है कि इसमें भी श्री दिगम्बर जैन प्रतिमा ही विराजमान थी। परन्तु न जाने किसने और किस समय उसको हटाकर तत्स्थानापन्न एक काली जी की मूर्त्ति बिठा दी है। इसी से यह मन्दिर श्री कौलेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। उपर्युक्त सहस्रकूट चैत्यालय का एक भग्नावशेष इसी मन्दिर के पास पडा है। यहाँ से लगभग दो फर्लांग तक उतार कुछ विकट है और बाद में हटबरिया तक बे-मरम्मत ऐसा चौड़ा मार्ग है कि उसकी मरम्मत हो जाने पर यहाँ तक मोटर भी आ जा सकती है। अभी चढ़ने-उतरने में जो कठिनाई है वह इससे अधिक सुगम हो सकती है।

इस मन्दिर के सामने एक विशाल चट्टान में एक और भी गुफा है। उसमें भी कई खंडित मूर्त्तियो के अतिरिक्त उसी सहस्रकूट चैत्यालय का दूसरा भग्नावशेष भी है।

आवश्यकता यह है कि इस पहाड़ पर चढ़ने के दोनों मार्गों का यथेष्ट सुधार हो, श्री पार्श्वनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार हो, श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा को पुनः सानुष्ठान पार्श्वनाथ मन्दिर में स्थापित किया जाय। इन सभी कार्यों में अनुमानतः पच्चीस हजार पये का खर्च है।

मगध और जैन संस्कृति

श्री गुलाब चन्द्र चौधरी एम० ए०, व्याकरणाचार्य

संस्कृति और मगध—

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र मगध देश का नाम इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से अंकित है। ऐसे विरले ही देश होंगे जहां से एक साथ साम्राज्यचक्र और धर्मचक्र की धुराएं अपने प्रचण्ड वेग में जगती तल पर शताब्दियों तक चलती रही हों। मगध को ही श्रमण संस्कृति के जीवनदान, संवर्द्धन और पोषण करने का श्रेय प्राप्त है तथा विश्व में उसके परिचय देने और प्रसार का काम यहीं से सम्पन्न हुआ था। भारत के विशाल भूभाग को एक छत्र के नीचे लाने वाले साम्राज्य वाद रूपी नाटक के अनेक दृश्य यहीं खेले गये थे। जैन एवं बौद्ध धर्म के उत्थान के दिन इसी स्थल ने देखे थे। आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायों और दर्शनों को जन्म देने और इन्हें सदा के लिए अतीत की गोद में सुला देने का गौरव इसी क्षेत्र को प्राप्त है। इसी भूभाग पर आध्यात्मिक विचारधारा और भौतिक समृद्धि ने गठबन्धन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नींव डाली थी। प्रतापी राजा बिम्बिसार श्रेणिक एवं अजातशत्रु, नन्दवंशी राजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसका प्रियदर्शी पौत्र अशोक, शुंग वंश का सेनानी पुष्यमित्र तथा पीछे गुप्त साम्राज्य के दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों ने इसी भूमण्डल पर शताब्दियों तक शासन कर इसे विश्व की सारी कला, नाना ज्ञान विज्ञान, एवं अनेक भौतिक समृद्धि का केन्द्रस्थल बनाया था। प्रसिद्ध राजनीतिकार चाणक्य एवं कामन्दक, महावैयाकरण वररुचि और पतंजलि, छन्दकार पिङ्गल, महान् ज्योतिर्विद आर्यभट्ट और न्याय परिपाटी के अनेकवादी विद्वान् इस प्रान्त की ही विभूतियाँ थे। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी से लेकर छठवी शताब्दी बाद तक यहाँ से राज्यधुरा का चक्र प्रचालित होता रहा, पीछे बंगाल के पाल और सेन वंशी राजाओं की अधीनता में पहुँचनेपर यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्व कुछ कम हो गया हो पर सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से जो इसे अन्ताराष्ट्रिय मान्यता प्राप्त थी उसमें तनिक भी कमी नहीं हुई। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों द्वारा मगध ने अपना अन्ताराष्ट्रिय उत्कर्ष पाया। इन विश्वविद्यालयों में, ७—८ सौ वर्षों तक भारतीय दर्शनों की, धर्म और साहित्य की, कला और संगीत की तथा भैषज्य और रसायन शास्त्र की शिक्षा बिना किसी भेद-भाव के दी जाती थी। मगध के इतिहास का पृष्ठ यदि राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान के साथ खुलता है तो वह नालन्दा के पतन के साथ बन्द हो जाता है। इस प्रान्त के कारण ही सारा प्रान्त आज विहार के नाम से पुकारा जाता है।

श्रमण संस्कृति का केन्द्र—

मगध के इतिहास की यदि हम सांस्कृतिक पृष्ठभूमि टटोलें तो हमें सुदूर अतीत से ही यह श्रमण संस्कृति का केन्द्र मालूम होता है। तथाकथित वैदिक संस्कृति के प्रभाव से यह एक प्रकार से मुक्त था। इसका अपना कला कौशल था। राजगृह और नालन्दा आदि की खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी (terracota) के खिलौने से जिनमें स्त्री, पुरुष, राक्षस और पशुओं के चित्र है, मालूम पड़ता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहेंजोदारो और हरप्पा की प्राचीनतम संस्कृतियों से अवश्य था। उन उपादानों को हम सम्प्रदायगत भेद में नहीं बाँध सकते। आर्यों के आगमन के पहले के कुछ अवैदिक तत्त्वों से मालूम होता है कि वहाँ पाषाणयुगीन पुरुषों के वंशज रहते थे। वेदों में इन्हें व्रात्य, नाग, यक्ष आदि नामों से कहा गया है। मगधवासियों के नेतृत्व में पूर्वीय जनसमुदाय ने आर्यों की सांस्कृतिक दासता से बचने के प्रयत्न कि थे। ब्राह्मण संस्कृति के पुरातन ग्रंथों में श्रमणसंस्कृति के अनुयायी मगधवासी एवं पूर्वीय जनवर्ग को बहुत ही हेयता एवं घृणा के भाव से देखा गया है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति तक के अनेक ग्रंथों में इस बात के प्रमाण भरे पड़े हैं। मागध (मगध जनवासी) शब्द का अर्थ ब्राह्मणकोशों में चारण या भाट है। संभव है जीविकार्जनार्थ कुछ लोग मगध से चारण, भाटों का पेशा करते हुए आर्य देशों में जाते हों, जहाँ उन्हें मागध शब्द से कहते कहते पीछे उसी अर्थ में मागध शब्द की रूढ़ि हो गई हो। मनुस्मृति में गिनाये गये ब्रह्मर्षि देशों में मगध का नाम शामिल नहीं है। इस क्षेत्रवासियों ने पुरोहितों और वैदिक देवताओं की प्रभुता कभी नहीं स्वीकार की। आजकल यहाँ ब्राह्मण बाबाजी नाम से पुकारे जाते हैं। किसी काम के बिगड़ जाने व किसी वस्तु के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी उसे उपहास रूप में 'यह बाबा जी हो गया' कहते हैं। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उदय होने के काफी पहले से मगध आर्यों के अधीन हो गया था, पर पुरोहित वर्ग को वैसा सम्मान कभी नहीं मिला जैसा उसे आर्य देशों में मिला है। वैदिक संस्कृति एक प्रकार से यहाँ के लिए विदेशी थी, इसी लिए पीछे महावीर और बुद्ध के काल में वहाँ जो थोड़ा बहुत वैदिक धर्म का प्रभाव था, वह भी उठ गया।

मगध की प्राचीनता और विकास—

मगध से जहाँ तक जैन धर्म और संस्कृति का सम्बन्ध है, वह साहित्यिक आधारों पर भगवान् महावीर से पहले जाता है। बौद्धग्रंथ दीघनिकाय के सामञ्जस्यफल सूत्र में भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्यामसंवर (अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य) का उल्लेख है। इससे विदित होता है कि बौद्ध, जैनों की प्राचीन परम्परा खासकर भगवान् पार्श्व के समय और शिक्षाओं के विषय में परिचित थे। भगवान् महावीर का समकालीन आजीवक मक्खलि गोसाल अपने समय के मनुष्य समाज के ६ भेद करता है जिसमें तीसरा भेद निर्ग्रंथ समाज था। इससे विदित होता है कि निर्ग्रंथ संगठन एक उल्लेखनीय संगठन पहले से था। आचारांग सूत्र से मालूम होता है कि भगवान् महावीर के माता पिता श्रमण भगवान्-पार्श्व के उपासक थे। इन कतिपय प्रमाणों से सिद्ध है कि मगध में जैनधर्म भ० महावीर से बहुत पहले से था।

भगवान् महावीर को अर्हन्त लक्ष्मी (केवल ज्ञान) इसी मगध की एक नदी ऋजूकूला के किनारे प्राप्त हुई तथा उनका प्रथम उपदेश तत्कालीन मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर हुआ था। मगध के प्रत्येक गाँव को भगवान् महावीर ने अपने उपदेश से पवित्र किया। बौद्ध ग्रंथों से मालूम होता है कि भगवान् बुद्ध के समय जैनो के प्रमुख केन्द्र वैशाली, नालन्दा और राजगृह थे। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार अकेले नालन्दा में भगवान् महावीर ने १५ चतुर्मास बिताये थे। मज्झिम निकाय में लिखा है कि नालन्दा में अनेक धनी जैन रहते थे। मगध के कई प्रभावक जैन श्रावक और श्राविकाओं का नाम बौद्ध ग्रथो में मिलता है, जैसे राजगृह का संचक, नालन्दा में उपालिगहपति नया, वैशाली में सिंह सेनापति।

भगवान् महावीर के समय राजगृह विद्वानों और वादियों का बड़ा केन्द्र था। उनके प्रथम उपदेश को समझने और धारण करनेवाला प्रथम शिष्य इन्द्रभूति जो गौतम गणधर नाम से प्रसिद्ध हुआ इसी स्थान का विशिष्ट ब्राह्मण विद्वान् था। शेष गणधरो में से अधिक तो यहीं के थे। राजगृह से भगवान् महावीर का जन्मजन्मान्तरों से सम्बन्ध था। यहाँ १६ वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के चार कल्याणक हुए थे तथा यह नगर अनेक महापुरुषो की लीलाभूमि और इसके पवित्र पाँच पर्वत मोक्षगमन स्थान रहे हैं। मगध की इसी भूमि ने पावा स्थान में भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस देखा है। पाटलिपुत्र नगर में महाशीलवान् सुदर्शन सेठ की समाधि है।

एकबार ईसा की छठ्वी शताब्दी पूर्व बिम्बिसार श्रेणिक के नेतृत्व में मगध देश ने ऐसे साम्राज्यवाद की नींव डाली जो पीछे जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियो के संरक्षकत्व में सारे भारत पर छा गया था। जैन शास्त्रो के अनुसार श्रेणिक भगवान् महावीर का अनुयायी हो गया था। उसकी महारानी चेलना तो जैन मुनियो की परम भक्त थी। सम्राट अजातशत्रु जैनागमों का कुणिक, जैन धर्मानुयायी था। उसका बेटा उदायीभद्द अपने पिता के समान ही पक्का जैन था। यही उदायीभद्द तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र ले गया। पाटलिपुत्र को प्रमुखता देने का श्रेय उसी व्यक्ति को है। जैनग्रन्थ आवश्यक सूत्र के अनुसार उसने नई राजधानी के बीचो बीच एक जैन चैत्य गृह बनवाया और अष्टमी चतुर्दशी को प्रोषध का पालन करता था। उदयी ने अनेको बार उज्जैन के राजा को पराजित किया था।

उदयी के बाद मगध का साम्राज्य अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक प्रतिद्वंद्विताओं का शिकार बन गया पर जन हृदय पर जैन धर्म के प्रभाव की धारा कम ही क्षीण हो सकी। जैनागमों में उदयी के बाद और नवनन्दों के आविर्भाव के बीच के राजाओं का नाम नहीं मिलता। नन्द राजा और उनके मंत्रीगण भी जैन थे। उनका प्रथम मंत्री कल्पक था, जिसकी सहायता से नन्दों ने क्षत्रिय राजाओं का मान मर्दन किया था। नवमें नन्द का मंत्री शकटाल भी जैन था, जिसके दो पुत्र थे स्थूलभद्र और श्रीयक। स्थूलभद्र तो जैन साधु हो गया पर श्रीयक ने मंत्री पद ग्रहण किया। नन्द राजा जैन धर्मानुयायी थे यह बात मुद्रा राक्षस नाटक से भी मालूम होती है। नाटक की

सामाजिक पृष्ठ-भूमि में जैन प्रभाव स्पष्ट काम कर रहा है। नन्दों के जैन होने का अकाट्य प्रमाण सम्राट् खारवेल का शिलालेख है जिसमें उल्लेख है कि नन्दराजा कलिंग से भगवा ् आदि-नाथ की प्रतिमा अपनी विजय के चिन्हस्वरूप मगध ले आया था।

नन्दों के बाद भारत की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने वाला, सारे भारत को एक छत्र के नीचे लानेवाला सम्राट् चन्द्रगुप्त निर्विवाद रूप से जैन था जो पीछे अपने जैन गुरु भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत में आकर जैन समाधि से दिवगत हुआ। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त का महाराजनीतिज्ञ मंत्री चाणक्य भी अपने जीवन के शेष दिनो में जैन धर्म की शरण आया था। उसके अन्तिम दिनों का वर्णन उसी लिए हमें जैन शास्त्रों के अति-रिक्त कहीं नहीं मिलता।

आगमों का संग्रह—

जैनागमों का सर्वप्रथम संकलन उसी मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूल-भद्र के नेतृत्व में हुआ था। उस सकलन की एक रोचक कहानी है। भगवान् महावीर का जो उपदेश इस मगध की धरा पर हुआ था वह उनके शिष्यों द्वारा ११ अग और १४ पूर्वों में सवनित किया गया था, जो श्रुत परम्परा से चलकर शिष्य प्रशिष्यों द्वारा कालान्तर में विस्तृत होने लगा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में आचार्य भद्रबाहु जैन सघ के प्रमुख थे। उस समय १४ वर्ष व्यापी भीषण अकाल के कारण आ० भद्रबाहु जैन सघ तथा अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत की ओर चले गये। पर कुछ जैन मुनि आ० स्थूलभद्र की प्रमुखता में यहीं रह गये। स्थूलभद्र १४ पूर्वों के गाता थे। भीषण दुर्भिक्ष के कारण मुनिसघ को अनेक विपत्तियाँ झेलनी पड़ी। अन्त में आगम ज्ञाता की सुरक्षा के हेतु आ० स्थूलभद्र के नेतृत्व में एक परिषद् का सगठन हुआ जिसमें आगमों का सकलन किया गया। भद्रबाहु के अनुगामी मुनि गण जब मगध लौटे तो उन्होंने संकलित आगमों की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया और तत्कालीन साधुसघ जो श्वेतवस्त्र धारण करने लगा था, को मान्यता भी प्रदान की। इस तरह इस मगध की धरा पर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से जैन संघ के स्पष्ट दो भेद हो गये।

आगमों की भाषा—

जैनागमों की भाषा अर्धमागधी कही जाती है। ऐसा माना जाता है कि भगवान् महावीर ने इसी भाषा में अपने सारे उपदेश दिये थे। अर्धमागधी का मागधी शब्द संकेत करता है कि जैना-गमों की भाषा मगध की ही भाषा थी। विशेष जन समुदाय को बोधगम्य बनाने के लिए उस भाषा में इतना संशोधन अवश्य किया गया कि उसमें कोशल, शूरसेन आदि प्रदेशों के प्रचलित शब्द शामिल कर लिये गये। भाषाविदों का कहना है कि जैनों ने पूर्वी भाषा (मागधी) का कुछ परि-वर्तन संस्कार तो अवश्य किया पर बहुत हदतक वे उसे ही पकड़े रहे। उनके आगम जिस अर्ध-मागधी भाषा में है, उसमें बौद्धागमों की भाषा पाली से मगध की भाषा के अधिक तत्त्व पाये

जाते हैं। जैन प्राकृतों के 'एगो, दुगो, आदि' कुछ शब्द मगध में आज भी बोले जाते हैं। जैनागमों का भाषा-दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनमें अर्धमागधी के अनेक स्तर मालूम होते हैं। मगधी पर अनुसंधान करनेवाले विद्यार्थी के लिए अर्धमागधी के प्राचीनतम स्तर वाले आचाराग आदि कतिपय जैनागम बड़े महत्त्व के है।

मगध में १४ वर्ष व्यापी दुर्भिक्ष की घटना जैनधर्म के इतिहास की वह भयंकर घटना थी जिसने संघ भेद के साथ-साथ जैन-धर्म के पैर मगध की भूमि पर कमजोर कर दिये। वह धीरे धीरे इस भूमि के जन-मानस से विस्तृत-सा होने लगा और अपने विस्तार का क्षेत्र पश्चिम भारत व दक्षिण पूर्व कलिंग में व दक्षिण भारत की तरफ ढूंढ़ने लगा। पर मगध के वक्षस्थल पर जैन इतिहास की जो महत्वपूर्ण घटनाएं घटी थीं उससे वह जैनों की पुण्य भूमि तो बन ही चुका था। राजगृह की पच पहाड़िया, नालन्दा, पावा, गुणावा और पाटलिपुत्र एक साथ जैनों के ये पांच तीर्थ स्थान इसी मगध की पुण्य भूमि में ही है।

उपसंहार—

मगध का जैन सस्कृति के प्रति अनुराग इस बात से भी प्रकट होता है, कि वह जैन मूर्त्ति का बहुत प्राचीन काल से पुजारी है। पटना के समीप लोहानीपुर से प्राप्त दो मौर्यकालीन जैन मूर्त्तियां इस बात की साक्षी है। सारे भारतवर्ष में इनसे प्राचीनतर मूर्त्तिकला अबतक और किसी धर्म की प्राप्त नही हुई। कलिंग के जैन सम्राट् खारवेल का शिलालेख हमें प्रमाण देता है है कि मगध का राजा नन्द कलिग से पूजा की वस्तु जिन मूर्त्ति ले आया था, जो पीछे ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग खारवेल वापस ला सका था।

शुगकालीन भारत व उसके बाद के भारत में अनेक शताब्दियों तक मगध से जैन धर्म और सस्कृति का क्या सम्बन्ध रहा यह तो निश्चित रूप से नही मालूम पर मध्यकालीन जैन साहित्य में जैन कवियों ने अपनी पुण्यभूमि मगध का जो वर्णन किया है उससे मालूम होता है कि तीर्थ के रूप में जैन जनता अपना सम्बन्ध मगध से अवश्य बनाये रखा है। इस बात का प्रकाश हमें नालन्दा बड़गांव के जैन मन्दिर से पालवंशी राजा राज्यपाल के समय (दशवी ईस्वी का पूर्वार्द्ध) के एक लेख से मिलता है। लेख में मनोरथ का पुत्र वणिक् श्री वैद्यनाथ अपनी तीर्थ-वन्दना का उल्लेख—करता है।

आज मगध के प्रमुख स्थानों में जैन जनता वाणिज्य के लिए बसी है। मगध के जैन सांस्कृतिक केन्द्र उनकी सहायता की राह देख रहे हैं। चारों ओर विकास की योजनाएँ लागू हो रहीं है। क्या वह मगध जिसने जैन संस्कृति को जन्मक्षण से पाला पोसा आज फिर उसके विकास के लिए पात्र नही हो सकता? तीर्थ यात्रा के नाम पर जैन जनता हजारों रुपये इस भूमि पर आकर खर्च करती है पर जैन संस्कृति के प्रसार सम्बन्धी उपादानों से यह प्रान्त अब भी वंचित है जो बड़े खेद की बात है।

विहार की विभूति भगवान् महावीर की आर्य-संस्कृति को देन

प्रो० श्री जगन्नाथ राय शर्मा एम० ए०

प्रस्ताविक—

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवमा खमन्तु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ।।

"I forgive all souls; let all souls forgive me. I am on friendly terms with all; I have no enmity with any body"

आवश्यक सूत्र प० ७६३
Jainism in North India—Page 57.

"मैं सभी जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ । सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें । मैं सबके साथ मैत्री रखता हूँ । मेरा किसी से भी बैर नहीं ।"

भगवान् वर्धमान महावीर के धर्म का सारतत्त्व यही है । वे जिस समय में पैदा हुए थे उसमें या आज भी इसी भाव के प्रचार की आवश्यकता है । यदि आज इस विश्व में इस भाव का प्रचार नहीं होता और लोग इसे हृदय से स्वीकार नहीं करते तो अणु-बमों की बौछार से यह संसार त्रस्त, पीडित एवं क्षत-विक्षत होकर कराह-कराह कर नष्ट हो जायगा, यह निश्चित है ।

निस्सन्देह वैदिक धर्म विश्व का महत्त्वपूर्ण धर्म है; किन्तु उच्च से उच्च धर्म भी समय की गति से दूषित हो जाता है । उसके अनुयायियों में सबके सब धर्मात्मा नहीं होते । राग, द्वेष, अहंकार इन्द्रियजन्य सुखों की कुत्सित वासनाएँ और अन्यान्य अनेक प्रकार के मानसिक विकार सच्चे धर्म को भी ठीक-ठीक समझने नहीं देते । कभी-कभी तो समझदार व्यक्ति भी कुमार्ग में पैर रखते है । उनके भीतर का रावणत्व उनके मस्तिष्क के रामत्व का तिरस्कार करने पर उद्यत हो जाता है और वे समझ-बूझकर भी मानव से दानव बन जाते हैं । कुछ-कुछ इसी प्रकार की अवस्था में भगवान् महावीर ने विश्व में पदार्पण किया था ।

वातावरण का अध्ययन—

महात्मा ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व भारत में जिस युग का प्रारम्भ हुआ था उसमें मस्तिष्क और तर्क की प्रधानता थी। विश्वास नहीं उन्हीं बातों पर किया जाने लगा जो तर्क से सिद्ध हो सकती थी। इस युग तक भारतीय आर्यों का मानसिक विकास किस प्रकार हुआ इसके ज्ञान के लिए इससे पहले के साहित्य का अध्ययन और मनन करना आवश्यक है। यहाँ पर उस विकास का संक्षिप्त इतिहास दे देने की आवश्यकता है।

आर्यों के हृदय में जब से अनुराग विराग व्यक्त करने की भावना उत्पन्न हुई वे अपने संगीत के सहारे प्राकृतिक सौंदर्य में किसी अपरोक्ष सत्ता की गूढ़ सुषमा का अवलोकन करने लगे। इसी सुषमा का अभिव्यंजन ऋग्वेद के रूप में हुआ। प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौंदर्य व्यक्त करते हुए वे दर्शन के क्षेत्र में चले आये और विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार की समस्या उन्हें उद्विग्न करने लगी। प्रारम्भिक युग के आर्य तो कर्ममय जीवन बिताते हुए सौ वर्षों तक जीने की अभिलाषा करते रहे। उन्हें अपने स्वास्थ्य और समृद्धि तथा उसके द्वारा होनेवाली देव-पूजा का ध्यान विशेष था और उपर्युक्त जटिल प्रश्नों के समाधान का कम। वे आशावादी थे। चरित्र की उज्ज्वलता, कर्म के महत्त्व और सत्य एवं अहिंसा पर उन्हें आस्था थी, इसीलिए वे पौरुषपूर्ण जीवन बिताते हुए और यज्ञ सम्पादन करते हुए अपने भक्तिपूर्ण हृदय में अपने आराध्यदेव या देवों के मनोरम चित्र अंकित करते रहे और उन्हें ऋग्वेद एवं सामवेद के संगीतों में अभिव्यक्त करते रहे। किन्तु भवितव्यतावश उनमें भक्ति-भावना की कमी तथा यज्ञ-सम्पादन के प्रति मोह उत्पन्न होने लगा। श्रद्धा विलीन और आडंबर विस्तृत होने लगा। यज्ञों के भिन्न-भिन्न रूप बन गये। उनकी विधियों में जटिलता बढ़ गई और पशु-हिंसा की पराकाष्ठा हो गई। अश्वमेघ, गो-मेघ तथा नरमेघ तक होने लगे। श्रद्धा और अहिंसा प्रधान आर्य जाति में हिंसा और बाह्याडंबर ने घर कर लिया।

वर्णों का परिणाम—

साथ ही साथ आर्यों के बीच श्रम-विभाग की भावना से जिस वर्ण-विभाग का प्रारम्भ हुआ था, वह अब अनर्थ का मूल बन गया था। इसने आर्यों को चार वर्णों में विभक्त कर उनमें पारस्परिक विद्वेष, स्पर्द्धा, घृणा तथा संघर्ष का बीज बो दिया। प्रत्येक वर्ण अपने अपने लिये विशेषाधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। ब्राह्मण और क्षत्रिय आर्य जाति के ऊँचे स्तर पर रहने के कारण अधिक से अधिक विशेषाधिकार प्राप्त करने में समर्थ हुए। इसका प्रभाव निम्न वर्णों के ऊपर बहुत ही अशुभ हुआ। साथ ही स्त्रियों को भी उनके उचित अधिकारों से बहुत कुछ वंचित कर दिया गया। इन्हीं सब कारणों से जनता में दुःख-दारिद्र्य और संघर्ष का प्रसार हो गया।

भगवान् महावीर का जन्म—

स्वभावतः समाज की यह दुर्व्यवस्था क्रान्ति का आह्वान करने लगी। दर्शन कर्मकाण्ड का शत्रु बन गया और स्त्रियों, शूद्रों तथा अंत्यजों के प्रति होनेवाले दुर्व्यवहारों से समाज के शुभ-

चिन्तक विकल हो पड़े । ऐसे ही समय में हिमालय-प्रदेश के अंचल में सिद्धार्थ और वैशाली के क्षत्रिय-कुल में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था । वे मानवता के वैषम्य और हिंसा संज्ञक भावो के कारण से विकल होकर उनमें ऐक्य और अहिंसा के सन्देशों को प्रचार करने के लिए उतावले होकर तपस्या में तल्लीन हुए थे । ये दोनों ही नवीन धर्म-प्रचारक बनने की इच्छा से घर छोड़कर नहीं निकले थे । दोनों ही वेदों को प्रमाण न मानने वाले थे । वे अपनी-अपनी ज्ञान-ज्योति के स्वयं उद्भावक बने थे । पर यथार्थ में पूछिये तो वे वैदिक धर्म को न मानते हुए भी उसके सुधारक और परिष्कारक के रूप में ही सफल हो सके।

जनता ने उन्हें वेद-विरुद्ध समझा पर अनार्य नही । इसीलिए उनकी शिक्षाओं को श्रद्धा के साथ ग्रहण किया ।

इसमें सन्देह नहीं कि भगवान महावीर और गौतम बुद्ध इन दोनों ने अपना अलग-अलग दर्शन विकसित किया, किन्तु उनके अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य भारतीय जनता पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ा । उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड और जाति-प्रथा पर तने वेग से आक्रमण किया कि कुछ काल के लिए इनका अस्तित्व प्रायः लुप्त हो गया । बीच-बीच में वैदिक धर्मावलम्बी इनको पुन-र्जीवित करने का प्रयत्न करते रहे पर वे पूर्वकालीन सफलता न प्राप्त कर सके ।

कालक्रम से मुसलमानों और अंग्रेजों के भारत में आने से यहाँ वर्ण-व्यवस्था या जाति प्रथा का प्राबल्य हो गया है । इन दोनों के अशुभ प्रभावो से भारत को मुक्त करने के विचार से महात्मा गाँधी ने बहुत कुछ प्रयास किया—किन्तु भारत को स्वतन्त्र करने के अतिरिक्त वे और कुछ शुभ प्रभाव डालने में समर्थ न हो सके ; इसका कारण है आज का हिंसात्मक और जातिगत विद्वेष जो एक तरफ तो अणु-बमों का उत्पादन करा रहा है और दूसरी ओर गोरी और काली जातियों का पारस्परिक विद्वेष उत्पन्न कर रहा है । ऐसे ही समय में हमें भगवान् महावीर के उप-देशों की आवश्यकता है जो संसार से पारस्परिक वैषम्य दूर कर सब जीवों के प्रति समदृष्टि का विस्तार कर सके । आज हम प्रेम के साथ सद्भाव से यह कह सकें कि हम सभी जीव को क्षमा प्रदान करते हैं और सभी जीव हमें क्षमा प्रदान करें । हम विश्व के मित्र हैं और हमें किसीसे भी शत्रुता नही है । भगवान् महावीर का यह सन्देश आज भूतल के लिए शांति का सन्देश बने और दुर्बल जातियों को सतानेवाली और उनका शोषण करने वाली सबल जातियाँ सद्बुद्धि प्राप्त करें । सबके अधिकार सम हों और इस बर्द्धमान हिंसा का पूर्णतः विनाश हो । तभी भगवान् महावीर की तपस्या और धर्म-साधना की सफलता होगी और भारतीय संस्कृति को उनकी अहिंसा-समता और विश्वबन्धुता की देन सार्थक होगी ।

वैशाली की सांस्कृतिक महत्ता

श्री राम तिवारी

वैशाली : एक दृश्य—

वैशाली की सांस्कृतिक महत्ता का प्रतीक इसकी प्राचीनता में अन्तर्निहित खंडहरों का अतुल वैभव है, जिनमें अपने पूर्व विकास की अलस अगड़ाई है और अपनी अर्जित महत्ता की चिरस्पन्दित धड़कन, सिहरन, खिलखिल। ये अवशेष अपने सांस्कृतिक भावों में विह्वल मुग्ध माधी-सी रतनारी पलकों में अपने गौरव की धूमायित चिता समेटे खड़े हैं—एकाकी और निश्चिन्त। भारतीय सांस्कृतिक चेतना को अक्षुण्णता प्रदान करने में इनकी सांस्कृतिक धारा ने जो तरगमय सक्रिय अवदान दिया है, उसकी एक अपनी कहानी है।......................इस कहानी के तीर बड़े सजीले, बड़े लचीले!

आज जिस सांस्कृतिक अभियान की बात याद कर रहा हूँ, उसकी एक-एक स्मृति पानी से भीगी है—पानी कभी चचल फेनोंमिल, कभी निष्कम्प गभीर, कभी आकुल वाष्पान्वित, कभी कलकल प्रपतित, कभी असंलग्न हिमवेष्टित नीरव.........। और वैशाली की जो दीप-शिखा है—पानी से बल उठे—नयनों के पानी से। × × × कहते-कहते महान भारतीय संस्कृति की वाणी नीरव हृदय में स्निग्ध ओज, कभी पुलक की रसमयी धारा का उद्रेक कर जाती है और शतशः परिधियों को तोड़ कर अन्तर्जगत के महापथ का अनुसरण करती हुई प्रबुद्ध चेतना से टकरा जाती है जो लोकोत्तर है...........दुष्प्राप्य, अगाध और शब्दातीत।

और अब सुनिये मेरी कहानी! सरयू और सदानीरा का वह मनोरम कोण, जहाँ दोनों की लहरें एक दूसरे से टकरा-टकरा कर टूटती थी, जहाँ उनके उत्थान-पतन वायु में कुहासा उठा देते थे, झाग उठ-उठकर बिखर जाते थे, तट को उज्ज्वल कर देते थे, वहीं वैशाली के लाल-लाल फूल दिगन्त तक फैले मेरे लेख की भूमिका लिखते हैं, लाल-कहानी का अंचल सजाते हैं...........।

वैशाली : प्रागैतिहासिक अन्तराल में—

वैशाली अपनी गौरव-दीप्त परम्परा का विकास-सूत्र प्राचीनतम वैदिक युग के जरिये स्वर्णिम अभ्युत्थान के समय से ही ग्रहण करती है। इसका इतिवृत्त प्रागैतिहासिक काल से ही प्रारम्भ होता है। अधिकांश आम, केले एवं लीची के निभृत निकुंजों से अवगुण्ठनमयी—सुरम्य सदानीरा, (अब वर्तमान गण्डक में विलीन) जिसकी छाती पर ऋग्वेद के जमाने में विदेह जनपद का प्रारम्भिक

प्रसार हुआ था, हमारे विजय पोत लहराते थे तथा जिसके तट पर पहुँचते ही विदेह माधव के मुख से मुक्त अग्नि वैश्वानर को शांत होना पड़ा था, के ही अंचल में प्राचीन वैशाली परिपोषित हुई। सुदूर अतीत के इसी गर्भ में मल्लिनाथ और नमिनाथ इन दो तीर्थकरों ने इसी अचल में अहिंसा का सात्विक प्रचार किया था। सदानीरा कोशलों और विदेहों के बीच की मर्यादा बनी और विदेह द्वारा विदेह-जनपद का प्रारम्भ हुआ जिसने अपने अस्तित्व के सहज प्रसार की पँखुड़ियों पर दोलायित हो प्राचीन वैशाली का निर्माण किया।

ईसा के पूर्व ९ वीं और ७ वी के बीच अयोध्या के प्रसिद्ध राजा इक्ष्वाकु ने एक आदर्श राज्यसत्ता का उद्घाटन किया। इन्हीं की कुलगत परम्परा में तृणविन्दु और अलम्बुषा से उत्पन्न पुत्ररत्न 'विशाल' के नाम से विश्रुत हुए और उन्हीं के करो से वैशाली निर्माण की सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त पंक्ति जुड़ी। यथा :—

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इतिविश्रुतः ।
तेन चासोदिहस्थाने विशालेतिपुरी कृता ।

(रामायण, बालकाड, सर्ग ४७, ११ १२)

'विशाला' या 'उतमपुरी' की राजकीय परम्परा को क्रमशः हेमचन्द्र, सुचन्द्र, धूम्राश्व, सञ्जय, सहदेव, कुशाश्व, सोमदत्त, काकुत्स्थ्य, और सुमति महातेजस्वी ने निभाया। सुमति अयोध्या के राजा दशरथ के समकालीन थे। ये सभी राजा दीर्घायु, महात्मा, वीर्यवान, और सुधार्मिक हुए।

सुमति के राज्य काल में महाप्राज्ञ श्री रामचन्द्र के वैशाली-भ्रमण का उल्लेख भी वैशाली की महत्ता को आगे बढ़ाता है। जानकी स्वयम्बर के लिए जाते समय उन्होंने वैशाली की झाकी पायी थी।

सुमति के बाद के राजाओं का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है। संभवतः यह मिथिला का एक अंग बन गयी थी। प्राचीन जैन ग्रंथ 'निरयावलियाओ' (पृ० २६) तथा विक्रम संवत् १२ वीं शताब्दी में निर्मित "त्रिष्टिशिलाका पुरुषचरित्रम् (पत्र ७७, पर्व १०, सर्ग ६) में विदेह जनपद (मिथिला) की राजधानी वैशाली होने की सार्थक पुष्टि की गई है। यह मत विक्रम सं० १२ वी शताब्दी के जैन ग्रंथ 'प्रवचन सारोद्धार (पत्र ४४६) तथा १४ वीं शताब्दी के 'विविध तीर्थ कल्प' (पृ० ३२) से भिन्न रहते हुए भी मान्य है।

जो हो, मिथिला के अन्तिम अन्यायी राजा करालजनक को सिंहासनाच्युत करके जनता ने एक प्रकार के प्रजातन्त्र की स्थापना की। क्योंकि राजनीति और समाजनीति पर साधारण जनता का प्रभाव नगण्य नहीं था और संस्कृति के धारक और वाहक साधारण मनुष्य ही थे। जनता द्वारा नवोदित प्रजातन्त्र के उद्भव में लगभग एक सहस्र वर्ष तक मिथिला में अराजकता फैली रही।

उत्कट प्रयत्नों के बावजूद वैशाली गणतंत्र का विमल उदय (७५० ई० पूर्व और ६५० ई० पूर्व के बीच) हुआ और राजतन्त्र के अवसान के साथ एक सुदीर्घ रूमानी इतिहास का कलेजा डूब गया। वज्जियों और लिच्छवियो का यह गणतंत्र उस समय सभ्य समार के लिए विस्मय की वस्तु था। मानव-जाति के इतिहास में यह गणतंत्र की सर्वप्रथम स्थापना थी। वैशाली की यह जनतान्त्रिक महत्ता अटल, अमर तथा अविच्छिन्न है—शत-शत शताब्दियो और युगों के पश्चात् भी। वैशाली ऐतिहासिक सांस्कृतिक केन्द्र बनकर आज भी भारतीय संस्कृति की अमरता तथा अखडता का द्योतक है।

वैशाली : इतिहास के रंगमंच पर—

जिस प्रजातन्त्र राज्य की नीव मिथिला में पड़ी उसीकी एक शाखा आगे चलकर वैशाली में परमप्रशसित लिच्छविगण के रूप में प्रकट हुई। यह लिच्छविगण १५ जनतन्त्रों का एक समूह था जिसकी राजधानी वैशाली थी। इसके अधिष्ठाता 'अष्टगण या अट्ठकुल' कहलाये जिसके अन्दर प्रधान वश थे 'विदेहगण' 'वज्जिगण' और इतिहास प्रसिद्ध 'लिच्छविवंश'। इस गणतंत्र का सम्बन्ध मगध के राजाओं, नेपाल के शासकों के पूर्वजों, मौर्यवश और गुप्तवंश के साथ आगे चलकर विवाह सम्बन्ध तक था। अत· जो गण छठी शताब्दी के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग थे, उनके समस्त राज्यों में केवल वैशाली ही विशाल नगरी थी।

और 'निरयावलियो' (पृ० २७) के अनुसार इसी वैशाली का लिच्छविनायक (राजा) चेटक था और उसकी परामर्श समिति में नौ मल्ल गणराजा और नौ लिच्छवि गणराजा रहा करते थे। मल्ल काशी में और लिच्छवि कोशल मे रहते थे। उन्ही दोनो जातियो का सम्मिलित गणतंत्र चेटक के हाथ में था। इस राजा के पारिवारिक इतिहास का पता 'आवश्यक चूर्णि' (उत्तर भाग, पत्र १६४)[1] से चलता है। यह वर्णन 'महावीर चरित्र' (हेमचन्द्राचार्य विरचित त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, पर्व १०, स० ६, श्लो० १८४—१८३) में ज्यो का त्यों मिलता है।

इनकी आठ पुत्रियो में चेलना का विवाह मगध नरेश बिम्बसार (श्रेणिक) के साथ बलात् सम्पन्न हुआ। (त्रि० श० पु० च० पर्व १०, सर्ग ६, श्लो० २२६—२३०)। इसी चेलना से अजातशत्रु का जन्म हुआ। इसीकी मौसी त्रिशला (राजा चेटक की पुत्री) के गर्भ से भगवान महावीर का जन्म हुआ। त्रिशला का दूसरा नाम 'विदेह दत्ता' भी था और इसीलिए महावीर के विदेह, वैदेहदत्त, विदेह जाल्प, विदेह सुकुमार, (आचाराग सूत्र पत्र ३८९) विभिन्न नाम मिलते हैं। चेटक का घराना विदेह से भी प्रसिद्ध था।

राजा चेटक के ही राज्यकाल में श्रेणिक का लड़का अजातशत्रु (कूणिक) अनजाने ही वैशाली से द्वेष भाव कर बैठा। श्रेणिक ने अपने जीवन काल में चेल्लण के पुत्र और कूणिक

(१) आचारांगसूत्र पत्र ३८९ में पाठ है:—'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठ गुत्ता तीसे णं तिन्नि ना०, तं०—तिसला इवा विदेहदिन्ना इवा पियकारिणी इवा।'

(२) त्रि० श० में हल्ल और वेहल्ल दो भाइयों का उल्लेख है।

के छोटे भाई 'वेहल्ल' को सेयणग हाथी और अट्ठारसवंक हार दिये थे जिसे कूणिक की स्त्री ने लेने की चाही। वेहल्ल ने इनकार किया और भय से नाना के यहाँ भाग आया। इस पर कूणिक ने युद्ध घोषणा कर दी और वैशाली पर आक्रमण कर दिया। अपने मंत्री वर्षकार के द्वारा फूट डलवा (महापरिनिब्बाणसुत. १. १.) उसने वैशाली पर कब्जा कर लिया। यह कथा 'निरयावलियाओ (पृ० २६—२८) और 'त्रिषष्टि० श० पुरुष चरित्र' (पर्व १०, सर्ग १२) में दी हुई है।

अतः जिस राजा चेटक की अध्यक्षता में वैशाली गणतंत्र समुज्ज्वल प्रगति-पंखों पर उड़ता रहा, जिसकी न्यायप्रियता और संगठनशक्ति की आधारशिला पर इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हुई उसीका नाश अपने दौहित्र तथा मगध के अधिपति कूणिक वाहिक द्वारा हो गया। वैशाली का गणतंत्र नष्ट-भ्रष्ट हो गया। पर एक हजार वर्ष तक वैशाली का स्थान भारत के प्रमुख नगरों में बना रहा। वैशाली फिर इतिहास के पन्नों में सन् ३०८ ई० में चमक उठी जब पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त ने लिच्छविवंश की राजकुमारी कुमार देवी का पाणिग्रहण किया। इसका राजनैतिक प्रभाव गुप्तराज के सिक्कों पर अंकित कुमारदेवी और चन्द्रगुप्त के नामों से स्पष्ट है। सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त इसी कुमारदेवी का लाड़ला लाल था।

इस तरह ३२० ई० से ५३५ ई० तक गुप्त साम्राज्य के मध्य वैशाली का सुनहला इतिहास डोलता रहा। वैशाली एक परम ऐश्वर्यशाली वाणिज्य-व्यापार का केन्द्र थी।

मगर शीघ्र ही लक्ष्मी के इस आवासपर कुठाराघात हुआ। पाँचवी सदी के उत्तरार्द्ध में दुष्ट, नीच और बर्बर हूणों ने भारतवर्ष पर धावा बोला, अतः जब ६२५ ई० में चीनी परिव्राजक ह्वेनसंग वैशाली आया तब उसे नष्ट कीर्ति के शुष्क अवशिष्ट चिन्ह ही आकने को मिले। प्रियदर्शी राजा ने भी वैशाली-भ्रमण कर अपने को कृतार्थ किया। चीन के यात्री फाहियान, वाङ्-ह्वेन-सी, इत्सिंग आदि यहाँ आये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, मनुस्मृति के पन्नों में आज भी वैशाली जीवित है।

वैशाली : संस्कृतियों की जननी—

वैशाली सांस्कृतिक तपोभूमि है। संस्कृति के अक्षय भंडार में आज भी वैशाली की स्निग्ध दीपिका जल रही है, जल रही है..............।

जिस समय मगध पर बिन्दुसार और अजातशत्रु अपना विजय-शंख फूंक रहे थे, उसी समय वर्द्धमान महावीर और भगवान बुद्ध दोनों महात्माओं ने शांति-प्रेम और दया का पांचजन्य फूंका एवं घोर तपस्या कर, संयम-नियम की कई अवस्थाएँ पारकर तपस्या सिद्ध होने पर जनता में विश्वबन्धुत्व तथा उच्च आचरण, सद्भाव, अहिंसादि का भाव आन्दोलित कर जीवन की चरम परिणति की। वैशाली इन दोनों से चिपकी हुई है, बिलकुल चिपकी हुई है।

भगवान् महावीर का जन्म स्थान वैशाली ही है। चैत शुदि तेरह की मध्यरात्रि में रानी त्रिशला की पुण्य कुक्षि से श्रमण भगवान महावीर क्षत्रिय कुण्डपुर में अवतरित हुए (५९९ ई० पूर्व)। क्षत्रिय

कुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग था। अतः भगवान महावीर 'वैशालीय' और 'वैशालिक' नामों से विभूषित हैं (भगवती सूत्र पृ० २३१) । सिद्धार्थ (महावीर के पिता) कुण्डपुर के गणतान्त्रिक नायक थे और इनका विवाह वैशाली के लिच्छवि नायक 'राजा' चेटक की पुत्री त्रिशला से हुआ था । अतः चेटक महावीर के नाना और श्रेणिक इनके मौसा थे । महावीर का सम्बन्ध उस समय के सभी बड़े राजघरानों से था ।

वर्द्धमान महावीर अलौकिक ज्ञानी थे । बाल्यकाल से ही विवेक, शिष्टता, गांभीर्य आदि अनेक गुणों से समलंकृत थे ।

तीस वर्ष की उम्र में वर्द्धमान ने घर छोड़ा और ज्ञान की खोज में निकल पड़े । इस निष्क्रमण के बाद वे बयालीस वर्षों तक जीवित रहे । प्रथम भाग गृहस्थ-जीवन और द्वितीय भाग श्रमण-जीवन माना जाता है । श्रमण जीवन के बयालीस वर्षों में उनके बारह वर्षावास वैशाली-वाणिज्य ग्राम में हुए । यों भी महावीर कई बार वैशाली आये थे और उनके उपदेश यहाँ हुए थे । ऋजुपालिका नदी के तट पर इनको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

महावीर अदम्य सांस्कृतिक पुरुष तथा अधिष्ठाता थे । उन्होंने अपने हृदय के हाहाकार में अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह को बाधकर युग-जीवन को आन्दोलित कर दिया । महावीर के ज्ञानमय उपदेशों में वैशाली की कण-कण की आत्मा का उद्‌घोष था । धरती के करुण उच्छ्‌वास उमड़कर उनके उपदेशों में फूटते थे । जीवन-मरण के परे मानवता का मुक्ति मार्ग उनके चरण-चिन्हों में झलका जो महान है.......ऊर्जस्वल है ।

महावीर ने कहा—प्राणी अपना प्रभु स्वयं है, जीवन स्वतन्त्र है, उसमें अनन्त सामर्थ्य भरी हुई है.........मौर यह वैशाली बोली थी, वैशाली का अपना लाल बोला था । जीवन की अनेकरूपताओं पर तैरते आज भी वैशाली-पुत्र के अहिंसा और सत्य के मौलिक सिद्धान्त प्राणों से टकराते हैं, एषणाओं की लाश पर थूकते हैं ।

महावीर का तिरोधान ५२७ ई० पूर्व पावापुर में हुआ । इस प्रकार वैशाली महावीर जैसे उन्नायक को जन्म दे एवं बार-बार उनके चरण रज से पावन हो धन्य हुई ।

दूसरा धर्मदूत है महान बुद्ध जिसके पदार्पण और पथ-चिन्हो से वैशाली की संस्कृति-समन्वित भूमि फिर एक बार पवित्र और महिमान्वित हो उठी थी ।

बुद्धदेव के हृदय में इस पावन, पुनीत प्रभापूर्ण धरती के लिए विशेष अनुराग था । संसार त्याग कर जब वे सत्य की खोज में निकले तो पहले वैशाली में ही पदार्पण किया । क्योंकि इस नगरी को उस समय अध्यात्मिक आचार्यों के पीठ-स्थान होने का गौरव प्राप्त था । बुद्धपद उपलब्ध होने के बाद तो वे अनेको बार आते रहे । यह गौरव की बात है, महात्मा बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना यहीं पर की थी । गोमती सर्व प्रथम भिक्षुणी बनी । बुद्ध ने वैशाली को अन्तिम प्रणाम किया :—

इदं आनन्द तथागतस्य अपश्चिमं वैशाली-दर्शनम् ।
न भूयो आनन्द तथागतो वैशालीम् आगमिष्यति ।।

निर्वाण के बाद बुद्ध और आनन्द की अस्थियाँ वैशाली में समाधिस्थ की गयी । बुद्ध-निर्वाण के बाद वैशाली मे द्वितीय बौद्ध संघ की सगति हुई । वैशाली ने बौद्ध-संस्कृति की जाग्रत चेतना को बल प्रदान किया ।

अतः इसमें सन्देह नही कि वैशाली ने अपने पूर्व ुग में उत्तमोत्तम कर्मों की महिमा से इतिहास के पन्नो को उज्ज्वल कर रखा है । इसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर्याप्त सबल और प्रभावोत्पादक है । जरूरत है प्राचोन वैशालो से उत्प्रेरित हो नवीन प्रजातन्त्रीय भारत के लिए यहाँ एक आदर्श भूखड की जो राष्ट्र की सोयी चेतना को उद्भूत कर सके ।

वैशाली के अवशेष—

वैशाली का आधुनिक रूप बसाढ है । बसाढ़ ।स्थित भग्नावशेषो में सबसे बृहत् है, राजा विशाल के राजप्रसाद का खडहर । भगवान् महावीर की सुमौन, कान्तिशील एक श्यामवर्ण की प्रतिमा आधुनिक खुदाई के फलस्वरूप प्राप्त हुई है । इस मूर्ति मे स्वर्गीय छटा की लचक है, कौंधती ज्योति-रेखाओं का सम्मिलन है । अशोक स्तम्भ भी एक मिला है जो कोलुआ नामक स्थान में है । स्तम्भ से प्राय. पचास कांटि की दूरी पर एक जलाशय है जिसे प्राचीन 'मरकटहृद' बतलाया जाता है । जब फाहियान भारत आया था तो उसने कुटागारशाला तथा महावन ,वहार आदि देखा था । ह्वेनसाग ने अपने भ्रमण मे वैशालो के अनेकानेक स्तूपों का उल ेख किया है । उसने मरकटहृद तथा अम्बपाली द्वारा निर्मित विहार और अशोक स्तम्भ भी देखा था । अत. सभी अवशेष हमारी अमूल्य सास्कृनिक निधियाँ हैं जिनके गौरव की किताब खुली पडी है बिखरी ईंटो में ।

फिर एक बार इन खंडहरों की बरसाती आँखो में आँख डालकर इस लेख का लेखक रो लेता है । वैशाली की जो दीप शिखा है—नयना के पानी से बल उठे । यह कहते कल्पना एक टूटी आह पर झूलने लगती है और लाल कहानी का अचल सज जाता है, आँसू के फूलों से, कामना की बल्लरी मे ।



भगवान् महावीर की जन्म भूमि-वैशाली

प्रो० श्री योगेन्द्र मिश्र एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रस्तावना—

आधुनिक युग के जैनों को अपने चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (वर्द्धमान) के जन्म स्थान का ठीक-ठीक पता नहीं है, यह खेद का विषय है। इनमें से कुछ तो मुंगेर जिले के अन्तर्गत लक्खीसराय जंकशन के निकट क्षत्रिय कुंड और लिच्छुआड़ को भगवान महावीर का जन्मस्थान मानते हैं। दूसरे, विशेषतः दिगम्बर, नालन्दा से दो मील की दूरी पर कुंडलपुर नामक ग्राम को महान जैन तीर्थंकर का जन्म स्थान मानते हैं। निश्चय ही दोनों विचार गलत है तथा शास्त्रों के गलत अध्ययन एवं भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित हैं। सच तो यह है कि महावीर का जन्म वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। (मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन में स्थित बसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है।) कुण्डग्राम को आजकल वासुकुण्ड कहते हैं। लिच्छुआड़ क्षत्रिय कुण्ड या कुण्डपुर को महावीर का जन्म स्थान मानकर वासुकुण्ड और वैशाली को ऐसा मानने के लिए हमारे निम्नलिखित तर्क है—

१—महावीर को विदेह, विदेहदत्त, विदेह सुकुमार और वैशालिक भी कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वे अंग (मुंगेर जिले के लक्खीसराय जंकशन के निकट) या मगध (नालंदा के पास) में नहीं, बल्कि विदेह या वैशाली में पैदा हुए थे। सभी विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि प्राचीन लिच्छवियों की राजधानी वैशाली को ही आजकल बसाढ़ कहते हैं।

२—विदेह गंगा के उत्तर में है, जबकि आधुनिक क्षत्रिय कुंड गंगा के दक्षिण में है। अतः महावीर का तथाकथित जन्मस्थान विदेह में अवस्थित नहीं होने से अमान्य है।

३—प्राचीन जैन-ग्रंथों में क्षत्रिय कुंड को वैशाली के निकट बताया गया है। आधुनिक तथाकथित क्षत्रिय कुंड के पास वैशाली नामक कोई स्थान नहीं है।

४—वर्तमान क्षत्रिय कुंड के पास एक नाला है, जो गण्डक नहीं हो सकता। आज भी गण्डक नदी वैशाली के पास बहती है।

५—प्राचीन जैन-धर्म ग्रंथों में क्षत्रिय कुंड की जहाँ चर्चा है, वहाँ पर्वतों का कोई वर्णन नहीं आता। वास्तव में कुंड ग्राम, जैसा कि, नाम से भी प्रकट होता है, एक गाँव था। बासुकुंड या वैशाली में अथवा उसके निकट कोई पहाड़ नहीं हैं, जबकि आजकल का तथाकथित क्षत्रिय कुंड पहाड़ पर है। अतः वैशाली के पास का बासुकुंड ही महावीर का वास्तविक जन्मस्थान मालूम पड़ता है; लिच्छुआड़ या क्षत्रियकुण्ड या कुंडलपुर नहीं।

६—वैशाली और इस इलाके की जनता बासुकुण्ड को महावीर का जन्मस्थान मानती है। इस जन-श्रुति से भी हमारे विचारों की पुष्टि होती है।

७—सुप्रसिद्ध युरोपीय और भारतीय विद्वान् भी वैशाली को ही महावीर का जन्मस्थान मानते हैं। इसी वैशाली अथवा बसाढ़ को लिच्छवियों की प्राचीन राजधानी मानते हैं। इसी कुल में महावीर उत्पन्न हुए थे।

नीचे हम कुछ विद्वानों के मत उद्धृत करते हैं—

१—'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' की जिल्द २२ (जैन सू प्रथम भाग) और ४५ (जैन सूत्र द्वितीय भाग) जैनों के धर्म ग्रंथ हैं। जैन मत और जैन साहित्य के एक सर्वश्रेष्ठ अधिकारी विद्वान् हरमन जैकोबी ने अंग्रेजी में इन ग्रंथों का अनुवाद किया है। जिल्द २२, पृष्ठ १०–१३ (भूमिका) में उसने महावीर स्वामी के जन्मस्थान और पितृ कुल की विवेचना की है। वह लिखता है:—

"दोनों ही दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन कहते हैं कि महावीर कुंडलपुर या कुंडग्राम के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। आचाराग सूत्र में कुंडग्राम को संनिवेश कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाकार यात्रियों के समूह या जलूस के विश्राम-स्थल लगाता है। बौद्ध और जैन ग्रंथों में स्थान स्थान पर जो इंगित किया गया है, उसकी छानबीन करने से पर्याप्त निश्चय के साथ हम बतला सकते हैं कि महावीर का जन्मस्थान कहाँ था, क्योंकि बौद्धों के ग्रंथ महाभाग में हम लोग पढ़ते हैं कि कोटि ग्राम में जब बुद्ध भगवान विश्राम कर रहे थे तब अम्बपाली नर्तकी और पड़ोस की राजधानी वैशाली के लिच्छवियों ने उनके दर्शन किये थे। कोटि ग्राम से वे वहाँ गये जहाँ ज्ञातिक रहते थे। वहाँ पर वे ज्ञातिक शाला में ठहरे। वहाँ से वे वैशाली गये, जहाँ उन्होंने (लिच्छवियों के) प्रधान सेनापति को—जो निर्ग्रंथों (जैन साधुओं) का गृहस्थ शिष्य था—बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। अब यह बहुत संभव है कि बौद्धों का कोटिग्गाम और जैनों का कुंडग्राम एक ही हो। नामों की समता के अलावा ज्ञातियों—जो स्पष्ट तथा ज्ञातव्य क्षत्रिय ही हैं, जिस कुल में महावीर उत्पन्न हुए थे—तथा सीह नामक जैन की चर्चा भी उसी निष्कर्ष पर ले जाती है। अतः कुण्ड ग्राम में संभवतः वैशाली के निकट विदेह की राजधानी थी। यह निष्कर्ष वैशाली नाम से निकाला गया है, अर्थात् सूत्र कृतांग १३ में महावीर को वैशालिक नाम दिया गया है। वैशालिक का अर्थ अन्ततोगत्वा वैशाली का रहने वाला है, और महावीर का यह नाम उपयुक्त ही था अब कुंड ग्राम वैशाली के निकटस्थ था।

सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला चेटक की लड़की थी, जो वैशाली का राजा था। उन्हें वैदेही या विदेहदत्ता कहा जाता है, क्योंकि वे विदेह के शासक वंश में पैदा हुई थी। इस तरह महावीर का अपने समय में वैशाली के महत्वपूर्ण गणतन्त्री सरदारों से रक्त का सम्बन्ध था। पुनश्च भगवान महावीर के निर्वाण पर १८ गण राज्यों ने (काशी,कोशल, लिच्छवी और मल्लिका) उस घटना की स्मृति में उत्सव किया। (वैशाली से महावीर के सम्बन्ध के कारण ही) वैशाली जैनधर्म का जबर्दस्त गढ़ था ; । जबकि बौद्धों के लिए मतामतान्तरों और विरोधों का भिचालय माना जाता था।"

वही लेखक महावीर के विषय में इन्सायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द ७, पृष्ठ ४६६ (जैनधर्म पर विशेष ग्रंथ) में लिखा है—

वे ज्ञात नामक कुल के क्षत्रिय थे, तथा वैशाली (पटना से करीब २७ मील उत्तर) आधुनिक बसाढ़ के निकटस्थ कुंडग्राम के निवासी थे। कुंडगांव और बनिया गांव दोनों वैशाली के निकटस्थ थे और हॉर्नले ने उन्हें आधुनिक बनिया और वासुकुंड कहा है।

२—डा० ए० एफ० रुडोल्फ हॉर्नले ने २ फरवरी १८६८ की बंगाल की एशियाटिक सोसायटी में दिये गये अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण के दौरान में जैन परम्परा तथा उसके प्रारम्भिक स्रोत का हवाला देते हुए जो कुछ कहा था, वह उसके उवसागदासव के अनुवाद (बायबिलियोथिक इण्डिका सिरीज) में मिलेगा। उन्होंने स्पष्ट (पृष्ठ ३–६) दिखलाया है कि आधुनिक बसाढ़ महावीर का जन्म स्थान है। वे कहते हैं—

"बनिया गाँव या वाणिज्य ग्राम लिच्छवी देश की राजधानी और सुप्रसिद्ध नगर वेसाली (या वैशाली) का दूसरा नाम है। कल्पसूत्र १२२ में इसकी अलग-अलग चर्चा है, पर वैशाली के निकट संबंध से। वास्तविकता यह है कि आम तौर से वेसाली कहे जाने वाले नगर का क्षेत्र बृहत् था, जो अपने गोलार्द्ध में वेसाली (अब बसाढ़) खास के अलावा और कई नगरों से सम्मिलित था। ये स्थान बनिया-गाँव कुण्डगाँव अथवा कुण्डपुर थे। ये गाँव आज भी बनिया और वासुकुंड नाम से विद्यमान हैं। अतः सम्मिलित नगर परिस्थिति के अनुसार अपने किसी भाग के (अनुसार) नाम से पुकारा जा सकता है। कुण्डगाँव के नाम से वेसाली नगर को ही महावीर का जन्मस्थान कहा जाता है, जो अभी भी कभी-कभी विशालनीय, विशालीय यानी विशाली के निवासी कहे जाते हैं।..........महावीर के पिता सिद्धार्थ. वेसाली या कुण्डगाँव के निकट कोल्लाग के रहने वाले थे।"

३—श्रीमती सिक्लेयर स्टेवेन्सन एम० ए०, एस० सी० डी० अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका 'दि हार्ट आफ जैनिज्म' में (पृष्ठ २१–२२ पर) लिखती हैं :—

"करीब २००० वर्ष पूर्व बसाढ़ में वही जातीय वर्गीकरण था जो आज है। और दरअसल पुजारी (ब्राह्मण), लड़ाकू (क्षत्रिय), व्यापारी (वैश्य–बनियाँ) ऐसे,अलग-अलग रहते थे कि उनके मुहल्लों को कभी-कभी ऐसा नाम दिया जाता था मानों स्पष्टतः वे गाँव जैसे वैशाली कुंडग्राम और वाणिज्यग्राम।

बहुत ही आश्चर्य की बात है कि बनियों के मुहल्लों में नहीं बल्कि क्षत्रियों के मुहल्लों में एक ऐसा पुरुष पैदा हुआ, जो आगे चलकर बनियों का महान् नेता हुआ, तथा जिसने उसी व्यापारी समाज में एक ऐसे धर्म की स्थापना की जिस धर्म ने अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी भोग-विलास, धन और सुख को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य मानने का जोरदार विरोध किया। यह भी एक विरोधाभास है कि एक युद्धप्रिय जाति ने अहिंसा के महान् प्रचारक को जन्म दिया। आगे चलकर वे अपने वीरतापूर्ण कार्यों के कारण महावीर कहलाये, पर उनका सबसे पहला नाम जो उनके जन्मस्थान के नाम पर पड़ा था वह था वैशालीय यानी वैशाली का मनुष्य (वैशाली नगर का प्रमुख मुहल्ला)।"

उस पुस्तक के पृष्ठ २८ पर वही लेखिका लिखती है:—

"यह जैकोबी हार्नले और बूलर जैसे यूरोपीय विद्वानों के श्रम को श्रेय है कि महावीर का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित हो गया है। यह आश्चर्य मालूम पड़ता है कि जैन दूसरे धर्म और भाषा के विद्वानों के परिश्रम पर आज भी अपने सर्वश्रेष्ठ वीर पुंगव की जानकारी के लिए निर्भर करें।"

४—सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० विन्सेन्ट ए० स्मिथ का भी विश्वास है कि वैशाली ही महावीर स्वामी की जन्म भूमि थी। जे० आर० ए० एस०, १९०२ (पृष्ठ २८२—३, २८६—७ में) वे लिखते हैं:—

"जैन परम्परानुसार वैशाली के तीन स्पष्ट क्षेत्र थे, वैशाली खास, कुंडग्राम और वाणिज्य ग्राम। इसके अलावा कोल्लाग निकटस्थ क्षेत्र था। वैशाली खास विशालगढ़ माना जाता है जिसके पर्याप्त प्रमाण हैं और यह दूसरे विशाल खंडहरों का अनिश्चित बनियागांव (निकटस्थ रामदास चक को लेकर) लगभग निश्चित रूप से बनिया गांव का प्रतिनिधित्व करता है। इस गांव की भूमि पर अनेक टीले हैं और लगभग दस साल पहले जैन तीर्थंकरों की दो मूर्त्तियां मिली थी, जिनमें एक मूर्त्ति बैठी और दूसरी खड़ी हुई थी। ये मूर्त्तियां गाँव से करीब ५०० गज पश्चिम आठ फीट की गहराई में निकली थी। जैनों के महान् तीर्थंकर महावीर का निवास स्थान बनियां गांव था। और जैन मूर्त्तियों के आविष्कारक इस पहचान का जो नाम से मालूम पड़ती है जोरदार समर्थन करते हैं।..............कोल्लाग सम्भवतः उस गांव को माना जाता है जो मर्कट हृद के निकट है और जिसे कोलुआ या कोल्हुआ कहा जाता है। इसके पूर्वी भाग में एक बड़ा टीला है।.......... कुंडगांव वैशाली का ब्राह्मण मुहल्ला वासुकुंड नामक वस्ती हो सकता है।"

वही लेखक सन् १९२१ ईस्वी में इन्साईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द १२ पृष्ठ ५६७—६८ (वैशाली) में लिखता है:—

बहुत दिन पूर्व जैन और बौद्ध दोनों के लिए प्राचीन नगरी वैशाली समान रूप से पवित्र थी। अब मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन का बसाढ़ नामक स्थान निःसन्देह वैशाली

का प्रतिनिधित्व करता है । बसाढ़ गांव से सम्मिलित अनेक गांवों के भग्नावशेष से वैशाली की पहचान प्रमाणित हो जाती है ।

(१) साधारण परिवर्तन के साथ प्राचीन नाम की सजीवता द्वारा ।

(२) पटना तथा अन्य दूसरे स्थानों से भौगालिक सम्बन्धों के द्वारा ।

(३) सातवी शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग के भ्रमण वृत्तांत से इस नगर के ब्यौरेवार वर्णन की तुलना के द्वारा और—

(४) उन पत्रो के अनुसन्धान और अन्वेषण द्वारा जिन पर वैशाली की मुहुर पड़ी थी ।

हिन्दुस्तान में थोड़े ही ऐसे स्थान हैं जिन्हें जैन और बौद्ध दोनों मतावलम्बियों द्वारा प्रतिष्ठा पाने का अधिकार हो । वर्द्धमान (महावीर) जिन्हें आमतौर से जैन धर्म का सस्थापक माना जाता है, वैशाली के उच्च खानदान में हुए थे । वहीं वे पैदा हुए और उनका प्रारम्भिक जीवन व्यतीत हुआ । सन्यासी हो जाने के बाद कहा जाता है कि वे अपनी जन्मभूमि या उसके अति निकट स्थान में १२ वर्षाॠतु पर्यंत रहे । जैन-धर्म-ग्रथ प्राय: वैशाली के विषय में जिक्र करते हैं । पुरातत्ववेत्ताओं ने उस पर जैनों के अवशेष की खोज ढूंढ नही की हैं । और उनकी रिपोर्ट में कुछ भी ऐसा नही है जिससे यह समझा जाय कि बसाढ़ क्षेत्र जैन-धर्म का प्रचार स्थान था, जैसा कि आधुनिक ससार को ज्ञात हैं ।

(५) डा० जाल चार्पेण्टियर पी० एच० डी० उपसाला विश्व विद्यालय, कैम्ब्रिज; हिस्ट्री आफ इंडिया जिल्द १ पृष्ठ १५७ पर लिखते है.—

"वैशाली के ठीक बाहर कुंडग्राम नामक नगर था। सभवत. वासुकुंड के आधुनिक ग्राम के रूप में यह जीवित है और यहीं पर सिद्धार्थ नामक एक सम्पन्न सरदार रहते थे जो ज्ञातक नामक एक क्षत्रिय कुल के मुखिया थे । यही सिद्धार्थ वर्द्धमान (महावीर) के पिता थे ।"

(६) एक बौद्ध अनुश्रुति, जिसे रांकहिल (लाइफ आफ बुद्ध पृ० ६२) ने उद्धृत किया है, वैशाली नगर में तीन भागो का होना बतलाती है—'वैशाली के तीन भाग थे । पहले भाग में ७००० सोने के गुम्बद वाले मकान, मध्य में १४००० चादी के गुम्बद दार मकान और अन्तिम भाग में २१००० ताम्बे के गुम्बद वाले मकान थे । इन मकानों में उच्च मध्यम और निम्नवर्ग के लोग अपनी अपनी स्थिति के अनुसार रहते थे ।" बहुत सभव है कि ये वैशाली खास कुडपुर तथा वाणिज्य ग्राम हो, जो नगर दक्षिण पूर्व-उत्तर-पूर्व एव पश्चिम भागों में अवस्थित रहे हो । (डा० हार्नले द्वारा उवासगदसाओं का अनुवाद पृष्ठ ४६)

(७) कनिघम ने अपने आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट्स जिल्द १ और १६ तथा हिन्दुस्तान के प्राचीन भूगोल में वैशाली को मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ से मिलान किया है ।

अपनी आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट आफ इण्डिया (हिन्दुस्तान पर पुरातत्व सम्बन्धी अनुसंधान) के जिल्द १६ में वह कूटागारशाला पर कुछ प्रकाश डालता है जिसका महावीर के जन्म स्थान कुंड-

गांव से कुछ सम्बन्ध हो सकता है । दिव्य अवदान से पता चलता है कि मर्कट ह्रद् के तटपर कूटागारशाला थी, जहाँ बुद्ध ने आनन्द से अपनी निर्वाण घोषणा के उपरान्त अपने शिष्यों को उपदेश दिया था । वैशाली से थोड़ा उत्तर पश्चिम हटकर कनिंघम को वह तालाब मिला जिसे आजकल रामकुंड कहते हैं । चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भी उस तालाब और निकटवर्ती पहाड़ों का वर्णन किया है । कनिंघम ने तालाब से पश्चिम और दक्षिण में ऐसे स्थान देखे जो कूड़े-कर्कट की तरह लगे, जिनसे ईंटें हटा ली गयी थी । यही पर एक मोटी दीवाल मिली जो पूर्व से पश्चिम की ओर खूब बढ़िया पक्की हुई १५½×"६½×"२" की ईंटों से निर्मित थी । इसी मोटाई को ध्यान में रखते हुए कनिंघम का विचार है कि यह दीवाल अवश्य किसी बडी इमारत का भग्नावशेष है और बहुत सम्भव है कि कूटागारशाला का अवशेष है जिसे मर्कट ह्रद के किनारे पर स्थित कहा जाता है । अगर कूटागार शाला को कुडगाव से कुछ भी सम्बन्ध है तो यह वैशाली के पडोस में वैशाली के एक उपनगर होने की पुष्टि करता है ।

(८) डा० टी० ब्लाश आर्कलौजिकल सर्वे आफ इण्डिया के १९०३—४ के वार्षिक विवरण (पृ० ८१—१२२) में बसाढ़ की खुदाई शीर्षक पृष्ठ ८२ पर लिखते हैं —

जैनों के अन्तिम तीर्थंकर जैन-धर्म-ग्रथों में "वैशालीय" 'वैशाली' के निवासी कहे जाते हैं और यह भी कहा जाता है कि उनका जन्म-स्थान विदेह-कुडगांव में था । विदेह और तिरहुत दोनों का प्रयोग प्राचीन लेखकों द्वारा पर्यायवाची अर्थों में होता है । अत तिरहुत की सीमा से बाहर किसी स्थान की पहचान वैशाली के रूप में प्रथमत. बहुत असम्भव प्रतीत होती है, तथा उस स्थिति में तो और असम्भव लगता है जब तिरहुत में एक प्राचीन स्थान (बसाढ) है ही जो सारी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करता है ।

(९) डा०डी०बी० स्पूनर आर्कलौजिकल सर्वे आफ इण्डिया के १९१३—१४ के वार्षिक विवरण में (पृष्ठ ९८—१८५) लिखते हैं कि वैशाली को बसाढ़ साबित करने के लिए इस विचार की पुष्टि के निमित्त अपर्याप्त प्रमाण नही है । (पृष्ठ ९८)

(१०) एफ०इ० पार्जीटर अपनी पुस्तक प्राचीन हिन्दुस्तान की ऐतिहासिक परम्परा में पूर्व ऐतिहासिक काल के वैशाली के वशगत इतिहास का विवरण देते हुए लिखा है कि यही वैशाली आगे चलकर लिच्छवी गणतंत्र की शानदार राजधानी हुई ।—एफ० इ० पार्जीटर जे० ए० एस० बी० जिल्द ६६ भाग प्रथम (१८९७) पृष्ठ ८९ ।

(११) श्री एन० एस० ओ० माले आई० सी० एस० जिला गजेटियर मुजफ्फरपुर ने बसाढ़ को प्राचीन लिच्छवी राजधानी वैशाली का अवशेष मान लिया है ।

(१२) दि इम्पेरियल गजेटियर आफ इण्डिया (नया संस्करण आक्सफोर्ड सन् १९०८) ने भी वैशाली को आधुनिक बसाढ़ मान लिया है (जिल्द ७ पृष्ठ ९४, जिल्द २४, पृष्ठ २९४—९५)

(१३) इनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका चौदहवें संस्करण जिल्द १२ पृष्ठ ४६८ (लन्दन १६२६) में लेखक कहता है—

वर्द्धमान (महावीर) उनके (यानी जैनों के) अन्तिम नेता को बौद्धों के पिटक का और बुद्ध का समकालीन निगन्थ नात-पुत्त (ज्ञात-पुत्र निर्ग्रन्थ) मानने के लिए जबर्दस्त प्रमाण है। कहा जाता है कि महावीर (शेष तेईस तीर्थंकरो की तरह) पटने से २७ मील उत्तर वैशाली के क्षत्रिय हैं।

(१४) इनसायक्लोपिडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स के लेखक (यानी जैकोबी और बी० ए० स्मिथ जिनका इस लेख में वर्णन आ चुका है) का भी विचार है कि महावीर वैशाली के थे।

(१५) सर एस० राधाकृष्णन अपने भारतीय दर्शन की जिल्द १ में लिखते हैं कि वर्द्धमान वैशाली में ईसा से ५६६ वर्ष पूर्व हुए थे और बौद्धों के पाली साहित्य का नात-पुत्त वर्द्धमान हैं।

(१६) डाक्टर सुरेंनाथ दास गुप्त अपने भारतीय दर्शन इतिहास जिल्द १ पृष्ठ २७३ (कैम्ब्रिज १६२२) में लिखते हैं—

"महावीर जैन, जैनों के अन्तिम तीर्थंकर पटने से २७ मील उत्तर वैशाली (आधुनिक बसाढ) के ज्ञात-कुल के क्षत्रियों में पैदा हुए थे। वे सिद्धार्थ और त्रिशला के द्वितीय पुत्र थे।"

(१७) डाक्टर बी० सी० लाल का भी विचार है कि महावीर वैशाली के थे। (प्राचीन भारत में जानिया—जैनधर्म में महावीर और वैशाली आदि उनके अनेक लेखों को पढ़िये)

(१८) श्री राहुल साकृत्यायन अपनी पुस्तक दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ४६२ (इलाहाबाद, १६४४) में लिखते हैं कि वर्द्धमान ज्ञातृ पुत्र (नात-पुत्त) जैनधर्म के प्रचारक उन उपदेशकों में से एक थे जो बुद्ध के समकालीन थे। वे लिच्छवियों की एक शाखा ज्ञात्री घराने में पटना से २७ मील उत्तर विहार के (मुजफ्फरपुर जिले में) वज्जिगणतन्त्र की प्राचीन राजधानी में पैदा हुए थे। आगे चलकर वे कहते हैं कि वर्द्धमान के पिता गणतत्र समिति (गण समिति) के सदस्य थे।

(१६) 'वैशाली' शीर्षक एक पुस्तक की भूमिका में डाक्टर बी०एस० अग्रवाल (पुस्तक श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखी गयी है) कहते हैं कि महावीर कुंडपुर के क्षत्रिय इलाके में पैदा हुए थे, जिसे वैशाली के निकट के बासुकुंड के (मुजफ्फरपुर जिले) रूप में माना जा सकता है।

(२०) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो० बलदेव उपाध्याय का भी विश्वास है कि महावीर क्षत्रिय कुंड ग्राम मुजफ्फरपुर में पैदा हुए थे। वे कहते हैं कि लिच्छुआड़ (किउल स्टेशन के निकट) महावीर का जन्म-स्थान मानने की जैनों में जो आम धारणा है वह भ्रामक विचारों पर आधारित है और फौरन त्याज्य हैं।

(२१) डा० जी० पी० मललसेकर अपने पाली व्यक्ति के नामों के शब्द कोष जिल्द २ पृष्ठ १४५ (लन्दन १९३८ में) बसाढ़ (मुजफ्फरपुर जिला) को प्राचीन वैशाली स्वीकार करते हैं और कहते हैं (जिल्द १ पृष्ठ ६४) कि महावीर वैशाली के 'नात' (नाथ) कुल के थे।

अब हम लोग कुछ जैन लेखकों के विचारों पर भी विवेचना करें।

(२२) श्री चिमन लाल जे० शाह, एम० ए० अपनी पुस्तक जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया ८०० वर्ष ईसा से पूर्व ५२६ वर्ष ईसा के बाद (पृष्ठ २३—२४) में कहते हैं—

"यह विश्वास किया जाता है कि पटना से २७ मील उत्तर वैशाली के निकट त्रिशला के गर्भ से महावीर का जन्म हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ ऐसा मालूम पड़ता है कि कुंडग्राम के सरदार थे। और उनकी माँ राजकुमारी त्रिशला वैशाली के सरदार की पुत्री थी। वैशाली विदेह की राजधानी थी। वे मगध के राजा बिम्बसार से सम्बन्धित थीं।"

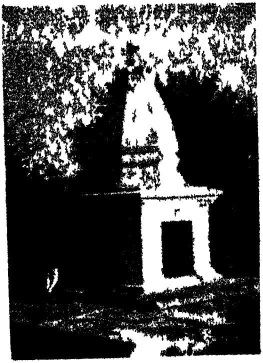
(२३) एक प्रसिद्ध जैन विद्वान पण्डित कल्याण विजय जी ने श्रमण भगवान् महावीर की जीवनी लिखी है—

इसमें वे लिखते हैं कि महावीर विदेह में वैशाली के निकट कुंड ग्राम में पैदा हुए थे।

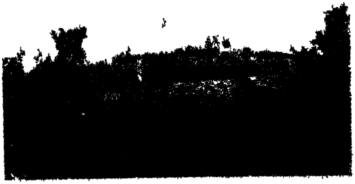
(२४) श्री विजयेन्द्र सूरि दूसरे जैन विद्वान ने हिन्दी में 'वैशाली' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें वैशाली (मुजफ्फरपुर) के निकट कुंडग्राम को २४ वें तीर्थंकर का वास्तविक जन्म-स्थान मानने के लिए उन्होंने जोरदार तर्क पेश किया है।

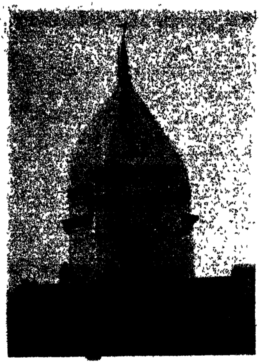
अब चूँकि वैशाली (या इसके पास कुंडग्राम) महावीर का जन्म स्थान प्रमाणित हो जाता है, अतः जैन समाज का अपने तीर्थंकर के जन्म-स्थान के प्रति कुछ कर्तव्य है। वास्तव में वहां कुछ मूर्तियाँ और दर्शकों के लिए आतिथ्यशाला की व्यवस्था करनी चाहिए। इस स्थान को प्रकाश में लाने के लिए इस दिशा में जैन सम्प्रदाय को अपना कर्तव्य नहीं भूलना चाहिए।

राजगृह के पर्वतों पर स्थित दिगम्बर जैन-मन्दिर









रत्नगिरि पर मौर्यों द्वारा निर्मित दिगम्बर जैन-मंदिर



राजगृह में श्रेणिक द्वारा निर्मित गुफा

मगध सम्राट् श्रेणिक

श्री एन० सी० शास्त्री

वंश परिचय—

ई० पू० छठवीं शती में मगध का शासन शिशुनागवंशीय क्षत्रिय राजाओं के बाहुओं की छाया में चल रहा था। इस वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया जाता है कि महाभारत युद्ध में जरासन्ध की मृत्यु के उपरान्त उनके अन्तिम वंशज रिपुञ्जय को मगध का शासनभार प्राप्त हुआ। इसे इसके मंत्री शुकनदेव ने वि० सं० ६७७ पूर्व मार डाला और अपने पुत्र प्रद्योतन को मगध का राजा बनाया। इस वंश में वि० सं० ६७७ पूर्व—५८५ पूर्व तक पालम, विशाखाभूप, जनक और नन्दिवर्द्धन ने राज्य किया। पश्चात् इस वंश का पाँचवाँ राजा शिशुनाग हुआ। इसके अन्दर पराक्रम, प्रताप, शौर्यवीर्य और साहस में सामूहिक पुरुषत्व एवं प्रभुत्व की साधना थी और इसीके नाम पर इस वंश का नाम शिशुनाग वंश ख्यातिसिद्धि हो गया। ई० पू० ६४२–४८० ई० पूर्व तक शिशुनाग, कामवर्ण, कर्मक्षेपण, उपश्रेणिक, श्रेणिक या बिम्बसार, कूणिक या अजातशत्रु, दुर्वक, उदयाश्व, नन्दिवर्द्धन और महानमि ये दस राजा हुए।[१] जैन ग्रंथों में इस वंश का परिचय उपश्रेणिक से मिलता है।

उपश्रेणिक के पुत्र का नाम श्रेणिक या बिम्बसार था। उपश्रेणिक मगध के छोटे से राजा थे। उनकी राजधानी राजगृह नगरी थी। मगध के समीपवर्ती चन्द्रपुर के राजा सोमशर्मा का उपश्रेणिक से युद्ध हुआ। उपश्रेणिक ने सोमशर्मा को पराजय की बंशी चुभाकर अपने शासन की वृद्धि की। इनके सम्बन्ध में श्रेणिक चरित्र में बताया गया है कि यह अत्यन्त ज्ञानवान, कल्पवृक्ष के समान दानी, सूर्य के समान प्रतापी, इन्द्र सदृश परम ऐश्वर्यशाली, कुबेर के समकक्ष धनी तथा समुद्र के समान गंभीर था। इसकी पट्टरानी का नाम इन्द्राणी था। महाराज श्रेणिक का जन्म इसी इन्द्राणी को पुण्य कुक्षि से हुआ था[२]।

सोम शर्मा पराजित सांसों में घुटकर अत्यन्त दुःखित हुआ, अतः उसने कूटनीति से उपश्रेणिक के वध करने का उपाय सोचा। फलतः उसने एक दिन एक घोड़ा इनके पास भेजा। उपश्रेणिक घोड़े को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उस पर चढ़कर उसकी चाल देखने लगे। घोड़े की पीठ

---

१. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० १२—१३

२. श्रेणिक चरित्र पृ० १८—३२

से कोड़ा सटते ही घोड़ा हवा के पंखों पर उड़ने लगा और इन्हें एक घने, भयंकर, जंगल में ले गया और वहाँ एक गड्ढे में गिरा दिया। इस जंगल का अधिपति यमदंड नाम का भिल्लराज था, इसकी तिलकावती नाम की सुन्दर कन्या थी। यह भिल्लराज क्रीड़ा करता हुआ इधर आया और उपश्रेणिक को गड्ढे में पड़ा हुआ देखकर वह इनके पास आया और इनका गड्ढे से उद्धार किया। तिलकावती के रूप-जाल में राजा उलझ गया और उसके पुत्र को राज्याधिकार देने का वचन दे उससे विवाह कर लिया। राजा उपश्रेणिक राजगृह वापस लौट आये और सुख की हिलकोरों में राज्य करने लगे। समय पाकर तिलकावती को चिलाती नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र भी भविष्णु, सुन्दर और सर्वप्रिय था[१]।

श्रेणिक का बचपन सुख के रंगीन पलकों में बसा था। इन्हें बचपन में माता-पिता दोनों का ही प्यार मिला था। श्रेणिक की बुद्धि की प्रशंसा प्रत्येक व्यक्ति करता था। यह असाधारण गुणों का आगार था। बालक श्रेणिक को विद्यारंभ कराया गया। उसने अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण थोड़े ही समय में समस्त विद्याओं, कलाओं और शस्त्र संचालन में प्रवीणता प्राप्त कर ली। श्रेणिक में दान देने की संस्कारगत प्रवृत्ति थी। उपश्रेणिक को श्रेणिक के अतिरिक्त पांच-सौ और पुत्र थे। महाराज उपश्रेणिक ने चिलात पुत्र को पहले ही राज्य देने का वचन दे दिया था। परन्तु इस समय इन्हें चिन्ता उत्पन्न हुई कि सब पुत्रों में सच्चा राज्याधिकारी कौन है अतः उन्होंने एक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा कि मेरे पुत्रों में मेरे राज्य का अधिकारी कौन होगा? ज्योतिषी ने कहा—महाराज, आप निम्न प्रकार से अपने पुत्रों की परीक्षा लीजिये, इन परीक्षाओं में जो उत्तीर्ण होगा वही इस विशाल मगध साम्राज्य का स्वामी होगा।

(१) आप एक शक्कर भरा हुआ घड़ा पुत्रों को दीजिये। जो इस घड़े को सेवक के सिर पर रखवाकर सिंह द्वार पर रखा आये और स्वयं सीधे क्रीड़ा करता हुआ पीछे की ओर से निकल आवे, वही मगध का स्वामी होगा।

(२) प्रत्येक पुत्र को एक नवीन घड़ा दीजिये, जो इसे ओस से भर दे, वहीं मगध का सम्राट् होगा।

(३) सभी पुत्रों को एक साथ भोजन कराइये। वे जब भोजन में लीन हों, एक खूंखार कुत्ते को छोड़ दीजिये, जो पुत्र निर्भय होकर भोजन करता रहे और कुत्ते को भी खिलाता रहे वही राजा होगा।

(४) जिस समय में नगर में आग लगे, इस समय जो पुत्र सिर पर छत्र, चमर धारण-कर निकले उसी को भावी मगध सम्राट् समझियेगा।

१. आराधना कथा कोष भाग ३ पृ० १३

(५) एक भोजन से भरा हुआ बर्तन तथा एक जल से भरा हुआ बर्तन दीजिये। जो इन बर्तनों का मुंह खोले बिना ही जल और भोजन ग्रहण करे वही मगध का भावी भाग्य-विधायक होगा।

राजा ने क्रमशः सभी पुत्रों की उपर्युक्त प्रकार से जांच की। कुमार श्रेणिक अपनी अदम्य प्रतिभा के संयोग से सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। उन्होंने ओस से घड़े को बड़ी बुद्धिमानी से भरा—एक मोटा वस्त्र लेकर जिस स्थान की घास ओस से भीगी थी, उस वस्त्र को उस घासपर रखकर कई बार इधर से उधर घुमाया; जिससे वस्त्र गीला हो गया। और पश्चात् वस्त्र निचोड़कर घड़े को ओस जल से भरा लिया। भोजन करते समय खूंखार कुत्ते के आने से उनके सभी साथी तो भाग गये, पर कुमार श्रेणिक ने अपनी थाली में से कुत्ते के सामने भी भोजन रख दिया; जिससे कुत्ता शांत होकर भोजन करता रहा और कुमार भी शांतिपूर्वक भोजन करता रहा। इसी प्रकार अन्य सभी परीक्षाओं में अपनी बुद्धिमानी से कुमार श्रेणिक ने विजय पायी। अब तो उपश्रेणिक को इस बात का निश्चय हो गया कि मगध का भावी सम्राट् राजकुमार श्रेणिक ही हैं। पर उसका मन शान्त नहीं था, चिन्ता और ग्लानि से शरीर गला जा रहा था। वह द्वन्द्व में पड़े थे कि मैंने राज्यभार देने का वचन चिलाती पुत्र को दिया है, पर इन परीक्षाओं में श्रेणिक विजयी हुआ है, किसे राज्यभार दूं। क्या मैं अपने वचन का पालन न कर सकूंगा? सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है, यही जीवन का सार है। 'प्राण जायें, पर वचन न जाई' का अवश्य पालन करूंगा। इस प्रकार विचार कर उपश्रेणिक ने कुमार श्रेणिक को राजगृह से निष्कासित कर देने का निश्चय किया। तदनुसार कुमार को राजगृह छोड़ कर चला जाना पड़ा।

कुमार श्रेणिक राजगृह से चलकर नन्दि ग्राम गये। यह नगर समृद्धिशाली था। यहां श्रेणिक अपनी विद्या-बुद्धि के प्रभाव से आजीविका उपार्जन करने लगा। इनकी विद्या-बुद्धि से सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री नन्दश्री अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसका इनके साथ विवाह भी हो गया। इसी नन्दश्री से अभय कुमार का जन्म हुआ था[१]। इस नगर में कुमार ने राजा वसुपाल के हाथी को निर्मद कर वश में किया, जिससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कुमार की प्रेरणा से उसने सात दिन के लिए अपने राज्य में पूर्ण अहिंसा की घोषणा कर दी[२]।

महाराज उपश्रेणिक ने चिलातीपुत्र को राज्य दे दिया। उपश्रेणिक के स्वर्गारोहण के पश्चात् मगध साम्राज्य विघटित होने लगा। चिलातीपुत्र के अत्याचारों से प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। मंत्रियों ने मिलकर सलाह की कि नये महाराज—चिलातीपुत्र से राज्य चलने का नहीं, अतः कुमार श्रेणिक का अन्वेषण करना चाहिए। देश-देशान्तरों में दूत भेजे गये और कुमार श्रेणिक को बुलाया गया। चिलातीपुत्र घबड़ाकर भागा और वैभार गिरि—राजगृह के पर्वत पर मुनियों को

१ उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लो० ४१८—४२५
२. श्रेणिक चरित पृ० ६२—६४

देखकर वहां पहुंचा और दत्तमुनि नामक आचार्य से जैन मुनि की दीक्षा ले ली और तपस्या करने लगा। और तपश्चरण के प्रभाव से वह मरकर सर्वार्थसिद्धि विमान में देव हुआ[१]।

मगध साम्राज्य की बागडोर प्रजा के आग्रह से श्रेणिक ने अपने हाथ में ली और योग्यता पूर्वक शासन किया। उन्होंने मगध साम्राज्य का खूब विस्तार किया। इनके गुणों से मुग्ध होकर केरल नरेश मृगाङ्क ने अपनी कन्या विलावती का विवाह भी इनके साथ कर दिया।

राजनीतिज्ञता एवं अन्य योग्यताएँ—

श्रेणिक राजनीतिज्ञ, योग्य और निपुण शासक थे। उनकी योग्यता के सम्बन्ध में बताया गया है—

गाम्भीर्यं जलधे. सौम्यं चन्द्रस्य स्थिरता गिरे।
मतिं सुरगरोर्लात्वा धात्रास्मिन्निर्मिता गुणा॥
शक्तित्रयं दधानो यो बभूव षड्गुणान्वित।
त्रिवर्गं साधयन्नित्यं वशीकृताक्षवर्गक.॥
चतस्रो राजविद्या हि प्रद्योततेऽस्य यन्मति.।
निसर्गजा प्रतापाढ्या काष्ठामेव त्विषापतेः॥

अर्थात्—श्रेणिक अत्यन्त निश्चल, गम्भीर और बुद्धिमान थे। ये तीनों प्रकार की शक्तियों संधि, विग्रह आदि ६ गुणों और चारों राजविद्याओं के ज्ञाता थे। इन्द्रियजयी होने के साथ धर्म और काम पुरुषार्थ का अविरोध रूप से सेवन करने वाले थे।

इस तरह राज्य में प्रेम और शांति के बल से अध्यात्म का ओज जगाते हुए राज्य की नौका को खेया। शासक और शासित के प्रेम को पिता-पुत्र की तरह जगाये रखा। राजनीति की सूक्ष्म अनुभूति से आसपास के राज्यों से मेल रख और युद्ध में पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया।

इनके हृदय में धर्म के प्रति तीव्र अभिरुचि थी। उन्होंने शास्त्रों और धार्मिक गाथाओं का अध्ययन कर जनता में धर्म की उत्कट भावना का संचार किया। धर्म निरपेक्ष राज्य में सबों को अपने अपने धर्म की स्वतंत्रता रहते हुए भी श्रेणिक द्वारा प्रचारित और प्रसारित धर्म की छाप जनता पर पूर्णतः पड़ी।

---

१. बा कोष भाग ३ पृ० ३६

२. श्रेणिक चरित पृ० ६९

३. गौतम चरित प्रथम अधिकार श्लो० ४५, ४६, ४९

युद्धकला में भी ये कम पटु न थे। ये सभी अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भली भांति जानते थे। इन्होंने अपनी युद्धनीति को सदा उदार रखा। समय समय पर समीपवर्ती राजाओं के अत्याचार पर उन्हें उचित दण्ड भी दिया। अंगदेश को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। मगध राज्य की उन्नति का सूत्रपात इसी अंग देश की जीत से हुआ। और इसने मगध साम्राज्य के सच्चे संस्थापक के रूप में ख्याति पाई। इन्होंने अपने बढ़ते हुए राज्यबल को देखकर ही शायद एक नई राजधानी—नवीन राजगृह बसाई। इनकी लड़ाई वैशाली के लिच्छविपति 'राजा' चेटक से भी हुई जिसमें उनकी पुत्री चेलना से इनकी शादी हुई। अतः इस तरह इन्होंने दो महाशक्ति-शाली राज्यों कौशल और वैशाली से सम्बन्ध स्थापित करके अपनी राजनीति-कुशलता का परिचय दिया। इन सम्बन्धों से उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गयी थी। इनका सैन्य-बल बहुत बड़ा था।

पारिवारिक जीवन और धर्म—

राजा श्रेणिक का पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखद और प्रीतिकर था। परिवार के प्रति इनकी विशेष आसक्ति थी और अपने परिजनों के संग वास करने में इनको अलौकिक आनन्द की सम्प्राप्ति होती थी। परिवार के सुखी और सम्पन्न जीवन ने ही इनको राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र में सफल और सक्रिय बनाया? परिवार की प्रेरणा से ही इन्होंने नन्दिग्राम के ब्राह्मणों का उद्धार कर दिया और पत्नी चेलना के जैन धर्म के मधुर उपदेशों से जैन धर्म को अपनाकर चिरसंतोष प्राप्त किया। इनकी सभी स्त्रियां उत्तम एवं पुत्र आज्ञाकारी थे।

राजा श्रेणिक की पहली शादी राजगृह से भागने पर नन्दिग्राम में हुई थी, जिससे अभय कुमार नाम का पुत्र पैदा हुआ था। जब श्रेणिक प्रजा और मंत्रियों द्वारा मगध की बागडोर सभालने के लिए बुलाया गया, अभयकुमारादि वहीं रह गये थे। बाद में जब श्रेणिक शक्तिशाली हुआ उसे अपने विगत जीवन की याद आयी और नन्दिनाथ द्वारा किये गये उसके अपमान ने उसे क्रोधातुर कर दिया। उसने नन्दिग्राम के ब्राह्मणों को निष्कासित करने की आज्ञा दें ब्राह्मणों को अति कष्ट साध्य कार्यों को सम्पन्न करने की आज्ञा भिजवायी। अभयकुमार वहीं था और उसने अपनी सहज बुद्धि-प्रखरता से सारे कार्यों को ब्राह्मणों द्वारा पूरा करवा दिया और ब्राह्मण निष्कासन दंड से बच गये। इसपर श्रेणिक को अति आश्चर्य हुआ कि कौन सी शक्ति है जो इतनी बुद्धि-परायण है और इसके पीछे काम कर रही है और ब्राह्मणों की रक्षा कर रही है। उन्होंने झट दूत भेजा और अभयकुमार का पता चला जो ब्राह्मणों का नेतृत्व कर रहा था। अभय कुमार सानन्द बुलाया गया और वह राजा के राज्यकार्यों में उचित सहायता प्रदान करने लगा। इसी अभयकुमार ने आगे चलकर अपने उत्तमोत्तम कार्यों की महिमा से श्रेणिक की प्रशस्त कीर्ति को समलंकृत किया।

श्रेणिक का दूसरा विवाह केरल नरेश मृगांक की कन्या विलावती से हुआ पर इससे इनके पारिवारिक जीवन में घटित होने वाले किसी परिवर्तन से सम्बन्ध का उल्लेख प्राप्त नहीं।

श्रेणिक की शादी विशालपुरी के राजा चेटक की पुत्री चेलना के साथ भी हुई जिससे इनके धार्मिक जीवन में विप्लवकारी परिवर्तन हुआ। चेलना द्वारा प्रशंसित और प्रसारित जैन-धर्म की

प्रभावना में आकर इन्होंने अपना और प्रजा का महान आत्मकल्याण किया। चेलना उनके जीवन स्थल पर जैन-धर्म की स्निग्ध रश्मियाँ विकीर्ण करने आयी जिससे इनका जीवन और यश महान हो गया।

भरत नामक एक चित्रकार ने चेटक की पुत्री चेलना का सुमधुर चित्र अंकित कर श्रेणिक की राजसभा में उपस्थित किया। श्रेणिक चित्र के दर्शन मात्र से मंत्रमुग्ध हो, चित्र की नारी चेलना को पाने की तीव्र और उत्कट आकांक्षा से विकल हो उठे। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और चेटक जैन धर्म का पालक था और उसका निश्चय भी चेलना की शादी किसी जैनराजा से ही करने का था इस बात को सुनकर राजा का हृदय अतिशय वेदनायुक्त हो गया। अभय कुमार को इस बात का पता चला और उसने श्रेणिक को सब कुछ अपनी कौशल-चातुरी से ठीक कर चेलना की शादी उनके साथ कराने की सांत्वना दी।

अभयकुमार कुछ जैन श्रेष्ठियों को ले मणि माणिक्य से पूर्ण हो विशालपुरी में जैन धर्म की गाथा एवं अर्चना का महत्व प्रकाश करता हुआ पहुँचा। विशालपुर में सर्व उसने जैन धर्म की महत्ता को जागरित कर दिया और इस तरह राजा एव जनता को प्रमुदित किया। चेलना आदि कुमारियों से उसने श्रेणिक को महान जैन धर्म का अनुयायी, जवान एव सुख, आनन्द सपन्न बता, उन कुमारियों को रिझा लिया जिससे वे कुमारियाँ मगध चलने को तैयार हो गयीं। बस क्या था चेलना को वह षड्यन्त्र से मगधपुरी भगा लाया और श्रेणिक की इच्छा पूर्त्ति हुई।

श्रेणिक और चेलना सुख से विवाह कर जीवन विताने लगे। भोग की समस्त सामग्रियों का उपभोग किया। एक दिन चेलना श्रेणिक के घर में बौद्ध धर्म की पूजा देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हुई। उसने बौद्ध धर्म को जीव का कल्याण करने में अपूर्ण बताया बं बौद्ध गुरुओं की लोलुपता अधार्मिकता को दिखा राजा की आँखें खोली। राजा ने जैन धर्म की इतनी ख्याति सुन जैन मुनियों की परीक्षा करने की ठानी। फलतः मुनि यशोधर की तपश्चर्या में बाधा डाली, पर मुनि अविचलित रहे। इसके बाद अत्यन्त प्रभावित हो न्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया और सका खूब प्रचार और सार किया। अतः इनका प्रारम्भिक जीवन बौद्ध रहते हुए भी जैन कुमारी चेलना की उत्कृष्ट प्रेरणा से जैन धर्म में परिणत हो महान् उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के उपदेशों के प्रथम श्रोता थे। इन्होंने भगवान् से साठ हजार जीवन जगत सम्बन्धी प्रश्न पूछे थे, जिनका भगवान् ने व्यापक और आत्मकल्याणक उत्तर दे इनकी आत्मा को शांति प्रदान की। इन्हीं प्रश्नोत्तरों को लेकर जैन आगमों का निर्माण हुआ जिनमें जैनधर्म की पीयूषधारा प्रवाहित हो जीवों का कल्याण करती है एवं जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः श्रेणिक के पारिवारिक जीवन के बीच ही जैन धर्म का नवीन सुरभित शतदल फूटा, जिसपर अनेक मुक्ति इच्छुक जीव भ्रमर गुंजार करते हैं।

अन्तिम जीवन—

यह तो श्रेणिक के पारिवारिक जीवन का उज्ज्वल पक्ष हुआ। श्रेणिक का अन्तिम जीवन आतप्त और दुःखपूर्ण रहा। अपने जीवन के अन्तिम अनुच्छेद में अपने पुत्र के द्वारा ही बन्दी

बना लिया गया । अजातशत्रु ने उसे जेल में अनेक प्रकार के कष्ट दिये पर श्रेणिक के अन्दर का अपूर्व साहसी और सहिष्णु सब सहता गया । उसे जीवन का कटु अनुभव हुआ और अपने पुत्र के इस व्यवहार से उसका अन्तस् कराह उठा । पर अजातशत्रु के इस नृशंस व्यवहार की नाटकीय परिणति हुई । अजातशत्रु अपने पुत्र को बेहद प्यार करता था उसको इसका घमण्ड था । एक दिन उसने अपनी माँ से पूछा कि क्या माँ, मेरे पिता भी मुझे इतना प्यार करते थे । माँ ने श्रेणिक के पुत्र-प्रेम की एक करुण कहानी सुनाई । बचपन में अजातशत्रु को घाव हो गया था । वह बेचैन था । श्रेणिक उस घाव की जलन शांत करने के लिए रात भर जगते—मुंह की भाप से शांत करते थे । अजातशत्रु इस कहानी से पिघल पड़ा । उसने तुरत जैन धर्म स्वीकार कर लिया और पिता को मुक्त करने के लिए चल पड़ा। श्रेणिक ने उसे आते देखा और समझा कि हो न हो यह किसी बुरे मनोभाव से आ रहा है । उसने इसी आशंका से आत्महत्या कर ली । उसके जीवन की अन्तिम क्षुद्र घड़ियाँ भी समाप्त हुईं और उसने अन्तिम सांस ली । [9]

इतिहासकारों की दृष्टि में--

इतिहासकारों ने श्रेणिक का उल्लेख बिम्बसार के नाम से किया है । बौद्ध ग्रंथों में श्रेणिक का विस्तृत जीवन-चरित मिलता है । बताया गया है कि १५ वर्ष की अवस्था से ५२ वर्ष की अवस्था तक श्रेणिक ने राज्य शासन किया था । गिलगिट से प्राप्त मैन्युस्क्रीप्ट में भी श्रेणिक का उल्लेख है [10] परन्तु यह सुनिश्चित है कि बौद्ध साहित्य में श्रेणिक का उल्लेख उसी अवस्था तक है जबतक वह बौद्ध धर्मावलम्बी था । जैन धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् की घटनाओं का उल्लेख बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता है ।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विसेंट स्मिथ एम० ए० ने 'आक्स फोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया' में श्रेणिक का उल्लेख किया है तथा इनके राज्य-विस्तार का वर्णन किया है ।[11] श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने बिहार रिसर्च सोसायटी के जर्नल भाग एक में बताया है कि श्रेणिक का राज्यकाल ५१ वर्ष का था । कौशाम्बी के परन्तप शताब्दिक व श्रावस्ती के प्रसेनजित इनके समकालीन राजा थे ।[12] श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपनी भारतीय इतिहास की रूप रेखा में श्रेणिक का विशेष वर्णन किया है । इन्होंने बौद्ध एवं जैन ग्रंथों के आधार पर मगध साम्राज्य का सर्वप्रथम शासक श्रेणिक को ही स्वीकार किया है । बताया है, चेटक, बिम्बसार आदि राजाओं के समकालीन महात्मा बुद्ध थे । श्रेणिक का उत्तराधिकारी अजातशत्रु हुआ जिसने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया । इस प्रकार सभी इतिहासकारों ने श्रेणिक को मगध का प्रभावशाली शासक स्वीकार किया है । श्रेणिक भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न कड़ी है । अपने सुयोग्य शासन और धार्मिक जीवन की अलौकिक उपलब्धि कर उसने अपना जीवन अमर कर लिया ।

९. श्रेणिक और अजातशत्रु की इस शत्रुता का कारण पूर्व जन्म का वैर था ।

१०. दीघवंश ३—५६—१०

११ Oxford History of India P. 45.

१२ Journal of Bihar Research Society. VI, P. 114.

विहार की जैन विभूतियाँ

श्री बी० सी० जैन

प्रस्तावना—

बिहार सदा से आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन की प्राणधारा का मूर्त्त विग्रह रहा है। इसका ऐतिहासिक व्यक्तित्व जैन, बौद्ध, वैदिक आदि संस्कृतियों की सुस्पष्ट प्रेरणाओं से उत्पन्न होकर अपने अस्तित्व की एकाग्र साधना में लीन है। यहाँ प्रत्येक धर्म के ऐसे मनीषियों ने जन्म लिया, जिन्होंने मनुष्य को ऐन्द्रिक सुख-सुविधाओं के जंजाल से मुक्त करके शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक में ले जाने की महत्वाकांक्षा लेकर ऐसे मौलिक, सर्वजनीन-साहित्य, धर्म-सिद्धान्तों, कर्म विवेचनों, संस्कृति और सभ्यता के नवीन मापदण्डों की उद्भावनाएँ कीं, जिन्होंने जीवन और जगत् की गहराइयों में जाकर युग-जीवन को तरंगित कर दिया। इसके प्रसन्न अथच अस्खलित अस्तित्व की एकमात्र इकाई इसके अन्तराल में प्रवाहित अदृश्य मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल वेग है जो अपनी गौरवास्पद चेतनाओं से सर्वदा गतिशील और सयमित है।

विकास की इन चतुर्दिक् चेतनाओ से परे बिहार में जैन धर्म, जैन तीर्थंकरों, जैन राजाओं, जैन मुनियों, आचार्यों और सेवकों का अपना विशिष्ट महत्व है। जैन धर्म के बिहार में प्रसरण और योग का जो स्फटिक-रूप है उसमें बिहार की सारी आध्यात्मिक और बौद्धिक समृद्धि, सास्कृतिक ओज की मान्यता मूर्त हो उत्तर आयी है। एक तरफ बिहार के सास्कृतिक पट पर जैन तीर्थंकरो का सबल एवं तेजस्वी व्यक्तित्व तथा उनका प्रगाढ़ चिन्तन झांक रहा है तो दूसरी तरफ अहिंसा, क्षमा और मनोबल को लेकर मतिभ्रष्ट मानवों के अत्याचार के विरुद्ध—पतित जन-समूह की कुप्रवृत्तियो के विरुद्ध जैन राजाओं का वीरत्व, गर्वोद्दीप्त राजोचित उत्कर्ष ललकार रहा है। जैन आचार्यों और मुनियों ने हृदय और मस्तिष्क, भावना एवं बुद्धि की दुविधा में पड़कर अत्यन्त मनस्ताप सहन कर व्यक्ति-धर्म, समाज धर्म, नीति-धर्म, गार्हस्थ्य-धर्म आदि विभिन्न धर्मों के सूक्ष्म सिद्धान्तो की निर्धारणा की है और मानवता का कल्याण किया है। इस तरह अनेक जैन तीर्थंकरों, राजाओं, आचार्यों और सेवकों ने बिहार में जन्म ले, अपनी उत्कट साधना का अनुष्ठान कर, अपने उपदेशों की व्यापक अनभूतियों का प्रचार कर मानव-कल्याण का स्रोत प्रवाहित किया है एवं बिहार की प्रांशु भूमि को अपने सामूहिक आत्मिक दान से आप्लावित कर गौरवान्वित किया है। जैन धर्म के ऐसे प्रवर्तकों ने सदैव जीवन के समक्ष प्रस्तुत होने वाले मन्तव्यों के मध्य, सामाजिक तथा चारित्रिक आदर्शों के पतन तथा विनाश की तड़ातड़ में, राजनीति के घातक दांव-पेंच में, साम्राज्यवाद के निरंकुश प्रसार में, विघटन, विमंत्र तथा विच्छेद की संक्रामक संकुलता में, जीवन की अनिश्चितता में तथा

संघर्षों की पंकिलता में, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, प्रतिघात, प्रवंचना, पारस्परिक कलह और विश्वासघात की ज्वाला में दहकते समाज, राष्ट्र एवं जीवन को,—मानव प्रेम, दया, करुणा, विश्वास, धर्म, अहिंसा, सत्य, सद्भावना, सहृदयता से ओत-प्रोत अपने हृदय के ज्ञान-रस से संजीवित कर, विश्वबन्धुत्व एवं एकता की एकसूत्रता को निभाया है। मानव कल्याण की भावना का यह उद्रेक जैन धर्म में इसी बिहार की पावन धरती से फूटा। अतः इस लेख में वैसी ही बिहार की कुछ जैन-विभूतियों का उपलब्ध और अनुपलब्ध वर्णन किया जायगा।

बिहारोत्पन्न तीर्थंकर—

ऐसे तो बिहार में तेईस तीर्थंकरों ने धर्मोपदेश दे भूली-भटकी मानवता को सुमार्ग में लगाया है, पर सर्वसिद्ध रूप में यहाँ ५ तीर्थंकारों ने जन्म ले बिहार की भूमि को महिमान्वित किया है। ये पाँच तीर्थंकर भगवान् श्री वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नमिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ और भगवान् महावीर हैं। इन पांचों तीर्थंकरों की जन्म-भूमि, क्रीड़ा-भूमि, लीला-भूमि, प्रचार-भूमि, और निर्वाण-भूमि बिहार ही है अतः बिहार की पर्याप्त सांस्कृतिक प्रतिष्ठा है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तो जैसे हमारे दैनिक जीवन के साथ चिपके हुए हैं और आज भी ये अहिंसा, शांति और सत्य के अग्रदूत के रूप में विश्व भर में पूज्य और महान् है।

(१) भगवान् वासुपूज्य—

भगवान् वासुपूज्य का जन्म बिहार के चम्पानगर में हुआ था। इनके पिता इक्ष्वाकुवंशीय वसुपूज्य और माता जयावती थीं। इन्होंने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन व ण योग में जन्म लिया था। ये बचपन से ही अलौकिक संस्कारो से दीप्त थे। ये आत्मा के यथार्थ चिन्तन में निमग्न रहने लगे। विवाह से साफ इन्कार कर आजीवन ब्रह्मचर्यधारो रहे।

वासुपूज्य ने फागुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन विशाखा नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के अनन्तर ही उन्हें मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। कहा जाता है कि उनके साथ-साथ परमार्थ की महिमा को जाननेवाले छह सौ छिहत्तर राजाओ ने प्रसन्न होकर दीक्षा ली थी। कदम्ब वृक्ष के नीचे माघ शुक्ला द्वितीया के दिन इन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। लोक और परलोक में इसका उत्सव मनाया गया। सर्व उल्लास की लहर व्याप्त हो गयी। इन्होने सभी आर्य क्षेत्र में विहार करना प्रारम्भ किया एवं उपदेश दिया। इस तरह विहार करते हुए ये चम्पानगर में आये और एक हजार वर्ष तक वहा समवशरण रहा। आयु में एक महीना शेष रहने पर इन्होंने योग निरोध कर मंदार गिरि पर्वत पर भादों सुदी चौदस के दिन चौरानवे मुनियों सहित निर्वाण प्राप्त किया। अतः इनका समस्त कार्य स्थल बिहार ही रहा। इनका समय इतिहास के इतने दुर्भेद्य अन्तराल में है कि उस समय की सामान्य वस्तु-स्थिति पर आज के इतिहासकार वास्तविक तथ्य क्या, कल्पना भी आरोपित नहीं कर पाते। आवश्यकता है पुराणों से ऐसे प्रागैतिहासिक तीर्थंकर के वर्णित जीवन सम्बन्धों से उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक वस्तु स्थिति की खोज की।

(२) तीर्थंकर मल्लिनाथ—

मोहरूपी मल्ल को अमल्ल के समान जीतनेवाले मल्लिनाथ का जीवन-वृतांत भी अलौकिक तत्वों की दिव्यता से मण्डित है। मल्लिनाथ के पूर्व जन्म की कथा मनोमुग्धकारी है। मेरु पर्वत के पूर्व वत्सकावती देश के वीतशोका नाम के नगर में वैश्रवण नाम का राजा राज्य करता था। वह प्रजा का उदात्त परिपालक था तथा उसने अपने राज्य को काफी विस्तृत किया। एक दिन राज्य का परिभ्रमण करते समय वटवृक्ष की असामयिक दुर्गति देखकर उसके अन्दर वैराग्य जगा। उसने राज्य त्याग तपस्या की एवं उत्तमोत्तम कर्मों की महिमा से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। अहमिन्द्र की आयु ६ महीने शेष रह जाने पर वह पृथ्वी पर अवतार लेने के सम्मुख हुआ। बाद में यही मिथिलाधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्री राजा कुंभ और उसकी महादेवी प्रजावती से उत्पन्न पुत्र मल्लिनाथ हुए। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में चन्द्रमा के समान देदीप्यमान मति, श्रुति, अवधि तीनों ज्ञान धारण करने वाले तीर्थंकर मल्लिनाथ पैदा हुए। बचपन से ही इन्होंने विवाह का विरोध किया। अनेक प्रकार के ज्ञानो का मानस में सचरण होने से ये विरक्त हो दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये। उन्होंने दो दिन का उपवास धारणकर अपने जन्म दिन के ही दिन तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। अशोक वृक्ष के नीचे इन्होने चारों कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। अनेक देवी देवता, केवलज्ञानी इनके समवशरण में आये। इन्होंने अनेक दिशाओ में विहार किया। एक महीने की आयु शेष रहने पर सम्मेदाचल पर्वत पर पाँच हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन भरणी नक्षत्र में शाम के समय कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त किया।

(३) भगवान् मुनिसुव्रतनाथ—

मुनिसुव्रतनाथ का आविर्भाव उस समय हुआ था जब अयोध्या में रामचन्द्र, लंका में रावण और मिथिला में जनक राज्य कर रहे थे। उस युग को हमारे इतिहासकार स्पर्श भी न कर सके। इन्हीके तीर्थकाल में नारद और पर्वत के विवादो से वेदों के हिंसापरक अर्थ निकाले गये जिससे हिंसामय यज्ञों का अनुष्ठान होने लगा। मुनिसुव्रत ने युग के इस सम्पन्न काल में लोक-जीवन में अहिंसातत्त्व की प्राण-प्रतिष्ठा कर परम कल्याण किया।

मुनिसुव्रत अपने पूर्व जन्म में चम्पानगर के राजा हरिवर्मा थे। मगध देश के राजगृह के सुमित्र ने मगध की समृद्धिशालिता को बढ़ाया और पुण्य का उदय हुआ। फलतः उनकी रानी सोमा की पुण्य कुक्षि से भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म हुआ। बचपन से ही इनकी मनोवृत्ति धार्मिक रही। उन्हें अपनी माँ का यथेष्ट प्यार मिला था। इनकी आयु ३० हजार वर्ष की थी। किसी तरह कुमारावस्था बीतने पर इनका राज्याभिषेक हुआ। अपने राज्य के प्रमुख हाथी के अपने पहले के भव स्मरण को देखकर इनके अन्दर आत्मज्ञान की शिखा प्रज्वलित हुई। इन्होंने अपना राजपाट त्याग दिया और घर से निकल पड़े। वैशाख कृष्णा दशमी के दिन इन्होंने एक हजार राजाओं के संग संयम धारण किया। इनका केशलोंच हुआ और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ। पारणा के लिए

वे राजगृह पधारे। ज्ञानकल्याणक उत्सव मनाया गया। यहाँ पर केवल ज्ञान भी प्राप्त हुआ। वे बिहार करने लगे एवं ज्ञानवर्द्धक उपदेशों से मानव के दुःख-सुख की विवेचना की। अन्त में एक दीर्घ आयु के पश्चात् सम्मेदशिखर में फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन शरीर छोड़ मुक्त हुए। बिहार में जन्म ले रामायणकाल में इन्होंने बिहार को अहिंसा की पीठिका बनाया।

(४) तीर्थंकर नमिनाथ—

हजारों हजार वर्ष पूर्व रामायणकाल और महाभारत काल की सीमान्त रेखा पर भगवान् नमिनाथ का प्रादुर्भाव हुआ। कृष्ण के अवतार के थोड़े दिनों पूर्व इन्होंने बिहार में जैन धर्म के अन्तर्गत सत्य और अहिंसा जैसे उच्च धर्म की प्रभावना की।

भगवान् नमिनाथ के पिता वृषभदेव के वंशज श्री विजय मिथिला नगरी के राजा थे। इनके राज्यकाल में मिथिला नगरी उस समय की सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र थी। आज जो हम मिथिला का रूप देखते हैं तो हमें विश्वास भी नहीं होता कि यही मिथिला कभी नमिनाथ जैसे तीर्थंकर को जन्म देनेवाली और प्राचीन भारतीय संस्कृति की विधायिका है। उस समय की मिथिला नगरी सुख और आमोद में पली और आध्यात्मिक और आधिभौतिक चेतनाओं से स्फुटित थी और इस सबका श्रेय विजय को था, जिसने अपने शासन से जनता के अन्दर की धार्मिकता को जगाया एवं अहिंसा और सत्य का महामंत्र दिया। नमिनाथ ने ऐसे राजा के यहां जन्म ले उसको अलौकिक सम्मान दिया। माँ महादेवी के मातृत्व को सफल बना इन्होंने कर्म की मातृनिष्ठता और पितृनिष्ठता का परिचय दिया। इनके जन्म की खबर से देवलोक का हृदय भी प्रफुल्लित हो उठा और सब इनके उपदेशों से तृप्ति की आशा रखने लगे।

शुरू से ही आत्मा की परवशता इनके मानसिक द्वन्द्व का पृष्ठाधार रही। गृहस्थ जीवन में प्रवृत्त होकर भी ये सर्वदा माया, राग, द्वेष से निर्लिप्त रहे और एक दिन अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य दे आषाढ़ कृष्ण दशमी को दीक्षा ले ली। राजा दत्त ने उन्हें आहार दिया। नौ वर्ष बाद बकुल वृक्ष के नीचे उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इन्होंने सद्धर्म का उपदेश देते हुए आर्यखंड में बिहार किया। आयु एक महीने शेष रहने पर सम्मेद-शिखर पर आ वैसाख कृष्ण चतुर्दशी को मोक्ष पधारे। अतः भगवान् नमिनाथ के इस जीवन के इतिवृत्त में भी बिहार के सांस्कृतिक पुरुषों की परम्परागत प्रतिष्ठा ही समाहित है।

(५) भगवान् महावीर—

भगवान् महावीर तो जैसे हमारे जाने-माने-पहिचाने बिहार के सांस्कृतिक उद्दीपक हैं। इनके द्वारा प्रसूत सांस्कृतिक धारा का समादर प्रत्येक युग और जीवन के मन्तव्य करते आ रहे हैं और करते जायेंगे। वास्तविक तथ्य तो यह है कि जीवन और जगत की समस्त अहिंसात्मक और शांतिमय अनुभूति महावीर की चिन्ताधारा के परे कुछ है ही नहीं।

भगवान् महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला, त्रयोदशी को वैशाली के कुंडग्राम में ज्ञातृवंश के सिद्धार्थ नामक गणपति के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम त्रिशला था, जो राजा चेटक की की आयुष्मती पुत्री थीं। महावीर का सम्बन्ध उस समय के सभी राजघरानों से था।

भगवान् महावीर का बचपन मानवता के कल्याण मार्ग के सोचने में बीता। सिद्धार्थ की चेष्टाएँ इनको विवाह सूत्र में बाधने के लिए व्यर्थ रहीं। ये आजीवन ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा के पालक रहे। इनके जीवन की पृष्ठभूमि पर जैन संस्कृति ने अपना निखरा स्वरूप ग्रहण किया।

३० वर्ष की आयु में घर से निकलकर जिनदीक्षा ले ली। इन्होंने घोर तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। फलतः ऋजुपालिका नदी के किनारे उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इनका पहला उपदेश राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ। इनके असंख्य अनुयायी बने। सर्वत्र विहार कर जैन संस्कृति की धारा को देश के अन्तराल में प्रवाहित कर दिया। कार्तिक सुदि अमावस्या के दिन ७२ वर्ष की आयु में इन्हें निर्वाण मिला। महावीर के उपदेशों और प्रचार से बिहार की भूमि आज भी स्पन्दित है।

बिहार के जैनाचार्य—

बिहार की भूमि को केवल तीर्थंकरों ने ही पवित्र नहीं किया है बल्कि अनेक आचार्य बिहार में उत्पन्न हुए हैं। उपर्युक्त तीर्थंकरो के काल में अनेक गणधर बिहार में हुए हैं, पर इस प्रस्तुत निबन्ध में केवल भगवान् महावीर के समसामयिक गणधर और अन्य आचार्यों तथा परवर्ती ग्रन्थ निर्माताओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

यों तो भगवान् महावीर के गणधरों की सख्या अत्यधिक थी पर उनमें ११ गणधर प्रधान हैं। इनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायभूति, व्यक्त सुधर्मस्वामी, अकम्पिक और प्रभास बिहार के ही निवासी थे। इन्द्रभूति जिनका दूसरा नाम गौतम गणधर है, मगध के अन्तर्गत गोबरगांव के निवासी थे। इनके पिता का नाम वसुभूति और माँ का नाम पृथ्वी था। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पाण्डित्य और विद्वत्ता की सर्वत्र धूम थी। ५०० छात्र इनके चरणों में बैठकर अध्ययन करते थे। इन्द्र किसी तरह इन्हें भगवान् महावीर के समवशरण में लाया। यहां मानस्तम्भ के दर्शन मात्र से इनकी समस्त शंकाएँ स्वतः शात हो गईं। इन्द्रभूति ने अपने जीवनकाल में बहुत पण्डित देखे थे, बहुतों को विवाद में परास्त किया था; पर वीरप्रभु के समवशरण में आते ही उनका हृदय शांत हो गया। विजय-कामना विलीन हो गयी और भगवान् से दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अब क्या था, इनके भाई अग्निभूति और वायभूति जिन्हें अपने पाण्डित्य का अपूर्व गर्व था, दीक्षित हुए।

चौथे गणधर व्यक्त कुंडक ग्राम के पार्श्ववर्ती कोल्लाग सन्निवेश के धनमित्र नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वारुणी था। पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी भी कोल्लाग सन्निवेश निवासी अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का

नाम धम्मिल्ल था। यह भी अपने समय के माने हुए विद्वान् थे। इसी प्रकार प्रभास राजगृह के निवासी और अकंपिक मिथिला के निवासी थे। इन समस्त गणधरों ने द्वादशांगवाणी—जैनागम का प्रणयन किया।

अन्तिम केवली जम्बू स्वामी राजगृह के सेठ अर्हद्दास के पुत्र थे। इनकी माता का नाम जिनमती अथवा जिनदासी था। यह विदुषी, सुशीला और गुणवती थीं। एक समय राजा श्रेणिक के पास केरल के राजा मृगांक ने सैनिक सहायता के लिए दूत भेजा क्योंकि मृगांक पर हंसद्वीप (लंका) के राजा रत्नचूल ने आक्रमण किया था और वह बलात् उसकी कन्या मृगावती को ले जाना चाहता था। श्रेणिक ने बलशाली जम्बूकुमार के संरक्षण में सैनिक सहायता भेजी। वीर-वीर, पराक्रमशाली, जम्बूकुमार ने केरल पहुँचकर विपक्षी रत्नचूल की सेना के दांत खट्टे कर दिये और विजय लक्ष्मी प्राप्त की। इस पराक्रमशाली कार्य से जम्बूकुमार की ख्याति सर्वत्र फैल गयी और राजा श्रेणिक विशेष समादर करने लगे। माता पिता ने जम्बूकुमार का विवाह गुणवती कन्या से किया पर यह क्या जम्बू कुमार दूसरे ही दिन नव परिणीता वधू को छोड़ विरक्त हो गये और घोर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त किया पश्चात् विपुलाचल पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया।

ई० पूर्व ३८३ के लगभग इसी बिहार में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने बहुत दिनों तक निवास किया। इनके गुरु का नाम गोवर्द्धन स्वामी था। इन्हीं भद्रबाहु स्वामी के उपदेश से मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। मगध में १२ वर्ष का दुष्काल ज्ञात कर भद्रबाहु स्वामी अपने संघ को दक्षिण भारत की ओर ले गये थे। उनकी इस दक्षिण यात्रा का उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भी है।

श्वेताम्बराचार्य स्थूलभद्र मगध के अन्तिम नन्दराज के मंत्री शकटाल के पुत्र थे। इनका ज्ञान अद्भुत था। इन्होंने अनेक शास्त्रों का निर्माण किया। प्रसिद्ध सूत्रकार उमास्वामी का सम्बन्ध भी बिहार से रहा है। वस्तुतः मिथिला, राजगृह, पाटलिपुत्र और चम्पानगर जैन आचार्यों की निवास भूमि रहे हैं।

बिहार के जैन राजा—

बिहार के प्राचीन जैन राजवंशों में शिशुनागवंश, ज्ञातृवंश, हैहयवंश, नन्दवंश और मौर्य-वंश प्रधान हैं। शिशु नागवंश में उपश्रेणिक, श्रेणिक, और अजातशत्रु जैन धर्मानुयायी हुए हैं। उपश्रेणिक शिशुनाग वंश का चौथा राजा था और उसके समय में राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। जैन शास्त्रों के अनुसार उसने आसपास के राजाओं को परास्त कर अपने राज्य का यथेष्ट विस्तार किया। चन्द्रपुर के सोमशर्मा जैसे शक्तिशाली राजा को भी इसने परास्त किया। इसने एक भील कन्या परमसुन्दरी तिलकावती से प्रणय सम्बन्ध भी किया जिससे चिलात पुत्र नामक पुत्र हुआ। इसका उत्तराधिकारी इतिहास प्रसिद्ध राजा श्रेणिक हुआ जो उपश्रेणिक की पट्टरानी इन्द्राणी का पुत्र था। इतिहासकार इसको बिम्बसार के नाम से जानते हैं। यह अपने समय का बड़ा

प्रतापी और गुणशाली राजा था। इसने प्रजा का यथोचित पालन किया एवं राज्य में जैन धर्म का प्रभाव रखा। इनके समय में मगध राज्य का काफी विस्तार हुआ। यह जैन धर्म का पहला राजा है जिसके ऐतिहासिक उल्लेख जैन ग्रंथों मे पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। श्रेणिक का विवाह सम्बन्ध सोमशर्मा की पुत्री, नन्दश्री, केरल-नरेश मृगाक की पुत्री विलासवती से हुआ। लिच्छविगण के नायक राजा चेटक ने अपनी पुत्री चेलना की शादी एक संघर्ष के उपरान्त इनसे की। इसी चेलना ने श्रेणिक को जैन धर्म के सुमार्ग पर चलाया और श्रेणिक ने जैन धर्म का खूब विस्तार किया। श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशों का प्रथम श्रोता था[1]। चेलना से उत्पन्न इसका पुत्र अजातशत्रु हुआ। अजातशत्रु ने राजा चेटक को हराकर उज्जैन संघ की जीता। अपने जीवन के प्रारम्भ में अजातशत्रु भी जैन था लेकिन बाद में बौद्ध हो गया जिसकी साम्प्रदायिक भावना से इसने पिता को अनेक कष्ट दिये। पिता के मरने पर उसकी आखें खुली और वह परिवार सहित श्रावक हो गया। अपने राज्यकाल में उसने कौशल-नरेश, वैशाली-नरेश, और शाक्य क्षत्रियो का नाश किया। बाद में वह अपने पुत्र लोकपाल को राज्य दे मुनि हो गया। इन्द्रभूति और सुधर्मास्वामी से इसे सदैव प्रेरणाएँ मिलती रहीं। इसका देहान्त ५२७ ई० पूर्व हुआ।

हैहयवंश में प्रसिद्ध जैन राजा चेटक हुआ। यह मल्लों और कोशलों के सम्मिलित गण-तंत्र का नायक था। इसकी आ पुत्रियाँ थी, जिनमें एक त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ और महावीर का जन्म हुआ। राजा चेटक का वैशाली गणतंत्र मानव इतिहास का पहला गणतत्र है। इसकी राजधानी वैशाली थी। राजा चेटक एक कुशल राजनीतिज्ञ गुणशाली, महिमावान, सुयोग्य शासक और उदार पुरुष था। इसने गाधार देश के सत्यक नामक राजा को हराकर राज्य विस्तार किया। यह अति धार्मिक था और जिनेन्द्र भगवान् की पूजा-अर्चा करना रणक्षेत्र मे भी नही भूलता था। इसके समय में जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ।

नन्दवंश में महापद्न नन्द भी जैन धर्म का अनुयायी था। उसने मगध का राज्य विस्तार किया और साथ-साथ जैन धर्म का भी प्रचार किया। राज्य में धर्म के प्रभाव के फल-स्वरूप ही बाद में चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्म का कट्टर अनुयायी हुआ।

मौर्यवंश की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य के द्वारा होती है। यह नन्दवंश के अन्तिम अन्यायी राजा को मारकर ई० पू० ३२२ के लगभग मगध राज्य के सिंहासन पर बैठा और समस्त भारतवर्ष का एकछत्र सम्राट् हो गया। सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसने देश को विदेशी यूनानियों को पराधीनता से छुड़ा लिया। इसने सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस को परास्त किया और चन्द्रगुप्त को काबुल, हिरात और कांधार ये तीन राज्य मिले। अत: २४ वर्ष की उम्र में ही उसने अपने राज्य का इतना विस्तार कर लिया। सभ्यता और संस्कृति की उन्नति सके राज्य में हुई। ई० स० २९८ पूर्व इसका ५० वर्ष की उम्र में मृत्यु हुई।

---

१. विशेष के लिए 'मगध सम्राट् श्रेणिक' देखें

जैन ग्रंथों में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैन धर्मावलम्बी होने व भद्रबाहु स्वामी से जिन-दीक्षा लेकर उनके साथ दक्षिण को प्रस्थान करने का विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके जैन होने के प्रमाणों को मि० ई० थामस, मि० विल्सन लूइस राइस, बर्जेवुड, विसेण्ट स्मिथ, जायसवाल महोदय जैसे इतिहासकारों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।[1] अतः चन्द्रगुप्त जैन धर्म के संस्कारों से पूर्णतः परिप्लुत था। इसने भद्रबाहु से जिनदीक्षा ली एवं बाद में जैन मुनि बन आत्म कल्याण किया।

मौर्य वंश में ही अशोक के पौत्र सम्प्रति ने फिर एक बार जैन धर्म की यशः पताका को लहराया। यह जैन धर्म के महान प्रचारकों में एक माना जाता है एवं जैन पुराण और शास्त्र इसके प्रचार वृतांतों से भरे पड़े हैं। इसकी जीवन गाथा का पूर्ण वर्णन हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में लिखा है।

सम्प्रति अशोक के पुत्र कुणाल का पुत्र था। इसका जन्म ई० पू० ३०४ पौषमास—जनवरी में हुआ था। सम्प्रति का राज्याभिषेक ई० पू० २८९ में १५ वर्ष की अवस्था में अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। अपने गुरुवचनों द्वारा अपने पूर्व जन्म की बात सुनकर इसकी श्रद्धा उमड आयी और तत्काल जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इसके दो वर्ष बाद उसने कलिंग देश जीता और व्रत ग्रहण किये। सम्राट् सम्प्रति ने युवावस्था में भारत के समस्त राजाओं को करदाता बना दिया था। उसने सिन्धु नदी पार कर ईरान, अरब और मिस्र आदि देशों पर अधिकार कर कर उगाहा। उसने अपने राज्य में सब प्रकार से अहिंसा धर्म का प्रचार करने का यत्न किया। सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिए सवा लाख नवीन जैन मन्दिर, दो हजार धर्मशालाएँ, ग्यारह हजार वापिकाएँ और कुँएं खुदवाकर पक्के घाट बनवाये। इसने धर्म की वृद्धि के लिए सुदूर देशों में धर्म का प्रचार कराया, अनार्य देशों में संघ का विहार कराया तथा अपने आधीन सभी राजाओं को जैनी बनाकर जैनधर्म के प्रचारकों को सब प्रकार से सहयोग दिया। इस प्रकार जैनधर्म का प्रचार उसने गुजरात, सिंहलद्वीप, आन्ध्र, ईरान, अरब, कुडक्कु आदि देशों तक किया।

बिहार के जैन नारी-रत्न--

जैन आचार्य और राजाओं के साथ जैन महिलाओं की कीर्ति गाथा भी बिहार से जुड़ी हुई है। भगवान् महावीर के संघ में ३६ हजार आर्यिकाएँ थी जिनमें अधिकांश बिहार की निवासिनी थीं। इन आर्यिकाओं में सर्व प्रमुख राजा चेटक की पुत्री राजकुमारी चन्दना थी। चन्दना की मामी यशस्वती आर्यिका भी अत्यन्त प्रसिद्ध थी। चन्दना आजन्म ब्रह्मचारिणी थी। एक दिन जब वह राजोद्यान में वायु सेवन कर रही थी उस समय एक विद्याधर इसे चुराकर ले गया। अपनी स्त्री के भय से उसने शोकातुर चन्दना को जंगल में ही छोड़ दिया। वहां उसे एक भील ने प्राप्त

1. जैन सिद्धान्त भास्कर किरण २—३ पृ० ९

किया। भील ने चन्दना को अनेक कष्ट दिये पर वह अपने धर्म से विचलित न हुई। यहां से वह कौशाम्बी के व्यापारी वृषभसेन नामक सेठ को प्राप्त हुई। इस सेठ के घर में ही बन्दिनी चन्दना ने भगवान् महावीर को आहार दान दिया जिसके प्रभाव से इसकी कीर्ति सर्वत्र फैल गयी और इसने भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण की तथा आर्यिका संघ की प्रधान बनी।

चन्दना की बहन ज्येष्ठा ने भी भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की थी। राजगृह के राजकोठरी की पुत्री भद्रा कुंडलकेशा ने भी भगवान् से दीक्षा ली थी। इस आर्यिका का उपदेश इतना मधुर होता था कि सहस्रों नर-नारी एकत्रित हो मंत्र-मुग्ध हो जाते थे।

श्राविकाओं में चेलना, सुलसा, आदि प्रधान हैं। यों तो भगवान महावीर के संघ में तीन लाख श्राविकाएँ थीं। श्रेणिक जैसे विधर्मी को सुमार्ग पर लगाने वाली क्या चेलना की गौरव-गाथा युग-युग तक नहीं गायी जायगी। इस प्रकार बिहार में जैन मुनियों, तीर्थंकरों, राजाओं, आचार्यों, श्राविकाओं आदि की एक सक्रीय परम्परा का उद्घाटन हुआ है। ऐसे जैन धर्म के प्रचार में बिहार की भूमि वास्तव में संस्कृतियों की मापक है।

अर्थ-समिति की सदस्याएँ

५०१) रुपये देनेवाली महिलाएँ-

श्रीमती सुशीलादेवी जी जैन ध० प० रा० बहा० ला० सुलतान सिंह जी जैन-देहली

सौ० शरवती देवी ध० प० सेठ छदामी लाल जी फिरोजाबाद

,, ,, व्रजबाला देवी जी आरा

१०१) देनेवाली महिलाएँ-

श्रीमती गिरनारीदेवी जी ध० प० श्री जुगलकिशोर जी कागजी
,, ,, झूमीदेवी जी ध० प० बाबू सुमत प्रसाद जी वकील
,, ,, विद्यादेवी जी ध० प० नन्नूमल जी कागजी
,, ,, मूलोदेवी जी मातेश्वरी श्री कुन्दनलाल जी मैंदावाले
,, ,, कपूरीदेवी ध० प० दरोगामल जी
,, ,, मैनादेवी जी ध० प० श्री त्रिलोकचन्द जी
,, ,, क्षमादेवी जी ध० प० बाबू जिनेश्वर दास जी एडवोकेट
,, ,, केलादेवी जी ध० प० श्री महावीर प्रसाद जी ठेकेदार
,, ,, शांतिदेवी जी ध० प० ला० हरिचन्द जी बैंकर
,, ,, ध० प० जगली मल जी, मनूप सिंह जी
,, ,, प्रेमवतीदेवी जी ध० प० सुमीलाल जी एडवोकेट
,, ,, लिल्लोदेवी जी ध० प० श्री सुमदयाल जी
,, ,, श्यामादेवी जी ध० प० श्री मीरीमल जी गोटेवाले
,, ,, विद्यादेवी जी ध० प० ला० शम्भूलाल जी कागजी
,, ,, जयमालादेवी जी ध० प० जिनेन्द्र किशोर जी जौहरी
,, ,, कैलाशवती जी ध० प० श्रीराम जी
,, ,, सूरजदेवी जी सुपुत्री ला० दा० बी० सरदारी मल जी गोटेवाले

,, ,, ब्रह्मो देवी जी ध० प० श्री रामचन्द्र मल जी
,, ,, जैनो देवी जी ध० प० श्री मुसद्दी लाल जी
,, ,, नत्थो देवी जी ध० प० श्री छन्नामल जी बीड़ी वाले
,, ,, हम्नो देवी जी ध० प० बुद्धोमल जी पहाड़ी
,, ,, कला देवी जी ध० प० ला० गोविंद प्रसाद जी कपड़े वाले पहाड़ी

श्रीमती राजेश्वरी देवी जी, आरा
" " राजूबाई जी, शोलापुर
" " केशरबाई जी, बड़वाह
" " शान्तिबाई जी, रांची
" " चंवरबाई जी, रांची
" " पुतीदेवी जी, लाडनू
" " बनारसीदेवी जी, गिरिडीह
" " शांतिदेवी जी, कलकत्ता
" " तेजकुमारी जी, उज्जैन
" " भंवरीदेवी जी, डाल्टेनगंज
" " प्रमोदकुमारी जी, नजीबाबाद
" " कैलाशतीदेवी ध० प० सेठ सनतकुमार जी, ललितपुर
" " ध० प० कन्हैया लाल जी, कटनी
" " रूपवतीदेवी "किरण" ध० प० श्री कोमल प्रसाद जी, जबलपुर
" " तारादेवी जी ध० प० सेठ भागचन्द जी सोनी, अजमेर
" " विजयादेवी, जबलपुर
" " सेठानी कंचन बाई जी, इन्दौर
" " हीराबाई जी, ध० प० लक्ष्मीचन्द जी, नागपुर
" " प्यारकुंवर बाई जी, इन्दौर
" " कुन्दनीदेवी जी ध० प० कन्हैया लाल जी, काला जियागंज
" " प्रेमलतादेवी, कानपुर
" " विमलादेवी जी, बादा
" " सुशीलादेवी जी, प्रयाग
" " आशावती जी, मेरठ
" " सितारा सुन्दरी जी, आरा
" " जयनेमिदेवी जी, आरा
" " इन्दूदेवी जी, सीतापुर
" " किरनदेवी जी, मथुरा
" " कुन्तीदेवी जी, सरधना
" " केशर बहिन चन्दूलाल, बम्बई
" " जयवन्तीदेवी जी
" " बालीदेवी ध० प० दीपचन्द जी, पहाड्या, लाडनू
" " पूरनदेवी जी, जैन-आदर्श एडको०, कानपुर
" " रामप्यारीदेवी, ध० प० सुआलाल जी, कलकत्ता
" " लज्जावती जी 'विशारद'

श्रीमती राजकुमारी ध० प० सुमतकिशोर जी इंजीनियर
" " श्रीमतीदेवी ध० प० पद्मकिशोर जी देहली
" " कनककुमारी ध० प० डा० एस० सी० किशोर देहली
" " सरोजकुमारी ध० प० जगतकिशोर जी इंजीनियर
" " उर्मिलारानी ध० प० श्री विमलकुमार जैन
" " इ[illegible]
" " रत्न देवी ध० प० लाला बुलाकी दासजी देहली
" " किरणमाला ध० प० श्रीपालजी कपड़ेवाले देहली
" " कुमारी देवी ध० प० लाला हरिश्चन्द्र जी देहली
" " विद्यावती ध० प० सरनूमल जी देहली
" " गुणमाला देवी शान्तिदेवी फर्म पवन कुमार वीर कुमार देहली
" " मगनमाला ध० प० लाला नरेन्द्र प्रसाद देहली
" " विद्यादेवी ध० प० वजीर सिंह जी कागजी देहली
" " विद्यादेवी ध० प० अजित प्रसाद जी कपड़ेवाले देहली
" " सब्जीदेवी ध० प० लाला हुक्मचन्द जी पंच देहली
" " गुणवंती देवी मातेश्वरी शान्तिकिशोर, कान्तिकिशोर निर्मलकिशोर
" " केशरबाई जी, विद्यावती जी श्री इन्द्रलाल जी मोतीलाल जी देहली
" " किरणमती सरला देवी श्री महेंद्र कुमार रमेशचन्द्र जी देहली
" " नरायणीदेवी ध० प० लाला जगाधरमल जी दिल्ली
" " मखमली देवी ध० प० लाला दयाचंद जी इंजीनियर देहली
" " गेंदो देवी ध० प० लाला पन्नालाल जी जैनी ब्रदर्स देहली
" " वस्सो देवी ध० प० फिरोजीलाल जी "
" " किरणमाला ध० प० आदीश्वर लाल जी "
" " श्रीमती देवी ध० प० राजेन्द्र कुमार जी बैंकर्स "
" " सत्यवती जी ध० प० हनुमान प्रसाद जी मजिस्ट्रेट "
" " शान्तिदेवी ध० प० नेमिचंद्र जी "
" " बूदीदेवी मातेश्वरी नेमिचंद जी "
" " दर्शनदेवी ध० प० ला० रतनलाल जी बिजली वाले देहली
" " सरस्वती देवी ध० प० बा० अजित सादजी मोटरवाले देहली

श्रीमती रेवती देवी ध० प० ला० कुन्दन लाल जी मारीपुरिया
" " विमला देवी जी ऐशवती ध० प० प्रकाशचन्द्र शीलचन्द्र देहली
" " रूपमाला देवी ध० प० स्व० ला० हरिश्चन्द्र जी सहारनपर